

॥ ओ३म् ॥

# दयानन्दीय-लघुग्रन्थ-संग्रहः

[आर्यसमाज-शताब्दी-संस्करण]



श्रीमत्स्वामी दयानन्द सरस्वती







3rd year

1870.9/1874.49





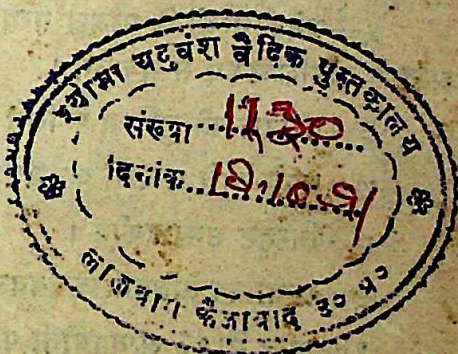


❀ ओ३म् ❀

# दयानन्दीय-लघुग्रन्थ-संग्रहः

विविधटिप्पणीभिरलङ्कृतानाम्, अनेकविधैः परिशिष्टैः  
सुशोभितानाम्, चतुर्दश-लघुग्रन्थानाम्

आर्यसमाज-शताब्दी-संस्करणम्



श्रीमत्स्वामी दयानन्द सरस्वती



प्रकाशक—

रामलाल कपूर ट्रस्ट

बहालगढ़ (सोनीपत-हरयाणा)

सम्पादक—

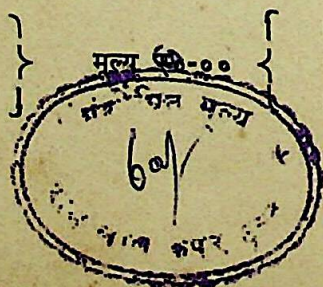
युधिष्ठिर मीमांसक

रामलाल कपूर ट्रस्ट

## इस संस्करण की विशेषता

- १—इस संग्रह में ऋषि दयानन्द के १४ लघुग्रन्थों का संकलन है ।
- २—यथासम्भव प्रथम-द्वितीय संस्करणों से मिलान करके मूलपाठ दिया गया है ।
- ३—उद्धृत वचनों का ग्रन्थकार-अभिमत शुद्ध पाठ वा उनके मूल स्थान का निर्देश ।
- ४—मूल ग्रन्थों के पाठों पर सहस्राधिक टिप्पणियां ।
- ५—अनेक ग्रन्थों से सम्बद्ध ग्रन्थकारीय लेखों का उस-उस ग्रन्थ के अन्त में परिशिष्टरूप से संकलन ।
- ६—उद्धरण की सुविधा के लिये प्रति पृष्ठ पंक्ति-संख्या का निर्देश ।
- ७—लम्बे-लम्बे सन्दर्भों का छोटे-छोटे सन्दर्भों में विभाजन ।
- ८—विस्तृत सम्पादकीय ।
- ९—ग्रन्थों का ऐतिहासिक विवरण ।
- १०—अन्त में १० अत्युपयोगी परिशिष्ट (=सूचियां) ।
- ११—सुन्दर शुद्ध मुद्रण, बढ़िया कागज, पक्की सुन्दर जिल्द ।
- १२—लागतमात्र मूल्य २०-०० (मंहगाई के कारण)

प्रथम बार १०००  
वि० सं० २०३१  
सन् १९७५ ई०



मुद्रक—सुरेन्द्र कुमार कपूर  
रामलाल कपूर ट्रस्ट प्रेस  
बहालगढ़ (सोनीपत-हरयाणा)



॥ ओ३म् ॥

## सत्या अभवन् यजमानस्य कामाः

आर्यसमाज-स्थापना-शताब्दी के उपलक्ष्य में रामलाल कपूर ट्रस्ट ने ऋषिकृत ग्रन्थों के सुन्दर शुद्ध सटिप्पण, विविध सूचियों से अलङ्कृत, विशिष्ट संस्करण निकालने की योजना बनाई थी । उसके अन्तर्गत वेदभाष्य और व्याकरण-सम्बन्धी ग्रन्थों को छोड़कर जितने भी ग्रन्थ हैं, उनके प्रकाशन की पूर्ति प्रस्तुत दयानन्दीय लघुग्रन्थ-संग्रह के प्रकाशन के साथ हो रही है । इसके साथ ही ऋषि दयानन्द कृत ऋग्वेदभाष्य के भी तीन भाग प्रकाशित हो चुके हैं । लगभग चार वर्ष की अल्पावधि में इतने ग्रन्थों का प्रकाशन अपने आप में एक ऐसा कार्य है, जिस को कोई भी संस्था अनेक कार्यकर्ताओं के सहयोग से भी नहीं कर सकती ।

इस महत्त्वपूर्ण कार्य को सम्पन्न करने में हमें निम्न महानुभावों ने अत्यधिक सहयोग प्रदान किया है —

१—श्री हरिश्चन्द्रजी बत्रा (भिवानी) ।

२—श्री आसकरण दास जी सरदाना, तथा स्व० श्री केशव-चन्द्र जी दरगन की धर्मपत्नी सुश्री प्रेमदेवी जी दरगन (नंगल टाउन-शिप) ।

३—श्री रा० ब० चौधरी प्रतापसिंह जी (करनाल) ।

### कार्य का आरम्भ

मेरी चिरकाल से यह इच्छा रही कि इस युग के परम वेदोद्धारक, वैदिकधर्म के प्रचार के लिये शरीरोत्सर्जक, अद्भुत वाग्मी, महा-तपस्वी, प्रखरकीर्ति, महामनस्वी ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों का उन की गरिमा के अनुरूप शुद्ध सुन्दर सटिप्पण विविध प्रकार की सूचियों से अलङ्कृत, आधुनिक ढंग से सम्पादित नूतन संस्करण प्रकाशित किये जायें । इस शुभ इच्छा की पूर्ति के लिये आज्ञा से दश वर्ष पूर्व श्री माननीय हरिश्चन्द्र जी बत्रा से अचानक भेंट हुई । मैं उनसे परिचित नहीं था । अतः इस भेंट में ईश्वरेच्छा ही कारण रही, यह मेरा विश्वास है ।



कुछ समय के विचार-विमर्श के अनन्तर आपने 'संस्कार-विधि' और 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' के उत्तम संस्करण प्रकाशित करने के लिये क्रमशः ३००० + ७००० अर्थात् दश सहस्र रुपया प्रदान किया। तदनुसार 'संस्कार-विधि' का वि० संवत् २०२३ में, और 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' का त्रि० संवत् २०२४ में प्रकाशन हुआ।

'संस्कार-विधि' और 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' के प्रकाशन के अनन्तर आर्य जनता के द्वारा उनका हार्दिक स्वागत होने से 'सत्यार्थ-प्रकाश' के इसी प्रकार के संस्करण निकालने की मेरी उत्कट इच्छा हुई। परन्तु रा० लो० क० ट्रस्ट के साधन सीमित होने के कारण यह कार्य कुछ समय तक सम्पन्न न हुआ। किन्तु कुछ काल पश्चात् ही माननीय श्री आसकरण जी सरदाना ने अपने स्वर्गीय मित्र श्री केशवचन्द्र जी दरगन की स्मृति में 'सत्यार्थ-प्रकाश' के प्रकाशन लिये उनकी धर्मपत्नी सुश्री प्रेमदेवी जी से १४००० चौदह सहस्र रुपया (वैदिक नित्यकर्म-विधि के लिये ४००० सहस्र इससे अलग) दान वाया। मेरा श्री सरदाना जी के साथ साक्षात् कोई परिचय नहीं अतः मैं मानता हूँ कि यह कार्य भी दैवी प्रेरणा से ही सम्पन्न हुआ।

### विशिष्ट संस्करण प्रकाशित करने का शुभारम्भ

उपर्युक्त ग्रन्थों के जो संस्करण प्रकाशित हुये, वे अन्य सभी संस्करणों की अपेक्षा शुद्ध एवं सुन्दर थे। परन्तु मैं ऋषिकृत ग्रन्थों के जैसे संस्करण प्रकाशित करना चाहता था, उसकी पूर्ति इनसे नहीं हुई। अतः जब 'सत्यार्थ-प्रकाश' के २० × ३० सोलह पेजी संस्करण का छपना आरम्भ हुआ, तब मन में यह शुभ भावना जागृत हुई कि इसी समय 'सत्यार्थ-प्रकाश' का विशिष्ट संस्करण छाप लिया जाये, तो साथ-साथ कार्य होने से मुद्रण-व्यय कुछ कम पड़ेगा। इस समय विशिष्ट संस्करण के लिये कागज की व्यवस्था करने में भी असमर्थ था। अतः मैंने ट्रस्ट के माननीय ऋषि-भक्त सदस्य श्री बत्रा जी द्वारा खटखटाया। उन्होंने इस शुभ कार्य के लिये मेरी भोली ७००० सात सहस्र रुपया डाल दिया। इस प्रकार श्री बत्रा जी के सहयोग से ऋषिकृत ग्रन्थों के विशिष्ट संस्करण छापने का शुभारम्भ हुआ।



: 'सत्यार्थ-प्रकाश' के इस विशिष्ट संस्करण के प्रकाशित होने पर विद्वानों एवं स्वाध्यायशील ऋषिभक्त आर्यबन्धुओं ने इसे बहुत समादृत किया। इस उत्तम कर्म से उत्साहित होकर श्री माननीय बत्रा जी ने 'संस्कार-विधि' और अन्य लघुग्रन्थों के संग्रह को भी प्रकाशित कराने का संकल्प कर लिया। आपके उक्त शुभ संकल्प की पूर्ति इस 'लघुग्रन्थ-संग्रह' के प्रकाशन के साथ हो रही है। इस प्रकार एक ऋषिभक्त वैदिकधर्म-प्रेमी आर्य दम्पती श्री हरिश्चन्द्र जी बत्रा और उनकी धर्मपत्नी सुश्री भागवन्ती जी की धर्म-युक्त मनःकामना पूर्ण हुई, और आप 'सत्या अभवन् यजमानस्य कामाः' के अधिकारी बने।

### ऋग्वेद-भाष्य की पूर्ति

ऋषि दयानन्द कृत ऋग्वेद-भाष्य का प्रकाशन अत्यधिक व्यय एवं कालसाध्य कार्य है। इस कार्य का आरम्भ माननीय श्री चौधरी प्रतापसिंह (करनाल-निवासी) ने किया है। इसके तीन भाग प्रकाशित हो चुके हैं। विद्वानों और स्वाध्यायप्रेमी पाठकों ने इन्हें देखा वा पढ़ा है, उन्होंने संस्करणों की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है।

सात्त्विक भावना और परोपकारवृत्तिवाले पुरुषों की पवित्र भावनार्यें जदा पूर्ण होती हैं। प्रभु का आशीर्वाद—'सत्याः सन्तु यजमानस्य कामाः' जदा उन के साथ वर्तमान रहता है। अतः हमें पूर्ण विश्वास है कि ऋषि दयानन्दकृत ऋग्वेदभाष्य के शुद्ध सुन्दर विशिष्ट संस्करणों के प्रकाशनरूपी हायज्ञ के यजमान श्री चौधरी प्रतापसिंह जी का यह महायज्ञ भी अवश्य पूर्ण होगा। और प्रभु-कृपा से वे भी 'सत्या अभवन् यजमानस्य कामाः' के अधिकारी बनेंगे।

शिवरात्रि, संवत् २०३१ वि०  
रा०ला०क० ट्रस्ट बहालगढ़

विदुषां वशंवदः  
युधिष्ठिर मीमांसक





## संग्रह में मुद्रित ग्रन्थों की सूची

[प्रति ग्रन्थ विस्तृत विषयसूची 'ऐतिहासिक विवरण' के आगे पृष्ठ ६१ से पृष्ठ १०० तक देखें] ।

१—ऋषि दयानन्द सरस्वती का जन्म-चरित्र (आत्म-चरित्र)	१
२—आर्याभिविनयः	३६
३—ऋग्वेद-भाष्यम् (प्रथम नमूने का अङ्क)	१३५
परिशिष्ट १—३	१६७
४—आन्ति-निवारण	१६१
५—अमोच्छेदन	२४१
अमोच्छेदन परिशिष्ट (१)	२६८
परिशिष्ट (२) —अनुअमोच्छेदन	२७२
६—पञ्चमहायज्ञविधिः	२६३
परिशिष्ट—सं० १६३१ की पञ्चमहायज्ञविधि के विशिष्ट अंश	३४४
७—वेदान्ति-ध्वान्त-निवारणम्	३६५
८—वेदविरुद्धमत-खण्डनम्	३८५
९—शिक्षापत्री-ध्वान्त-निवारणम्	४३३
१०—भागवत-खण्डनम्	४६३
परिशिष्ट—भागवत-खण्डन और सत्यार्थ-प्रकाश की तुलना	४८५
११—व्यवहारभानुः	४६१
१२—गोकरुणानिधिः	५४३
१३—आर्योद्देश्यरत्नमाला	५६६
१४—चतुर्वेद-विषय-सूची	५८३
१५—परिशिष्ट १—६ (अनेकविध)	७०५



ॐ ओ३म् ॐ

## सम्पादकीय

आर्यसमाज-स्थापना-शताब्दी के उपलक्ष्य में हम ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों के सुन्दर शुद्ध संस्करण प्रकाशन सम्बन्धी अपनी योजना के अन्तर्गत सत्यार्थ-प्रकाश और संस्कारविधि के पश्चात् ऋषि दयानन्दकृत लघुग्रन्थों का संग्रह प्रकाशित कर रहे हैं। इस संग्रह में निम्न ग्रन्थों का समावेश किया है—

१. स्वामी दयानन्द सरस्वती का आत्मचरित्र ( लिखित वा कथित ) ।

२. आर्याभिविनय ।

३. वेदभाष्य का प्रथम (नमूने का) अङ्क ।

४. भ्रान्ति-निवारण ।

५. भ्रमोच्छेदन ।

६. पञ्चमहायज्ञविधि ।

७. वेदान्ति-ध्वान्त-निवारण ।

८. वेदविरुद्ध-मत-खण्डन ।

९. शिक्षापत्री ध्वान्त-निवारण ।

१०. भागवत-खण्डनम् ।

११. व्यवहारभानु ।

१२. गोकर्णानिधि ।

१३. आर्योद्देश्य-रत्नमाला ।

१४. चतुर्वेद-विषय-सूची ।

इन ग्रन्थों का संकलन हमने कालक्रम से न करके विषयक्रम से किया है। इसमें भी दो अपवादरूप हैं। प्रथम आत्म-चरित्र, और द्वितीय चतुर्वेद-विषय-सूची ।

ग्रन्थकार के जीवन का पाठकों को प्रथम ही कुछ परिचय हो जावे,



इस दृष्टि से उनके स्वलिखित वा कथित आत्म-चरित्र को सब से प्रथम छापा है। इसके पश्चात् वेद-सम्बन्धी लघु-ग्रन्थों को प्रकाशित किया है। 'चतुर्वेद-विषय-सूची' को इसी क्रम में रखना उचित था, पुनरपि कई कारणों से हमने उसे सब से अन्त में छापा है। प्रधान कारण है उसका केवल संस्कृत में ही होना। अतः केवल भाषा जाननेवालों को उससे विशेष लाभ नहीं हो सकता था।

तत्पश्चात् खण्डन-मण्डन-सम्बन्धी ग्रन्थ छापे हैं। इनमें 'भागवत-खण्डनम्' को सबसे अन्त में इसलिये छापा है कि यह ऋषि का सर्वप्रथम ग्रन्थ है। इसमें श्रीमद्भागवत के अतिरिक्त अन्य पुराणों को प्रमाण माना है। प्रतीत होता है उस समय तक ऋषि दयानन्द ने समस्त पुराणों का भूले प्रकार अनुशीलन नहीं किया था। इस दृष्टि से इस का यहां प्रकाशन आवश्यक नहीं है, पुनरपि यह दुर्लभ ग्रन्थ सुरक्षित रहे, और पाठकों को ऋषि के क्रमिक बौद्धिक-विकास का परिचय मिले, अतः इसे हमने यहां प्रकाशित किया है। तदनन्तर ऋषि के सर्वसाधारण उपयोगी तीन सामान्य ग्रन्थ छापे हैं।

इस संग्रह में हमने काशी-शास्त्रार्थ, सत्यधर्मविचार (मेला चांदपुर) नहीं छापे हैं, क्योंकि इनका हम पृथक् 'दयानन्द शास्त्रार्थ-संग्रह' में प्रकाशन कर चुके हैं। इस शास्त्रार्थ-संग्रह में वे सभी शास्त्रार्थ छापे हैं, जो लिखितरूप में हुए थे, अथवा बंदिक यन्त्रालय द्वारा प्रकाशित हो चुके हैं। काशी शास्त्रार्थ का उस समय के मध्यस्थ श्री पं० सत्यव्रत सामश्रमी द्वारा प्रकाशित दुर्लभ तथा महत्त्वपूर्ण पाठ भी अन्त में छाप दिया है।

इसी प्रकार इस संग्रह में हमने 'संस्कृत-वाक्य-प्रबोध' का सन्निवेश भी नहीं किया है, क्योंकि उसे हम पृथक् सुन्दर शुद्ध रूप में, तथा उस पर पं० अम्बिकादत्त व्यास द्वारा किये गये आक्षेपों के उत्तर सहित छाप चुके हैं। इसके साथ ही इस ग्रन्थ का सम्बन्ध 'संस्कृत-शिक्षण' के साथ है। यदि इसे हम इस संग्रह में सम्मिलित करते, तो वर्तमान कागज वा छपाई की महर्घता के कारण दो सहस्र रुपया हमें अधिक व्यय करना पड़ता। यह हमारे लिये वर्तमान समय में अत्यन्त कठिन समस्या है।

इस संग्रह में जो ग्रन्थ प्रकाशित हो रहे हैं, उनके सत्यार्थ-प्रकाश और संस्कारविधि के समान विविध परिशिष्ट तथा सूचियां अन्त में दी गई हैं। परन्तु जिन ग्रन्थों के साथ उनसे प्रत्यक्ष-सम्बद्ध उपयोगी सामग्री देनी



आवश्यक थी, उसे हमने उस ग्रन्थ के अन्त में ही परिशिष्ट के रूप में दे दिया है ।

अब हम इस संग्रह में मुद्रित ग्रन्थों के सम्पादन के सम्बन्ध में कुछ लिखते हैं—

इस संग्रह में 'ऋषि दयानन्द का आत्म-चरित्र' और 'आर्याभि-विनय' ये दो ग्रन्थ ऐसे हैं जिनका सम्पादन क्रमशः श्री पं० भगवद्दत्त जी और श्री पं० वाचस्पति जी एम. ए. ने किया था । अतः इनके सम्पादन के सम्बन्ध में इन दोनों महानुभावों ने अपने संस्करण में जो लिखा है, उसी-का उपयोगी अंश हम उनके नाम से ही दे रहे हैं ।

संख्या ३, ४, ५, ६, १०, ११, १३ का सम्पादन मैं पूर्व कर चुका हूँ । संख्या ३, ४, ५ का प्रकाशन 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका-परिशिष्ट' नामक संग्रहरूप में, तथा शेष स्वतन्त्र पुस्तकरूप में रामलाल कपूर ट्रस्ट से प्रकाशित हो चुके हैं । अतः इनका पाठ हमारे पूर्व संस्करणों के अनुसार ही है ।

संख्या ७, ८, ९, १२ का पाठ अजमेर-मुद्रित शताब्दी संस्करण के अनुसार छापा है । संख्या १४ चतुर्वेद-विषय-सूची का सम्पादन इसी समय किया है ।

इन ग्रन्थों के वर्तमान संस्करण की प्रेस-कापी हमारे सहयोगी श्री पं० महेन्द्र जी शास्त्री ने बड़े प्रयत्नपूर्वक तैयार की है ।

अब हम इन ग्रन्थों के सम्पादन-कार्य के सम्बन्ध में क्रमशः लिखते हैं—

### १-ऋषि दयानन्द का आत्म-चरित्र

श्री पं० भगवद्दत्त जी ने स्वसम्पादित ऋषि दयानन्द के आत्म-चरित्र के सम्बन्ध में इस प्रकार लिखा है—

#### प्रथम संस्करण की भूमिका'

चिरकाल से मेरी इच्छा थी कि ऋषि दयानन्द के स्वलिखित वा स्व-कथित जीवन-वृत्त को आर्यभाषा में प्रकाशित किया जाये । इसी इच्छा-नुसार गत अवकाश के दिनों में मैंने इसका भाषान्तर करना आरम्भ किया ।

---

१. अर्थात् श्री पं० भगवद्दत्त जी सम्पादित ऋषि दयानन्द के आत्म-चरित्र के प्रथम संस्करण की ।



अनुवाद-कार्य प्रायः समाप्त होने को था, जब मुझे पता लगा कि मुन्शी दयारामजी इस पुस्तक को कितनी देर हुई आर्य-भाषा में निकाल चुके हैं। उस समय मैंने इस काम को वहीं बन्द कर दिया। परन्तु कुछ काल अनन्तर जब मैंने उनकी पुस्तक देखी, तो मेरा विचार हुआ कि अपना अनुवाद कुछ टिप्पणियों सहित अवश्य प्रकाशित कर देना चाहिये।

इस पुस्तक के सम्पादन में निम्नलिखित ग्रन्थ देखे गये हैं—

(क) श्रीयुत धर्मवीर पं० लेखराम द्वारा सम्पादित उर्दू में ऋषि का बृहद् जीवन-चरित्र। सन् १८९७।

(ख) श्रीयुत दलपतराय एम. ए. रचित “ऋषि की खुदनिश्चित स्वानेह उमरी” (उर्दू)।

(ग) “बंगला दयानन्द स्वरचित जीवनवृत्त” (उल्लिखित वा लिखित) श्रीयुत देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय द्वारा सम्पादित।

(घ) उपर्युक्त लेखक के पं० घासीराम एम. ए. द्वारा आर्यभाषा में अनुवादित दयानन्द चरित्र की अवतरणिका<sup>१</sup>।

(ङ) श्रीमान् मुन्शी दयाराम जी तहसीलदार का (क) से अनुवाद, १९०४ ईस्वी।

(च) प्रो० मैक्समूलर की “चिप्स फ्राम ए जर्मन वर्कशाप” भाग द्वितीय। इसमें थ्योसोफिस्ट में प्रकाशित कुछ भाग मिलता है। सन् १८९८।

यह जीवन-वृत्त वस्तुतः (क) का अनुवादमात्र है।

पाठकों को उस (क) पुस्तक का पूर्ण परिचय श्रीयुत पं० लेखराम जी के निम्नलिखित शब्दों द्वारा प्राप्त होगा—

“स्वामी जी ने जब १८७५ ई० में पूना वा बम्बई में आर्यसमाज की स्थापना की, तो वहाँ के कई विद्वानों ने उनका जीवनवृत्त जानने का प्रयत्न किया। क्योंकि वे भाषा बोलने लग पड़े थे, और व्याख्यान भी दिया करते थे। अतः सज्जनों के बार-बार के अनुरोध पर उन्होंने ४ अगस्त १८७५ ई० को अपने जीवन-वृत्त पर एक व्याख्यान दिया। वह उसी वर्ष मराठी भाषा में मुद्रित हो गया।”

१. (ग) पुस्तक में (घ) की अपेक्षा कुछ टिप्पण ही अधिक हैं।



“हमने उसका अनुवाद मराठी से आर्यभाषा में पं० गणेश रामचन्द्र और म० श्रीनिवास जी से कराया।”

“पुनः एप्रिल १८७६ में जब कर्नल अलकाट स्वामी जी से मिले, तो उनके अनुरोध करने पर स्वामी जी ने स्वजीवन वृत्त लिखने की प्रतिज्ञा की। एवम् भाषा में लिखाकर समय-समय पर भेजते रहे वह वृत्त मासिक पत्र थ्योसोफिस्ट में नवम्बर वा दिसम्बर १८८० ई० में प्रकाशित हुआ। भाषा लिखकर स्वामी जी ने भेजी थी। उसकी एक प्रतिलिपि श्री मथुराप्रसाद मन्त्री आर्यसमाज अजमेर, और दूसरी पंडित छगनलाल श्रीमाली भूतपूर्व कामदार रियासत मसूदा (किशनगढ़) से प्राप्त हुई।”

अनेक समाचारपत्रों और (ख) के सम्पादक ने थ्योसोफिस्ट का ही अनुवाद किया। ४ अगस्त के व्याख्यान को किसी ने भी हाथ न लगाया, और न किसी को उसका पता मिला।

क्योंकि आदर्श पुस्तकें केवल तीन हैं—अर्थात् पूना व्याख्यान, थ्योसोफिस्ट पत्र, और आर्यभाषा की कापी, अतः हमने तीनों को बड़ी सावधानी से क्रमवार रखा है। इसमें एक-एक अक्षर स्वामीजी का है, परन्तु क्रम हमारा है।

इस प्रकार समस्त पुस्तकें देखकर मैंने (क) को ही आदर्श पुस्तक समझा है। (क) में इस पुस्तक के पृ० २८ तक ऋषि के आर्यभाषा लेख से सहायता ली गई प्रतीत होती है। शेष का अधिक भाग (ख) से ही लिया गया है।

ऋषि दयानन्द अपने जीवन-चरित्र को लिखना चाहते थे, यह उनके एक पत्र से प्रतीत होता है। उस पत्र में स्वामी जी लिखते हैं—

“यद्यपि मेरी बड़ी इच्छा है कि मेरा स्वलिखित जीवन-वृत्त, जिसे आप अपने पत्र में प्रकाशित कर रहे हैं, पूर्ण हो जाय। पर अभी तक मैं उसके लिये यथोचित समय नहीं दे सका, परन्तु यथासम्भव शीघ्र ही जीवन-कथा भेजूंगा।” (थ्योसोफिस्ट एप्रिल १८८० ई०, पृष्ठ १६०)।

---

१. इनके द्वारा किये गये भाषानुवाद में से पुराने छपे ८ व्याख्यानों के अनुवाद हमारे संग्रह में विद्यमान हैं। ये महानुभाव मारवाड़ राज्य में आर्य-समाज के उपदेशक भी रह चुके हैं। यु. मी.।



परन्तु इच्छा होते हुए भी अनेक कारणों से वे ऐसा न कर सके, यही प्रतीत होता है ।

(च) में प्रो० मैक्समूलर ने लिखा है कि थ्योसोफिस्ट के आङ्ग्ल भाषा अनुवाद में अनेक लोग सन्देह करते हैं । परन्तु यहां सन्देह का कोई स्थान नहीं । क्योंकि (क) के सम्पादक के पास वह यथार्थ कापी थी कि जिसका आङ्ग्ल-भाषा अनुवाद किया गया । यदि कोई गड़बड़ होती, तो वे अवश्य लिखते ।

मैंने अनुवाद में यथासम्भव ऋषि की ही लेख-शैली का ध्यान रखा है । अनेक स्थलों पर उनके सत्यार्थप्रकाश आदि पुस्तकों को देखकर वैसे ही वाक्य रखे गये हैं । अतः अपनी ओर से भाषा को काट-छांट कर उसे नये ढंग पर लिखने का प्रयत्न नहीं किया ॥

१५ चैत्र दयानन्दानन्द (निर्वाण) ३२

—भगवदत्त

सन् १९१६

### तृतीय संस्करण की भूमिका

संवत् १९७४ में बरेली नगर में श्रीमान् स्वामी श्रद्धानन्द जी ने मुझसे कहा था कि उनके पास ऋषि के स्वरचित जन्म-चरित्र की मूल-प्रति थी । संन्यास धारण करते समय उन्होंने वह लेख श्रीयुत प्रो० रामदेव जी को सौंप दिया था । वह हस्तलेख संवत् १९७४ के गुरुकुलोत्सव पर प्रो० रामदेव जी ने मुझे दे दिया । उसमें हाथी मार्क के छः पृष्ठ हैं । प्रथम पांच पृष्ठों में से प्रत्येक पर सत्ताईस पङ्क्तियां हैं । अन्तिम पृष्ठ पर चौदह पङ्क्तियां हैं ।

लेख बड़ा स्पष्ट है, और प्रायः अक्षर श्री स्वामी जी के अक्षरों से मिलते हैं । यद्यपि लेख उनका नहीं है, पर पूर्ण निश्चय नहीं हो सका कि लेखक कौन है ? कारण कि ऋषि के दो लेखकों के प्रायः अक्षर उनके अक्षरों से मिलते हैं ।

पण्डित लेखराम जी ने लिखा है कि—“वह वृत्त मासिकपत्र थ्योसो-फिस्ट में नवम्बर वा दिसम्बर १८८० ई० में प्रकाशित हुआ ।” यह बात ठीक नहीं । स्वामी जी के लेख का अनुवाद अक्तूबर १८७९, दिसम्बर १९७९,

१. श्री पं० भगवदत्त जी सम्पादित ऋषि दयानन्द के आत्म-चरित्र ग्रन्थ के ।



और नवम्बर १८८० ई० के थ्योसोफिस्ट में क्रमशः प्रकाशित हुआ था । उनमें पूर्वोक्त हस्तलेख प्रथम बार अर्थात् मास अक्टूबर १८७६ ई० का मूल है । इसकी समाप्ति हरद्वार कुम्भ की प्रथम यात्रा पर होती है । पण्डित लेखराम जी ने पुनः लिखा है कि —“उसमें एक-एक अक्षर स्वामी जी का है ।” इसका यही अभिप्राय होता है कि यद्यपि शब्द तो कई भाषा से उर्दू में किये गये हैं, परन्तु भाव स्वामी जी का ही है ।

प्रथम संस्करण की भूमिका में जो मैंने यह लिखा था कि मैक्समूलर का यह कहना कि—“आङ्गल भाषा के अनुवाद में अनेक लोग सन्देह करते हैं” ठीक नहीं । वह अब सर्वथा सत्य प्रतीत होता है । थ्योसोफिस्ट के अक्टूबर १८७६ के अंक के एक टिप्पण में कुछ पङ्क्तियाँ मूल से उद्धृत की गई हैं । वे उस हस्तलेख से मिलती हैं, तथा अनुवाद भी इसके विरुद्ध नहीं । इस प्रकार थ्योसोफिस्ट के पुराने अंक देखने से यह सब निश्चय हुआ है ।

इस संस्करण में जहां तक हस्तलेख मुझे मिला है, उसके शब्द जैसे के तैसे रख दिये गये हैं । पूनावाले व्याख्यान का भाग कोष्ठों में दिया गया है । इस विधि से स्वामी जी का लेख अपने शुद्धरूप में सब पाठकों के प्रति पहुंच जायेगा ।

आशा है आर्य लोग ऋषि-जीवन की इन घटनाओं का पाठ करके अपने जीवनो को उन्नत करेंगे । परम दयालु परमात्मा अपने सच्चे भक्त के इन वृत्तों को सर्व संसार में फैलाये ।

टिप्पणी—इस ग्रन्थ में जहां दो कोष्ठों [ ( ) ] का चिह्न है, उनके अन्तर्गत पाठ का मूल न पूना व्याख्यान में है, और न श्री स्वामी जी के मूल हस्तलेख में । प्रतीत होता है, ये पाठ पं० लेखराम जी ने अपनी ओर से जोड़े हैं । जो पाठ एक कोष्ठ [ ] में हैं, वे सारे पूना व्याख्यान के हैं । दोनों प्रकार के कोष्ठ वहीं तक दिये गये हैं, जहां तक कि मूल हस्तलेख मिला है । हां, एक अपवाद स्थान है । थ्योसोफिस्ट के दूसरे अङ्क में कुछ पङ्क्तियाँ टिप्पण में देवनागरी में छपी हैं । वे स्वामी जी के मूल की हैं । अनुवाद के भाग में इस मूल पाठ को कोष्ठ में दिया गया है । अभिप्राय यही है कि जितना मूल सुरक्षित हो जाये, उतना अच्छा है ।

स्थान लाहौर, २२ मार्च, सोम १९१६

—भगवदत्त

१. द्र०—पूर्व पृ. ६, पं. ३ । यह अकेले छपे आत्म-चरित्र की भूमिका है ।



हमारा यह संस्करण श्री पं० भगवदत्त जी द्वारा प्रकाशित चतुर्थ संस्करण के अनुसार है। कहीं-कहीं हमने टिप्पणियाँ बढ़ाई हैं। उन पर अपने नाम का संकेत कर दिया है।

## २—आर्याभिविनय

इस संस्करण में आर्याभिविनय का जो पाठ छाप रहे हैं, वह एक-दो स्थानों को छोड़कर रामलाल कपूर ट्रस्ट की ओर से प्रकाशित होनेवाले संस्करणों के अनुरूप है। ट्रस्ट की ओर से प्रकाशित होनेवाले प्रथम संस्करण का सम्पादन श्री पं० वाचस्पति जी एम. ए. ने किया था। हम यहां उन्हीं के सम्पादकीय वक्तव्य का उपयोगी अंश नीचे दे रहे हैं—

ग्रन्थ की भाषा—आर्याभिविनय की भाषा के विषय में भी कुछ शब्द कहना अत्यन्त आवश्यक है। आज से ६० वर्ष पूर्व यह भाषा नहीं थी, जो आज है। इसलिये यह आशा नहीं की जा सकती कि आर्याभिविनय की भाषा ठीक वैसी ही हो, जैसी आजकल बोली वा लिखी जाती है। यह बात भी सब पाठक जानते ही हैं कि महर्षि दयानन्द सरस्वती गुजरात प्रान्त के रहनेवाले थे, इसलिये उनकी जन्मस्थान की भाषा गुजराती थी। वे प्रचार कार्य करते हुए भी वर्षों ही संस्कृत बोलते रहे, संस्कृत में व्याख्यान देते रहे, और संस्कृत में ही शास्त्रार्थ आदि करते रहे। इसलिये ऋषिवर को आर्य-भाषा लिखने वा बोलने का अधिक अभ्यास नहीं था। यह ग्रन्थ संवत् १९३२ के प्रारम्भ में लिखा गया था, उस समय ऋषि आर्यभाषा और भी कम जानते थे। इसलिये इस ग्रन्थ की भाषा कहीं-कहीं कुछ भिन्न सी है। जैसे—

(१) “ईश्वरभक्तिरहित मनुष्य का बल और राज्यैश्वर्यादि कभी मत बढ़ो।” पृष्ठ ६४, पं० ७-८ ॥

(२) “आओ अपने सब मिल के……ईश्वर को प्रसन्न करें।” पृष्ठ ६४, पं० ९-१० ॥

(३) “आओ, माई लोगो ! ईश्वर की भक्ति करें।” पृष्ठ ७६, पं० ३ ॥

(४) “जिससे हमारा वर्तमान श्रेष्ठ ही हो।” पृष्ठ १०५, पं० २ ॥

ये हैं नमूने ऋषि की भाषा के।



महात्मा गांधी भी गुजरात प्रान्त के निवासी हैं<sup>१</sup>। यदि उनकी भाषा (विशेषतः अब से कुछ वर्ष पूर्व की भाषा) की ऋषि की भाषा से तुलना की जाय, तो यह निश्चय हो जायेगा कि गुजराती मातृभाषावाले ऋषि की भाषा का ऐसा होना स्वाभाविक था।

यह सब कुछ देखते हुए यह मानना पड़ेगा कि ऋषि दयानन्द सरस्वती राष्ट्र-भाषा के प्रथमोद्धारक थे। उन्होंने अपने जन्मस्थान की भाषा गुजराती होने, और पठन-पाठन की भाषा संस्कृत होने पर भी अपने सब ग्रन्थ आर्य-भाषा में लिखे।

संभव है कई भाई कहें कि 'आर्याभिविनय' की भाषा का संशोधन कर देना चाहिये। हमारा उन भाइयों से निवेदन है कि ऐसा करना ठीक नहीं होगा। क्योंकि भाषा के परिवर्तन करने पर प्रार्थना की स्वाभाविकता नष्ट हो जायेगी। इस समय प्रार्थना एक ईश्वरीय-प्रेरणा से प्रेरित भक्त के हृदय से निकली हुई है। भाषा के परिवर्तन करने पर प्रार्थना में कृत्रिमता आ जायेगी।

इस संस्करण की विशेषता—ऋषि ने 'आर्याभिविनय' का प्रथम संस्करण संवत् १९३२ में प्रकाशित किया था<sup>२</sup>। दूसरा संस्करण माघ संवत् १९४० में निकला, अर्थात् ऋषि निर्वाण के कोई तीन मास पीछे। इस संस्करण को इन दोनों संस्करणों के साथ मिला (collate) कर तय्यार किया गया है। आजकल के अजमेरीय संस्करणों में अनेक स्थलों पर पाठों की छपने आदि के कारण गड़बड़ थी। उन सब पाठों को ठीक कर दिया है। जैसे पृष्ठ ७५, ७६ पर इस संस्करण में ८ पंक्तियां ऐसी मिलेंगी, जो कि आजकल के अजमेरीय संस्करणों में नहीं मिलतीं। यह पंक्तियां ब्रैकेट में देकर नीचे टिप्पणी दे दी गई है। इसी तरह से पृष्ठ ९० पर लगभग ५ पंक्तियां ऐसी मिलेंगी, जो

१. संवत् १९८८ में इस भूमिका को लिखते समय।

२. आर्याभिविनय के प्रथम संस्करण के मुखपृष्ठ पर वैशाख संवत् १९३२ छपा है। यह गुजराती पञ्चाङ्ग के अनुसार है। वहां कार्तिक शुक्ला १ से नये वर्ष का आरम्भ मानते हैं। उत्तर भारत के पञ्चाङ्गानुसार संवत् १९३३ समझना चाहिये।

३. देखो—ऋषि का पत्रव्यवहार श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित, पत्र सं० ९, पृष्ठ ३३। (सम्पादक)



आज-कल के अजमेरीय संस्करणों में नहीं मिलतीं। पाठों का संशोधन करते समय जहां कुछ भी अधिक परिवर्तन है, वहां टिप्पणी दे दी गई है। इस संस्करण में एक शब्द भी सम्पादक ने अपनी ओर से नहीं घटाया-वढ़ाया। यह सारा संस्करण या तो आज-कल के अजमेरीय संस्करण के अनुकूल है, या जहां भेद है, वहां प्रथम और द्वितीय संस्करण के अनुकूल है।

इस संस्करण में अनेक स्थलों पर ग्रन्थ की भाषा को समझाने के लिये उपयुक्त टिप्पणियाँ दी गई हैं।

कई स्थलों पर टिप्पणियों द्वारा विषय को स्पष्ट किया गया है। कुछ स्थल ऐसे हैं, जिन पर विधर्मी लोग आक्षेप करते रहे हैं। उन आक्षेपों का उत्तर भी टिप्पणी में दिया गया है। यह भी ध्यान रहे कि इस ग्रन्थ में कुछ टिप्पणियाँ महर्षि की अपनी भी हैं। दोनों टिप्पणियों का भेद दशनि के लिये हमने उन पर कोष्ठ में (महर्षि) पद का निर्देश कर दिया है। महर्षि के टिप्पणीरूप पाठ प्रथम संस्करण में मूल ग्रन्थ के अन्तर्गत थे।

ग्रन्त में मैं डी. ए. बी. कालिज रिसर्च लायब्रेरी के अध्यक्ष श्री पं० भगवद्दत्त जी, और श्रीयुत हंसराज जी लायब्रेरियन का धन्यवाद करता हूँ कि उन्होंने मुझे आर्याभिविनय का प्रथम संस्करण कई मास के लिये दिये रखा। श्रीयुत मामराज जी ने अपने संग्रह में से द्वितीय संस्करण मुझे देकर अत्यन्त कृतज्ञ किया है।

इन शब्दों के साथ यह सुन्दर संस्करण भगवद्भक्तों की सेवा में भेंट करता हूँ।

संवत् १९८८

सन् १९३२

निवेदक—

वाचस्पति सम्पादक

पुनर्निरीक्षण—मैंने त्रि० सं० २००८ (सन् १९५१) में रामलाल कपूर ट्रस्ट से प्रकाशयमाण अष्टम संस्करण के लिये 'आर्याभिविनय' के प्रथम और द्वितीय संस्करण से पाठों का पुनः मिलान किया। जहां कुछ साधारण दोष ज्ञात हुए उसका मैंने यथोचित संशोधन उस संस्करण में कर दिया था।

प्रस्तुत संस्करण के पुनः परिष्कार में श्री पं० सत्यानन्द शास्त्री द्वारा सम्पादित आर्याभिविनय के संस्करण, तथा श्री पं० मदनमोहन जी विद्यासागर के स्वीय ग्रन्थ पर निर्दिष्ट टिप्पणियों एवं सुझावों का भी उपयोग किया गया



है। 'आर्याभिविनय' के व्याख्यान में मन्त्रों के जिन पदों का उल्लेख नहीं मिलता था, उन्हें इस संस्करण में [ ] कोष्ठक में यथास्थान जोड़ दिया है, और जो पद व्याख्यान में पहले से ही निर्दिष्ट हैं, और जिन्हें हम द्रष्ट के संस्करणों में भिन्न टाइप में छापते रहे हैं, उन्हें भी ऋषि के अन्य ग्रन्थों के समान ( ) कोष्ठक में रख दिया है। व्याख्यात ऋङ्मन्त्रों के पते इस ग्रन्थ में अष्टक अध्याय वर्ग तथा मन्त्र क्रमानुसार दिये हैं। पाठकों की सरलता के लिये हमने उनका पता मण्डल सूक्त मन्त्र क्रमानुसार भी नीचे टिप्पणी में दर्शा दिया है।

इस ग्रन्थ में महर्षि की जो अपनी टिप्पणियाँ हैं, उन्हें हमने इस संस्करण में उनके आदि में \* फूल आदि का चिह्न लगाकर तथा अन्त में 'द. स.' इस प्रकार निर्देश कर दर्शाया है। जब कि अन्य टिप्पणियों के आदि में १, २ आदि संख्या देकर अन्त में कोष्ठ में ( सम्पादक ) या ( यु. मी. ) ऐसा निर्देश कर दिया है।

### ३-ऋग्वेद भाष्य का प्रथम अङ्क

( 'नमूने का अङ्क' नाम से प्रसिद्ध )

ऋषि दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश, संस्कारविधि, वेदविरुद्ध-मतखण्डन, शिक्षापत्रीध्वान्त-निवारण, पञ्चमहायज्ञविधि आदि ग्रन्थों की रचना के अनन्तर वेदभाष्य प्रकाशित करने का संकल्प किया। इसका प्रमुख कारण यह था कि वे प्राचीन ऋषि-मुनियों की भांति वेद को सर्वोपरि मानते थे। उनके सिद्धान्त और शिक्षाओं का मूल आधार वेद ही था। उस समय जो भी वेद के भाष्य (भारतीय और विदेशीय) उपलब्ध होते थे, उन्हें वे सर्वथा त्याज्य समझते थे उनके मतानुसार उपलब्ध वेदभाष्य वेद के व्याख्यान न होकर अनर्थरूप थे। साथ ही वे प्राचीन ऋषि-मुनियों की वेदार्थ-सरणि के विपरीत भी थे। अतः ऋषि दयानन्द ने प्राचीन ऋषि-मुनियों की वेदार्थ-शैली के अनुसार भाष्य लिखने का उपक्रम किया। पहले चारों वेदों के भाष्यों की भूमिका 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' के नाम से लिखी। उसका आरम्भ भाद्रशुक्ला १ रविवार संवत् १९३३ को हुआ। ऋषि दयानन्द ने मार्गशीर्ष शुक्ला १५ संवत् १९३३ वि० को स्वयं वेदभाष्य के प्रचारार्थ एक विज्ञापन छपवाया था। उसके आरम्भ में लिखा है—



‘संवत् १६३३ वि० मार्गशीर्ष शुक्ला पूर्णमासी (१ दिसम्बर सन् १८७६) पर्यन्त १०००० दस हजार श्लोक ‘प्रमाण भाष्य बन गया है...’

ऋ. द. के पत्र और विज्ञापन पृष्ठ ३५ (द्वि. सं.) ।

पुनः इसी विज्ञापन के अन्त में लिखा है—

‘सो भूमिका के श्लोक न्यून से न्यून संस्कृत और आर्यभाषा के मिलकर आठ द हजार हुए ।’ वही, पृष्ठ ३६ ।

इससे स्पष्ट है कि मार्गशीर्ष शुक्ला १५ संवत् १६३३ तक भूमिका समाप्त होकर २००० श्लोक परिमाण वेदभाष्य भी बन गया था ।

ऋग्वेद-भाष्य का प्रथम अङ्क कब छपा, इसका निर्देश प्रथम अङ्क पर पूरा नहीं दिया गया है । केवल वि० सं० १३३३ छपा है । परन्तु ऋषि दयानन्द के १८ नवम्बर सन् १८७६ तथा १६ दिसम्बर सन् १८७६ के पत्रों (द्र०—ऋ. द. के पत्र और विज्ञापन पृष्ठ ३२ तथा ४०, संस्क० २) को मिला कर पढ़ने से ज्ञात होता है कि यह अङ्क पौष सं० १६३३ वि० (१६ दिसम्बर सन् १८७६) तक छप गया था ।

ऋषि दयानन्द के श्री बाबू देवेन्द्रनाथ रचित जीवन-चरित के पृष्ठ २६५ ( प्रथम संस्क० ) से विदित होता है कि ऋषि दयानन्द ने ऋग्वेद के प्रथम सूक्त का भाष्य नमूने के रूप में संवत् १६३१ में भी प्रकाशित किया था । उनके लेखानुसार इसमें प्रत्येक मन्त्र के दो-दो अर्थ थे । साथ में गुजराती और मराठी अनुवाद भी था ।

वेदभाष्य का यह नमूना हमारे देखने में नहीं आया । परन्तु संवत् १६३२ में प्रकाशित वेदान्तिध्वान्त-निवारण के अन्त में पुस्तकों का जो विज्ञापन छपा है, उसमें ‘वेदमन्त्र-व्याख्यान’ के नाम से एक पुस्तक का उल्लेख है, और मूल्य एक आना लिखा है । द्र०—‘ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों का इतिहास परिशिष्ट सं० ६’ । पुनः संस्कारविधि (प्रथम संस्क० संवत् १६३२) में भी पुस्तकों की सूचना में संख्या ६ पर ‘वेदभाष्य ( अर्थद्वय सहित ) १२ अं० (दया०) मूल्य ३ रु० १२ आने’ का निर्देश मिलता है ।

१. किसी भी ग्रन्थ का (चाहे वह गद्य का हो) परिमाण जानने के लिये पूरे ग्रन्थ के अक्षर गिन कर उसमें अनुष्टुप् छन्द के ३२ अक्षर संख्या का भाग देने पर जो भागफल आता है, उसके द्वारा ग्रन्थ का परिमाण बताया जाता है । यह प्राचीन परिपाटी है ।



सम्भवतः ये दोनों निर्देश श्री देवेन्द्र बाबू लिखित ऋषि के ऋग्वेदभाष्य के नमूनों की ओर संकेत करते हैं ।

यतः हमें यह ऋग्वेदभाष्य का नमूना उपलब्ध नहीं हुआ, अतः हम यहां पर पौष संवत् १९३३ वि० में छपे ऋग्वेदभाष्य के अंक को ही प्रकाशित कर रहे हैं ।

यहां प्रकाशमाण पाठ संवत् १९३३ वि० में छपे अंक के अनुसार है । इसके संस्कृतभाग में जहां साधारण मुद्रण-प्रमाद थे, उन्हें ठीक कर दिया है । उद्धरणों के पाठ मूल-ग्रन्थों से मिलाकर यथासम्भव शोधे हैं । जिन प्रमाणों का पूरा पता नहीं था, उन्हें टिप्पणी में पूरा कर दिया है । प्रमाणभाग भिन्न टाइप में छापा है । लम्बे सन्दर्भों को छोटे-छोटे सन्दर्भों में बांट दिया है । भाषार्थ पूर्व छपा ही रहने दिया है । यह भाषार्थ अत्यन्त संक्षिप्त है ।

इस अंक में ऋग्वेद के द्वितीय सूक्त के प्रथम मन्त्र के प्रथम अर्थ का कुछ भाग ही, जो अंक के २४ वें पृष्ठ तक आ सका, छपा है । वैदिक यन्त्रालय अजमेर से इस के जो अगले संस्करण छपे हैं, उनमें द्वितीय सूक्त के प्रथम मन्त्र का अधूरा अंश छोड़ दिया है, परन्तु हमने उसे यहां दे दिया है । जिससे ऋषि दयानन्द का लिखा जितना अंश छपा मिलता है, वह सुरक्षित रहे ।

वैदिक यन्त्रालय अजमेर से संवत् २०२७ में नमूने के वेदभाष्य का जो अंश छापा गया है, उसमें सूक्त २ तथा ३ के १-४ मन्त्रों का भी भाष्य छापा है । परन्तु सूक्त २ तथा ३ के १-४ मन्त्रों का छापा गया भाष्य उस हस्तलेख के अनुसार नहीं है, जिसके आधार पर संवत् १९३३ के अंक में सूक्त २ के प्रथम मन्त्र का अधूरा भाष्य छपा है । वैदिक यन्त्रालय के अधिकारियों ने पता नहीं किस हस्तलेख के अनुसार सूक्त २ तथा ३ के १-४ मन्त्रों का भाष्य छाप दिया है । यतः इन सूक्तों का भाष्य उस हस्तलेख के अनुसार नहीं है, जिसके अनुसार संवत् १९३३ का अंक छपा है, अतः हमने उसे यहां छापना उचित नहीं समझा ।

जहां तक हमारा ऋषि दयानन्द के हस्तलेखों के सम्बन्ध में ज्ञान है, तदनुसार संवत् १९३३ में छपे प्रथम अंक के भाष्य की कापी ७७वें सूक्त तक परोपकारिणी सभा के संग्रह में सुरक्षित है । इस कापी में प्रति मन्त्र दो प्रकार के सुन्दर अर्थ दिये गये हैं । इस कापी के अनुसार पूरा पाठ छापना अत्यन्त आवश्यक है ।

प्रथम अङ्क के भाष्य पर आक्षेप और उनका समाधान—प्रस्तुत वेदभाष्य पर तथा ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के प्रारम्भिक भाग पर आर०



ग्रिफिथ, सी. एच. टानी., पं. गुरुप्रसाद, पं. महेशचन्द्र न्यायरत्न, और राजा शिवप्रसाद 'सितारेहिन्द' ने कुछ आक्षेप किये थे। उनके उत्तर ऋषि दयानन्द ने कुछ पत्रों में तथा भ्रान्तिनिवारण और भ्रमोच्छेदन पुस्तक में दिये थे। भ्रान्तिनिवारण और भ्रमोच्छेदन पुस्तकें इसी संग्रह में छापी जा रही हैं। परन्तु वेदभाष्य के साथ सम्बद्ध पत्रादि को इसके परिशिष्ट रूप में इसके पश्चात् ही छाप रहे हैं।

#### ४-भ्रान्ति-निवारण

ऋषि दयानन्द कृत ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के कुछ अङ्कों और ऋग्वेद-भाष्य के प्रथम अङ्क पर अनेक पौरस्त्य तथा पाश्चात्य विद्वानों ने आक्षेप किये थे। उनमें से पं० महेशचन्द्र न्यायरत्न के आक्षेप कुछ महत्व रखते थे। अतः ऋषि दयानन्द ने उनके आक्षेपों का उत्तर देने के लिये भ्रान्ति-निवारण नामक पुस्तक लिखी।

इस पुस्तक के कई संस्करण वेदिक यन्त्रालय अजमेर से प्रकाशित हो चुके हैं। इनमें न तो पाठ की शुद्धि की ओर ध्यान दिया है, और नाही सम्पादन की दृष्टि से इसे कुछ उपयोगी बनाया गया है।

हमने संवत् २०२४ में 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' का एक विशिष्ट संस्करण प्रकाशित किया। तब यह आवश्यक समझा गया कि भूमिका पर जो आक्षेप किये गये हैं, उनका समाधान किया जाये। यह कार्य महत्वपूर्ण होते हुए भी अत्यधिक परिश्रम एवं व्ययसाध्य होने से हम इसे सम्पन्न न कर सके। अतः हमने यह आवश्यक समझा कि 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' पर ऋषि दयानन्द के जीवन-काल में जो आक्षेप किये गये, उनका ऋषि दयानन्द ने पत्र विज्ञापन वा पुस्तकरूप में जो समाधान किया, जो कि विभिन्न स्थानों में बिखरे रूप में मिलता है, उसे एकत्र करके सुन्दर शुद्धरूप में टिप्पणीसहित प्रकाशित किया जाये। अतः हमने उसे 'ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका-परिशिष्ट' के नाम से सं० २०२४ में अपनी वेदवाणी पत्रिका के नवम्बर १९६७ के विशेषाङ्क के रूप में प्रकाशित किया, और पुस्तकरूप में भी पृथक् प्रकाशित किया।

प्रस्तुत संस्करण में भ्रान्ति-निवारण का जो पाठ छपा है, वह

१. द्र० — यही संग्रह, पृष्ठ २००, टि० ४।



‘ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका-परिशिष्ट’ के अन्तर्गत आन्ति-निवारण के पाठानुसार ही है। हां, कहीं-कहीं इसमें पुनः शोधन और नई टिप्पणियां दी हैं, तथा नये पैरे भी बनाये हैं।

## ५-भ्रमोच्छेदन

इस पुस्तक में ऋषि दयानन्द ने ‘ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका’ पर किये गये उन आक्षेपों का उत्तर दिया है, जिन्हें राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द ने ‘निवेदन’ के नाम से संवत् १९३७ में प्रकाशित किया था।

इस पुस्तक को भी हमने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका-परिशिष्ट के अन्तर्गत सम्यक् सम्पादन करके छपा था। प्रस्तुत संग्रह में वही पाठ हम छाप रहे हैं। क्वचित् कहीं नया संशोधन किया है।

इस ग्रन्थ के अन्त में परिशिष्ट १ तथा २ में इस ग्रन्थ से सम्बद्ध राजा शिवप्रसाद के दो पत्रों के उत्तर तथा अनुभ्रमोच्छेदन नामक पुस्तिका छाप रहे हैं। राजा शिवप्रसाद ने भ्रमोच्छेदन के उत्तररूप में ‘दूसरा निवेदन’ छपवाया था। उसका उत्तर ‘अनुभ्रमोच्छेदन’ में पं० भीमसेन शर्मा द्वारा दिया गया है।

ऋषि दयानन्द ने भ्रमोच्छेदन पृष्ठ २६६ तथा परिशिष्ट २७१ में जो संकेत किया है, उससे जाना जाता है कि राजा जी के जिस पत्र वा पुस्तिका पर स्वामी विशुद्धानन्द जी वा पं० बाल शास्त्री के हस्ताक्षर नहीं होंगे, वे उसका उत्तर नहीं देंगे। यतः राजा जी के ‘दूसरा निवेदन’ पर इन दोनों में से किसी के भी हस्ताक्षर नहीं थे, अतः उन्होंने ‘दूसरा निवेदन’ का स्वयं उत्तर नहीं छपा। यह उत्तर पं० भीमसेन शर्मा के नाम से ‘अनुभ्रमोच्छेदन’ पुस्तिका के रूप में छपा है।

अनुभ्रमोच्छेदन का सम्बन्ध ‘भ्रमोच्छेदन’ ग्रन्थ के साथ स्पष्ट है। फिर भी इसके पं० भीमसेन शर्मा के नाम से प्रकाशित होने के कारण हम इसे स्वतन्त्र पुस्तकरूप से इस संग्रह में न छापकर भ्रमोच्छेदन के परिशिष्ट रूप में छाप रहे हैं। इस प्रकार इसके ऋषिकृत न होने पर भी यह पुस्तिका पाठकों को समुपलब्ध हो जायेगी। इस का पाठ भी प्रस्तुत संस्करण में वही छपा है, जिसे हमने सम्पादित करके ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका-परिशिष्ट में छपा था।



## ६-पञ्चमहायज्ञविधि

ऋषि दयानन्द ने 'पञ्चमहायज्ञविधि' के दो संस्करण अपने जीवनकाल में छापे थे। प्रथम संस्करण संवत् १९३२ ( पुस्तक पर १९३१ गुजराती संवत् छपा है ) में 'सभाष्य-सन्ध्योपासनादिपञ्चमहायज्ञविधि' के नाम से प्रकाशित हुआ था। इसके पश्चात् इसमें कुछ संशोधन करके संवत् १९३४ में संशोधित संस्करण लाजपत प्रेस काशी से छपवाया। यद्यपि इस संस्करण पर भी सत्यार्थप्रकाश और संस्कारविधि के संशोधित संस्करणों के समान द्वितीय संस्करण का निर्देश होना चाहिये था, परन्तु वैसा न होकर इस पर 'प्रथम संस्करण' शब्द ही छपे हैं।

सम्प्रति आर्यसमाज में यही (१९३४ संवत्वाला) संस्करण ही प्रामाणिक माना जाता है। अतः हमने इस संग्रह में इसे ही छपा है।

यद्यपि प्रथम संस्करण में संशोधन करके ऋषि दयानन्द ने संवत् १९३४ में संशोधित संस्करण प्रकाशित कर दिया था, फिर भी उनकी पुस्तकों के अन्त में विक्रयार्थ पुस्तकों के अन्तर्गत संवत् १९३६ तक प्रथम संस्करण का नामोल्लेख मिलता है। इससे स्पष्ट है कि प्रथम संस्करण का संशोधित संस्करण छप जाने पर भी ऋषि दयानन्द उसे सर्वथा अप्रामाणिक वा हेय नहीं समझते थे।<sup>१</sup> अन्यथा वे अपनी पुस्तक के अन्त में विक्रयार्थ इसका निर्देश कदापि न करते।

प्रथम संस्करण में जो संशोधन किया गया है, उसमें संध्या के अन्तर्गत अघमर्षण के पश्चात् सूर्य को अर्घ्य देने के निर्देश को हटा दिया है, और परिक्रमा के मन्त्र अन्य दिये हैं। उत्तर चार यज्ञों में भी पर्याप्त परिवर्तन मिलता है। परन्तु उसमें एक भी अंश ऐसा नहीं है, जिसके वंदिकत्व पर अंगुली उठाई जा सके। अन्त में ऋग्वेद के परिशिष्ट के अन्तर्गत विद्यमान लक्ष्मीसूक्त की व्याख्या की है।

यद्यपि प्रथम संस्करण भी उपादेय है, फिर भी लोक-भ्रांति न हो, इस

---

१. यही स्थिति सत्यार्थप्रकाश और संस्कारविधि के प्रथम संस्करणों की है। आर्यसमाज के विद्वान् इन ग्रन्थों के प्रथम संस्करणों को सर्वथा हेय समझते हैं। यह स्थिति उचित नहीं है। इनमें बहुतसा ऐसा उपयोगी अंश है, जो संशोधित संस्करणों में नहीं मिलता।



कारण हम उसके अन्त के तीन यज्ञों का पाठ बहुत उपयोगी होने से 'पञ्चमहायज्ञविधि' के अन्त में परिशिष्ट के रूप में छाप रहे हैं।

प्रथम संस्करण में मृतकश्राद्ध का खण्डन और जीवित पितरों के श्राद्ध तर्पण का विधान बलपूर्वक विस्तार से किया गया है। यह इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है कि सत्यार्थप्रकाश का जब प्रथम संस्करण छपा था, तब भी ऋषि दयानन्द मृतकश्राद्ध और तर्पण को नहीं मानते थे। सत्यार्थप्रकाश और पञ्चमहायज्ञविधि के लेखन में केवल ३-४ मास का ही अन्तर है। अतः स्पष्ट है कि सत्यार्थप्रकाश के प्रथम संस्करण में मृतकश्राद्ध का जो निर्देश है, वह ऋषि दयानन्द द्वारा लिखवाया हुआ नहीं है।

इसी ऐतिहासिक तथ्य को सुरक्षित करने के लिये हम प्रथम संस्करण के अन्त के तीन यज्ञों का भाग परिशिष्ट में दे रहे हैं।

संप्रति ऋग्वेद के अन्त में कुछ परिशिष्ट संगृहीत मिलते हैं (द्र०—पं० सातवलेकर संस्करण २, तथा ऋग्वेद सायणभाष्य पूना संस्क० भाग ४ के अन्त में), इनमें बहुत से उपयोगी हैं, कुछ असामान्य भी हैं। ऋषि दयानन्द ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के ग्रन्थप्रामाण्याप्रामाण्यप्रकरण में ऋग्वेद-परिशिष्टान्तर्गत 'सितासिते' सन्त्र को प्रमाण मानकर उसका उचित अर्थ दर्शाया है (द्र०—रालाकट्टसं० पृष्ठ ३३८)।

इसी प्रकार 'पञ्चमहायज्ञविधि' के प्रथम संस्करण के अन्त में लक्ष्मीसूक्त की वैदिक व्याख्या लिखना भी यह दर्शाता है कि ऋषि दयानन्द वेद के परिशिष्टों को सर्वथा हेय वा अवैदिक नहीं मानते थे। इसी दृष्टि से हमने लक्ष्मीसूक्त की व्याख्या भी छपी है।

### ७—वेदान्तिध्वान्त-निवारण

ऋषि दयानन्द के आर्याभिविनय और सत्यार्थप्रकाश के प्रथम संस्करण के कुछ पाठों से यह भ्रम होता है कि इस काल में ऋषि दयानन्द नवीन-वेदान्तियों के केवल एक ब्रह्म की सत्ता को ही मानते थे। परन्तु यह केवल भ्रममात्र है। ऋषि का तात्पर्य ब्रह्म का जीव और प्रकृति की अपेक्षा महत्त्व दर्शनिमात्र में है।

१. इस विषय में जो महानुभाव विस्तार से जानना चाहते हों, वे रा.ला.क. ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित सत्यार्थप्रकाश के आ. स. शताब्दी-संस्करण के आरम्भ में 'सत्यार्थप्रकाश का ऐतिहासिक विवरण' में पृष्ठ २५-३० तक देखें।



ऋषि दयानन्द ने इन पुस्तकों से पहले संवत् १९२७ में 'अद्वैत-मत-खण्डन' नामक पुस्तक लिखी थी, यह पुस्तक हमें प्राप्त नहीं हुई। इसके पश्चात् ऋषि दयानन्द ने संवत् १९३१ में प्रस्तुत 'वेदान्तिध्वान्त-निवारण' पुस्तक लिखी थी।

'वेदान्तिध्वान्त-निवारण' का प्रथम संस्करण संवत् १९३१ में, और द्वितीय संस्करण संवत् १९३६ में छपा था। हमारे पास ये दोनों संस्करण नहीं हैं। अतः हमने प्रस्तुत संग्रह में वैदिकयन्त्रालय अजमेर से संवत् २००७ में प्रकाशित ११ वें संस्करण का उपयोग किया है।

#### ८-वेदविरुद्ध-मत-खण्डनम्

ऋषि दयानन्द ने वैष्णवमतान्तर्गत बल्लभसंप्रदाय के खण्डन के लिये संवत् १९३१ में 'वेदविरुद्ध-मत-खण्डन' नाम की पुस्तक प्रकाशित की थी। इसका दूसरा नाम बल्लभाचार्य-मत-खण्डन भी है।

'वेदविरुद्ध-मत-खण्डन' पुस्तक ऋषि दयानन्द ने संस्कृतभाषा में लिखी थी। इसका जो संवत् १९३१ में प्रथम संस्करण छपा था, उसमें गुजराती अनुवाद भी साथ में मुद्रित हुआ था। यह गुजराती अनुवाद लेखक के अनन्य शिष्य इयाम जी कृष्ण वर्मा ने किया था।

इसका वर्तमान में जो भाषानुवाद छपा मिलता है, वह पं० भीमसेन शर्मा कृत है। यह ग्रन्थ के भाषानुवाद के अन्य लेख से स्पष्ट है।

इस संस्करण में हमने संस्कृतपाठ और भाषापाठ को प्रति पृष्ठ ऊपर-नीचे छापा है। जिससे दोनों पाठों की लेखधारा अविच्छिन्न बनी रहे। साथ ही इस ग्रन्थ में उद्धृत जिन प्रमाणों के पते अजमेर-मुद्रित संस्करणों में नहीं दिये गये, उन्हें भी हमने दे दिया है।

#### ९-शिक्षापक्षी-ध्वान्त-निवारणम्

इस ग्रन्थ में गुजरात प्रान्त में व्याप्त 'स्वामी नारायण मत' का खण्डन किया है। नारायण मत के प्रवर्तक स्वामी सहजानन्द ने अपने शिष्यों के लिये 'शिक्षा-पत्री' नामक एक ग्रन्थ लिखा था। उसका खण्डन ऋषि दयानन्द जी ने प्रस्तुत ग्रन्थ में किया है। इस का दूसरा नाम 'स्वामी नारायण-मत-खण्डन' भी है।

१. इसका विवरण इसी संग्रह के आरम्भ में 'ऋ. द. कृत लघु ग्रन्थों का ऐतिहासिक विवरण' में आगे देखें।



यह ग्रन्थ ऋषि दयानन्द ने गुजरात-परिभ्रमण काल में संवत् १९३१ में लिखा था। लेखक ने इसे संस्कृतभाषा में लिखा था। प्रथम संस्करण गुजराती अनुवादसहित संवत् १९३१ में छपा था। इसका गुजराती अनुवाद भी इयाम जी कृष्ण वर्मा ने किया था।

वैदिक यन्त्रालय अजमेर से 'शिक्षापत्री-ध्वान्त-निवारण' के जो संस्करण छपे हैं, उनमें जो भाषानुवाद है, वह गुजराती भाषा से अनूदित है। यह संकेत भाषानुवाद के आरम्भ में मिलता है। भाषानुवाद किसने और कब किया, इसका कोई निर्देश भाषानुवाद के अन्त में नहीं मिलता।

### १०—भागवत-खण्डनम्

इस ग्रन्थ को ऋषि दयानन्द ने संवत् १९२१ के उत्तरार्ध में लिखा था। और इसका प्रथम संस्करण लेखक ने ज्वालाप्रकाश प्रेस आगरा में संवत् १९२३ के अन्त अथवा संवत् १९२४ के आदि में छपवाया था, और संवत् १९२४ के हरिद्वार के कुम्भ के मेले में इसे बिना मूल्य वित्तीर्ण किया था।

यह ग्रन्थ भी लेखक ने केवल संस्कृतभाषा में ही लिखा और छपवाया था। इसके सम्बन्ध में विशेष जानकारी के लिये इसी संस्करण में प्रकाशित 'ऋ० व० कृत लघु ग्रन्थों का ऐतिहासिक विवरण' में आगे देखें।

हमने इसे प्रथम बार संवत् २०१८ में भारतीय-प्राच्यविद्या-प्रतिष्ठान अजमेर से प्रकाशित किया था। तदनन्तर संवत् २०२८ में द्वितीय संस्करण रा. ला. क. ट्रस्ट बहालगढ़ से प्रकाशित किया।

प्रस्तुत संस्करण में जो पाठ छपा है, वह इन्हीं संस्करणों के अनुसार हैं। साधारण लोगों के लाभार्थ हमने इसका भाषानुवाद भी साथ में छापा है।

ग्रन्थ के अन्त में परिशिष्ट में 'भागवत-खण्डन' के अन्तर्गत कतिपय लेखों की तुलना सत्यार्थप्रकाश के प्रथम और द्वितीय (संशोधित) संस्करणों के साथ दर्शाई है।

### ११—व्यवहारभानु

इस ग्रन्थ की रचना लेखक ने बालकों को व्यावहारिक ज्ञान कराने के लिये संवत् १९३६ में की थी। इसका एक सुन्दर सुसम्पादित संस्करण रामलाल कपूर ट्रस्ट ने लाहौर में संवत् १९९४ (?) में प्रथमवार छपा था। तब से इसके कई संस्करण ट्रस्ट की ओर से प्रकाशित हो चुके हैं।



ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित इस ग्रन्थ के संस्करणों में निम्नलिखित विशेषतायें हैं—

(१) इस ग्रन्थ में आये अनेक विषय महर्षि ने प्रसङ्गवश अपने अन्य ग्रन्थों में भी लिखे हैं। उन सब के स्थान-निर्देश तथा पते शताब्दी-संस्करण से टिप्पणी में कर दिये हैं।

(२) विषयवार कई प्रकरणों के नये शीर्षक मोटे टाइप में [ ] बड़े कोष्ठ में दे दिये गये हैं। तथा आवश्यक होने पर नये पैरे कर दिये गये हैं, जिस से एक-एक विषय समझने में सुगमता हो जावे।

(३) सब विषयों की एक विस्तृत सूची आरम्भ में दे दी है।

(४) विराम (।) तथा अल्पविराम (,) भी दे दिये हैं, जिससे लम्बे-लम्बे वाक्य सरलता से समझ में आ जावें। और आवश्यक परिवर्द्धित पदों को [ ] बड़े कोष्ठ में दे दिया गया है, जिससे वे पृथक् ही विदित रहें।

(५) ध्यान देने योग्य विशेष पदों को हमने मोटे टाईप में कर दिया है जिससे विषय के समझने में सुभीता रहे।

प्रस्तुत संस्करण रामलाल कपूर ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित षष्ठ संस्करण के अनुरूप है। इस में केवल इतना परिवर्तन किया है कि टिप्पणी में जहां-जहां सत्यार्थप्रकाश आदि के पृष्ठों का निर्देश पहले अजमेर से सन् १९२५ में प्रकाशित शताब्दी-संस्करण के अनुसार किया गया था, वहां प्रस्तुत संस्करण में हमने ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित आ० स० शताब्दी-संस्करण के अनुसार कर दिया है।

### १२-गोकर्णानिधि

कर्णानिधि दयामय देव दयानन्द ने मानवों के अत्यन्त उपकारक गौ आदि पशुओं के बध को रोकने के लिये अपने जीवनकाल में महत् प्रयत्न किया था। तात्कालिक वायसराय के पास तीन करोड़ भारतीयों के हस्ताक्षरयुक्त प्रार्थनापत्र भेजने के लिये बहुत उद्योग किया था, यह उनके इस सम्बन्ध में लिखे गये पत्रों से स्पष्ट है। खेद है कि ऋषि दयानन्द के अकाल में काल-कवलित हो जाने के कारण उनका यह कार्य पूरा नहीं हुआ।

१. वी. य. अजमेर से दयानन्द-शताब्दी के अवसर पर प्रकाशित संस्करण।



गोरक्षा के कार्य को स्थायी और प्रभावशाली बनाने के लिये उन्होंने 'गोकर्णानिधि' नाम की एक लघु पुस्तिका सन् १९३७ के अन्त में प्रकाशित की थी ।

इस पुस्तक में दो भाग हैं । प्रथम भाग में गौ आदि पशुओं को मार कर खाने की अपेक्षा उनकी रक्षा करके उनके घी दूध द्वारा अधिक लाभ होने का विवरण गणनापूर्वक दिया है, और मांसाहार के अवगुण तथा निरामिष भोजन के महत्त्व को दर्शाया है । दूसरे भाग में गवादि पशुओं की रक्षा के लिये स्थापित की जानेवाली गोरक्षिणी सभा के नियमोपनियम दिये हैं ।

गवादि प्राणियों की रक्षा का महत्त्व प्रत्येक भारतीय नेता ने स्वीकार किया है । महात्मा गांधी ने कहा था कि स्वराज्य मिलने के दूसरे दिन ही गोहत्या बन्द कर दी जायेगी । परन्तु गांधी के नाम की माला जपनेवाली हमारी सरकार ने २७ वर्ष बीत जाने पर भी इस दिशा में कोई प्रयत्न नहीं किया । गवादि पशुओं के चर्म से विदेशी मुद्रा की प्राप्ति का स्वप्न साकार करनेवाली कांग्रेस सरकार से कोई आशा भी नहीं है कि वह भारतवासियों के लाभ को ध्यान में रखकर गोहत्या पर प्रतिबन्ध लगायेगी । घी के स्थान पर जमे हुए वनस्पति तेल, बलों से खेती के स्थान पर ट्रैक्टरों, और गोबर की खाद की जगह भूमि की उर्वरक शक्ति को सम्प्राप्त करनेवाली रासायनिक खाद को बढ़ावा देकर अथवा विकल्प प्रस्तुत करके इसने यह घोषित सा कर दिया है कि भारतवासियों के लिये गाय भैंस आदि पशुओं की कोई आवश्यकता नहीं है ।

महात्मा गांधी के नाम की माला जपनेवाली कांग्रेस सरकार ने महात्माजी के प्रत्येक आदेश वा उपदेश की घोर उपेक्षा की है । गोहत्या शराब और विदेशी भाषा अंग्रेजी के विशेष अध्ययन को बन्द न करके उसे प्रोत्साहन देना इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है कि हमारी सरकार ने महात्मा गांधी सद्गुण सभी स्वातन्त्र्य सेनानियों के विचारों को ताक पर रख दिया है ।

प्रस्तुत संस्करण में प्रकाशित पाठ प्रथम संस्करण से मिलाकर वा शोधकर छापा गया है ।

### १३—आर्योद्देश्यरत्नमाला

इस लघु ग्रन्थ में ऋषि दयानन्द ने आर्यों के उद्देश्यों और मन्तव्यों में



से १०० रत्न छांटकर उनकी व्याख्या सहित उन्हें प्रकाशित कराया है। इसका प्रथम संस्करण संवत् १९३४ में अमृतसर से प्रकाशित हुआ था।

इस ग्रन्थ का भी तुलनात्मक पाठ-संकेत के सहित संस्करण रामलाल कपूर ट्रस्ट ने संवत् १९६४ (?) में प्रथम बार छपा था। तब से अब तक इसके ६ संस्करण ट्रस्ट द्वारा छापे जा चुके हैं। प्रस्तुत पाठ ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित ६वें संस्करण के अनुसार है।

ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित पूर्व संस्करणों में नीचे दि० में सत्यार्थप्रकाश आदि के जो पते अजमेर से सन् १९२५ में प्रकाशित शताब्दी-संस्करण के अनुसार दिये गये थे, उनके स्थान पर प्रस्तुत संस्करण में ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित आ. स. शताब्दी-संस्करण के अनुसार दिये गये हैं।

### ४-चतुर्वेद-विषय-सूची

ऋषि दयानन्द ने अपना वेदभाष्य लिखने से पूर्व चारों वेदों का मनन करके करिष्यमाण वेदभाष्य की रूपरेखा के रूप में चारों वेदों के विषयों की क्रमशः सूची तैयार की थी। यह ग्रन्थ लगभग द्वादश वर्षों तक परोपकारिणी सभा के संग्रह में अज्ञात अवस्था में पड़ा रहा।

इसका सब से प्रथम दर्शन श्री पूज्य गुरुवर्य पं० ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु ने वा मैंने सन् १९३१ में किया, और सन् १९३५ में मैंने इसकी प्रतिजिप्ति की। मेरे पास भी यह ग्रन्थ चिरकाल तक पड़ा रहा। इसका विशेष महत्त्व मेरी समझ में सन् १९४७ के बाद आया। सन् १९५६ से मैं इसके मुद्रण के लिये परोपकारिणी सभा को लिखता रहा, और समाचारपत्रों में भी इस विषय में लेख लिखे। श्री पं० विश्वश्रवाः जी ने भी इसके मुद्रण के लिये पर्याप्त प्रयत्न किया। इस प्रकार यह ग्रन्थ संवत् २०२८ में छपकर जनता के सम्मुख आया।

इस ग्रन्थ का जो संस्करण परोपकारिणी सभा से छपा है, वह बहुत भ्रष्ट है। कई स्थानों पर पाठ छूट गये हैं। कई स्थानों पर यथावत् न पढ़ सकने के कारण अन्यथा पाठ छप गया है। कई स्थानों पर प्रत्यक्ष लेखक-प्रमाद-जन्य अशुद्धियों को भी उसी रूप में छाप दिया है। यजुर्वेद की विषय-सूची में ऋषि दयानन्द ने प्रत्येक अध्याय के प्रत्येक अनुवाक के आरम्भ की प्रतीक देकर सम्पूर्ण अनुवाक की विषय-सूची लिखी है, परन्तु सम्पादक ने इसे न जान कर अनुवाक सख्या के स्थान पर प्रतीकात्मक मन्त्र की संख्या दे दी है।



ऋग्वेद की विषय-सूची वर्गानुसार दी है, परन्तु प्रथमाष्टक के कुछ अध्यायों की विषय-सूची में संख्या तो वर्ग की दी है, किन्तु ऊपर शीर्षक अनुवाक का दे दिया है। इसी प्रकार कुछ भाग में सम्पूर्ण वर्गों की विषय-सूची नहीं दी है।

हमने परोपकारिणी सभा द्वारा प्रकाशित सूची के पाठ की तुलना १२-४-७२ को पुनः हस्तलेख की फोटो कापी से की है। अतः इस संस्करण में प्रकाशित पाठ पूर्णरूप से शुद्ध है। इसी प्रकार उक्त संस्करण में सम्पादक महोदय से जो भूल हो गई थी, वा जिन लेखन-प्रमादों को उन्होंने ठीक नहीं किया था, उन्हें हमने यथावत् शोधकर छापा है।

ऋग्वेद के आरम्भ के कुछ अध्यायों में जिन वर्गों का विषय-निर्देश सूची में नहीं दिया गया था, उनका भी पूर्वपर सम्बन्ध लेखक के ऋग्वेद-भाष्य की सहायता से पूर्ण कर दिया है।

हमने प्रस्तुत संस्करण में जहां भी पाठ-पूर्ति की है, उसे [ ] कोष्ठक में छापा है। और पूर्व मुद्रित संस्करण में तथा हस्तलेख में विद्यमान अशुद्धियों को शोधकर नीचे टिप्पणी में उनका संकेत कर दिया है।

आवश्यक निर्देश—यह चतुर्वेद-विषय-सूची लेखक ने सम्भवतः संवत् १९३३ के आरम्भ में लिखी थी। उसके पश्चात् वेदभाष्य करते समय उन्होंने उक्त सूची में लिखे विषयों में यत्र तत्र परिवर्तन भी कर दिया है। अतः यह ग्रन्थ पूर्णतया लेखक के वेदभाष्य से नहीं मिलता। इस कारण प्रामाणिकता की दृष्टि से ऋग्वेद के मं० ७ सूक्त ६१ मं० २ तक, तथा सम्पूर्ण यजुर्वेद का भाष्य इसकी अपेक्षा अधिक प्रामाणिक जानना चाहिये। हां ऋ. ७।६१।२ के आगे, तथा साम-अथर्व जिनका भाष्य ऋषि दयानन्द ने नहीं किया, वहां यह सूची मार्ग-दर्शन कर सकती है। इसको भावी वेदभाष्यकार आश्रय बना सकते हैं। इसी प्रकार जहां वेदभाष्य के साथ विषयसूचीस्थ विषय नहीं मिलते, वहां भी अर्थान्तर के परिज्ञान में यह सूची उपयोगी हो सकती है।

इस सूची से अन्य भी अनेक महत्त्वपूर्ण विषयों पर प्रकाश पड़ता है। जैसे अथर्ववेद में छपे हुए कुंताप सूक्त इस सूची के अनुसार अथर्ववेद के अङ्ग नहीं हैं, वे परिशिष्ट हैं, आदि।

अन्य लघु ग्रं ।

प्रस्तुत संस्करण में छापे गये १४ ग्रन्थों के अतिरिक्त संस्कृत-वाक्य-



प्रबोध बचता है। इसका एक सुन्दर संस्करण रा.ला.क. ट्रस्ट की ओर से सन्वत् २०२६ में छप चुका है। इस संस्करण के अन्त में पं. अम्बिकादत्त व्यास द्वारा 'अबोधनिवारण' पुस्तिका में दिये गये सभी आक्षेपों का उत्तर भी हमने प्रकाशित किया है। यद्यपि इसका निवेश भी प्रस्तुत संस्करण में किया जा सकता था, पुनरपि हमने इसे इसलिये छोड़ दिया है कि इसको संग्रह में छापने पर लगभग दो सहस्र रुपया अधिक व्यय होता। प्रस्तुत संस्करण के मुद्रण तक कागज तथा छपाई व्यय में अत्यधिक वृद्धि हो जाने से इसका मूल्य भी पूर्वनिर्धारित मूल्य से लगभग दुगना रखना पड़ रहा है। 'संस्कृत-वाक्य-प्रबोध' को छापने पर प्रति पुस्तक ३ रु० मूल्य और बढ़ जाता।

जिन महानुभावों को सुसम्पादित 'संस्कृत-वाक्य-प्रबोध' की आवश्यकता हो, वे पृथक् इसे मंगा सकते हैं।

### प्रवचन तथा शास्त्रार्थ-संग्रह

हमारी तो यह भी इच्छा थी कि पूना-प्रवचन और शास्त्रार्थों का भी एक सम्मिलित आ. स. शताब्दी-संस्करण प्रकाशित करते। परन्तु वर्तमान मंहगाई ने हमें इस कार्य से रोक दिया है। इनके भी ट्रस्ट द्वारा सुन्दर शुद्ध संस्करण पृथक् प्रकाशित हो चुके हैं। अतः पाठक उन्हें खरीदकर इस कमी को पूर्ण कर सकते हैं।

पाठकों की सुगमता के लिये हम पूर्व प्रकाशित 'संस्कृत-वाक्य-प्रबोध पूना-प्रवचन और शास्त्रार्थ संग्रह' को एक सुन्दर जिल्द में तैयार करा देंगे। जिससे पाठक महानुभाव इस जिल्द को खरीदकर 'लघु ग्रन्थ संग्रह' की पूर्ति कर सकते हैं।

### धन्यवाद

इस संग्रह की प्रेस कापी श्री पं० महेन्द्र शास्त्री जी ने बड़े परिश्रम से तैयार की है। इसके लिये हम उनके अतिशय आभारी हैं। आपने जब से ट्रस्ट के मुद्रण-कार्य को सम्भाला है तब से ट्रस्ट के प्रकाशन विशेषरूप से शुद्ध छप रहे हैं।

दीपावली २०३१

रा. ला. क. ट्रस्ट, बहालगढ़

विदुषां वशंवदः—

युधिष्ठिर मीमांसक



‘दयानन्दीय लघुग्रन्थ-संग्रह’ में मुद्रित ग्रन्थों का

## ऐतिहासिक विवरण

प्रस्तुत संग्रह में मुद्रित ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों का हम ग्रन्थ-मुद्रण-क्रम से ऐतिहासिक विवरण प्रस्तुत करते हैं—

### १. आत्म-चरित्र

थियोसोफिकल सोसाइटी के संस्थापकों में अन्यतम कर्नल आल्काट के विशेष आग्रह से ऋषि दयानन्द ने अपना संक्षिप्त चरित्र लिखकर कर्नल आल्काट को भेजा था। उस चरित्र का अंग्रेजी अनुवाद कर्नल आल्काट ने उस समय की ‘थियोसोफिकल’ पत्रिका में प्रकाशित किया था। इसी प्रकार संवत् १९३२ में पूना में स्वामी जी ने अपनी व्याख्यानमाला में एक दिन आत्म-चरित्र का वर्णन किया था। वह ‘पूना-प्रवचन’ अर्थात् ‘उपदेश-मञ्जरी’ के नाम से प्रकाशित पुस्तक में छपा है।

इन दोनों आत्म-चरित्रों के आधार पर श्री माननीय पं० भगवद्दत्त जी ने “ऋषि दयानन्द का स्वरचित वा कथित जीवन-चरित्र” छपवाया है। यह आत्म-चरित्र अत्यन्त संक्षिप्त होते हुए भी बहुत महत्त्वपूर्ण है। ऋषि दयानन्द के प्रसिद्ध होने से पूर्व की जीवन-घटनाओं के ज्ञान का आधार एक-मात्र यही है। पिछले जीवन-चरित्र-लेखकों ने भी इसी के आधार पर अपनी खोजें की हैं।

अब हम ऋषि के पत्रव्यवहार में से उन वचनों को उद्धृत करते हैं, जिन में ऋषिकृत इस आत्मचरित्र का उल्लेख है—

१. इसका एक शुद्ध सटिप्पण संस्करण रा. ला. क. ट्रस्ट की ओर से छप चुका है।



“अपने जन्म से लेकर दिनचर्या अभी कुछ संक्षेप से देवनागरी और अंग्रेजी में करवाकर हम उनके पास भेज देंगे” ।

—पत्रव्यवहार, पृष्ठ १५८ ।

“करनैल साहब ने हम को लिखा था कि आप अपना जीवन-चरित्र लिख दीजिये । प्रथम तो हमारा शरीर अच्छा नहीं रहा, इस कारण नहीं भेज सके । अब दो चार दिन से कुछ अच्छा है, सो आज तुम्हारे इस पत्र के साथ कुछ थोड़ा सा जन्म-चरित्र लिखकर भेजते हैं । सो तुम जिस समय पहुँचे, उस समय उनके पास पहुँचाना । क्योंकि उनका समाचार [पत्र] में छापने का समय आ गया” ।

—पत्रव्यवहार, पृष्ठ १५९ ।

“जो एक जन्म-चरित्र के लिखने-लिखवाने का काम ही होता, तो लिख-लिखाके भेज दिया होता” ।

—पत्रव्यवहार पृ० १६९

ये पत्र क्रमशः २१ अगस्त, २७ अगस्त, और ६ नवम्बर सन् १८७९ के हैं । अतः यह जीवन-चरित्र २१ अगस्त से ६ नवम्बर सन् १८७९ के मध्य में लिखा गया है, यह स्पष्ट है ।

इस आत्म-चरित्र के विषय में इस के सम्पादक श्री पं० भगवद्दत्त जी द्वारा विस्तार से लिखा गया विवरण ‘सम्पादकीय’ के अन्तर्गत पृष्ठ ३ से ८ तक देखें ।

परोपकारिणी सभा की पुरानी रिपोर्ट से ज्ञात होता है कि सभा के मन्त्री पं० मोहनलाल विष्णुलाल पाण्ड्या ने सर्वप्रथम ऋषि दयानन्द जी का जीवन-चरित्र लिखने का संकल्प किया था, पर वे उसे पूरा न कर सके ।

### दयानन्द-चरित्र और प्रो० मैक्समूलर

देशहितैषी खण्ड ४ अङ्क ४ (संवत् ?) पृष्ठ ७५ से ज्ञात होता है कि जर्मनदेशोत्पन्न इङ्ग्लैंडनिवासी प्रो० मैक्समूलर ने स्वामी दयानन्द का जीवनचरित्र लिखने का संकल्प किया था । इस विषय में उन्होंने परोपकारिणी सभा के तात्कालिक मन्त्री पं० मोहनलाल विष्णुलाल पाण्ड्या से पत्रव्यवहार

१. पत्रव्यवहार के नाम से इसमें जितने उद्धरण दिये जायेंगे, वे ‘ऋ. द. के पत्र और विज्ञापन’ ग्रन्थ के द्वितीय संस्करण के अनुसार हैं ।



भी किया था। पं० मोहनलाल पाण्ड्या ने सब आर्यसमाजियों को प्रेरणा की थी कि जिन्हें स्वामीजी की कोई विशेष घटना ज्ञात हो, तो वह प्रो० मैक्समूलर साहब को लिखें।

इस विषय में 'आर्यसमाज फर्रुखाबाद का इतिहास' पृष्ठ २५५ पर भी उल्लेख मिलता है।

### ऋषि दयानन्द के जीवन-चरित्र

ऋषि दयानन्द के जीवन-चरित्र बहुत से लिखे गये हैं, परन्तु उनमें अनुसंधानपूर्वक केवल दो ही जीवनचरित्र लिखे गये। पहला जीवन-चरित्र है - श्री पं० लेखराम जी द्वारा संगृहीत। श्री पं० लेखराम जी ने ऋषि-निर्वाण के लगभग १० वर्ष पश्चात् उनके जीवन-सम्बन्धी घटनाओं का संग्रह करने में ४,५ वर्ष लगाये। वे इस काल में केवल इसी कार्य में न लगे रहे, साथ-साथ उन्हें प्रचारकार्य भी करना पड़ता था, तथापि उन्होंने स्वल्प काल में ही ऋषि के जीवन की बहुत सी घटनाओं का संग्रह कर लिया था। वे उनके आधार पर जीवनचरित्र लिखना ही चाहते थे कि एक छद्म-वेषी मतान्ध मुसलमान ने उनकी जीवनलीला समाप्त कर दी, जिससे उनके द्वारा सम्पन्न होनेवाला महान् कार्य बीच में अधूरा हो रह गया। उनके पश्चात् आर्यसमाज के ख्यातनामा लेखक पं० आत्मारामजी अमृतसरी ने उनके नोटों को क्रमवार लगाकर उनके आधार पर एक जीवनचरित्र प्रकाशित किया। यह जीवनचरित्र अभी तक उर्दू में ही मिलता था। अब इसका हिन्दी अनुवाद भी प्रकाशित हो गया है।

पं० लेखराम जी के अनन्तर वंगप्रान्तीय श्री पं० देवेन्द्रनाथजी ने ऋषि के जीवन-चरित्र को लिखने का संकल्प किया। वे महानुभाव यद्यपि आर्यसमाजी नहीं थे, तथापि ऋषि दयानन्द के अनन्य भक्त थे। उन्होंने अपने जीवन के श्रेष्ठतम १७ वर्ष ऋषि-जीवन के अन्वेषण-कार्य में लगाये। परन्तु जीवन-चरित्र लिखने का कार्य प्रारम्भ करने के कुछ दिन बाद ही देववशात् उन्हें लकवा हो गया, और उसी में कुछ समय पीड़ित रहकर स्वर्गवासी हुए। इस प्रकार श्री पं० देवेन्द्रनाथ जी द्वारा अनुसंधानित कार्य भी अधूरा रह गया। उनके नोटों के आधार पर श्री पं० घासीरामजी ने ऋषि का जीवनचरित्र लिखा। वह जीवनचरित्र आर्यसाहित्यमण्डल अजमेर से दो भागों में प्रकाशित हुआ है। इस जीवनचरित्र की भूमिका और प्रारम्भिक चार



अध्याय पं० देवेन्द्रनाथ जी की लेखनी से लिखे हुए हैं। इसकी भूमिका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यदि सारा ग्रन्थ पं० देवेन्द्रनाथजी की लेखनी से पूरा हो जाता, तो अत्यन्त महत्त्व का कार्य होता। यद्यपि इस जीवन-चरित्र के लिखने में श्री पं० घासीरामजी ने पं० लेखरामजी के जीवन-चरित्र से भी सहायता ली है, तथापि पं० लेखरामजी के जीवन-चरित्र में कुछ ऐसी उपयोगी सामग्री विद्यमान है, जो अन्यत्र नहीं मिलती।

तीसरा जीवन-चरित्र श्री स्वामी सत्यानन्द जी रचित है, इसका नाम 'द्यानन्द-प्रकाश' है। यह अत्यन्त भक्तिभावपूर्ण भाषा में लिखा गया है। इसके पाठ से अद्वालु पाठक दयानन्द के प्रति भावविभोर हो जाता है।

चौथा जीवन-चरित्र श्री बा० रामचिलासजी शारदा का लिखा हुआ है। इसका नाम 'आर्यधर्मेन्द्रजीवन' है। इसके प्रारम्भ में श्री पं० आत्मारामजी द्वारा लिखा हुआ विद्वत्तापूर्ण एक बृहद् उपोद्घात है।

इनके अतिरिक्त संस्कृत, मराठी, गुजराती, बंगाली, अंग्रेजी आदि अनेक भाषाओं में जीवन-चरित्र छपे हैं। इन सब के मूल उपर्युक्त जीवन-चरित्र ही हैं।

## २. आर्याभिविनय

वैदिक भक्ति के यथार्थ स्वरूप के ज्ञान के लिये ऋषि ने 'आर्याभिविनय' नाम का एक अपूर्व ग्रन्थ रचा। ऋषि ने स्वयं इस ग्रन्थ के निर्माण का प्रयोजन इस प्रकार लिखा है—

“इस ग्रन्थ से तो केवल मनुष्यों को ईश्वर का स्वरूपज्ञान और भक्ति, धर्मनिष्ठा, व्यवहारशुद्धि इत्यादि प्रयोजन सिद्ध होंगे। जिससे नास्तिक और पाखण्ड मतादि अधर्म में मनुष्य न फसे।”

—आर्याभिविनय की उपक्रमणिका, पृष्ठ ४५।

### ग्रन्थ का रचना-काल

ऋषि दयानन्द ने श्री गोपालराव को फाल्गुन बदि २ संवत् १९३१ के पत्र में लिखा था—

“और स्तुति प्रार्थना उपासना करने के वास्ते वेदमन्त्रों से चोपड़ी (=पुस्तक) बनाने की तैयारी है।”—देखो पत्रव्यवहार, पृष्ठ २५।

१. इस संग्रह में प्रकाशित ग्रन्थों की जहाँ भी पृष्ठ-संख्या दी जायेगी, वह सब इस संग्रह के अनुसार जाननी चाहिये।



आर्याभिविनय के आरम्भ में इस ग्रन्थ के प्रारम्भ करने की तिथि इस प्रकार लिखी है—

“चक्षुरामाङ्गचन्द्रेऽब्दे चैत्रे मासि सिते दले ।  
दशम्यां गुरुवारेऽयं ग्रन्थारम्भः कृतो मया ॥”

अर्थात् चैत्र शुक्ला १० गुरुवार संवत् १९३२ को इस ग्रन्थ का बनाना प्रारम्भ किया है ।

### आर्याभिविनय की अपूर्णता

यद्यपि इस ग्रन्थ के अजमेर-संस्करणों में द्वितीय प्रकाश के अन्त में “समाप्तश्चायं ग्रन्थः” पाठ मिलता है, तथापि इस ग्रन्थ की अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग दोनों परीक्षाओं से विदित होता है कि यह ग्रन्थ वस्तुतः अपूर्ण है । इस ग्रन्थ के केवल दो ही प्रकाश छपे हैं, जिन में से प्रथम में ऋग्वेद के ५३ मन्त्र, और द्वितीय में यजुर्वेद के ५४ मन्त्र, तथा तैत्तिरीय आरण्यक का १ मन्त्र हैं । इस प्रकार इस ग्रन्थ में कुल १०८ मन्त्र व्याख्यात हैं । इस ग्रन्थ के चार प्रकाश और बनने शेष रह गये थे, जिनमें महर्षि सामवेद, अथर्ववेद, ब्राह्मण और उपनिषद् आदि मन्त्रों की व्याख्या लिखना चाहते थे ।

इस ग्रन्थ के अपूर्ण होने में निम्न प्रमाण हैंः—

१—ऋषि ने श्री गोपालराव को (संवत् १९३२ ज्येष्ठ वदि ६ शनिवार को) लिखा था—

“आर्याभिविनय के दो अध्याय तो बन गये हैं, और चार आगे बनने के हैं ।”  
—पत्रव्यवहार, पृष्ठ २८ ।

२—आर्याभिविनय की उपक्रमणिका के पांचवें श्लोक की भाषा में लिखा है—

“इस ग्रन्थ में केवल चार वेदों और ब्राह्मणग्रन्थों के ही मूल-मन्त्रों का प्राकृतभाषा में व्याख्यान किया है ।”

—देखो प्रथम संस्करण (संवत् १९३२) पृष्ठ २, और द्वितीय संस्करण (संवत् १९४०) पृष्ठ ५, तथा यह संस्करण पृष्ठ ४२ ।

आर्याभिविनय के अजमेर के छपे वर्तमान संस्करणों में उक्त पाठ के स्थान में निम्न पाठ मिलता है—



“इस ग्रन्थ में दो वेदों” के मूल मन्त्रों का प्राकृतभाषा में व्याख्यान किया है।”

यह पाठ निश्चय ही पीछे से बदला गया है, जो कि ठीक नहीं है।

३—संस्कारविधि प्रथम संस्करण ( संवत् १९३३ ) में विषयसूची की पीठ पर पुस्तकों का जो सूचीपत्र छपा है, उसमें भी ‘आर्याभिविनय’ के दो भाग लिखे हैं। देखो—ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों का इतिहास, पृष्ठ ६० पर मुद्रित पुस्तकसूची।

प्रमाण संख्या १ के ‘दो अध्याय’ शब्द से, और संख्या ३ के ‘दो भाग’ शब्द से ‘दो प्रकाश’ ही अभिप्रेत हैं।

### प्रथम संस्करण

‘आर्याभिविनय’ का प्रथम संस्करण दाधीचवंशज वैजनाथात्मज लालजी शर्मा के उद्योग से वैशाख शुक्ला १४ संवत् १९३३ में ‘आर्यमण्डल यन्त्रालय’ बम्बई में छपकर प्रकाशित हुआ था। इसके मुखपृष्ठ पर संशोधक का नाम “पं० लक्ष्मण शर्मा” छपा है। प्रथम संस्करण के मुखपृष्ठ का उपयोगी लेखांश इस प्रकार है—

“श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यवर्यत्वाद्यनेक-गुणसंपदविराजमान-श्रीमद्देवविहिताचारधर्मनिरूपक-श्रीमद्विरजानन्दसरस्वतोस्वामिनां महाविदुषां शिष्येण श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीस्वामिनगर्वेदादिवेदमन्त्रैर्विरचितः।

स च तदाज्ञया दाधीचवंशावतंस व्यासोपनाम-वैजनाथात्मज-लालजी शर्मा मुद्रणकरणार्थोद्योगकर्त्ता।

तत्कोटग्रामस्थकेणीत्युपाह्वभट्टनारायणसूनुलक्ष्मणशर्मणा संशोध्य लोकोपकाराय।

१. रामलाल कपूर ट्रस्ट के द्वारा प्रकाशित प्रारम्भिक कुछ संस्करणों में यही पाठ छपा है। इस भूल का आगे चलकर संशोधन कर दिया गया।

२. यह पं० लक्ष्मण शर्मा संस्कारविधि और पञ्चमहायज्ञविधि के प्रथम संस्करण का भी संशोधक है। इन्हीं पं० लक्ष्मण शर्मा के नाम आषाढ़ वदि ६ शुक्रवार संवत् १९३३ को स्वामीजी ने एक पत्र लिखा था, जिसमें आर्याभिविनय की छपाई के रुपये देने और पुस्तक भेजने का उल्लेख है। देखो—पत्रव्यवहार, पृष्ठ ३६।



चक्षुरामाङ्कभूषणपरिमिते शाके १९३२ शुक्ल १४ श्यामार्यमण्डला-  
ख्यायसमुद्रणालये संस्कृत्य प्रकाशितः ।

शकाब्द १७९८ हूणाब्द १८७६ ।

यहां मुद्रण का काल “वैशाख संवत् १९३२” छपा है, वह गुजराती पञ्चाङ्ग के अनुसार है । गुजरात में नये संवत् का प्रारम्भ कार्तिक शुक्ल १से मनाया जाता है । अतः उत्तर भारतीय पञ्चाङ्ग के अनुसार यहां संवत् १९३३ समझना चाहिये ।

‘आर्याभिविनय’ के प्रथम संस्करण की भाषा अत्यन्त अशुद्ध है । उसमें अनेक वाक्य संस्कृत में ही लिखे हुए हैं । क्योंकि उस समय तक महर्षि को आर्यभाषा बोलने और लिखने का अच्छा अभ्यास नहीं हुआ था । (देखो— सत्यार्थप्रकाश की भूमिका पृष्ठ १, रालाकट्ट० संस्करण) । पुनरपि वह भाषा ग्रन्थ के अनुरूप अत्यन्त ही भावपूर्ण है । इसके अतिरिक्त इस संस्करण में अनेक पाठ ऐसे भी हैं, जिनसे पाठक भ्रम में पड़ सकते हैं ।

यथा द्वितीय प्रकाश मन्त्र ३२ की व्याख्या में लिखा है—

“वही सब जगत् का अधिष्ठान उपादान निमित्त और साधनादि है ।”

इसी प्रकार द्वितीय प्रकाश के ४४ वें मन्त्र की व्याख्या में—

“जीव ईश्वर के सामर्थ्य से उत्पन्न हुए हैं । वह ब्रह्म कधी उत्पन्न नहीं होता..... किं च व्याप्यव्यापक आधाराधेय जन्यजनकादि सम्बन्ध तो जीवादि के साथ ब्रह्म का है ।”

इन उद्धरणों से भ्रम होता है कि ग्रन्थकार ब्रह्म को जगत् का उपादान कारण, और जीव का उत्पन्न होना मानते हैं । वस्तुतः ये दोष लेखकभ्रान्ति आदि किन्हीं कारणों से हुए होंगे । क्योंकि इस ग्रन्थ से पूर्व महर्षि अद्वैतवाद के खण्डन में दो पुस्तकें लिख चुके थे । फिर भला वे ब्रह्म को जगत् का उपादान कारण कैसे लिख सकते थे ? इस प्रकार के समस्त दोष द्वितीय संस्करण में ठीक कर दिये हैं ।

### द्वितीय संस्करण

‘आर्याभिविनय’ का प्रथम संस्करण कुछ ही वर्षों में समाप्त हो गया था । इसके द्वितीय संस्करण प्रकाशित करने की प्रथम सूचना ‘वर्णोच्चारणशिक्षा’ (संवत् १९३६) के अन्त में छपी थी—



“निम्नलिखित पुस्तकें द्वितीय बार छपेंगे—

१. सत्यार्थप्रकाश ।
२. वेदान्तिध्वान्तनिवारण ।
३. आर्याभिविनय ।”

परन्तु प्रतीत होता है कि किन्हीं कारणों से ‘आर्याभिविनय’ का द्वितीय संस्करण शीघ्र प्रकाशित न हो सका । द्वितीय संस्करण के मुखपृष्ठ पर उसके प्रकाशित होने का काल माघ संवत् १९४० छपा है ।

ऋग्वेदभाष्य के वंशाख शुक्ल संवत् १९४१ के ५४, ५५ वें सम्मिलित अंक के अन्तिम पृष्ठ पर ‘आर्याभिविनय’ के विषय में “.....यह पुस्तक १५ मई (१८८४) तक तैयार हो जायगा” ऐसी सूचना छपी है । तदनुसार ज्येष्ठ संवत् १९४१ में बिक्री के लिये तैयार हुई होगी । पुस्तक के मुखपृष्ठ पर माघ संवत् १९४० छपा है । इससे यह तो स्पष्ट ही है कि उक्त समय तक ग्रन्थ छप गया था । ऋषि दयानन्द के स्वर्गवास के कारण प्रेस की अव्यवस्था से सिलाई आदि में अधिक समय लग गया । अत एव वह १५ मई १८८४ तक बिकने के लिये तैयार न हो सका ।

### द्वितीय संस्करण में भाषा का संशोधन

प्रथम संस्करण की अपेक्षा द्वितीय संस्करण की भाषा पर्याप्त परिष्कृत है । इसमें भाषा के परिष्कार के अतिरिक्त कुछ परिवर्तन भी उपलब्ध होता है । यह संशोधन और परिवर्तन आदि किसने किया, इस विषय में हमें कोई संकेत नहीं मिला । सम्भव है महर्षि ने स्वयं किया हो, या वैदिकयन्त्रालय के प्रबन्धकर्त्ता मुंशी समर्थदान ने किया हो । ऋषि के पत्र-व्यवहार से विदित होता है कि महर्षि ने भाषा के संशोधन का अधिकार मुंशी समर्थदान को दे रक्खा था । इसी के आधार पर उसने कहीं-कहीं ‘सत्यार्थप्रकाश’ में भी संशोधन किया था । ‘वेदान्तिध्वान्तनिवारण’ के द्वितीय संस्करण की भाषा का संशोधन भी मुंशी समर्थदान ने किया था, यह हम आगे लिखेंगे ।

**एक आवश्यक विचार : मुक्ति की अनन्तता या सान्तता**

‘आर्याभिविनय’ के प्रथम और द्वितीय संस्करणों<sup>१</sup> में कई स्थानों में ऐसे

१. देखो—ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन, पृष्ठ ३६५, ४५४ ।

२. रामलाल कपूर ट्रस्ट के संस्करणों में भी ये पाठ इसी प्रकार हैं, अजमेर के संस्करणों में भेद है ।



पाठ उपलब्ध होते हैं, जिनसे मुक्ति की अनन्तता प्रतीत होती है। यथा—

“फिर कभी जन्म-मरण आदि दुःखसागर को प्राप्त नहीं होता।”

आर्याभिविनय की उपक्रमणिका, पृष्ठ ४३, पं० १४, १५।

“फिर वहां से कभी दुःख में नहीं गिरते”

—प्रथम प्रकाश, मंत्र २१, पृष्ठ ६३, पं० ६, ७। इत्यादि।

इसी प्रकार का उल्लेख ऋषि के अन्य ग्रन्थों में भी उपलब्ध होता है। आर्यसमाज के प्रसिद्ध विद्वान् स्वर्गीय श्री पं० क्षेमकरणदास जी ने १७ सितम्बर सन् १८८३ में मुक्तिविषय में एक पत्र ऋषि को लिखा था। उसका आवश्यक अंश इस प्रकार है—

“आगे निवेदन है कि यह बात देखे जाने पर कि मुक्ति-विषय में कहीं-कहीं परस्पर विरोध है, इसलिये ८ दिसम्बर १८८३ को खास अन्तरंग सभा में मुक्ति का विषय देखा गया, तो जान पड़ा कि वेदभाष्यभूमिका पृष्ठ १८४, १८७ (मुक्ति-विषय); आर्याभिविनय पृष्ठ १६, २३, ४२, ४३, ४४, ४५, ४८, ५५; पञ्चमहायज्ञविधि पृष्ठ ५६; और आर्योद्देश्यरत्नमाला अंक २६ से साबित होता है कि मुक्त जीव जन्ममरणरहित हो जाता है। और संस्कृतवाक्यप्रबोध पृष्ठ ५० में लिखा कि—जो जीव मुक्त होते हैं, वे सर्वदा वहां नहीं रहते, किन्तु जितना समय ब्रह्मकल्प का परिमाण है, उतने समय तक ब्रह्म में वास करके आनन्द भोगके फिर जन्म और मरण को अवश्य प्राप्त होते हैं। जो कि ‘संस्कृतवाक्यप्रबोध’ और ऊपर लिखित लेखों में हम तुच्छबुद्धियों को परस्पर विरोध दीख पड़ता है। इसलिये अन्तरंग सभा की ओर से सविनय निवेदन है कि कृपा करके इसका उत्तर प्रमाणसहित शीघ्र लिखिये कि उसी के अनुसार निश्चय माना जावे, और विरोध पक्षवालों को भी तदनुसार उचित समय पर उत्तर दिया जावे।”

—म० मुंशीरामजी द्वारा प्रकाशित पत्रव्यवहार पृष्ठ ३१५।

महर्षि को जिस समय यह पत्र लिखा गया, उस समय वे अत्यन्त रुग्ण

---

१. यहां पुस्तकों की जो पृष्ठसंख्या दी गई है, वह उनके प्रथम संस्करणों की है।



थे । अतः हम कह नहीं सकते कि इस आवश्यक पत्र का उत्तर भी दिया गया होगा या नहीं । यदि दिया भी गया होगा, तब भी वह अप्राप्त होने से हम उस उत्तर से वञ्चित हैं ।

पं० देवेन्द्रनाथ संगृहीत जीवनचरित्र तथा फर्रुखाबाद आर्यसमाज के इतिहास से ज्ञात होता है कि महर्षि पहले मुक्ति को अनन्त मानते थे । कुछ काल पीछे वे मुक्ति को सान्त मानने लगे । जीवन चरित्र पृष्ठ ६०२, ६०३ में लिखा है—

“पं० कृष्णराम इच्छाराम भी महाराज के आनन्दबाग निवास समय (संवत् १९३६) में काशी पहुँच गये । वह कहते हैं कि जब वह स्वामीजी से पहली बार (संवत् १९३१ में) बम्बई में मिले थे, तो तो स्वामीजी मुक्ति को अनन्त मानते थे, परन्तु काशी में मिलने पर ज्ञात हुआ कि सान्त मानते हैं । कारण पूछने पर महाराज ने कहा इस विषय पर हमने बहुत विचार किया और सांख्य शास्त्र के प्रमाणानुसार हमें मुक्ति सान्त ही माननी पड़ी । जब जीव का ज्ञान परिमित है तब जो उस ज्ञान का फल है वह अपरिमित वा अनन्त कैसे ?

यह वर्णन महर्षि के ७वीं बार काशी जाने का है । इस बार महर्षि कार्तिक शुक्ला ८<sup>२</sup> संवत् १९३६ से वैशाख कृष्णा ११ संवत् १९३७ तक लगभग ६ मास काशी रहे थे ।

फर्रुखाबाद आर्यसमाज के इतिहास पृष्ठ १३४ में लिखा है—

“ता० २० जून रविवार सन् १८८० को मुक्ति विषय पर स्वामीजी का अभूतपूर्व व्याख्यान हुआ । स्वामीजी ने कहा कि मैं इस विषय में बहुत समय से सोच रहा था कि—‘न च पुनरावर्तते न च पुनरावर्तते’ अधिकांश लोग ऐसा पुकारा करते हैं, यह बात कहां तक सच है । मुझे शंका होती थी कि कभी तो फल चुकना चाहिये, क्योंकि जब [के कर्म] सान्त हैं वह (? , उनका फल) अनन्त कैसे

१ देवेन्द्रनाथ कृत जीवन-चरित्र की यह पृष्ठ संख्या संस्करण १ के अनुसार है । उसमें दोनों भागों में आदि से अन्त तक क्रमिक पृष्ठ संख्या है ।

२. भ्रमोच्छेदन में कार्तिक शुक्ला १४ को काशी पहुँचना लिखा है, वह अशुद्ध है । देखो—पूर्व पृष्ठ २४३, पं० १४ तथा टि० २ ।



बन सकता है। बहुत देखभाल [और] विचार के बाद महर्षि कपिल का सिद्धान्त मिला—

‘इदानीमिव सर्वत्र नात्यन्तोच्छेदः ।’ सांख्य अ० १, सू० १५६ ।

अत्यन्त मोक्ष नहीं होता। जैसे वर्तमान समय में जीव बद्ध और मुक्त हैं वैसे ही सदा रहते हैं। बन्ध और मुक्ति का अत्यन्त उच्छेद (नाश) कभी नहीं होता। बन्ध और मुक्ति सदा रहती है। यदि एक-एक जीव यों ही मुक्त होता जाय तो एक दिन संसार के मनुष्यों से सृष्टि खाली हो जायेगी और सृष्टि प्रचार के लिये नये जीव बनाने पड़ेंगे। परन्तु नये जीव बनाए नहीं जाते, वे नित्य और अनादि हैं। ऐसा सब शास्त्रकार मानते हैं। इसलिये अत्यन्त मुक्ति नहीं होती, यह मैंने निश्चय करके आज इस विषय में पहली बार कथन किया है। अब तक यह सिद्धान्त विचाराधीन होने से नहीं कहा गया था। उपरांत मुण्डकोपनिषद् से भी प्रमाणित किया कि ‘ते ब्रह्मलोके ह परान्तकाले परामृतात् परिमुच्यन्ति सर्वे’ (मु० ३ ख० २ मं० ६)। मुक्त पुरुष परांत काल (महाप्रलय ?) ३११०४००००००००००० इक्कीस नील दस खरब चालिस अरब वर्ष तक ईश्वर के आश्रय में सुखपूर्वक रहते हैं। यह क्या थोड़ा मौक्तिक आनन्द है ? इस प्रकार बहुत गम्भीर और तर्कसिद्ध कथन किया था ।”

ऋषि के जीवन-चरित्र और फरुखाबाद आर्यसमाज के इतिहास के उपर्युक्त लेखों की ऋषि दयानन्द कृत ग्रन्थों के लेखन काल से तुलना की जाय तो पूर्वोक्त वर्णन सत्य प्रतीत होता है। श्री पं० क्षेमकरणदासजी ने अपने (पूर्वोद्धृत) पत्र में जिन-जिन पुस्तकों के मुक्ति की अनन्तता प्रतिपादक लेख की ओर संकेत किया है, उनका रचनाकाल इस प्रकार है—

आर्यभिविनय

चैत्र सं० १९३२

ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका

भाद्र सं० १९३३

१. ४३२०००००००० चार अरब बत्तीस करोड़ वर्ष का दिन, इतने ही वर्षों की रात्रि=प्रलय=८६४००००००० वर्ष का अहोरात्र, ३६० अहोरात्र का एक वर्ष, १०० वर्ष का परान्त काल=३६००० वार सृष्टि की उत्पत्ति प्रलय=८६४००००००० × ३६०००=३११०४०००००००००० इक्कीस नील दस खरब चालीस अरब मानुष वर्ष का परान्त काल=मोक्षकाल।



आर्योद्देश्यरत्नमाला

श्रावण सं० १९३४

पञ्चमहायज्ञविधि

भाद्र सं० १९३४

ऋषि दयानन्द ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में मुक्तिविषय का विशेषरूप से प्रतिपादन किया है (देखो—रामलाल कपूर ट्रस्ट संस्करण पृष्ठ २०६—२०८) परन्तु उसमें कहीं भी मुक्ति से पुनरावृत्ति का स्पष्ट निर्देश नहीं मिलता है, उल्टा अनन्तता के बोधक दो तीन वाक्य अवश्य हैं, पर वे भी साधारण रूप में। हां ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के सृष्टिविद्या प्रकरण (पृष्ठ १४३, रा. ला. क. ट. सं०) में एक वाक्य ऐसा अवश्य है, जिससे पुनरावृत्ति की सूचना प्राप्त होती है। यथा—

“यत्र मोक्षाख्ये परमे पदे सुखिनः सन्ति । न तस्मात् ब्रह्मण-  
श्शतवर्षसंख्यातात् कालात् [पुरा] कदाचित् पुनरावर्तन्त इति ।”

इससे प्रतीत होता है कि मुक्ति से पुनरावृत्ति होनी चाहिये, यह विचार ऋषि के हृदय में सं० १९३३ में उत्पन्न हो चुका था, परन्तु मुक्तिप्रकरण में इस पर विशेष विचार न होने से विवित होता है कि ऋषि उस समय तक कोई निर्णय नहीं कर पाये थे। यही बात फर्रुखाबाद आर्यसमाज के इतिहास के पूर्वोद्धृत उद्धरण में कही है। अतः निश्चय ही ऋषि दयानन्द इस विषय में चिरकाल तक दोलायमान रहे। संस्कृतवाक्यप्रबोध, जिसमें प्रथमवार मुक्ति को सान्त लिखा उसका रचनाकाल फाल्गुन शुक्ला ११ सं० १९३६ है। अतः बहुत सम्भव है ऋषि का मुक्ति विषयक मन्तव्य संस्कृतवाक्यप्रबोध की रचना से कुछ समय पूर्व ही परिवर्तित हुआ हो। यही कारण है कि सं० १९३६

१. भूमिका के अजमेर से छपे संस्करणों में इसका भाषानुवाद सर्वथा विपरीत है। उसमें मोक्ष को नित्य लिखा है।

२. पं० देवेन्द्रनाथ संगृहीत जीवन-चरित्र पृष्ठ ४७१ में लिखा है कि स्वामीजी ने डेरागाजीखां के पं० बरातीलाल से कहा था कि मुक्ति से पुनरावृत्ति होती है। यह संवत् १९३४ के अन्त या संवत् १९३५ के आरम्भ की घटना है।

इसी पृष्ठ पर हमने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका की मुक्ति से पुनरावृत्ति द्योतक पङ्क्ति उद्धृत की है, वह भूमिका के प्रथम संस्करण के अंक ६ में पृष्ठ १३९ में है। इस अंक का मुद्रण श्रावण संवत् १९३४ के मध्य में हुआ था। क्योंकि इस अंक के मुख पृष्ठ के नीचे ऋषि दयानन्द का भाद्रमास १९३४ में जालन्धर में रहने का पुरोगम छपा है। अतः सम्भव है ऋषि दयानन्द ने यह पंक्ति मुद्रण से कुछ पूर्व ही बढ़ाई होगी।



से पूर्व के किसी ग्रन्थ में मुक्ति की सान्त्वना का स्पष्टतया उल्लेख नहीं मिलता । जब ऋषि दयानन्द ने मुक्ति विषय में निश्चय कर लिया, उसी समय संस्कृत-वाक्यप्रबोध में उसे स्पष्ट कर दिया । हमारा तो विचार है कि संस्कृत-वाक्यप्रबोध में इस प्रकरण का कोई प्रसङ्ग ही नहीं था, परन्तु नये निश्चित किये सिद्धान्त को प्रतिपादित और प्रकट करने के लिये ही स्वमन्तव्यामन्तव्य प्रकरण लिखा गया । यदि उन्हें वस्तुतः अपने मन्तव्यामन्तव्यों का प्रतिपादन करना ही इष्ट होता, तो इस प्रकरण को वे विस्तार से लिखते, परन्तु उन्होंने अति संक्षेप से इस प्रकरण में केवल मुक्ति की सान्त्वना का प्रतिपादन किया और किसी मन्तव्य को छुआ भी नहीं ।

### अजमेरीय संस्करण में परिवर्तन

आर्याभिविनय के सप्तम संस्करण से लेकर आज तक जितने संस्करण वैदिक यन्त्रालय अजमेर के छपे मिलते हैं । उनमें मुक्ति की अनन्तता के बोधक समस्त वाक्य बदले हुए हैं । यह परिवर्तन किस संस्करण में और किसने किया, यह अज्ञात है, क्योंकि हमें आर्याभिविनय के ३-६ तक ४ संस्करण देखने को नहीं मिले । इस प्रकार का परिवर्तन किसी भी ग्रन्थ में नहीं होना चाहिये । ऐसे परिवर्तन करने से यद्यपि सिद्धान्तविषयक कोई भ्रम उत्पन्न नहीं होता, तथापि ऐतिहासिक तथ्य सर्वथा नष्ट हो जाते हैं । हां, पाठक भ्रम में न पड़े, इसलिये ऐ० स्थलों पर टिप्पणियां अवश्य देनी चाहियें । इस परिवर्तन के अतिरिक्त अजमेरीय संस्करणों में अनेक स्थानों में कई-कई पक्तियां भी छूटी हुई हैं (द्र०—सम्पादकीय पृष्ठ ६) ।

### रामलाल कपूर ट्रस्ट के संस्करण

रा. ला. क. ट्रस्ट की ओर से आर्याभिविनय का शुद्ध सुन्दर सस्ता प्रथम संस्करण सं० १८८६ में छपा था । इसके अभी तक १० संस्करण छप चुके हैं । इसके सम्पादक हैं श्री पं० वाचस्पति जी एम. ए. । आपने बहुत परिश्रम करके इस संस्करण को तैयार किया था । इस संस्करण को सं० १९३२ तथा १९४० के प्रथम द्वितीय संस्करणों से अक्षरशः मिलान करके तैयार किया था । इस के विषय में श्री वाचस्पति जी का लिखा विवरण सम्पादकीय में पृष्ठ ८-११ तक देखें ।

१. दशम संस्करण पर भी भूल से नवम संस्करण छप गया है ।



## गुजराती अनुवाद

रामलाल कपूर ट्रस्ट से प्रकाशित आर्याभिविनय के आधार पर श्री स्वर्गीय पं० ज्ञानेन्द्र जी ने इसका गुजराती अनुवाद सं० १९९९ में प्रकाशित किया है। इस अनुवाद में लाहौर संस्करण में नीचे दी हुई टिप्पणियों का भी अनुवाद दिया है, परन्तु ग्रन्थ की भूमिका आदि में इसका कहीं संकेत नहीं किया। तथा सर्वत्र टिप्पणियों में कोष्ठ में (अनुवादक) शब्द दे दिया है, जिससे भ्रम होता है कि ये टिप्पणियाँ अनुवादक की हैं। वस्तुस्थिति को प्रकट न करना अनुचित कार्य है।

## अंग्रेजी अनुवाद

आर्याभिविनय का एक अंग्रेजी अनुवाद श्री स्वामी भूमानन्द जी सरस्वती ने किया था। यह पं० ठाकुरदत्त अमृतधारा धर्मार्थ ट्रस्ट की ओर से सन् १९४२ में छपा था। रामलाल कपूर ट्रस्ट ने पं० ठाकुरदत्त अमृतधारा धर्मार्थ ट्रस्ट के मन्त्री जी से अनुज्ञा लेकर इसका एक सुन्दर संस्करण सन् १९७२ में प्रकाशित किया है।

## अत्यन्त छोटे आकार में

श्री स्वामी छोट्टनलाल ने स्वामी प्रेस मेरठ से आर्याभिविनय के नाम से एक छोटे आकार में इसे प्रकाशित किया था। इसमें आर्याभिविनय के मन्त्रों का पाठमात्र है। संभव है स्वामी छोट्टनलाल जी ने आर्यों में इसके दैनन्दिन पाठ की रुचि को बढ़ाने के लिये गीता के गूढके के समान छापने का यह प्रयत्न किया होगा।

## ३—वेदभाष्य का प्रथम (नमूने का) अङ्क

सत्यार्थप्रकाश लिखने के अनन्तर महर्षि को चारों वेदों के भाष्य करने की आवश्यकता का अनुभव हुआ, क्योंकि जिस वैदिकधर्म की व्याख्या ऋषि ने सत्यार्थप्रकाश के पूर्वार्ध के दस समुल्लासों में की थी, उसका मुख्य आधार वेद ही हैं। स्वामी जी महाराज ने यह भली प्रकार अनुभव कर लिया था कि भारत की धार्मिक सामाजिक और राजनीतिक अवनति का मुख्य कारण वैदिक शिक्षा का लोप और पौराणिक शिक्षा का प्रचार है। वेद का वास्तविक स्वरूप भारत युद्ध के पश्चात् विभिन्न सतमयान्तरों की आंधी से सर्वथा ओझल हो गया है। प्रत्येक समुदाय अपने-अपने मन्तव्यों का आधार वेदों को ही



वताता है। यहां तक कि यज्ञों में गौ, अश्व और पुरुष आदि को मारना, मांस खाना, सुरा पीना, बहन बेटियों से कुत्सित हंसी मजाक और संभोग तक करने का विधान भी वेदों के मत्थे मढ़ा गया। यही कारण था जिसने चार-चाक बौद्ध और जैन आदि नास्तिक मतों को उत्पन्न किया, और प्रत्यक्षरूप से वेद का विरोध और उनकी निन्दा के लिये प्रोत्साहित किया। वर्तमान में जितने वेदभाष्य उपलब्ध होते हैं, उनके रचयिता उज्ज्वल महीधर और सायण आदि के मस्तिष्कों में पौराणिक युग और उनकी शिक्षा का अत्यधिक प्रभाव था। अत एव उन्होंने प्राचीन आर्ष ग्रन्थों के विरुद्ध अत्यन्त भ्रष्ट और बुद्धि-विरुद्ध व्याख्यान करके वेदों को कलुषित किया। इन मध्ययुगीन टीकाओं ने पौराणिक शिक्षा, दीक्षा, आचार-व्यवहार और मन्तव्यों पर प्रामाणिकता की ऐसी मोहर लगा दी, जिससे सर्वसाधारण तो क्या, बड़े-बड़े पण्डित भी उनके विरुद्ध कुछ कहने का साहस नहीं कर सकते थे। कहां प्राचीन आर्ष ग्रन्थों में वर्णित वैदिक धर्म के परमोच्च तथा परमोदात्त सिद्धान्त और कहां वेदों की ये अनर्थरूपी नवीन टीकाएं।

ऋषि ने समस्त प्राचीन आर्ष ग्रन्थों से वैदिक धर्म के गूढ़ रहस्यों और सिद्धान्तों का संग्रह करके तदनुसार वेद और उनके आधुनिक भाष्यों का अनुशीलन किया, तो उन्हें विदित हुआ कि वेदों के वास्तविक शुद्ध स्वरूप को कलुषित करनेवाले ये नवीन भाष्य ही हैं। अतएव उनको इस बात की परमावश्यकता का अनुभव हुआ कि जब तक वेदों का वही प्राचीन शुद्ध स्वरूप प्रगट न होगा तब तक आर्य जाति का उत्थान और कल्याण कदापि सम्भव नहीं। इसलिये उन्होंने वैदिक शिक्षा तथा आचार-विचार के पुनरुत्थान के लिये प्राचीन आर्ष पद्धति के अनुसार वेदभाष्य करने का संकल्प संवत् १६२६ के अन्त या संवत् १६३० के आदि में किया<sup>१</sup>, और उसके लिये प्रयत्न प्रारम्भ किया।

वेदभाष्य सद्दश महान् कार्य के लिये वह समय नितान्त अनुपयोगी था। इस युग में वैदिक ग्रन्थों का ह्रास हो रहा था। वेदाभ्यासियों की गणना अंगुलियों पर ही हो सकती थी। काशी सद्दश विद्याक्षेत्र में भी वेदार्थ जानने-वाला नहीं मिलता था।<sup>२</sup> वेदों की अनेक शाखाएं तथा ब्राह्मण आदि ग्रन्थ

१. द्र०—देवेन्द्रनाथ रचित जीवन-चरित भाग १, पृष्ठ २२६।

२. सम्प्रति यह स्थिति अपनी चरम उत्कर्षता को प्राप्त हो चुकी है। कुछ समय के पश्चात् परम्परागत वेदपाठी भी दुर्लभ हो जायेंगे।



लुप्त हो चुके थे। जो वैदिक ग्रन्थ विद्यमान थे, वे भी सुलभ न थे। राजकीय आश्रय का कोई अवसर ही न था। वह राज्य-सहायता जो सायण और हरिस्वामी को प्राप्त थी, अब पुराकाल का स्वप्न हो चुकी थी। वे विद्वान् सहायक जो स्कन्दस्वामी और सायण को अनायास मिल सकते थे, अब खोजने पर भी दृष्टिगत नहीं होते थे। ऐसे कठिनकाल में ऋषि ने अपनी विद्या तप और लगन के कारण कुछ सहायक तैयार कर लिये थे, जिनकी आर्थिक सहायता से ऋषि ने वेदभाष्यरूपी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और महाव्यय-साध्य कार्य प्रारम्भ किया। इस विषय में ऋषि के अनेक पत्र देखने योग्य हैं। यथा—देखो पत्रव्यवहार पृष्ठ २६, ३० (पत्र ११, १२) इत्यादि।

### वेदभाष्य का नमूना ( संवत् १६३१ )

यतः ऋषि दयानन्द को अपने वेदभाष्य के महान् कार्य में केवल जनता से ही सहायता मिलने की आशा थी। अतएव उन्होंने अपने करिष्यमाण वेदभाष्य का स्वरूप जनता पर प्रकट करने के लिये ऋग्वेद के प्रथम सूक्त का भाष्य नमूने के रूप में प्रकाशित किया।

वेदभाष्य का जो नमूना का अंक इस समय वैदिक ग्रन्थालय से छपा हुआ मिलता है, और जिसे हमने इस संग्रह में छापा है, वह संवत् १६३३ में प्रथम बार प्रकाशित हुआ था। स्वामीजी ने उससे पहले संवत् १६३१ में भी वेदभाष्य के नमूने का एक अंक प्रकाशित किया था। उसके विषय में श्री पं० देवेन्द्रनाथ जी संकलित जीवनचरित्र में इस प्रकार लिखा है—

“स्वामी जी ने ऋग्वेद के पहले सूक्त का भाष्य, जिसमें गुजराती और मराठी अनुवाद भी था, वेदभाष्य के नमूने के तौर पर प्रकाशित किया। जिसमें ऋग्वेद के पहले मन्त्र “अग्निमीळे पुरोहितम्” आदि के दो अर्थ किये थे। एक भौतिक दूसरा पारमार्थिक। उसकी भूमिका में लिखा था कि ‘मैं सारे वेदों का इसी शैली पर भाष्य करूंगा। यदि किसी को इस पर कोई आपत्ति हो तो पहले ही सूचित कर दे, ताकि मैं उसका खण्डन करके ही भाष्य करूं।’ यह नमूना स्वामी जी ने काशी के पण्डित बालशास्त्री स्वामी विशुद्धानन्द सरस्वती प्रभृति तथा कलकत्ता और अन्य स्थानों के पण्डितों के पास भेजा था, परन्तु किसी ने भी उसकी आलोचना नहीं की।”

(जीवनचरित्र भाग १, पृष्ठ २६५)



यह वर्णन महर्षि के बम्बई निवास-काल का है। इस बार महर्षि बम्बई में कार्तिक कृष्ण १ से मार्गशीर्ष कृष्ण ८ संवत् १९३१ वि० तक रहे थे। अतः यह वेदभाष्य का नमूना कार्तिक-सं० १९३१ में ही रचा गया होगा।

वेदभाष्य को यह नमूना हमारे देखते में नहीं आया। इसका निर्देश संवत् १३३२ में प्रकाशित वेदान्तिध्वान्त-निवारण के अन्त में पुस्तकों के विज्ञापन<sup>१</sup> में मिलता है। वहां इसका मूल्य एक आना लिखा है। ऐसा ही एक विज्ञापन माघ संवत् १९३२ में छपे 'श्री आर्यसमाज ना नियमोप-नियमो मुम्बई' के अन्त में भी मिलता है। इससे स्पष्ट है कि यह नमूना संवत् १९३२ में या इससे पूर्व अवश्य छपा था।

### वेदभाष्य का दूसरा नमूना (संवत् १९३३)

महर्षि ने वेदभाष्य के नमूने का एक अंक संवत् १९३३ में काशी के लाजरस प्रेस में छपवाया था। यह अंक २० × २६ अठपेजी आकार के २४ पृष्ठों में छपा था। इसमें ऋग्वेद के प्रथम मण्डल का प्रथम सूक्त और द्वितीय सूक्त के प्रथम मन्त्र के संस्कृतभाष्य का कुछ अंश छपा है। इस में प्रायः भौतिक और पारमार्थिक दो-दो प्रकार के अर्थ दशयि हैं। वेद में अग्नि शब्द ईश्वर का वाचक है, इसकी पुष्टि में वेद से लेकर मंत्रायणी उपनिषद् पर्यन्त अनेक आर्ष ग्रन्थों के प्रमाण उद्धृत किये हैं, जो देखते ही बनते हैं। प्रमाण इतने प्रबल हैं कि यदि प्रतिपक्षी पक्षपात को छोड़कर विचार करे, तो उसे मानना ही पड़ेगा कि वेद में 'अग्नि' शब्द का अर्थ ईश्वर भी है।

### रचना और मुद्रण-काल

लाजरस प्रेस काशी के छपे हुए वेदभाष्य के नमूने के मुखपृष्ठ पर केवल संवत् १९३३ वि० छपा है। यह कब लिखा गया, इस बात का कोई निर्देश ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं होता। 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' के वेदविषय-विचारसंज्ञक प्रकरण में निम्न पंक्तियां उपलब्ध होती हैं—

‘अत्र प्रमाणानि—( अग्निमीडे० ) अस्य मन्त्रस्य व्याख्याने हि “इन्द्रं मित्रम्०” ऋङ्मन्त्रोऽयम्। अस्योपरि “इममेवार्गि महात्त-

१. देखो—‘ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों का इतिहास’ में इस विज्ञापन की प्रतिलिपि, परिशिष्ट संख्या ६।



मात्मानम्” इत्यादि निरुक्तं च लिखितं, तत्र द्रष्टव्यम् । तथा “तदेवाग्निस्तदादित्यः” इति यजुर्मन्त्रश्च ।

ऋ० भा० भू पृष्ठ ८० (रा. ला. क. ट. संस्क.)

अर्थात्—“अग्निमीडे०” इस मन्त्र के व्याख्यान में “इन्द्र मित्रम्०” यह ऋग्वेद का मन्त्र, और इस पर “इममेवाग्निम्०” इत्यादि निरुक्त तथा “तदेवाग्निस्तदादित्यः०” यजुर्वेद का मन्त्र वहां लिखा है, वह देखना चाहिये ।

इसी प्रकार ‘ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका’ के इसी प्रकरण में लिखा है—

“(अग्निमीडे) इस मन्त्र के भाष्य में जो तीन प्रकार का यज्ञ लिखा है..... ।” ऋ० भा० भू० पृष्ठ ६६-७० (रा. ला. क. ट. संस्क.)

ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में “अग्निमीडे” का अर्थ, तथा उस में ऋग्वेद आदि के प्रमाण, और तीन प्रकार के यज्ञ का निर्देश कहीं नहीं किया । ये सब बातें ऋग्वेदभाष्य के इस नमूने के अंक में पूर्णतया उपलब्ध होती हैं । अतः मानना पड़ेगा कि ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के ये संकेत वेदभाष्य के संवत् १९३३ में प्रकाशित अंक की ओर ही हैं । ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के लेखन का आरम्भ भाद्र शुक्ला प्रतिपद् संवत् १९३३ में हुआ था, और मार्गशीर्ष के मध्य तक भूमिका का लेखनकार्य समाप्त हो गया था । उपरि उद्धृत भूमिका के पाठ उसके प्रारम्भिक भाग के ही हैं । अतः यह नमूने का अंक भाद्र मास संवत् १९३३ में या उससे पूर्व लिखा गया होगा ।

ऋषि दयानन्द के १८ नवम्बर सन् १८७६ और १९ दिसम्बर सन् १८७६ के पत्रों<sup>२</sup> को मिलाकर पढ़ने से ज्ञात होता है कि वेदभाष्य का नमूना संवत् १९३३ के पौष मास के पूर्वार्द्ध तक छप गया था । भूमिका का वह अंश जिसमें इस वेदभाष्य के नमूने के अंक की ओर संकेत है, वह वैशाख संवत् १९३४ में छपा था । अतः उक्त अंश उसमें छपने से कुछ समय पूर्व बढ़ाया होगा ।

### ऋग्वेद के कुछ सूक्तों का विस्तृत भाष्य

ऋग्वेद के नमूने के अंक में मन्त्रों के जिस प्रकार विस्तृत और अनेक

१. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के अजमेर के संस्करण में भूमिका के उपरि उद्धृत संस्कृतभाग का भाषानुवाद नहीं है । यह शब्दार्थ हमारा है ।

२. देखो—पत्रव्यवहार, क्रमशः ३२, ४० ।



अर्थ दशयि हैं, उसी शैली पर ऋषि ने ऋग्वेद के प्रारम्भिक अनेक सूक्तों का भाष्य किया था, जो अभी तक श्रीमती परोपकारिणी सभा के संग्रह में हस्त-लिखित ही पड़ा है, और प्रकाशित नहीं हुआ। सभा के अधिकारियों को चाहिये कि वे इसे शीघ्र से शीघ्र प्रकाशित करें।

### वेदभाष्य के अंक पर आक्षेप

वेदभाष्य के नमूने के इस अंक पर कलकत्ता संस्कृत कालेज के स्थानापन्न प्रिंसिपल श्री पं० महेशचन्द्र न्यायरत्न ने कुछ आक्षेप छपवाये थे। स्वामी जी ने उनका समुचित उत्तर “भ्रान्ति-निवारण” के नाम से दिया था। इस ‘भ्रान्ति-निवारण’ पुस्तक का वर्णन हम अनुपद ही करेंगे ॥

### ४ — भ्रान्ति-निवारण

संस्कृत कालेज कलकत्ता के स्थानापन्न प्रिंसिपल (=आचार्य) पं० महेश-चन्द्र न्यायरत्न ने संवत् १९३३ वि० में प्रकाशित वेदभाष्य के नमूने के अङ्क पर, तथा ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के प्रथम अङ्क पर कुछ आक्षेप प्रकाशित किये थे। महर्षि ने उनके उत्तर में “भ्रान्ति-निवारण” नामक पुस्तक लिखी। यह पुस्तक लघुकाय होने पर भी वेदार्थ-जिज्ञासुओं के लिये अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण है।

पं० महेशचन्द्र ने वेदभाष्य पर जितने आक्षेप किये थे, उनमें सब से मुख्य तथा प्रबल आक्षेप यह था कि ‘अग्नि शब्द का अर्थ परमेश्वर नहीं हो सकता।’ उनका लेख इस प्रकार है—

“खैर ये तो साधारण बातें थी, परन्तु अब मैं भारी-भारी दोषों पर आता हूँ। मन्त्रभाष्य के प्रथम संस्कृत-खण्ड में (अग्निमीडे पुरो-हितम्) इसके भाष्य में स्वामीजी ने अग्नि शब्द से ईश्वर का ग्रहण किया है, जब कि प्रसिद्ध अर्थ अग्नि शब्द का सिवाय आग के दूसरा कोई नहीं ले सकता। तथा सायणाचार्य वेद के भाष्यकार की इसी विषय में साक्षी वर्तमान है।”

भ्रान्ति-निवारण पृष्ठ २०१।

वेद में अग्नि शब्द से ईश्वर का भी ग्रहण होता है, इस विषय में महर्षि ने वेदभाष्य के नमूने में वेद से लेकर मंत्रायणी उपनिषद् पर्यन्त अनेक प्राचीन आर्ष ग्रन्थों के लगभग २० प्रमत्त-उद्धृत किये हैं (द्र०—पृष्ठ १३७—१४०)। पण्डित महेशचन्द्र ने उन्हें न समझकर उपयुक्त आक्षेप किया है। ऋषि ने इस आक्षेप का उचित उत्तर देते हुए लिखा है—



“सत्य तो यह है कि उन्होंने प्राचीन ऋषि-मुनियों के ग्रन्थ कभी नहीं देखे, और उनको ठीक-ठीक अर्थ समझने का बिलकुल ज्ञान नहीं। क्योंकि जिन-जिन ग्रन्थों अर्थात् वेद शतपथ और निरुक्त आदिकों के प्रमाण मैंने वेदभाष्य में लिखे हैं, उनको ठीक-ठीक विचारने से आयने के समान जान पड़ता है कि अग्नि शब्द से आग और ईश्वर दोनों का ग्रहण है। जैसे देखो कि—इन्द्रं मित्रं वरुण० (ऋ० १।१६४ ४६); तदेवाग्निस्तदादित्य० (यजु० ३२।१); अग्निर्होता कवि० (ऋ० १।१।५); ब्रह्मा ह्यग्निः (श० १।४।२।११); आत्मा वा अग्निः (श० ७।२।३।२)। देखिये विद्या-नेत्रों से इन पांच प्रमाणों में अग्नि शब्द से परमेश्वर ही का ग्रहण होता है।”

भ्रान्ति-निवारण पृष्ठ २०२।

महर्षि ने वेदभाष्य के नमूने के पृ० १३६ पर ‘अग्निः कस्माद् अग्रणीर्भवति’ इत्यादि निरुक्त [७।२४] का प्रमाण देकर लिखा है—

“अग्रणीः सर्वोत्तमः सर्वेषु यज्ञेषु पूर्वमीश्वरस्यैव प्रतिपादनादी-  
श्वरस्यात्र ग्रहणम्। दग्धादिति विशेषणाद् भौतिकस्यापि”।

इसी बात को भ्रान्ति-निवारण में पुनः स्पष्ट किया है—

“तथा निरुक्त से भी परमेश्वर और भौतिक उन दोनों का यथावत् ग्रहण होता है। देखो एक तो ‘अग्रणीः’ इस शब्द से उत्तम परमेश्वर ही जाना जाता है। इसमें कुछ सन्देह नहीं” इत्यादि।

भ्रान्ति निवारण, पृष्ठ २०३।

पं० महेशचन्द्र ने निरुक्त के पूर्वोक्त अर्थ पर भी आपत्ति की थी। देखो—भ्रान्ति-निवारण पृष्ठ २१०।

अग्नि शब्द का वेद में ईश्वर अर्थ भी होता है। इस के लिये नये प्रमाणों की कोई आवश्यकता नहीं। स्वामीजी ने वेदभाष्य के नमूने में जितने प्रमाण उद्धृत किये हैं, वे इस अर्थ को सिद्ध करने के लिये पर्याप्त हैं। उनके ऊपर जो आक्षेप किये जा सकते हैं, उनका उत्तर भी ‘भ्रान्ति-निवारण’ में भले प्रकार दे दिया है। अब हम इस विषय में एक ऐसा प्रमाण उपस्थित करते हैं, जिससे पं० महेशचन्द्र जैसे आक्षेपकों का मुंह सदा के लिये बन्द हो जायगा।

स्वामी शङ्कराचार्य ने अपने वेदान्तभाष्य में निरुक्त के ‘अग्निः कस्माद् अग्रणीर्भवति’ प्रमाण के आश्रय से अग्नि शब्द का परमात्मा अर्थ किया है। उनका लेख इस प्रकार है—



“अग्निशब्दोऽप्यग्रणीत्वादियोगाश्रयेण परमात्मविषय एव भविष्यति” ॥ वेदान्त शांकरभाष्य १।२।२६ ॥

स्वामी शङ्कराचार्य के इस लेख से सूर्य की भांति स्पष्ट है कि अग्नि वायु आकाश आदि शब्दों का परमेश्वर अर्थ केवल स्वामी दयानन्द ने ही नहीं किया, अपि तु यह अर्थ तो प्राचीन सभी आचार्यों को अभिप्रेत था। स्वयं महर्षि वेद-व्यास ने ‘आकाशस्तल्लिङ्गात्’ ( वेदान्त १।१।२२ ) इत्यादि सूत्रों में आकाश आदि शब्दों से ब्रह्म का प्रतिपादन किया है। अतः इस प्रकार के अर्थों के करने में स्वामी दयानन्द के ऊपर खँचातानी का दोष लगाना अपनी ही अज्ञता प्रकट करना है।

### ऋषि की बहुश्रुतता

वस्तुतः ऋषि के लेख पर इस प्रकार के आक्षेप वे ही लोग करते हैं, जिन्हें प्राचीन आर्ष वैदिक साहित्य का किञ्चिन्मात्र भी ज्ञान नहीं होता है। महर्षि क्या प्राचीन क्या नवीन उभयविध संस्कृत वाङ्मय से पूर्ण परिचित थे। वे इसी ‘भ्रान्ति-निवारण’ (पृ० १६८) में लिखते हैं—

“क्योंकि मैं अपने निश्चय और परीक्षा के अनुसार ऋग्वेद से लेकर पूर्वमीमांसा पर्यन्त अनुमान से तीन हजार ग्रन्थों के लगभग मानता हूँ।”

इस लेख में ‘परीक्षा’ और ‘तीन हजार ग्रन्थ’ ये पद विशेष द्रष्टव्य हैं। इन से यह अनुमान सहज ही में किया जा सकता है कि तीन हजार प्रामाणिक ग्रन्थों को चुनने के लिये ऋषि ने न जाने कितने सहस्र ग्रन्थों की परीक्षा की होगी। उस समय में यह काम बड़ा कठिन था। क्योंकि जिस रूप में आजकल पुस्तकालय विद्यमान हैं, उस रूप में उस समय कदापि न थे।

अतः ऐसे बहुश्रुत महर्षि के किसी भी लेख को बिना विशेष विचार किये अयुक्त ठहराना अत्यन्त दुःसाहस की बात है। हां, लेखकप्रमादादि से हुई अशुद्धियों की बात दूसरी है।

### भ्रान्ति-निवारण का रचना-काल

‘भ्रान्ति-निवारण’ के अन्त में इसका रचनाकाल ‘संवत् १९३४ कार्तिक शु० २’ लिखा है। महर्षि कार्तिक कृ० ३० से कार्तिक शु० २ तक लाहौर में ठहरे हुए थे। अतः यह ग्रन्थ लिखकर लाहौर में ही पूर्ण हुआ होगा, और



इसका प्रारम्भ कदाचित् फीरोजपुर में हुआ होगा । क्योंकि इससे पूर्व कार्तिक कृ० ४ से कार्तिक कृ० १४ तक महर्षि ने फीरोजपुर में निवास किया था ।

‘भ्रान्ति-निवारण’ का प्रथम संस्करण कब प्रकाशित हुआ, यह सन्दिग्ध है । ‘भ्रान्ति-निवारण’ का एक संस्करण शाहजहांपुर के ‘आर्यभूषण’ नामक लीथो प्रेस में छपा था । इस पर छापने का संवत् नहीं लिखा है । ‘भ्रान्ति-निवारण’ के विषय में सब से प्रथम विज्ञापन आश्विन संवत् १९३६ के यजुर्वेद भाष्य के ११वें अंक के अन्त में निम्न प्रकार मिलता है—

“यह पुस्तक स्वामी जी ने आर्यभाषा में शंकासमूह दूर करने के लिये, कि जो बहुत लोगों को हुआ है, बनाया है । आजकल के बहुत से लोगों ने, कि जिन्होंने वेद के आशय पर प्राचीन आर्ष ग्रन्थ नहीं पढ़े, और केवल आधुनिक प्रचलित ग्रन्थों पर आश्रय किये बैठे हैं, इस वेदभाष्य पर अपनी आश्चर्यजनक सम्मति दी है । जैसे पण्डित महेशचन्द्र न्यायरत्न, और पण्डित गोविन्दराम इत्यादि ने वेदभाष्य के खण्डन पर पुस्तक बनाये हैं । और पण्डित शिवनारायण अग्निहोत्री ने भी उसके खण्डन में थोड़े लेख अपने रिसाले ‘बिरादरे हिन्द’ में लिखे, और पृथक् भी एक पुस्तक ‘दयानन्द सरस्वती के वेदभाष्य पर रेवेयू’ इस नाम से मुद्रित कराया है । पण्डित महेशचन्द्र न्यायरत्न का पुस्तक सब से पीछे बना है, और उसके पुस्तक में इतर सब पण्डितों की शंकायें भी पाई जाती हैं । इसलिये स्वामी दयानन्द सरस्वती जी ने केवल इसी पुस्तक को मुख्य समझकर इस समस्त पुस्तक का खण्डन इस प्रकार किया है कि प्रथम उस पुस्तक का वाक्य, फिर ऋषि-मुनियों के प्रमाण देकर अपनी ओर से उसका खण्डन । इस पुस्तक के अवलोकन से पक्षपातरहित मनुष्यों को किसी प्रकार की शंका न रहेगी । उचित है कि द्वेषरहित होकर लोग इस पुस्तक को शुद्धान्तःकरण से अवलोकन करें । यह पुस्तक देवनागरी लिपि में विलायती कागज पर स्वच्छतापूर्वक ‘आर्यभूषण’ यन्त्रालय शाहजहांपुर में मुद्रित हुआ है । डाक महसूल सहित मूल्य ॥—) भेज कर मंगा लें ।”

इस विज्ञापन से इतना अवश्य स्पष्ट होता है कि भ्रान्ति-निवारण का



उपयुक्त संस्करण आश्विन संवत् १९३६ से पूर्व छप गया था। परोपकारिणी सभा के रिकार्ड में 'भ्रान्ति-निवारण' के प्रथम संस्करण का मुद्रण-काल सन् १८७७ अर्थात् संवत् १९३४ लिखा है।

इस पुस्तक के सुन्दर शुद्ध और प्रामाणिक टिप्पणियों से युक्त संस्करण की महती आवश्यकता थी। उसे इस संस्करण में पूर्ण करने का यत्न किया है॥

## ५ — भ्रमोच्छेदन

काशी के श्री राजा शिवप्रसाद जी 'सितारे हिन्द' ने महर्षि की 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' पर 'निवेदन' नाम से कुछ आक्षेप संवत् १९३७ वि० वैशाख के अन्त में या ज्येष्ठ के आदि में छपवाये थे। उन पर स्वामी विशुद्धानन्द जी के हस्ताक्षर भी थे। अतएव महर्षि ने उन आक्षेपों के उत्तर में यह 'भ्रमोच्छेदन' नाम का ग्रन्थ रचा। इसका रचना-काल ग्रन्थ के अन्त में इस प्रकार लिखा है—

मुनिरामाङ्गचन्द्रेऽब्दे शुक्ले मासेऽसिते दले।

द्वितीयायां गुरौ वारे भ्रमोच्छेदो ह्यलंकृतः॥

अर्थात् संवत् १९३७ ज्येष्ठ कृष्णा २ गुरुवार के दिन भ्रमोच्छेदन ग्रन्थ समाप्त हुआ।

इस ग्रन्थ के लेखन-काल में कुछ अशुद्धि है। इलोक में 'शुचौ मासे' के स्थान में 'शुक्ले मासे' या तो अशुद्ध छपा है, या फिर अशुद्ध लिखा गया है। 'शुक्' का अर्थ ज्येष्ठ और 'शुचि' का अर्थ आषाढ़ होता है। यहां वस्तुतः आषाढ़ मास होना चाहिये। इसमें निम्न हेतु हैं—

१. भ्रमोच्छेदन पृष्ठ २४७, पं० १ में "ज्येष्ठ महीने में निवेदन पत्र छपवाकर प्रसिद्ध किया" ऐसा लिखा है। अतः ज्येष्ठ के प्रारम्भ अर्थात् ज्येष्ठ कृष्णा द्वितीया को ही भ्रमोच्छेदन का लिखना किसी प्रकार नहीं बन सकता।

२. ज्येष्ठ कृष्णा २ संवत् १९३७ को गुरुवार नहीं था।

३. भ्रमोच्छेदन के लेखन की, तथा जिस दिन वह ग्रन्थ छपने के लिये भेजा गया, उस दिन के पत्र की तिथि वार और संवत् सब परस्पर मिलते हैं। देखो—पत्रव्यवहार पृष्ठ २९७, २९८। केवल महीने के नाम में ही भेद है।



४. यदि भ्रमोच्छेदन ज्येष्ठ कृ० २ को बन गया हो, और आषाढ़ कृष्ण २ को छपने के लिये भेजा गया हो, तो मानना पड़ेगा कि यह ग्रन्थ एक मास तक स्वामीजी के पास लिखा हुआ पड़ा रहा। किन्तु आगे के उद्घ्रियमाण पत्रों से व्यक्त होता है कि स्वामीजी इसे अत्यन्त शीघ्र छपवाना चाहते थे। अतः वे उसे एक मास तक कदापि अपने पास पड़ा न रहने देते।

इन हेतुओं से पूर्वोक्त श्लोक में महीने के नाम में “शुचौ” के स्थान में “शुक्ले” अवश्य ही अशुद्ध लिखा या छप गया है।

### एक और अशुद्धि

भ्रमोच्छेदन के प्रारम्भ में कार्तिक सुदि १४ गुरुवार संवत् १९३६ को काशी पहुँचना लिखा है<sup>१</sup>। परन्तु ऋषि के पत्रव्यवहार से ज्ञात होता है कि वे कार्तिक सुदि ७ संवत् १९३६ को काशी पहुँचे थे। ऋषि दयानन्द के २० नवम्बर सन् १८७९ अर्थात् कार्तिक सुदि ७ गुरुवार को काशी से लिखे हुए पत्र का कुछ अंश (जिसके अन्त में २० नवम्बर सन् १९३६ तथा काशी का उल्लेख है), तथा कार्तिक सुदि ८ संवत् १९३६ का एक दूसरा पत्र ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन ग्रन्थ के क्रमशः पृष्ठ १६८, १७० पर छपा है।

### भ्रमोच्छेदन का रचना-स्थान

भ्रमोच्छेदन ग्रन्थ आषाढ़ कृष्ण २ गुरुवार संवत् १९३७ वि० (२४ जून सन् १८८०) को फर्रुखाबाद से छापने के लिये भेजा था। देखो—पत्रव्यवहार पृष्ठ २०२। इस बार स्वामीजी महाराज वैशाख शु० ११ (२० मई १८८०) से आषाढ़ कृष्ण ८ (३० जून १८८०) तक एक मास बारह दिन फर्रुखाबाद में रहे थे। अतः यह ग्रन्थ फर्रुखाबाद में ही रचा गया था।

### ऋषि के पत्रों में भ्रमोच्छेदन का उल्लेख

महर्षि ने आषाढ़ कृ० २ गुरुवार संवत् १९३७ के पत्र में लिखा है—

“आज रजिस्ट्री करके राजा शिवप्रसाद का उत्तर यहां से रवाना करेंगे।” पत्रव्यवहार पृ० १९१।

अगले आषाढ़ सुदि १ संवत् १९३७ वि० के पत्र में पुनः लिखा है—

१. यही सूचना ‘आर्यदर्पण’ फरवरी १८८० के पृष्ठ ४२ पर छपी थी।



“हमने २४वीं जून को राजा शिवप्रसाद का उत्तर भेजा था, २६वीं को पहुँचा होगा। और वह भी पहली अप्रेल' ( ? जुलाई ) वा पाँचवीं तारीख अप्रेल' ( ? जुलाई ) तक छपके तैयार हो गया होगा।”

पत्रव्यवहार पृष्ठ १६५।

पुनः अगले अज्ञात तिथि ( १० या ११ जुलाई सन् १८८० ई० ) के पत्र में लिखा है—

“२४ जून को राजा शिवप्रसाद का उत्तर हमने फर्छाबाद से तुम्हारे पास भेज दिया था।……राजा जी के जवाब का पुस्तक हट् के दरजह ८ दिन में छप कर तैयार हो सकते हैं, पर न मालूम अब तक क्यों नहीं तैयार हुए।”

पत्रव्यवहार पृष्ठ १६५।

इन पत्रों से ज्ञात होता है कि ‘भ्रमोच्छेदन’ आषाढ़ के अन्त में या उसके बाद छपा होगा। इसका प्रथम संस्करण हमें देखने को नहीं मिला।

### भ्रमोच्छेदन-विषयक सूचना

आषाढ़ कृष्णा २ संवत् १९३७ वि० के पत्र के अन्त में महर्षि ने मैनेजर वैदिक यन्त्रालय को निम्न आज्ञा दी थी—

“जब तक यह ‘भ्रमोच्छेदन’ ग्रन्थ छपके बाहर न हो, तब तक किसी को मत दिखलाना। जब छप जाय, तब काशीराज, राजा शिवप्रसाद, विशुद्धानन्द, बालशास्त्री और राय शंकटाप्रसाद की लायब्रेरी, तथा पं० सुब्बेराव और हरिपण्डितजी को भी एक पुस्तक देना। और जिस-जिस को योग्य जानो उस-उसको भी दे देना।”

पत्रव्यवहार पृष्ठ १६२।

### पौराणिक पत्र की समालोचना और उसका उत्तर

‘कविवचन सुधा’ २६ जुलाई सन् १८८० ई०, और ‘भारतबन्धु’ ३० जुलाई सन् १८८० ई० के अङ्कों में ‘भ्रमोच्छेदन’ पर एक रिब्यू (सम्मति) छपा था। जिसमें लिखा था कि “इस पुस्तक में बहुत कठोर शब्दों का प्रयोग किया है।” इसका यथोचित उत्तर ‘आर्यदर्पण’ मई सन् १८८० के पृष्ठ ११० पर दिया गया है। विस्तारभय से हम उसे यहां उद्धृत नहीं करते।

१. यह पत्र २४ जून के बाद लिखा है, अतः यहां जुलाई चाहिये।



## अनुभ्रमोच्छेदन

महर्षि ने राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द के 'निवेदन' का उत्तर 'भ्रमोच्छेदन' ग्रन्थ के द्वारा दिया था। उसका वर्णन हम पूर्व पृष्ठों २४३-२६७ में कर चुके हैं। 'भ्रमोच्छेदन' के उत्तर में राजा शिवप्रसाद ने 'द्वितीय निवेदन' नामक पुस्तक प्रकाशित की। इस 'द्वितीय निवेदन' के उत्तर में यह 'अनुभ्रमोच्छेदन' ग्रन्थ लिखा गया था। ग्रन्थ के अन्त में इसका रचनाकाल इस प्रकार लिखा है—

“ऋषिकालाङ्कभूवर्षे तपस्यस्यासिते दले ।  
दिक्षितौ वाक्पतौ ग्रन्थो भ्रमं छेत्तुमकार्यलम् ॥”

अर्थात् संवत् १९३७ फाल्गुन कृष्णा ५ बृहस्पतिवार के दिन यह 'अनुभ्रमोच्छेदन' ग्रन्थ बनाया।

यद्यपि अनुभ्रमोच्छेदन के कुछ संस्करणों के मुखपृष्ठ पर, तथा ग्रन्थ के अन्त में पं० भीमसेन शर्मा का नाम छपा हुआ मिलता है, तथापि इसके प्रथम संस्करण के आदि वा अन्त में किसी का नाम प्रत्यक्षरूप में नहीं छपा। हां, प्रारम्भ के श्लोक में परोक्षरूप में 'भीमसेन' के नाम का संकेत मिलता है। वह आद्य श्लोक इस प्रकार है—

“यस्या नरा बिभ्यति वेदबाह्यास्तया हि युक्तं शुभसेनया यत् ।  
तन्नाम यस्यास्ति महोत्सवं स त्वनुभ्रमोच्छेदनमातनोति ॥”

प्रतीत होता है, इसी श्लोक के आधार पर पिछले संस्करणों के मुख पृष्ठ और ग्रन्थ के अन्त में पं० भीमसेन का नाम छपना प्रारम्भ हो गया होगा। हो सकता है, द्वितीय संस्करण में पं० भीमसेन ने ही आद्यन्त में अपने नाम का सन्निवेश कर दिया हो।

ग्रन्थ की रचनाशैली और २१ अक्टूबर सन् १८८० के ऋषि दयानन्द के पत्र से ज्ञात होता है कि राजा शिवप्रसाद के 'द्वितीय निवेदन' का उत्तर-रूप यह ग्रन्थ भी ऋषि ने लिखवाया था। 'अनुभ्रमोच्छेदन' का हस्तलेख परोप-कारिणी सभा अजमेर के संग्रह में सुरक्षित है। उस पर अनेक स्थानों में ऋषि दयानन्द के हाथ का संशोधन विद्यमान है। इससे ग्रन्थ का ऋषि के हाथ से संशोधित होना तो सर्वथा निर्विवाद है। हमने “भ्रमोच्छेदन” के साथ सम्बद्ध होने के कारण 'भ्रमोच्छेदन' के अन्त में परिशिष्टरूप में



पृष्ठ २७२-२६१ में 'अनुभ्रमोच्छेदन' का मुद्रण किया है। ऋषि के पूर्व निर्दिष्ट पत्र का लेख इस प्रकार है—

“जो 'दूसरा निवेदन' बाबू शिवप्रसाद ने छापा है, उसका उत्तर भी तैयार हो गया है, सो पं० ज्वालादत्त के नाम से जारी किया जायेगा।”  
पत्रव्यवहार पृष्ठ २४६।

यद्यपि इस पत्र में 'अनुभ्रमोच्छेदन' पर पं० ज्वालादत्त का नाम देने का निर्देश मिलता है, परन्तु इसके प्रथम संस्करण पर किसी का नाम छपा हुआ नहीं मिलता, यह हम पूर्व लिख चुके हैं।

### स्वामीजी का अपना नाम न देने का कारण

स्वामीजी ने इस पर अपना नाम क्यों नहीं दिया, इसका कारण यह है कि स्वामीजी ने 'भ्रमोच्छेदन' के अन्त में लिखा था—

“आज से पीछे जो कोई कुरान पुराण वा तन्त्रादि मत-वाले मुझ से विरुद्ध पक्ष को लेकर शास्त्रार्थ किया चाहें, वा लिखकर प्रश्नोत्तर की इच्छा करें, वे स्वामी विशुद्धानन्दजी और बालशास्त्रीजी के द्वारा ही करें। इससे अन्यथा जो करेंगे, तो मैं उनका मान्य कभी न करूंगा।” भ्रमोच्छेदन पृष्ठ २६६।

यतः राजा शिवप्रसाद के 'द्वितीय निवेदन' पर 'प्रथम निवेदन' की भांति स्वामी विशुद्धानन्द सरस्वती वा पं० बालशास्त्री के हस्ताक्षर नहीं थे, अतः ऋषि ने अपनी पूर्व प्रतिज्ञा के अनुसार अपने नाम से उसका उत्तर देना उचित नहीं समझा। किन्तु सर्वथा उत्तर न देना भी अनुचित था। क्योंकि सर्वथा मौन रहने से राजा शिवप्रसाद को व्यर्थ में अपने पाण्डित्य का अभिमान होता, और अन्य भी भ्रम में पड़ते। इसलिये स्वामीजी ने यह 'अनुभ्रमोच्छेदन' अपने नाम से प्रसिद्ध नहीं किया।

यही बात 'अनुभ्रमोच्छेदन' की भूमिका में लिखी है। देखो—'अनुभ्रमोच्छेदन पृष्ठ २७२।'।

'अनुभ्रमोच्छेदन' के प्रथम संस्करण के अन्तिम पृष्ठ पर वैदिक यंत्रालय के तात्कालिक प्रबंधकर्ता लाला सादीराम की ओर से निम्न विज्ञापन छपा था—



## विज्ञापन

“सर्व सज्जनों को विदित किया जाता है कि श्रीयुत स्वामी दयानन्द सरस्वती जी से राजा शिवप्रसादजी ने जो कुछ वाद-विवाद उठाया था, उस विषय के ‘प्रथम निवेदन’ का उत्तर स्वामी जी ने ‘भ्रमोच्छेदन’ नामक पुस्तक से दिया था, जो सब सज्जनों को विदित है। अब जो राजाजी ने द्वितीय निवेदन दिया है, उस पर श्रीमान् स्वामी विशुद्धानन्द जी व बालशास्त्री जी आदि विद्वानों की सम्मति नहीं है। और स्वामी जी ने प्रथम ही यह लिखा था कि अब आगे को जब तक किसी पत्र पर विशुद्धानन्द जी व बालशास्त्री की सम्मति न होगी, हम उत्तर न देंगे। इसलिये इस ‘दूसरे निवेदन’ का उत्तर एक पण्डित जी ने ‘अनुभ्रमोच्छेदन’ पुस्तक में दिया है, और वह वैदिक यन्त्रालय में छपा गया है।

मैं सुहृदयता से प्रकाशित करता हूँ कि श्रीयुत राजा शिवप्रसाद जी आदि सज्जन महाशय पक्षपात छोड़कर इसे देखें, और सत्यासत्य का विचार करें कि जिससे परस्पर प्रीति और देशोन्नति यथावत् हो।”

लाला सादीराम, मैनेजर, वैदिक यन्त्रालय, बनारस।

## ६—पञ्चमहायज्ञविधि

‘पञ्चमहायज्ञविधि’ में ब्रह्मयज्ञ सन्ध्या, देवयज्ञ, पितृयज्ञ, बलिर्वैश्वदेव-यज्ञ और अतिथियज्ञ इन पांच महायज्ञों का विधान है। ये पांच महायज्ञ वैदिकधर्मियों के नैतिक कर्तव्यों में मुख्य हैं। दशपौर्णमास चातुर्मास्य आदि बड़े-बड़े यज्ञों की अपेक्षा इन साधारण यज्ञों को मनु आदि महर्षियों के द्वारा ‘महायज्ञ’ की पदवी देना इनकी महत्ता का स्पष्ट सूचक है। मनु महाराज ने “महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः” ( २।२८ ) में इन पांच महायज्ञों को ब्राह्मी देह बनाने का मुख्य साधन माना है। इन पांच महायज्ञों में भी ‘सन्ध्या’ प्रधानतम है। सन्ध्या का यौगिक विधि के अनुसार

१. यही विज्ञापन ऋग्वेदभाष्य अंक २४-२५ (सम्मिलित) के आवरण-पत्र ४ पर छपा है।



यथार्थ रूप में अनुष्ठान करने से योग के ईश्वरप्रणिधान, प्राणायाम, धारणा, ध्यान आदि अनेक अङ्गों का उसमें समावेश हो जाता है, जो कि ईश्वर-प्राप्ति के मुख्य साधन हैं। इतना ही नहीं, धर्मशास्त्रकारों ने तो सन्ध्या को इतना महत्त्व दिया है कि उनके मत में जो द्विज सायं प्रातः सन्ध्या नहीं करते, उनको शूद्र माना है। मनुस्मृति (२।१०३) में लिखा है—

“न तिष्ठति तु यः पूर्वा नोपास्ते यश्च पश्चिमाम् ।

स शूद्रवद् वहिष्कार्यः सर्वस्माद् द्विजकर्मणः ॥”

महर्षि ने ‘पञ्चमहायज्ञविधि’ पृष्ठ ३२०, पं० १०-११ में इस श्लोक की व्याख्या में लिखा है—“वह सेवा-कर्म किया करे, और उसके विद्या का चिह्न यज्ञोपवीत भी न रहना चाहिये।”

बौधायन धर्मसूत्र (२।४।२०) में स्पष्ट लिखा है—

“सायं प्रातः सदा संध्यां ये विप्रा नो उपासते ।

कामं तान् धार्मिको राजा शूद्रकर्मसु योजयेत् ॥”

### अनेक संस्करण

स्वामी जी महाराज ने इन पञ्चमहायज्ञों का अत्यधिक महत्त्व समझ कर ‘सन्ध्या’ और ‘पञ्चमहायज्ञविधि’ ग्रन्थ को अनेक बार प्रकाशित किया। सत्यार्थप्रकाश और संस्कारविधि आदि ग्रन्थों में भी इन यज्ञों को नित्यप्रति करने की विशेष प्रेरणा की है। ऋषि दयानन्द ने अपने जीवन में सब से प्रथम पुस्तक सन्ध्या की ही लिखकर छपवाई थी।<sup>१</sup> उसके अतिरिक्त ‘पञ्चमहायज्ञविधि’ के पांच संस्करण और हमारी दृष्टि में आये हैं, जो स्वामी जी महाराज के नाम से उनके जीवन-काल में प्रकाशित हुए थे। उनमें बम्बई संस्करण संवत् १९३१, और लाजरस प्रेस काशी का संस्करण संवत् १९३४ में महर्षि ने स्वयं छपवाये थे। इन संस्करणों के अतिरिक्त दो संस्करण काशी से, और एक संस्करण नवलकिशोर प्रेस लखनऊ से प्रकाशित हुआ था। इन पर यद्यपि श्री दयानन्द सरस्वती स्वामी की आज्ञानुसार” तथा “श्रीदयानन्दसरस्वतीस्वामीविरचितेन भाष्येनानुगतः” आदि शब्द छपे हैं, तथापि ये संस्करण सर्वथा अविश्वसनीय हैं। इनका वर्णन हम आगे करेंगे।

१. ब्र०—ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों का इतिहास, पृष्ठ ६।



## बम्बई-संस्करण (संवत् १९३१)

‘पञ्चमहायज्ञविधि’ के बम्बई-संस्करण के मुख-पृष्ठ पर शकाब्द १७९६ छपा है। तदनुसार यह संस्करण वि० संवत् १९३१ में प्रकाशित हुआ था। उसके प्रारम्भिक शब्द ये हैं—

“अथ सभाष्यसन्ध्योपासनादिपञ्चमहायज्ञविधिः”

श्रीयुत गोपालराव हरिदेशमुख के नाम लिखे हुए महर्षि के पत्रों से व्यक्त होता है कि बम्बईवाला ‘पञ्चमहायज्ञविधि’ का संस्करण संवत् १९३१ के अन्त में मुद्रित हुआ था, और महर्षि ने स्वयं अपने बम्बई निवासकाल में उसे छपवाकर प्रकाशित किया था। ऋषि के पत्रों के एतद्विषयक अंश इस प्रकार हैं—

१. “सन्ध्याभाष्य का पुस्तक छपके तैयार होने को चहे है। दो-चार दिन में तैयार हो जायेगा।”

संवत् १९३१ मिति फाल्गुन वद्य २ इन्दुवार का पत्र। देखो—  
पत्रव्यवहार पृष्ठ २५।

२. “सन्ध्योपासनादि-पञ्चयज्ञ-विधान का भाष्यसहित पुस्तक यहां ( बम्बई में ) छपवाया गया है। सो १० पुस्तक आपके पास भेजा जाता है।”

संवत् १९३१ मिति चैत्र शुद्ध ६ रविवार का पत्र। पत्र-  
व्यवहार पृष्ठ २७।

### बम्बई-संस्करण का लेखन-काल

‘पञ्चमहायज्ञविधि’ के बम्बई-संस्करण के अन्त में निम्न पाठ मिलता है—

‘इति श्रीमद्भयानन्दसरस्वतीविरचितं सन्ध्योपासनादि-  
पञ्चमहायज्ञभाष्यं समाप्तम्।’

‘शशिरामाङ्गचन्द्रेऽब्दे त्वाश्विनस्य सिते दले।

प्रतिपद् रविवारे च भाष्यं वै पूर्त्तिमागमत् ॥’

१. यहां जो संवत् १९३१ वि० लिखा है, वह गुजराती संवत् गणना के अनुसार है। गुजरात और दक्षिण भारत में कार्तिक शुक्ला प्रतिपद से नये वर्ष का प्रारम्भ माना जाता है। अतः उत्तर भारत की गणनानुसार यहां संवत् १९३२ विक्रमाब्द समझना चाहिये ॥



इस लेख के अनुसार 'पञ्चमहायज्ञविधि' का लेखन आश्विन शुक्ला प्रतिपद् रविवार संवत् १९३१ को समाप्त हुआ था ।

पं० देवेन्द्रनाथ संगृहीत जीवनचरित्र, पृष्ठ २७८ में प्रयागवर्णनप्रसङ्ग में सन्ध्या की पुस्तक के विषय में निम्न उल्लेख मिलता है —

“स्वामी जी ने कुंवर ज्वालाप्रसाद से सन्ध्या की पुस्तक भी कालेज के विद्यार्थियों को पढ़वाकर सुनवाई थी । उस पुस्तक की इस समय हस्तलिपि ही थी, वह तब तक छपी न थी ।”

जीवनचरित्र पृष्ठ २७६ से ज्ञात होता है कि महर्षि द्वितीय आषाढ़ वदि २ संवत् १९३१ को प्रयाग पधारे थे । तदनुसार बम्बई संस्करणवाली 'पञ्चमहायज्ञविधि' के लेखन का प्रारम्भ आषाढ़ संवत् १९३१ से पूर्व हुआ होगा । सन्ध्यापर्यन्त भाग उक्त तिथि तक अवश्य लिखा जा चुका था । अथवा यह सन्ध्या की कोई पूर्व छपवाई हुई पुस्तक होगी ।

संवत् १९३१ की 'पञ्चमहायज्ञविधि' का हस्तलेख श्रीमती परोपकारिणी सभा अजमेर के संग्रह में सुरक्षित है ।

### पञ्चमहायज्ञविधि बम्बई-संस्करण का विवरण

पञ्चमहायज्ञविधि के बम्बई-संस्करण में सन्ध्याप्रकरण में आचमन, इन्द्रियस्पर्श, मार्जन, प्राणायाम, अघमर्षण और उपस्थान के मन्त्र, तथा गायत्रीमन्त्र ये वर्तमान संस्करणों के समान हैं । परिक्रमा के मन्त्र सर्वथा भिन्न हैं । इस संस्करण में मन्त्रों का पदपाठ-पूर्वक केजल संस्कृतभाष्य ९५ प्रतिशत वर्तमान संस्कृतभाष्य से मिलता है । अग्निहोत्र-प्रकरण में 'भूरनये स्वाहा' आदि ६ मन्त्र ही लिखे हैं । तर्पण-विधि में वे सब मन्त्र दिये हैं, जो सन् १९४० के संशोधित सत्यार्थप्रकाश में हैं । तर्पण-प्रकरण की निम्न पंक्तियां विशेष महत्त्व की हैं—

१. “भा०—गुर्वादिसख्यन्तेभ्यः । एतेषां सोमसदादीनां श्रद्धया तर्पणं कार्यं विद्यमानानाम् । श्रद्धया यत्क्रियते तत् श्राद्धम् । तृप्त्यर्थं यत् क्रियते तत् तर्पणम् ।” पृष्ठ २०-२१ (इस संग्रह में पृष्ठ ३४८)

२. “अक्रोधनः ... ( मनु के दो श्लोक उद्धृत करके )



भा०—अनेन प्रमाणेन युक्त्या 'व विद्यमानान् विदुषः श्रद्धया सत्कारेण तृप्तान् कुर्यादित्यभिप्रायः । श्राद्धदेवान् द्विजोत्तमान् इत्युक्तत्वात् ।' पृष्ठ २१ (इस संग्रह में पृष्ठ ३४८) ।

तर्पण-विधि में देवों को उपवीत होकर एक जलांजलि और पितरों को अपसव्य होकर तीन जलांजलि देने का विधान है । इस अंश को ऋषि दयानन्द ने अगले संस्करण में हटा दिया ।

बलिवैश्वदेव के मन्त्र समान हैं । अतिथि-यज्ञ में मनुस्मृति तृतीयाध्याय के सोलह श्लोक उद्धृत किये हैं । अन्त में पृष्ठ ३३ पर "अथ लक्ष्मी-सूक्तमृग्वेदपरिशिष्टस्थं लिख्यते तदर्थश्च" लिखकर १६ मन्त्र संस्कृत व्याख्यासहित लिखे हैं । (इस संग्रह में देखें पृष्ठ ३५२-३६४ तक)

### महर्षि के नाम से छपे तीन नकली संस्करण

बम्बई-संस्करण के अनन्तर 'पञ्चमहायज्ञविधि' के तीन संस्करण और प्रकाशित हुए हैं, जो बम्बई-संस्करण से मिलते हैं । इन में से दो संस्करणों में संस्कृत-भाष्य नहीं है, केवल मन्त्रपाठ है ।

इनमें से एक संस्करण ४॥१×६ इञ्च के आकार के २४ पृष्ठों में बनारस के लीथो प्रेस का छपा हुआ है । इसके मुखपृष्ठ पर मुद्रण संवत् का उल्लेख न होने से छापने का समय अज्ञात है । इस संस्करण के मुख पृष्ठ पर निम्न लेख है—

"अथ पन्ध्रोपासन ओ पञ्च यज्ञ इत्यादिक आह्निक कर्म वेदोक्त श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती की आज्ञानुसार; ओ बाबू अविनाशीलाल की आज्ञानुसार बनारस विद्यासागर यन्त्रालय में छपा ।"

"मि० श्रावण शुक्ला ८ स्त्री देवीप्रसाद तिवारी छा० दरसन का ।"

इस संस्करण के पृष्ठ २० पर निम्न लेख है—

१. इस अविनाशीलाल का उल्लेख ऋषि दयानन्द के ज्येष्ठ शु० ६ संवत् १९३७ (१४ जून १८८०) के पत्र में भी है । वहां इसे आर्यसमाज का सभासद लिखा है (द्र०—पत्रव्यवहार पृष्ठ १६०) । सम्भव है यह प्रच्छन्न पौराणिक हो ।



“इति नित्यकर्तव्यानि कर्माणि समाप्तानि । सन्ध्यो-  
पासनादिअग्निहोत्रादिकर्मणां विशेषप्रयोजनानि सत्यार्थप्रकाश-  
मद्रचितसंग्रहे द्रष्टव्यानि ।”

और आगे चल कर पृष्ठ २२ पर—

“तर्पण में सोमसदादि जितने नाम हैं, सब ईश्वर के हैं ।  
और स्त्री आदि नाम प्रीति होने के लिये हैं । सो मरे का तर्पण  
करें, तर्पण से भी ईश्वर की उपासना आती है ।”

अन्त में पृष्ठ २४ पर निम्न लेख छपा है—

“इति श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीस्वामीसंग्रहीते नित्याह्निक-  
कर्मप्रकारः सम्पूर्णः ॥”

इसी प्रकार का दूसरा संस्करण ६×९ इञ्च के आकार में छपा है ।  
यह भी लीथो प्रेस का छपा हुआ है, इसमें भी २४ पृष्ठ हैं । यह पूर्वोक्त  
विद्यासागर प्रेस बनारस के छपे संस्करण से अक्षर-अक्षर मिलता है । इस  
संस्करण में भी उपरिनिर्दिष्ट पंक्तियां क्रमशः १९, २१, २४ पृष्ठ पर  
मिलती हैं ।

इन दोनों का मुद्रणकाल—काशी के विद्यासागर प्रेसवाले संस्करण के  
मुखपृष्ठ पर संवत् या सन् का उल्लेख नहीं है । द्वितीय संस्करण जो हमें  
उपलब्ध हुआ है, उसका मुखपृष्ठ (टाइटिल पेज) फटा हुआ है । अतः दोनों  
संस्करणों के मुद्रण का वास्तविक काल अज्ञात है । दोनों में सत्यार्थप्रकाश  
का नामोल्लेख होने से स्पष्ट है कि ये दोनों संस्करण सत्यार्थप्रकाश प्रथम  
संस्करण (सन् १९३२ या सन् १८७५) के अनन्तर के हैं ।

इनके अनन्तर सन् १९३९ में नवलकिशोर प्रेस लखनऊ से ‘पञ्चमहा-  
यज्ञविधि’ का एक संस्करण और प्रकाशित हुआ । यह पुस्तक संवत् १९३१  
वाली ‘पञ्चमहायज्ञविधि’ में ही स्वल्प न्यूनाधिकता करके छापी गई है ।

### इन पुस्तकों का नकलीपन

यद्यपि तीनों संस्करणों के अन्दर और बाहर स्वामी दयानन्द का नाम  
मिलता है, तथापि ये तीनों संस्करण नकली हैं । क्योंकि इनसे पूर्व संवत्  
१९३१ में स्वयं प्रकाशित बम्बईवाले संस्करण के पृष्ठ २०, २१ पर  
जीवित पितरों के श्राद्ध का दो स्थानों में स्पष्ट उल्लेख मिलता है (द्र०—



पूर्व पृष्ठ ५५-५६) । परन्तु लीथो प्रेस के छपे दोनों संस्करणों में, जो कि इसके बाद छपे हैं, मरे हुए पितरों के तर्पण का विधान है । यह हो सकता है कि ये दोनों संस्करण स्वामीजी की आज्ञानुसार छापे गये हों, परन्तु इनमें मृत-पितरों के तर्पण का उल्लेख अवश्य ही प्रक्षिप्त है । ऋषि के ग्रन्थों के कुछ लेखकों (लिपिकरों) और संशोधकों ने उनके ग्रन्थों में कंसा-कंसा प्रक्षेप किया है, इस बात का 'पञ्चमहायज्ञविधि' के ये संस्करण अत्यन्त स्पष्ट और सुदृढ़ प्रमाण हैं । संवत् १९३२ के छपे सत्यार्थप्रकाश में भी जो मृत पितरों के तर्पण और श्राद्ध का विधान छपा है, वह भी निर्विवाद-रूप से इन लेखकादि की धूर्तता है । यह संवत् १९३१ की बम्बई में छपी पञ्चमहायज्ञविधि के पूर्वोद्धृत वचनों से स्पष्ट है ।

संवत् १९३६ में नवलकिशोर प्रेस लखनऊ से छपी हुई 'पञ्चमहायज्ञ-विधि' की अप्रामाणिकता इसी से व्यक्त है कि ऋषि दयानन्द ने संवत् १९३१ वाली 'पञ्चमहायज्ञविधि' में भले प्रकार परिवर्तन परिवर्धन और संशोधन आदि करके संवत् १९३४ में काशी के लाजरस प्रेस में स्वयं छपवाई थी, परन्तु नवलकिशोर प्रेस में छपवानेवाले ने इस पर कुछ ध्यान न देकर संवत् १९३१ वाली पुस्तक में ही अपनी इच्छानुसार कुछ परिवर्तन परिवर्धन करके श्री

१. इस विषय में हमने वेदवाणी वर्ष २४ अंक १ (नवम्बर १९७२ में) 'आदिम सत्यार्थप्रकाश के सम्बन्ध में विशेष सूचना' शीर्षक लेख ( पृष्ठ २४, २५ ) में लिखा है ।

२. परिवर्तन—संवत् १९३१ का पाठ है—अयलक्ष्मीसूक्तमृग्वेदपरिशिष्टस्थं लिख्यते तदर्थश्च । नवलकिशोर प्रेस के संस्करण में 'परिशिष्ट' शब्द हटाकर 'ऋग्वेदस्थ' छपा है ( पृष्ठ २६ ) । इसी प्रकार ग्रन्थ के अन्त में संवत् १९३१ वाले संस्करण का पाठ है—

“इति श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीस्वामिविरचिते सन्ध्योपासनादिपञ्चमहायज्ञभाष्यं समाप्तम् ।”

किन्तु नवलकिशोर प्रेस संस्करण का पाठ इस प्रकार है—

“इति श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीस्वामिसंगृहीते सन्ध्योपासनादि-पञ्चमहायज्ञविधिश्चतुर्वेदोक्तोऽत्रस्थमन्त्राणामर्थश्च संपूर्णः” ॥

परिवर्धन—नवलकिशोर प्रेस के छपे संस्करण में छपे 'पञ्चमहायज्ञविधि' के पश्चात् 'अथ वैष्णवी संध्या' शीर्षक के अन्तर्गत वैष्णवी संध्या छपी है ।

इसी प्रकार ग्रन्थ के मध्य में भी कहीं-कहीं परिवर्तन-परिवर्धन किया गया है ।



स्वामी जी के नाम से प्रकाशित कर दी। भला ग्रन्थकार के साथ इस प्रकार धोखा करने में धूर्तता के अतिरिक्त और क्या कारण हो सकता है ?

### पञ्चमहायज्ञविधि का संशोधित संस्करण

‘पञ्चमहायज्ञविधि’ के पूर्वोक्त संवत् १९३१ के बम्बईवाले संस्करण के अनन्तर महर्षि ने संवत् १९३४ वि० में इस ग्रन्थ का एक और संस्करण प्रकाशित किया था। यह संशोधित संस्करण काशी के लाजरस प्रेस में छपा था। महर्षि ने लखनऊ के पं० रामाधार वाजपेयी को २८.१२.७७ (पौष बदि ६ संवत् १९३४) के एक पत्र में लिखा था—

“यह संस्करण संशोधित और परिवर्धित है .....अभी यंत्रालय में है।” देखो - पत्रव्यवहार पृष्ठ ७७।

पुनः ता० ४.१.७८ (पौष सुदि १, संवत् १९३४) के पत्र में इस संस्करण के प्रकाशित होने की सूचना दी है। देखो—पत्रव्यवहार पृष्ठ ७६।

इन लेखों से विदित होता है कि ‘पञ्चमहायज्ञविधि’ का संवत् १९३४ वाला संस्करण महर्षि द्वारा अन्तिम बार संशोधित है। अतः वही संस्करण प्रामाणिक है, इससे पूर्व के नहीं।

लाजरस प्रेस काशी में छपे हुए संशोधित संस्करण के मुखपृष्ठ पर महर्षि का निम्न लेख है—

“श्रीयुतविक्रमादित्यमहाराजस्य चतुस्त्रिंशोत्तरे एकोनविंशे संवत्सरे भाद्रपौर्णमास्यां समापितः।”

अर्थात्—भाद्र पूर्णिमा संवत् १९३४ में यह ग्रन्थ लिखकर समाप्त हुआ। ग्रन्थ के पुनः सशोधनकाल का निदर्शक उपयुक्त महत्त्वपूर्ण लेख वैदिक यंत्रालय अजमेर के संशोधकों ने अगले संस्करणों से निकाल दिया। वस्तुतः यह लेख ग्रन्थ के अन्त में छपना चाहिये। वैदिक यंत्रालय अजमेर के संवत् २००२ (सन् १९४४) के १३वें संस्करण में हमने यह लेख ग्रन्थ के अन्त में दे दिया है। और ग्रन्थ में मुद्रण-सम्बन्धी जितनी अशुद्धियाँ थीं, उनका भी संशोधन कर दिया है। वस्तुतः ऐतिहासिक दृष्टि से इस ग्रन्थ के अन्त में बम्बईवाले संस्करण तथा संशोधित संस्करण दोनों का लेखन-काल छापना आवश्यक है।



## पञ्चमहायज्ञविधि और ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका

ऋषि दयानन्द ने सन्ध्या अंश को छोड़कर शेष चार यज्ञों का विधान ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में भी किया है। पितृयज्ञ के प्रकरण में कुछ विशेष है। शेष भाग पञ्चमहायज्ञविधि ( संवत् १९३४ की ) और ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका दोनों में समान हैं। ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका का यह भाग संवत् १९३१ वाली पञ्चमहायज्ञविधि में कुछ परिवर्तन और परिवर्धन करके तैयार किया गया है। इसमें निम्न प्रमाण है—

‘ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका’ के अग्निहोत्रप्रकरण पृष्ठ २८७ (रा.ला.क.दू. संस्क०) पर निम्न लेख है—

“एषु मन्त्रेषु भूरित्यादीनि सर्वाणीश्वरस्य नामान्येव वेद्यानि । एतेषामर्था गायत्र्यर्थे द्रष्टव्याः ।”

यह पंक्ति ‘पञ्चमहायज्ञविधि’ के संवत् १९३१ और संवत् १९३४ के दोनों संस्करणों में मिलती है। गायत्री मन्त्र का अर्थ ‘ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका’ में कहीं नहीं लिखा। ‘पञ्चमहायज्ञविधि’ में इसका अर्थ विस्तार से दिया है। अतः उपर्युक्त पङ्क्ति का मूल-लेखन-स्थान पञ्चमहायज्ञविधि का अग्निहोत्र प्रकरण ही हो सकता है, ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका का नहीं।

‘ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका’ मार्गशीर्ष शुक्ला १५ संवत् १९३३ तक लिखी जा चुकी थी। ‘पञ्चमहायज्ञविधि’ के संशोधित-संस्करण का संशोधन संवत् १९३४ के वैशाख से प्रारम्भ होकर भाद्र पूर्णिमा (संवत् १९३४) के दिन सम्पूर्ण हुआ था। अतः ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका का उपर्युक्त उद्धरण ‘पञ्चमहायज्ञविधि’ के संवत् १९३४ वाले संस्करण से उद्धृत नहीं हो सकता। यह उद्धरण संवत् १९३१ वाली ‘पञ्चमहायज्ञविधि’ से ही लिया जा सकता है।

संवत् १९३४ वाली संशोधित ‘पञ्चमहायज्ञविधि’ में सन्ध्या को छोड़कर शेष चार यज्ञोंवाला प्रकरण ‘ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका’ से प्रायः ज्यों का त्यों

१. “सो संवत् १९३३ मार्ग शुक्ल पौर्णमासी पर्यन्त दस हजार श्लोकों के प्रमाण भाष्य बना है…………” पत्रव्यवहार पृष्ठ ३५। “सो भूमिका के श्लोक न्यून से न्यून संस्कृत और भाषा को मिलाकर आठ ८ हजार हुए हैं।” पत्रव्यवहार पृष्ठ ३६। इन दोनों उद्धरणों को मिलाकर पढ़ने से स्पष्ट है कि ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका का लेखन मार्गशीर्ष शुक्ला १५ संवत् १९३३ तक पूर्ण हो गया था।



उठाकर रख दिया। उसमें पूर्ण उचित संशोधन भी नहीं किया गया। केवल तर्पण प्रकरण में पितर सम्बन्धी मन्त्रभाग विशेषरूप से न्यून किया गया है। हमारी इस धारणा में निम्न हेतु हैं—

१. पञ्चमहायज्ञविधि पितृयज्ञ प्रकरण पृष्ठ ३२८, पं० २२ (यही संग्रह) पर यह निम्न पङ्क्ति छपी है—

‘तं यज्ञमिति मन्त्रः सृष्टिविद्याविषये व्याख्यातः।’

यही पङ्क्ति इसी रूप में ऋ० भा० भूमिका में भी है। सृष्टिविद्या का प्रकरण ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में है। अतः वहाँ इतना ही संकेत करना पर्याप्त है। परन्तु ‘पञ्चमहायज्ञविधि’ में इसी रूप में लिखना उचित नहीं है। वहाँ स्पष्ट लिखना चाहिये कि सृष्टिविद्या-प्रकरण कहाँ है।

२. पञ्चमहायज्ञविधि पृष्ठ ३३६, पं० १६ (यही संग्रह) पर लिखा है—

‘ओं पितृभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः……अस्यार्थः पितृतृपणे प्रोक्तः।’

ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के पृष्ठ ३०३ (रालाकट्ट. संस्क०) पर इसका अर्थ लिखा है। ‘पञ्चमहायज्ञविधि’ के पितृतृपण में इस शब्द का अर्थ कहीं नहीं लिखा। ‘पञ्चमहायज्ञविधि’ में यह प्रकरण छोड़ दिया है।

३. ‘पञ्चमहायज्ञविधि’ में सन्ध्याग्निहोत्र के प्रमाण में अथर्ववेद के दो मन्त्र उद्धृत किये हैं, और उनका संस्कृत में भाष्य भी किया है। ‘पञ्चमहायज्ञविधि’ के संस्कृत-भाष्य के अन्त में इन मन्त्रों की क्रमसंख्या ३, ४ छपी है (देखो—शताब्दी-संस्करण पृष्ठ ८७०, तथा संवत् १९३४ से लेकर चै. प्र. अजमेर में छपे संवत् १९८३ के बारहवें संस्करण तक)। इन मन्त्रों की क्रम संख्या १, २ होनी चाहिये। क्योंकि ‘पञ्चमहायज्ञविधि’ में दो ही मन्त्र हैं। ‘पञ्चमहायज्ञविधि’ के इस प्रकरण की ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के इस भाग के साथ तुलना करने पर क्रम-संख्या की अशुद्धि का कारण विस्पष्ट हो जाता है। ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में इस प्रकरण (पृष्ठ २८२ रालाकट्ट० संस्क०) में निम्न चार मन्त्र उद्धृत किये हैं—

समिधार्गिन् दुवस्यत……॥ १ ॥

अग्निं दूतं पुरो दधे……॥ २ ॥

सायं सायं गृहपतिर्नो……॥ ३ ॥

प्रातःप्रातर्गृहपतिर्नो……॥ ४ ॥



ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में इसी क्रम से इनका भाष्य भी लिखा है । और ये ही क्रमाङ्क मन्त्रभाष्य के अन्त में भी दिये हैं ।

‘पञ्चमहायज्ञविधि’ में इनमें से केवल तृतीय और चतुर्थ मन्त्र, तथा उनके भाष्य को उद्धृत किया है । प्रथम और द्वितीय मन्त्र तथा उनके भाष्यों को छोड़ दिया है । ‘पञ्चमहायज्ञविधि’ में मन्त्रों की क्रम संख्या तो ३, ४ को बदल कर १, २ कर दी, परन्तु संस्कृतभाष्य में उनकी क्रम-संख्या वही ३, ४ रह गई । अतः यह अशुद्धि इस बात का प्रमाण है कि ‘पञ्चमहायज्ञविधि’ में यह प्रकरण ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका से उद्धृत किया है ।

इन उपर्युक्त प्रमाणों से स्पष्ट है कि ‘पञ्चमहायज्ञविधि’ के संवत् १६३४ वाले संशोधित संस्करण में अग्निहोत्र के लेकर अतिथियज्ञ पर्यन्त का भाग ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका से लिया गया है ।

### पञ्चमहायज्ञविधि और संशोधित संस्कारविधि

पञ्च महायज्ञों का विधान संवत् १६४० की संशोधित संस्कारविधि के गृहस्थाश्रम-प्रकरण में विस्तार से लिखा है । परन्तु वहां केवल मन्त्रभाग है । सन्ध्या के मन्त्रों का क्रम संस्कारविधि में कुछ भिन्न है । तथा उसमें एक मन्त्र भी अधिक है, और अग्निहोत्र में भी कुछ विशेषता है ।

### सन्ध्या और संशोधित सत्यार्थप्रकाश

संशोधित सत्यार्थप्रकाश में सन्ध्या के मन्त्रों का उल्लेख नहीं है, केवल क्रियामात्र का निर्देश है । वह ‘पञ्चमहायज्ञविधि’ से कुछ भिन्न है ।

### सन्ध्या के मन्त्रों का क्रम

पञ्चमहायज्ञविधि	संस्कारविधि	सत्यार्थप्रकाश
आचमनमन्त्र	आचमनमन्त्र	आचमन
इन्द्रियस्पर्शमन्त्र	इन्द्रियस्पर्शमन्त्र	× ×
मार्जनमन्त्र	मार्जनमन्त्र	मार्जन
प्राणायाममन्त्र	प्राणायाममन्त्र	प्राणायाम
अधमर्षणमन्त्र	अधमर्षणमन्त्र	मनसापरिक्रमा
(आवसन)	(आचमन)	× ×
मनसापरिक्रमामन्त्र	मनसापरिक्रमामन्त्र	उपस्थान



उपस्थानमन्त्र	उपस्थानमन्त्र	अधमर्षण
(× ×	(जातवेदसे	
उद्वयम्	चित्रम्	
उदुत्यम्	उदुत्यम्	
चित्रम्	उद्वयम्	
तच्चक्षुः)	तच्चक्षुः)	
× ×	(आचमन)	× ×
गायत्रीमन्त्र	गायत्रीमन्त्र	गायत्रीमन्त्र
नमस्कारमन्त्र	नमस्कारमन्त्र	× ×
× ×	(आचमन)	× ×

### सन्ध्या-मन्त्रों के क्रम की प्रामाणिकता

ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में सन्ध्या के विषय में निम्न लेख मिलता है—  
'सन्ध्योपासनविधिश्च पञ्चमहायज्ञविधाने यादृश उक्तस्तादृशः  
कर्तव्यः।' पृष्ठ २८२ रालाकट्ट० संस्करण।

अर्थात् — सन्ध्योपासन की विधि 'पञ्चमहायज्ञविधि' के अनुसार करनी चाहिये।

कई आर्य विद्वान् ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका की इस पंक्ति के प्रमाण से पञ्चमहायज्ञविधिवाले सन्ध्या-मन्त्र-क्रम को प्रामाणिक मानते हैं, परन्तु उनका कथन ऐतिहासिक दृष्टि से रहित होने के कारण अप्रमाण है। हम ऊपर सप्रमाण दर्शा चुके हैं कि 'पञ्चमहायज्ञविधि' का संवत् १९३४ वाला संशोधित संस्करण न केवल ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के अनन्तर लिखा गया, अपितु सन्ध्या के अतिरिक्त प्रकरण भूमिका से ही लेकर 'पञ्चमहायज्ञविधि' में रखा गया है। अतः ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका का उपर्युक्त संकेत संवत् १९३१ वाले बम्बई संस्करण की ओर है। संवत् १९३४ में संशोधित 'पञ्चमहायज्ञविधि' के संशोधित संस्करण के प्रकाशित हो जाने पर संवत् १९३१ वाला संस्करण स्वतः अप्रामाणिक हो गया। अतः भूमिका के पूर्वोद्धृत वचन का कुछ मूल्य नहीं रहा।

इतना ही नहीं, संस्कारविधि में सन्ध्या से पूर्व जो पंक्तियाँ छपी हैं, वे भी विशेष महत्त्व की हैं—

'सन्ध्योपासनादि नित्यकर्म नीचे लिखे प्रमाणे यथाविधि



उचित समय में किया करें। इन नित्य करने के योग्य कर्मों में लिखे हुए मन्त्रों का अर्थ और प्रमाण 'पञ्चमहायज्ञविधि' में देखें।" पृष्ठ २२४, आ० स० शताब्दी संस्करण।

संस्कारविधि में अन्यत्र दो स्थानों ( पृष्ठ ११५, ११७ आ० स० शताब्दी स० रालाकट्टस्ट) पर भी संस्कारविधि के अनुसार सन्ध्योपासन का निर्देश है।

उक्त लेखों में स्पष्टतया विधिभाग में 'संस्कारविधि' को प्रधानता दी है। संवत् १९४० वाली संशोधित 'संस्कारविधि' संशोधित पञ्चमहायज्ञविधि और संशोधित सत्यार्थप्रकाश के अनन्तर लिखी गई है। इस कारण उसका लेख अधिक प्रामाणिक और महत्व का है।

### सन्ध्योपासन का केवल संस्कृत-संस्करण

आषाढ़ संवत् १९३७ के छपे यजुर्वेदभाष्य के अङ्क के अन्त में पुस्तकों का एक विज्ञापन छपा है। उसमें संख्या ७ पर "संध्योपासन संस्कृत" का उल्लेख है। यह ग्रन्थ कब और कहाँ छपा, यह हमें ज्ञात नहीं। इसकी कोई पुस्तक हमारे देखने में नहीं आई। हमने पूर्व पृष्ठ ५७, ५८ पर नवलकिशोर प्रेस लखनऊ में छपी 'पञ्चमहायज्ञविधि' का उल्लेख किया है, वह केवल संस्कृत में है, और उसका मूल्य भी दो आना ही है। परन्तु उसका मुद्रण-काल संवत् १९३९ है। संवत् १९३१ में 'पञ्चमहायज्ञविधि' का जो संस्करण महर्षि ने बम्बई में छपवाया था, वह भी केवल संस्कृत में था। सम्भव है उसकी कुछ प्रतियां शेष रह गई हों, और उसी का मूल्य दो आने रख दिया हो। संवत् १९३१ वाली 'पञ्चमहायज्ञविधि' के मुख-पृष्ठ पर मूल्य का निर्देश नहीं है। यह भी ध्यान रहे कि उसका आरम्भ 'सन्ध्योपासन' शब्द से होता है।

१. इस विषय में संस्कारविधि आ० स० शताब्दी संस्करण (रालाकट्ट०) पृष्ठ ३५२ पर ३५ संख्या की टिप्पणी देखें।

२. संस्कारविधि प्रथम संस्करण (संवत् १९३३, गुज० संवत् १९३२) की विषयसूची की पीठ पर छपी पुस्तकसूची में 'संध्या भाष्य १)' (चार आना) लिखा है। संभव है, नया संस्करण छप जाने पर उसी का मूल्य दो आना कर दिया होगा।



## पञ्चमहायज्ञविधि के अनुवाद

‘पञ्चमहायज्ञ-विधि’ के अंग्रेजी, मराठी, बंगाली, गुजराती आदि अनेक भाषाओं में अनुवाद हो चुके हैं, परन्तु वे सब प्रायः स्वतन्त्र अनुवाद हैं। ऋषि दयानन्द के भाष्य के अक्षरशः अनुवाद नहीं हैं। अंग्रेजी में एक अनुवाद ऋषि के जीवन-काल में हो चुका था। हम यहां केवल उसी का वर्णन करेंगे।

### अंग्रेजी-अनुवाद

‘पञ्चमहायज्ञविधि’ का एक अंग्रेजी अनुवाद ऋषि के जीवन काल में लाहौर से प्रकाशित हो गया था। वह अनुवाद कहीं-कहीं ऋषि के अभिप्राय से विरुद्ध था। जैसा कि—

१. स्वामी सहजानन्द ने ता० १२-८-१८८३ को शिकारपुर ( बुलन्दशहर ) से एक पत्र महर्षि के नाम लिखा था। उसमें उन्होंने ‘पञ्चमहायज्ञविधि’ के उपर्युक्त अंग्रेजी अनुवाद के विषय में इस प्रकार लिखा था—

“विदित हो कि आपकी सन्ध्या वनाई, उसकी उल्ट्या अंग्रेजी में भ्रष्टार्थ युक्त छपवाई लाहौर वालों ने। उसमें अर्थ किया है कि पूर्व दिशा में बैठकर सन्ध्या करना।”

म० मुन्शीरामजी द्वारा संगृहीत पत्रव्यवहार पृष्ठ ३५।

इस अंग्रेजी अनुवाद का उल्लेख महर्षि ने भी आश्विन बदि ११ बृहस्पति-वार संवत् १९४० के पत्र में किया है। वह पत्र रा० रा० प्रतापसिंह जी जोधपुर के नाम है। यथा—

“और जो सन्ध्या का अनुवाद अंग्रेजी गुटका आप ले गये थे, वह भिजवा दीजिये।”—पत्रव्यवहार पृष्ठ ४७७।

यह अनुवाद किसने किया था, और कब छपा था, यह अज्ञात है। यह

---

१. स्वामी सहजानन्द बिहारदेश निवासी ब्राह्मण थे। उन्होंने वैराग्य-वश संन्यास-वेश धारण कर लिया था, और नाम-परिवर्तन भी कर लिया था, परन्तु विधिवत् संन्यास-ग्रहण नहीं किया था। उदयपुर (मेवाड़) में उन्होंने महर्षि के दर्शन किये, और उनसे विधि-पूर्वक संन्यास की दीक्षा ली थी। देखो—देवेन्द्रनाथ संगृहीत जीवनचरित्र पृष्ठ ६७६; तथा पत्रव्यवहार पृष्ठ ३६३, फाल्गुन बदी १ संवत् १९३६ का पत्र।



पुस्तक हमें देखने को नहीं मिली। अतः इसके विषय में अधिक कुछ नहीं कह सकते।

### पञ्चमहायज्ञविधि के शुद्ध संस्करण

इस ग्रन्थ का शुद्ध संस्करण हमारे आचार्यवर ने संवत् १९८८ में राम-लाल कपूर ट्रस्ट लाहौर से प्रकाशित किया था। तब से उसके छः संस्करण छप चुके हैं। संवत् २००२ में वैदिक यन्त्रालय अजमेर से प्रकाशित तेहरवें संस्करण का संशोधन हमने किया है। उससे पूर्व के संस्करण बहुत अशुद्ध थे।

### ७—वेदान्ति-ध्वान्त-निवारण

ऋषि दयानन्द संवत् १९२७ में काशी दूसरी बार गये। इस बार उन्होंने 'अद्वैतमत-खण्डन' नामक पुस्तक लिखकर अद्वैतवाद के गढ काशी पर नया आक्रमण किया। इस विषय में पं० लेखराम संगृहीत जीवनचरित्र पृष्ठ ७६६ (उर्द्ध, प्रथम सं०) में इस प्रकार लेख मिलता है—

“यह ट्रेकट (=पुस्तिका) स्वामीजी ने काशी में रहते समय शास्त्रार्थ नं० २ (अर्थात् काशी शास्त्रार्थ) के बाद छपवाया। और यत्न करके 'कविवचन-सुधा' नामक हिन्दी के मासिक पत्र में भाषा-अनुवाद सहित संस्कृत में मुद्रित कराया। देखो—'कविवचन-सुधा' जिल्द १, संख्या १४, १५ ज्येष्ठ सुदि १५ और आषाढ़ सुदि १५ संवत् १९२७, तदनुसार १३ जून सन् १८७० पृष्ठ ८७, ९०, ९२, ९६। यह “लाइट प्रेस” ( बनारस ) में गोपीनाथ पाठक के प्रबन्ध से छपा। यह ट्रेकट नवीन वेदान्त के किला को तोड़ने के लिये सेना से अधिक बलवान् है। यह दूसरी बार नहीं छपा।”

श्री पं० देवेन्द्रनाथ-संगृहीत जीवनचरित्र में इसका उल्लेख इस प्रकार मिलता है—

“इस बार दयानन्द ने इसी दुर्ग ( नवीन वेदान्त ) पर गोला बरसाया, और उसके खण्डन में 'अद्वैतमत-खण्डन' नामक पुस्तक लिखकर प्रकाशित की”। पृष्ठ १६५१।

इस बार स्वामी जी महाराज चंन्न से ज्येष्ठ मास तक काशी में रहे थे। अतः 'अद्वैतमत-खण्डन' पुस्तक इसी काल के मध्य में लिखी गई होगी। यह



पुस्तक हमारी दृष्टि में नहीं आई। अतः हम इसके विषय में इससे अधिक कुछ नहीं जानते।

## अद्वैतवादी दयानन्द

ऋषि दयानन्द के स्वलिखित वा कथित जीवनचरित्र में लिखा है—

“अहमदाबाद से होता हुआ बड़ौदे के शहर में आकर ठहरा। और वहाँ चेतनमठ में ब्रह्मानन्द आदि ब्रह्मचारियों और संन्यासियों से वेदान्त-विषय की बहुत बातें कीं। और मैं ब्रह्म हूँ, अर्थात् जीव-ब्रह्म एक है, मुझको ऐसा निश्चय उन ब्रह्मानन्दादि ने करा दिया। पहिले वेदान्त पढ़ते समय भी कुछ-कुछ निश्चय हो गया था, परन्तु वहाँ ठीक-ठीक दृढ़ हो गया कि मैं ब्रह्म हूँ।”

देखो—यही संग्रह पृष्ठ १४।

ऐसा ही वर्णन श्री पं० देवेन्द्रनाथ जी ने ‘आत्म-चरित्र-वर्णन’ नाम की पुस्तक से उद्धृत किया है। देखो—जीवनचरित्र पृ० ३५, ३६।

यह घटना बड़ौदा की पीष संवत् १९०३ की है। इस घटना से बहुत काल पीछे तक श्री स्वामी जी महाराज जीव-ब्रह्म की एकता मानते रहे। द्वितीय ज्येष्ठ संवत् १९२३ को अजमेर में श्री स्वामी जी का पादरी जान राबसन साहब से वार्तालाप हुआ था। उसके विषय में ८ सितम्बर १९०३ ई० को पादरी साहब ने पं० देवेन्द्रनाथ को लिखा था—

“मेरा उनसे जीव-ब्रह्म की एकता पर वार्तालाप हुआ, जिसका वह प्रतिपादन करते थे, और मैं खण्डन करता था।”

—दे० सं० जीवन-चरित्र पृष्ठ ८६।

यह घटना ज्येष्ठ संवत् १९२३ की है। यदि राबसन साहब का उपर्युक्त लेख सत्य हो, तो मानना होगा कि संवत् १९२३ वि० के पूर्वार्ध तक श्री स्वामी जी जीव-ब्रह्म का अभेद मानते थे।

## भेदवादी दयानन्द

जीवन-चरित्र से प्रतीत होता है कि उपर्युक्त घटना के कुछ काल बाद ही श्री स्वामीजी का अद्वैतविषयक मन्तव्य बदल गया था। और वे जीव-ब्रह्म का वास्तविक भेद मानने लग गये थे। उनके जीवन-चरित्र में कार्तिक संवत् १९२४ की एक घटना लिखी है, जिसका संक्षेप इस प्रकार है—



“खन्दोई ग्राम का छत्रसिंह जाट नवीन वेदान्ती था। स्वामीजी महाराज नवीन वेदान्त का प्रबल प्रतिवाद करते थे। महाराज ने उसे अनेक युक्तियों से समझाया, परन्तु उसकी समझ में नहीं आया। महाराज ने उसके कपोल पर एक चपत लगा दिया। इस पर उसे बहुत रोष आया, और कहने लगा—महाराज ! आप जैसे ज्ञानी को केवल मत-भेद से चिढ़कर चपत लगाना उचित नहीं। महाराज ने हंसते हुए कहा—‘चौधरीजी ! यह जगत् मिथ्या है, और ब्रह्म के अतिरिक्त वस्तु है ही नहीं। तो वह कौन है, जिसने आपके चपत लगाया। जो बात युक्तियों से समझ में नहीं आई, वह इस प्रकार झट समझ में आ गई। महाराज ने कहा कि नवीन वेदान्त अनुभवविरुद्ध बौहाड़े (=पागल) मनुष्य की बड़बड़ाहट है।”

इस घटना से विदित होता है कि संवत् १९२४ के पूर्वार्ध से पूर्व ही स्वामी जी अपना अद्वैतवादविषयक मन्तव्य बदल चुके थे।

सं० १९३१ में श्री स्वामी जी ने अद्वैतवाद के खण्डन में ‘वेदान्ति-ध्वान्त-निवारण’ नामक एक और पुस्तक लिखी उसका वर्णन नीचे किया जाता है।

‘वेदान्ति-ध्वान्त-निवारण’ के विषय में पं. देवेन्द्रनाथ संगृहीत जीवनचरित्र में पृष्ठ २९५ पर इस प्रकार लिखा है—

“श्री स्वामीजी ने अद्वैतवाद के खण्डन में ‘वेदान्ति-ध्वान्त-निवारण’ पुस्तक रचा, और आश्चर्य है कि उसे पण्डितजी (=कृष्णराम इच्छारामजी, जो कि घोर अद्वैतवादी थे) से ही लिखवाया। स्वामी जी ने इस पुस्तक को दो ही दिनों में समाप्त कर दिया।”

यह पुस्तक स्वामी जी ने बम्बई में रची थी। इस बार महर्षि बम्बई में कार्तिक कृष्णा प्रतिपद से मार्गशीर्ष कृष्णा ८ (संवत् १९३१) तदनुसार २६ अक्टूबर से १ दिसम्बर (सन् १८७४) तक ठहरे थे। अतः यह पुस्तक कार्तिक संवत् १९३१ में रची गई होगी।

इस पुस्तक का प्रथम संस्करण “ओरियण्टल प्रेस बम्बई” में छपा था। इस प्रथम संस्करण के मुखपृष्ठ पर निम्न लेख है—



“नन्दिमुख ब्राह्मण श्यामजी विश्राम ने स्वदेशार्थ प्रसिद्ध की ।”

इस पुस्तक के आदि या अन्त में कहीं पर भी महर्षि के नाम का उल्लेख नहीं है । इतना ही नहीं, संस्कारविधि के प्रथम संस्करण (संवत् १९३२ वि०) में विषयसूची की पीठ पर ग्रन्थों की जो सूची छपी है, उसमें भी इस ग्रन्थ के साथ महर्षि के नाम का उल्लेख नहीं है । पुस्तक की उक्त सूची की प्रतिलिपि इस प्रकार है—

संस्कारविधि सजिल्द	१॥॥	दयानन्द स्वामी कृत
सत्यार्थप्रकाश	३१)	” ” ”
आर्याभिविनय दो भाग	॥)	” ” ”
सन्ध्याभाष्य	१)	” ” ”
बल्लभाचार्यमत-खण्डन	१)	.....
स्वामीनारायणमत खण्डन	१)	.....
वेदान्ति-ध्वान्त-निवारण	=)	.....
सत्यासत्यविचार	१)	लीलाधर कृत
वेदभाष्य ( अर्थद्वयसहित )	१२ अङ्क ३॥॥	( दयानन्द स्वामी )

इससे यह नहीं समझना चाहिये कि ‘वेदान्ति-ध्वान्त-निवारण’ पुस्तक ऋषि की बनाई हुई नहीं है । महर्षि ने आषाढ़ बदि १२ संवत् १९३५ शुक्रवार के दिन हैनरी एस. अलकाट को संस्कृतभाषा में एक पत्र लिखा था । उसमें ‘वेदान्ति-ध्वान्त-निवारण’ को स्वरचित लिखा है । पत्र का वह अंश इस प्रकार है—

“ये च मया वेदभाष्य-सन्धयोपासनार्याभिविनय-वेदविरुद्ध-मतखण्डन - वेदान्तिध्वान्तनिवारण - सत्यार्थप्रकाश-संस्कार-विध्यायोद्देश्यरत्नमालाख्या ग्रन्था निर्मिता.....।

पत्रव्यवहार पृष्ठ ६६ ।

‘वेदान्ति-ध्वान्त-निवारण’ के वर्तमान संस्करणों के मुखपृष्ठ की पीठ पर निम्न श्लोक छपा हुआ मिलता है—

दयापूर्वोपेतं परमपरमाख्यातुमनघाः ।

गिराया नं जानन्त्यमतिमतविध्वंसमतिना ।

स वेदान्तश्रान्तानभिनवमतभ्रान्तमनसः ।

समुद्धतुं श्रौतं प्रकटयति सिद्धान्तमनिशम् ॥



यह श्लोक प्रथम संस्करण में नहीं है। हमें इसका द्वितीय संस्करण<sup>१</sup> देखने को नहीं मिला। तृतीय संस्करण में यह श्लोक छपा है। अतः द्वितीय या तृतीय संस्करण में इस श्लोक का समावेश हुआ होगा। इस श्लोक का मुद्रित पाठ कुछ अशुद्ध है। यह श्लोक ग्रन्थकार द्वारा विरचित भी नहीं है। अतः हमने पुस्तक के आरम्भ में इसे नहीं छापा है।

‘वेदान्ति-ध्वान्त-निवारण’ के प्रथम संस्करण की भाषा बहुत अशुद्ध थी, क्योंकि उस समय महर्षि को आर्यभाषा बोलने वा लिखने का सम्यग् अभ्यास नहीं था। इसके अगले संस्करणों में भाषा का उचित संशोधन किया गया है।

श्री पं० महेशप्रसाद जी ने “महर्षि दयानन्द सरस्वती” नामक पुस्तक के पृष्ठ २१ पर इस पुस्तक के विषय में लिखा है—

“यह पुस्तक पहली बार मुम्बापुरी (=बम्बई) में छपी थी। उसमें हिन्दीभाषा बहुत अशुद्ध हो गई थी। दूसरी आवृत्ति में वह सामग्री अशुद्ध हुई, जो संस्कृत में थी।”

यजुर्वेद-भाष्य श्रावण शुक्ला १५ संवत् १९३९ के ४०, ४१ सम्मिलित अङ्क के टाइल पेज पर मुंशी समर्थदान प्रबन्धकर्ता वैदिक ग्रन्थालय प्रयाग की ओर से निम्न सूचना प्रकाशित हुई थी—

### “वेदान्ति-ध्वान्त-निवारण”

“सब सज्जनों को प्रकट हो कि यह पुस्तक प्रथम बार मुम्बापुरी में मुद्रित हुआ था। उसमें भाषा बहुत अशुद्ध थी। इसलिये मैंने जहां तक उचित समझा, द्वितीयावृत्ति में इसको शुद्ध करके छापा है। परन्तु मैंने केवल भाषामात्र शुद्ध की है, क्योंकि अधिक फेरफार करने से ग्रन्थकर्ता के अभिप्राय में अन्तर आ जाता है।”

इस सूचना से स्पष्ट है कि द्वितीय संस्करण में इस ग्रन्थ की भाषा का संशोधन मुंशी समर्थदान ने किया था। इसका द्वितीय संस्करण श्री स्वामी जी के जीवन-काल में ही प्रकाशित हो गया था, यह भी उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है।

१. वेदान्ति-ध्वान्त-निवारण की द्वितीयावृत्ति श्रावण संवत् १९३९ में प्रकाशित हुई थी। यह अनुपद ही लिखा जायगा।



## ८ — वेदविरुद्ध-मत-खण्डन

महर्षि ने यह पुस्तक वैष्णवों के वल्लभमत के खण्डन में लिखा है। अतः इसका दूसरा नाम “वल्लभाचार्य-मत-खण्डन” भी है। गुजरात प्रान्त में इस मत का प्रचार अधिक रहा है। इसलिये महर्षि ने इस ग्रन्थ की रचना बम्बई में की थी। पं० देवेन्द्रनाथसंगृहीत जीवन-चरित्र पृष्ठ २६६ पर इस ग्रन्थ के विषय में इस प्रकार लिखा है—

“स्वामी जी ने बम्बई के निवास के दिनों में ही नवम्बर १८७४ में वल्लभ-सम्प्रदाय के सिद्धान्तों के खण्डन में ‘वल्लभा-चार्य-मत-खण्डन’ नामक ट्रैक्ट रचा था। जो पहली बार बम्बई के सुप्रसिद्ध निर्णयसागर प्रेस में छपा था।”

### ग्रन्थ का रचना-काल

‘वेदविरुद्ध-मत-खण्डन’ के अन्त में उसका रचना-काल इस प्रकार लिखा है—

शशिरामाङ्गचन्द्रेऽब्दे कार्तिकस्यासिते दले ।

अमायां भौमवारे च ग्रंथोऽयं पूर्तिमगतः ॥

अर्थात् संवत् १९३१ के कार्तिक की अमावस्या मंगलवार<sup>१</sup> को यह ग्रन्थ बन कर समाप्त हुआ।

यहां ‘कार्तिकस्यासिते दले’ दाक्षिणात्य पञ्चाङ्ग के अनुसार है। उत्तर भारतीय पञ्चाङ्ग के अनुसार मार्गशीर्ष की अमावस्या जाननी चाहिये।

### मुद्रण-काल

निर्णयसागर प्रेस में छपे ‘वेदविरुद्ध-मत-खण्डन’ के मुखपृष्ठ पर इसका मुद्रण-काल संवत् १९३०<sup>१</sup> छपा है। वह पूर्वोक्त ग्रन्थलेखन-काल से विरुद्ध होने

१. श्री पं० भगवद्दत्तजी ने “ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन” (प्रथम संस्करण) पृष्ठ ३० में इस पुस्तक का लेखनकाल १० नवम्बर १८७४ लिखा है। १० नवम्बर को अमावस्या नहीं थी। यदि तिथि-निर्देश गुजराती पञ्चाङ्ग के अनुसार माना जाये, तो ८ दिसम्बर पड़ता है। उस दिन मंगलवार और अमावस्या दोनों थीं।

२. गुजराती संवत् भी कार्तिक शुक्ला १ से बदल जाता है। तदनुसार



के कारण अशुद्ध है। फाल्गुन बदि २ मंगलवार संवत् १९३१ को श्री गोपाल राव हरिदेशमुख के नाम महर्षि ने जो पत्र लिखा था, उसमें इस पुस्तक के मुद्रित हो जाने की निम्न सूचना दी थी—

“आगे ‘वेदविरुद्ध-मत-खण्डन’ की पुस्तक जितनी मंगानी हो मंगा लीजिये, फिर नहीं मिलेगी ..।”—पत्रव्यवहार पृष्ठ २५।

इससे विदित होता है कि ‘वेदविरुद्धमत-खण्डन’ का प्रकाशन माघ संवत् १९३१ के अन्त तक हो गया था।

### पुस्तक का प्रभाव

महर्षि के जीवन-चरित्र से विदित होता है कि इस पुस्तक की रचना के अनन्तर बल्लभसंप्रदाय के अनुयायी महर्षि के जीवन के ग्राहक बन गये थे। उन्होंने महर्षि के प्राण-हरण करने के अनेक प्रयत्न किये थे। देखो—पं० देवेन्द्र नाथ संकलित जीवन-चरित्र पृष्ठ २८६—२९५ तक।

### ग्रन्थ की मूल-भाषा

इस ग्रन्थ को महर्षि ने संस्कृत-भाषा में रचा था। यद्यपि इस पुस्तक के आद्यन्त में महर्षि के नाम का उल्लेख नहीं है, और ना ही संस्कार-विधि के प्रथम संस्करण (संवत् १९३३) में दी हुई पुस्तक-सूची में महर्षि का नाम दिया है (देखो पृष्ठ ४५)। तथापि ग्रन्थ की रचना-शैली से विस्पष्ट है कि इस ग्रन्थ का संस्कृत-भाग महर्षि का रचा हुआ है। पूर्व पृष्ठ ४६ पर उद्धृत महर्षि के पत्र से भी इस बात की पुष्टि होती है।

### गुजराती-अनुवाद

‘वेदविरुद्ध-मत-खण्डन’ का जो प्रथम संस्करण निर्णयसागर प्रेस बम्बई में संवत् १९३१ में छपा था, उसमें गुजराती अनुवाद भी साथ में छपा है। इसके प्रथम संस्करण के मुख-पृष्ठ के लेख से ज्ञात होता है कि उसका गुजराती अनुवाद महर्षि के प्रमुख शिष्य श्यामजी कृष्णवर्मा ने किया था। ये महर्षि की प्रेरणा से ही संस्कृत पढ़ाने के लिये इङ्ग्लैंड भी गये थे। पीछे जाकर श्यामजी कृष्णवर्मा ने भारत की स्वतन्त्रता के लिये सशस्त्र क्रान्ति के मार्ग का कार्तिक की अमावास्या (उ० भा० पंचाङ्गानुसार मार्गशीर्ष की अमावास्या) को भी संवत् १९३१ ही होना चाहिये।



अवलम्बन किया। अत एव ब्रिटिश राज्य ने इनकी भारत वापस आने की स्वतन्त्रता छीन ली। इस कारण वह अन्त तक विदेश में ही रहे और वहाँ स्वर्गवासी हुए।

गुजराती अनुवाद में मूल ग्रन्थ से कुछ अधिकता है। प्रारम्भ में एक शार्दूल विक्रीडित छन्द तथा अन्त में ५० रोल-वृत्त छन्दों में “आर्यजनों ने सूचना” छपी है। तत्पश्चात् ग्रन्थ लेखन का काल गुजराती में इस प्रकार दिया है।

“चन्द्ररामाङ्कशशि कार्तिक-अमा-सवारे।

वेद धर्मनी ध्वजा उड़े छे मंगलवारे॥

### आर्यभाषा अनुवाद

वेदविरुद्धमतखण्डन का वर्तमान में जो भाषानुवाद मिलता है वह पं० भीमसेन कृत है। यह भाषानुवाद के निम्न लेख से स्पष्ट है—

“इतिश्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमद्दयानन्दसरस्वती-  
स्वामिनिर्मितस्तच्छिष्य-भीमसेनशर्मकृतभाषानुवादसहितश्च वेद-  
विरुद्धमतखण्डनामा ग्रन्थः समाप्तः।”

### पूर्णानन्द स्वामी

वेदविरुद्धमत-खण्डन के प्रथम संस्करण से लेकर नवम संस्करण पर्यन्त (अगले संस्करण हमें देखने को नहीं मिले) मुख पृष्ठ पर स्वामी पूर्णानन्द का उल्लेख मिलता है—‘सम्मतिरत्र वेदमतानुयायि पूर्णानन्दस्वामिनः।

प्रथम संस्करण में निम्न पाठ है—

“पूर्णानन्दस्वामिन आज्ञया वेदमतानुयायिना।

कृष्णदाससूनुना श्यामजिना भाषान्तरकृतम्॥”

ये पूर्णानन्द स्वामी कौन थे, यह हमें ज्ञात नहीं हो सका। इनके नाम का उल्लेख ऋषि के पत्रव्यवहार में निम्न स्थलों पर मिलता है—

१—आषाढ़ बदि ६ शुक्रवार संवत् १९३३ का स्वामी जी का पत्र।

पत्रव्यवहार पृष्ठ ३१।

२—१६ जनवरी सन् १८८० का सेवकलाल कृष्णदास का स्वामीजी महाराज के नाम पत्र। म० मुंशीराम सम्पादित पत्रव्यवहार पृष्ठ २६६।

इन पत्रों से स्पष्ट है कि ये स्वामी जी के अत्यन्त श्रद्धालु भक्त थे।



## ६—शिक्षापत्री-ध्वान्त-निवारण

गुजरात प्रान्त में वल्लभ सम्प्रदाय की भांति स्वामी नारायण मत का भी बहुत प्रचार था। अत एव महर्षि ने अपने गुजरात परिभ्रमणकाल में स्वामी नारायण मत के खण्डन में अनेक व्याख्यान दिए, और उसी समय “शिक्षापत्री-ध्वान्त-निवारण” नामक पुस्तक लिखकर प्रकाशित की। इस ग्रन्थ में स्वामी नारायण मत के प्रवर्तक स्वामी सहजानन्द कृत “शिक्षापत्री” संज्ञक ग्रन्थ का खण्डन है। इस ग्रन्थ का दूसरा नाम ‘स्वामी नारायण मत-खण्डन’ भी है।

इस पुस्तक की रचना के विषय में पं० देवेन्द्रनाथ संगृहीत जीवनचरित्र में दो परस्पर विरुद्ध वर्णन मिलते हैं। यथा—

“स्वामीजी ने सूरत में ही ‘स्वामी नारायण मत खण्डन’ पर एक पुस्तक लिखी।” जीवनचरित्र पृष्ठ ३०६।

यह वर्णन मार्गशीर्ष संवत् १९३१ का है। इसके आगे पुनः पृष्ठ ३१६ पर लिखा है—

“अहमदाबाद में स्वामीजी ने स्वामी नारायण मत का खण्डन किया और ‘स्वामी नारायण मत खण्डन’ नामक पुस्तक रची।”

स्वामी जी महाराज अहमदाबाद कई बार गए थे। उक्त वर्णन जिस प्रसंग में है, उस बार महर्षि अहमदाबाद में मार्गशीर्ष सुदि ३ से पौष बदि ५ संवत् १९३१, तदनुसार ११ दिसम्बर से २८ दिसम्बर सन् १८७४ तक रहे थे।

जीवनचरित्र के उक्त दोनों लेख परस्पर में तो विरुद्ध ही हैं, परन्तु शिक्षापत्री-ध्वान्त-निवारण के अन्त में दी हुई ग्रन्थसमाप्ति की तिथि से भी विरुद्ध हैं। ग्रन्थ के अन्त में इसका रचनाकाल इस प्रकार लिखा है—

“भूमिरामाङ्कचन्द्रेऽब्दे सहस्रस्याऽसिते दले।

एकादश्यामर्कवारे ग्रन्थोऽयं पूर्तिमागम् ॥”

अर्थात् संवत् १९३१ पौष बदि ११ रविवार (३ जनवरी सन् १८७५) के दिन यह ग्रन्थ समाप्त हुआ।

उक्त जीवनचरित्र के अनुसार महर्षि पौष कृष्णा ८ से पौष शुक्ला १२ तक राजकोट में रहे थे।



श्री पं० महेशप्रसाद जी ने जीवन-चरित्र के उपर्युक्त विरोध का परिहार करने का कुछ प्रयत्न किया है। उन्होंने “महर्षि जीवनदर्शक” पुस्तक के पृष्ठ २७ पर इस प्रकार लिखा है —

“सूरत में लिखना आरम्भ किया होगा, अथवा लिखने का विचार किया होगा। अहमदाबाद में उक्त पुस्तक का अधिक भाग तैयार हो गया होगा, और पूर्णरूप से उसकी समाप्ति राजकोट में हुई होगी।”

हमें यह विरोध परिहार भी ठीक नहीं जंचता। क्योंकि हम जानते हैं कि वेदान्ति-ध्वान्त-निवारण पुस्तक को महर्षि ने दो दिन में लिख लिया था। शिक्षापत्री-ध्वान्त-निवारण भी आकार में वेदान्ति-ध्वान्त-निवारण के लगभग बराबर है। अतः उसके लेखन में इतना लम्बा काल लगना सम्भव ही नहीं असम्भव है।

### ग्रन्थ की मूल भाषा

महर्षि ने यह ग्रन्थ भी केवल संस्कृत-भाषा में रचा था। वर्तमान में उपलब्ध होनेवाला भाषानुवाद मूल संस्कृत से अनुवाद न करके इसके गुजराती अनुवाद से किया गया है। द्रष्टव्य पृष्ठ ४३५ की टिप्पणी २। इस ग्रन्थ का भाषानुवाद मूल संस्कृत से क्यों नहीं किया, गया यह अज्ञात है। शिक्षापत्री-ध्वान्त-निवारण का आर्यभाषानुवाद सहित प्रथम संस्करण संवत् १९५८ में छपा था। देखो—अजमेर मुद्रित शताब्दी संस्करण भाग २, पृष्ठ ८१५ के सामने।

इस ग्रन्थ के आद्यन्त में कहीं भी महर्षि के नाम का उल्लेख नहीं मिलता और संस्कारविधि के प्रथम संस्करण में दी हुई पुस्तक सूची में भी ग्रन्थकर्ता के नाम के स्थान में ‘.....’ बिन्दुएं रखी हैं। देखो—पूर्व ऐतिहासिक विवरण पृष्ठ ६६। परन्तु वेदान्ति-ध्वान्त-निवारण के वर्णन (पृष्ठ ६६) में उद्धृत पत्र से स्पष्ट है कि यह ग्रन्थ स्वामीजी का ही बनाया हुआ है।

### प्रथम संस्करण का मुद्रण काल

माघ बदि २ शनिवार संवत् १९३१ (२३ जनवरी १८७५) को महर्षि ने एक पत्र “स्टार प्रेस बनारस” के स्वामी मुन्शी हरवंशलाल को लिखा था। उस में “शिक्षापत्री-ध्वान्त-निवारण” के विषय में पूछा है—“और शिक्षा की पुस्तक छपी या नहीं?” देखो पत्रव्यवहार पृष्ठ २४, पं० १। इससे अनुमान



होता है कि इस ग्रन्थ का प्रथम संस्करण स्टार प्रेस बनारस से प्रकाशित हुआ होगा। यह संस्करण हमारे देखने में नहीं आया। इसलिए निश्चय से नहीं कह सकते कि इस संस्करण में केवल संस्कृत भाग छपा था अथवा उसका भाषानुवाद भी साथ था। इस संस्करण का अन्यत्र कहीं उल्लेख नहीं मिलता अतः यह भी संदेह है कि “स्टार प्रेस बनारस” से वह ग्रन्थ छपा भी था, या नहीं।

### गुजराती अनुवाद

इस ग्रन्थ का गुजराती अनुवाद महर्षि ने स्वयं कराया था। इस विषय में उन्होंने चैत्र बदि ६ शनिवार १९३२ को श्री गोपालराव को इस प्रकार लिखा था—

“और शिक्षापत्री का खण्डन पुस्तक की गुजराती भाषा में व्याख्या भी हो गई। उसके तीन-चार फार्म होंगे। १५, १६ रुपये फार्म के हिसाब से ५०, ६० रुपये लगेंगे। सो वहां (अहमदाबाद में) छपवाओगे वा मुम्बई में। परन्तु जो मुम्बई में छपेगा तो अच्छा होगा। इसका उत्तर शीघ्र देना।”

पत्रव्यवहार पृष्ठ २८।

शिक्षापत्रीध्वान्तनिवारण का गुजराती अनुवाद सहित प्रथम संस्करण “ओरियण्टल प्रेस बम्बई” से सन् १८७६ ( संवत् १९३३ ) में प्रकाशित हुआ था। इसके मुख पृष्ठ के लेख से ज्ञात होता है कि इस ग्रन्थ का गुजराती अनुवाद महर्षि के प्रमुख शिष्य श्यामजी कृष्ण वर्मा ने किया था। आषाढ़ संवत् १९३७ के यजुर्वेदभाष्य के १५ वें अंक के अन्त में छपी हुई पुस्तकों की सूची से विदित होता है कि इसका गुजराती अनुवाद पृथक् भी छपा था। यह स्वतन्त्र गुजराती अनुवाद हमारे देखने में नहीं आया।

शताब्दी संस्करण भाग २ पृष्ठ ८१५ के सामने शिक्षापत्रीध्वान्तनिवारण के विविध संस्करणों की जो सूची छपी है उसमें संवत् १९३३ में गुजराती अनुवाद सहित छपे संस्करण का निर्देश नहीं है।

### १०—भागवत-खण्डन

श्री स्वामी जी महाराज ने संवत् १९२३ के आरम्भ में भागवत खण्डनम् नामक पुस्तक लिखी थी। श्रीमद् भगवत वेणव सम्प्रदाय का प्रधान

१. इस विवरण में उल्लिखित ‘शताब्दी संस्करण’ अजमेर से सन् १९२५ में छपा था।



ग्रन्थ है। अतः इसका दूसरा नाम 'वैष्णवमतखण्डन' भी है। इस पं० लेखराम जी ने ऋषि के जीवन चरित में इसका उल्लेख भड़वा-भागवत और पाखण्डखण्डन नाम से किया है। पं० लेखराम जी द्वारा सङ्कलित जीवन चरित पृष्ठ ७६० ( प्रथम उर्दू संस्करण ) पर इस पुस्तक के विषय में निम्न परिचय उपलब्ध होता है—

पाखण्ड-खण्डन—यह पुस्तक सात पृष्ठ की संस्कृत-भाषा में स्वामीजी ने भागवत-खण्डन विषय पर लिखी है। संवत् १६२१ व १६२२ जब वह दूसरी बार आगरा रहे, उसी समय का मालूम होता है। जब से पुरानी हस्तलिखित कापी इसकी ज्येष्ठ द्वितीय तिथि ६ बृहस्पतिवार संवत् १६२३ तदनुसार ७ जून १८६६ में लिखी हुई पं० छगनलाल जी शास्त्री किशनगढ़ के पास विद्यमान है। अजमेर से लौटकर संवत् १६२३ के अन्त में आगरा आके ज्वालाप्रकाश प्रेस में ज्वालाप्रसाद भार्गव' के प्रबन्ध में इसकी कई हजार कापियां छपवायीं, और प्रथम वैशाख' संवत् १६२४ तदनुसार १२ अप्रैल सन् १८६७ में मेला हरिद्वार पर इसे विना मूल्य वितीर्ण किया। यह बहुत सुन्दर समयोचित ट्रेक्ट उत्तम संस्कृत भाषा में है। यह दूसरी बार नहीं छपा।”

इस उद्धरण में संवत् १६२१ व १६२२ में दूसरी बार आगरा आने का उल्लेख है, यह हमारी समझ में अशुद्ध है। क्योंकि स्वामी जी महाराज का आगरा में द्वितीय बार आगमन संवत् १६२३ में उत्तरार्ध में हुआ था।

श्री पं० छगनलालजी शास्त्री की प्रति पर जो लेखन काल लिखा है, ( देखो उपर्युक्त जीवन चरित्र का उद्धरण ) उस समय ऋषि दयानन्द राजस्थान के अजमेर आदि नगरों में भ्रमण कर रहे थे। हमारे विचार में पं० छगनलाल जी की प्रति पर जो लेख काल लिखा है वह ऋषि दयानन्द की हस्तलिखित प्रति से प्रतिलिपि करने का काल है, न कि मूल ग्रन्थ के लिखे जाने का। पुस्तक लिखे जाने का वास्तविक काल अज्ञात है।

१. इसी ज्वालाप्रसाद भार्गव ने संवत् १६४० (सन् १८८३) में वेद-भाष्य भी छापना आरम्भ किया था। देखो—मं० मुंशीराम सम्पादित पत्र-न्यवहार पृष्ठ १६२। यह किसका रचा हुआ था, यह पत्र से विदित नहीं होता।



अजमेर ( संवत् १९२३ ) के वर्णन में बाबू देवेन्द्रनाथ संकलित जीवन चरित में लिखा है—

“ब्राह्मणों ने कहा कि आप भागवत का खण्डन करते हैं । उसकी अशुद्धियां लिखकर दीजिये । स्वामीजी ने तीन-चार पत्रों पर उसकी अशुद्धियां संस्कृत में लिखकर दी थीं ।”

पृष्ठ ६४ ।

सम्भव है यह पत्र प्रस्तुत ‘भगवत-खण्डन’ के ही रहे होंगे, अथवा उसके प्रारूप के होंगे । छगनलाल शास्त्री के पास वर्तमान पुस्तक पर अङ्कित तिथि से भी इसकी पुष्टि होती है । यदि हमारा अनुमान ठीक हो, तो इस पुस्तक की रचना का अथे अजमेर नगर को ही है । और इसकी रचना का काल वही है, जो छगनलाल शास्त्री की पुस्तक पर अङ्कित है ।

यह पुस्तक १८ × २२ अठपेजी आकार के ७ पृष्ठों में छपी थी । इसकी एक प्रति ऋषि दयानन्द के अनन्य भक्त और उनके शतशः पत्रों के अन्वेषक श्री मामराजसिंहजी खतौली (मुजफ्फरनगर) निवासी फर्रुखाबाद से बड़े परिश्रम से ढूँढ कर लाये थे । उन्होंने यह प्रति ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन के संग्राहक और सम्पादक श्री पं० भगवद्दत्तजी को दी थी । यह प्रति विगत देशविभाजन काल (संवत् २००४) में उनके अद्भुत संग्रह के साथ ही उनके गृह माडल टाउन लाहौर में ही रह गई । इस पुस्तक के आद्यन्त के पाठों का निदेश श्री पं० भगवद्दत्तजी ने ‘ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन’ ग्रन्थ की भूमिका में किया है । हमारे ज्ञान में अब यह पुस्तक कहीं पर भी विद्यमान नहीं है । यही दशा ऋषि दयानन्द के दो ग्रन्थ आद्य सन्ध्या तथा अद्वैतमतखण्डन की है । मैं इन तीनों ग्रन्थों की उपलब्धि के लिये लगभग १०, १२ वर्ष प्रयत्नशील रहा हूँ, परन्तु इनकी उपलब्धि में अकृतकार्य रहा ।

### अकस्मात् उपलब्धि

संवत् २०१८ वैशाख मास में अपने ‘संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास’ ग्रन्थ के द्वितीय भाग के मुद्रण की व्यवस्था के लिये मेरा काशी जाना हुआ । वहाँ मैं एक दिन ‘रामलाल कपूर ट्रस्ट’ के पुस्तकालय की पुरानी पुस्तकें टटोल रहा था । उसी समय देवात् एक पुस्तक के प्रथम पृष्ठ पर दृष्टि गई, उसका नाम है—“पाषाण्डि मुखमर्दन” । यह पुस्तक इन्द्रप्रस्थ



निवासी श्री विश्वेश्वरनाथ गोस्वामी नाम के किसी पण्डित की लिखी, श्री मुरादाबाद के सुदर्शन यन्त्रालय में लीथो की छपी हुई है। इसमें २० × २६ अठ पेजी आकार के ६२ पृष्ठ हैं। इसमें मुद्रण अथवा लेखनकाल का निर्देश नहीं है। इस पुस्तक के लेखक ने ऋषि दयानन्द विरचित 'भागवत-खण्डन' को अक्षरशः उद्धृत करके उसका खण्डन किया है। इसलिये इस पुस्तक में सम्पूर्ण 'भागवत-खण्डन' पुस्तक सुरक्षित उपलब्ध हो गई। उसी में से निकाल कर 'भागवत-खण्डन' को पृथक् प्रकाशित किया है। मूल पुस्तक संस्कृत-भाषा में है। संस्कृत-भाषा से अनभिज्ञ पाठकों के लिये उसका भाषानुवाद भी साथ में दिया है।

एक बात विशेष ध्यान में रखने योग्य है। इस पुस्तक में केवल कृष्ण भागवत पुराण का ही खण्डन है। उस समय तक ऋषि दयानन्द शेष पुराणों को परम्परानुसार प्रामाणिक मानते थे। इस पुस्तक का महत्त्व केवल दो विषयों के लिये है—एक तो इससे यह स्पष्ट होता है कि ऋषि दयानन्द इसके लेखनकाल तक मूर्तिपूजा का खण्डन करने लग गये थे। और दूसरा यह है कि—ऋषि की उपलब्ध कृतियों में इसका सबसे प्रथम कृति होना।

इस पुस्तक की रचना के कुछ काल पश्चात् ही संभवतः ऋषि दयानन्द को यह अनुभव हो गया कि मूर्तिपूजा का आश्रय वर्तमान पुराण ही हैं। अतः उन्हें सभी पुराणों का पूर्णतया परित्याग और खण्डन करना पड़ा। संवत् १६२६ आषाढ़ मास में ऋषि दयानन्द ने कानपुर में एक प्रामाणिक पुस्तकों की सूची संस्कृत में छपवाई थी (देखो—ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन, पृष्ठ १)। इस सूची में किसी पुराण का नाम उल्लिखित नहीं है। इतना ही नहीं, 'मनुष्यकृताः सर्वे ब्रह्मवैवर्तपुराणादयो ग्रन्थाः प्रथमं गप्पम्' पंक्ति द्वारा समस्त पुराणों को त्याज्य कहा है। इस सूची से इतना स्पष्ट है कि ऋषि दयानन्द संवत् १६२६ से पूर्व ही वर्तमान पुराणों को वेदविरुद्ध मानने लग गये थे, और उनके खण्डन में प्रवृत्त हो गये थे।

उक्त दो दृष्टियों से ही हमने इसे इस संग्रह में संगृहीत किया है।

## ११—व्यवहारभानु

बालक ही आगे चलकर जाति के स्तम्भ बनते हैं, यही कारण है कि ऋषि दयानन्द ने जहाँ विद्वानों के लिये वेदभाष्य सत्यार्थप्रकाश आदि उच्चकोटि के ग्रन्थ रचे, वहाँ साधारण पुरुषों और बालकों के लिये भी अनेक



उपयोगी ग्रन्थों की रचना में नहीं चूके। इस प्रकार के ग्रन्थों में व्यवहार-भानु' एक अत्यन्त उपयोगी पुस्तक है। इस ग्रन्थ में दृष्टान्त आदि के द्वारा अत्यन्त सरल शब्दों में नित्य प्रति के व्यावहारिक कर्त्तव्यों का बहुत सुन्दर वर्णन किया है। यह ग्रन्थ फाल्गुन शु० १५ संवत् १९३६ काशी में लिखा गया था। यह तिथि ग्रन्थ की भूमिका के अन्त में लिखी है। इस समय महर्षि काशी में विराजमान थे।

स्वामीजी ने प्रारम्भिक पठनार्थियों के लिये जो पठन-पाठन विषयक पुस्तकें लिखीं वा लिखवाईं, उनमें यह तृतीय पुस्तक है। इस पुस्तक के प्रथम संस्करण के मुख पृष्ठ पर "वेदाङ्ग प्रकाशः तत्रत्यः तृतीयो भागः ॥ व्यवहारभानुः। पाणिनिमुनि प्रणीता" छपा है। इसमें 'वेदाङ्गप्रकाशः' 'पाणिनि मुनिप्रणीता' शब्द मुद्रण दोष से छप गये थे।

इस ग्रन्थ के प्रथम संस्करण में और भी बहुत सी अशुद्धियां मुद्रण दोष से हो गई थीं। उनके विषय में श्रीस्वामी जी ने ज्येष्ठ शु० ६ संवत् १९३७ को बखतावरसिंह को लिखा था—

"भीमसेन से व्यवहारभानु में शुद्धाशुद्ध पत्र लिखवा के साथ छपवा के लगा दो।"

इस पुस्तक का मेरे द्वारा सम्पादित एक सुन्दर तथा परिशुद्ध संस्करण रामलाल कपूर ट्रस्ट द्वारा लाहौर में माघ संवत् २००० वि० में प्रथम बार प्रकाशित हुआ था। तब से इसके अब तक ७ संस्करण छप चुके हैं। इस ग्रन्थ में लिखे हुए विषय ऋषि के अन्य ग्रन्थों में जहां-जहां मिलते हैं, उन सब का पता नीचे टिप्पणी में दे दिया है। इस कारण ये संस्करण और भी उपयोगी बन गये।

## १२—गोकर्णानिधि

कर्णानिधि दयामय दयानन्द ने अपने कार्यकाल में गौ आदि मूक प्राणियों की रक्षार्थ महान आन्दोलन किया था। वायसराय तथा भारत सरकार के पास तीन करोड़ भारतवासियों के हस्ताक्षर युक्त प्रार्थना-पत्र भेजने के लिये भी बहुत उद्योग किया था। इसके लिये अनेक सज्जनों का पत्र भी लिखे थे जो उनके पत्र व्यवहार में छप चुके हैं। पण्डित देवेन्द्रनाथ संगुहीत जीवनचरित्र पृष्ठ ६७५ से विदित होता है कि इस प्रार्थनापत्र पर



उदयपुर के महाराणा श्री सज्जनसिंह, महाराज जोधपुर<sup>१</sup> और बूंदी ने भी हस्ताक्षर कर दिये थे। यह महान् उद्योग आर्यावर्तीय लोगों के अनुसाह तथा महर्षि के प्रकाल में काल-कवलित हो जाने से अधूरा ही रह गया। इस प्रयत्न के साथ-साथ इस कार्य को स्थायी बनाने के उद्देश्य से ऋषि ने एक 'गोकर्णानिधि' नामक ग्रन्थ भी लिखा।

'गोकर्णानिधि' में दो भाग हैं। प्रथम भाग में गौ आदि पशुओं को सा-कर खाने की अपेक्षा उनकी रक्षा करके उनके घी-दूध द्वारा अत्यधिक मनुष्यों को लाभ पहुंचाना है, यह बात गणित द्वारा स्पष्टतया दर्शाई है। और मांसाहार के अवगुणों तथा निरामिष भोजन के महत्त्व का भी वर्णन किया है। दूसरे भाग में गोरक्षार्थ स्थापित होनेवाली सभाओं के नियमोप-नियमों का उल्लेख है।

ऋषि के १२ जनवरी सन् १८८१ ई० के पत्र से ज्ञात होता है कि उन्होंने आगरा में एक 'गोरक्षिणी-सभा' स्थापित की थी, और उसके नियमोपनियम भी बनाये थे। देखो—पत्रव्यवहार पृष्ठ २६६। सम्भव है यही नियमोपनियम 'गोकर्णानिधि' के अन्त में छपे होंगे।

१. महाराणा सज्जनसिंह ने गौ आदि उपयोगी पशुओं की हत्या बन्द करने के विषय में जोधपुर नरेश महाराजा जसवन्तसिंह को पत्र लिखकर राय ली थी। महाराजा जसवन्तसिंह ने इस महत्त्वपूर्ण पत्र का उत्तर संवत् १९३८ पौष बदि ५ मंगलवार (सन् १८७६ ता० ५ दिसम्बर) को इस प्रकार दिया—

"म्हारी प्रजा १४,६१,१५६ हिन्दू ने, १,३७,११९ मुसलमान यां तीन पशु (गाय, बैल और भैंस) नहीं मारिया जावण रा प्रबन्ध में खुशी है, और मैं पिण रजामन्द हां। संवत् १९३९ पौष बदि ५।

खास मुहर

दस्तखत—राजराजेश्वर महाराजाधिराज,  
जसवन्तसिंह, मारवाड़, जोधपुर।

जोधपुर नरेश का उक्त पत्र हमारे मित्र जोधपुर निवासी श्री ठाकुर जगदीशसिंह जी गहलोत ने अपने "राजपूताने का इतिहास" नामक ग्रन्थ के प्रथम भाग के पृष्ठ २८७ पर उद्धृत किया है। श्रीमान् गहलोत जी ने इसकी एक प्रतिलिपि जोधपुर से मुझे भी भेजी थी।



## रचना-काल

इस पुस्तक का रचनाकाल ग्रन्थ के अन्त में इस प्रकार लिखा है—

“मुनिरामाङ्कचन्द्रेऽब्दे तपस्यस्यासिते दले ।  
दशम्यां गुरुवारेऽलंकृतोऽयं कामधेनुपः ॥”

अर्थात् संवत् १९३७ फाल्गुन वदि १० गुरुवार के दिन यह ग्रन्थ बनकर पूर्ण हुआ ।

जीवन-चरित्रानुसार स्वामी जी संवत् १९३७ वि० अग्रहन कृष्णा १० या ११ से फाल्गुन सुदी १० (२७ या २८ नवम्बर १८८० से १० मार्च ८१) तक आगरा में रहे थे । अतः यह ग्रन्थ आगरा में ही रचा गया । पण्डित देवेन्द्रनाथ संगृहीत जीवनचरित्र पृष्ठ ६३० से विदित होता है कि यह ग्रन्थ छप कर आगरे में ही स्वामीजी के पास पहुँच गया था । उनका लेख इस प्रकार है—

“स्वामीजी ने आगरे में ‘गोकर्णानिधि’ नामक पुस्तक रची थी, और वह छप कर आगरे में ही स्वामीजी के पास आई थी । रामरतन नामक एक पुजारी ने उद्योग करके उसकी ६७) रु० की प्रतियाँ बेची थीं ।”

ऋषि के ज्येष्ठ सुदि १ संवत् १९३८ के पत्र से भी ज्ञात होता है कि ‘गोकर्णानिधि’ छप कर आगरे में ही उनके पास पहुँच गई थी । देखो—  
पत्रव्यवहार पृष्ठ २९१ ।

इन दोनों लेखों से प्रतीत होता है कि पुस्तक लिखकर समाप्त करने के बाद छपने के लिये काशी भोजना, उसका छपना, सिलाई होना, और ऋषि के पास आगरा वापस पहुँचना, ये सब कार्य अधिक से अधिक १५ दिनों के मध्य में ही सम्पन्न हुए । क्योंकि पुस्तक लिखकर समाप्त करने के अनन्तर ऋषि आगरा में केवल १५ दिन ही ठहरे थे ।

## द्वितीय संस्करण

पण्डित भीमसेन के ऋषि के नाम लिखे हुए पत्रों से विदित होता है कि ‘गोकर्णानिधि’ का प्रथम संस्करण अति शीघ्र समाप्त हो गया था । और एक वर्ष के भीतर ही उसका दूसरा संस्करण प्रकाशित करना पड़ा । पुस्तक की इतनी बिक्री का मुख्य कारण ऋषि द्वारा उठाया हुआ गोरक्षा आन्दोलन था ।



४ मई १८८२ ई० के भीमसेन के पत्र के अन्त में दयाराम प्रबन्धक वैदिक यन्त्रालय (प्रयाग) ने लिखा है—

“..... मासिक वेदभाष्य का अङ्क, और गोकर्णानिधि जो नई छपी है, वह .. भेजा है।”

म० मुंशीराम संगृहीत पत्रव्यवहार पृष्ठ ४७।

इससे विदित होता है कि ‘गोकर्णानिधि’ का द्वितीय संस्करण अप्रैल सन् १८८२ में छप कर तैयार हुआ होगा।

### अंग्रेजी अनुवाद

महर्षि गोरक्षा-ग्रान्दोल की सफलता के लिये इस पुस्तक का अंग्रेजी अनुवाद कराकर राज्याधिकारियों के पास इंग्लैण्ड भी भेजना चाहते थे। अतएव उन्होंने इसके अंग्रेजी अनुवाद के लिये लाला मूलराज एम० ए० को कई पत्र लिखे। उन्होंने इसका अंग्रेजी अनुवाद करना स्वीकार भी कर लिया, परन्तु चिरकाल तक करके नहीं दिया। इस विषय में लाला मूलराज जी के नाम लिखे हुए पत्र संवत् २६३, ३०५, ३०६, ३३५ देखने योग्य हैं। पत्र संख्या ३३५ में ऋषि लिखते हैं—

“बड़े भारी शोक की बात है, आपने अब तक (लगभग १५ महीनों में) ‘गोकर्णानिधि’ की अंग्रेजी नहीं की। हमें निराश होकर यहां बम्बई में और लोगों से अंग्रेजी बनवानी पड़ी। अब आप इसमें कुछ मत बनाना।” पत्रव्यवहार पृ० ३२६।

‘गोकर्णानिधि’ के इस अंग्रेजी अनुवाद को प्रकाशित करने के सम्बन्ध में लाला सेत्रकलाल कृष्णदास मन्त्री आर्यसमाज बम्बई ने स्वामीजी को २० जनवरी सन् १८८३ को इस प्रकार लिखा था—

“गोकर्णानिधि का जो अंग्रेजी भाषान्तर हुआ है, सो हमारा छपवाने का निश्चय है। परन्तु लाहौर में जो ‘आर्य’ नामक मासिकपत्र प्रकाशित होता है, उसी में छपवाकर फिर उसी का पुस्तक बनवाके छपवा देना, कि जिससे यह पुस्तक के ऊपर कोई विरुद्ध वा पुष्टि में लिखे, वह भी उसी के साथ ही विवेचन होके छप सके। इस विषय में आपका क्या अभिप्राय है, सो कृपा करके लिख भेजना।”

म० मुंशीराम संगृहीत पत्रव्यवहार पृष्ठ २७३।



महर्षि के द्वारा करवाया हुआ 'गोकरुणानिधि' का अंग्रेजी अनुवाद उस समय प्रकाशित हुआ या नहीं, यह हमें ज्ञात न हो सका ।

### लाला मूलराज के अनुवाद न करने का कारण

जब लाला मूलराज ने 'गोकरुणानिधि' का अंग्रेजी अनुवाद १५ मास तक करके न दिया, तब अन्त में निराश होकर स्वामीजी ने उसका अंग्रेजी अनुवाद बम्बई में अन्य व्यक्ति से करवाया, यह हम ऊपर लिख चुके हैं । 'गोकरुणानिधि' जैसे अत्यन्त छोटे ग्रन्थ के अनुवाद के लिये १५ मास तक उन्हें समय ही नहीं मिला, यह हमारी समझ में नहीं आता ।

### लाला मूलराज का मांसभक्षण और उसको छिपाना

हम समझते हैं कि लाला मूलराज प्रारम्भ से ही मांसभक्षण के पक्षपाती रहे। — अतएव उन्होंने 'गोकरुणानिधि' जैसे ग्रन्थ का, जो उनके विचारों से विरुद्ध था, जान बूझकर अंग्रेजी अनुवाद नहीं किया । और १५ मास तक स्वामीजी महाराज को अंग्रेजी अनुवाद करने का विश्वास दिलाते रहे । लाला मूलराज जी के अनुगामी प्रायः कहा और लिखा करते हैं कि लाला मूलराज जी के मांसभक्षण-विषयक विचारों का स्वामी दयानन्द को ज्ञान था । और उन्होंने जानते हुए लाला मूलराज को आर्यसमाज, और परोपकारिणी-सभा का सभासद् बनाया था । हमारी सम्मति में यह कथन सर्वथा असत्य है । हमारा दृढ़ विश्वास है कि लाला मूलराज अपने मांसभक्षण को अन्त तक स्वामी जी महाराज से छिपाते रहे । इसका प्रत्यक्ष प्रमाण श्रीमती परोपकारिणी-सभा की वह प्राथमिक कार्यवाही है, जो अजमेर के 'देशहितैषी' नामक मासिकपत्र खण्ड १ अंक १० माघ संवत् १९४० वि० में छपी है । वहां का लेख इस प्रकार है —

“पश्चात् श्रीयुत रावबहादुर गोपालराव हरिदेशमुख जी ने निम्नलिखित स्वामीजी का सिद्धान्त सुनाया, और कहा कि इस समय दूर-दूर के स्थानों के आर्यगण उपस्थित हैं । सब कोई जान लें कि स्वामी जी का सिद्धान्त क्या था ? जहां तक हो सके, उसी के अनुसार वर्तव करें । मन्त्रसंहिता वेद हैं, ब्राह्मण इत्यादि वेद नहीं । वेदों में किसी जन्तु के मारने की आज्ञा नहीं । वेदों में सब सत्य विद्याओं का मूल है । पाषाण-



मूर्तिपूजन वेदविरुद्ध है। ईश्वर निराकार, सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ सर्वव्यापक, अजर अमर, नित्य, पवित्र इत्यादि है, उसी को उपासना करना योग्य है। जो बात नीति और बुद्धि से विरुद्ध हो, वह धर्म नहीं। वेदों का अधिकार सब वर्णों को है। कर्म और गुणों से वर्ण हैं, वीर्य से नहीं। जहां तक हो सके, वाल विवाह से बचकर ब्रह्मचर्य रखना, वायु की शुद्धि के कारण हवन की आवश्यकता है। मृतकों को भोजन-छादन कदापि नहीं पहुँचना। वेदों की आज्ञा है कि सब मनुष्य देशान्तर और द्वीपान्तर को यात्रा करें। आर्यों को उचित है कि पाठशाला नियत करें, और प्राचीन ग्रन्थों का पठन-पाठन रक्खें। स्वार्थ साधकों ने उनमें यत्र तत्र मिला दिया हो, उसको वेदों की कसौटी से परीक्षा कर उनसे दूर करें। इस पर सब सभासदों के हस्ताक्षर कराये गये और सब ने उत्साहपूर्वक कर दिये।”

इस पर जिन १० व्यक्तियों ने हस्ताक्षर किये, उनमें लाला मूलराज भी हैं। जब इस कार्यवाही में 'वेदों में किसी जन्तु के मारने की आज्ञा नहीं है' स्पष्ट घोषित किया गया, तब मांसभक्षण को वेदविरुद्ध न माननेवाले लाला मूलराज जी को तो इसका अवश्य प्रतिवाद करना चाहिये था, जब तक यह वाक्य लिखा रहे, उस पर हस्ताक्षर नहीं करने चाहिये थे। हस्ताक्षर कर देने से स्पष्ट विदित होता है कि लाला मूलराज में स्वामीजी के सामने तो क्या, उनकी मृत्यु के पश्चात् भी इनकी शीघ्र अपना विचार प्रकट करने की शक्ति नहीं थी। अत एव उन्होंने बिना ननुनच किये उस पर हस्ताक्षर कर दिये।

जिस सत्यप्रिय दयानन्द ने बम्बई के बाबू हरिश्चन्द्र और मुरादाबाद के मुंशी इन्द्रमणि जैसे प्रसिद्ध व्यक्तियों को धर्मविरुद्ध आचरण करने पर आर्यसमाज से पृथक् कर दिया, थियोसोफिकल सोसाइटी जैसी संस्थाओं से नाता तोड़ लिया, और महाराणा उदयपुर और महाराज कश्मीर आदि की मूर्तिपूजा-विषयक प्रार्थना को ठुकरा दिया, उसने लाला मूलराज को मांसभक्षी जानते हुये भी आर्यसमाज और परोपकारिणी सभा का सभासद् बनाये रक्खा, ऐसा भला कौन बुद्धिमान मान सकता है ?

ऐसी अवस्था में अपने वेदविरुद्ध मांसभक्षण को उचित सिद्ध करने के लिये परम सत्यवक्ता आप्त महर्षि पर इस प्रकार का झूठा आरोप लगाना महानीचता का कार्य है।



जो व्यक्ति इस विषय में अधिक जानना चाहते हों, उन्हें पं० आत्मारामजी द्वारा लिखित 'आर्यधर्म-जीवन' का 'उपोद्घात' पृ० (१२४-१२७), म० हंसराजजी कृत 'दशप्रश्नी की समीक्षा', और दी० व० हरविलासजी शारदा विरचित 'वर्क्स आफ दी महर्षि दयानन्द एण्ड परोपकारिणी सभा' नामक पुस्तकें देखनी चाहियें।

### १३—आर्योद्देश्यरत्नमाला

महर्षि दयानन्द ने आर्यों के १०० मन्त्रव्यों का एक संग्रह 'आर्योद्देश्यरत्नमाला' के नाम से प्रकाशित किया। यह ग्रन्थ यद्यपि आकार में बहुत छोटा है, परन्तु है बड़ा महत्त्वपूर्ण। सम्भव है प्रचारकाल में महर्षि को एक ऐसे ग्रन्थ की आवश्यकता का अनुभव हुआ होगा, जिसमें संक्षेप से आर्यों के मन्त्रव्यों का संग्रह हो। इस ग्रन्थ का रचना काल पुस्तक के अन्त में इस प्रकार लिखा है—

“वेदरामाङ्गचन्द्रेऽब्दे विक्रमार्कस्य भूपतेः।

नभस्ये सितसप्तम्यां सौम्ये पूर्वोत्तमगात्रियम् ॥”

“श्रीयुत महाराज विक्रमादित्यजी के १९३४ संवत् में श्रावण महीने के शुक्लपक्ष ७ सप्तमी बुधवार के दिन उक्त स्वामीजी ने आर्यभाषा में सब मनुष्यों के हितार्थ यह आर्योद्देश्यरत्नमाला पुस्तक प्रकाशित किया।”

संस्कृत शब्दों में स्पष्ट है कि श्रावण शुक्ला सप्तमी संवत् १९३४ का पुस्तक की रचना समाप्त हुई थी। किन्तु हिन्दी शब्दों में “प्रकाशित” शब्द से यह सन्देह होता है कि श्रावण शुक्ला ७ संवत् १९३४ ( १५ अगस्त सन् १८७७ ई० ) को पुस्तक छप कर प्रकाशित हो गई थी। यहां ‘प्रकाशित’ शब्द से प्रेम में छपकर प्रकाशित होने का अर्थ लेना कदापि ठीक नहीं है। क्योंकि श्री स्वामीजी महाराज के सोमवार भाद्र शुक्ला ३ संवत् १९३४ वि० ( १० सितम्बर सन् १८७७ ई० ) के एक पत्र में इस पुस्तक के विषय में निम्न प्रकार लिखा है—

‘१०० नियम का पुस्तक (आर्योद्देश्यरत्नमाला) आज-कल छपके जित्द बन्धके तैयार हो जावेगा।”

पत्रव्यवहार पृष्ठ ६४।



अतः यह स्पष्ट है कि 'आर्योद्देश्यरत्नमाला' के उपर्युक्त वाक्य में 'प्रकाशित किया' का अर्थ 'लिखकर तैयार किया' इतना ही है।

श्री पं० देवेन्द्रनाथजी द्वारा संगृहीत जीवन-चरित्र के पृष्ठ ४३३ पर 'आर्योद्देश्यरत्नमाला' का लेखन-काल श्रावण शुक्ला ६ लिखा है, वह ठीक नहीं है। वास्तव में श्रावण शुक्ला ७ ही ठीक है।

इस पुस्तक का प्रथम संस्करण अमृतसर के चश्मनूर छापेवाने में लीथो अर्थात् पत्थर द्वारा ( जिस प्रकार प्रायः उर्दू की पुस्तकें छपा करी हैं ) छपा था। पुस्तक साढ़े छः और सवा पांच इञ्च के आकार के ३२ पृष्ठों में छपी है।

## १४ चतुर्वेद-विषय-सूची

ऋषि दयानन्द ने वेदभाष्य रचने से पूर्व चारों वेदों का गहन आलोडन करके एक विषयसूची तैयार की थी। जिसमें प्रत्येक वर्ग दशति सूक्त वा अध्यायस्य मन्त्रों के विषयों का क्रमशः संकलन किया था। यही संकलन 'चतुर्वेद विषय-सूची' के नाम से ऋषि दयानन्द के हस्तलिखित ग्रन्थों में विद्यमान है। यह 'चतुर्वेद-विषय-सूची' उनके करिष्यमाण चारों वेदों के भाष्यों का प्रारूप है।

यद्यपि यह चतुर्वेद विषय-सूची वेदविषयों का संग्रहमात्र है, और वेद का भाष्य करते समय ऋषि दयानन्द ने इस प्रारूप में बहुत परिवर्तन भी कर दिया है, अतः यह विषय-सूची वेदभाष्य के समान प्रमाणकोटि की नहीं है, फिर भी ऋग्वेद के शेष अंश, सामवेद और अथर्ववेद के तात्पर्यज्ञान में यह पर्याप्त सहायक हो सकती है।

हमारा तो अपना विचार है कि यदि यह 'चतुर्वेद-विषय-सूची' श्री पं० शिवशंकर काव्यतीर्थ, श्री पं० आर्यमुनि जी, श्री स्वामी तुलसीराम जी, श्री पं० क्षेमकरणदास जी त्रिवेदी, और श्री पं० जयदेवजी के सम्मुख उपस्थित होनी, तो वे इसका पूरा लाभ उठाते, और उनके वेदभाष्य कहीं अधिक उत्कृष्ट एवं प्रामाणिक होते। आर्यसमाज के इन वेदभाष्यकारों का यह दुर्भाग्य है कि इतना उपयोगी ग्रन्थ भी परोपकारिणी सभा के अधिकारियों की अनवधानता के कारण चिरकाल तफ अमूर्तित रहा।

हमने इसकी प्रतिलिपि सन् १९६५ के नवम्बर-दिसम्बर महीने में की थी। इन दिनों लगभग डेढ़ मास अजमेर में रहकर गुरुवर्य श्री पं० ब्रह्मदास



जी जिज्ञासु ने ऋषि दयानन्द के हस्तलिखित ग्रन्थों, जो कि गढ़बड़ अवस्था में थे, के एक-एक पत्रे को ढूँढ-ढूँढ कर प्रतिग्रन्थ यथास्थान रखकर व्यवस्थित किया। इन दिनों उनके साथ मैं और मेरे गुरुभाई पं० धर्मदेव जी निरुक्ताचार्य भी थे। इसी समय हमें यह सूची उपलब्ध हुई थी।

पूज्य गुरुवर्य ने सब हस्तलिखित ग्रन्थों को व्यवस्थित करके उनकी पूरी स्थिति का आकलन भी अपनी जानकारी के लिये तैयार किया था। उसी के आधार पर मैंने सन् १९५० में 'ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों का इतिहास' नामक ग्रन्थ के प्रथम परिशिष्ट (पृष्ठ ६-२४) में हस्तलेखों का विवरण दिया है। यह विवरण ठीक उसी प्रकार का है, जैसे प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थों के विस्तृत सूची-पत्रों में आधुनिक ढंग से दिया जाता है।

यह ग्रन्थ सफेद फुलपत्र कागज पर लिखा हुआ है। इसमें ५६ पृष्ठ हैं। इस सूची के मुखपृष्ठ पर लाल स्याही से निम्न पाठ लिखा हुआ उपलब्ध होता है—

“एकं कस्मिन् शतायुपरिमितकालः। शतावध्यागन्तुको मृत्युः।  
नाकाले म्रियते कश्चित्।”

यह लेख यदि ऋषि दयानन्द का ही होवे, तो यह मानना पड़ेगा कि ऋषि दयानन्द अकाल-मृत्यु नहीं मानते थे। जहाँ तक ऋषि दयानन्द के हस्ताक्षरों का हमें ज्ञान है, वहाँ तक हमें यह लेख ऋषि दयानन्द के स्वहस्त का ही प्रतीत होता है।

इस विषय-सूची में ऋग्वेद सामवेद अथर्ववेद और यजुर्वेद क्रम से विषय-सूची लिखी हुई है। सम्भवतः यजुर्वेद के साथ कर्मकाण्ड की घनिष्ठता के कारण ऋषि ने इस पर सब से अन्त में विचार किया हो। अथवा वे इसी क्रम से वेदों का भाष्य रचना चाहते हों। हमें पं० गोपालराव हरिदेशमुख के नाम ६ जून १८७५ को लिखे गये ऋषि दयानन्द के पत्र से यह भी ज्ञान होता है कि ऋषि दयानन्द ने ऋग्वेदभाष्य को आरम्भ करने के ३७ दिन पश्चात् ही पं० गोपालराव हरिदेशमुख की सम्मति से यजुर्वेद का भाष्य आरम्भ किया था। (द्रष्टव्य—पत्रव्यवहार पृष्ठ ५०,

१. सन्देह का स्वल्प सा कारण यह है कि ऋषि दयानन्द के पास एक ऐसा लेखक भी था, जिसका हस्तलेख ऋषि दयानन्द के लेख से बहुत मिलता था।



पं० ४, ५; भाषानुवाद पृष्ठ ५१, पं० ७, ८) । अतः वे वेदभाष्य का क्रम क्या रखना चाहते थे, यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता है ।

इस 'चतुर्वेद-विषय-सूची' का उल्लेख परोपकारिणी सभा के तात्कालिक मन्त्री पं० मोहनलाल विष्णुलाल पाण्ड्या ने संवत् १९४२ के वार्षिक अधिवेशन में जो 'आवेदनपत्र' प्रस्तुत किया था, उसमें मिलता है । उसमें लिखा है—

“वेष्टन नं० १६ दयानन्द स्वामी सरस्वती कृत सर्व-सूचीपत्र क्रमाङ्क ११८ चारों वेदों की अकारादि क्रम से सूची १ लिखी ।”

इसी वेष्टन में क्रमाङ्क १३१ पर लिखा है—

“ऋग्वेद के विषयों की याद के लिये सूची २ लिखी ।”

इसके पश्चात् वैदिक यन्त्रालय की सन् १८९१, ९२, ९३ की सम्मिलित रिपोर्ट के अन्त में पृष्ठ ११-१२ पर स्वामी दयानन्द कृत ग्रन्थों के हस्तलेखों का उल्लेख मिलता है<sup>२</sup> । उसमें भी 'चतुर्वेद-विषय-सूची' १, और 'ऋग्वेदविषय-स्मरणार्थ-सूची' १ का निर्देश मिलता है ।

इन दोनों विवरणों में निर्दिष्ट 'ऋग्वेदविषय-स्मरणार्थ-सूची' हमें सन् १९३५ में उपलब्ध नहीं हुई । सम्भव है ऋषि दयानन्द के कतिपय अन्य हस्तलेखों के साथ यह नष्ट हो गई होगी ।

इस ग्रन्थ के सम्पादन के सम्बन्ध में विशेष सम्पादकीय में देखें ।

चतुर्वेद-विषयसूची का रचना-काल—हमने अपने सम्पादकीय (पृष्ठ २३, पं० १६-१७) में इस ग्रन्थ की रचना का काल सामान्यरूप से वि० संवत् १९३३ लिखा है । यह कल्पना इस आधार पर की थी कि संवत् १९३३ के भाद्र मास में ऋषि दयानन्द ने 'ऋग्वेदविभाष्यभूमिका' की रचना की थी । उससे पूर्व इस विषयसूची का विद्यमान होना आवश्यक है । परन्तु अब हम इस निश्चय पर पहुँचे हैं कि ऋषि दयानन्द ने इस सूची का निर्माण

१. इस 'आवेदनपत्र' का जो अंश ऋषि दयानन्द के हस्तलेखों से संबन्ध रखता है, उस की पूरी प्रतिलिपि हमारे 'ऋ. द. के ग्रन्थों का इतिहास' ग्रन्थ में परिशिष्ट नं० १, पृष्ठ २-३ पर देखें ।

२. वैदिक यन्त्रालय की इस रिपोर्ट में जो अंश ऋ. द. के हस्तलेखों के साथ संबन्ध रखता है, उस की प्रतिलिपि 'ऋ. द. के ग्रन्थों का इतिहास' ग्रन्थ में परिशिष्ट १, पृष्ठ ३, ४ पर देखें ।



आर्याभिविनय सत्यार्थप्रकाश और संस्कारविधि के प्रथम संस्करणों के लिखने से पूर्व कर लिया था। इसमें निम्न कारण हैं—

१. इन ग्रन्थों में जो विविध विषयों की चारों वेदों की महती मन्त्र-राशि उद्धृत है, वह इस बात का प्रमाण है कि इन ग्रन्थों के लेखन से पूर्व लेखक ने चारों वेदों के विविध विषयों को दृष्टि में रखकर उनका कुछ न कुछ संग्रह अवश्य कर लिया था। यही संग्रह इस विषयसूची का प्रारूप रहा होगा।

२. 'आर्याभिविनय' पृष्ठ ११७ ( यही संग्रह ) में किंस्विदासीत्० मन्त्र के व्याख्यान के आरम्भ में लिखा है—प्रश्नोत्तरविद्या। ऐसा ही निर्देश पृष्ठ १२० की प्रथम पङ्क्ति (संशोधित पाठ) में मिलता है। प्रस्तुत विषय-सूची में अनेक स्थानों पर प्रश्नोत्तरपदार्थविद्या का उल्लेख मिलता है।

उक्त साम्य इस बात का प्रमाण है कि प्रस्तुत विषयसूची का निर्माण 'आर्याभिविनय' के रचनाकाल चैत्र शुक्ला १० विक्रम संवत् १९३२ से पूर्व हो गया था।

पाठ-शुद्धि—हमारे विचार में 'आर्याभिविनय' पृष्ठ ११७ तथा १२० पर जो प्रश्नोत्तरविद्या पाठ है, वहां चतुर्वेद विषयसूची में बहुत्र उल्लिखित 'प्रश्नोत्तरपदार्थविद्या' पाठ के अनुरूप पाठ होना चाहिये। प्रश्नोत्तर-पदार्थविद्या का अर्थ है प्रश्नोत्तररूप से पदार्थ की विद्या। यही तात्पर्य 'आर्याभिविनय' के उक्त स्थलों पर संबद्ध होता है।

## विशेष

ऋषि दयानन्द के हस्तलेखों की जो सामग्री परोपकारिणी-सभा के संग्रह में इस समय तक सुरक्षित है, उसमें अभी भी बहुतसी सामग्री वा पुस्तकें ऐसी हैं, जिनका प्रकाशन अभी तक सम्भव नहीं हो सका। हमारा तो मन्तव्य है कि न केवल ऋषि के बनाये या बनवाये ग्रन्थ, वा अन्य अप्रकाशित सामग्री (सूत्रियां आदि) ही छपनी चाहियें, अपितु जिन मुद्रित ग्रन्थों का उपयोग ऋषि दयानन्द ने अपने ग्रन्थों के लेखन में किया था, उनके मार्जन-स्थान (=हाशिये) पर कहीं-कहीं उनके हाथ के संकेत वा शुद्धिकरण किया गया है, उनका भी संकलन प्रकाशित करना चाहिये। पर इस प्रकार के कार्य की उपयोगिता को परोपकारिणी-सभा के सदस्य नहीं समझते। अतः वह सब सामग्री जो प्रकाश में आनी चाहिये, कुछ समय पश्चात् काल के महागर्त में विलीन हो जायेगी।

—युधिष्ठिर मीमांसक



## दयानन्दीय-लघुग्रन्थ-संग्रह

### विषय-सूची

१— स्वामी दयानन्द सरस्वती का जन्म-चरित्र	१
जन्म स्थानादि का पूर्व परिचय क्यों नहीं दिया	३
जन्म स्थान वा परिवार का निर्देश तथा अक्षराम्यास	४
शिवरात्रि का व्रत वा शिवपूजन	६
पाषाण मूर्ति महादेव नहीं	६
भाई बहनों का निर्देश, अनुजा बहन की मृत्यु	८
संसार से विरक्ति, चाचा की मृत्यु	९
विवाह न करने का संकल्प, विवाह की तैयारी, गृह-त्याग	१०
शुद्ध चेतन्य ब्रह्मचारी नाम	१२
परिचित वैरागी द्वारा घर पर सन्देश भेजना	१२
पिता का सिद्धपुर पहुँच कर पकड़ना वा पहरे से भागना	१३
'अहं ब्रह्मास्मि' का निश्चय	१४
परमानन्द सरस्वती से सन्यास-ग्रहण	१५
दयानन्द सरस्वती नाम रखना	१६
योग सीखने के लिये भ्रमण	१६
दाणोदकन्याली से हृषीकेश तक	१६
उत्तराखण्ड की यात्रा	१७
तन्त्रादि ग्रन्थों का अवलोकन	१७
श्रीनगर केदारघाट रुद्रप्रयाग त्रियुगी-नारायण	१८
तुङ्गनाथ की चोटी पर चढ़ाई	१९
ऊखीमठ गुप्तकाशी	२०
बद्रीनारायण	२१
अलखनन्दा स्रोत की यात्रा	२२
उत्तराखण्ड से वापसी	२४
काशीपुर मुरादाबाद सम्भल वा गङ्गा तट पर विचरण	२५
शरीर रचना को जानने के लिये शव-परीक्षा	२६



फर्रुखाबाद कानपुर प्रयाग विन्ध्याचल	२७
भाग पीने की आदत	२७
भाग के नशे में स्वप्न देखना	२८
नर्मदा स्रोत की ओर	२९
नर्मदा तट-भ्रमण	३३
मथुरा आगमन, विरजानन्द सरस्वती से अध्ययन	३३
आगरा गवालियर करौली जयपुर	३४
पुष्कर अजमेर मथुरा	३५
हरिद्वार में 'पाखण्ड-मर्दन' ध्वजा फहराना	३५
सर्वस्व त्याग, कौपीन मात्र-धारण, गङ्गा के किनारे परिभ्रमण	३५
काशी में मूर्तिपूजा पर शास्त्रार्थ	३६
पाठशालाएं स्थापित करना	३६
बम्बई जाना, आर्यसमाज की स्थापना	३६
अहमदाबाद राजकोट पूना	३७
आर्य धर्म के प्रचार का संकल्प	३७
२—आर्याभिवनय	३९
उपक्रमणिका	४१
आर्याभिवनय रचने का प्रयोजन	४५
प्रथम प्रकाश	४८
द्वितीय प्रकाश	८७
३—ऋग्वेदभाष्य (प्रथम नमूने का अङ्क)	१३५
ऋग्वेदभाष्य (ऋ. मं. १, सू. १, मं. १—९; सू. २, मं. १)	१३७
परिशिष्ट	
१—वेदभाष्यविषयक विज्ञापन	१६७
२—ऋषि दयानन्द का विशिष्ट पत्र	१७६
३—वेदभाष्य सम्बन्धी विशिष्ट पत्र	१८२
४—भ्रान्ति-निवारण	१९१
भूमिका	१९३
भ्रान्ति-निवारण	१९६
वेदभाष्य से सूर्य सा प्रकाश होगा	१९७
तीन हजार ग्रन्थों का प्रामाण्य स्वीकार	१९८



'उपचक्र' पर आक्षेप का उत्तर	२००
अग्नि शब्द का ईश्वर अर्थ में प्रमाण	२०२
शब्द साधुत्व व्याकरण का विषय	२११
निरुक्त का प्रयोजन धात्वर्थ के निर्देश से अर्थ प्रतीति	२११
वेदाङ्ग उपाङ्ग ब्राह्मण ग्रन्थों से वेदार्थ ज्ञान	२१२
'पुरोहित' शब्द पर विचार	२२३
निरुक्त में अर्थ की निरुक्तिमात्र है, शब्द की सिद्धि नहीं	२३६
'ऋत्विक्' शब्द विचार	२३७
'हु दानादानयोः, आदाने चेत्येके' पर विचार	२३७
<b>५—भ्रमोच्छेदन</b>	२४१
भ्रमोच्छेदन अर्थात् राजा शिवप्रसाद के 'निवेदन' का खण्डन	२४३
परिशिष्ट	
१—शिवप्रसाद के प्रथम पत्र का उत्तर	२६८
द्वितीय पत्र का उत्तर	२७०
२—अनुभ्रमोच्छेदन (भीमसेन कृत) भूमिका	२७२
अनुभ्रमोच्छेदन (द्वितीय निवेदन का खण्डन)	२७३
इतिहासतिमिरनाशक का खण्डन	२८६
<b>६—पञ्चमहायज्ञविधि</b>	२९३
सन्ध्योपासनादिपञ्चमहायज्ञविधि	२९५
यज्ञों के नाम, नित्यकर्मों के फल	२९५
<b>१. सन्ध्योपासन</b>	२९५
सन्ध्या शब्दार्थ, शरीर-शुद्धि, मार्जन	२९५
प्राणायाम	२९६
शिखा-बन्धन	२९६
आचमन-मन्त्र	२९७
आचमन का प्रयोजन	२९७, २९८
इन्द्रियस्पर्श-मन्त्र	२९८
मार्जन-मन्त्र वा प्राणायाम-मन्त्र	२९९
अघमर्षण-मन्त्र	३००
मनसापरिक्रमा-मन्त्र	३०४



उपस्थान-मन्त्र	३०८
गुरुमन्त्र (गायत्री-मन्त्र)	३१२
समर्पण	३१६
नमस्कार-मन्त्र	३१६
अग्निहोत्र-सन्ध्योपासन में प्रमाण	३१७
२. अग्निहोत्र=देवयज्ञ	३२०
होमकरण-मन्त्र	३२१
अग्निहोत्र का प्रयोजन	३२३, ३२५
३. पितृयज्ञ	३२६
पितृयज्ञ के दो भेद वा प्रमाण	३२६
ऋषियों में प्रमाण	३२८
पितरों में प्रमाण	३२६
पितरों का परिगणन	३३०
४. बलिवैश्वदेव	३३४
बलिवैश्वदेव में प्रमाण	३३५
होम-मन्त्र	३३६
बलिप्रदान-मन्त्र	३३८
छ भागों का निर्देश	३४०
५. अतिथियज्ञ	३४१
अतिथियज्ञ में प्रमाण	३४१
परिशिष्ट (सं. १६३१ के संस्करण का विशिष्ट अंश)	३४४
प्रार्थना मन्त्र (प्रातः)	३४४
” ” (सायम्)	३४५
पितृयज्ञ—तर्पणविधि	३४६
देव-ऋषि-पितृ-तर्पण	३४६
पिता-पितामह-प्रपितामह का अर्थ	३४८
आद्धार्ह द्विजों का स्वरूप	३४८
बलिवैश्वदेवविधि	३४९
आहुति के मन्त्र	३४९
बलिप्रदान-मन्त्र	३५०



छ भाग रखने का विधान	३५२
बलिवंशदेव का फल	३५२
अतिथि-पूजन	३५२
अतिथि विषयक मनुस्मृति के वचन	३५२
अप्रिय पथ्य वचन का वक्ता दुर्लभ	३५५
गृहस्थ की परान्न भोजनेच्छा की निन्दा	३५५
सायंकाल को प्राप्त अतिथि को निषेध न करें	३५६
जो वस्तु अतिथि को न दी, उसे स्वयं न खावे	३५६
अतिथि की यथायोग्य सेवा	३५६
अतिथि से पूर्व भोजन के अधिकारी	३५७
अतिथि और भृत्यों को खिलाकर पति-पत्नी भोजन करें	३५७
केवल स्वयं भोक्ता पापी होता है	३५७
ऋग्वेद परिशिष्टस्थ लक्ष्मीसूक्त व्याख्या सहित	३५८

#### ७ — वेदान्ति-ध्वान्त-निवारण ३६५

चार महावाक्य वा 'प्रज्ञानं ब्रह्म' वाक्यार्थ-विचार	३६७
'अहं ब्रह्मास्मि' वाक्यार्थ विचार	३६८
'तत्त्वमसि' वाक्यार्थ विचार	३७२
तत्सहचरण वा तत्सहचार उपाधि से अर्थ	३७२
तात्स्थ्य उपाधि से अर्थ	३७२
सहचरणादि दश उपाधियां	३७३
'अयमात्मा ब्रह्म' वाक्यार्थ-विचार, जीव और ब्रह्म में भेद	३७४
जगन्मिथ्यात्व विचार	३७५
ब्रह्म में जीव के लयत्व पर विचार	३७६
ब्रह्म के अनुप्रवेश पर विचार	३८०
जीव और ब्रह्म की भिन्नता में प्रमाण	३८०
पञ्चीकरण कल्पना का मिथ्यात्व, त्रिवृत्करण कल्पना	३८३

#### ८ — वेदविरुद्धमत-खण्डनम् ३८५

वल्लभादिमतस्थों के प्रति प्रश्न	३८७
'वल्लभ कौन है ? क्या अर्थ है ? आचार्यत्व क्या है ?	३८७
गुरुत्व क्या है ?	३८९
आप लोग वेदमतानुयायी हैं वा वेद विरोधी ?	३९१



क्या आप वैष्णव हैं ?	३६२
विष्णु कैसा है ?	३६३
कण्ठी तिलक धारण और मूर्ति-पूजा में पुण्य होता है वा पाप ?	३६३
‘प्रतिष्ठा’ से क्या अभिप्राय है ?	३६४
पाषाणादि मूर्तियों के पूजन में पुण्य होता है वा पाप ?	३६६
भावना सत्य है वा मिथ्या ?	३६८
‘प्रतिमा’ शब्द का क्या अर्थ है ?	३६९
‘पुराण’ शब्द से किनका ग्रहण करते हो ?	४००
‘देवालय’ शब्द से किस का ग्रहण करते हो ?	४०२
‘देव’ शब्द से किस का ग्रहण करते हो ?	४०३
‘देवल-देवलक’ शब्दों से किनका ग्रहण करते हो ?	४०४
ईश्वर का जन्म-मरण होता है वा नहीं ?	४०५
ईश्वर साकार है वा निराकार ?	४०६
ईश्वर मायावी है वा नहीं ? तथा ‘माया’ शब्द का क्या अर्थ है ?	४०६
ईश्वर सगुण है वा निर्गुण ?	४०६
मुक्ति कैसी मानते हो ?	४१०
मुक्ति क्या है ?	४११
विष्णुस्वामी और वल्लभ-सम्प्रदाय वेद सम्मत हैं वा वेदविरोधी	४११
‘सम्प्रदाह’ शब्द का अर्थ	४१२
‘श्री कृष्णः शरणं मम’ सत्य है वा मिथ्या ?	४१३
उक्त वचन का क्या अर्थ है ?	४१३
‘कृष्ण’ शब्द से किसका ग्रहण करते हो ?	४१५
सिद्धान्तरहस्यादि ग्रन्थों का सोद्धरण खण्डन	४१७
पूजारि-आतिकार-गोसाईं-बाबाजी-बैरागी-दण्डवत्-हिन्दु शब्दों का अर्थ	४२४
शुद्धाद्वैतमार्तण्ड का खण्डन	४२५
वल्लभसम्प्रदाय के प्रधान पुरुषों का चरित्र	४२६
वल्लभ की महाप्रभु संज्ञा का खण्डन	४३२
६—शिक्षापत्री-ध्वान्त-निवारणम्	४३३
सहजानन्दादि मतस्थों के प्रति प्रश्न	४३५
सहजानन्द कौन है ? नारायण कौन है ?	४३५
शिक्षापत्री ग्रन्थ का सोद्धरण खण्डन	४३७
‘तीर्थ’ शब्द का अर्थ	४४५



## विषय-सूची

६७

'विशिष्टाद्वैत' शब्द का अर्थ

४५२

'अद्वैत' शब्द का अर्थ

४५३

## १०—भागवत-खण्डनम्

४६३

भागवत पुराण कौनसा है ?

४६५

'श्रीमद्भागवत' का सोद्धरण खण्डन

४६५

वाक्यरचना विषयक दश दोष

४६६

शुक का परीक्षित के प्रति उपदेश बताना अशुद्ध है

४६६

परम गुह्य और विज्ञान-समन्वित कहने में पुनरुक्तता

४६८

'वंश-विस्तारः' में 'विस्तार' का प्रयोग अशुद्ध

४६९

'निगमकल्पतरोगलितं फलम्'० में 'पतित' के स्थान में 'गलित' और

४७०

'शृणुत' के स्थान में 'पिबत' कहना अशुद्ध है

'नेमं विरञ्चिर्न भवो न श्री०' में एक नञ् सार्थक दो नञ् अनर्थक

४७०

ब्राह्मण-निन्दा तथा वेदविहित कर्मों की निन्दा

४७१

व्यास की निन्दा

४७२

शिव की निन्दा; शङ्कर की निन्दा

४७३

गृहस्थों की निन्दा तथा कृष्ण की निन्दा

४७४

कृष्ण-अर्जुन-सुभद्रा की निन्दा

४७५

इन्द्र की निन्दा; अस्सी सहस्र ऋषियों की निन्दा

४७६

ब्रह्मा की निन्दा; भागवत की महाभारत से विरुद्धता

४७६

'वन्दे महापुरुष-चरणारविन्दम्' की श्रुतियों से विरुद्धता

४७७

भागवत में परस्पर विरोध

४७८

श्रीधर टीकाकार का अज्ञान

४८१

चक्रादि से अङ्कन आदि का खण्डन

४८२

पाषाणादि-मूर्तिपूजन का खण्डन

४८३

## परिशिष्ट—

भागवत-खण्डन और सत्यार्थप्रकाश की तुलना

४८५

## ११—व्यवहारभानु

४९१

भूमिका

४९३

'व्यवहारभानु' की रचना का कारण; पण्डित के लक्षण

४९५

मूर्ख के लक्षण तथा खेल चिल्ली का दृष्टान्त

४९७

विद्यार्थियों के दोष

४९९



ब्रह्मचर्य के गुण	५००
शूरवीर के लक्षण; शिक्षा किसको कहते हैं ?	५०१
विद्या और अविद्या किसको कहते हैं ?	५०१
ब्रह्मचारी किस को कहते हैं ?; आचार्य किस को कहते हैं ?	५०२
बालकों को कैसी शिक्षा करें ?	५०२
विद्या-प्राप्ति के चार उपाय	५०३
विद्या-प्राप्ति के चार कर्म	५०४
आचार्य के साथ विद्यार्थी कैसा वर्तव करें और कैसा न करें ?	५०४
आचार्य विद्यार्थियों के साथ कैसा वर्तव करें ?	५०५
हुड़बुड़ा और सज्जन का संवाद	५०६
आचार्य कैसे विद्या-मुशिक्षा का ग्रहण करावे और विद्यार्थी लोग करें	५०७
सत्य-असत्य की परीक्षा के पांच उपाय	५०८
धर्म-अधर्म किसको कहते हैं ?	५१०
जड़बुद्धि और तीव्रबुद्धि किसको कहते हैं	५११
वैरागी और पण्डित का दृष्टान्त	५११
माता-पिता की कैसी आज्ञा नहीं माननी चाहिये ?	५१२
राजा-प्रजा और इष्ट-मित्रों के साथ कैसा वर्तव करें ?	५१४
कन्याओं के विद्याध्ययन और ब्रह्मचर्य का विधान	५१४
विद्या-प्राप्ति का क्रम; बिना पढ़े मनुष्यों की दो प्रकार की गति	५१६
विद्या और अविद्या किसको कहते हैं ?	५१७
न्याय और अन्याय किसको कहते हैं ?	५१७
धर्म और अधर्म किसको कहते हैं ?	५१७
महामूर्ख का दृष्टान्त	५१८
क्षुब्धबुद्धि और शूद्र का संवाद	५१९
'पोप' शब्द का क्या अर्थ है ?	५२०
सत्पुरुष और असत्पुरुष का लक्षण	५२१
पुरुषार्थ किसको कहते हैं, और उसके कितने भेद हैं ?	५२१
तन-मन-धन को किस में लगावें ?	५२२
विवाहित स्त्री-पुरुषों का परस्पर कैसा व्यवहार हो ?	५२२
मनुष्यपन किसको कहते हैं ?	५२३
सदा सत्य व्यवहार करना चाहिये	५२४
लालबुद्धिकड़ का दृष्टान्त	५२४



## विषय-सूची

६६

धर्म और अधर्म के लक्षण	५२६
भूठे ग्राहक और भूठे बजाज का दृष्टान्त	५२७
धार्मिक ग्राहक और बजाज का दृष्टान्त	५२६
सच्चे बजाज और भूठे ग्राहक का दृष्टान्त	५२६
सच्चे ग्राहक और भूठे बजाज का दृष्टान्त	५२६
आत्मा धर्म और अधर्म युक्त किस-किस कर्म से होता है ?	५२६
दृष्टान्त	५३०
क्या सब लोग विद्वान् वा धर्मात्मा हो सकते हैं ?	५३१
मूर्ख राजा का दृष्टान्त	५३१
धार्मिक विद्वान् राजा का दृष्टान्त	५३३
दानाभक्ष और दानाध्यक्ष किसको कहते हैं ?	५३४
राजा किसको कहते हैं ?; प्रजा किसको कहते हैं ?	५३५
अन्धेर नगरी गवर्गण्ड राजा का दृष्टान्त	५३५
१२—गोकुणानिधि	५४३
भूमिका	५४५
ग्रन्थारम्भ; समीक्षा प्रकरण	५४७
एक गौ की रक्षा से कितना लाभ होता है ?	५४७
हिंसक-रक्षक-संवाद	५५१
आठ प्रकार के घातक (= हिंसक)	५५६
मद्यपान-निषेध, प्रमत्त-शान्त-संवाद	५५६
धार्मिक सज्जनों से पशुरक्षा की प्रार्थना	५५७
[गोकुल्यादि-रक्षिणी] सभा के नियम	५६०
उपनियम तथा उद्देश्यादि	५६१
मिश्रित-नियम	५६३
१३—आर्योद्देश्यरत्नमाला	५६६
ईश्वर धर्म आदि १०० शब्दों की व्याख्या	५७१
१४—चतुर्वेद-विषय-सूची	५८३
(१) ऋग्वेद-विषय-सूची	५८५
(२) सामवेद-विषय-सूची	६४२
(३) अथर्ववेद-विषय-सूची	६५६
(४) यजुर्वेद-विषय-सूची	६८४



## १५—परिशिष्ट

(१) परिवर्धन-परिवर्तन-संशोधन	७०७
(२) पारिभाषिक वा परिभाषित विशिष्ट शब्द एवं न्याय तथा कहावतें	७१६
(३) आर्याभिविनय-ऋग्भाष्य (ग्रन्थ) तथा पञ्चमहायज्ञविधि में व्याख्यात मन्त्रों की सूची	७२५
(४) संग्रह में उद्धृत व्यक्ति देश नगरादि नाम-सूची	७२८
(५) टिप्पणी में उद्धृत व्यक्ति देश नगरादि नाम-सूची	७३७
(६) संग्रह में उद्धृत ग्रन्थ-नामों की सूची	७३६
(७) टिप्पणी में उद्धृत ग्रन्थनामों की सूची	७४६
(८) संग्रह में उद्धृत प्रमाणों की सूची	७५१
(९) टिप्पणी में उद्धृत प्रमाणों की सूची	७६५

:७:



---

---

# स्वामी दयानन्द सरस्वती का जन्म-चरित्र

[ स्वयं लिखित वा कथित ]

---

---







❧ ओ३म् ❧

# स्वामी दयानन्द सरस्वती का जन्म-चरित्र

[ स्वयं लिखित वा कथित ]

[विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव । यद्भद्रं तन्न आसुव ॥]

मैं स्वामी दयानन्द सरस्वती संक्षेप से अपना जन्म चरित्र ५ लिखता हूँ—

<sup>३</sup>[हम से बहुत लोग पूछते हैं, आप ब्राह्मण हैं, हम कैसे जानें ? आप अपने इष्ट-मित्र भाई-बन्धु के पत्र मंगा दें, अथवा किसी की पहचान बतावें, ऐसा कहते हैं। इसलिये अपना वृत्तान्त कहता हूँ। गुजरात देश में दूसरे देशों की अपेक्षा मोह विशेष है। यदि मैं इष्ट- १० मित्र भाई-बन्धु की पहचान दूँ, या पत्र-व्यवहार करूँ, तो मुझे बड़ी उपाधि होगी। जिन उपाधियों से मैं छूट गया हूँ, वही उपाधियाँ मेरे पीछे लग पड़ेंगी। यही कारण है कि पत्रादि मंगाने का यत्न नहीं करता।] पूना-व्याख्यान

<sup>३</sup>[प्रथम दिन से ही जो मैंने लोगों को अपने पिता का नाम और १५ अपने कुल का स्थान बताना अस्वीकार किया, इसका यही कारण

१. यह मन्त्र हमने लिखा है।

२. श्री स्वामी जी महाराज के लिखाये हुए पत्रों में जन्मचरित का यह शीर्षक है। [देखो—पत्र-व्यवहार, पृष्ठ १५६ द्वि० संस्करण]

३. इस ग्रन्थ में जो पाठ [ ] कोष्ठक में छपा है वह पूना-व्याख्यान २० का है। जो पाठ [ ( ) ] ऐसे दो कोष्ठकों में छपा है; उसका मूल न पूना व्याख्यान में है और ना ही श्री स्वामी जी के मूल हस्तलेख में। पर ये पाठ पण्डित लेखराम जी विरचित जीवन में छपे स्वरचित जीवन चरित्र में मिलते हैं। विशेष सम्पादकीय में देखें।



- है कि मेरा कर्तव्य मुझे इस बात की आज्ञा नहीं देता । यदि मेरा कोई सम्बन्धी मेरे इस वृत्त से परिचय पा लेता, तो वह अवश्य मेरे ढूँढने का प्रयत्न करता । इस प्रकार उनसे दो-चार होने पर मेरा उनके साथ घर जाना आवश्यक हो जाता ? सुतरां एक बार पुनः मुझे धन हाथ में लेना पड़ता, अर्थात् गृहस्थ हो जाता । उनकी सेवा-शुश्रूषा भी मुझे योग्य होती । और इस प्रकार उनके मोह में पड़कर सर्वसुधार का वह उत्तम काम, जिसके लिये मैंने अपना जीवन अर्पण किया है, जो मेरा यथार्थ उद्देश्य है, जिसके अर्थ स्वजीवन-बलिदान करने की किञ्चित् सोच नहीं की, और अपनी आयु को विना मूल्य जाना, १० और जिसके अर्थ मैंने अपना सब कुछ स्वाहा करना अपना मन्तव्य समझा, अर्थात् देश का सुधार और धर्म का प्रचार, वह देश पूर्ववत् अन्धकार में पड़ा रह जाता ।)]<sup>१</sup>

संवत् १८८१ के वर्ष में दक्षिण गुजरात प्रांत, देश काठियावाड़ के मजोकठा देश, मोर्वी का राज्य, औदीच्य ब्राह्मण के घर में मेरा १५ जन्म हुआ था ।<sup>२</sup> [ यद्यपि औदीच्य ब्राह्मण सामवेदी हैं, परन्तु मैंने बड़ी कठिनता से शुक्ल यजुर्वेद पढ़ा था । ]

( १८८६ )<sup>३</sup> मैंने पांचवें वर्ष में देवनागरी अक्षर पढ़ने का आरम्भ किया था, और मुझको कुल की रीति की शिक्षा भी माता-

१. यह पाठ पूना व्याख्यान में भी नहीं है । पूना व्याख्यान में ऐसा है—  
२० धाङ्गधरा करके गुजरात देश में एक राज स्थान है । उसका सीमान्तवर्ती मजोकठा नदी के तट पर मोर्वी एक नगर है ।

२. सन् १८८७ में फतहगढ़ में 'श्रीयुत स्वामी दयानन्द सरस्वती जी महाराज की कुछ दिनचर्या' द्वितीय बार छपी थी । उसके लेखक थे—पं० गणेशप्रसाद । इस पुस्तक के अन्त में पं० ज्वालादत्त कृत निम्नलिखित श्लोक २५ छपा है—

क्षोणीभाहीन्दुभिरभियुते वैक्रमे वत्सरे यः

प्रादुर्भूतो द्विजवरकुले दक्षिणे देशवर्ग्ये ।

मूलेनासौ जननविषये शंकरेणापरेण

ख्यातिं प्रापत् प्रथमवयसि प्रीतिदां सज्जनानाम् ॥१॥

- ३० ३. ( ) कोष्ठक में दिये संवत् मूलपाठ में नहीं हैं । ऋषि दयानन्द का जन्म सं० १८८१ में हुआ, इतना निश्चित है । कुछ महानुभाव भाद्रपद



पिता आदि किया करते थे । [ बहुत से धर्मशास्त्रादि के श्लोक और सूत्रादिक भी कण्ठस्थ कराया करते थे । ]

( १८८६ ) फिर ८ आठवें वर्ष मेरा यज्ञोपवीत कराके गायत्री सन्ध्या और उसकी क्रिया भी सिखा दी गई थी । और मुझको यजुर्वेद की संहिता का आरम्भ कराके उसमें से प्रथम रुद्राध्याय पढ़ाया गया था ।<sup>१</sup> [ उसी वर्ष मेरी एक भगिनी का जन्म हुआ । ] और मेरे कुल शैव मत था, उसी की शिक्षा भी किया करते थे । और पिता आदि लोग यह भी कहा करते थे कि पार्थिव पूजन अर्थात् मट्टी का लिङ्ग बनाके तू पूजा कर । और माता (मेरी यह कहा करती थी)<sup>२</sup> कि यह प्रातःकाल भोजन कर लेता है, इससे पूजा कभी न हो सकेगी । पिता हठ किया करते थे कि पूजा अवश्य करनी चाहिये, क्योंकि कुल की रीति है । तथा कुछ-कुछ व्याकरण आदि का विषय और वेद का पाठ-मात्र भी मुझको पढ़ाया करते थे । पिता जी अपने साथ मुझको जहां-तहां मन्दिर और मेल-मिलापों में ले जाया करते, और यह भी कहा करते थे कि शिव की उपासना सब से श्रेष्ठ है । इस प्रकार १४ चौदहवें वर्ष की अवस्था के आरम्भ तक यजुर्वेद की संहिता सम्पूर्ण और कुछ-कुछ अन्य वेदों का भी पाठ पूरा हो गया था । और शब्द-रूपावली आदि छोटे-छोटे व्याकरण के ग्रन्थ भी पूरे हो गये थे ।

( १८९५ ) जहां-जहां शिवपुराण आदि की कथा होती थी, वहां पिता जी मुझको पास बैठाकर सुनाया करते थे । और घर में भिक्षा की जीविका नहीं थी, किन्तु जिमींदारी और लेन-देन से

में मानते हैं, कुछ सं० १८८१ के अन्त में, (हमारा भी यही मत है; देखिये पृष्ठ १० की टिप्पणी) । यदि सं० १८८१ के अन्त में माना जाये, तो यहां सं० १८८६ चाहिये । इसी प्रकार अगले निर्देशों में भी एक-एक वर्ष की वृद्धि जाननी चाहिये । भाद्र मास के पक्ष में मुद्रित संवत् भी ठीक हो सकते हैं ।

१. तुलना करो—‘मैंने अपने घर में कुछ वेद का पाठ और विद्या भी पढ़ी’ । पत्र-विज्ञापन पृष्ठ २१ ( द्वि० संस्करण ) ।

२. मूल में इतना पाठ वृद्धि है । केवल ‘मेरी’ का मकार आधा पढ़ा जाता है ।



जीविका के प्रबन्ध करके सब काम चलाते थे। और मेरे पिता ने माता के मने करने पर भी पार्थिव पूजन का आरम्भ कर दिया था।

[ मेरे पिता जी ने इस वर्ष मुझे शिवरात्रि के व्रत रखने को कहा, परन्तु मैं उद्यत न हुआ। ] जब शिवरात्रि आई, तब (पिता ने) ५ १३ त्रयोदशी के दिन कथा का माहात्म्य सुनाके शिवरात्रि के व्रत करने का निश्चय करा दिया था। [ वह कथा मुझे बहुत प्रीतिकर लगी। तभी मैंने उपवास का दृढ़ निश्चय कर लिया। ] परन्तु माता ने मने किया था कि इससे व्रती नहीं रहा जायेगा, तथापि पिता जी ने व्रत का आरम्भ करा ही दिया था।

१० [ मेरे यहां नगर के बाहर एक बड़ा शिवालय है। वहां शिवरात्रि के कारण बहुत लोग रात्रि के समय जाते-आते रहते हैं, और पूजा-अर्चा किया करते हैं। ] और जब १४ चतुर्दशी की शाम हुई, तब बड़े-बड़े वस्ती के रईस अपने पुत्रों के सहित मन्दिर में जागरण करने को गये। वहां मैं भी अपने पिता के साथ गया। और प्रथम १५ प्रहर की पूजा करके पुजारी लोग निकलके सो गये। [ दूसरे प्रहर की पूजा पूरी हो गई थी। १२ वजे के अनन्तर लोग जहां-तहां मारे आंध के झूलने लगे, और शनैः-शनैः सब लेट गये। मैंने सुन रखा था कि सोने से शिवरात्रि का फल नहीं होता है, इसलिये अपनी आंखों में जल के छीटे मारके जागता रहा। फिर पिता आदि २० सब सो गये। ]

[ झूतने में ऐसा चमत्कार हुआ कि मन्दिर के विल से एक ऊंदर<sup>१</sup> बाहर निकलकर पिण्डी के चारों ओर फिरने लगा। और पिण्डी के अक्षतादि ऊपर चढ़कर भी खाने लगा। मैं तो जागता ही था, अतः मैंने सब लीला देखी। उस समय मेरे चित्त में प्रकार-प्रकार २५ के विचार उत्पन्न हुए, और प्रश्न पर प्रश्न उठने लगे। ] तब मुझको शंका हुई कि जिसकी हमने कथा सुनी थी, वही यह महादेव है, या अन्य ? क्योंकि वह तो मनुष्य के माफक एक देवता है। वह बैल पर

१. यह शब्द काठियावाड़ की भाषा का है। इसका अर्थ है—चूहा।  
३० सत्यार्थप्रकाश में भी ऋषि ने इस शब्द का प्रयोग किया है। देखो रामलाल कपूर ट्रस्ट सं० पृष्ठ ५२८ पं० २५।



चढ़ता, चलता-फिरता, खाता-पीता, त्रिशूल हाथ में रखता, डमरू बजाता, वर और शाप देता, और कैलाश का मालिक है, इत्यादि प्रकार का महादेव कथा में सुना था। [अतः चूहे की यह लीला देख मेरी बाल-बुद्धि को ऐसा प्रतीत हुआ कि जो शिव अपने पाशुपतास्त्र से बड़े-बड़े प्रचण्ड दैत्यों को मारता है, क्या उसमें एक निर्बल चूहे को ५ भगा देने की भी शक्ति नहीं ? ]

[ऐसे बहुत से तर्क मन में उठे।] तब पिता जी को जगाके पूछा कि यह कथा का महादेव है, वा कोई दूसरा ? तब पिता ने कहा कि क्यों पूछता है ? तब मैंने कहा कि कथा का महादेव तो चेतन है। वह अपने ऊपर चूहों को क्यों चढ़ने देगा ? और इसके १० ऊपर चूहे फिरते हैं।

तब उन्होंने कहा कि—‘कैलाश पर जो महादेव रहते हैं, उनकी मूर्ति बना और आवाहन करके पूजा किया करते हैं। अब कलियुग में उस शिव का साक्षात् दर्शन नहीं होता। इसलिये पाषाणादि की मूर्ति बनाके उस महादेव की भावना रखकर पूजन करने से कैलाश १५ का महादेव प्रसन्न हो जाता है।

ऐसा सुनके मेरे मन में अम हो गया कि इसमें कुछ गड़बड़ अवश्य है। और भूख भी बहुत लग रही थी। पिता से पूछा कि मैं अब घर को जा (ना चाहता हूँ। उन्होंने कहा कि सिपाही को साथ लेके चला जा, परन्तु भोजन कदाचित् मत करना। २०

मैंने घर में जाकर माता से कहा कि मुझको भूख बहुत लगी है। [माता जी ने कहा—“मैं तुम्हें पहले से ही कहती थी कि तुम्हसे उपवास न होगा, परन्तु तूने तो हठ किया”। तब ] माता ने कुछ मिठाई आदि दी [और कहा—“तू पिता जी के पास मत जाइयो, और न उनसे कुछ कहियो, अन्यथा मार खायेगा।”] उसको खाकर २५ एक बजे पर सो गया। [दूसरे दिन आठ बजे उठा।]

पिता जी प्रातःकाल रात्रि के भोजन को सुनके बहुत गुस्से हुए कि तैंने बहुत बुरा काम किया। तब मैंने पिता से कहा कि वह कथा

---

१. मूल में कोष्ठगत पाठ व्रुटित है।



का महादेव नहीं था। इसकी पूजा मैं क्यों करूँ ? मन में तो श्रद्धा नहीं रही, परन्तु ऊपर के मन पिता जी से फिर कहा कि मुझको पढ़ने से अवकाश नहीं मिलता कि मैं पढ़ सकूँ। तथा माता और चाचा आदि के समझाने से भी पिता शान्त हो गये कि अच्छी बात है, पढ़ने दो। फिर निघण्टु निरुक्त और पूर्व मीमांसा आदि शास्त्रों के पढ़ने की इच्छा करके आरम्भ करके पढ़ता रहा, और कर्मकाण्ड का विषय भी पढ़ता रहा।

मुझसे छोटी एक बहन, फिर उससे छोटा एक भाई, फिर एक बहन और एक भाई हुये थे, अर्थात् दो बहन और दो भाई थे।

- १० (१८६७) जब मेरी १६ वर्ष की अवस्था हुई थी, तब मुझसे छोटी १४ वर्ष की जो बहन थी, उसको हैजा हुआ। एक रात्रि में कि जिस समय नाच हो रहा था, नौकर ने खबर दी कि उसको हैजा हुआ है। तब सब जनें वहाँ से तत्काल आये और वैद्य आदि बुलाये। औषधि भी की, तथापि चार घण्टे में उसका शरीर छूट गया। [ मैं १५ उसकी शैया के पास दीवार का आश्रय लेकर खड़ा रहा। जन्म से लेकर उस समय तक मैंने यही प्रथम बार मनुष्य को मरते देखा था। इससे मेरे हृदय पर वज्रपात हुआ।] सब लोग रोने लगे। मुझको रोना तो नहीं आया, परन्तु मेरे मन में भय उत्पन्न हुआ कि देखो संसार में कुछ भी नहीं। इसी प्रकार किसी दिन मैं भी मर जाऊंगा। २० इसलिये ऐसा कुछ उपाय करना चाहिये जिससे मरण-जन्मरूपी दुखों से छूटकर मुक्ति हो। यह विचार मन में रखा। किसी से कुछ कहा नहीं।

[सब लोग रोते थे, परन्तु मेरी छाती में भय घुसने के कारण एक आंसू भी आँख से न गिरा। पिताजी ने पाषाणहृदय कहा। मेरी २५ माता, जो मुझे प्यार करती थी, उसने भी ऐसा ही कहा।] [मुझे सोने के लिये कहा गया, परन्तु मुझे शांति से निद्रा न आई। भला ऐसी अशांति में निद्रा कहाँ ? बार-बार में चौंक पड़ता था, और मन में नाना प्रकार के तरङ्ग उठते थे। हमारे देश की रीत्यनुसार मेरी बहिन के रोने के पाँच-चार समय व्यतीत हो चुके, परन्तु मैं रोया ३० नहीं। इस कारण बहुत लोग मुझे धिक्कार करने लगे।]

१. अर्थात् गरवा नृत्य। यह उस देश का एक सामाजिक नृत्य है।



[(जिस समय सारा कुटुम्ब रो रहा था, मैं मूर्ति के समान चुपचाप पृथक् खड़ा था। उस समय मुझको बहुत से मनुष्यों के जीवन, जो संसार में अनित्य हैं, निरर्थक प्रतीत हुए। नाना प्रकार के संकल्प-विकल्प अतीव शोक के साथ उत्पन्न हुए। और जान पड़ा कि संसार में कोई भी ऐसा नहीं, जो निर्दयी मृत्यु के आस से ५ बच जाये। निश्चय एक दिन उस मृत्यु से सामना करना पड़ेगा। उस समय मृत्यु के दुःख-निवारणार्थ ओषधि कहां ढूँढता फिरूंगा ? और मुक्ति प्राप्त करने के निमित्त किस पर भरोसा करूंगा, और कौन-सा उपाय उसके लिये उचित है।]

सारांश यह कि उसी समय पूर्ण विचार कर लिया कि जिस १० प्रकार हो सके, मुक्ति हस्तगत करूं, जिसके द्वारा मृत्युसमय के समस्त दुःखों से बचूं। अन्त को यह हुआ कि इस संसार से मेरा मन एक बार ही हट गया, और उत्तम विचार करने में सन्नद्ध हो गया।)]

(१६००) इतने में १६ उन्नीस वर्ष की अवस्था हो गई। तब १५ जो मुझसे अति प्रेम रखनेवाले बड़े धर्मात्मा विद्वान् मेरे चाचा थे, [उनको विशूचिका ने आ घेरा। मरते समय उन्होंने मुझे पास बुलाया। लोग उनकी नाड़ी देखने लगे। मैं भी समीप ही बैठा हुआ था। मेरी ओर देखते ही उनकी आंखों से अश्रुपात होने लगे। मुझे भी उस समय बहुत रोना आया, यहां तक कि रोते-रोते मेरी २० आंखें फूल गईं। इतना रोना मुझे पूर्व कभी न आया था। उस समय मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि मैं भी चाचा जी के सदृश एक दिन मरनेवाला हूं।]

उनकी मृत्यु होने से अत्यन्त वैराग्य उत्पन्न हुआ कि संसार में कुछ भी नहीं। परन्तु यह बात माता-पिता से नहीं कही। [अपने २५ मित्रों और विद्वान् पण्डितों से पूछने लगा कि अमर होने का कोई उपाय मुझे बताओ। उन्होंने योगाभ्यास करने के लिये कहा। तब मेरे मन में आया कि अब गृह त्याग कर कहीं चला जाऊं।] किन्तु अन्य मित्र लोगों से कहा कि मेरा मन गृहस्थाश्रम करना नहीं चाहता। ३०

[(मुझे निश्चय हो गया है कि इस असार संसार में कोई पदार्थ नहीं, जिस के अर्थ जीने की इच्छा की जाय, वा किसी पर



मन लगाया जावे) ] उन्होंने माता-पिता से कहा । माता-पिता ने विचारा कि इस का विवाह शीघ्र कर देना ठीक है । जब मुझ को मालूम हुआ कि ये २० बीसवें वर्ष में ही विवाह कर देंगे, तब मित्रों से कहा कि—‘हमारे माता-पिता को समझा दो कि अभी मेरा विवाह न करें।’ फिर उन्होंने एक वर्ष जैसे-तैसे विवाह रोका ।

(१६०१) तब तक बीसवां वर्ष पूरा हो गया । मैंने पिता जी से कहा कि—“मुझे काशी भेज दीजिये, जहां मैं व्याकरण ज्योतिष और वैद्यक आदि ग्रन्थ पढ़ आऊँ” । तब माता-पिता और सब कुटुम्बवालों ने कहा कि हम काशी को कभी न भेजेंगे । जो पढ़ना हो, सो यहीं पढ़ा कर । और तेरा अगले साल में विवाह भी होगा, क्योंकि लड़कीवाला नहीं मानता । और हमको अधिक पढ़ाके क्या करना है ? जितना पढ़ा है, वही बहुत है ।

[ (साथ ही माता जी ने यह भी कहा—“मैं खूब जानती हूँ कि विशेष पढ़े लोग विवाह करना अनुचित समझते हैं । और काशी चले जाने से विवाह में विघ्न होगा” । ) ] तब मैंने पिता आदि से कहा कि—‘मैं पढ़ कर आऊँ, तब विवाह होना ठीक है ।’ फिर माता भी विपरीत हो गई कि हम कहीं नहीं भेजते, और अभी विवाह करेंगे । तब मैंने चाहा कि अब सामने रहना अच्छा नहीं । [ (चुप हो गया, क्योंकि देखा कि विशेष आग्रह से काम विगड़ता है, और कभी कार्य सिद्ध नहीं होता । क्योंकि घर में मेरा मन नहीं लगता था, यह देख पिता जी ने जमींदारी का काम करने के लिये मुझे कहा, परन्तु मैंने उसे स्वीकार न किया ।) ]

फिर तीन कोस पर एक ग्राम में अपनी जमींदारी थी, वहां एक अच्छा पण्डित था । माता-पिता की आज्ञा लेकर उस पण्डित के पास जाके पढ़ने का आरम्भ कर दिया । और वहां के लोगों से भी कहा कि मैं गृहस्थाश्रम करना नहीं चाहता । फिर माता-पिता ने बुलाके विवाह की तैयारी करी । तब तक २१ इक्कीसवां वर्ष पूरा हो गया ।

[मेरे मन में तो घर छोड़कर निकल जाने की थी, परन्तु ऐसी सम्मति कोई न देता था । जो सम्मति देता, वह लग्न करने की ही देता ।] उस समय मैंने निश्चित जाना कि अब विवाह किये बिना यह लोग कदाचित् न छोड़ेंगे ।



[ (और न अब मुझे भविष्य में विद्योपार्जन की आज्ञा मिलेगी । और न माता-पिता मेरे ब्रह्मचारी रहने पर प्रसन्न होंगे । तब मैंने अपने मन में सोच विचारकर यह निश्चय ठाना कि अब वह काम करना चाहिये, जिससे जन्मभर को इस विवाह के बखेड़े से बचूं । यह निश्चय मैंने किसी पर प्रकट न किया । एक मास में विवाह की ५ तैयारी भी हो गई । ) ]

फिर गुपचुप संवत् १९०३<sup>१</sup> के वर्ष में [शौच के बहाने एक धोती साथ लेकर] घर छोड़के शाम के समय भाग उठा । [और सिपाई द्वारा कहला भेजा कि एक मित्र के घर गया हूँ ।]

(१९०३) चार कोस पर एक ग्राम था, वहां जाके रात्रि को १० ठहरकर दूसरे दिन प्रहर रात्रि से उठके १५ कोस चला । [और एक ग्राम में हनुमान् के मन्दिर में जा रहा ।] परन्तु प्रसिद्ध ग्राम, सड़क और जानकारों के ग्राम छोड़के बीच-बीच में रोज चलने का आरम्भ किया । तीसरे दिन मैंने किसी राजपुरुष से सुना कि फलाने का लड़का घर छोड़कर चला गया । उसको खोजने के लिये सवार १५ और पैदल आदमी यहां तक आये थे ।

जो मेरे पास थोड़े से रुपये अंगूठी आदि भूषण था, वह सब पोपों ने ठग लिया कि तुम पक्के वैराग्यवान् तब होगे कि जब अपने पास की चीज सब पुण्य कर दोगे । उनके कहने से मैंने सब दे दिया । [(इसका वृत्तान्त यूँ है कि)] [मार्ग में एक वैरागी ने २० एक मूर्ति जमा रखी थी । “हाथ में सोने की अंगूठियां डालकर वैराग्य-सिद्धि कैसे हो सकती है ?” ऐसा मुझे चिढ़ाकर मेरी ओर से वह तीनों अंगूठियां उसने मूर्ति के समर्पण करा लीं । ]

फिर लाला भगत का स्थान, जो कि सायले शहर<sup>२</sup> में है, वहां बहुत साधुओं को सुनकर चला गया । एक ब्रह्मचारी मिला, उसने २५

१. संवत् १९०३ के अन्त में उनकी आयु का २२ वां वर्ष आरम्भ हो गया था । सो उनका जन्म अनुमान से सं० १८८१ के अन्त में हुआ होगा, अर्थात् उसका एक आठ मास या कुछ दिन शेष रहे होंगे । माघ या फाल्गुन मास होगा । ऐसा निश्चित होता है ।

२. यह ग्राम अहमदाबाद मोरवी रेलवे के मोली स्टेशन से ४ कोस, ३० और आर्यसमाज रानपुर से ११ कोस है ।



कहा कि तुम नैष्ठिक ब्रह्मचारी हो जाओ। उसने मुझ को ब्रह्मचारी की दीक्षा (दी,) और 'शुद्ध चैतन्य ब्रह्मचारी' मेरा नाम रखा। और काषाय वस्त्र भी करा दिये। [(और हाथ में एक तूम्बा दे दिया। ऐसे मैं उन के थोक में मिल गया।)] [और वहीं योग-  
 ५ साधन करने लगा। रात्रि को जब एक वृक्ष के नीचे बैठा था, ऊपर पक्षियों ने घूं घूं करना आरम्भ किया। यह सुनकर मुझे भूत का भय लगा। और मैं पीछे मठ में आ गया।]

जब मैं वहां से अहमदाबाद के पास कोठकांगड़ा, जो कि छोटा-सा राज्य है, वहां आया। [वहां बहुत से वैरागी थे। और कहीं की  
 १० राणो भी उनके फंदे में फंसी हुई थी। उन्होंने मेरे वेश को देखकर ठट्ठा करना आरम्भ किया। तथा मुझे अपने में फांसने लगे, परन्तु मैं उनके फंदे से छूटकर भागा। रेशमी किनारा की धोतियां उन्हीं वैरागियों के कहने से वहां फेंक दीं। केवल तीन रुपये पास थे, उन्हें व्यय कर सादी धोतियां लीं। वहां 'ब्रह्मचारी' नाम से प्रसिद्ध रहा।  
 १५ मैं वहां तीन मास रहा।]

[कोठकाङ्गड़ा में मैंने सुना कि सिद्धपुर में कार्तिक का मेला होता है। वहां कोई तो योगी अपने को मिलेगा, और अमर होने का मार्ग बतावेगा, इस आशा से मैंने सिद्धपुर का मार्ग लिया। मार्ग में मुझे] तब मेरे ग्राम के पास का जान-पहचानवाला एक वैरागी  
 २० मिला। उसने पूछा कि तुम यहां कहां से आये, और कहां जाना चाहते हो? तब मैंने उससे कहा कि घर से आया और कुछ देश-भ्रमण करना चाहता हूं। उसने कहा कि तुमने काषाय वस्त्र क्यों धारण किये? क्या घर छोड़ दिया? मैंने कहा कि हां, मैंने घर छोड़ दिया, और मैं कार्तिकी के मेले पर सिद्धपुर<sup>१</sup> को जाऊंगा।

२५ फिर मैं वहां से चलके सिद्धपुर में आकर नीलकण्ठ महादेव के स्थान में ठहरा कि जहां दण्डी स्वामी और बहुत ब्रह्मचारी ठहरे थे। उनका सत्संग और जो-जो कोई महात्मा व पण्डित मेला में सुन पड़ा, उन-उन से जाकर मेल-मिलाप किया। कोठकाङ्गड़ा में जो

१. सिद्धपुर रेलवे स्टेशन है। वहां सरस्वती नदी के तट पर कार्तिक  
 ३० का मेला होता है। वहीं श्रीदीक्ष्य ब्राह्मणों के पुत्रों का मुण्डन होता है।



मुझको वैरागी मिला था, उसने मेरे पिता के पास एक पत्र भेजा कि तुम्हारा लड़का काषाय वस्त्र धारण किये ब्रह्मचारी हुआ यहां मुझको मिलकर कार्तिकी के मेले में सिद्धपुर को गया ।

ऐसा सुनकर पिता जी [चार] सिपाहियों के सहित सिद्धपुर में आकर मेले में मेरा पता लगाके [मन्दिर में,] जहां पण्डितों के बीच ५ में मैं बैठा था, [एकाएक] वहां पहुंचकर मुझसे बोले कि—‘तू हमारे कुल में कलंक लगानेवाला उत्पन्न हुआ’ । [देखते ही मेरा कलेजा धड़कने लगा । ] तब मैं पिता जी की ओर देखकर [इस भय से कि पिता जी मुझको मारेंगे,] उठके चरण छूकर नमस्कार किया, और मैं बोला कि आप क्रोधित मत हूजिये । मैं किसी आदमी के बहकाने १० से चला आया, और अत्यन्त दुःख पाया । अब मैं घर को आनेवाला था, परन्तु आप आये, यह बहुत अच्छा हुआ । अब मैं आपके साथ-साथ घर चलूंगा ।

तो भी क्रोध के मारे मेरे गेरू के रंगे वस्त्रों और एक तूम्बा था, उसको तोड़-फोड़के फेंक दिया । और दूसरे नवीन श्वेत वस्त्र धारण १५ कराके, जहां ठहरे थे, वहां मुझको ले गये । और वहां भी बहुत कठिन-कठिन बातें कहकर बोले कि—‘तू अपनी माता की हत्या करना चाहता है’ । मैंने कहा कि—‘मैं अब चलूंगा’ । तो भी मेरे साथ [दो] सिपाही कर दिये कि क्षण भर भी इसको पृथक् मत छोड़ो, और इस पर रात्रि को भी पहरा रखो । २०

परन्तु मैं भागने का उपाय सोचता था । [रात को जहां मैं सोता था, एक सिपाही मेरे सिरहाने बैठा जागता रहता था । मैंने चाहा कि इस सिपाही को धोखा देकर निकल जाऊं । इसीलिये मैं यह जानने के लिये कि सिपाही रात को सोता है या नहीं, स्वयं जागता रहा । सिपाही को तो यह निश्चय हो जाता कि मैं सो रहा २५ हूं । इसीलिये मैं नाक से खुर्रटि भरने लगता था । ]

सो जब तीसरी रात्रि<sup>१</sup> के तीन बजे पीछे पहरेवाला बैठा-बैठा सो गया, उसी समय वहां से मैं लघुशंका के बहाने से भागके आघ

१. पूता व्याख्यान में आगे ऐसा है—‘इस प्रकार तीन रात जागता पड़ा । चौथी रात सिपाही को नींद आ गई ।’ यहां सम्भवतः सिद्धपुरी में रहने की ३० रात्रि भी गिनी गई है । हस्तलेखवाले पाठ में यह नहीं गिनी गई ।



- कोस पर एक बगीचे के मन्दिर की शिखर में एक वृक्ष के सहारे से चढ़के जल का लोटा साथ लेके छिपकर बैठ गया। जब चार बजे का अमल हुआ, तब मैंने उन्हीं में से एक सिपाही को मालियों से मुझको पूछता सुना। तब मैं और भी छिप गया। वे लोग ढूँढ़कर चले गये।
- ५ मैं उसी मन्दिर की शिखर में दिनभर रहा।

- जब अन्धेरा हुआ, तब [रात्रि के सात बजे] उस पर से उतरकर सड़क छोड़के किसी से पूछकर दो कोस एक ग्राम था, वहाँ जाकर ठहरा। प्रातःकाल वहाँ से चला। [यही अपने ग्राम के या घर के पुरुषों का अन्तिम दर्शन कहा जावे, तो अन्यथा नहीं। इसके
- १० पश्चात् एक बार प्रयाग में मेरे ग्राम के कुछ लोग मिले थे, परन्तु मैंने पहचान नहीं दी। तत्पश्चात् आज तक किसी से मेल नहीं हुआ।]

- अहमदाबाद से होता हुआ बड़ोदे शहर में आकर ठहरा। और (वहाँ) चेतन मठ में ब्रह्मानन्द आदि ब्रह्मचारियों और संन्यासियों
- १५ से वेदान्त विषय की बहुत बातें कीं। और 'मैं ब्रह्म हूँ, अर्थात् जीव ब्रह्म एक है,' मुझको ऐसा निश्चय उन ब्रह्मानन्दादि ने करा दिया। पहले वेदान्त पढ़ते समय भी कुछ-कुछ निश्चय हो गया था, परन्तु वहाँ ठीक-ठीक दृढ़ हो गया कि मैं ब्रह्म हूँ।<sup>१</sup>

- फिर वहीं बड़ोदे में एक बनारसी बाई वैरागी का स्थान सुनकर
- २५ वहाँ जाके एक 'सच्चिदानन्द' परमहंस से भेंट करके अनेक प्रकार की शास्त्रविषयक बातें हुईं। फिर मैंने सुना कि आजकल

१. कार्तिक में सिद्धपुर आये। तीन मास कोठकाङ्गड़ा में रहे, तथा प्रायः एक मास तक लाला भक्त के ग्राम सायला में रहे। पांच-सात दिन का यह सारा मार्ग है। अतः यह प्रतीत होता है कि स्वामी जी सं० १९०३ विक्रम
- २० ज्येष्ठ के अन्त अर्थात् मई १८४७ को घर से निकले थे। [अथवा हो सकता है, इससे कुछ पहले घर से प्रस्थान किया हो। यु० मी०]

२. 'अहमदाबाद से...ब्रह्म हूँ' तक का पाठ थ्योसोफिस्ट की टिप्पणी में देवनागरी में छपा है। वहाँ कुछ छपने की ही अशुद्धि है। पाठ यही है। उस पाठ में द्वितीय पंक्ति का "और" पद नहीं, प्रत्युत कोष्ठगत "वहाँ" है।
- ३० तथा चतुर्थ पंक्तिस्थ "मुझको" पांचवी पंक्तिवाले "करा" से पहले है।



चाणोदकन्याली में बड़े-बड़े संन्यासी ब्रह्मचारी और ब्राह्मण विद्वान् रहते हैं। वहां जाके दीक्षित और चिदाश्रमादि स्वामी ब्रह्मचारी और पण्डितों से अनेक विषयों का परस्पर संलाप हुआ। और एक परमानन्द परमहंस से वेदान्तसार, आर्य्यहरिमीडेतोटक, वेदान्त-परिभाषा आदि प्रकरणों को थोड़े महीनों में विचार कर [पढ़] लिया। ५

फिर मैंने ब्रह्मचर्य्य में कभी-कभी अपने हाथ रसोई बनाने से पढ़ने में विघ्न विचारके चाहा कि अब संन्यास ले लेना अच्छा है। फिर एक दक्षिणी पण्डित के द्वारा जो वहां 'चिदाश्रम स्वामी' विद्वान् थे, उन से कहलाया कि आप उस ब्रह्मचारी को संन्यास की दीक्षा दे दीजिये। क्योंकि मैं अपना ब्रह्मचारी का नाम भी बहुत प्रसिद्ध करना नहीं चाहता था, क्योंकि घर का भय बड़ा था, जोकि अब तक है। १०

तब उन्होंने कहा कि उसकी अवस्था कम है, इसलिये हम नहीं देते। इसके अनन्तर दो महीने पीछे दक्षिण से एक दण्डी स्वामी और एक ब्रह्मचारी आके चाणोद से कुछ कम कोसभर मकान, जो कि जंगल में था, उसमें आकर ठहरे। उसको सुनकर एक दक्षिणी वेदान्ती पण्डित और मैं दोनों उनके पास जाकर शास्त्री में उनसे संभाषण किया। तब मालूम हुआ कि अच्छे विद्वान् हैं, और वे श्रृङ्गेरी मठ की ओर से आके द्वारिका की ओर को जाते, और उनका नाम 'परमानन्द सरस्वती' था। २०

उनसे उस वेदान्ती के द्वारा कहलाया कि आपसे यह ब्रह्मचारी विद्या पढ़ना चाहते हैं, और किसी प्रकार का अपगुण इनमें नहीं, यह मैं ठीक जानता हूं। इन को आप संन्यास दे दीजिये। संन्यास लेने का इनका प्रयोजन यही है कि निर्विघ्न विद्या का अभ्यास कर सकें। तब उन्होंने कहा कि किसी गुजराती स्वामी से कहो, क्योंकि हम तो महाराष्ट्रीय हैं। तब उनसे कहा कि दक्षिणी स्वामी गौड़ों को भी संन्यास देते हैं, तो यह ब्रह्मचारी द्रविड है, इसमें क्या चिन्ता है? तब उन्होंने मान लिया, और उसी ठिकाने तीसरे दिन संन्यास

१. अर्थात् संस्कृत में। काठियावाड़ में संस्कृत के लिये 'शास्त्री' का हो प्रयोग होता है। ३०



की दीक्षा तथा दण्ड ग्रहण कराया, और 'दयानन्द सरस्वती' नाम रखा। परन्तु दण्ड को विसर्जन भी मैंने उन्हीं स्वामी जी के सामने कर दिया। क्योंकि दण्ड की भी बहुत क्रिया है कि जिससे पढ़ने में विघ्न हो सकता था।

- ५ फिर वे द्वारिका की ओर को चले गये। मैं कुछ दिन चाणोद-कन्याली में रहकर व्यासाश्रम में एक 'योगानन्द स्वामी' को सुना कि वे योगाभ्यास में अच्छे हैं। उनके पास योगाभ्यास की क्रिया सीखके एक 'कृष्ण शास्त्री' छिनौर शहर के बाहर रहते थे, उनको सुनके व्याकरण पढ़ने के लिये उनके पास गया, और कुछ व्याकरण का अभ्यास करके फिर चाणोदकन्याली में आकर ठहर रहा। वहां दो योगी मिले कि जिनका नाम 'ज्वालानन्द पुरी' और 'शिवानन्द गिरि' था। उनसे योगाभ्यास की बातें हुई, और उन्होंने कहा कि— 'तुम अहमदाबाद में जाओ, वहां हम नदी ऊपर दूधेश्वर महादेव में ठहरेंगे। वहां तुम [आ] जाओगे, तो तुमको योगाभ्यास की रीति १५ सिखलावेंगे'।

- वहां से वे अहमदाबाद को चले गये। फिर एक महीने के पीछे मैं भी अहमदाबाद में आके उनसे मिला और योगाभ्यास की रीति सीखके आबूराज पर्वत में योगियों को सुन वहां जाके अर्वादा भवानी आदि स्थानों में 'भवानीगिरि' आदि योगियों से मिलके कुछ २० और योगाभ्यास की रीति सीखके संवत् १९११ के साल के अन्त में हरद्वार को कुम्भ के मेले में आके बहुत साधु-संन्यासियों से मिला। और जबतक मेला रहा, तबतक चण्डी के पहाड़ के जंगल में योगाभ्यास करता रहा। जब मेला हट चुका, तब ऋषिकेश में जाके संन्यासियों और योगियों से योग की रीति सीखता, और सत्संग २५ करता रहा।'

तत्पश्चात् कुछ दिनों तक अकेला ऋषिकेश में रहा। इस अन्तर में एक ब्रह्मचारी और दो पहाड़ी साधु मुझसे आ मिले।

---

१. मूल हस्तलेख यहां समाप्त हो जाता है। 'थ्योसोफिस्ट' मास अक्तूबर १८७६ में यहीं तक का अनुवाद छपा है। अगले वाक्य से दिसम्बर सन् १८७६ ३० के अनुवादरूप अंग्रेजी लेख का पुनः अनुवादमात्र है।



पुनः हम सब-के-सब टिहरी स्थान को चले गये। यह स्थान विद्या-वृद्धि के कारण साधुओं और राजपण्डितों से पूर्ण और प्रसिद्ध है। उन पण्डितों में से एक दिन एक पण्डित ने अपने यहां मेरा निमन्त्रण किया, और निश्चित समय पर एक पुरुष भी बुलाने को भेजा। उसके साथ मैं और ब्रह्मचारी दोनों उनके स्थान पर पहुंचे। ५

परन्तु मुझको वहां एक पण्डित को मांस काटते और बनाते देख अत्यन्त घृणा आई। आगे जाकर बहुत पण्डितों को मांस और अस्थियों के ढेर और जानवरों के भुने हुए सिरों पर काम करते देखा। इतने में ही गृहस्वामी ने प्रसन्नतापूर्वक हमसे कहा कि—‘भीतर चले आइये’। मैंने कहा कि—‘आप अपना काम करे जाइये। १० मेरे लिये कुछ कष्ट न कीजिये’। यह कह भट वहां से निकल उलटे पांव अपने स्थान का मार्ग लिया।

कुछ काल पीछे वही मांस-भक्षी पण्डित मेरे पास आया, और मुझसे निमन्त्रण में चलने को कहा। और साथ ही यह भी कंहा कि यह मांसादि उत्तम भोजन आप ही के लिये बनाये गये हैं। मैंने उससे स्पष्ट कह दिया कि—‘यह सब ब्रथा और निष्फल है, क्योंकि आप मांस-भक्षी हैं। मेरे योग्य तो केवल फल आदि हैं’। मांस खाना तो दूर रहा, मुझे तो उसके देखने से ही रोग हो जाता है। यदि आपको मेरा न्यौता करना ही है, तो और कुछ अन्न फलादि वस्तु भिजवा दीजिये। मेरा ब्रह्मचारी यहां पर भोजन बना २० लेगा।’ इन सब बातों को उक्त पण्डित स्वीकृत कर और लज्जित हो अपने घर लौट गया।

तत्पश्चात् मैं कुछ दिन तक स्थान टिहरी में रहा, और उन्हीं पण्डित जी से कुछ पुस्तकों और ग्रन्थों का वृत्तान्त, जिन्हें मैं देखना चाहता था, पूछा किया। और पता लगाता रहा कि यह ग्रन्थ इस २५ नगर में कहां मिल सकते हैं। यह सुन पण्डित जी ने संस्कृत-व्याकरण कोष, जो बड़े-बड़े कवियों के बनाये हुए, ज्योतिष और तंत्रादि पुस्तकों का नाम लिया। इनमें से तंत्र की पुस्तकें मेरी देखी हुई नहीं थीं। इसलिये उनसे मांगीं।

[तब उन्होंने छोटे-बड़े ग्रन्थ मुझको दिये। मैंने देखे तो बहुत ३० भ्रष्टाचार की बातें उनमें देखीं कि—‘माता कन्या भगिनी चमारो



चांडाली आदि से संगम करना, नग्न करके पूजना, मद्य मांस मच्छी मुद्रा अर्थात् ब्राह्मण से लेके चांडाल पर्यन्त एकत्र भोजन करना, उक्त स्त्रियों से मैथुन करना । इन पांच मकारों से मुक्ति का होना, आदि लेख उनमें देखके चित्त को खेद हुआ कि जिनने ये ग्रन्थ बनाये हैं, ५ वे कैसे नष्ट-बुद्धि थे । ]<sup>१</sup>

तदनन्तर मैं वहां से श्रीनगर को चल पड़ा । यहां मैंने केदार-घाट पर एक मन्दिर में निवास किया । यहां के पण्डितों से जब कभी वात्सलाप करते समय वादानुवाद होता, तो उनको उन्हीं तन्त्रों से हरा देता था । यहां पर एक 'गङ्गागिरि' नामक साधु से १० (जो कभी दिन के समय अपने पहाड़ से, जो एक जंगल में था, नहीं उतरता था) भेंट हुई । और विदित हो गया कि यह एक अच्छा विद्वान् है । थोड़े दिन पश्चात् मेरी उसकी मैत्री भी हो गई ।

सारांश यह है कि जब तक मेरा उसका साथ रहा, योग-विद्या और अन्य उत्तम-उत्तम विषयों पर परस्पर बात-चीत होती रही । १५ और प्रतिदिन के तर्क-वितर्कों से यह बात सिद्ध हो गई कि हम दोनों साथ रहने योग्य हैं । मुझे तो उसकी सङ्गति ऐसी अच्छी लगी कि दो मास से अधिक उसके साथ रहा ।

उसके पश्चात् ग्रीष्म ऋतु के आरम्भ में अपने साथियों अर्थात् ब्रह्मचारी और दो पहाड़ी साधुओं सहित केदारघाट से दूसरे स्थानों २० को चला । रुद्रप्रयाग आदि स्थानों में होता हुआ अगस्त्य मुनि की समाधि पर पहुंचा । आगे चलकर उत्तर की ओर एक पहाड़ पर, जो कि शिवपुरी नाम से प्रसिद्ध है, गया । यहां शरद् ऋतु के चार मास व्यतीत किये ।

पुनः ब्रह्मचारी और दोनों साधुओं से पृथक् होकर एकाएकी २५ विना खटके मैं केदारघाट को लौट गया । फिर गुप्तकाशी में पहुंचा । यहां बहुत कम ठहरा, अर्थात् गौरीकुण्ड और भीमगुफा होता हुआ त्रियुगी नारायण के मन्दिर पर पहुंचा । परन्तु थोड़े ही दिनों में केदारघाट को, जहां का निवास मुझे अति प्रिय था, लौट आया और वहां निवास किया । और कतिपय ब्राह्मण पुजारियों और केदारघाट ३० के मन्दिरों के पण्डितों के साथ (जो जङ्गम जाति के थे ) रहा किया ।

१. कोष्ठगत पाठ थ्योसोफिस्ट की टिप्पणी में देवनागरी में छपा है ।



जब तक मेरे पहले साथी अर्थात् ब्रह्मचारी और दोनों साधु भी यहां आ गये ।

वहां के पण्डितों और ब्राह्मणों की करतूतों को मैं सदा दत्तचित्त हो देखता, और स्मरणार्थ उनकी स्मरण करने योग्य बातों को ध्यान करता था । जब मेरा उन वृत्तान्तों से यथोचित परिचय ५ हो गया, तो मेरे मन में निकटवर्ती पर्वतों के भ्रमण की इच्छा हुई, जो सदा हिमाच्छादित रहते हैं । यह सोच कि देखूं और उन महात्माओं के दर्शन करूं, जिनका समाचार सुनता चला आता था, किन्तु कभी भेंट नहीं हुई ।

अतः मैंने यह सुदृढ़ निश्चय कर लिया कि कुछ ही क्यों न हो, १० इस बात का अवश्य अनुसन्धान करना चाहिये कि वे महात्मा लोग जैसा कि प्रसिद्ध है, वहां रहते हैं या नहीं ? परन्तु पर्वतीय यात्रा की भयानक कठिनाइयों और शरद् ऋतु की अतिमात्रा से प्रथम मुझको पहाड़ी लोगों से पता करना पड़ा कि वे उन महात्मा पुरुषों के वृत्तान्त से कुछ परिचित हैं, या नहीं । परन्तु दैवयोग कि जहां पूछा, वहीं या १५ तो केवल अनभिज्ञता या मिथ्या विश्वास से पूर्ण गप्प हांक दी । फलतः २० दिन तक वृथा पर्यटन और निरुत्साहित फिर कर जिस प्रकार कि एकाएक गया था, वैसे ही लौटा । क्योंकि मेरे साथी तो दो तीन दिन पहले अति शीत के भय से मुझे अकेला छोड़कर चले गये थे । २०

तत्पश्चात् मैं तुङ्गनाथ की चोटी पर चढ़ा । वहां पर एक मन्दिर पुजारियों और मूर्तियों से भरा पाया । मैं उसी दिन वहां से उतर आया, जहां पर मुझे दो मार्ग मिले । जिनमें एक पश्चिम की ओर, दूसरा नैर्ऋत्य को जाता था । तब मैं उस मार्ग को, जो जङ्गल की ओर था, भुक् पड़ा । कुछ दूर तक चलकर मेरा गमन एक ऐसे २५ घने वन में हुआ, जहां के शैल खण्ड-बण्ड और नाले भी शुष्क, और वहां से आगे को मार्ग भी न चलता था ।

जब मैं इस प्रकार घिर गया, तो मन में सोचने लगा कि अब नीचे उतरना चाहिये या और ऊपर चढ़ना चाहिये । पर चोटी की उच्चता और मार्ग की कठिनता के विचार से मैंने सोचा कि पर्वत ३० की चोटी पर चढ़ना असम्भव है । अतः यथा-तथा एक शुवास और



सूखी भाड़ियों को पकड़-पकड़ कर मैं नाले के ऊँचे तट पर पहुँचा। और एक शैल पर खड़े होकर जो चारों ओर दृष्टि की, तो मुझको अगम्य पहाड़ियों, टीलों और जङ्गल के अतिरिक्त, जिसमें मनुष्य का गमन असम्भव था, अन्य कुछ दिखाई न पड़ा।

- ५ क्योंकि उस समय सूर्य भी अस्त होनेवाला था, मुझको चिन्ता हुई कि इस सुत्सान निर्जन वन में बिना पानी और ऐसे पदार्थ के जो जल सके, मेरी क्या दशा होगी? फलतः मुझे उस विकट जङ्गल में ऐसे-ऐसे स्थानों में घूमना पड़ा कि जहाँ के बड़े-बड़े कांटों में उलझ-उलझ कर वस्त्रों की धज्जियाँ उड़ गईं, और शरीर भी क्षत हो गया, और पाँव भी लंगड़े हो गये। अन्त को बड़ी कठिनता दुःख और संकट के साथ उस मार्ग को पूरा करके पर्वत के नीचे पहुँचा, और अपने आप को साधारण पथ पर पाया।

- उस समय रात्रि का अन्धकार सब ओर छा रहा था। मुझे इस कारण अनुमान से मार्ग अन्वेषण करना पड़ा। परन्तु मैंने प्रसिद्ध १५ मार्ग से पृथक् न होने का बहुत ही ध्यान रखा। अन्त को ऐसे स्थान पर पहुँचा, जहाँ कतिपय पर्णकुटियाँ दिखाई पड़ीं। वहाँ के मनुष्यों से ज्ञात हुआ कि यह मार्ग ऊखी-मठ को जाता है। यह सुनकर मैं उस ओर चल पड़ा। रात ऊखी-मठ में व्यतीत की।

- प्रातः जब मैं भले प्रकार आराम कर चुका था, वहाँ से २० गुप्तकाशी को लौटा, अर्थात् जिस स्थान से मैं उत्तर की ओर चला था। परन्तु इस यात्रा की अभिलाषा मुझे पुनः ऊखी-मठ को ले गई, ताकि वहाँ की कन्दराओं के रहनेवालों के वृत्त जानूँ। सो वहाँ पहुँचकर मुझे ऊखी-मठ के देखने का अच्छा अवसर प्राप्त हुआ, जो कि आडम्बर युक्त और पाखण्डी साधुओं से भरा हुआ था।

- २५ यहाँ के बड़े महन्त ने मुझे अपना चेला करने का मनोगत किया। उसने इस बात की दृढता के लिये भी मुझे प्रलोभन दिखाया कि हमारी गद्दी के तुम स्वामी होगे, और लाखों रुपये की पूंजी तुम्हारे पास होगी। मैंने उनको निस्पृह यह उत्तर दिया कि—‘यदि मुझे धन की लालसा होती, तो मैं अपने पिता की सम्पत्ति को, जो ३० तुम्हारे इस स्थल धन-धान्य से कहीं बढ़कर थी, न छोड़ता’। किंच मैंने यह भी कहा—‘कि जिस उद्देश्य के लिये मैंने घर छोड़ा, और



सांसारिक ऐश्वर्य से मुख मोड़ा, न तो मैं उसके लिये तुम्हें यत्न करते देखता हूँ, और न तुम्हें उसका ज्ञान ही प्रतीत होता है। पुनः तुम्हारे पास मेरा रहना कैसे सम्भव हो सकता है' ?

यह सुनकर महन्त ने पूछा कि—‘वह कौन-सा उद्देश्य है, जिसकी तुम्हें जिज्ञासा है, और तुम इतना परिश्रम उठा रहे हो ?’ मैंने उत्तर दिया कि—‘मैं सत्य योगविद्या और मोक्ष (जो बिना अपनी आत्मा की पवित्रता और सत्य न्याय आचरणों के नहीं प्राप्त हो सकता) चाहता हूँ। और जब तक यह अर्थ सिद्ध न होगा; तब तक बराबर अपने देशवालों का उपकार, जो मनुष्य पर कर्तव्य है, करता रहूँगा’ ।

१६

यह सुनकर महन्त ने कहा—“यह बहुत अच्छी बात है, कुछ दिन और तुम हमारे पास ठहरो।” परन्तु मैंने उसकी बात का कुछ भी उत्तर न दिया। क्योंकि मैं जान गया कि यहां कुछ पूर्ति न होगी। सो दूसरे दिन प्रातःकाल उठा, और वहां से जोशीमठ को चल दिया ।

१७

वहां कुछ दिनों दक्षिणी महाराष्ट्रों और संन्यासियों के साथ, जो संन्यासाश्रम की चतुर्थ श्रेणी के सन्चे साधु थे, रहा। और बहुत से योगियों और विद्वान् महन्तों और साधुओं से भेंट हुई। और उनसे वार्त्तालाप में मुझको योगविद्या-सम्बन्धी और बहुत नई बातें ज्ञात हुई ।

२०

उनसे पृथक् होकर पुनः मैं बद्रीनारायण को गया। विद्वान् “रावलजी” उस समय उस मंदिर का मुख्य महन्त था। और मैं उसके साथ कई दिन तक रहा। हम दोनों का परस्पर वेदों और दर्शनों पर बहुत वाद-विवाद रहा। जब उनसे मैंने पूछा कि—‘इस परिस्थिति में कोई विद्वान् और सन्चा योगी भी है या नहीं ?’ तो उसने यह जताने में बड़ा शोक प्रकट किया [कि] इस परिस्थिति में कोई ऐसा योगी नहीं है। परन्तु उसने बताया कि मैंने सुना है कि

२५

१. थ्योसोफिस्ट मास दिसम्बर १८७९ का पाठ यहां समाप्त होता है। अगले वाक्य से नवम्बर १८८० का पाठ चलता है।

२. यह नाम तथा पूर्वोक्त स्थानों का वर्णन सत्याथप्रकाश में भी आया है। देखो तृतीयावृत्ति पृ० ३२६।

३०



प्रायः ऐसे योगी इसी मन्दिर के देखने के लिये आया करते हैं। उस समय मैंने यह दृढ़ संकल्प कर लिया कि समस्त देशों में और विशेषतः पर्वतीय स्थलों में अवश्य ऐसे पुरुषों का अन्वेषण करूंगा।

- एक दिन सूर्योदय के होते ही मैं अपनी यात्रा पर चल पड़ा।  
 ५ और पर्वत की उपत्यका में होता हुआ अखलनन्दा नदी के तट पर जा पहुंचा। मेरे मन में उस नदी को पार करने की किंचित् इच्छा न थी। क्योंकि मैंने उस नदी के दूसरी ओर एक बड़ा ग्राम 'मांस' नामक देखा। अतः अभी उस पर्वत की उपत्यका में ही अपनी गति रखकर नदी के वेग के साथ-साथ मैं जङ्गल की ओर हो लिया। पर्वत मार्ग  
 १० और टीले आदि सब हिम के वस्त्र पहने हुये थे, और बहुत घनी हिम उनके ऊपर थी। अतः अखलनन्दा नदी के स्रोत तक पहुंचने में मुझको अत्यन्त कष्ट उठाने पड़े।

- परन्तु जब मैं वहां गया, तो अपने आपको सर्वथा अपरिचित और अज्ञान जाना। और अपने चारों ओर ऊंची-ऊंची पहाड़ियां  
 १५ देखीं, तो मुझे आगे जाने का मार्ग बन्द दिखाई दिया। कुछ ही काल पश्चात् पथ सर्वथा लुप्त हो गया, और उस मार्ग का मुझको कोई पता न मिला। उस समय मैं सोच व चिन्ता में था कि क्या करना चाहिये?

- अन्ततः अपना मार्ग अन्वेषण करने के अर्थ मैंने नदी को पार करने  
 २० का दृढ़ निश्चय कर लिया। मेरे पहने हुये वस्त्र बहुत हल्के और थोड़े थे, और शीत अत्यधिक था। कुछ ही काल पश्चात् शीत ऐसा अधिक हुआ कि उसका सहन करना असम्भव था। क्षुधा और पिपासा ने जब मुझे अत्यन्त बाधित किया, तो मैंने एक हिम का टुकड़ा खाकर उसको बुझाने का विचार किया, परन्तु किंचित् आराम व  
 २५ सन्तुष्टि प्रतीत न हुई। पुनः मैं नदी में उतर उसे पार करने लगा।

- कतिपय स्थानों पर नदी बहुत गम्भीर थी, और कहीं पानी बहुत कम था। परन्तु एक हाथ या आध गज से कम गहरा कहीं न था। किन्तु विस्तार अर्थात् पाट में दस हाथ तक था, अर्थात् कहीं से चार गज और कहीं से पांच गज। नदी हिम के छोटे और तिरछे  
 ३० टुकड़ों से भरी हुई थी। उन्होंने मेरे पावों को अति घाव-युक्त कर

१. इसका शुद्ध नाम 'माना' है।



दिया, सो मेरे नग्न पांवों से रक्त बहने लगा। मेरे पांव शीत के कारण नितान्त सन्न हो गये थे। जिस कारण मैं बड़े-बड़े घावों से भी कुछ काल तक अचेत रहा।

इस स्थान पर अति शीत के कारण मुझ पर अचेतना-सी छाने लगी। यहां तक कि मैं अचेतन अवस्था में होकर हिम पर गिरने को था। जब मुझे विदित हुआ कि यदि मैं यहां पर इसी प्रकार गिर गया, तो पुनः यहां से उठना मेरे लिये अत्यन्त असम्भव और कठिन होगा। एवं दौड़ घूंप करके जैसे हुआ, मैं प्रबल प्रयत्न करके वहां से कुशल-मंगल-पूर्वक निकला, और नदी के दूसरी ओर जा पहुंचा।

१०

वहां जाकर यद्यपि कुछ काल तक मेरी अवस्था ऐसी रही, जो जीवित की अपेक्षा मृतवत् थी, तथापि मैंने अपने शरीर के उपरि-भाग को सर्वथा नंगा कर लिया। और अपने समस्त वस्त्रों से, जो मैंने पहने हुये थे, जानु वा पांव तक जंघा को लपेट लिया। और वहां पर मैं सर्वथा शक्तिहीन और घबराया हुआ आगे को हिल सकने में और चल सकने में अशक्त खड़ा हो गया। इस प्रकार प्रतीक्षा में था कि कोई सहायता मिले, जिससे मैं आगे को चलूं। परन्तु इस बात की कोई आशा न थी कि वह आवेगी कहां से?

सहायता की आशा में था, परन्तु सर्वथा विवश था। और जानता था कि कोई सहायता का स्थान दिखाई नहीं देता। अन्त को पुनः एक बार मैंने अपने चारों ओर दृष्टि की, और अपने सम्मुख दो पहाड़ी पुरुषों को आते हुये देखा। जो मेरे संसीप आये, और अपने काश-स्तम्भ(?) से मुझको प्रणाम करके उन्होंने अपने साथ घर जाने के लिये मुझे बुलाया। और कहा—“आओ, हम तुमको वहां खाने को भी देवेंगे।”

२५

जब उन्होंने मेरे क्लेशों को सुना, और मेरे वृत्त को श्रवण किया, तो कहने लगे—“हम तुमको सिद्धपत पर भी (जो एक तीर्थ स्थान है) पहुंचा देवेंगे।” परन्तु उनका मुझको यह सब कहना अच्छा प्रतीत न हुआ। मैंने अस्वीकार किया, और कहा—“महाराज! शोक! मैं आपकी यह सब कृपा स्वीकार नहीं कर सकता, क्योंकि मुझमें चलने की किंचित् शक्ति नहीं।” यद्यपि उन्होंने मुझको बहुत आग्रह-

३०



पूर्वक बुलाया, और आने के लिये अत्यधिक अनुरोध किया, तथापि मैं वहीं अपने पांव जमाये खड़ा रहा। और उनकी आज्ञा वा इच्छा-नुकूल मैं उनके पीछे चलने का साहस न कर सका। मैंने उनसे कह दिया कि यहां से हिलने का प्रयत्न करने की अपेक्षा मैं मर जाना उत्तम समझता हूं। ऐसा कहकर मैंने उनकी बातों की ओर ध्यान करना भी बन्द कर दिया, अर्थात् पुनः उन्हें न सुना।

उस समय मेरे मन में विचार आता था कि उत्तम होता यदि मैं लौट जाता, और अपने पाठ को स्थिर रखता। इतने वह दोनों सज्जन वहां से चले गये, और कुछ ही काल में पर्वतों में लुप्त हो गये। वहां जब मुझे शान्ति प्राप्त हुई, तो मैं भी आगे को चला। और कुछ काल वसुधारा (प्रसिद्ध तीर्थ वा यात्रास्थान) पर विश्राम करके मंग्रम<sup>१</sup> के निकटवर्ती प्रदेश से होता हुआ उसी सायं लगभग आठ बजे ब्रह्मनारायण जा पहुंचा।

मुझे देख रावल जी और उनके साथी, जो घबराये हुए थे, विस्मयप्रकाश-पूर्वक पूछने लगे—“आज सारा दिन तुम कहां रहे?”। तब मैंने सब वृत्तान्त क्रमबद्ध सुनाया। उस रात्रि कुछ आहार करके, जिससे मेरी शक्ति लौटती हुई जान पड़ी, मैं सो गया। दूसरे दिन प्रातः शीघ्र ही उठा, और रावलजी से आगे जाने की आज्ञा मांगी। और अपनी यात्रा से लौटता हुआ रामपुर<sup>२</sup> की ओर चल पड़ा। उस सायं चलता-चलता एक योगी के घर पहुंचा। वह बड़ा तपस्वी था। रात्रि उसी के घर काटी। वह पुरुष जीवित ऋषि और साधुओं में उच्चकोटि के ऋषि होने का गौरव रखता था। धार्मिक विषयों पर बहुत काल तक उसका मेरा वार्तालाप हुआ।

अपने संकल्पों को पहले से अधिक दृढ़ करके मैं आगामी दिन प्रातः उठते ही आगे को चल दिया। कई वनों और पर्वतों से होता हुआ चिल्का-घाटी से उतरकर मैं अन्ततः रामपुर<sup>३</sup> पहुंच गया। वहां पहुंच कर मैंने प्रसिद्ध ‘रामगिरि’ के स्थान पर निवास किया। यह पुरुष पवित्राचार और आध्यात्मिक जीवन के कारण अति प्रसिद्ध था।

१. मानाग्राम। देखो पृष्ठ २२ की टिप्पणी।

२. रामपुर की जगह ‘रामनगर’ होना चाहिये। सं०



मैंने उसको विचित्र प्रकृति का पुरुष पाया, अर्थात् वह सोता नहीं था, वरन् सारी-सारी रातें उच्च स्वर से बातें करने में व्यतीत करता ।

वह बातें प्रकट में अपने साथ करता हुआ प्रतीत होता था । प्रायः हमने उच्चस्वर से चीख मारते हुये उसे सुना । पुनः कई ५ वार रोते हुये और चीख मारते हुये सुना । पर वस्तुतः जब उठकर देखा, तो उसके कमरे में उसके अतिरिक्त और कोई पुरुष दिखाई न दिया । मैं ऐसी वार्ता से अत्यन्त विस्मित हुआ ।

जब मैंने उसके चेलों और शिष्यों से पूछा, तो उन १० वेचारों ने केवल यही उत्तर दिया कि—“ऐसी इसकी प्रकृति ही है ।” पर मुझे यह कोई न बता सका कि इसका क्या रहस्य है ?

अन्त को स्वयं जब मैंने उस साधु से कई वार एकान्त में चर्चा की, तो मुझे ज्ञात हो गया कि वह क्या बात ११ थी ? इस प्रकार मैं इस निश्चय करने के योग्य हो गया कि अभी वह जो कुछ करता है, वह पूरी-पूरी योगविद्या का फल नहीं, प्रत्युत पूरी में अभी उसे न्यूनता है । और यह वह वस्तु नहीं कि जिसकी मुझे जिज्ञासा है । यह पूरा योगी नहीं, यद्यपि योग में कुछ गति रखता है । २०

उससे<sup>१</sup> चलकर मैं काशीपुर गया । वहां से द्रोणसागर जा पहुंचा । यहीं मैंने सारा शरद् ऋतु काटा । हिमालय पर्वत पर पहुंचकर देह-त्याग करना चाहिये, ऐसी इच्छा हुई । परन्तु मन में यह विचार आ गया कि ज्ञान-प्राप्ति के पश्चात् देह छोड़ना चाहिये । अतः वहां से मुरादाबाद २५ होता हुआ सम्भल आ पहुंचा । वहां से गढ़मुक्तेश्वर से होते हुये पुनः मैं गङ्गा-तट पर आ निकला ।

१. अर्थात् रामगिरि के स्थान से ।



उस समय अन्य धार्मिक पुस्तकों के अतिरिक्त मेरे पास निम्नलिखित पुस्तकें भी थीं—‘शिव-सन्ध्या, हठप्रदीपिका,’ योगबीज, केशराणि संगीत (?)’ । प्रायः मैं इन्हीं पुस्तकों को यात्रा में पढ़ा करता था । उनमें से कई पुस्तकों का ५ विषय नाड़ीचक्र आदि था । पर उनमें इस विषय का ऐसा लम्बा-चौड़ा विवरण था कि पुरुष पढ़ता-पढ़ता थक जाता । मैं उन्हें कभी भी पूर्णतया अपनी बुद्धि में न ला सका, और न ही समझकर स्मरण कर सका । अतः मुझे विचार हुआ कि न जाने ये सत्य भी है या नहीं ? ऐसा सन्देह होता १० ही गया, यद्यपि मैं अपने संशय के मिटाने का यत्न करता रहा । परन्तु वह संशय दूर न हुये, और न ही उनके दूर करने का कोई अवसर प्राप्त हुआ ।

एक दिन दैवसंयोग से एक शव मुझे नदी में बहता हुआ मिला । तब समुचित अवसर प्राप्त हुआ कि मैं उसकी १५ परीक्षा करता, और अपने मन में उन पुस्तकों के सम्बन्ध में जो विचार उत्पन्न हो चुके थे, उनका निरीक्षण करता । सो उन पुस्तकों को, जो मेरे पास थीं, समीप ही एक ओर रख, वस्त्रों को ऊपर उठा, मैं नदी के भीतर गया । और शीघ्र वहां जा शव को पकड़ तट पर आया ।

मैंने तीक्ष्ण चाकू से जैसा हो सका, उसे यथायोग्य २० काटना प्रारम्भ किया, और हृदय को उसमें से निकाल लिया और ध्यानपूर्वक देख परीक्षा की । अब पुस्तकोल्लिखित वर्णन की उससे तुलना करने लगा । ऐसे ही शिर और ग्रीवा के अङ्गों को काटकर सामने रखा । यह निश्चय करके कि दोनों २५ अर्थात् पुस्तक और शव लेशमात्र भी परस्पर नहीं मिलते, मैंने पुस्तकों को फाड़कर उनके टुकड़े कर डाले । और शव को फेंक, साथ ही पुस्तकों के टुकड़ों को भी नदी में फेंक

---

१. इन पुस्तकों के नामों में कुछ भेद है । परन्तु सब पुस्तकों के मिलाने से उपर्युक्त नाम ठीक समझे गये हैं ।



दिया । उसी समय से शनैः-शनैः मैं यह परिणाम निकालता गया कि वेदों उपनिषदों पातञ्जल और सांख्य-शास्त्र के अतिरिक्त अन्य समस्त पुस्तकें, जो विज्ञान और योग-विद्या पर लिखी गई, मिथ्या और अशुद्ध हैं ।

ऐसे ही कुछ दिन और गंगा-तीर पर विचरते हुए ५  
फर्रुखाबाद पहुंचा । और शृङ्गीरामपुर से होकर छावनी की  
पूर्व दिशावाली सड़क से कानपुर जानेवाला था, जब संवत्  
१९१२ विक्रम समाप्त हुआ ।

(१६१३) अगले पांच मास में कानपुर व प्रयाग के मध्यवर्ती अनेक प्रसिद्ध स्थान मैंने देखे । भाद्रपद के प्रारम्भ में मिर्जापुर पहुंचा । वहां एक मास से अधिक विन्ध्याचल अशोलजी के मन्दिर में निवास किया ।

असूज के आरम्भ में काशी पहुँचा। वहाँ जाकर मैं उस गुफा में ठहरा, जो वरुणा और गङ्गा के संगम पर है, और जो उस समय भवानंद सरस्वती के अधिकार में थी। वहाँ पर कई शास्त्रियों अर्थात् काकाराम, राजाराम आदि से मेरा परिचय हुआ, परन्तु वहाँ केवल १२ ही दिन ही रहा।

तत्पश्चात् जिस वस्तु की खोज में था, उसके अर्थ आगे को चल दिया। और असूज सुदी २, १९१३ को दुर्गाकुण्ड के मन्दिर पर, जो चण्डालगढ़<sup>१</sup> में है, पहुंचा। वहां दश दिन व्यतीत २० किये। यहां मैंने चावल खाने सर्वथा छोड़ दिये, और केवल दूध पर अपना निर्वाह करके दिन-रात योग-विद्या के अध्ययन और अभ्यास में तत्पर रहा। दुर्भाग्यवश वहां मुझे एक बड़ा दोष लग गया, अर्थात् भांग पीने का स्वभाव हो गया। सो कई वार उसके प्रभाव से मैं सर्वथा बेसुध हो जाया करता २१ [ था ]।

१. अर्थात् वर्तमान चत्वारणह । यु० मी०



एक दिन मन्दिर से निकलकर चण्डालगढ़ के निकटस्थ जो एक ग्राम को आता था, तो एक पुराना साथी मिला । ग्राम की दूसरी ओर कुछ ही दूर एक शिवालय था । वहां जाकर मैंने रात काटी । रात्रि के समय भांग से उत्पन्न हुई मादकता के कारण जब मैं अचेत सोता था, तो मैंने एक स्वप्न देखा । वह ऐसे था—

‘मुझे विचार हुआ कि मैंने महादेव और उनकी स्त्री पार्वती को देखा । वे परस्पर वार्त्तालाप कर रहे थे, और उनकी बातों का पात्र मैं था, अर्थात् मेरे ही सम्बन्ध में वे कह रहे थे । पार्वती महादेव जी से कहती थी—“उत्तम हो यदि दयानन्द सरस्वती का विवाह हो जावे ।” परन्तु देवता इससे भेद प्रकट कर रहे थे, और उनका संकेत भांग की ओर था ।’

मैं जागा और स्वप्न पर विचार करने लगा । तब मुझे बड़ा दुःख और क्लेश हुआ । उस समय धारासार वर्षा हो रही थी । मैंने उस बरामदे में, जो मन्दिर के मुख्य द्वार के सम्मुख था, विश्राम किया । वहां नंदी वृष-देवता की एक विशाल मूर्ति खड़ी थी । अपने वस्त्र और पुस्तकादि उसकी पृष्ठ पर रखकर मैं उसके पीछे बैठ गया, और निज विचार में निमग्न हुआ ।

सहसा नन्दी-मूर्ति के भीतर दृष्टिपात करने पर मुझे विदित हुआ कि एक मनुष्य उसमें छिपा हुआ है । मैंने अपना हाथ उसकी ओर फैलाया, इससे वह अति भयभीत हुआ । क्योंकि मैंने देखा कि उसने तत्काल छलांग मारी, और छलांग मारते ही वेग से ग्राम की ओर भागा । तब उसके जाने पर मैं उस ही मूर्ति के भीतर बैठ गया, और अवशिष्ट रात्रिभर वहां सोता रहा ।

प्रातःकाल एक वृद्धा वहां आई । उसने वृषदेवता की पूजा की, जिस अवस्था में कि मैं भी उसके अन्दर ही बैठा हुआ था । कुछ देर पीछे वह गुड़ और दही लेकर लौटी । मेरी पूजा करके और आन्ति से मुझे ही देवता



समझकर उसने कहा—“आप इसे ग्रहण कीजिये, और इसमें से कुछ खाइये ।” मैंने क्षुधार्त होने के कारण वह सब खा लिया । दही क्योंकि बहुत खट्टा था, अतः भांग की मादकता के दूर करने में एक अच्छा निदान हो गया । उससे मादकता जाती रही, और मुझे बहुत आराम प्रतीत हुआ ।

५

(चैत्र १९१४) वहां से आगे चला, और वह मार्ग पकड़ा कि जिस ओर पर्वत थे, और जहां से नर्मदा निकली है, अर्थात् नर्मदा के स्रोत की ओर यात्रा आरम्भ की । मैंने कभी एक बार भी किसी से मार्ग नहीं पूछा, प्रत्युत दक्षिण की ओर यात्रा करता हुआ चला गया । शीघ्र ही मैं एक ऐसे उजाड़ निर्जन स्थान में पहुंच गया, १० जहां चारों ओर बहुत घने वन और जङ्गल थे ।

वहां जङ्गल में अनियमित दूरी पर विन् क्रम झाड़ियों के मध्य में कई स्थानों पर मलिन और उजाड़ भोंपड़ियां थीं । कहीं-कहीं पृथक्-पृथक् भोंपड़ियां भी दृष्टिगोचर होती थीं । उन भोंपड़ियों में से एक पर मैंने किञ्चित् दुग्धपान किया, और पुनः आगे की ओर १५ चल दिया । परन्तु इसके आगे लगभग पौन कोस चलकर मैं पुनः एक ऐसे ही स्थान पर पहुंचा, जहां कोई प्रसिद्ध मार्ग आदि दिखाई न देता था । अब मेरे लिये यही उचित प्रतीत होता था कि उन छोटे-छोटे मार्गों में से (जिन्हें मैं नहीं जानता था कि कहां जाते हैं) कोई एक चुनूं, और उस ओर चल दूं । सुतरां मैं शीघ्र ही एक निर्जन २० वन में प्रविष्ट हुआ ।

उस जङ्गल में बेरियों के बहुत वृक्ष थे । परन्तु घास इतना घना और लम्बा था कि मार्ग सर्वथा दृष्टिगोचर न होता था । वहां मेरा सामना एक बड़े काले रीछ से हुआ । वह पशु बड़े वेग और उच्च स्वर से चीखा । चिंघाड़कर अपनी पिछली टांगों पर खड़ा हो २५ मुझे खाने के निमित्त उसने अपना मुख खोला । कुछ काल तक मैं निष्क्रिय स्तब्धवत् खड़ा रहा । पश्चात् शनैः-शनैः मैंने अपने सोटे को उसकी ओर उठाया । उससे भयभीत हो वह उलटे पांव लौट गया ।<sup>१</sup>

१. रीछ के भयभीत होकर उलटे पांव लौट जाने के सम्बन्ध में अनेक



उसकी चिंघाड़ व गर्ज ऐसी बलपूर्ण थी कि ग्रामवाले, जो मुझे अभी मिले थे, दूर से उसका शब्द सुनकर लट्ठ ले शिकारी कुत्तों सहित मेरी रक्षार्थ वहां आये। उन्होंने मुझे यह समझाने का परिश्रम किया कि मैं उनके साथ चलूं।

- ५ वे बोले—“इस जङ्गल में यदि तुम कुछ भी आगे बढ़ोगे, तो तुम्हें संकटों का सामना करना पड़ेगा। पर्वत वा वन में बहुत-से भयानक क्रूर और हिंसक जङ्गली पशु, अर्थात् रीछ हाथी और आदि तुमको मिलेंगे”। मैंने उनसे निवेदन किया कि—“ग्राप मेरे कुशल-मङ्गल का कुछ भय न करें, क्योंकि मैं कुशल-मङ्गल और रक्षित हूं।”
- १० मेरे मन में तो यही सोच था किसी प्रकार नर्मदा का स्रोत देखूं। अतः समस्त भय और कष्ट मुझे अपने संकल्प से न रोक सकते थे। जब उन्होंने देखा कि उनकी भयानक बातें मेरे लिये कोई भय उत्पन्न नहीं करतीं, और मैं अपने संकल्प में पक्का हूं, तो उन्होंने मुझे एक दण्ड दिया, जो मेरे सोटे से बड़ा था, और जिससे मैं अपनी रक्षा करूं। परन्तु मैंने उस दण्ड को तुरन्त अपने हाथ से फेंक दिया।

- उस दिन जब तक कि संसार में चारों ओर अन्धकार न छाया, मैं बराबर यात्रा करता हुआ चला गया। घण्टों तक मानव-वस्ती का मुझे कोई चिह्न न मिला। दूर-दूर तक कोई ग्राम २० दिखाई न दिया। कोई भोंपड़ी भी तो दृष्टिगोचर न होती थी, और न ही कोई मनुष्यजाति मेरी आंखों के सामने आई। पर वह वस्तुएं, जो प्रायः मेरे मार्ग में आईं, वृक्ष थे। उनमें से अनेक टूटे पड़े थे, कि जिनकी जड़ों को मस्त हाथियों ने तोड़ और उखेड़कर फेंक दिया था।

- १५ इससे कुछ दूर आगे मुझे एक विशाल विकट वन दिखाई दिया।

---

लेखकों का मत है कि रीछ की प्रतिक्रिया में स्वामी दयानन्द की योगशक्ति निमित्त थी। अन्यथा यह हिंस्र जन्तु भयभीत होकर न लौटता।



उसमें प्रवेश करना कठिन था, अर्थात् बेर आदि कांटेवाले वृक्ष इतने घने लगे हुए थे कि उनके भीतर से निकलकर वन में पहुँचना अति दुस्तर प्रत्युत असम्भव प्रतीत होता था। प्रथम तो मुझे उसके भीतर से निकलना असम्भव दिखाई दिया, परन्तु पीछे पेट के बल और जानूँ के सहार मैं शनैः-शनैः सर्पवत् उन वृक्षों में से निकला। ५ और इस प्रकार उस बाधा और कठिनाई पर विजय प्राप्त की।

इस दिग्विजय के प्राप्त करने में मुझको अपने वस्त्रों के टुकड़ों का कर [भेंट] देना पड़ा, और कुछ कर मुझको अपने शरीर के मांस का भी भेंट करना पड़ा। मैं इसमें से घायल और अधमरा १० होकर निकला।

उस समय सर्वत्र अन्धकार छाया हुआ था। तम के अतिरिक्त कुछ भी दृष्टिगोचर न होता था। यद्यपि मार्ग रुका था और दिखाई न देता था, तो भी मैं आगे बढ़ने के विचार को तोड़ न सकता था। मैं इस आशा में था कि कोई मार्ग निकल ११ ही आवेगा। अतएव निरन्तर आगे को चलता गया और बढ़ता रहा।

अन्त को मैं एक भयानक स्थान में पहुँचा, जहाँ कि चारों ओर उच्च शैल और पर्वत थे, कि जिन पर घनी ओषधियाँ और वन-स्पतियाँ उगी हुई थीं। पर इतना अवश्य था कि मनुष्यवास के वहाँ २० कुछ कुछ चिह्न और संकेत पाये जाते थे।

अस्तु, शीघ्र ही मुझे कई भौंपड़ियाँ और कुटियाएँ दिखाई पड़ीं। उनके चारों ओर गोबर के ढेर लगे हुए थे। निकट ही स्वच्छ जल की एक छोटी सी नदी थी। उसके तीर पर बहुत-सी बकरियाँ चर रही थीं। भौंपड़ियों और टूटे-फूटे घरों के द्वारों और छिद्रों २५ में से टिमटिमाता हुआ प्रकाश दिखाई देता था, और जाते हुए पथिक को स्वागत और बधाई के शब्द सुनाता हुआ प्रतीत होता था।



मैंने वहां एक विशाल वृक्ष के नीचे, जो एक झोंपड़ी के ऊपर फैला हुआ था, रात्रि व्यतीत की ।

‘प्रातः उठकर मैं अपने क्षत पांव हाथ और दण्ड को नदी-जल से धोकर सन्ध्या व प्रार्थना के लिये बैठने को ही था कि किसी जंगली पशु की गर्ज मेरे कर्णगोचर हुई । वह ध्वनि “टम-टम” का उच्च शब्द था ।

कुछ काल पश्चात् मैंने एक बड़ी सवारी या जन-समूह को आते हुये देखा । उसमें बहुत-से स्त्री-पुरुष और बालक थे । उनके पीछे बहुत-सी गौएँ और बकरियाँ थीं । वे एक झोंपड़ी या घर से निकले । अनुमान है कि वे किसी धार्मिक त्यौहार की रस्में पूरी करने के लिये, जो रात्रि का हुआ, आये थे ।

जब उन्होंने मेरी ओर देखा, और मुझे उस स्थान में एक अनजान पुरुष जाना, तो बहुत-से मेरे चारों ओर एकत्र हुये । अन्ततः एक वृद्ध पुरुष ने आगे बढ़कर मुझसे पूछा कि तुम कहां से आये हो ? मैंने उन सबसे कहा कि मैं काशी से आया हूं, और अब नर्वदा नदी के स्रोत की ओर यात्रा के लिये जा रहा हूं । इतना पूछकर वे सब मुझे अपनी उपासना करने में निमग्न छोड़कर चले गये ।

उनके जाने के आध घण्टा पश्चात् उनका एक अध्यक्ष दो पर्वतीय पुरुषों सहित मेरे पास आया, और एक दिशा में बैठ गया । यह वस्तुतः उन सबकी ओर से प्रतिनिधि बनकर मुझे अपनी झोंपड़ियों में बुलाने आया था । परन्तु पूर्ववत् मैंने अब भी उनका निमन्त्रण अस्वीकार किया, क्योंकि वे सब मूर्तिपूजक थे । तब उसने अपने साथवालों को मेरे समीप अग्नि प्रज्वलित करने का आदेश किया, और दो पुरुषों को स्थापित किया कि रात्रिभर मेरी रक्षा करते हुये जागते रहें ।

१. यहां से आगे के पाठ में कुछ गड़बड़ी हुई है । मुद्रित पाठ के अनुसार दो रात्रियों का वर्णन प्रतीत होता है । पर रहे थे, इस स्थान पर एक ही रात्रि । यह इस प्रकार की पंक्तियों से भी स्पष्ट है ।



जब उसने मुझसे मेरे भोजन के सम्बन्ध में पूछा, और मैंने उसे बताया कि मैं केवल दूध पीकर निर्वाह किया करता हूँ, तो उस दयावान् अध्याक्ष व नेता ने मुझसे मेरा तूम्बा मांगा। उसे लेकर वह अपनी कुटी को गया, और वहाँ से उसे दूध से भरकर मेरे पास भेज दिया। मैंने उस रात्रि उसमें से थोड़ा-सा दूध पिया। ५ वह फिर मुझे उन दोनों पहरा देने वालों के ध्यान में छोड़कर लौट गया। उस रात्रि मैं घोर निद्रा में सोया, और सूर्योदय तक सोया रहा। तत्पश्चात् अपने सन्ध्या आदि से अवकाश प्राप्त करके मैं उठा और यात्रा के लिये चला।'

ऐसे ही नर्मदा तट पर तीन वर्ष तक फिरता रहा, और अनेक महात्माओं से सत्संग करता रहा।<sup>१०</sup> फलतः नर्मदा स्रोत से लौटकर मैं विशेष विद्या-प्राप्ति के अर्थ मथुरा आया।

(१६१७-१६) मथुरा में एक संन्यासी सत्पुरुष मुझे गुरु मिले। उनका नाम 'विरजानन्द स्वामी' है। वे पहले अलवर में थे। उस समय उनकी आयु ८१ वर्ष की थी। उनकी वेद से लेकर आर्ष शास्त्रों में अधिक रुचि थी। वह दोनों चक्षुहीन थे। उनके उदर में सदा शूल की पीड़ा रहती थी। उनकी आधुनिक कौमुदी शेखर आदि ग्रन्थों पर बड़ी अश्रद्धा थी। भागवत आदि पुराणों का तो बहुत ही तिरस्कार करते थे। समस्त आर्ष ग्रन्थों पर उनकी अत्यन्त भक्ति थी। आगे जब उनका परिचय हुआ, तो २० "तीन वर्ष में व्याकरण आता है" उनके ऐसा कहने पर मैंने उनसे पढ़ने का निश्चय किया।

मथुरा में एक भद्र पुरुष अमरलाल नाम का था। मेरे विद्या-ध्ययन के काल में जो उपकार उसने मुझ पर किये, उन्हें मैं कभी न भूलूंगा। पुस्तक सामग्री और मेरे भोजन आदि का प्रबन्ध २५ उसने अति उत्तम कर दिया। स्वयं जब उसे कहीं बाहर भोजन

१. थ्योसोफिस्ट का लेख यहां समाप्त हो जाता है। आगे केवल पूना व्याख्यान का अनुवाद है।

२. "फिर नर्मदा तट में दर्शन शास्त्रों को पढ़ा।" पत्रविज्ञान पृ० २१, पंक्ति १, संस्करण २।



करने जाना होता, तो प्रथम मुझको घर में ही बनाकर खिलाता, पुनः आप बाहर जाता। इस प्रकार वह पुरुष बहुत उदारचित्त था। मैं संवत् १९१९ तक मथुरा में रहा।

- (१९२०-२१) विद्याध्ययन समाप्त करके दो वर्ष तक मैं ५ आगरा में रहा। परन्तु समय-समय पर पत्र द्वारा अथवा स्वयं मिलकर स्वामी जी से शका-समाधान कर लिया करता था। वहां से ग्वालियर गया, और थोड़ा-सा वैष्णव मत का खण्डन प्रारम्भ किया। (वहां भी जो-जो पुस्तकें मिलीं, उनका विचार किया।)<sup>१</sup> वहां से भी मथुरा में स्वामी जी को पत्र भेजता रहता था। यहां १० ग्वालियर में 'माधव अनुत्तमाचार्य' नामक एक पण्डित था। वह लेखक (=क्लर्क) के रूप में वादादि सुनने के लिये आ बैठता। किसी समय मेरे मुख से कोई अशुद्धि निकलती, तो वह तुरन्त मुझे पकड़ लेता। मैंने बहुत बार पूछा कि आप कौन हो? पर वह कहता कि मैं तो एक साधारण क्लर्क हूं। सुन-सुन कर परिवर्तित हो १५ गया हूं, ऐसा कह छोड़ता।

- एक दिन "वैष्णव खड़ी रेखा लगाते हैं" इस पर बात-चीत चली। तब मैंने कहा "यदि एक रेखा लगाने से स्वर्ग मिलता है, तो सारा मुख काला कर लेने से स्वर्ग से भी आगे का स्थान कोई मिलता होगा?" ऐसा सुन उसे बहुत क्रोध आया, और वह उठकर चल २० दिया। तब मुझे खोज करने पर विदित हुआ कि यह 'अनुत्तमाचार्य' हैं।

- ग्वालियर से मैं करौली गया। वहां एक कबीर-पंथी मिला। उसने 'एक-वीर' का यह 'कबीर' ऐसा अनुवाद किया था। एक कबीरोपनिषद् है, ऐसा वह मुझे कहने लगा। वहां से आगे जयपुर २५ गया। जयपुर में हरिश्चन्द्र एक विद्वान् पण्डित था। वहां मैंने प्रथम वैष्णवमत का खण्डन करके शैवमत की स्थापना की। जयपुर के महाराज रामसिंह ने भी शैवमत ग्रहण किया। इससे शैवमत का

१. "फिर मथुरा से आगरा नगर में दो वर्ष तक स्थिति की। वहां ऋषि-मुनियों की सनातन पुस्तक और नवीन पुस्तकें भी बहुत मिलीं। इनको १. विचारा।" पत्र विज्ञापन पृष्ठ २१, पंक्ति ३, ४ संस्क० २।

२. पत्रविज्ञापन, पृष्ठ २१, पंक्ति ५; संस्क० २।



इतना विस्तार हुआ कि सहस्रों रुद्राक्ष माला मैंने अपने हाथों से दीं। वहां शैवमत इतना दृढ़ हुआ कि हाथी, घोड़े आदि सबके गले में रुद्राक्ष की माला पड़ गई।

जयपुर से मैं पुष्कर गया, और वहां से अजमेर को। अजमेर जाने पर शैवमत का भी खण्डन आरम्भ कर दिया। उस समय जय-  
पुर के महाराज लाट महोदय से मिलने के लिये आगरा जानेवाले थे। वृन्दावन में रङ्गाचार्य करके एक पण्डित था, तब कहीं उससे शास्त्रार्थ हो, ऐसा सोच राजा रामसिंह ने मुझे बुला भेजा। मैं जय-  
पुर गया। परन्तु मैंने शैवमत का भी खण्डन करना आरम्भ कर दिया है, यह समझ राजा अप्रसन्न हुआ। तब मैं जयपुर से चला  
गया। पुनः मथुरा आकर स्वामी जी के पास शंकाओं का समाधान कर लिया। वहां से फिर हरिद्वार गया।

‘पाखण्डमर्दन’ यह अक्षर लिखकर मैंने एक ध्वजा अपनी कुटी पर लगाई। वहां वाद विवाद बहुत हुआ, पुनः मेरे मन में ऐसा प्रतीत होने लगा कि समस्त संसार से विरोध करके और गृहस्थों की अपेक्षा भी पुस्तक आदि बहुत सामग्री रखके क्या करना है। इस हेतु मैंने सर्वत्याग किया, और कौपीन लगा मौन धारण किया।

उस दिन से जो शरीर पर भस्म लगानी आरम्भ की थी, वह गत वर्ष (सं० १९३१) बम्बई में आने तक लगाता ही रहा। रेल पर बैठने के समय से वस्त्र पहनने लगा। अस्तु, वहां हरिद्वार पर जो मैंने मौन धारण किया था, वह अधिक दिन नहीं रहा। कारण यह कि बहुत लोग मुझे पहचानते थे, और एक दिन मेरी पर्णकुटी के द्वार पर आकर एक मनुष्य कहने लगा कि “निगमकल्पतरोगलितं फलम्” अर्थात् भागवत की अपेक्षा वेद कुछ अधिक नहीं, प्रत्युत भागवत के पीछे हैं। तब वह मुझसे सहन न हुआ, और मौन व्रत छोड़ मैं भागवत का खण्डन करने लगा।

(१९२५) फिर ऐसा विचार किया कि ईश्वर कृपा से अपने को, जो थोड़ा-बहुत ज्ञान मिला है, वह सब मनुष्यों को कहना चाहिये। ऐसा संकल्प करके मैं फर्रुखाबाद आया। वहां से रामगढ़ गया। रामगढ़ में वाद-विवाद आरम्भ किया। वहां जब दो-चार शास्त्री एक दम बोलने लगते, तो मैं ‘कोलाहल’ ऐसा कहता। अतएव वहां के लोग



मुझे आज तक कोलाहल स्वामी कहते हैं। वहां चक्रांकितों के दश आदमी मुझे मारने को आये। परन्तु उनसे बड़े संकट से बचा।

फर्रुखाबाद से कानपुर आया, और वहां से प्रयाग गया। प्रयाग में भी मुझे मारने को लोग आये, परन्तु 'माधवप्रसाद' नामक एक भद्र पुरुष ने बचाया। यह गृहस्थ माधवप्रसाद ईसाई मत स्वीकार करने को था, और उसने सारे पण्डितों को विज्ञापन दिये थे कि तीन मास में अपने आर्य धर्म में मेरी संतुष्टि कर दें, अन्यथा ऐसा न होने पर मैं कृष्टान्त मत स्वीकार करूंगा। मैंने उसका आर्यधर्म में निश्चय करा दिया, और वह कृश्चीन होने से बच गया।

१० (१६२६) प्रयाग से मैं रामनगर आया। वहां रामनगर के राजा के कहने पर काशीस्थ पण्डितों से शास्त्रार्थ करने को प्रस्तुत हुआ। उस विवाद में "प्रतिमा" ऐसा शब्द वेदों में है या नहीं, यह विषय चला। प्रतिमा शब्द वेदों में है, परन्तु उसका अर्थ "माप" है, ऐसा मैंने सिद्ध कर दिखाया। वह शास्त्रार्थ अन्यत्र छपकर प्रसिद्ध हुआ है<sup>१</sup>। उसे सब पढ़कर देखें। 'इतिहास' शब्द से ब्राह्मण ग्रन्थ ही ग्रहण करने चाहिये, ऐसा भी वहां वाद चला था।

(१६२६) गत वर्ष भाद्रपद में मैं काशी में था। आज तक चार बार काशी गया हूं। जब-जब काशी जाता हूं, तब-तब 'किसी को वेदों में मूर्तिपूजन मिला हो, तो लावे' ऐसा विज्ञापन देता हूं। परन्तु अब तक कोई वचन नहीं निकला। इस प्रकार उत्तरीय भारत के समस्त प्रान्तों में मैंने भ्रमण किया है। आज दो वर्ष से कलकत्ता, लखनऊ, प्रयाग, कानपुर, जबलपुर आदि स्थानों में मैंने बहुत-से लोगों को धर्मोपदेश किया।

२५ फर्रुखाबाद काशी आदि स्थानों में चार पाठशालायें आर्य-विद्या सिखाने के लिये स्थापित की हैं। उनके अध्यापकों की क्षुद्रता के कारण जितना लाभ चाहिये था, उतना नहीं हुआ। मैं गत वर्ष बम्बई आया। वहां गोसाईं जी महाराज के पक्ष का खण्डन बहुत प्रकार से किया, और बम्बई में आर्यसमाज की स्थापना की।

१. 'न तस्य प्रतिमा अस्ति'। यजु० १५।६५ ॥ यु० मी० ।

३० २. यह शास्त्रार्थ 'काशी शास्त्रार्थ' के नाम से संस्कृत और हिन्दी दोनों भाषाओं में छपा मिलता है। यु० मी० ।



(१६३१) बम्बई से अहमदाबाद और वहां से राजकोट जाकर कुछ दिन धर्मोपदेश किया। इन दिनों तुम्हारे इस नगर (पूना) में प्रायः दो मास से आकर ठहरा हूं। इस समय मेरा वय ४६ वा ५० वर्ष का होगा। इस प्रकार मेरा पूर्व का चरित्र है।

आर्यधर्म की उन्नति हो, इसलिये मेरे सदृश बहुत-से धर्मोपदेशक अपने इस देश में उत्पन्न होने चाहियें। एक व्यक्ति द्वारा यह कार्य सिद्ध नहीं हो सकता। फिर भी अपनी बुद्धि और सामर्थ्य के अनुकूल जो दीक्षा मैंने ली है, उसे चलाऊंगा, ऐसा संकल्प किया हुआ है। आर्यसमाज की सर्वत्र स्थापना होकर मूर्तिपूजा आदि दुष्ट आचार कहीं न हों, वेद-शास्त्र का सत्यार्थ प्रकाशित हो, और उसके अनुकूल आचरण होकर देश की उन्नति हो, ऐसी ही ईश्वर से प्रार्थना है। तुम्हारी सबकी सहायता से अन्तःकरण पूर्वक मेरी वह प्रार्थना सिद्ध होगी, ऐसी पूर्ण आशा है।

और मैंने जो उपकार करना निश्चित किया है, जहां तक बन सकेगा, आमरण तक करूंगा, पुनर्जन्मान्तर में भी ॥'

१५









---

---

# आर्याभिविनय

---

---



पञ्चसिद्धि



ॐ ओ३म् ॐ

## अथार्याऽभिविनयोपक्रमणिका-विचारः

सर्वात्मा सच्चिदानन्दोऽनन्तो यो न्यायकृच्छुचिः ।

भूयात्तमां सहायो नो दयालुः सर्वशक्तिमान् ॥१॥

चक्षूरामाङ्गचन्द्रेऽब्दे चैत्रे मासि सिते दले ।

दशम्यां गुरुवारेऽयं ग्रन्थारम्भः कृतो मया ॥२॥

[दयाया आनन्दो विलसति परः स्वात्मविदितः,

सरस्वत्यस्याग्रे निवसति मुदा सत्यनिलया ।

इयं ख्यातिर्यस्य प्रलसितगुणा वेदशरणा-

स्त्यनेनायं ग्रन्थो रचित इति बोधव्यमनघाः ॥३॥]

बहुभिः प्रार्थितः सम्यग् ग्रन्थारम्भः कृतोऽधुना ।

हिताय सर्वलोकानां ज्ञानाय परमात्मनः ॥४॥

देवस्य मूलमन्त्राणां व्याख्यानं लोकभाषया ।

क्रियते सुखबोधाय ब्रह्मज्ञानाय सम्प्रति ॥५॥

स्तुत्युपासनयोः सम्यक् प्रार्थनायाश्च वर्णितः ।

विषयो वेदमन्त्रैश्च सर्वेषां सुखवर्द्धनः ॥६॥

विमलं सुखदं सततं सुहितं जगति प्रततं तदु वेदगतम् ।

मनसि प्रकटं यदि यस्य सुखी स नरोस्ति सदैश्वरभागधिकः ॥७॥

विशेषभागीह वृणोति यो हितं नरः परात्मानमतीव मानतः ।

अशेषदुःखात्तु विमुच्य विद्यया स मोक्षमाप्नोति न कामकामुकः ॥८॥ २०

व्याख्यान—जो परमात्मा सब का आत्मा, सत्-चित्-आनन्द-स्वरूप, अनन्त, अज, न्याय करनेवाला, निर्मल, सदा पवित्र, दयालु, सब सामर्थ्यवाला हमारा इष्टदेव है, वह हमको सहाय नित्य देवे । जिससे महाकठिन काम भी हम लोग सहज से करने

१. यह श्लोक किञ्चित् पाठभेद से 'भंस्कार-विधि' के आरम्भिक २५ श्लोकों में संख्या ६ पर भी है । (गु० भी०)



को समर्थ हों। हे कृपानिधे ! यह काम हमारा आप ही सिद्ध करनेवाले हो। हम आशा करते हैं कि आप हमारी कामना सिद्ध करेंगे ॥ १ ॥

संवत् १९३२ मिति चैत्र सुदी १० गुरुवार के दिन इस ग्रन्थ का आरम्भ हमने किया [है] ॥ २ ॥

दयानन्द सरस्वती स्वामी का नाम इस (=उक्त तीसरे) श्लोक से निकलता है ॥ ३ ॥

बहुत सज्जन लोग सब के हितकारक धर्मात्मा विद्वान् विचारशील जनों ने मुझसे प्रीति से कहा। तब सब लोगों के हित और यथार्थ परमेश्वर का ज्ञान तथा प्रेम भक्ति यथावत् हो, इसलिये इस ग्रन्थ का आरम्भ किया है ॥ ४ ॥

इस ग्रन्थ में केवल चार वेदों के और ब्राह्मण ग्रन्थों के मूल मन्त्रों का प्राकृत भाषा में व्याख्यान किया है। जिससे सब लोगों को सुख से बोध हो, और ब्रह्म का ज्ञान यथार्थ हो ॥ ५ ॥

१५ १. यही श्लोक स्वल्प पाठान्तर से 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' के प्रारम्भ में भी है। वहां इस श्लोक का अर्थ इस प्रकार लिखा है—"सब सज्जन लोगों को यह बात विदित हो कि जिनका नाम स्वामी दयानन्द सरस्वती है, उन्होंने इस को रचा है"। (यु० मी०)

२० २. प्रथम और द्वितीय संस्करणों में यही पाठ मिलता है। अजमेर के मुद्रित वर्तमान संस्करणों में 'चार' के स्थान में 'दो' पाठ है, तथा 'और ब्राह्मणग्रन्थों के' यह पाठ नहीं है। वस्तुतः प्रथम और द्वितीय संस्करण का पाठ ही ठीक है। क्योंकि यह 'आर्याभिविनय' ग्रन्थ अधूरा है। महर्षि इसके चार अध्याय और बनाना चाहते थे, जिनमें सामवेद, अथर्ववेद तथा ब्राह्मण उपनिषदों के मन्त्रों का व्याख्यान करते। इसमें निम्न प्रमाण है—

(क) महर्षि ने गोपालराव हरिदेशमुख को लिखा था—"आर्याभिविनय के दो अध्याय बन गये हैं, और चार आगे बनने हैं।" देखो—पत्रव्यवहार, पृष्ठ ३३।

(ख) 'संस्कारविधि' के प्रथम संस्करण (संवत् १९३३ वि०)



इस ग्रन्थ में परमेश्वर की स्तुति प्रार्थना उपासना तथा धर्मादि विषय वर्णन किया है, परन्तु मूलसंहितामन्त्र और ब्राह्मण-प्रमाण से ही। सब को सुख बढ़ानेवाला यह विषय है। ॥ ६॥

जो ब्रह्म विमल सुखकारक पूर्णकाम तृप्त जगत् में व्याप्त, वही सब वेदों से प्राप्य है। जिसके मन में इस ब्रह्म की प्रकटता (=यथार्थ विज्ञान) है, वही मनुष्य ईश्वर के आनन्द का भागी है। और वही सब से सदैव अधिक सुखी है। ऐसे मनुष्य को धन्य है ॥ ७ ॥

जो नर इस संसार में अत्यन्त प्रेम धर्मात्मा<sup>१</sup> विद्या सत्सङ्ग सुविचारता निर्वैरता जितेन्द्रियता प्रत्यक्षादि प्रमाणों से परमात्मा का स्वीकार (=आश्रय) करता है, वही जन अतीव भाग्यशाली है। क्योंकि वह मनुष्य यथार्थ सत्यविद्या से सम्पूर्ण दुःख से छूटके परमानन्द 'परमात्मा का नित्य सङ्गरूप जो मोक्ष उसको प्राप्त होता है। फिर कभी जन्म-मरण आदि दुःख-सागर को प्राप्त नहीं होता'। परन्तु जो विषयलम्पट, विचाररहित, १५

में विषयसूची के पीछे पुस्तकों का जो विज्ञापन छपा था, उसमें "आर्या-भिविनय दो भाग ॥)" ऐसा लिखा है। (यु० मी०)

१. आजकल के संस्करणों में निम्नलिखित पाठ है—

"इस ग्रन्थ में वेदमन्त्रों से सब सुखों को बढ़ानेवाली परमेश्वर की स्तुति प्रार्थना व उपासना तथा धर्मादि विषय का वर्णन है।" २०

परन्तु हमारा पाठ प्रथम और द्वितीय संस्करण के अनुकूल है। (सं०)

२. अर्थात् 'धर्मात्मता'। (यु० मी०)

३. "परमात्मा का नित्य सङ्ग.....फिर कभी..... दुःखसागर को नहीं प्राप्त होता।" महर्षि के इस वाक्य वा ऐसे ही अन्य वाक्यों को समझने के लिये 'सत्यार्थप्रकाश' नवम समुल्लास को पढ़ना अत्यन्त आवश्यक है। वहां महर्षि ने मोक्ष के विषय की विस्तार से व्याख्या की है। वहां यह बताया है कि—'वे मुक्त जीव मुक्ति में प्राप्त होके ब्रह्म में आनन्द को तब तक भोगके पुनः महाकल्प के पश्चात् मुक्तिसुख को छोड़के संसार में आते हैं।" २५ ३०



विद्या-धर्म-जितेन्द्रियता-सत्सङ्ग-रहित, छल-कपट-अभिमान-दुरा-  
ग्रहादिदुष्टतायुक्त है, सो वह मोक्षसुख को प्राप्त नहीं होता,  
क्योंकि वह ईश्वरभक्ति से विमुख है। और वह मनुष्य जन्म-मरण  
ज्वरादि-पीड़ाओं से पीड़ित होके सदा दुःखसागर में ही पड़ा  
५ रहता है ॥ ८ ॥

इससे सब मनुष्यों को उचित है कि परमेश्वर और उसकी  
आज्ञा से विरुद्ध कभी नहीं हों। किन्तु ईश्वर तथा उसकी आज्ञा  
में तत्पर होके इस लोक (=संसार-व्यवहार) और परलोक  
(=जो पूर्वोक्त मोक्ष) इनकी सिद्धि यथावत् करें। यही सब  
१५ मनुष्यों की कृतकृत्यता है।

इस 'आर्याभिविनय' ग्रन्थ में मुख्यता से वेदमन्त्रों का पर-  
मेश्वर-सम्बन्धी एक ही अर्थ संक्षेप से किया है। दोनों अर्थ करने  
से ग्रन्थ बढ़ जाता। इससे व्यवहार-विद्यासम्बन्धी अर्थ नहीं  
किया गया। परन्तु वेदों के भाष्य में यथावत् विस्तारपूर्वक  
१० परमार्थ और व्यवहारार्थ ये दोनों अर्थ सप्रमाण किये जायेंगे।

अतः 'आर्याभिविनय' के इस वाक्य का तात्पर्य यही है कि मुक्त  
जीव एक महाकल्प तक कभी जन्म-मरण आदि बन्धन को प्राप्त नहीं  
होते। 'आर्याभिविनय' के आजकल के संस्करणों में उक्त पाठ के स्थान  
पर "और परमात्मा की प्राप्ति जो मोक्ष उसको प्राप्त होता है,  
२० दुःखसागर से छूट जाता है" ऐसा पाठ है। परन्तु प्रथम और द्वितीय संस्क-  
रणों में यही पाठ है, जो हमने रखा है। इसलिये हम ने यही पाठ रखना  
उचित समझा है।

मोक्ष-विषयक सिद्धान्त को खोला सत्यार्थप्रकाश में ही गया है।  
'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' में भी यह विषय अत्यन्त संक्षेप से लिखा है।  
२५ वहां भी ऐसे वाक्य हैं, जैसे "दुःखों के अभाव से पूर्वोक्त परमानन्द  
मोक्ष में अर्थात् सब दिन के लिये परमात्मा के साथ आनन्द ही आनन्द  
भोगने को बाकी रह जाता है, इसी का नाम मोक्ष है।" (ऋ० भा० भू०  
मुक्तिविषय के अन्त में)। ऐसे वाक्यों की सङ्गति 'सत्यार्थ-प्रकाश' नवम  
समुल्लास के साथ मिलाकर पढ़ने से ही लग सकती है। (सम्पादक)



जैसे—“तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुः०” इत्यादि य० संहिता प्रमाण । “इन्द्रं मित्रं वरुणम्०” इत्यादि ऋ० सं० प्रमाण । “बृहस्पतिर्वै ब्रह्म,” “गणपतिर्वै ब्रह्म,” “प्राणो वै ब्रह्म,” “आपो वै ब्रह्म,” “ब्रह्म ह्यग्निः”<sup>१</sup> इत्यादि शतपथ ऐतरेय ब्राह्मणादि प्रमाण, और “महान्तमेवात्मानम्” इत्यादि निरुक्तादि प्रमाणों से परब्रह्म ही अर्थ लिया जाता है ।

तथा “मुखादग्निरजायत”<sup>२</sup> इत्यादि य० सं० प्रमाण । “वायोरग्निः”<sup>३</sup> इत्यादि ब्राह्मण प्रमाण; तथा “अग्निरग्नौ भवतीति”<sup>४</sup> इत्यादि निरुक्त-प्रमाणों से यह प्रत्यक्ष जो रूप गुणवाला दाह-प्रकाशयुक्त भौतिक अग्नि, वह लिया जाता है । इत्यादि दृढ प्रमाण युक्ति और प्रत्यक्ष व्यवहार से दोनों अर्थ वेदभाष्य में लिखे जायेंगे । जिससे सायणादिकृत-भाष्य-दोष और उनके अनुसार अंग्रेजीकृतार्थदोषरूप “वेदों के कलङ्क निवृत्त हो जायेंगे । और वेदों के सत्यार्थ का प्रकाश होने से वेदों का महत्त्व, तथा वेदों का अनन्तार्थ जानने से मनुष्यों को महालाभ, और वेदों में यथावत् सब की प्रीति होगी ।

इस ग्रन्थ से तो केवल मनुष्यों को ईश्वर का स्वरूपज्ञान और भक्ति, धर्मनिष्ठा, व्यवहारशुद्धि इत्यादि प्रयोजन सिद्ध होंगे, जिससे नास्तिक और पाखण्डमतादि अधर्म में मनुष्य लोग न फँसें । किञ्च सब प्रकार के मनुष्य अत्युत्तम हों, और सर्व-शक्तिमान् जगदीश्वर की कृपा सब मनुष्यों पर हो । जिससे सब मनुष्य दुष्टता को छोड़के श्रेष्ठता को स्वीकार करें । यह मेरी परमात्मा से प्रार्थना है, सो परमेश्वर अवश्य पूरी करेगा ॥

इत्युपक्रमणिका संक्षेपतः सम्पूर्णा ॥



१. यजु० ३२।१॥

२. ऋग्० १।१६।४६॥

२५

३. ब्रह्म वै बृहस्पतिः ॥ ऐत० १।१३; शत० ३।१।४।१५॥

४. शत० १।४।६।१०।२॥

५. शत० १।५।१।११॥

६. निरुक्त १।४।१॥

७. यजु० ३।१।२२॥

८. तै० उ० ३।१॥

९. निरु० ७।१४॥

१०. ग्रन्थकार का यहां अंग्रेजी भाषा में मैक्समूलर प्रिफिथ आदि द्वारा किये गये वेदभाष्यों के अर्थदोषों की ओर संकेत है । (यु० मी०)







ॐ ओ३म् ॐ

तत्सत्परब्रह्मणे नमः

## अथार्याभिनिनय-प्रारम्भः

[ प्रथमः प्रकाशः ]

ओं शं नो मित्रः शं वरुणः शं नो भवत्वयमा ।

शं न इन्द्रो बृहस्पतिः शं नो विष्णुरुक्मः ॥१॥

ऋ० अ० १ । अ० ६ । व० १८ । मं० ४ ॥\*

व्याख्यान—हे सच्चिदानन्दानन्तस्वरूप ! हे नित्यशुद्धबुद्ध-  
मुक्तस्वभाव ! हे अद्वितीयानुपमजगदादिकारण ! हे अज निराकार  
सर्वशक्तिमन्, न्यायकारिन् ! हे जगदीश सर्वजगदुत्पादकाधार ! १०  
हे सनातन सर्वमङ्गलमय सर्वस्वामिन् ! हे करुणाकरास्मत्पतिः  
परमसहायक ! हे सर्वानन्दप्रद सकलदुःखविनाशक ! हे अविद्या-  
न्धकारनिर्मूलक विद्यार्कप्रकाशक ! हे परमैश्वर्यदायक साम्रा-  
ज्यप्रसारक ! हे अधमोद्धारक पतितपावन मान्यप्रद ! हे  
विश्वविनोदक विनयविधिप्रद विश्वासविलासक ! हे निरञ्जन २५  
नायक शर्मद नरेश निर्विकार ! हे सर्वान्तर्यामिन् सदुपदेशक  
मोक्षप्रद ! हे सत्यगुणाकर निर्मल निरीह निरामय निरुपद्रव  
दीनदायक परमसुखदायक ! हे दारिद्र्यविनाशक निर्वैर-  
विधायक सुनीतिवर्धक ! हे प्रीतिसाधक राज्यविधायक

\*यह संख्या इस भाग में सर्वत्र यथावत् जान लेना, क्योंकि आगे २०  
केवल अङ्कसंख्या लिखी जायेगी । १ । ६ । १८ । ४ इनसे अष्टक,  
अध्याय, वर्ग, मन्त्र जान लेना । द० स०

१. मण्डलक्रमानुसार पता इस प्रकार है—मण्डल १ । सूक्त ६० ।  
मन्त्र ६ ॥ आगे भी मण्डलक्रमानुसार पता टिप्पणी में दर्शाया जायेगा ।  
(यु० मी०)



- शत्रुविनाशक ! हे सर्वबलदायक निर्बलपालक धर्मसुप्रापक ! हे अर्थ-  
 सुसाधक सुकामवर्द्धक ज्ञानप्रद ! हे सन्ततिपालक धर्मसुशिक्षक रोग-  
 विनाशक ! हे पुरुषार्थप्रापक दुर्गुणनाशक सिद्धिप्रद ! हे  
 सज्जनसुखद दुष्टसुताडन गर्वकुक्रोधकुलोभविदारक ! हे परमेश-  
 ५ परेश परमात्मन् परब्रह्मन् ! हे जगदानन्दक परमेश्वर व्यापक  
 सूक्ष्मान्छेद्य ! हे अजरामृताभयनिर्वन्धानादे ! हे अप्रतिमप्रभाव  
 निर्गुणातुल विश्वाद्य विश्ववन्द्य विद्वद्विलासकेत्याद्यनन्त-  
 विशेषणवाच्य ! हे मङ्गलप्रदेश्वर ! आप [ (शं नो मित्रः) ]  
 सर्वथा सब के निश्चित मित्र हो, हमको सत्यसुखदायक सर्वदा  
 १० हो । [ (शं वरुणः) ] हे सर्वोत्कृष्ट स्वीकरणीय वरेश्वर ! आप  
 वरुण अर्थात् सब से परमोत्तम हो, आप हमको परमसुखदायक  
 हो ! [ (शं नो भवत्वयमा) ] हे पक्षपातरहित धर्मन्यायकारिन् !  
 आप अर्थात् ( = यमराज ) हो, हमारे लिये न्याययुक्त सुख  
 देनेवाले आप ही हो । [ (शं नः इन्द्रः) ] हे परमैश्वर्य्यवन्  
 १५ इन्द्र ईश्वर ! आप हमको परमैश्वर्य्ययुक्त शीघ्र स्थिर सुख  
 दीजिये । [ (बृहस्पतिः) ] हे महाविद्य वाचोऽधिपते बृहस्पते  
 परमात्मन् ! हम लोगों को बृहत् = सब से बड़े सुख को देनेवाले  
 आप ही हो । [ (शं नः विष्णुः उरुक्रमः) ] हे सर्वव्यापक अनन्त-  
 पराक्रमेश्वर विष्णो ! आप हमको अनन्त सुख देओ । जो कुछ  
 २० मांगेंगे, सो आप से ही हम लोग मांगेंगे । सब सुखों का देनेवाला  
 आप के बिना कोई नहीं है । सर्वथा हम लोगों को आपका  
 ही आश्रय है, अन्य किसी का नहीं । क्योंकि सर्वशक्तिमान्,  
 न्यायकारी दयामय सब से बड़े पिता को छोड़के नीच का आश्रय  
 हम लोग कभी न करेंगे । आप का तो स्वभाव ही है कि  
 २५ अङ्गीकृत को कभी नहीं छोड़ते । सो आप सदैव हम को सुख  
 देंगे, यह हम लोगों को दृढ़ निश्चय है ॥१॥

१. 'शत्रु' शब्द का अर्थ यहां धर्म का विरोधी पापी है । (सं०)



## स्तुति-विषय

अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम् ।

होतारं रत्नधातमम् ॥२॥ १।१।१।१।१।

व्याख्यान—हे वन्द्येश्वररत्ने ! [(अग्निमीळे)] आप ज्ञानस्वरूप हो, आप की मैं स्तुति करता हूँ ।<sup>१</sup> हे सर्वहितोपकारक ! आप (पुरोहितम्) सब जगत् के हितसाधक हो । [(यज्ञस्य देवम्)] हे यज्ञदेव ! [आप] सब मनुष्यों के पूज्यतम और ज्ञानयज्ञादि के लिये कमनीयतम हो । (ऋत्विजम्) सब ऋतु वसन्त आदि के रचक, अर्थात् जिस समय जैसा सुख चाहिये, उस समय वैसे सुख के सम्पादक आप ही हो । (होतारम्) सब जगत् को समस्त योग और क्षेम के देनेवाले हो, और प्रलय-समय में कारण में सब जगत् का होम करनेवाले हो । (रत्नधातमम्) रत्न अर्थात् रमणीय पृथिव्यादिकों के धारण रचन करनेवाले, तथा अपने सेवकों के लिये रत्नों के धारण करनेवाले एक आप ही हो । हे

१. ऋक् मण्डल १ । सूक्त १ । मन्त्र १॥ (यु० मी०)

२. मूल में इसके आगे 'सब मनुष्यों के प्रति...आदि कारण ईश्वर हैं' पाठ दिया है । हमने उसे इस सन्दर्भ के आगे यथास्थान रख दिया है । देखो—महर्षिकृत ऋग्वेदभाष्य १ । १ । १ भावार्थभाषा । (यु० मी०)

३. इसका भाव 'रत्नों के धारण करानेवाले हैं', यह इसी मन्त्र के ऋषिभाष्य से स्पष्ट है । वेदभाष्य-१ । १ । १, पृ० १३ में लिखा है—  
"रमणीयानि पृथिव्यादीनि सुवर्णादीनि च रत्नानि दधाति धापयतीति रत्नधा, अतिशयेन रत्नधा इति रत्नधातमः ।"

इसका भावार्थ—“रत्नों के धारण करानेहारे ।”

इसी प्रकार आगे चतुर्थ मन्त्र के अर्थ में तथा अन्य स्थलों पर “प्राप्त कराओ” के अभिप्राय के लिये “प्राप्त करो” ऐसा पाठ है ।

इसके लिये अन्तःसाक्षी भी है—

“(उद्गमय=प्रापय)” का अर्थ “प्राप्त कर” ऐसा ही ‘आर्याभिविनय’ द्वि० प्रकाश मं० ११ के अर्थ में लिखा है ।

इस अस्पष्टता में कारण भाषाशैली है, यह स्पष्ट है । (सम्पादक)



सर्वशक्तिमन् परमात्मन् ! इसलिये मैं बारंवार आप की स्तुति करता हूं, इसको आप स्वीकार कीजिये । जिससे हम लोग आप के कृपापात्र होके सदैव आनन्द में रहें ।

- सब मनुष्यों के प्रति परमात्मा का यह उपदेश है - "हे मनुष्यो ! तुम लोग इस प्रकार से मेरी स्तुति प्रार्थना और उपासनादि करो । जैसे पिता वा गुरु अपने पुत्र वा शिष्य को शिक्षा करता है कि तुम पिता वा गुरु के विषय में इस प्रकार से स्तुति आदि का वर्त्तमान<sup>१</sup> करना, वैसे सब के पिता और परमगुरु ईश्वर ने हम को कृपा से सब व्यवहार और विद्यादि पदार्थों का उपदेश किया है । जिससे हमको व्यवहार-ज्ञान और परमार्थ-ज्ञान होने से अत्यन्त सुख हो । जैसे सब का आदिकारण ईश्वर है, वैसे परमविद्या वेद का भी आदि कारण ईश्वर है" ॥ २ ॥

#### प्रार्थना-विषय

अग्निना रयिमश्नवत्पोषमेव दिवेदिवे ।

यशसं वीरवत्तमम् ॥३॥ १।१।१।३॥<sup>२</sup>

- व्याख्यान - [ (अग्निना) ] हे महादातः ईश्वराग्ने ! आपकी कृपा से स्तुति करनेवाला मनुष्य (रयिम्) उस विद्यादि धन तथा सुवर्णादि धन को [ (अश्नवत्) ] अवश्य प्राप्त होता है, कि जो धन [ (दिवे दिवे) ] प्रतिदिन (पोषमेव) महापुष्टि करने [ (यशसम्) ] और सत्कीर्ति को बढ़ानेवाला, तथा [ (वीरवत्तमम्) ] जिससे विद्या शौर्य्य धैर्य्य चातुर्य्य बल-पराक्रम और दृढ़ाङ्ग धर्मात्मा न्याययुक्त अत्यन्त वीर पुरुष प्राप्त हों, वैसे सुवर्ण रत्नादि तथा चक्रवर्ती राज्य और विज्ञानस्वरूप धन को मैं प्राप्त होऊं । तथा आपकी कृपा से सदैव धर्मात्मा होके अत्यन्त सुखी रहूं ॥ ३ ॥



## स्तुति-विषय

अग्निः पूर्वभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत ।

स देवाँ एह वक्षति ॥४॥ १।१।१।२॥'

व्याख्यान—[(अग्निः)] हे सब मनुष्यों के स्तुति करने योग्य ईश्वरान्ते ! (पूर्वभिः) विद्या पढ़े हुए प्राचीन(ऋषिभिः) मन्त्रार्थ ५ देखनेवाले विद्वान्, तथा (नूतनैः) वेदार्थ पढ़नेवाले नवीन ब्रह्म-चारियों से (ईड्यः) स्तुति के योग्य, (उत) और [(नूतनैः)] जो हम लोग (=मनुष्य) विद्वान् वा मूर्ख हैं, उन से भी अवश्य आप ही स्तुति के योग्य हो । [(स...वक्षति)] सो स्तुति को प्राप्त हुए आप हमारे और सब संसार के सुख के लिये दिव्यगुण १० अर्थात् विद्यादि को कृपा से प्राप्त करो, आप ही सब के इष्टदेव हो ॥ ४ ॥

## स्तुति-विषय

अग्निर्होता कविक्रतुः सत्यश्चित्रश्रवस्तमः ।

देवो देवेभिरा गमत् ॥५॥ १।१।१।५॥'

१५

व्याख्यान—[(कविः)] हे सर्वदृक्=सब को देखनेवाले ! (क्रतुः) सब जगत् के जनक, (सत्यः) अविनाशी अर्थात् कभी जिसका नाश नहीं होता, (चित्रश्रवस्तमः) आश्चर्य्यश्रवणादि ५ आश्चर्य्यगुण आश्चर्य्यशक्ति आश्चर्य्यस्वरूप और अत्यन्त उत्तम आप हो । जिन आपके तुल्य वा आप से बड़ा कोई नहीं है । २० [(देवः)] हे जगदीश ! (देवेभिः) दिव्य गुणों के सह वर्त्तमान हमारे हृदय में आप प्रकट हों, सब जगत् में भी प्रकाशित हों ।

१. ऋ० १।१।२॥ (यु० मी०)

२. 'मनुष्य' पाठ प्रथम संस्करण में नहीं है । (सं०)

३. 'प्राप्त करो' अर्थात् प्राप्त कराओ । (यु० मी०)

२५

४. ऋ० १।१।५॥ (यु० मी०)

५. अर्थात् अत्यन्त अद्भुत यश आदि से युक्त । (यु० मी०)



जिससे हम और हमारा राज्य दिव्यगुणयुक्त हो। वह राज्य आप का ही है, हम तो केवल आप के पुत्र तथा भृत्यवत् हैं ॥ ५ ॥

### प्रार्थना-विषय

यदुङ्ग दाशुषे त्वमग्रे भद्रं करिष्यसि ।

तवेत्तत्सत्यमङ्गिरः ॥६॥ १।१।२।१॥'

१५ व्याख्यान—हे (अङ्ग) मित्र ! [(दाशुषे)] जो आप को आत्मादि दान करता है,<sup>२</sup> उसको [आप] (भद्रम्) व्यावहारिक और पारमार्थिक सुख [(करिष्यसि)] अवश्य देते हो। हे (अङ्गिरः) प्राणप्रिय ! [(तवेत्तत्सत्यम्)] यह आप का सत्यव्रत है कि स्वभक्तों को परमानन्द देना। यही आप का स्वभाव हम को अत्यन्त सुखकारक है। आप मुझ को ऐहिक और पारमार्थिक इन दोनों सुखों का दान शीघ्र दीजिये। जिस से सब दुःख दूर हों, हम को सदा सुख ही रहे ॥ ६ ॥

### स्तुति-विषय

१० वायवा याहि दर्शतेमे सोमा अरंकृताः ।

तेषां पाहि श्रुधी हवम् ॥७॥ १।१।३।१ ।'

व्याख्यान—[(वायवा याहि दर्शत)] हे अनन्तबल परेश

१. ऋ० १।१।६॥ (यु०मी०)

२. वेदभाष्य में—“(दाशुषे) सर्वस्वं दत्तवते” ऐसा पाठ है। अर्थात् सर्वस्व प्रभु के समर्पण करनेवाले के लिये। तथा—“य आत्मदा बलदा” मन्त्र में प्रभु को आत्मदा (आत्मा का देनेवाला) कहा है, अर्थात् वह आत्म-ज्ञान का दाता है। इसी प्रकार जीव “दाइवान्” आत्मादि दान करता है, अर्थात् अपने आप को प्रभु के समर्पण करता है। यहां पर ‘आदि’ शब्द विशेष ध्यान देने योग्य है। (सम्पादक)

२५ ३. ऋ० १।२।१॥ (यु० मी०)



वायो दर्शनीय ! आप अपनी कृपा से ही हमको प्राप्त हो ।  
 [(इमे सोमाः)] हम लोगों ने अपनी अल्पशक्ति से सोम  
 (=सोमवल्यादि) ओषधियों का उत्तम रस सम्पादन किया है ।  
 और जो कुछ भी हमारे श्रेष्ठ पदार्थ हैं, वे आपके लिये ही  
 (अरंकृताः) अलंकृत अर्थात् उत्तम रीति से हमने बनाये हैं । ५  
 वे सब आपके समर्पण किये गये हैं, [(तेषां पाहि)] उन को आप  
 स्वीकार करो (=सर्वात्मा से पान करो) । [(श्रुधि हवम्)]  
 हम दीनों की पुकार सुनकर जैसे पिता को पुत्र छोटी चीज सम-  
 पर्ण करता है, उस पर पिता अत्यन्त प्रसन्न होता है, वैसे आप  
 हम पर प्रसन्न होओ ॥ ७ ॥ १०

१. यहां पर "स्वीकार करो" और "पान करो" ये दोनों शब्द एक  
 ही अर्थ के वाचक हैं । इन अर्थों पर कई भाई आक्षेप करते हैं कि—'यहां  
 परमात्मा से सोमरसपान करने की प्रार्थना की गई है । इससे मूर्तिपूजा  
 सिद्ध होती है, क्योंकि मूर्तिपूजक ठाकुर जी को भोग लगाते हैं । यहां  
 परमात्मा से सोमरस पिलाया जाता है' । १५

परन्तु आक्षेप करनेवाले लोग भूल करते हैं, क्योंकि ठाकुर जी को भोग  
 लगाने के लिये उनके मुंह आदि अङ्ग होते हैं । परन्तु यहां तो महर्षि स्पष्ट  
 लिखते हैं—"सर्वात्मा से पान करो" । महर्षि इन शब्दों में स्पष्ट ही प्रभु  
 को सर्वव्यापक और निराकार बता रहे हैं, तो फिर परमात्मा का मुंह और  
 मूर्ति की कल्पना कैसे इन शब्दों से की जा सकती है ? अतः मूर्तिपूजा के २०  
 साथ तो इन शब्दों का दूर का भी सम्बन्ध नहीं है ।

इस मन्त्र का सारा अर्थ पढ़ जाओ । प्रभु के साथ स्नेह का अतिशय  
 भाव द्योतित हो रहा है । प्रभुप्रेम की मस्ती है, सच्चे भगवद्भक्त के हृदय  
 ने सच्चे समर्पण के भाव निकले हुए हैं ।

महर्षि के वेदभाष्य में (तेषां पाहि) का अर्थ निम्नलिखित भी २५  
 किया गया है—

"(तेषां) तान् पदार्थान् (पाहि) रक्षयेति" । "(तेषां) उनकी (पाहि)  
 रक्षा भी कीजिये ।" तात्पर्य यह है कि 'पाहि' शब्द का अर्थ 'रक्षा करो'  
 भी ऋषि ने किया है । (सम्पादक)



प्रार्थना-विषय

पावका नः सरस्वती वाजेभिर्वाजिनीवती ।

यज्ञं वष्टु धियावसुः ॥८॥ १।१।६।४॥<sup>१</sup>

- व्याख्यान—हे वाक्पते ! सर्वविद्यामय ! [(नः)] हमको
- ५ आप की कृपा से (सरस्वती) सर्वशास्त्र-विज्ञानयुक्त वाणी प्राप्त हो । (वाजेभिः) तथा उत्कृष्ट अन्नादि के साथ वर्तमान (वाजिनीवती) सर्वोत्तमक्रिया-विज्ञानयुक्त, (पावका) पवित्र-स्वरूप और पवित्र करनेवाली, सदैव सत्यभाषणमय मङ्गलकारक वाणी आपकी प्रेरणा से प्राप्त होके आपके अनुग्रह से (धियावसुः)
- १० परमोत्तम बुद्धि के साथ वर्तमान निधिस्वरूप यह वाणी (यज्ञं वष्टु) सर्वशास्त्रबोध और पूजनीयतम आप के विज्ञान की कामनायुक्त सदैव हो । जिस से हमारी सब मूर्खता नष्ट हो, और हम महापाण्डित्ययुक्त हों ॥ ८ ॥

स्तुति-विषय

१५ पुरुतमं पुरुणामीशानं वार्याणाम् ।

इन्द्रं सोमे सचा सुते ॥९॥ १।१।९।२॥<sup>२</sup>

- व्याख्यान—हे परात्पर परमात्मन् ! आप (पुरुतमम्) अत्यन्तोत्तम और सर्वशत्रुविनाशक हो । तथा [(पुरुणाम्)] बहु-विध जगत् के पदार्थों के (ईशानम्) स्वामी और उत्पादक हो ।
- २० (वार्याणाम्) वर वरणीय परमानन्द मोक्षादि पदार्थों के भी ईशान हो । और (सोमे) उत्पत्तिस्थान संसार आप से [(सुते)] उत्पन्न होने से [(सचा)] प्रीतिपूर्वक [हम] (इन्द्रम्) परमैश्वर्यवान् आपको (अभिप्रगायत\*) हृदय में अत्यन्त प्रेम से गावें, यथा-वत् स्तुति करें । जिससे आपकी कृपा से हम लोगों का भी
- २५ परमैश्वर्य बढ़ता जाये, और [हम] परमानन्द को प्राप्त हों ॥ ९ ॥

\*इस शब्द की अनुवृत्ति मन्त्र १।१।९।१ से आई है । ८० स०

१. ऋ० १।३।१०॥

२. ऋ० १।५।२॥ (यु० मी०)



## प्रार्थना-विषय

तमीशानं जगतस्तस्थुषस्पतिं धियंजिन्वमसे ह्रमहे वयम् ।

पूषा नो यथा वेदसामसंद्भुधे रक्षिता पायुरदब्धः स्वस्तये ॥ १० ॥

१।६।१५।५॥<sup>१</sup>

व्याख्यान—हे सर्वाधिस्वामिन् ! आप ही [(जगतः तस्थुषः)] चर और अचर जगत् के (ईगानम्) रचनेवाले हो । (धियंजिन्वम्) सर्वविद्यामय, विज्ञानस्वरूप, बुद्धि को प्रकाशित करनेवाले, सब को तृप्त करनेवाला, प्रीणनीयस्वरूप (पूषा) सब के पोषक हो । उन आपका हम (नः अत्रसे) अपनी रक्षा के लिये (ह्रमहे) आह्वान करते हैं । (यथा) जिस प्रकार से आप हमारे विद्यादि धनों की वृद्धि वा रक्षा के लिये (अदब्धः रक्षिता) निरालस रक्षा करने में तत्पर हो, वैसे ही कृपा करके आप (स्वस्तये) हमारी स्वस्थता के लिये (पायुः) निरन्तर रक्षक (= विनाशनिवारक) हो । आपसे पालित हम लोग सदैव उत्तम कामों में उन्नति और आनन्द को प्राप्त हों ॥ १० ॥

## स्तुति-विषय

अतो देवा अवन्तु नो यतो विष्णुर्विचक्रमे ।

पृथिव्याः सप्त धामभिः ॥ ११ ॥ १।२।७।१॥<sup>२</sup>

व्याख्यान - हे (देवाः) विद्वानो ! (विष्णुः) सर्वत्र व्यापक परमेश्वर ने सब जीवों को पाप तथा पुण्य का फल भोगने और सब पदार्थों के स्थित होने के लिये [(पृथिव्याः)] पृथ्वी से लेके [(सप्त)] सप्तविधि<sup>३</sup> (धामभिः) धाम अर्थात् ऊँचे-नीचे सात प्रकार के लोकों को बनाया, तथा गायत्र्यादि सात छन्दों

१. ऋ० १।८।५॥

२. ऋ० १।२।१६॥ (यु० मी०)

३. 'सप्त' अर्थात् पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, विराट्, परमाणु और प्रकृति । द्र०—महर्षिकृत ऋग्वेदभाष्य (यु० मी०)



से विस्तृत विद्यायुक्त वेद को भी बनाया। उन लोकों के साथ वर्त्तमान व्यापक ईश्वर ने (यतः) जिस सामर्थ्य से सब लोकों को रचा है, (अतः) = सामर्थ्यात् = उसी सामर्थ्य से हम लोगों की रक्षा करे। हे विद्वानो ! तुम लोग भी उसी विष्णु के उपदेश से [(नः अवन्यु)] हमारी रक्षा करो। कैसा है वह विष्णु ? जिसने इस सब जगत् को (विचक्रमे) विविध प्रकार से रचा है। उसकी नित्य भक्ति करो ॥ ११ ॥

प्रार्थना-विषय

पाहि नो अग्रे रक्षसः पाहि धूर्तेरराव्यः ।

१० पाहि रीषत उत वा जिघांसतो बृहद्भानो यविष्ठय ॥ १२ ॥

१।३।१०।५॥<sup>१</sup>

व्याख्यान--हे [(अग्ने)] सर्वशत्रुदाहकाग्ने परमेश्वर ! [(रक्षस)] राक्षस हिंसाशील दुष्टस्वभाव देहधारियों से (नः) हमारी (पाहि) पालना और रक्षा करो। (धूर्तेरराव्यः) कृपण जो धूर्त उस मनुष्य से भी हमारी [(पाहि)] रक्षा करो। [(रीषत उत वा जिघांसतः)] जो हमको मारने लगे, तथा जो मारने की इच्छा करता है, [(बृहद्भानो यविष्ठय)] हे महातेज बलवत्तम ! उन सब से हमारी [(पाहि)] रक्षा करो ॥ १२ ॥

स्तुति-विषय

२० त्वमस्य पारे रजमो व्योमनः स्वभूत्योजा अवसे धृषन्मनः ।  
चक्रूषे भूमिं प्रतिमानमोजमोऽपः स्वः परिभूरेष्या दिवम् ॥ १३

१।४।१४।२॥<sup>३</sup>

१. ऋ० १।३६।१५॥ (यु० मी०)

२. 'रा दाने' धातु से रावन, न रावा अरावा, तस्मात् 'अराव्यः'

२५ अर्थात् दान न देनेवाला कृपण । (सम्पादक)

३. ऋ० १।५२।१२॥ (यु० मी०)



व्याख्यान—हे परमेश्वर्य्यवन् परमात्मन् ! [(रजसः व्योमनः पारे)] आकाश लोक के पार में तथा भीतर [(स्वभूत्योजा धृषन्मनः)] अपने ऐश्वर्य्य और बल से विराजमान होके दुष्टों के मन को धर्षण=तिरस्कार करते हुए सब जगत् तथा विशेष हम लोगों के (अवसे) सम्यक् रक्षण के लिये (त्वम्) आप सावधान हो रहे हो। इससे हम निर्भय होके आनन्द कर रहे हैं। किञ्च (दिवम्) परमाकाश (भूमिम्) भूमि तथा (स्वः) सुखविशेष मध्यस्थ लोक इन सबों को [(ओजसः)] अपने सामर्थ्य से ही रचके यथावत् धारण कर रहे हो। (परिभूः एषि) सबके ऊपर वर्त्तमान और सब को प्राप्त हो रहे हो। (आ दिवम्) द्योतनात्मक सूर्यादि लोक, (अपः) अन्तरिक्षलोक और जल इन सब के (प्रतिमानम्) = परिमाणकर्त्ता आप ही हो, तथा आप अपरिमेय हो। कृपा करके हमको अपना तथा सृष्टि का विज्ञान दीजिये ॥ १३ ॥

#### प्रार्थना-विषय

१५

वि जानीह्यार्यान् ये च दस्यवो  
बर्हिष्मते रन्ध्रया शासदव्रतान् ।  
शाकी भव यजमानस्य चोदिता  
विश्वेत्ता ते सध्रमादेषु चाकन ॥१४॥ १।४।१०।३॥'

व्याख्यान—हे यथायोग्य सबको जाननेवाले ईश्वर ! आप (आर्यान्) विद्याधर्म्मदि-उत्कृष्ट-स्वभावाचरणयुक्त आर्यों को [(वि जानीहि)] जानो। (ये च दस्यवः) और जो नास्तिक डाकू चोर, विश्वासघाती मूर्ख, विषयलम्पट, हिंसादिदोषयुक्त, उत्तम कर्म्म में विघ्न करनेवाले स्वार्थी, स्वार्थसाधन में तत्पर, वेदविद्या-विरोधी अनार्य मनुष्य (बर्हिष्मते) सर्वोपकारक यज्ञ के ध्वंसक हैं, इन सब दुष्टों को आप (रन्ध्रयः) = समूलान् विनाशय = मूल-सहित नष्ट कर दीजिये। और (शासदव्रतान्) ब्रह्मचर्य-गृहस्थ-वानप्रस्थ-संन्यासादि-धर्म्मानुष्ठानव्रतरहित, वेदमार्गोच्छेदक अना-

१. ऋ० १।५।१।८॥ (यु० मी०)



चारियों को यथायोग्य शासन करो (=शीघ्र उन पर दाढ़ निपातन करो) । जिससे वे भी शिक्षायुक्त होके शिष्ट हों, अथवा उनका प्राणान्त हो जाय, किंवा हमारे वश में ही रहें । (शाकी) तथा [आप ही] जीव को परम शक्तियुक्त शक्ति देने और उत्तम कामों में [(चोदिता)] प्रेरणा करनेवाले हो । आप हमारे दुष्ट कामों से निरोधक हो । मैं भी (सधमादेयु) उत्कृष्ट स्थानों में निवास करता हुआ (विश्वेत्ता ते) तुम्हारी आज्ञानुकूल सब उत्तम कर्मों की (चाकन) कामना करता हूँ । सो आप पूरी करें ॥१४॥

### स्तुति-विषय

१० न यस्य द्यावापृथिवी अनु व्यचो  
न सिन्धवो रजसो अन्तमानशुः ।  
नोत स्ववृष्टिं मदे अस्य युध्यत  
एको अन्यच्चकृषे विश्वमानुषक् ॥१५॥ १।४।१४।४।१

व्याख्यान—हे परमैश्वर्ययुक्तेश्वर ! आप इन्द्र हो । हे मनुष्यो ! [(न यस्य द्यावापृथिवी अन्तमानशुः)] जिस परमात्मा का अन्त=‘इतना यह है’ न हो<sup>१</sup> । उसकी व्याप्ति का परिच्छेद (=इयत्ता) परिमाण कोई नहीं कर सकता । तथा दिव अर्थात् सूर्यादिलोक, सर्वोपरि आकाश तथा पृथिवी मध्य निकृष्ट लोक ये कोई उसके आदि अन्त को नहीं पाते । क्योंकि (अनुव्यचः) वह सब के बीच में अनुस्यूत (=परिपूर्ण) हो रहा है । तथा (न सिन्धवः) अन्तरिक्ष में जो दिव्य जल तथा सब लोक सो भी अन्त नहीं पा सकते । (नोत स्ववृष्टिं मदे) वृष्टि-प्रहार से युद्ध करता हुआ वृत्र (=मेघ) तथा बिजुली गर्जन आदि भी ईश्वर का पार नहीं पा सकते\* । हे परमात्मन् ! आपका पार कौन

२५ \*जैसे कोई मद में मग्न होके रणभूमि में युद्ध करे, वैसे मेघ का भी दृष्टान्त जानना । द० स०

१. ऋ० १।५२।१४॥ (यु० मी०)

२. अर्थात् जो अनन्त हो । (सम्पादक)



पा सके ? क्योंकि (एकः) एक==असहाय अपने से भिन्न स्व-  
सामर्थ्य से ही (विश्वम्) सब जगत् को (आनुषक्) आनुषक्त<sup>२</sup>  
अर्थात् उसमें व्याप्त होते, और (चक्रवे)=कृतवान्=आपने ही  
उत्पन्न किया है। फिर जगत् के पदार्थ आपका पार कैसे पा सकें?  
तथा (अन्यत्) आप जगत् रूप कभी नहीं बनते, न अपने में से ५  
जगत् को रचते हो, किन्तु अनन्त अपने सामर्थ्य से ही जगत् का  
रचन धारण और लय यथाकाल करते हो। इससे आपका सहाय  
हम लोगों को सदैव है ॥१५॥

### प्रार्थना-विषय

ऊर्ध्वो नः पाह्यहंसो नि केतुना विश्वं समन्त्रिणं दह । १०  
कृधी न ऊर्ध्वश्चरथाय जीवसे विदा देवेषु नो दुर्वः ॥१६॥  
१।३।१०।४॥<sup>३</sup>

व्याख्यान—हे सर्वोपरि विराजमान परब्रह्मन् ! आप  
(ऊर्ध्वः) सबसे उत्कृष्ट हो, हमको कृपा से उत्कृष्ट गुणवाले करो,  
तथा ऊर्ध्व देश में हमारी रक्षा करो। हे सर्वपापप्रणाशकेश्वर ! १५  
हमको (केतुना) विज्ञान अर्थात् विविध विद्यादान देके (अहंसः)  
अविद्यादि महापाप से (निपाहि)=नितरां पाहि=सदैव अलग  
रखो। तथा (विश्वम्) इस सकल संसार का भी नित्य पालन  
करो। हे सत्यमित्र न्यायकारिन् ! जो कोई प्राणी (अन्त्रिणम्)  
हम से शत्रुता<sup>४</sup> करता है उसको, और कामक्रोधादि शत्रुओं को २०

१. “अपने से भिन्न” यह स्वसामर्थ्य का विशेषण है। स्वसामर्थ्य  
शब्द से महर्षि ‘प्रकृति’ का ग्रहण करते हैं। इसका स्पष्टीकरण इसी मन्त्र  
के अर्थ में आगे “अन्यत्” पद की व्याख्या में किया है। (यु० मी०)

२. आ+अनुपक्त=आनुषक्त सर्वत्र व्याप्त। (सं०)

३. ऋ० १।३६।१४॥ (यु० मी०)

४. वेदभाष्य पृ० ८१६—“अन्त्रिणम् - अस्ति भक्षयत्यन्यायेन पर-  
पदार्थान् यः स शत्रुस्तम्। अन्याय से दूसरों के पदार्थों को खानेवाले शत्रु-  
मात्र को...” (सम्पादक)



- आप (संदह) सम्यक् भस्मीभूत करो (=अच्छे प्रकार जलाओ) ।  
 (कृधी न ऊर्ध्वान्) हे कृपानिधे ! हमको विद्या शौर्य धैर्य बल  
 पराक्रम चातुर्य विविध धन ऐश्वर्य विनय साम्राज्य सम्मति  
 सम्प्रीति स्वदेशसुख-संपादनादि गुणों में सब नरदेहधारियों से  
 ५ अधिक उत्तम करो । तथा (चरथाय जीवसे) सबसे अधिक  
 आनन्दभोग, सब देशों में अव्याहतगमन (=इच्छानुकूल जाना-  
 आना), आरोग्य देह, शुद्ध मानस-बल और विज्ञान इत्यादि के  
 लिये हमको उत्तमता और अपनी पालनायुक्त करो । (विदाः)  
 विद्यादि उत्तमोत्तम धन (देवेषु) विद्वानों के बीच में प्राप्त करो ।  
 १० अर्थात् विद्वानों के मध्य में भी उत्तम प्रतिष्ठायुक्त सदैव हमको  
 रखो ॥१६॥

### प्रार्थना-विषय

अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्माता स पिता स पुत्रः ।

विश्वे देवा अदितिः पञ्च जना अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम् ॥१७

१५

१।६।१६।५॥<sup>१</sup>

- व्याख्यान—हे त्रैकाल्यावाध्येश्वर ! (अदितिर्द्यौः) आप  
 सदैव विनाशरहित तथा स्वप्रकाशस्वरूप हो । (अदितिरन्तरिक्षम्)  
 अविकृत (=विकार को न प्राप्त) और सब के अधिष्ठाता हो ।  
 (अदितिर्माता) आप प्राप्तमोक्ष जीवों को अविनाश-  
 २० रहित) सुख देने, और अत्यन्त मान करनेवाले हो । (स पिता)  
 सो अविनाशीस्वरूप हम सब लोगों के पिता (=जनक) और  
 पालक हो । और (स पुत्रः) सो ईश्वर आप मुमुक्षु धर्मात्मा और  
 विद्वानों को नरकादि दुःखों से पवित्र और त्राण (=रक्षण)  
 करनेवाले हो । (विश्वे देवा अदितिः) सब देव=दिव्यगुण विश्व  
 २५ का धारण रचन मारण पालन आदि कार्यों को करनेवाले अवि-

१. देखो—फुटनोट ३, मन्त्र २ पर; पृष्ठ ४६ । (सं०)

२. ऋ० १।८६।१०॥ (यु० मी०)



नाशी परमात्मा आप ही हैं। (पञ्चजना अदितिः) पांच प्राण<sup>१</sup>, जो जगत् के जीवन-हेतु, वे भी आपके रचे और आपके भी नाम हैं। (जातमदितिः) वही एक चेतन ब्रह्म आप सदा प्रादुर्भूत हैं। और सब कभी प्रादुर्भूत कभी अप्रादुर्भूत (=विनाशभूत) भी हो जाते हैं। (अदितिर्जनित्वम्) वही अविनाशीस्वरूप ईश्वर आप सब जगत् का 'जनित्वम्'=जन्म का हेतु हैं, और कोई नहीं ॥१७॥

### प्रार्थना-विषय

ऋजुनीती नो वरुणो मित्रो नयतु विद्वान् ।

अर्यमा देवैः सजोषाः ॥१८॥ १।६।१७।१॥

१०

व्याख्यान—हे महाराजाधिराज परमेश्वर ! आप हमको (ऋजुनीती) सरल (=शुद्ध) कोमलत्वादिगुणविशिष्ट चक्रवर्ती राजाओं की नीति को (नयतु) कृपादृष्टि से प्राप्त करो<sup>१</sup> । आप (वरुणः) सर्वोत्कृष्ट होने से वरुण हो, सो हमको वरराज्य वरविद्या वरनीति देओ । तथा [(मित्रः)] सबके मित्र शत्रुता-रहित हो, हमको भी आप मित्रगुणयुक्त न्यायाधीश कीजिये । तथा आप [(विद्वान्)] सर्वोत्कृष्ट विद्वान् हो, हमको भी सत्य-विद्या से युक्त सुनीति देके साम्राज्याधिकारी सद्यः कीजिये । तथा आप (अर्यमा)=यमराज=प्रियाप्रिय को छोड़के न्याय में वर्तमान हो सब संसार के जीवों के पाप और पुण्यों की यथायोग्य व्यवस्था करनेवाले हो, सो हमको भी आप तादृश करें । जिससे (देवैः सजोषाः) आपकी कृपा से विद्वानों वा दिव्यगुणों के साथ उत्तम प्रीतियुक्त आप में रमण और आपका

१५

२०

\*ये सब नाम दिव आदि अन्य वस्तुओं के भी होते हैं, परन्तु यहां ईश्वराभिप्रेत से ही अर्थ किया, सो प्रमाण जानना चाहिये । द० स०

२५

१. अर्थात् प्राण अपान समान उदान और व्यान । (सं०)

२. ऋ० १।६०।१॥ (यु० मी०)

३. देखो—फुटनोट ३, मन्त्र २ पर ; पृष्ठ ४६ । (सं०)



सेवन करनेवाले हों । हे कृपासिन्धो भगवन् ! हम पर सहाय करो, जिससे सुनीतियुक्त होके हमारा स्वराज्य अत्यन्त बढ़े ॥१८॥

### प्रार्थना-विषय

५ त्वं सौमासि सत्पतिस्त्वं राजोत वृत्रहा ।  
 त्वं भद्रो असि क्रतुः ॥१९॥ १।६ १।६।५॥<sup>१</sup>

व्याख्यान—हे सोमराजन् सत्पते परमेश्वर ! तुम (सोम) सर्वसवनकर्त्ता=सब का सार निकालनेहारे, प्राप्यस्वरूप शान्तात्मा हो । तथा [(सत्पतिः)] सत्पुरुषों का प्रतिपालन करने-  
 १० वाले हो । [(राजा)] तुम्हीं सब के राजा (उत्त) और (वृत्रहा) मेघ के रचक धारक और मारक हो । [(भद्रः)] भद्रस्वरूप, भद्र करने-वा वाले, और (क्रतुः) सब जगत् के कर्त्ता आप ही हो ॥१९॥

### प्रार्थना-विषय

१५ त्वं नः सोम विश्वतो रक्षा राजन्नाघायतः ।  
 न रिष्येत् त्वावतः सखा ॥२०॥ १।६।२०।३॥<sup>२</sup>

व्याख्यान—हे सोम राजन्नीश्वर ! तुम (अघायतः) जो कोई प्राणी हम में पापी और पाप करने की इच्छा करनेवाले हों, (विश्वतः) उन सब प्राणियों से हमारी (रक्ष) रक्षा करो । जिसके आप सगे मित्र हो, (न रिष्येत्) वह कभी विनष्ट नहीं  
 २० होता । किन्तु हमको आपके सहाय से तिलमात्र भी दुःख वा भय कभी नहीं होगा । जो आप का मित्र और जिसके आप मित्र हो, उसको दुःख क्योंकर हो ? ॥२०॥



## प्रार्थना-विषय

तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः ।

दिवीव चक्षुराततम् ॥२१॥ १।२।७।५॥

व्याख्यान—हे विद्वान् और मुमुक्षु जीवो ! [(विष्णोः०)]  
 विष्णु का जो परम=अत्यन्तोत्कृष्ट पद=पदनीय=सबके जानने ५  
 योग्य, जिस को प्राप्त होके पूर्णानन्द में रहते हैं, फिर वहां से  
 कभी दुःख में नहीं गिरते, उस पद को (सूरयः) धर्मात्मा  
 जितेन्द्रिय सब के हितकारक विद्वान् लोग यथावत् अच्छे विचार  
 से देखते हैं। वह परमेश्वर का पद है। किस दृष्टान्त से ? कि  
 जैसे आकाश में (चक्षुः) नेत्र की व्याप्ति वा सूर्य का प्रकाश सब १०  
 ओर से व्याप्त है, वैसे ही (दिवीव चक्षुराततम्) परब्रह्म  
 सब जगह में परिपूर्ण एकरस भर रहा है। वही  
 परमपदस्वरूप परमात्मा 'परमपद' है। इसी की प्राप्ति  
 होने से जीवन सब दुःखों से छूटता है। अन्यथा जीव को कभी  
 सुख नहीं मिलता। इससे सब प्रकार परमेश्वर की प्राप्ति में १५  
 यथावत् प्रयत्न करना चाहिये ॥२१॥

## प्रार्थना-विषय

स्थिरा वः सन्त्वायुधा पराणुदे वीळू उत प्रतिष्कभे ।

युष्माकमस्तु तविषी पनीयमी मा मर्त्यस्य मायिनः ॥२२॥

१।३।१।८।२॥ २०

व्याख्यान—परमेश्वरो हि सर्वजीवेभ्य आशीर्ददाति=ईश्वर  
 सब जीवों को आशीर्वाद देता है कि—हे जीवो ! (वः)=युष्माकम्  
 =तुम्हारे आयुध अर्थात् शतघ्नी (=तोप), भुशुण्डी (=बन्दूक),  
 धनुषबाण, असि, (=तलवार), शक्ति (=वरछी) आदि शस्त्र स्थिर  
 और (वीळू) दृढ़ हों। किस प्रयोजन के लिये ? (पराणुदे) तुम्हारे २५

१. ऋ० १।२२।२०॥ (यु० मी०)

२. देखो—फुट नोट ३, पृष्ठ ४३-४४। (सम्पादक)।

३. ऋ० १।३६।२॥ (यु० मी०)



- शत्रुओं के पराजय के लिये । जिससे तुम्हारे कोई दुष्ट शत्रु लोग कभी दुःख न दे सकें । (उत्त प्रतिष्कभे) [और] शत्रुओं के वेग को थामने के लिये (युष्माकमस्तु तविषी पनीयसी) तुम्हारी बलरूप उत्तम सेना सब संसार में प्रशंसित हो । जिससे तुमसे लड़ने
- ५ को शत्रु का कोई संकल्प भी न हो । परन्तु (मा मर्त्यस्य मायिनः) जो अन्यायकारी मनुष्य है, उसको हम आशीर्वाद नहीं देते । दुष्ट पापी, ईश्वरभक्तिरहित मनुष्य का बल और राज्यैश्वर्यादि कभी मत बढ़ो<sup>१</sup> । उसका पराजय ही सदा हो । हे बन्धुवर्गों ! आओ अपने सब मिलके सर्व दुःखों
- १० का विनाश और विजय के लिये ईश्वर को प्रसन्न करें, जो अपने को वह ईश्वर आशीर्वाद देवे । जिससे अपने शत्रु कभी न बढ़ें ॥२२॥

### स्तुति-विषय

- विष्णोः कर्मोणि पश्यत यतो ब्रतानि पस्पशे ।
- १५ इन्द्रस्य युज्यः सखा ॥२३॥ १।२।७।४।<sup>२</sup>

- व्याख्यान—हे जीवो ! (विष्णोः०) व्यापकेश्वर के किये दिव्य जगत् की उत्पत्ति स्थिति प्रलय आदि कर्मों को तुम देखो । (प्रश्न) — किस हेतु से हम लोग जानें कि व्यापक विष्णु के कर्म हैं ? (उत्तर) — (यतो ब्रतानि पस्पशे) जिससे हम लोग ब्रह्मचर्यादि व्रत
- २० तथा सत्यभाषणादि व्रत, और ईश्वर के नियमों का अनुष्ठान करने को जीव सशरीरधारी होके समर्थ हुए हैं । यह काम उसी के सामर्थ्य से है । क्योंकि (इन्द्रस्य युज्यः सखा) इन्द्रियों के साथ वर्तमान कर्मों का कर्त्ता भोक्ता जो जीव, इसका वही एक योग्य मित्र है, अन्य कोई नहीं । क्योंकि ईश्वर जीव का अन्तर्यामी है,
- २५ उससे परे जीव का हितकारी कोई और नहीं हो सकता । इससे परमात्मा से सदा मित्रता रखनी चाहिये ॥२३॥

१. शत्रु से तात्पर्य दुष्ट पापी आदि से है, यह यहां स्पष्ट है । (सं०)

२. ऋ० १।२२।१६॥ (यु० मी०)



### आर्षमित्रिन्त्रयः

### प्रार्थना-विषय

परां शुदस्व मघवन्मित्रान्तसुवेदां नो वसू कृधि ।

अस्माकं बोध्यविता महाधने भवा वृधः सखीनाम् ॥२४॥

५।३।२।१।५॥<sup>१</sup>

व्याख्यान—हे (मघवन्) परमैश्वर्यवन् इन्द्र परमात्मन् !  
(अमित्रान्) हमारे सब शत्रुओं को (पराणुदस्व) परास्त कर दे । हे  
दातः ! (सुवेदाः नो वसू कृधि)<sup>२</sup> हमारे लिये सब पृथिवी के धन  
सुलभ=सुख से प्राप्त कर । (महाधने) युद्ध में [(अस्माकम्)] हमारे  
और हमारे मित्र तथा सेनादि के (अविता) रक्षक (वृधः) वृद्धक  
(भव) आप ही हो । तथा (बोधि) हमको अपने ही जानो । हे  
भगवन् ! जब आप हमारे योद्धारक्षक<sup>३</sup> होंगे, तभी हमारा सर्वत्र  
विजय होगा । इसमें सन्देह नहीं ॥२४॥

### प्रार्थना-विषय

शं नो भगः शमु नः शंसौ अस्तु शं नः पुरंधिः शमु सन्तु रायः ।

शं नः सत्यस्य सुयमस्य शंसः शं नो अर्यमा पुरुजातो अस्तु ॥२५॥

५।३।२।२।२॥<sup>४</sup>

व्याख्यान—हे ईश्वर ! (भगः) आप और आपका दिया  
हुआ ऐश्वर्य (शं नः) हमारे लिये सुखकारक हो । (शमु न शंसो  
अस्तु) आपकी कृपा से हमारी सुखकारक प्रशंसा सदैव हो ।  
(पुरंधि शमु सन्तु रायः) संसार के धारण करनेवाले आप तथा  
प्राण वायु और सब धन आपकी कृपा से आनन्ददायक हों । (शं नः)

१. ऋ० ७।३।२।२५॥ (यु० मी०)

२. इसके आगे संस्करण २ में 'अस्माकं बोध्यविता' पाठ है, जो  
अनावश्यक होने से हमने हटा दिया है । इन पदों की व्याख्या यहीं पर  
आग दी हुई है । (यु० मी०)

३. अर्थात् योद्धाओं के रक्षक । (यु० मी०)

४. ऋ० ७।३।२।२॥ (यु० मी०)



सत्यस्य सुयमस्य शंसः) सत्यं यथार्थं धर्मं सुसंयमं और जितेन्द्रियतादिलक्षणयुक्त की जो प्रशंसा = पुण्यस्तुति सब संसार में प्रसिद्ध है, वह परमानन्द और शान्तियुक्त हमारे लिये हो। (शं नो अयमा) न्यायकारी आप (पुरुजातः) अनन्त सामर्थ्ययुक्त हमारे  
 ✕ कल्याणकारक होओ ॥ २५ ॥

स्तुति-विषय

त्वमसि प्रशस्यो विदथेषु सहन्त्य ।

अग्रे रथीरध्वराणाम् ॥ २६ ॥ ५८।३५।२॥<sup>१</sup>

व्याख्यान—हे (अग्ने) सर्वज्ञ ! तू ही सर्वत्र (प्रशस्यः) स्तुति करने के योग्य है, अन्य कोई नहीं। (विदथेषु) यज्ञ और युद्धों में आप ही स्तोतव्य हो। जो तुम्हारी स्तुति को छोड़के अन्य जड़दि की स्तुति करता है, उसके यज्ञ तथा युद्धों में विजय कभी सिद्ध नहीं होता है। (सहन्त्य) शत्रुओं के समूहों के आप ही घातक हो। (रथीरध्वराणाम्) अध्वरों अर्थात् यज्ञ और युद्धों में आप ही रथी हो। [आप हो] हमारे शत्रुओं के योद्धाओं को जीतनेवाले हो। इस कारण से हमारा पराजय कभी नहीं हो सकता ॥ २६ ॥

तन्न इन्द्रो वरुणो मित्रो अग्निराप ओषधीर्विनिनो जुषन्त ।

शर्मन्त्स्याम मरुतामुपस्थे यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥ २७ ॥

५।३।२७।५॥<sup>१</sup>

२० व्याख्यान—हे भगवन् ! (तन्न इन्द्रः) सूर्य (वरुणः) चन्द्रमा (मित्रः) वायु (अग्निः) अग्नि (आपः) जल (ओषधीः) वृक्षादि वनस्थ सब पदार्थ आप की आज्ञा से सुखरूप होकर हमारा सेवन करें। हे रक्षक ! (मरुतामुपस्थे) प्राणादि के सुसमीप बैठे हुए हम

१. ऋ० ८।११।२॥ (यु० मी०)

२५

२. ऋ० ७।३४।२५॥ (यु० मी०) ३. अर्थात् हमें प्राप्त हों। (सं०)



आपकी कृपा से (शर्मन्त्स्याम) सुखयुक्त सदा रहें । (स्वस्तिभिः) सब प्रकार के रक्षणों से (यूयं पात) आदरार्थं बहुवचनम्, आप हमारी रक्षा करो । किसी प्रकार से हमारी हानि न हो ॥ २७ ॥

### स्तुति-विषय

ऋषिर्हि पूर्वजा अस्पेक ईशान ओजसा ।

इन्द्र चोष्कूयमे वसु ॥२८॥ ५।८।१७।१॥

५

व्याख्यान—हे ईश्वर ! (ऋषिः) सर्वज्ञ और (पूर्वजाः) सब के पूर्व जनक के (एकः) अद्वितीय (ईशानः) = ईशानकर्त्ता = अर्थात् ईश्वरता करनेवाले, तथा सब से बड़े प्रलयोत्तरकाल में आप ही रहनेवाले (ओजसा) अनन्तपराक्रम से युक्त हो । हे (इन्द्र) महाराजाधिराज ! (चोष्कूयसे वसु) सब धन के दाता शीघ्र कृपा का प्रवाह अपने सेवकों पर कर रहे हो । आप अत्यन्त आर्द्रस्वभाव हो ॥ २८ ॥

नेह भद्रं रक्षस्विने नावयै नोपया उत ।

गवै च भद्रं धेनवै वीराय च श्रवस्यते-

उनेहसौ व ऊतयः सु ऊतयो व ऊतयः ॥२९॥

६।४।१।२॥

१५

व्याख्यान—हे भगवन् ! (रक्षस्विने भद्रं नेह) पापी हिंसक दुष्टात्मा को इस संसार में सुख मत देना । (नावयै) धर्म से विपरीत चलनेवाले को सुख कभी मत हो । तथा (नोपया उत) अधर्मी के समीप रहनेवाले उसके सहायक को भी सुख नहीं हो । ऐसी प्रार्थना आप से हमारी है कि दुष्ट को सुख कभी न होना चाहिये । नहीं तो कोई जन धर्म में रुचि ही न करेगा । किन्तु इस

१. ऋ० ८।६।४१॥ (यु० मी०)

२. जायते इति जनकः, अर्थात् सब से पूर्व विद्यमान । (यु० मी०)

३. ऋ० ८।४७।१२॥

२५



संसार में धर्मात्माओं को ही सुख सदा दीजिये । [(गवे)] तथा हमारी शमदमादियुक्त इन्द्रियां, दुग्ध देनेवाली गौ आदि [(वीराय)] वीर पुत्र और शूरवीर भृत्य (श्रवस्यते) विद्या विज्ञान और अन्नाद्यै-  
 ५ (अनेहसः) निष्पाप निरुपद्रव स्थिर दृढ़ सुख हो । (व ऊतयो व ऊतयः) वः = युष्माकं, बहुवचनमादरार्थम्, हे सर्वरक्षकेश्वर । आप सर्वरक्षण अर्थात् पूर्वोक्त सब धर्मात्माओं के रक्षक हैं । जिन पर आप रक्षक हो, उनको सदैव (भद्रम्) कल्याण = परमसुख प्राप्त होता है, अन्य को नहीं ॥ २९ ॥

१०

स्तुति-विषय

वसुर्वसुपतिर्हि कमस्यग्ने विभावसुः ।

स्याम ते सुमतावपि ॥ ३० ॥ ६।३।४०।४॥<sup>१</sup>

व्याख्यान — हे परमात्मन् ! आप (वसुः) अर्थात् सबको अपने में वसानेवाले, और सबमें आप वसनेवाले हो । तथा (वसुपतिः) पृथिव्यादि वासहेतुभूतों के पति हो । (कमसि) हे अग्ने विज्ञानानन्द स्वप्रकाशस्वरूप ! आप ही सब के सुखकारक और सुखस्वरूप हो । तथा (विभावसुः) सत्यस्वप्रकाशकधनमय हो । हे भगवन् ! ऐसे जो आप, उन (ते) आप की (सुमतौ) अत्यन्तोत्कृष्ट ज्ञान और परस्पर प्रीति में हम लोग स्थिर हों ॥ ३० ॥

२०

प्रार्थना-विषय

वैश्वानरस्य सुमतौ स्याम राजा हि कं भुवनानामभि श्रीः ।

इतो जातो विश्वमिदं वि चष्टे वैश्वानरो यतते सूर्येण ॥ ३१ ॥

१।७।६।१॥<sup>२</sup>

व्याख्यान — हे मनुष्यो ! जो [(राजा हि)] हमारा तथा सब जगत् का राजा, सब भुवनों का स्वामी, (कम्) सब का सुखदाता, और (अभि श्रीः) सब का निधि = शोभाकारक है । (वैश्वानरो

१. ऋ० ८।४४।२४॥ (यु० मी०) २. ऋ० १।६८।१॥



यतते सूर्येण) संसारस्थ सब नरों का नेता=नायक, और सूर्य के साथ ही वही प्रकाशक है, अर्थात् सब प्रकाशक पदार्थ उसके रचे हैं। (इतो जातो विश्वमिदं विचष्टे) इसी ईश्वर के सामर्थ्य से ही यह संसार उत्पन्न हुआ है, अर्थात् उसने रचा है। (वैश्वानरस्य सुमती स्याम) उस वैश्वानर परमेश्वर की सुमति ५ अर्थात् सुशोभन=उत्कृष्ट ज्ञान में हम निश्चित सुखस्वरूप और विज्ञानवाले हों। हे महाराजाधिराजेश्वर ! आप इस हमारी आशा को कृपा से पूरी करो ॥३१॥

### स्तुति-विषय

न यस्य देवा देवता न मर्त्या आपश्चन श्वसो अन्तमापुः । १०  
स प्ररिक्वा त्वक्षसा क्षमो दिवश्च मरुत्वान्नो भवत्विन्द्र ऊती ॥३२  
१।७।१०।५॥'

व्याख्यान—हे अनन्तबल ! (न यस्य) जिस परमात्मा का और उसके बलादि सामर्थ्य का (देवाः) इन्द्रिय, (देवताः) विद्वान् सूर्यादि तथा बुद्ध्यादि, (न मर्त्याः) साधारण मनुष्य, (आपश्चन) १५ आप=प्राण, वायु, समुद्र इत्यादि सब (अन्तम्) पार कभी नहीं पा सकते, किन्तु (प्ररिक्वा) प्रकृष्टता से इनमें व्यापक होके अतिरिक्त =इनसे विलक्षण भिन्न ही परिपूर्ण हो रहा है, सो (मरुत्वान्) अत्यन्त बलवान् इन्द्र परमात्मा (त्वक्षसा) शत्रुओं के बल का छेदक, बल से (क्षमः) पृथिवी को (दिवश्च) स्वर्ग को धारण २० करता है, सो (इन्द्रः) परमात्मा (ऊती) हमारी रक्षा के लिये (भवतु) तत्पर हो ॥३२॥

### प्रार्थना-विषय

जातवेदसे सुनवाम सोममरातीयतो नि दहाति वेदः ।  
स नः पर्षदति दुर्गाणि विश्वा नावेव सिन्धुं दुरितात्यग्निः ॥३३ २५  
१।७।७।१॥'

व्याख्यान—हे (जातवेदः) परब्रह्मन् ! आप जातवेद हो=

१. ऋ० १।१००।१५॥ (यु० मी०)



- उत्पन्नमात्र सब जगत् को जाननेवाले हो, सर्वत्र प्राप्त हो। जो विद्वानों से ज्ञात, सब में विद्यमान, जात अर्थात् प्रादुर्भूत अनन्त धनवान् वा अनन्त ज्ञानवान् हो, इस से आपका नाम 'जातवेद' है। उन आप के लिये (वयं सोमं सुनवाम) जितने सोम प्रिय
- ५ गुण विशिष्टादि हमारे पदार्थ हैं, वे सब आपके ही लिये हैं। सो आप हे कृपालो ! (अरातीयतः) दुष्ट शत्रु, जो हम धर्मात्माओं का विरोधी, उसके (वेदः) धनैश्वर्यादि [को] (निदहाति) नित्य दहन करो। जिससे वह दुष्टता को छोड़के श्रेष्ठता को स्वीकार करे। सो (नः) हमको (दुर्गाणि विश्वा) सम्पूर्ण दुस्सह दुःखों से (पर्षदति)
- १० पार करके आप नित्य सुखको प्राप्त करो<sup>१</sup>। (नावेव सिन्धुम्) जैसे अति कठिन नदी वा समुद्रपार होने के लिये नौका होती है, (दुरितात्यग्निः) वैसे ही हम को सब पापजनित अत्यन्त पीड़ाओं से पृथक् (=भिन्न) करके संसार में, और मुक्ति में ही परम सुख को<sup>२</sup> शीघ्र प्राप्त करो<sup>३</sup> ॥ ३३ ॥

### स्तुति-विषय

१५

स वज्रभृदस्युहा भीम उग्रः सहस्रचेताः शतनीथः ऋभवा ।

चम्रीषो न शवसा पाञ्चजन्यो मरुत्वान्नो भवत्विन्द्र उती ॥ ३४

१।७।१०।२॥<sup>४</sup>

- व्याख्यान—हे दुष्टनाशक परमात्मन् ! आप (वज्रभृत्) ?
- २० अच्छेद्य, दुष्टों के छेदक सामर्थ्य से सर्वशिष्ट-हितकारक दुष्ट-विनाशक जो न्याय, उसको धारण कर रहे हो। "प्राणो वा वज्रः" इत्यादि शतपथादि का प्रमाण है। अतएव (दस्युहा) दुष्ट पापी लोगों का हनन करनेवाले हो। (भीमः) आपकी न्याय-आज्ञा को छोड़नेवालों पर भयंकर भय देनेवाले हो। (सहस्रचेताः)
- २५ सहस्रों विज्ञानादि गुणवाले आप ही हो। (शतनीथः) सैकड़ों

१. देखो टिप्पणी मं० ७ पर, पृष्ठ ५३। (सं०)

२. प्रभु के प्रति प्रेम का अतिशय और समर्पण भाव प्रकट किया है। (सं०)

३. देखो—टिप्पणी मं० ७ पर; पृष्ठ ५३। (सं०)

४. ऋ० १।१००।१२॥ (यु० मी०)



असंख्यात (पदार्थों) की प्राप्ति करानेवाले हो। (ऋभ्वा) अत्यन्त विज्ञानादि प्रकाशवाले हो, और सबके प्रकाशक हो, तथा महान् वा महाबलवाले हो। (न चम्रीषः) किसी की चमू = सेना में वश को प्राप्त नहीं होते हो। (शवसा) स्वबल से आप (पाञ्चजन्यः) पांच प्राणों के जनक हो। (मस्त्वान्) सब प्रकार के वायुओं के आधार तथा चालक हो। सो आप [(इन्द्रः)] इन्द्र हमारी रक्षा के लिये प्रवृत्त हों, जिससे हमारा कोई काम बिगड़े नहीं ॥ ३४ ॥ ५

### प्रार्थना-विषय

सेमं नः काममापृण गोभिरश्वैः शतक्रतो ।

१०

स्तवाम त्वा स्वाध्यः ॥३५॥ १ । १ । ३१ । ४ ॥

व्याख्यान—हे (शतक्रतो) अनन्तक्रियेश्वर ! आप असंख्यात विज्ञानादि यज्ञों से प्राप्य हो, तथा अनन्तक्रियाबलयुक्त हो। सो आप (गोभिरश्वैः) गाय, उत्तम इन्द्रिय, श्रेष्ठ पशु, सर्वोत्तमः अश्वविद्या=विमानादियुक्त, तथा अश्व अर्थात् श्रेष्ठ घोड़ादि पशुओं और चक्रवर्ती राज्यैश्वर्य से (सेमं नः काममापृण) हमारे काम को परिपूर्ण करो। फिर हम भी (स्तवाम त्वा स्वाध्यः) सुबुद्धियुक्त होके उत्तम प्रकार से आपका स्तवन = स्तुति करें। हमको दृढ़ निश्चय है कि आपके बिना दूसरा कोई किसी का काम पूर्ण नहीं कर संकता। आपको छोड़के दूसरे का ध्यान व याचना जो करते हैं, उनके सब काम नष्ट हो जाते हैं ॥३५॥ १५

१. देखो टिप्पणी १ पृष्ठ ६१। (यु० मी०)

२. ऋ० १।१६।१॥



## स्तुति-विषय

सोमं गीर्भिष्टूवा वयं वर्द्धयामो वचोविदः ।

सुमृडीको न आ विश ॥३६॥ १।६।२१।१॥<sup>१</sup>

- व्याख्यान—हे (सोम) सर्वजगदुत्पादकेश्वर ! [(त्वा)] आपको  
 ५ (वचोविदः) शास्त्रविद् [(वयम्)] हम लोग [(गीर्भिः)] स्तुतिसमूह  
 से (वर्द्धयामः) सर्वोपरि विराजमान मानते हैं । (सुमृडीकः नः  
 आविश) क्योंकि हमको सुष्ठु सुख देनेवाले आप ही हो । सो कृपा  
 करके हमको आप आवेश<sup>२</sup> करो । जिससे हम लोग अविद्यान्धकार  
 से छूट और विद्यासूर्य को प्राप्त होके आनन्दित हों ॥३६॥

१० सोमं रारान्धि नो हृदि गावो न यवसेष्वा ।

मर्यैव स्व ओक्वये ॥३७॥ १ । ६ । २१ । ३ ॥<sup>३</sup>

- व्याख्यान—हे (सोम) सौम्य सौख्यप्रदेश्वर ! आप कृपा करके  
 (रारान्धि नो हृदि) हमारे हृदय में यथावत् रमण करो । दृष्टान्त—  
 जैसे सूर्य की किरण, विद्वानों का मन और गाय पशु अपने-अपने  
 १५ विषय और घासादि में रमण करते हैं\* । वा जैसे (मर्यैव स्वे  
 ओक्वये) मनुष्य अपने घर में रमण करता है, वैसे ही आप सदा  
 स्वप्रकाशयुक्त हमारे हृदय (=आत्मा) में रमण कीजिये । जिससे  
 हमको यथार्थ सर्व ज्ञान और आनन्द हो ॥ ३७ ॥

## स्तुति-विषय

२० गयस्फानो अमीवहा वसुवित्पुष्टिवर्धनः ।

सुमित्रः सोम नो भव ॥३८॥ १।६।२१।२॥<sup>४</sup>

\* दृष्टान्त का एक देश रमणमात्र लेना (द० स०)

१. ऋ० १।६१।११॥ (यु० मी०)

२. अर्थात् हृदय में प्राप्त होओ । (सं०)

२५

३. ऋ० १।६१।१३॥

४. ऋ० १।६१।१२॥ (यु० मी०)



व्याख्यान—हे परमात्मभक्त जीवो ! अपना इष्ट जो पर-  
मेश्वर सो (गयस्फानः) प्रजा धन जनपद और स्वराज्य बढ़ानेवाला  
है । तथा (अमीवहा) शरीर-इन्द्रियजन्य और मानस रोगों का  
हनन=विनाश करनेवाला है । (वसुवित्) सब पृथिव्यादि  
वसुओं का जाननेवाला है, अर्थात् सर्वज्ञ और विद्यादि धन का  
दाता है । (पुष्टिवर्धनः) अपने शरीर इन्द्रिय मन और आत्मा  
की पुष्टि का बढ़ानेवाला है । (सुमित्रः सोम नो भव) सुष्ठु  
यथावत् सबका परम मित्र वही है । सो अपने उससे यह मांगें  
कि, हे सोम सर्वजगदुत्पादक ! आप ही कृपा करके सुमित्र  
हो, और हम भी सब जीवों के मित्र हों, तथा अत्यन्त मित्रता आप  
से ही रखें ॥ ३८ ॥

### प्रार्थना-विषय

त्वं हि विश्वतोमुख विश्वतः परिभूरसि ।

अप नः शोशुचदधम् ॥ ३९ ॥ १।७।६।६॥

व्याख्यान—हे अग्ने परमात्मन् ! (त्वं हि) तुम ही (विश्वतः  
परिभूरसि) सब जगत् में सब ठिकानों में व्याप्त हो । अत एव  
आप [(विश्वतोमुखः)] विश्वतोमुख हो । हे सर्वतोमुख अग्ने !  
आप स्वमुख नाम स्वशक्ति से सब जीवों के हृदय में सत्योपदेश  
नित्य ही कर रहे हो, वही आपका मुख है । हे कृपालो ! (अप  
नः शोशुचदधम्) आप की इच्छा से हमारा पाप सब नष्ट हो जाय ।  
जिससे हम लोग निष्पाप होके आपको भक्ति और आज्ञापालन में  
नित्य तत्पर रहें ॥ ३९ ॥

### स्तुति-विषय

तमीकृत प्रथमं यज्ञसाधं विश्व आरीराहुतमृज्जमानम् ।

ऊर्जः पुत्रं भरतं सुप्रदानुं देवा अग्निं धारयन्द्रविणोदाम् ॥४०॥

१।७।३।३॥

१. अर्थात् हमारे । (सं०) २. अर्थात् हम । (सं०)

३. ऋ० १।६७।६॥

४. ऋ० १।६९।३॥ (यु० मी०)



- व्याख्यान—हे मनुष्यो ! (तमीळित) उस अग्नि की स्तुति करो । कैसा है वह अग्नि ? (प्रथमम्) सब कार्यों से पहले वर्त्तमान, और सब का आदि कारण है । तथा (यज्ञसाधम्) सब संसार और विज्ञानादि यज्ञ का साधक=सिद्ध करनेवाला, सब का जनक है । हे (विशः) मनुष्यो ! उसी को ही स्वामी मानकर (आर्यः) प्राप्त होओ [(आहुतम्, ऋञ्जसानम्)] जिसको हम अपने पुकारते हैं, और जिसको विज्ञानादि से विद्वान् लोग सिद्ध करते हैं, और जानते हैं, [वही] (ऊर्जः पुत्रं भरतम्) पृथिव्यादि जगत् रूप अन्न का पुत्र अर्थात् पालन करनेवाला, तथा भरत अर्थात् उसी अन्न का पोषण और धारण करनेवाला है । (सृप्रदानम्) सब जगत् को चलने की शक्ति देनेवाला और ज्ञान का दाता है । उसी को (देवा अग्निं धारयन् द्रविणोदाम्) देव=विद्वान् लोग अग्नि कहते, और धारण करते हैं । वही सब जगत् को द्रविण अर्थात् निर्वाह के सब अन्न जलादि पदार्थ और विद्यादि पदार्थों का देनेवाला है । उस अग्नि=परमात्मा को छोड़के अन्य किसी की भक्ति वा याचना कभी किसी को न करनी चाहिये ॥ ४० ॥

### प्रार्थना-विषय

- तमूतयो रणयञ्छूरसातौ तं क्षेमस्य क्षितयः कृण्वत त्राम् ।  
 २० स विश्वस्य वरुणस्येश एको मरुत्वान्नो भवत्विन्द्र उर्ता ॥४१  
 १।७।९।२॥'

- व्याख्यान—हे मनुष्यो ! (तमूतयः) उसी इन्द्र परमात्मा की प्रार्थना तथा शरणागति से अपने<sup>३</sup> को उतयः=अनन्त रक्षण तथा बलादि गुण प्राप्त होंगे । (शूरसातौ) युद्ध में अपने<sup>३</sup> को यथावत् (रणयन्) रमण और रणभूमि में शूर-वीरों के गुण परस्पर प्रीत्यादि प्राप्त करावेगा । (तं क्षेमस्य क्षितयः) हे शूर-



वीर मनुष्यो ! उसी को क्षेम-कुशलता का (त्राम्) रक्षक (कृण्वत) करो । जिससे अपना पराजय कभी न हो । क्योंकि (सः विश्वस्य) सो करुणामय, सब जगत् पर करुणा करनेवाला (एकः) एक ही है, अन्य कोई नहीं । सो परमात्मा (मरुत्वान्) प्राण वायु, बल, सेनायुक्त (ऊती) = ऊतये = सम्यक् हम लोगों पर कृपा से रक्षक हो । ईश्वर से रक्षित हम लोग कभी पराजय को न प्राप्त हों ॥४१॥

### स्तुति-विषय

स पूर्वया निविदा कव्यतायोरिमाः प्रजा अजनयन् मनूनाम् ।  
विवस्वता चक्षमा दामपश्च देवा अग्निं धारयन् द्रविणोदाम् ॥४२ १०  
१।७।३।२।<sup>१</sup>

व्याख्यान - हे मनुष्यो ! सो ही (पूर्वया निविदा) आदि सनातन, सत्यता आदि गुणयुक्त अग्नि परमात्मा था, अन्य कोई नहीं था<sup>१</sup> । तब सृष्टि के आदि में स्वप्रकाशस्वरूप एक ईश्वर प्रजा की उत्पत्ति की ईक्षणता=विचार<sup>२</sup> [ करता भया । १३  
(कव्यतायोरिमाः) सर्वज्ञतादि सामर्थ्य से ही सत्यविद्यायुक्त वेदों की, तथा (मनूनाम्) मननशीलवाले<sup>३</sup> मनुष्यों की, तथा

१. अर्थात् हमारा । (सं०) २. ऋ० १।६६।२॥ (यु० मी०)

३. अर्थात् उस समय कार्य-जगत् नहीं था । (सम्पादक)

४. यह आगे का १२ पंक्तियों का ब्रैकट के अन्दर वाला पाठ २०  
'आर्याभिविनय' के अजमेर मुद्रित संस्करणों में नहीं मिलता, परन्तु यह पाठ होना अवश्य चाहिये । क्योंकि उन संस्करणों में इस मन्त्र के अर्थ में मन्त्र के "कव्यतायो...अपः" इतने भाग का अर्थ नहीं मिलता ।

यह सारा पाठ 'आर्याभिविनय' के प्रथम और द्वितीय संस्करण में जैसे का तैसा विद्यमान है । इसलिये प्रतीत होता है कि यह पाठ किसी २३  
संस्करण में छपते समय कम्पोजीटर से छूट गया है, और फिर ऐसे ही छपता गया है । इसलिये हमने इस पाठ को रखना ही उचित समझा है ।

५. अर्थात् मनन करनारूपी शील=स्वभाववाले । (यु० मी०)



- अन्य पशुवृक्षादि की (प्रजाः) प्रजा को (अजनयत्) उत्पन्न किया, परस्पर मनुष्य और पशु आदि के व्यवहार चलने के लिये। परन्तु मननशीलवाले मनुष्यों को अवश्य स्तुति करने योग्य वही है। (विवस्वता चक्षसा) सूर्यादि तेजस्वी सब पदार्थों का प्रकाशनेवाला बल से स्वर्ग=सुखविशेष, सब लोक (अपः) अन्तरिक्ष में पृथिव्यादि मध्यम लोक] और निकृष्ट दुःख विशेष नरक और सब दृश्यमान तारे आदि लोक उसी ने रचे हैं। जो ऐसा सच्चिदानन्दस्वरूप परमेश्वर देव है, उसी (द्रविणोदाम्) विज्ञानादि धन देनेवाले को ही (देवाः) विद्वान् लोग अग्नि जानते हैं। हम लोग उसी को ही भजें ॥ ४२ ॥

### प्रार्थना-विषय

वयं जयेम त्वया युजा वृत्तमस्माकमंशमुदवा भरेभरे ।

अस्मभ्यमिन्द्र वरिवः सुगं कृधि प्र शत्रूणां मघवन् वृष्ण्या रुजः॥

१।७।१४।४॥

- १३ ध्यात्वा—हे (इन्द्र) परमात्मन् ! (त्वया युजा वयं जयेम) आपके साथ वर्तमान, आपके सहाय से हम लोग दुष्ट शत्रुओं को जीतें। कैसा वह शत्रु? कि (आवृत्तम्) हमारे बल से घिरा हुआ। हे महाराजाधिराजेश्वर ! (भरे-भरे अस्माकमंश-मुदवा) युद्ध-युद्ध=प्रत्येक युद्ध में हमारे 'अंश'=बल सेना का उदव=उत्कृष्ट रीति से कृपा करके रक्षण करो। जिससे किसी युद्ध में क्षीण होके हम पराजय को प्राप्त न हों। किन्तु जिनको आपका सहाय है, उनका सर्वत्र विजय ही होता है। हे (इन्द्र मघवन्) महाघनेश्वर ! (शत्रूणां वृष्ण्या) हमारे शत्रुओं के [वृष्ण्या]=वीर्य पराक्रमादि को (प्ररुज) प्रभग्न=रुग्न करके नष्ट कर दे। (अस्मभ्यं वरिवः सुगं कृधि) हमारे लिये चक्रवर्ती राज्य और साम्राज्य धन को सुगम्=सुख से प्राप्त कर। अर्थात्

१. ऋ० १।१०२।४॥ (यु० मी०)

२. देखो टिप्पणी ३ मन्त्र २ पर; पृष्ठ ४६। (सं०)



आपकी करुणा कटाक्ष से हमारा राज्य और धन सदा वृद्धि को प्राप्त हो ॥४३॥

### स्तुति-विषय

यो विश्वस्य जगतः प्राणतस्पतिर्यो ब्रह्मणे प्रथमो गा अविन्दत् ।

इन्द्रो यो दस्यूरधरां अवातिरन्मरुत्वन्तं सख्याय हवामहे ॥४४॥

१।७।१२।१॥

व्याख्यान—हे मनुष्यो ! [ (यो विश्वस्य जगतः) ] जो सब जगत्=स्थावर जड़ अप्राणी का, और (प्राणतः) चेतनावाले जगत् का (पतिः) अधिष्ठाता और पालक है। तथा जो [ (प्रथमः) ] सब जगत् के प्रथम सदा से है। और (ब्रह्मणे गाः अविन्दत्) जिसने यही नियम किया है कि ब्रह्म अर्थात् विद्वान् के ही लिये पृथिवी का लाभ और उनका राज्य है। और जो (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् परमात्मा [ (दस्यून्) ] डाकुओं को (अधरान्) नीचे [ (अवातिरत्) ] गिराता है, तथा उनको मार ही डालता है। (मरुत्वन्तं सख्याय हवामहे) सो आओ मित्रो भाई लोगो ! अपने सब संप्रीति से मिलके 'मरुत्वान्' अर्थात् परमानन्त बलवाले इन्द्र परमात्मा को सखा होने के लिये अत्यन्त प्रार्थना से गद्गद् होके पुकारें। वह शीघ्र ही कृपा करके अपने से सखित्व=परममित्रता करेगा। इसमें कुछ सन्देह नहीं ॥४४॥

### प्रार्थना-विषय

मृळा नो रुद्रोत नो मयस्कृधि क्षयडीराय नमसा विधेम ते ।

यच्छं च योश्च मनुरायेजे पिता तदश्याम तव रुद्रं प्रणीतिषु ॥४५॥

१।८।१।२॥

व्याख्यान—हे दुष्टों को रूलानेहारे [ (रुद्र) ] ईश्वर ! हमको (मृड) सुखी कर। तथा (मयस्कृधि) हमको 'मय' अर्थात् अत्यन्त सुख

१. ऋ० १।१०।१।१॥ २. ऋ० १।११।२॥ (यु० मी०)



- का सम्पादन कर । (क्षयद्वीराय नमसा विधेम ते) शत्रुओं के वीरों का क्षय करनेवाले आपको अत्यन्त नमस्कारादि से परिचर्या करनेवाले हम लोगों का रक्षण यथावत् कर । (यच्छम्) हे रुद्र ! आप हमारे पिता = जनक और पालक हो, हमारी सब प्रजा को सुखी कर । (योश्च) और प्रजा के रोगों का भी नाश कर । जैसे (मनुः) मान्यकारक पिता (आयेजे) स्वप्रजा को संगत और अनेकविध लाड़न करता है, वैसे आप हमारा पालन करो । हे रुद्र भगवन् ! (तव प्रणीतिषु) आपकी आज्ञा का प्रणय अर्थात् उत्तम न्याययुक्त नीतियों में प्रवृत्त होके (तदश्याम) वीरों के चक्रवर्ती १० राज्य को आपके अनुग्रह से प्राप्त हों ॥४५॥

### स्तुति-विषय

देवो न यः पृथिवीं विश्वधाया उपश्रैति हितमित्रो न राजा ।  
पुरःसदः शर्मसदो न वीरा अनवद्या पतिजुष्टेव नारी ॥४६॥  
१।५।१६।३॥<sup>१</sup>

- १५ व्याख्यान—हे प्रियबन्धु विद्वानो ! (देवो न) ईश्वर सब जगत् के बाहर और भीतर सूर्य की नाई प्रकाश कर रहा है । (यः पृथिवीम्) जो पृथिव्यादि जगत् को रचके धारण कर रहा है । और (विश्वधाया उपश्रैति) विश्वधारकशक्ति का भी निवास देने और धारण करनेवाला है । तथा जो सब जगत् का परम मित्र अर्थात् जैसे (हितमित्रो न राजा) प्रियमित्रवान् राजा अपनी प्रजा का यथावत् पालन करता है, वैसे ही हम लोगों का पालन-कर्त्ता वही एक है, अन्य कोई भी नहीं । (पुरःसदः शर्मसदो न वीराः) जो जन ईश्वर के 'पुरःसदः' हैं = ईश्वराभिमुख ही हैं, वे ही 'शर्मसदः' = अर्थात् सुख में सदा स्थिर रहते हैं । जैसे (न वीराः) पुत्र लोग अपने पिता के घर में आनन्दपूर्वक निवास करते हैं, वैसे ही जो परमात्मा के भक्त हैं, वे सदा सुखी ही रहते हैं । परन्तु जो अनन्यचित्त होके निराकार सर्वत्र व्याप्त ईश्वर की सत्य श्रद्धा से भक्ति करते हैं, जैसे कि (अनवद्या पतिजुष्टेव नारी)

१. ऋ० १।७।३।३। (यु० मी०)



अत्यन्तोत्तमगुणयुक्त, पति की सेवा में तत्पर पतिव्रता नारी=स्त्री रात-दिन तन-मन-धन से अत्यन्त प्रीतियुक्त होके [पति के] अनुकूल ही रहती है, वैसे प्रेमप्रीतियुक्त होके आओ भाई लोगो ! ईश्वर की भक्ति करें। और अनेक सत्र<sup>१</sup> मिलके परमात्मा से परमसुख-लाभ उठावें ॥४६॥

### प्रार्थना-विषय

सा मा सत्योक्तिः परिं पातु विश्वतो द्यावा च यत्र तत न नानि च।  
विश्वं न्यन्नि विशते यदेजति विश्वाहापो विश्वाहोदेति सूर्यः ॥४७

७।८।१२।२॥<sup>१</sup>

व्याख्यान—हे सर्वाभिरक्षकेश्वर ! (सा मा सत्योक्तिः) १०  
आपकी सत्य आज्ञा, जिस का हमने अनुष्ठान किया है, वह (विश्वतः परिपात्र) हमको सब संसार से सर्वथा पालन, और सब दुष्ट कामों से सदा पृथक् रखे, कि कभी हमको अधर्म करने की इच्छा भी न हो। (द्यावा च) दिव्य सुख से सदा युक्त करके यथावत् हमारी रक्षा करे। (यत्र) जिस दिव्य सृष्टि में (अहानि) ११  
सूर्यादिकों को दिवस आदि के निमित्त (ततनन्) आपने ही विस्तारे हैं, वहां भी हमारा सब उपद्रवों से रक्षण करो। (विश्वमन्यत्) आपसे अन्य = भिन्न विश्व अर्थात् सब जगत् जिस समय आपके सामर्थ्य से प्रलय में (नि विशते) प्रवेश करता है=कार्य २०  
सब कारणात्मक होता है, उस समय में भी आप हमारी रक्षा करो। (यदेजति) जिस समय यह जगत् आपके सामर्थ्य से चलित होके उत्पन्न होता है, उस समय भी सब पीड़ाओं से आप हमारी रक्षा करें। (विश्वाहापो विश्वाहा०) जो-जो विश्व का हन्ता=

१. अर्थात् हम सब... । "अपने सत्र" और इससे पूर्व "भाई लोगो" ऋषि की भाषाशैली और महत्त्व का परिचय देते हैं। ऋषि की जन्म २१  
की भाषा गुजराती होते हुए भी उन्होंने राष्ट्रभाषा के उद्धार के लिये ही अपने सब ग्रन्थ आर्यभाषा में लिखे। (सं०)

२. ऋ० १०।३७।२॥ (यु० मी०)

३. "वहां" अर्थात्-उक्त सृष्टि में। (सम्पादक)



दुःख देनेवाला उसको आप नष्ट कर देओ । क्योंकि आपके सामर्थ्य से सब जगत् की उत्पत्ति स्थिति और प्रलय होती है । आपके सामने कोई राक्षस=दुष्टजन क्या कर सकता है ? क्योंकि आप सब जगत् में उदित=प्रकाशमान हो रहे हो । सूर्य्यवत् हमारे हृदय में कृपा करके प्रकाशित होओ । जिससे हमारी अविद्यान्धकारता सब नष्ट हो ॥४७॥

### स्तुति-विषय

देवो देवानामसि मित्रो अद्भुतो वसुर्वसूनामसि चारुर्ध्वरे ।  
शर्मन्त्स्याम तव सप्रथस्तमेऽग्रे सख्ये मा रिषामा वयं तव ॥४८॥

१।६।३।३॥<sup>१</sup>

व्याख्यान—हे मनुष्यो ! वह परमात्मा कैसा है कि हम लोग उसकी स्तुति करें ? हे (अग्ने) परमेश्वर ! आप (देवो देवानामसि) देवों=परम विद्वानों के भी देव=परम विद्वान् हो, तथा उनको परमानन्द देनेवाले हो । तथा ([मित्रः] अद्भुतः) अत्यन्त आश्चर्य्यरूप मित्र सर्वसुखकारक सब के सखा हो । (वसुर्वसूनामसि) पृथिव्यादि वसुओं के भी वास करानेवाले हो । तथा (अध्वरे) ज्ञानादि यज्ञ में (चारुः) अत्यन्त शोभायमान और शोभा के देनेवाले हो । हे परमात्मन् ! (सप्रथस्तमे सख्ये शर्मन् तव) आपके अतिविस्तीर्ण, आनन्दस्वरूप सखाओं के कर्म में हम लोग स्थिर हों, जिससे हमको कभी दुःख प्राप्त न हो । और आपके अनुग्रह से हम लोग [(मा रिषाम)] परस्पर अप्रीतियुक्त कभी न हों ॥४८॥

मा नो वधीरिन्द्र मा परा दामा नः प्रिया भोजनानि प्र मौषीः ।

आण्डा मा नो मध्वञ्छक्र निर्मेन्मानुः पात्रा भेत्सहजानुपाणि ॥

१।७।१६।३॥<sup>१</sup>

व्याख्यान—हे(इन्द्र)परमैश्वर्य्ययुक्तेश्वर ! (मा नो वधीः)हमारा

१. ऋ० १।६४।१३॥

२. ऋ० १।१०४।८॥ (यू० मी०)



वध मत कर । अर्थात् अपने से अलग हमको मत गिरावै । ( मा परा दाः) हमसे अलग आप कभी मत हो । (मा नः प्रिया भोजनानि प्रमोषीः) हमारे प्रिय भोगों को मत चोर और मत चोरवावै' ।

१. "मत चोर और चोरवावै" मुप स्तेये ऋचादि परस्मैपद ।

यहां मूलमन्त्र में "प्रमोषीः" पद है । इस धातु का प्रयोग मूल वेद में अनेक स्थलों में आया है । यथा ऋ० १।२।११ में "तत्त्वा यामि ब्रह्मणा ... मा न आयुः प्रमोषीः" आयु को न्यून मत करो—आयु का अपहरण मत करो । यही अर्थ ठीक प्रतीत होता है, क्योंकि आयु की चोरी क्या होगी ?

इसी प्रकार यहां भी 'हमारे भोजनादि पदार्थों का उपहरण मत करो' यही अभिप्रेत अर्थ है, जो आचार्य दर्शा रहे हैं ।

इसी प्रकार यजुः १६।२५ में—"मुष्णतां पतये नमो नमः" यहां भी अपहरण (क्योंकि दुष्टों से उत्तम-उत्तम पदार्थों का अपहरण=पृथक् परमात्मा ही करते हैं) करनेवालों में रुद्र को मुख्य कहा गया है ।

अथर्ववेद ४।३४।४ में भी—"नैनान् यमः परिमुष्णाति रेतः" ॥

उनके रेतः (निघण्टु-वलनामसु पठितम्) वल को 'यम' नहीं चुराता, अर्थात् अपहरण (=पृथक्) नहीं करता । इत्यादि अनेक उदाहरण समझे ।

अपहरण का अर्थ 'पृथक् करना' भी है । यथा—"सत्यव्रता रहितमान-मलापहाराः"—अर्थात् मल से पृथक् करनेवाले ।

हम देखते हैं कि एक मनुष्य पाप से खूब धन कमाता है । उस पाप की कमाई से वह मोटर खरीद लेता है, बड़े-बड़े महल खड़े कर लेता है, दर्जनों नौकर रख लेता है, कई कम्पनियों का डाइरेक्टर बन जाता है, अधिक से अधिक ऐश्वर्य की सामग्री उपस्थित कर लेता है । परन्तु यह सब लोगों को धोखा दे देकर, जनता को ठग कर और गरीबों का खून निचोड़ कर । लोग कहते हैं कि दुनियां में पापी बड़े सुखी रहते हैं । परन्तु वह कर्म का फल देनेवाला रुद्र तो सब कुछ देखता है ।

समय आता है पाप का भाण्डा भर जाता है, उसकी कम्पनियां टूटने लगती हैं । उस पर वर्जा हो जाता है, खर्च बहुत बढ़ा हुआ है, वह कर्जा चुका नहीं सकता, घर का सामान नीलाम हो जाता है । मोटरें नहीं रहती, मकान भी नीलाम हो जाते हैं, या दैवयोग से मकान को आग लग जाती



- (आण्डा मा नः) हमारे गर्भों का विदारण मत कर। हे (मधवन्) सर्वशक्तिमन् (शक्र) समर्थ ! हमारे पुत्रों का विदारण मत कर। (मा नः पात्रा) हमारे भोजनाद्यर्थ सुवर्णादि पात्रों को हम से अलग मत कर। [सहजानुषाणि] जो-जो हमारे सहज अनुषक्त=स्वभाव से अनुकूल मित्र हैं, उनको आप नष्ट मत करो। अर्थात् कृपा करके पूर्वोक्त सब पदार्थों की यथावत् रक्षा करो ॥४६॥

### प्रार्थना-विषय

- मा नो महान्तमुत मा नो अर्भकं  
मा न उक्षन्तमुत मा न उक्षितम् ।  
मा नो वधीः पितरं मोत मातरं  
मा नः प्रियास्तन्वो रुद्र रीरिपः ॥५०॥ १ ८।६।२॥

- है। उस पर भयङ्कर रोग का आक्रमण हो जाता है। जो रुपया कहीं छिपा कर रक्खा गया था, वह डाक्टरों की जेबों में चला जाता है। कल जो पाप की कमाई से करोड़पति बना हुआ था, आज वह रोटी के लिये भूखा मर रहा है। वस यही परमात्मा की चोरी (—अपहरण) है।

इस मन्त्र में प्रभु से प्रार्थना की है कि प्रभो ! कृपा करो, हमारी प्रवृत्ति धर्म की ओर हो, हम पापों से सदा बचे रहें ताकि आप हमारे प्रिय भोगों का अपहरण न करें। (सम्पादक)

- २० १. “गर्भों का विदारण मत कर।”

गर्भों का विदारण तभी होता है, जब मनुष्य ऋतुगामी न हो, और स्त्री-पुरुष गृहस्थ के नियमों का पालन न करें। सन्तानोत्पत्ति के लिये जो नियम शास्त्र ने बताये हैं, उनका उल्लंघन करें।

- इस मन्त्र में एक गृहस्थ प्रार्थना करता है कि हे प्रभो ! मैं गृहस्थ के नियमों का पालन करूँ, ऋतुगामी होऊँ। शास्त्रीय मर्यादा का उल्लंघन न करूँ, गर्भों का विदारण न हो, और अच्छी सन्तानें उत्पन्न हों। (सं०)

२. इस मन्त्र का अर्थ ऋषि ने अमेरिका निवासी कर्नल अल्काट को लिखे संस्कृत पत्र में भी किया है। वहाँ अर्थ अधिक स्पष्ट है। देखो ऋ० द० का पत्रव्यवहार पृष्ठ ६७, संस्क० २। (यु० मी०)

- ३० ३. ऋ० १।११४।७॥ (यु० मी०)



व्याख्यान—हे (रुद्र) दुष्टविनाशकेश्वर ! आप हम पर कृपा करो । (मा नो महान्तम्) हमारे ज्ञानवृद्ध और वयोवृद्ध पिता इनको आप नष्ट मत करो । तथा (मा नो अर्भकम्) छोटे बालक, और (उक्षन्तम्) वीर्यसेचनसमर्थ जवान, तथा जो [(उक्षितम्)] गर्भ में वीर्य का सेचन किया है, उसको मत विनष्ट करो । तथा ५ [(पितरं मोत मातरम्०)] हमारे पिता माता और प्रिय तनुओं =शरोरों का (मा रोरिषः) हिंसन मत करो ॥५०॥'

### स्तुति-विषय

मा नस्तोके तनये मा न आयौ

मा नो गोषु मा नो अश्वेषु रीरिषः ।

१०

वीरान्मा नो रुद्र भामितो वधी-

हविष्मन्तः सदुमित्रा हवामहे ॥५१॥ १।८।६।३॥'

व्याख्यान—(मा नः तोके) कनिष्ठ मध्यम और ज्येष्ठ पुत्र, (आयौ) उमर, (गोषु) गाय आदि पशु (अश्वेषु) घोड़ा आदि उत्तम यान, [(वोरान्)] हमारी सेना के गुरां में, (हविष्मन्तः) यज्ञ के करनेवाले, इन में (भामितः) क्रोधित और (मा रीरिषः) रोषयुक्त होके कभी प्रवृत्त मत हो । हम लोग आपको (सदुमित्रा हवामहे) सर्वदैव आह्वान करते हैं । हे भगवन् रुद्र परमात्मन् ! आपसे यही प्रार्थना है कि हमारी और हमारे पुत्र धनेश्वर्यादि की रक्षा करो ॥५१॥'

२०

१. इस मन्त्र का अर्थ ऋषि ने कर्नल अल्काट को लिखे पत्र में भी किया है । देखो—ऋ० द० का पत्रव्यवहार पृष्ठ ६७, संस्क० २।(यु० मी०)

२. ऋ० १।११४।८॥ (यु० मी०)

३. 'आर्याभिविनय' के मुद्रित अजमेरीय संस्करणों में यह मन्त्र ५०वें मन्त्र के साथ इकट्ठा छपा हुआ है, और अर्थ भी दोनों के इकट्ठे छापे गए हैं । हमने पाठकों के सुभीते के लिये और छपाई के सौन्दर्य के लिये इन दोनों मन्त्रों को पृथक्-पृथक् छपवा दिया है । (सम्पादक)

२५

४. इस मन्त्र का अर्थ ऋषि ने कर्नल अल्काट को लिखे पत्र में भी किया है । देखो—ऋ० द० का पत्रव्यवहार पृष्ठ ६७, संस्क० २।(यु० मी०)



## प्रार्थना-विषय

उद्गातेव शकुने सामं गायमि

ब्रह्मपुत्रइव सर्वनेषु शंसमि ।

वृषेव वाजी शिशुमतीरपीत्यां

सर्वतो नः शकुने भद्रमा वद

विश्वतो नः शकुने पुण्यमा वद ॥२२॥ २।८।१२।२॥

- व्याख्यान—हे (शकुने) सर्वशक्तिमन्नीश्वर ! आप [(उद्गा-  
तेव साम गायसि)] साम को सदा गाते हो,<sup>१</sup> वैसे ही हमारे हृदय  
में सब विद्या का प्रकाशित गान<sup>२</sup> करो । जैसे यज्ञ में महापण्डित  
१० सामगान करता है, वैसे आप भी हम लोगों के बीच में सामादि  
विद्या का गान=प्रकाश कीजिये । (ब्रह्मपुत्रइव सर्वनेषु) आप  
कृपा से सब=पदार्थविद्याओं की शंससि=प्रशंसा करते हो,  
वैसे हमको भी यथावत् प्रशंसित करो । जैसे ब्रह्मपुत्रइव=वेदों  
का वेत्ता विज्ञान से सब पदार्थों की प्रशंसा करता है, वैसे आप भी  
१५ हम पर कृपा कीजिये । आप (वृषेव वाजी) सर्वशक्ति का सेचन  
करने, और अन्नादि पदार्थों के दाता, तथा महाबलवान् और वेगवान्  
होने से वाजी हो । जैसा कि वृषभ की नाई आप उत्तम गुण और  
उत्तम पदार्थों की वृष्टि करनेवाले हो, वैसे हम पर उनकी वृष्टि  
करो । (शिशुमतीः) हम लोग आपकी कृपा से उत्तम-उत्तम शिशु=  
२० सन्तानादि को (अपीत्य) प्राप्त होके आपको ही भजें । (आ सर्वतो नः  
शकुने) हे शकुने=सर्वसामर्थ्यवान् ईश्वर ! सब ठिकानों से हमारे  
लिये (भद्रम्) कल्याण को (आ वद) अच्छे प्रकार कहो, अर्थात्  
कल्याण की ही आज्ञा और कथन करो । जिससे अकल्याण की बात

१. ऋ० २।४३।२॥ (यु० मी०)

२५ २. "आप साम.....हो"—अर्थात् परमात्मा के द्वारा ही विश्व में  
गानविद्या का प्रादुर्भाव हुआ है । (सं०)

३. अर्थात् वैसे ही हमारे हृदय में सब विद्याओं को प्रकाशित करो ।  
(सम्पादक)



भी कभी हम न सुनें । (विश्वतो नः शकुने) हे सबको सुख देनेवाले ईश्वर ! सब जगत् के लिये (पुण्यम्) धर्मात्मक कर्म करने को (आवद) उपदेश कर । जिस से कोई मनुष्य अधर्म करने की इच्छा भी न करे, और सब ठिकानों में सत्यधर्म की प्रवृत्ति हो ॥५२॥

### प्रार्थना-विषय

आवदंस्त्वं शकुने भद्रमा वद  
तूष्णीमासीनः सुमतिं चिकिद्धि नः ।

यदुत्पतन् वदसि कर्करिर्यथा

बृहद्वदेम विदथे सुवीराः ॥५३॥ २।८।१२।३॥<sup>१</sup>

व्याख्यान—(आवदंस्त्वं शकुने) हे शकुने = जगदीश्वर ! आप (भद्रम्) कल्याण का भी कल्याण अर्थात् व्यावहारिक सुख के भी ऊपर मोक्षसुख का निरन्तर उपदेश सब जीवों को कीजिये । (तूष्णीमासीनः) हे अन्तर्यामिन् ! हमारे हृदय में सदा स्थिर हो मौन से ही (सुमतिम्) सर्वोत्तम ज्ञान देओ । (चिकिद्धि नः) कृपा से हमको अपने रहने के लिये घर ही बनाओ<sup>१</sup>। और आप की परमविद्या को हम प्राप्त हों । (यदुत्पतन्) उत्तम व्यवहार में पहुंचाते हुए आप का (यथा) जिस प्रकार से (कर्करिर्वदसि) कर्तव्य कर्म धर्म को हो अत्यन्त पुरुषार्थ से करो, अकर्तव्य दुष्ट कर्म मत करो मत करो, ऐसा उपदेश है कि पुरुषार्थ अर्थात् यथायोग्य उद्यम को कभी कोई मत छोड़ो । जैसे (बृहद्वदेम विदथे०) विज्ञानादि यज्ञ वा धर्मयुक्त युद्धों में 'सुवीराः' = अत्यन्त शूरवीर होके 'बृहत्' = सबसे बड़े आप जो परब्रह्म उन (वदेम) आप की स्तुति, आप का उपदेश, आप की प्रार्थना और उपासना, तथा आप का यह बड़ा अखण्ड साम्राज्य

१. अर्थात् धर्मरूपी कर्म । (यु० मी०)

२. ऋ० २।४३।३॥ (यु० मी०)

३. अर्थात् हम आप को अपने में व्यापक अनुभव करें । (सम्पादक)



और सब मनुष्यों का हित सर्वदा कहें-सुनें, और आपके अनुग्रह से परमानन्द को भोगें ॥५३॥'

ओम् महाराजाधिराजाय परमात्मने नमो नमः ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्याणां महाविदुषां श्रीयुतविरजानन्द  
 १ सरस्वतीस्वामिनां शिष्येण दयानन्दसरस्वतीस्वामिना  
 विरचित 'आर्याभिविनये' प्रथमः प्रकाशः  
 पूर्त्तिमागमत् ॥

सनाप्तोऽयं प्रथमः प्रकाशः ॥

---

१. मन्त्र ५२ और ५३ के सम्बन्ध में मन्त्र ५१ की टिप्पणी देखें । (सं)



ॐ ओ३म् ॐ

तत्सत्परमात्मने नमः

## अथ द्वितीयः प्रकाशः

ओ३म् सह नाववतु सह नौ भुनक्तु । सह वीर्यं करवावहे ।  
 तेजस्वि नावधीतमस्तु मा विद्विषावहे ॥  
 ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥१॥

तैत्तिरीयारण्यके ब्रह्मानन्दवल्ली प्रपा० १०। प्रथमानुवाकः १॥

व्याख्यान—हे सहनशीलेश्वर ! [(सह नाववतु)] आप और हम लोग परस्पर प्रसन्नता से रक्षक हों<sup>१</sup>। आप की कृपा से हम लोग सदैव आप की ही स्तुति प्रार्थना और उपासना करें। तथा आप को ही पिता माता बन्धु राजा स्वामी सहायक सुखद सुहृद् परमगुर्वादि जानें। क्षणमात्र भी आपको भूल कर न रहें। आप क तुल्य वा अधिक किसी को कभी न जानें। आपके अनुग्रह से हम सब लोग परस्पर प्रीतिमान् रक्षक सहायक परम पुरुषार्थी हों। एक दूसरे का दुःख न देख सकें। स्वदेशस्थादि मनुष्यों को अत्यन्त परस्पर निर्वैर प्रीतिमान् पाखण्ड रहित करें।

(सह नौ भुनक्तु) तथा आप और हम लोग परस्पर परमानन्द का भोग करें<sup>१</sup>। हम लोग परस्पर हित से आनन्द भोगें, कि

१. इसका भाव है कि आप हमारे रक्षक हों, और हम मनुष्य लोग परस्पर प्रसन्नता से एक दूसरे के रक्षक हों। (सं०)

१. यहां “आप और हम लोग परस्पर परमानन्द का भोग करें” का भाव आगे पढ़ने से कुछ स्पष्ट होता है, अर्थात् परमानन्द भोगने का भाव है कि—“हम लोग परस्पर हित से आनन्द भोगें”, और “आप हमको अपने अनन्त परमानन्द का भागी करें”।

इस मन्त्र के अर्थ में भाषा बनाने में कुछ गड़बड़ सी प्रतीत होती १०



आप हमको अपने अनन्त परमानन्द के भागी करें। उस आनन्द से हम लोगों को क्षणमात्र भी अलग न रखें।

(सह वीर्य्यं करवावहै) आप के सहाय से परम वीर्य्य जो सत्यविद्यादि उस को परस्पर परम पुरुषार्थ से प्राप्त करें।

१ है। यह ग्रन्थ महर्षि ने चैत्र शु० १० सं० १९३२ वि० को लिखना प्रारम्भ किया था (देखो पृष्ठ ४१-४२; श्लोक २) अर्थात् महाराज के देहान्त से ८ वर्ष पूर्व। सब लोग यह जानते हैं कि उस समय महर्षि भाषा लगभग सर्वथा नहीं जानते थे। सत्यार्थ-प्रकाश प्रथम-संस्करण १९३२ संवत् में ही छपा था। उसकी भाषा अशुद्ध थी, यह महर्षि स्वयं लिखते हैं—

१० “जिस समय मैंने यह ग्रन्थ सत्यार्थ-प्रकाश बनाया था, उस समय और उससे पूर्व संस्कृत भाषण करने, पठन-पाठन में संस्कृत ही बोलने और जन्मभूमि की भाषा गुजराती होने के कारण मुझको इस भाषा का विक्षेप-परिज्ञान न था, इससे भाषा अशुद्ध बन गई थी।”

(सत्यार्थप्रकाश भूमिका, पृष्ठ १) ॥

१५ स्पष्ट है कि उन्हीं दिनों की लिखी हुई ‘आर्याभिविनय’ की भाषा में भी अशुद्धि हो सकती है। इसलिये यहां “आप और” और इसी मन्त्र के अर्थों के आरम्भ का ‘आप और’ शुद्ध भाषा के अनुसार यदि न ही, तो भाव अधिक स्पष्ट हो जाता है। क्योंकि आगे ऐसे ही पदों—  
 २० “करवावहै तेजस्विनी विद्विपावहै” का अर्थ “हम लोग परस्पर बल वावें, तेजस्वी हों और द्वेष न करें” ऐसा किया गया है। इन अर्थों में “आप और” शब्द नहीं जोड़ा गया है।

इस ग्रन्थ के बनने के बाद जब ‘ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका’ आदि ग्रन्थों को ऋषि ने बनाया, उस समय महाराज भाषा अच्छी प्रकार बोलने लगे थे। उन ग्रन्थों में ऋषि ने निम्नलिखित अर्थ किया है—

२५ “(सह नाव०) हे सर्वशक्तिमन् ईश्वर ! आपकी कृपा रक्षा और सहाय से हम लोग परस्पर एक दूसरे की रक्षा करें। (सह नी भुनक्तु) और हम सब लोग परम प्रीति से मिलकर सब से उत्तम ऐश्वर्य्य अर्थात् चक्रवर्ती राज्य आदि सामग्री से आनन्द को आपके अनुग्रह से सदा भोगें।”

[ऋ० भा० भू० पृष्ठ २, रालाकट्टसं०]

३० संस्कारविधि (द्वि० सं०) में इस मन्त्र का ऐसा अर्थ किया है—

“हम स्त्री-पुरुष सेवक-स्वामी मित्र-मित्र पिता-पुत्रादि (सह) मिलके (नी) हम दोनों प्रीति से (अवतु) एक दूसरे की रक्षा करें। और



(तेजस्वि नावधीतमस्तु) हे अनन्त विद्यामय भगवन् ! आप की कृपादृष्टि से हम लोगों का पठन-पाठन परमविद्यायुक्त हो । और संसार में सब से अधिक प्रकाशित हों, और अन्योन्य प्रीति से परम वीर्य पराक्रम से निष्कण्टक चक्रवर्ती राज्य भोगें । हममें सब नीतिमान् सज्जन पुरुष हों, और आप हम लोगों पर अत्यन्त कृपा करें कि हम लोग नाना पाखण्ड, असत्य, वेदविरुद्ध मतों का शीघ्र छोड़के एक सत्यसनातनमतस्थ हों, जिससे सब विद्वेष के मूल जो पाखण्ड मत, वे सब सद्यः प्रलय को प्राप्त हों ।

(मा विद्विषावहै) और हे जगदीश्वर ! आप के सामर्थ्य से हम लोगों में परस्पर विद्वेष, विरोध अर्थात् अप्रीति न रहे । तथा हम लोग कभी परस्पर विद्वेष, विरोध न करें, किन्तु सब = हम लोग तन-मन-धन-विद्या इनको परस्पर सब के सुखोपकार में परम प्रीति से लगावें ।

(ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः) हे भगवन् ! तीन प्रकार के सन्ताप जगत् में हैं—एक ‘आध्यात्मिक’ = शारीरिक—जो ज्वरादि पीड़ा होने से होता है । दूसरा ‘आधिभौतिक’ ताप—जो शत्रु सर्प व्याघ्र चौरादिकों से सन्ताप होता है । और तीसरा—जो मन इन्द्रिय अग्नि वायु अतिवृष्टि अनावृष्टि अतिशीत अत्युष्णता इत्यादि से होता है, सो ‘आधिदैविक’ ताप है । हे कृपासागर ! आप इन तीनों तापों की शीघ्र निवृत्ति करें । जिससे हम लोग अत्यानन्द में और आपकी अखण्ड उपासना में सदा रहें ।

( सह ) प्रीति से मिलके एक दूसरे के ( वीर्यम् ) पराक्रम की बढ़ती (करवावहै) सदा किया करें ।” [संस्कारविधि गृहस्थप्रकरण । पृष्ठ २६७, रालाकट्ट आ० सं० श० संस्क०]

इन तीनों लेखों को परस्पर मिलाकर पढ़ने से ऋषि का अभिप्राय स्पष्ट विदित हो जाता है । आर्याभिविनय में भाव पूर्णतया स्पष्ट न होने का कारण भाषा की शैली ही हो सकती है । अथवा प्रेस के कृपालुओं की कृपा भी हो सकती है । इसके अनेक प्रमाण भी उपस्थित किये जा सकते हैं । (सम्पादक)

१. ‘युक्त’ शब्द पहले और दूसरे संस्करणों में नहीं है । (सं०)



- हे विश्वगुरो ! मुझको असत्=मिथ्या और अनित्य पदार्थ तथा असत् काम से छुड़ाके, सत्य तथा नित्य पदार्थ और श्रेष्ठ व्यवहार में स्थिर कर । हे जगन्मङ्गलमय ! सर्वदुःखेभ्यो मोक्षयित्वा सर्वसुखानि प्रापय=सब दुःखों से मुझको छुड़ाके सत्र
- ५ सुखों को प्राप्त कर ।<sup>१</sup> हे प्रजापते ! सुप्रजया पशुभिन्न ह्यवर्चसेन परमैश्वर्येण संयोजय=हे प्रजापते ! मुझको अच्छी प्रजा पुत्रादि, हस्त्यश्वगवादि उत्तम पशु, सर्वोत्कृष्ट विद्या और चक्रवर्ती राज्यादि परमैश्वर्य, जो स्थिर परमसुखकारक, उसको शीघ्र प्राप्त कर<sup>२</sup> । हे परमवैद्य ! सर्वरोगात् पृथक्कृत्य नैरोग्यं देहि=सर्वथा मुझको
- १० सब रोगों से छुड़ाके परम नैरोग्य दे । हे महाराजाधिराज ! [मनसा वाचा कर्मणा अज्ञानेन प्रमादेन वा यद्यत्पापं कृतं मया तत्तत्सर्वं कृपया क्षमस्व, ज्ञानपूर्वकपापकरणान्निवर्तय माम्=मन से वाणी से और कर्म से, अज्ञान वा प्रमाद से जो पाप किया हो, किंवा करने का हो, उस-उस मेरे पाप को क्षमा कर । और
- १५ ज्ञानपूर्वक पाप करने से भी मुझको रोक दे],<sup>३</sup> जिससे मैं शुद्ध होके आप की सेवा में स्थिर होऊं । हे न्यायाधीश ! कुकामकुलोभ-कुमोहभयशोकालस्येष्वादिषप्रमादविषयतृष्णानैष्ठुर्याभिमानदुष्टभा-वाविद्याभ्यो निवारय, एतेभ्यो विरुद्धेषूत्तमेषु गुणेषु संस्थापय माम्=हे ईश्वर ! कुकाम कुलोभादि पूर्वोक्त दुष्ट दोषों को स्वकृपा
- २० से छुड़ाके श्रेष्ठ काम आदि में यथावत् मुझको स्थिर कर । मैं अत्यन्त दीन होके यही मांगता हूँ कि मैं आप और आपकी आज्ञा से भिन्न पदार्थ में कभी प्रीति न करूँ । हे प्राणपते, प्राणप्रिय, प्राणपितः, प्राणाधार, प्राणजीवन, स्वराज्यप्रद ! मेरे प्राणपति

१. यह पाठ आजकल के अजमेरीय संस्करणों में नहीं है, परन्तु
- २५ प्रथम और द्वितीय संस्करणों में है । (सम्पादक)
२. देखो—प्रथम प्रकाश मन्त्र २, पृष्ठ ४६ पर फुटनोट ३ । (सम्पादक)
३. यह सारा कोनेवाली ब्रैकेटों [ ] के अन्दरवाला पाठ आजकल के अजमेरीय संस्करणों में नहीं है, परन्तु प्रथम और द्वितीय संस्करणों में है । और पूर्वापर की सङ्गति भी इस पाठ के बिना ठीक नहीं लगती ।
- ३० इसलिये हमने यह पाठ रखना उचित समझा है । प्रतीत होता है कि किसी संस्करण के छपते समय यह पाठ कम्पोजिटर से छूट गया, और फिर वैसा ही छपता गया । (सं०)



आदि आप ही हो । मेरा सहायक आपके सिवाय कोई नहीं । हे राजाधिराज ! जैसा सत्य न्याययुक्त अखण्डित आपका राज्य है, वैसा न्यायराज्य हम लोगों का भी आप की ओर से स्थिर हो । आपके राज्य के अधिकारी किङ्कर अपने कृपाकटाक्ष से हमको शीघ्र ही कर । हे न्यायप्रिय ! हमको भी न्यायप्रिय यथावत् कर । हे धर्मधीश ! हमको धर्म में स्थिर रख । हे करुणामय पिता ! जैसे माता और पिता अपने सन्तानों का पालन करते हैं, वैसे ही आप हमारा पालन करो ॥१॥'

### स्तुति-विषय

स पर्यगाच्छुक्रमक्रायमव्रगमस्नाविरश्शुद्धमपाविद्धम् ।  
कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यद-  
धाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥२॥ यजुर्वेद अध्याय ४०। मं० ८॥'

व्याख्यान—(स पर्यगात्) वह परमात्मा आकाश के समान सब जगह में परिपूर्ण=व्यापक है । (शुक्रम्) सब जगत् का करनेवाला वही है । (अक्रायम्) और वह कभी शरीर= अवतार नहीं धारण करता । वह अखण्ड और अनन्त निर्विकार होने से देह धारण कभी नहीं करता । उससे अधिक कोई पदार्थ नहीं है । इससे ईश्वर का शरीर धारण करना कभी नहीं बन सकता । (अव्रगम्) वह अखण्डैकरस, अच्छेद्य, अभेद्य, निष्कम्प और अचल है । इससे अंशांशभाव भी उसमें नहीं है । क्योंकि उसमें छिद्र किसी प्रकार से नहीं हो सकता । (अस्नाविरम्) नाड़ी आदि का

१. यह मन्त्र आचार्य ने द्वितीयप्रकाश की उपक्रमणिका स्वरूप दिया है । यह इस मन्त्र के व्याख्यान से स्पष्ट विदित होता है । (सम्पादक)

२. यह संख्या इस भाग में ऐसे ही होगी । आगे केवल अङ्क संख्या लिखी जायगी । जैसे—४०।८ से तात्पर्य ४० वां अध्याय और ८वां मन्त्र होगा । (सम्पादक)



- प्रतिबन्ध=निरोध भी उसका नहीं हो सकता । अतिसूक्ष्म होने से ईश्वर को कोई आवरण नहीं हो सकता । (शुद्धम्) वह परमात्मा सदैव निर्मल, अविद्यादि जन्म-मरण हर्ष-शोक क्षुधा-तृषादि दोषोपाधियों से रहित है । शुद्ध की उपासना करनेवाला शुद्ध ही होता है, और मलिन का उपासक मलिन ही होता है । (अपापविद्धम्) परमात्मा कभी अन्याय नहीं करता, क्योंकि वह सदैव न्यायकारी ही है । (कविः) त्रैकाल्यज्ञ=सर्ववित्, महाविद्वान्, जिसकी विद्या का अन्त कोई कभी नहीं ले सकता । (मनीषी) सब जीवों के मन=विज्ञान का साक्षी, सबके मन का दमन करनेवाला है । (परिभूः) सब दिशाओं और सब जगह में परिपूर्ण हो रहा है, सबके ऊपर विराजमान है । (स्वयम्भूः) जिसका आदिकारण माता-पिता उत्पादक कोई नहीं, किन्तु वही सब का आदिकारण है । (याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः) उस ईश्वर ने अपनी प्रजा को यथावत् सत्य, सत्य-विद्या जो चार वेद उनका सब मनुष्यों के परमहितार्थ उपदेश किया है । उस हमारे दयामय पिता परमेश्वर ने बड़ी कृपा से अविद्यान्धकार का नाशक वेद-विद्यारूप सूर्य प्रकाशित किया है । और सब का आदिकारण परमात्मा है, ऐसा अवश्य मानना चाहिये । एवं विद्या-पुस्तक का भी आदिकारण ईश्वर को निश्चित मानना चाहिये । विद्या का उपदेश ईश्वर ने अपनी कृपा से किया है । क्योंकि हम लोगों के लिये [उसने] सब पदार्थों का दान किया है, तो विद्या-दान क्यों न करेगा ? सर्वोत्कृष्ट विद्या-पदार्थ का दान परमात्मा ने अवश्य किया है, तो वेद के विना अन्य कोई पुस्तक संसार में ईश्वरोक्त नहीं है । जैसा पूर्ण विद्यावान् और न्यायकारी ईश्वर है, वैसे ही वेद-पुस्तक भी है । अन्य कोई पुस्तक ईश्वरकृत, वेद-तुल्य वा अधिक नहीं है । अधिक विचार इस विषय का 'सत्यार्थप्रकाश' मेरे किये ग्रन्थ में देख लेना ॥२॥

१. अजमेरीय संस्करणों में "सत्यार्थप्रकाश और ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका" ऐसा पाठ है । 'आर्याभिविनय' सं० १६३२ वि० के प्रारम्भ में



## प्रार्थना-विषय

दृते दृ१ह मा मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम् ।

मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे ।

मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे ॥३॥ ३६।१८॥

व्याख्यान—हे अनन्तबल महावीर ईश्वर ! (दृते) हे दुष्ट- ५  
स्वभावनाशक ! विदीर्ण कर्म अर्थात् विज्ञानादि शुभ गुणों का  
नाशकर्म करनेवाला मुझको मत रक्खो=स्थिर मत करो,  
किन्तु उससे मेरे आत्मादि को उठाके विद्या सत्यधर्मादि शुभ  
गुणों में सदैव स्वकृपासामर्थ्य ही से स्थित करो । (दृ१ह मा) हे  
परमैश्वर्यवान् भगवन् ! धर्मार्थिकाममोक्षादि तथा विद्या विज्ञानादि १०  
दान से अत्यन्त मुझको बढ़ा । (मित्रस्येत्यादि०) हे सर्वसुहृदोश्वर  
सर्वान्तर्यामिन् ! सब भूत प्राणिमात्र मित्र की दृष्टि से यथावत्  
मुझको देखें । सब मेरे मित्र ही हो जायें, कोई मुझ से किञ्चि-  
न्मात्र भी वैरदृष्टि न करें । (मित्रस्याहं चेत्यादि) हे परमात्मन् !  
आपकी कृपा से मैं भी निर्वैर होके सब भूत प्राणी और अप्राणी १५  
चराचर जगत् को मित्र की दृष्टि से स्वआत्म=स्वप्राणवत् प्रिय  
जानूँ । अर्थात् (मित्रस्य चक्षुषेत्यादि) पक्षपात छोड़के सब  
जीव देहधारीमात्र अत्यन्त प्रेम से परस्पर वर्तमान करें । अन्याय  
से युक्त होके किसी पर कभी हम लोग न वर्त्ते । यह परम धर्म  
का सब मनुष्यों के लिये परमात्मा ने उपदेश किया है । सबको २०  
यही मान्य होने योग्य है ॥ ३ ॥

लिखा गया था । ऋ० भा० भूमिका का प्रणयन संवत् १९३३ वि० के  
उत्तरार्ध में हुआ था (देखो भूमिका के प्रारम्भ में) । अतः उसका नाम इस  
ग्रन्थ में कदापि नहीं आ सकता । इस ग्रन्थ के प्रथम और द्वितीय संस्करणों  
में भी भूमिका का नाम नहीं है । भूमिका का नाम न जाने किस अजमेरीय २५  
संस्करण से प्रविष्ट हुआ, यह अज्ञात है । (यु० मी०)



## स्तुति-विषय

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदं चन्द्रमाः ।

तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ताऽ आपः स प्रजापतिः ॥४॥ ३२।१॥

- व्याख्यान—जो सब जगत् का कारण एक परमेश्वर है,  
 ५ [(तदेवाग्निः)] उसी का नाम 'अग्नि' है, "ब्रह्मा ह्यग्निः"  
 शतपथे । सर्वोत्तम ज्ञानस्वरूप और जानने के योग्य, प्रापणीयस्वरूप  
 और पूज्यतमेत्यादि 'अग्नि' शब्द के अर्थ हैं । "आदित्यो वै ब्रह्मा,"  
 १० "वायुर्वै ब्रह्मा, चन्द्रमा वै ब्रह्मा", शुक्रं हि ब्रह्मा, सर्वजगत्कर्तृ ब्रह्मा,  
 ब्रह्मा वै बृहत्, आपो वै ब्रह्मा इत्यादि शतपथ तथा ऐतरेय ब्राह्मण  
 के प्रमाण हैं । (तदादित्यः) जिसका कभी नाश न हो, और  
 स्वप्रकाशस्वरूप हो, इससे परमात्मा का नाम 'आदित्य' है ।  
 (तद्वायुः) सब जगत् का धारण करनेवाला, अनन्त बलवान्,  
 प्राणों से भी जो प्रियस्वरूप है, इससे ईश्वर का नाम 'वायु' है ।  
 पूर्वोक्त प्रमाण से (तदु चन्द्रमाः) जो आनन्दस्वरूप और स्वसेवकों  
 १५ को परमानन्द देनेवाला है, इससे पूर्वोक्त प्रकार से 'चन्द्रमा' पर-  
 मात्मा को जानना । (तदेव शुक्रम्) वही चेतनस्वरूप ब्रह्मा सब  
 जगत् का कर्त्ता है । (तद् ब्रह्मा) सो अनन्त चेतन सब से बड़ा है,  
 और धर्मात्मा स्वभक्तों को अत्यन्त सुख विद्यादि सद्गुणों से  
 बढ़ानेवाला है । (ता आपः) उसी को सर्वत्र चेतन सर्वत्र व्याप्त  
 २० होने से 'आपः' नामक जानना । (स प्रजापतिः) सो ही सब  
 जगत् का पति=स्वामी और पालन करनेवाला है, अन्य कोई  
 नहीं । उसी को हम लोग इष्टदेव तथा पालक मानें, अन्य को  
 नहीं ॥ ४ ॥

- 
१. शतपथ १।५।१।११॥ २. जै० उ० ब्रा० ३।४।६; आदित्यो  
 २५ ब्रह्मा । शत० ७।४।१।१४॥ ३. ऐत० २।४१ ॥  
 ४. आपो वै प्रजापतिः । शत० ८।२।३।१३ ॥



## प्रार्थना-विषय

ऋचं वाचं प्र पद्ये मनो यजुः प्र पद्ये

साम प्राणं प्र पद्ये चक्षुः श्रोत्रं प्र पद्ये ।

वागोजः सहौजो मयि प्राणापानौ ॥५॥ ३६।१॥

व्याख्यान - हे करुणाकर परमात्मन् ! आपकी कृपा से मैं ५  
 [(ऋचं वाचं प्रपद्ये)] ऋग्वेदादिज्ञानयुक्त = श्रवणयुक्त होके उसका  
 वक्ता होऊँ । [(मनो यजुः प्रपद्ये)] तथा यजुर्वेदाभिप्रायार्थसहित  
 सत्यार्थ मननयुक्त मन को प्राप्त होऊँ । [(साम प्राणं०)] ऐसे  
 ही सामवेदार्थनिश्चय, निदिध्यासन सहित प्राण को सदैव प्राप्त  
 होऊँ । (वागोजः) वाग्बल, वक्तृत्वबल, मनोविज्ञानबल मुझको १०  
 आप देवें । अन्तर्यामी की कृपा से मैं यथावत् प्राप्त होऊँ ।  
 (सहौजः) शरीरबल नैरोग्य-दृढत्वादिगुणयुक्त को मैं आप के  
 अनुग्रह से सदैव प्राप्त होऊँ । (मयि प्राणापानौ) हे सर्वजगज्जी-  
 वनाधार ! प्राण = जिससे कि ऊर्ध्व चेष्टा होती है, और अपान  
 = अर्थात् जिससे नीचे की चेष्टा होती है, ये दोनों मेरे शरीर में १५  
 सब इन्द्रिय, सब धातुओं की शुद्धि करनेवाले, तथा नैरोग्य बल  
 पुष्टि सरलगति करनेवाले, स्थिर आयुवर्धक [और] मर्मरक्षक  
 हों । उनके अनुकूल प्राणादि को प्राप्त होके आपकी कृपा से हे  
 ईश्वर ! सदैव सुखी होके आपकी आज्ञा और उपासना में [मैं]  
 तत्पर रहूँ ॥ ५ ॥ २०

## स्तुति-विषय

स नो बन्धुर्जनिता स विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा ।

यत्र देवा अमृतमानशानास्तृतीये धामन्धैरयन्त ॥ ६ ॥

३२।१०॥

व्याख्यान - [(स नः)] वह परमेश्वर हमारा (बन्धुः) २५  
 दुःखनाशक और सहायक है । तथा (जनिता) सब जगत् तथा  
 हम लोगों का भी पालन करनेवाला पिता, तथा हम लोगों के



- कामों की सिद्धि का, (विधाता) पूर्ण कामों की सिद्धि करनेवाला वही है। सब जगत् का भी विधाता = रचने और धारण करने-वाला एक परमात्मा ही है, अन्य कोई नहीं। (धामानि वेद भुवनानि विश्वा) सब धाम अर्थात् अनेक लोक-लोकान्तरों को
- ५ रचके अनन्त सर्वज्ञता से यथार्थ जानता है। [(यत्र देवा अमृत-मानशानाः)] वह कौन परमेश्वर है? कि जिससे देव अर्थात् विद्वान् लोग 'विद्वान्सो हि देवाः' शतपथ ब्रा०,<sup>३</sup> अमृत = मरणादि-दुःखरहित मोक्षपद में सब दुःखों से छूटके सर्वव्यापी पूर्ण-नन्दस्वरूप परमात्मा को प्राप्त होके परमानन्द में सदैव<sup>४</sup> रहते
- १० हैं। (तृतीये धामन्) एक स्थूल जगत् = पृथिव्यादि, दूसरा सूक्ष्म = आदिकारण, तीसरा जो सर्वदोषरहित अनन्तानन्दस्वरूप परब्रह्मा, उस धाम में (अध्यैरयन्त) धर्मात्मा विद्वान् लोग स्वच्छन्द = स्वेच्छा से वर्तते हैं। सब बाधाओं से छूटके विज्ञानवान् शुद्ध होके देश-काल-वस्तु का परिच्छेदरहित सर्वगत 'धामन्' =
- १५ आधारस्वरूप परमात्मा में सदा रहते हैं। उससे जन्म-मरणादि-दुःखसागर में कभी नहीं गिरते ॥ ६ ॥

#### प्रार्थना-विषय

यतोयतः समीहमे ततो नोऽ अभयं कुरु ।

शं नः कुरु प्रजाभ्योऽभयं नः पशुभ्यः ॥७॥ ३६।२२॥

- २० व्याख्यान—हे परमेश्वर दयालो! [(यतोयतः)] जिस-जिस देश से आप (समीहसे) सम्यक् चेष्टा करते हो, [(ततो नो अभयं कुरु)] उस-उस देश से हमको अभय करो। अर्थात् जहां-जहां से हमको भय प्राप्त होने लगे, वहां-वहां से सर्वथा हम

१. पूर्ण अर्थात् सम्पूर्ण = समस्त। अथवा पूर्ण शब्द का सम्बन्ध
- २५ सिद्धि के साथ समझना चाहिये—“कामों की पूर्ण सिद्धि करनेवाला”। (यु० मी०)

२. शतपथ ३।७।३।१०॥

३. देखो—टिप्पणी ३, पृष्ठ ४३। (सं०)

४. अर्थात् जहां-जहां सृष्टि में आपके द्वारा चेष्टा होती है। (सम्पादक)



लोगों को अभय = भयरहित करो । [(शं नः कुरु०)] तथा प्रजा से हमको सुख करो । हमारी प्रजा सब दिन सुखी रहे । भय देनेवाली कभी न हो । तथा पशुओं से भी हमको अभय करो । किञ्च किसी से किसी प्रकार का भय हम लोगों को आप की कृपा से कभी न हो । जिससे हम लोग निर्भय होके सदैव परमानन्द को भोगें, और निरन्तर आपका राज्य' । तथा आपकी भक्ति करे ॥ ७ ॥ ५

स्तुति-विषय

वेदाहमेतं पुरुषं महान्त-

मादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।

१०

तमेव विदित्वाति मृत्युमेति

नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥८॥ ३१।१८॥

व्याख्यान -- [(वेदाहमेतं पुरुषम्)] सहस्रशीर्षादि विशेष-  
णोक्त पुरुष सर्वत्र परिपूर्ण 'पूर्णत्वात् पुरिषयनाद्वा पुरुष इति  
निरुक्तोक्तेः' है, उस पुरुष को मैं जानता हूँ । अर्थात् सब मनुष्यों  
को उचित है कि उस परमात्मा को अवश्य जानें, उसको कभी न भूलें । अन्य किसी को ईश्वर न जानें । वह कैसा है ? कि—  
(महान्तम्) बड़ों से भी बड़ा, उससे बड़ा वा तुल्य कोई नहीं है ।  
(आदित्यवर्णम्) आदित्यादि का रचक और प्रकाशक वही एक  
परमात्मा है, तथा वह सदा स्वप्रकाशस्वरूप ही है । किंच (तमसः  
परस्तात्) तम जो अन्धकार = अविद्यादि दोष उससे रहित ही है ।  
तथा स्वभक्त धर्मात्मा सत्यप्रेमी जनों को भी अविद्यादि-दोषरहित  
सद्यः करनेवाला वही परमात्मा है । विद्वानों का ऐसा निश्चय है  
कि परब्रह्म के ज्ञान और उसकी कृपा के बिना कोई जोव कभी १५

१. अर्थात् आपका प्रदान किया राज्य भोगें तथा ..... । (सम्पादक)

२५

२. यह निरुक्त का अर्थानुवाद है । पाठ इस प्रकार है—'पुरुषः  
पुरिषादः पुरिषयः पूरयतेर्वा पूरयत्यन्तरित्यन्तरपुरुषमभिप्रेत्य ।' निरु०  
२।३॥ (यु० मी०)



सुखी नहीं होता । (तमेव विदित्वातिमृत्युमेति) उस परमात्मा को जानके ही जीव मृत्यु को उल्लंघन कर सकता है, अन्यथा नहीं । क्योंकि (नाऽन्यः पन्था विद्यतेऽयनाय) बिना परमेश्वर की भक्ति और उसके ज्ञान के मुक्ति का मार्ग कोई नहीं है, ऐसी परमात्मा की दृढ़ आज्ञा है । सब मनुष्यों को इसमें ही वर्तना चाहिये, और सब पाखण्ड और जंजाल अवश्य छोड़ देना चाहिये ॥ ८ ॥

### प्रार्थना-विषय

तेजोऽसि तेजो मयि धेहि वीर्यमसि वीर्यं मयि धेहि  
 १० बलमसि बलं मयि धेह्योजोऽस्योजो मयि धेहि  
 मन्युरसि मन्युं मयि धेहि सहोऽसि सहो मयि धेहि ॥९॥

१०।९॥

व्याख्यान—हे स्वप्रकाशस्वरूप ! अनन्ततेज ! [(तेजोऽसि तेजो मयि धेहि)] आप अविद्यान्धकार से रहित हो, किंच सत्य-  
 १५ विज्ञान तेजःस्वरूप हो । आप कृपा-दृष्टि से मुझ में वही तेज धारण करो, जिससे मैं निस्तेज दीन और भीरु कहीं कभी न होऊँ । हे अनन्तवीर्य परमात्मन् ! [(वीर्यमसि वीर्यं मयि धेहि) ] आप वीर्यस्वरूप हो [मुझ में भी वही वीर्य सदा धारण करो] ।  
 २० हे अनन्तबल ! [(बलमसि बलं मयि धेहि) ] आप बल-स्वरूप हो, ] वह सर्वोत्तम बल स्थिर मुझ में भी रखें ।  
 हे अनन्तपराक्रम ! [(ओजोऽस्योजो मयि धेहि) ] आप ओजः=पराक्रमस्वरूप हो, सो मुझमें भी उस पराक्रम को सदैव धारण करो । हे दुष्टानामुपरि क्रोधकृत् ! [(मन्युरसि मन्युं मयि धेहि) ] आप दुष्टों पर क्रोध करनेवाले  
 २५ हो] मुझ में भी दुष्टों पर क्रोध धारण कराओ । [(सहोऽसि सहो मयि धेहि) ] हे अनन्तसहनस्वरूप ! मुझ में भी आप सहनसामर्थ्य धारण करो, अर्थात् शरीर इन्द्रिय मन और आत्मा इनके तेजादि गुण कभी मुझ में से दूर न हों । जिससे मैं



आपकी भक्ति का स्थिर अनुष्ठान करूँ, और आपके अनुग्रह से संसार में भी सदा सुखी रहूँ ॥ ६ ॥

### स्तुति-विषय

परीत्य भूतानि परीत्य लोकान् परीत्य सर्वाः प्रदिशो दिशश्च ।

उपस्थाय प्रथमजामृतस्यात्मनात्मानमभि सं विवेश ॥१०॥ ५

३२।११॥

व्याख्यान - [(परीत्य भूतानि)] सब भूत आकाश और प्रकृति से लेके पृथिवीपर्यन्त सब संसार में वह परमेश्वर व्याप्त होके पूर्ण भर रहा है । [(परीत्य लोकान् ... दिशश्च)] तथा सब लोक, सब पूर्वादि दिशा और ऐशान्यादि उपदिशा, ऊपर नीचे अर्थात् एक कण भी उसके बिना खाली नहीं । (प्रथमजाम्) प्रथमोत्पन्न जीव=सब संसार को ही समझना । सो जीव आदि १०

१. प्रथम और द्वितीय संस्करणों में 'कणका' ऐसा पाठ है । (सं०)

२. यहां 'जीव' का अर्थ प्राणी अर्थात् आत्मा और शरीर दोनों मिले हुए समझना चाहिये । सामान्य भाषा में कहा भी जाता है— १५  
"बरसात में बहुत से जीव उत्पन्न हो जाते हैं।" इस वाक्य का तात्पर्य यह कभी नहीं होता कि नये आत्मा उत्पन्न हो जाते हैं । इसका अर्थ स्पष्ट यही होता है कि आत्मा और शरीर मिले हुए=प्राणी नये उत्पन्न हो जाते हैं । सशरीर प्राणियों के लिये जीव शब्द प्रयुक्त होता प्रायः देखा गया है । उपर्युक्त पाठ के शब्द ये हैं—"सो जीव आत्मा से" इत्यादि । २०  
इससे स्पष्ट है कि जीव से तात्पर्य यहां आत्मा नहीं, बल्कि आत्मा और शरीर दोनों हैं । इसी प्रकार यहां प्रथमोत्पन्न जीव से तात्पर्य उन प्राणियों से है, जो सृष्टि की उत्पत्ति के समय सबसे पहले आत्माएं शरीर को धारण करके प्रकट हुई थीं । क्योंकि सब से पहिला कार्य उन आत्माओं और शरीर का संयोग था, अर्थात् शरीर-संयुक्त २५  
होकर प्रकट होना था । इसलिये उनको आदि कार्य कहा गया है ।

आर्याभिविनय के आजकल के अजमेरीय संस्करणों में इसके स्थान निम्न लिखित पाठ है—



अपने आत्मा से अत्यन्त सत्याचरण विद्या श्रद्धा भक्ति से (ऋतस्य) यथार्थ सत्यस्वरूप परमात्मा को (उपस्थाय) यथावत् जानके उपस्थित = निकट प्राप्त (अभिसंविवेश) अभिमुख होके उसमें प्रविष्ट अर्थात् परमानन्दस्वरूप परमात्मा में प्रवेश करके सब दुःखों से छूटके सदैव उसी परमानन्द में रहता है ॥१०॥

### प्रार्थना-विषय

भगु प्रणेतुर्भगु सत्यराधो भगेमां धियमुदवा ददन्नः ।

भगु प्र नो जनय गोभिरश्वैर्भगु प्र नृभिर्नृवन्तः स्याम ॥११॥

३४।३६॥

- १० व्याख्यान—हे भगवन् परमैश्वर्यवान् ! (भग) ऐश्वर्य के दाता संसार वा परमार्थ में आप ही हो । तथा (भग प्रणेतः) आपके ही स्वाधीन सकल ऐश्वर्य है, अन्य किसी के आधीन नहीं । आप जिसको चाहो उसको ऐश्वर्य देओ । सो आप कृपा से हम लोगों का दारिद्र्य छेदन करके हमको परमैश्वर्यवाले करें,
- १५ क्योंकि ऐश्वर्य के प्रेरक आप ही हो । हे भगवन् ! (सत्यराधः) सत्यैश्वर्य की सिद्धि करनेवाले आप ही हो, सो आप नित्य ऐश्वर्य हम को दीजिये । [तथा] जो मोक्ष कहलाता है, उस सत्य ऐश्वर्य का दाता आपसे भिन्न कोई भी नहीं है । [ (भगेमां धियं ददन्नः ) ] हे सत्यभग ! पूर्ण ऐश्वर्य सर्वोत्तम बुद्धि हम को आप दीजिये ।
- २० जिस से हम लोग आप, आपके गुण और आपकी आज्ञा का अनुष्ठान ज्ञान इनको यथावत् प्राप्त हों । सो हमको सत्यबुद्धि सत्य-कर्म और सत्यगुणों को (उदव) उद्गमय=प्रापय=प्राप्त कर ।

“प्रथमजाम्” मुख्य प्राणी अपने आत्मा से सत्याचरण विद्या ।” परन्तु हमारा पाठ प्रथम और द्वितीय संस्करणों के अनुकूल है । (सं०)

२५ १. देखो—टिप्पणी ३ पृष्ठ ४३ । (सं०)

२. इस से ऋषि की भाषाशैली का स्पष्ट पता लग रहा है । “प्रापय” का अर्थ “प्राप्त करा” के स्थान पर ‘प्राप्त कर’ लिखा गया है । इसी प्रकार अन्य स्थानों में भी समझना चाहिये । (सं०)



जिससे हम लोग सूक्ष्म से भी सूक्ष्म पदार्थों को यथावत् जानें ।  
 (भग प्र नो जनय) हे सर्वेश्वर्योत्पादक ! हमारे लिये भग=  
 ऐश्वर्य को अच्छी प्रकार से उत्पन्न कर । [(गोभिरव्रतः)]  
 सर्वोत्तम गाय घोड़े और मनुष्य इनसे सहित अनुत्तम=अत्युत्तम  
 ऐश्वर्य हमको सदा के लिये दीजिये । हे सर्वशक्तिमन् ! [(भग ५  
 प्र नृभिर्नृवन्तः स्याम)] आपके कृपाकटाक्ष से सब दिन हम  
 लोग उत्तम-उत्तम पुरुष, स्त्री और सन्तान, भृत्यवाले हों । आपसे  
 हमारी अधिक यही प्रार्थना है कि कोई मनुष्य हममें दुष्ट और  
 मूर्ख न रहे, तथा न पैदा हो । जिससे हम लोगों की सर्वत्र  
 सत्कीर्ति हो, और निन्दा कभी न हो ॥११॥ १०

### स्तुति-विषय

तद्वैजति तन्नैजति तद् दूरे तद्वन्तिके ।

तदन्तरस्य सर्वस्य तद् सर्वस्यास्य बाह्यतः ॥१२॥ ४०।५॥

व्याख्यान—(तद्=ब्रह्म एजति) वह परमात्मा सब जगत्  
 को यथायोग्य अपनी-अपनी चाल पर चला रहा है । सो अविद्वान् १५  
 लोग ईश्वर में भी आरोप करते हैं कि वह भी चलता होगा ?  
 परन्तु वह सब में पूर्ण है, कभी चलायमान नहीं होता । अत एव  
 (तन्नैजति) यह प्रमाण है । स्वतः वह परमात्मा कभी नहीं  
 चलता, एकरस निश्चल होके भरा है । विद्वान् लोग इसी रीति  
 से ब्रह्म को जानते हैं । (तद् दूरे) अधर्मात्मा अविद्वान् विचार- २०  
 शून्य अजितेन्द्रिय ईश्वरभक्ति-रहित इत्यादि दोषयुक्त मनुष्यों  
 से वह ईश्वर बहुत दूर है । अर्थात् वे कोटि-कोटि वर्ष तक उसको  
 नहीं प्राप्त होते । इससे वे तब तक जन्म-मरणादि दुःखसागर में  
 इधर-उधर घूमते फिरते हैं कि जब तक उसको नहीं जानते ।  
 (तद्वन्तिके) सत्यवादी सत्यकारी सत्यमानी जितेन्द्रिय सर्व- २५  
 जनोपकारक विद्वान् विचारशील पुरुषों के (अन्तिके)=अत्यन्त  
 निकट है । [(तदन्तरस्य बाह्यतः)] किंच वह सब के आत्माओं  
 के बीच में अन्तर्यामी व्यापक होके सर्वत्र पूर्ण भर रहा है । सो

१. जिससे उत्तम और कोई नहीं है, अर्थात् सर्वोत्तम । (यु० मी०)



आत्मा का भी आत्मा है। क्योंकि परमेश्वर सब जगत् के भीतर और बाहर तथा मध्य अर्थात् एक तिलमात्र भी उसके बिना खाली नहीं है। वह अखण्डैकरस सब में व्याप रहा है। उसी को जानने से ही सुख और मुक्ति होती है, अन्यथा नहीं ॥ १२ ॥

### प्रार्थना-विषय

आयुर्यज्ञेन कल्पतां प्राणो यज्ञेन कल्पतां चक्षुर्यज्ञेन कल्पतांश्च  
श्रोत्रं यज्ञेन कल्पतां वाग्यज्ञेन कल्पतां मनो यज्ञेन कल्पता-  
मात्मा यज्ञेन कल्पतां ब्रह्मा यज्ञेन कल्पतां ज्योतिर्यज्ञेन  
१० कल्पतांश्च सूर्ययज्ञेन कल्पतां पृष्ठं यज्ञेन कल्पतां यज्ञो यज्ञेन  
कल्पताम् । स्तोमश्च यजुश्च ऋक् च सामं च बृहच्च  
रथन्तरं च । स्वर्देवाऽअगन्मामृताऽअभूम प्रजापतेः प्रजाऽ  
अभूम वेदं स्वाहा ॥ १३ ॥ १८।२९॥

व्याख्यान—यज्ञो वै विष्णुः, 'यज्ञो वै ब्रह्मा' (इत्याद्यैतरेय-  
१५ शतपथब्राह्मणश्रुतेः) । यज्ञ=यजनीय, जो सब मनुष्यों का पूज्य  
इष्टदेव परमेश्वर उसके हेतु=उसके अर्थ तथा उसके संग  
अतिश्रद्धा से [यज्ञ जो परमात्मा उसके लिये] सब मनुष्य  
सर्वस्व समर्पण यथावत् करें। यही इस मन्त्र में उपदेश और  
२० प्रार्थना है कि—हे सर्वशक्तिमन् ईश्वर ! जो यह आपकी आज्ञा  
है कि 'सब लोग सब पदार्थ मेरे अर्पण करें', इस कारण  
हम लोग (आयुः) उमर, प्राण, चक्षु=आंख, कान, वाणी, मन,  
(आत्मा) जीव' (ब्रह्मा) तथा वेदविद्या और विद्वान् [(ज्योतिः)]  
ज्योतिः=सूर्यादिलोक तथा अग्न्यादि पदार्थ, तथा [(स्वः)]  
स्वर्ग=सुखसाधन, [(पृष्ठम्)] पृष्ठ=पृथिव्यादि सब लोक



आधार तथा पुरुषार्थ, [(यज्ञः)] यज्ञ=जो-जो अच्छा काम हम लोग करते हैं, (स्तोमः) स्तुति, [(यजुश्च०)] यजुर्वेद, ऋग्वेद, सामवेद, चकार से अथर्ववेद, बृहद्रथन्तर महारथन्तर साम इत्यादि सब पदार्थ आपके समर्पण करते हैं। हम लोग तो केवल आपके ही शरण हैं। जैसे आपकी इच्छा हो, वैसे हमारे लिये आप कीजिये। परन्तु हम लोग आपके सन्तान आपकी कृपा से (स्वरगन्म) उत्तम सुख को प्राप्त हों। जब तक जीवें, तब तक सदा चक्रवर्ती राज्यादि भोग से सुखी रहें, और मरणान्तर भी हम सुखी ही रहें। हे महादेवामृत ! हम देव=परम विद्वान् हों, तथा [(अमृता अभूम)] अमृत=मोक्ष जो आपकी प्राप्ति उसको प्राप्त होके जन्म-मरण-रहित अमृतस्वरूप सदैव रहें। (वेद स्वाहा) आपकी आज्ञा-पालन और आप की प्राप्ति हो जिससे, उस क्रिया में सदा तत्पर रहें। तथा जो अन्तर्यामी आप हृदय में आज्ञा करो, अर्थात् जैसा हमारे हृदय में ज्ञान हो, वैसे ही सदा भाषण करें, उससे विपरीत कभी नहीं। हे कृपानिधे ! हम लोगों का योगक्षेम=सब निर्वाह आपही सदा करो। आप के सहाय से सर्वत्र हमको विजय और सुख मिले ॥ १३ ॥

### स्तुति-विषय

यस्मान्न जातः परोऽ अन्योऽ अस्ति

२०

यऽ आविवेशे भुवनानि विश्वा ।

प्रजापतिः प्रजया सशरण-

स्त्रीणि ज्योतींश्च सचते स षोडशी ॥ १४ ॥ ८।३६ ॥

व्याख्यान—[(यस्मान्न.....अस्ति)] जिससे बड़ा तुल्य वा श्रेष्ठ न हुआ, न है और न कोई कभी होगा, उसको परमात्मा कहना<sup>१</sup>। जो (विश्वा भुवनानि) सब भुवन=लोक, सब पदार्थों के

१. देखो—टिप्पणी ३, पृष्ठ ४३। (सं०)

२. अर्थात् वह परमात्मा कहाता है। (सं०)



निवास-स्थान असंख्यात लोकों को (आविवेश) प्रविष्ट होके पूर्ण हो रहा है, [(प्रजापतिः प्रजया संररणः)] वही ईश्वर प्रजा का पति=स्वामी है, सब प्रजा को रमा रहा और सब प्रजा में रम रहा है । (त्रीणीत्यादि) तीन ज्योतिः=अग्नि वायु<sup>१</sup> और सूर्य इनको जिसने रचा है, सब जगत् के व्यवहार और पदार्थ-विद्या की उत्पत्ति के लिये इन तीनों को मुख्य समझना, (स षोडशी) सोलह कला जिसने उत्पन्न की हैं, इससे सोलह कलावान् ईश्वर कहाता है । वे १६ सोलह कला ये हैं—ईक्षण=विचार १. प्राण २. श्रद्धा ३. आकाश ४. वायु ५. अग्नि ६. जल ७. पृथिवी ८. इन्द्रिय ९. मन १०. अन्न ११. वीर्य=पराक्रम १२. तप=धर्मानुष्ठान १३. मन्त्र=वेद-विद्या १४. कर्म=चेष्टा १५. लोक और लोकों में नाम १६ । इतनी कलाओं के बीच में सब जगत् है, और परमेश्वर में अनन्त कला हैं । उसकी उपासना छोड़के जो दूसरे की उपासना करता है,<sup>२</sup> वह सुख को प्राप्त कभी नहीं होता, किन्तु सदा दुःख में ही पड़ा रहता है ॥ १४ ॥

### स्तुति-विषय

स नः पितेव सूनवेऽग्रे सूपायनो भव ।

सचस्वा नः स्वस्तये ॥१५॥ ३।२४॥

व्याख्यान—[(अग्ने)] ब्रह्मा ह्यग्निः,<sup>३</sup> इत्यादिशतपथादि-  
२० प्रामाण्याद् ब्रह्मैवात्राग्निर्ग्राह्यः । हे विज्ञानस्वरूपेश्वराग्ने ! आप हमारे लिये (सूपायनः) सुख से प्राप्त, श्रेष्ठोपाय के प्रापक, अनुत्तम स्थान के दाता कृपा से सर्वदा हो, तथा रक्षक भी हमारे आप ही हो । [(सचस्व नः स्वस्तये)] हे स्वस्तिद परमात्मन् ! सब

१. द्र०—अग्निः पृथिवीं दहति । सर्वमेकोऽभिषिष्यति कर्मभि-  
२५ रादित्यः । गतिरेकस्य दृश्यते न रूपं मध्यमस्य (=वायोः) । निरुक्त १२।२७॥ (यु० मी०)

२. “योज्यां देवतामुपास्ते.....पशुरेव स देवानाम् ।” श० १४।४।२।२२॥ (सम्पादक)

३. शतपथ १।५।१।११॥ (सम्पादक)



दुःखों का नाश करके हमारे लिये सुख का वर्तमान सदैव कराओ, जिससे हमारा वर्तमान श्रेष्ठ ही हो। (स नः पितेव सूनवे) जैसे करुणामय पिता स्वपुत्र को सुखी ही रखता है, वैसे आप हमको सदा सुखी रखो। क्योंकि जो हम लोग बुरे होंगे, तो उसकी शोभा आपको नहीं होना। किञ्च सन्तानों को सुधारने से ही पिता की बड़ाई होती है, अन्यथा नहीं ॥१५॥ ५

### स्तुति-विषय

विभूरसि प्रवाहणो वह्निरसि हव्यवाहनः ।

श्वात्रोऽसि प्रचेतास्तुथोऽसि विश्ववेदाः ॥१६॥ ५।३१॥

व्याख्यान—हे व्यापकेश्वर ! [(विभूरसि प्रवाहणः)] आप विभु हो, सर्वत्र प्रकाशित वैभव ऐश्वर्ययुक्त आप ही हो, किन्तु और कोई नहीं। विभु होके सब जगत् के 'प्रवाहण' = स्वस्वनियमपूर्वक चलानेवाले तथा सब के निर्वाहकारक भी आप [ही] हो। हे स्व-प्रकाशक सर्वरसवाहकेश्वर [(वह्निरसि हव्यवाहनः)] आप वह्नि हैं, सब हव्य = उत्कृष्ट रसों के भेदक आकर्षक तथा यथावत् स्थापक आप ही हो। हे आत्मन् ! आप (श्वात्रः) शीघ्र व्यापनशील हो। तथा [(प्रचेताः)] प्रकृष्ट ज्ञानस्वरूप, प्रकृष्ट ज्ञान के देनेवाले हो। हे सर्ववित् ! आप (तुथः) और (विश्ववेदाः) हो। 'तुथो वै ब्रह्मः', यह शतपथ की श्रुति है। सब जगत् में विद्यमान प्राप्त और लाभ करानेवाले हो ॥ १६ ॥ १०

१. ये हैं सच्चे ईश्वर-भक्त के हृदय से निकले हुए प्यारे पिता प्रभु के प्रति सच्चे प्रेम के भाव। (सम्पादक)

२. ब्रह्म वै तुथः। शत० ४।३।४।१५



प्रार्थना-विषय

उशिगसि कविरङ्घारिरसि बम्भारिरवस्यूरसि दुवस्वा-  
 ङ्कुन्ध्यूरसि मार्जालीयः सम्राडसि कृशानुः परिषद्योऽसि  
 पवमानो नभोऽसि प्रतक्वा मृष्टोऽसि हव्यसूदनः ऋतधामासि  
 स्वर्ज्योतिः ॥१७॥ ५।३२॥

- व्याख्यान—हे सर्वप्रिय ! आप (उशिक्) कमनीयस्वरूप  
 [हो] अर्थात् सब लोग जिसको चाहते हैं, क्योंकि आप (कविः)  
 पूर्ण विद्वान् हो । तथा आप (अङ्घारिः) हो, अर्थात् स्वभक्तों का  
 जो अघ=पाप उसके अरि=शत्रु हो, अर्थात् सर्वपापनाशक हो ।  
 १० तथा (बम्भारिः) स्वभक्तों और सर्व जगत् के पालन तथा धारण  
 करनेवाले हो । (अवस्यूरसि दुवस्वान्) अन्नादि पदार्थ स्वभक्त  
 धर्मात्माओं को देने को इच्छा सदा करते हो, तथा परिचरणीय  
 =विद्वानों से परिचरित सेवनीयतम हो । (शुन्ध्यूरसि मार्जालीयः)  
 शुद्धस्वरूप और सब जगत् के शोधक, तथा पापों को मार्जन  
 १५ =निवारण करनेवाले आप ही हो, अन्य कोई नहीं । (सम्राडसि  
 कृशानुः) सब राजाओं के महाराज, तथा कृश=दीन जनों के प्राण  
 के सुखदाता आप ही हो । (परिषद्योऽसि पवमानः) हे न्याय-  
 कारिन् ! पवित्र सभास्वरूप, सभा के आज्ञापक, सभ्य, सभापति,  
 सभाप्रिय, सभारक्षक आप ही हो, तथा पवित्रस्वरूप, पवित्र-  
 २० कारक, सभा से ही सुखदायक, पवित्र प्रिय आप ही हो ।  
 (नभोऽसि प्रतक्वा) हे निर्विकार ! आकाशवत् आप क्षोभरहित,  
 अतिसूक्ष्म होने से आपका नाम 'नभ' है, तथा 'प्रतक्वा'=सबके  
 ज्ञाता, सत्यासत्यकारी जनों के कर्मों की साक्ष्य रखनेवाले कि  
 जिसने जैसा पाप व पुण्य किया हो उसको वैसा मिले, अन्य का  
 २५ पुण्य वा पाप अन्य को कभी न मिले । (मृष्टोऽसि हव्यसूदनः)  
 मृष्ट=शुद्धस्वरूप, सब पापों के मार्जक शोधक, तथा हव्यसूदनः  
 =मिष्ट सुगन्ध रोगनाशक पुष्टिकारक इन द्रव्यों से वायु-वृष्टि  
 की शुद्धि करने-करानेवाले हो । अत एव सब द्रव्यों के विभाग-  
 कर्त्ता आप ही हो । इससे आपका नाम 'हव्यसूदन' है । (ऋत-  
 ३० धामासि स्वर्ज्योतिः) हे भगवन् ! आपका ही धाम=स्थान सर्वगत



सत्य और यथार्थ = सत्य व्यवहार में ही आप निवास करते हो, मिथ्या में नहीं। स्वः = आप सुखस्वरूप और सुखकारक हो, तथा ज्योतिः = स्वप्रकाश और सब के प्रकाशक आप ही हो ॥१७॥

### स्तुति-विषय

समुद्रोऽसि विश्वव्यचाऽ अजोऽस्येकपादहिरसि बुध्यो १  
वागस्यैन्द्रमसि सदोऽस्युतस्य द्वारौ मा मा सन्ताप्त-  
मध्वनामध्वपते प्र मा तिर स्वस्ति मेऽस्मिन् पथि  
देवयाने भूयात् ॥१८॥ ५।३३॥

व्याख्यान—(समुद्रोऽसि विश्वव्यचाः) हे द्रवणीयस्वरूप !  
सब भूतमात्र आप ही में द्रव हैं, क्योंकि कार्य कारण में ही मिले १०  
हैं। आप सब के कारण हो, तथा [आपने] व्याज = सहज से सब  
जगत् को विस्तृत किया है, इससे आप 'विश्वव्यचाः' हैं।  
(अजोऽस्येकपात्) आपका जन्म कभी नहीं होता, और यह  
सब जगत् आपके किञ्चिन्मात्र एकदेश में है, आप अनन्त  
हो। (अहिरसि बुध्यः) आपकी हीनता कभी नहीं होती, १५  
तथा सब जगत् के मूलकारण और अन्तरिक्ष में भी सदा आप  
ही पूर्ण रहते हो। (वागस्यैन्द्रमसि सदोऽसि) सब शास्त्र के  
उपदेशक, अनन्त विद्यास्वरूप होने से आप 'वाक्' हो। परमैश्वर्य-  
स्वरूप सब विद्वानों में अत्यन्त शोभायमान होने से आप  
'ऐन्द्र' हो। सब संसार आप में ठहर रहा है, इससे आप 'सदः' २०  
= सभास्वरूप हो। (ऋतस्य द्वारौ मा मा सन्ताप्तम्) सत्यविद्या  
और धर्म ये दोनों मोक्षस्वरूप आप की प्राप्ति के द्वार हैं,  
उनको सन्तापयुक्त हम लोगों के लिये कभी मत रक्खो, किन्तु  
सुखस्वरूप ही खुले रक्खो। जिससे हम लोग सहज से आपको

१. अर्थात् वह द्वार बन्द होकर हमारे लिये सन्ताप के हेतु न २५  
बनें। (सम्पादक)

२. अर्थात् इस प्रकार खुले रक्खो कि हमें सुख की प्राप्ति होती रहे।  
(सम्पादक)



प्राप्त हों। (अध्वनामित्यादि) हे अध्वपते ! परमार्थ और व्यवहार मार्गों में मुझको कहीं क्लेश मत होने दो। [(स्वस्ति... भूयात्)] किन्तु उन मार्गों में मुझको स्वस्ति=आनन्द ही आपकी कृपा से रहै। किसी प्रकार का दुःख हमको न रहै ॥ १८ ॥

### स्तुति-विषय

देवकृतस्यैनसोऽव्ययजनमसि मनुष्यकृतस्यैनसोऽव्ययजनमसि  
पितृकृतस्यैनसोऽव्ययजनमस्यात्मकृतस्यैनसोऽव्ययजनमस्यैनस  
ऽएनसोऽव्ययजनमसि । यच्चाहमेनो विद्वाँश्चकार यच्चाविद्वाँ-  
स्तस्य सर्वस्यैनसोऽव्ययजनमसि ॥१९॥ ८।१३॥

व्याख्यान—हे सर्वपापप्रणाशक ! (देवकृत०) इन्द्रिय विद्वान् और दिव्यगुणयुक्त जन के किये पापों के नाशक आप एक ही हो, अन्य कोई नहीं। [(मनुष्यकृत०)] एवं मनुष्य=मध्यस्थ जन, पितृ=परमविद्यायुक्त जन, और (आत्मकृत०) जीव के पापों, तथा (एनस-एनसः०) पापों से भी बड़े पापों से आप ही 'अव्ययजन' हो अर्थात् सर्वपाप-रहित हो, और हम सब मनुष्यों के भी पाप दूर करनेवाले एक आप ही दयामय पिता हो। हे महान्तविद्य ! [(यच्चाहमेनः)] जो-जो मैंने विद्वान् वा अविद्वान् होके पाप किया हो, उन सब पापों का छुड़ानेवाला आप के बिना कोई भी इस संसार में हमारा शरण नहीं है। इससे हमारे अविद्यादि सब पाप छुड़ाके शीघ्र हमको शुद्ध करो ॥१९॥

१. अजमेर के छपे संस्करणों में मन्त्र १६, १७ और १८ इकट्ठे ही छपे हैं, और उनके अर्थ भी इकट्ठे ही छपे हुए हैं। हमने पाठकों के सुभीते के लिये और छपाई के सौन्दर्य के लिये इन तीनों मन्त्रों को पृथक्-पृथक् कर दिया है। (सम्पादक)

२. अर्थात् एक आप ही हो। (सम्पादक)

३. अर्थात् जानके या बिना जाने। (यु० मी०)

४. अर्थात् संसार में आपके बिना और कोई नहीं है, जिसकी शरण



## स्तुति-विषय

हिरण्यगर्भः समवर्ततामै भूतस्य जातः पतिरकेऽ आसीत् ।

स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥२०॥

१३।४॥

व्याख्यान—[(हिरण्यगर्भः०)] जब सृष्टि नहीं हुई थी, तब ५  
 एक अद्वितीय 'हिरण्यगर्भ' = जो सूर्यादि तेजस्वी पदार्थों का  
 गर्भ नाम उत्पत्ति-स्थान उत्पादक है, सो ही प्रथम था ।  
 [(भूतस्य०)] वह सब जगत् का सनातन प्रादुर्भूत प्रसिद्ध पति  
 है । [(स दाधार०)] वही परमात्मा पृथिवी से लेके प्रकृति-पर्यन्त  
 जगत् को रचके धारण करता है । (कस्मै) = प्रजापतये, कः १०  
 प्रजापतिः, 'प्रजापतिर्वै कः', 'तस्मै देवाय (शतपथे) । प्रजापति जो  
 परमात्मा उसकी पूजा आत्मादि पदार्थों के समर्पण से यथावत्  
 करें । उससे भिन्न की उपासना लेशमात्र भी हम लोग न करें ।  
 जो परमात्मा को छोड़के वा उसके स्थान में दूसरे की पूजा करता  
 है, उसकी और उस देश भर की दुर्दशा अत्यन्त होती है, यह बात १५  
 प्रसिद्ध है । इससे चेतो मनुष्यो ! जो तुमको सुख की इच्छा हो,  
 तो एक निराकार परमात्मा की यथावत् भक्ति करो । अन्यथा  
 तुमको कभी सुख न होगा ॥ २० ॥

## प्रार्थना-विषय

इन्द्रो विश्वस्य राजति ।

२०

शं नोऽ अस्तु द्विपदे शं चतुष्पदे ॥२१॥ ३६।८॥

व्याख्यान—[(इन्द्रो०)] हे इन्द्र ! आप परमेश्वर्य-युक्त सब  
 संसार के राजा हो, सर्वप्रकाशक हो । हे रक्षक ! आप कृपा से  
 में जाकर हम पापों से छूट सकें । आपकी शरण को प्राप्त करके ही हम  
 पार उतर सकते हैं । (सं०)

२५

१. को हि प्रजापतिः । शत० ६।२।२।५॥

२. शत० ६।४।३।४; ७।३।१।२०॥



[(नः)] हम लोगों के (द्विपदे) जो पुत्रादि उनके लिये परमसुखदायक हो। तथा (चतुष्पदे) हस्ती अश्व और गवादि पशुओं के लिये भी परमसुखकारक हो। जिस से हम लोगों को सदा आनन्द ही रहे ॥ २१ ॥

### प्रार्थना-विषय

शं नो वातः पवतांश्च शं नस्तपतु सूर्यः ।

शं नः कनिक्रदद्देवः पर्जन्योऽ अभि वर्षतु ॥ २२ ॥ ३६।१०॥

व्याख्यान—हे सर्वनियन्तः ! [(शं नो वातः०)] हमारे लिये सुखकारक सुगन्ध शीतल और मन्द-मन्द वायु सदैव चले। १० [(शं नस्तपतु०)] एवं सूर्य भी सुखकारक ही तपे। [(शं नः कनिक्र०)] तथा मेघ भी सुख का शब्द लिये अर्थात् गर्जनपूर्वक सदैव काल-काल में सुखकारक वर्षे। जिससे आपके कृपापात्र हम लोग सुखानन्द ही में सदा रहें ॥ २२ ॥

### प्रार्थना-विषय

१५ अहानि शं भवन्तु नः शश् रात्रीः प्रति धीयताम् ।

शं नऽ इन्द्राग्नी भवतामवोभिः शं नऽ इन्द्रावरुणा रातहव्या ।

शं नऽ इन्द्रापूषणा वाजसातौ शमिन्द्रासोमा सुविताय शं योः ॥

२३॥ ३६।११॥

व्याख्यान—हे क्षणादिकालपते ! [(अहानि शं०)] सब २० दिवस आपके नियम से सुखरूप ही हमको हों। [(शं रात्रीः०)] हमारे लिये सर्व रात्रि भी आनन्द से बीतें। हे भगवन् ! दिन और रात्रियों को सुखकारक ही आप धारण करो। जिससे सब समय में हम लोग सुखी ही रहें। हे सर्वस्वामिन् ! (इन्द्राग्नी) सूर्य तथा अग्नि ये दोनों हमको आपके अनुग्रह से और नानाविध २५ रक्षाओं से सुखकारक हों। (इन्द्रावरुणा रातहव्या) हे प्राणाधार! होम से शुद्धिगुणयुक्त हुए आपकी प्रेरणा से वायु और चन्द्र हम



लोगों के लिये सुखरूप ही सदा हों। (इन्द्रापोषणा वाजसातो) हे प्राणपते ! आपकी रक्षा से पूर्ण आयु और बल युक्त प्राणवाले हम लोग अपने अत्यन्त पुरुषार्थयुक्त युद्ध में स्थिर रहें, जिससे शत्रुओं के सम्मुख हम निर्बल कभी न हों। (इन्द्रासोमा सुविताय शं योः) 'प्राणापानौ वा इन्द्राग्नी' इत्यादि शतपथब्राह्मणादि के प्रमाण देख लेना। हे महाराज ! आप के प्रबन्ध से राजा और प्रजा परस्पर विद्यादि सत्यगुणयुक्त होके अपने ऐश्वर्य का उत्पादन करें। तथा आपकी कृपा से परस्पर प्रीतियुक्त हो[कर] अत्यन्त सुखलाभों को प्राप्त हों। आप हम पुत्र लोगों को सुखी देखके अत्यन्त प्रसन्न हों, और हम भी प्रसन्नता से आप और जो आपकी सत्य आज्ञा उसमें ही तत्पर हों ॥२३॥<sup>१०</sup>

### स्तुति-विषय

प्र तद्वोचेदमृतं नु विद्वान् गन्धर्वो धाम विभृतं गुहा सत्।

त्रीणि पदानि निर्दिता गुहास्य यस्तानि वेद म पितुः पिताऽसत्

॥२४॥ ३२।१॥ १५

व्याख्यान—[( प्र तद्वोचेदमृतं० )] हे वेदादिशास्त्र और विद्वानों के प्रतिपादन करने योग्य ! जो अमृत=मरणादि-दोष-रहित मुक्तों का धाम=निवासस्थान सर्वगत सब का धारण और पोषण करनेवाला, सब की बुद्धियों का साक्षी ब्रह्म है, उस आपका उपदेश तथा धारण जो विद्वान् जानता है, वह 'गन्धर्व' कहाता है। गच्छतीति गं=ब्रह्म, तद्धरतीति स गन्धर्वः=सर्वगत ब्रह्म को जो धारण करनेवाला, उसका नाम गन्धर्व है। [( त्रीणि पदानि)] तथा परमात्मा के तीन पद हैं—जगत् की उत्पत्ति स्थिति और प्रलय करने का सामर्थ्य, [इन] को तथा ईश्वर को जो स्वहृदय

१. गोपथ उ० २।१॥

२. अजमेरीय संस्करणों में मन्त्र २१, २२, २३ इकट्ठे छपे हैं, इनके अर्थ भी इकट्ठे ही दिये गये हैं। हमने पाठकों के सुमीते के लिये और छपाई के सौन्दर्य के लिये इन तीनों मन्त्रों को पृथक्-पृथक् छपवा दिया है। (सम्पादक)



में जानता है, वह पिता का भी पिता है । अर्थात् विद्वानों में भी विद्वान् है ॥ २४ ॥

### प्रार्थना-विषय

द्यौः शान्तिरन्तरिक्षं शान्तिः पृथिवी शान्तिरापः शान्ति-  
रोषधयः शान्तिः । वनस्पतयः शान्तिर्विश्वे देवाः  
शान्तिर्ब्रह्म शान्तिः सर्वं शान्तिः शान्तिरेव शान्तिः  
सा मा शान्तिरेधि ॥२५॥ ३६।१७॥

व्याख्यान—हे सर्वदुःख की शान्ति करनेवाले ! [(द्यौः शान्तिः०)] सब लोकों के ऊपर जो आकाश से सर्वदा हम लोगों के लिये शान्त=निरुपद्रव सुखकारक ही रहे । अन्तरिक्ष=मध्यस्थ लोक और उसमें स्थित वायु आदि पदार्थ, पृथिवी पृथिवीस्थ पदार्थ जल जलस्थ पदार्थ, ओषधि तत्रस्थगुण, वनस्पति तत्रस्थ पदार्थ (विश्वे देवाः) जगत् के सब विद्वान् तथा विश्वद्योतक वेदमन्त्र इन्द्रिय सूर्यादि उनकी किरण तत्रस्थ गुण, (ब्रह्म)पर-  
मात्मा तथा वेदशास्त्र, स्थूल और सूक्ष्म चराचर जगत्, ये सब पदार्थ हमारे लिये हे सर्वशक्तिमन् परमात्मन् ! आपकी कृपा से शान्त=निरुपद्रव सदानुकूल सुखदायक हों । [(सा मा शान्तिरेधि)] मुझको भी वह शान्ति प्राप्त हो । जिससे मैं भी आपकी कृपा से शान्त, दुष्ट-क्रोधादि उपद्रवरहित होऊँ, तथा सब संसारस्थ जीव भी दुष्ट क्रोधादि-उपद्रव-रहित ही हों ॥२५॥

### स्तुति-विषय

नमः शम्भवाय च मयोभवाय च

नमः शङ्कराय च मयस्कुराय च

नमः शिवाय च शिवतराय च ॥२६॥ १६।४१॥

व्याख्यान—हे कल्याणस्वरूप कल्याणकर ! [(नमः शंभवाय०)] आप 'शंभव' हो, मोक्षसुखस्वरूप और मोक्षसुख के



करनेवाले हो, आपको नमस्कार है। आप 'मयोभव' हो, सांसारिक सुख के करनेवाले आपको मैं नमस्कार करता हूँ। आप 'शंकर' हो, आप से ही जीवों का कल्याण होता है, अन्य से नहीं। तथा 'मयस्कर' अर्थात् मन इन्द्रिय प्राण और आत्मा को सुख करनेवाले आप ही हो। आप 'शिव' मङ्गलमय हो। तथा आप 'शिव-तर' अत्यन्त कल्याण-स्वरूप और कल्याणकारक हो। इससे आप को हम लोग वारम्बार नमस्कार करते हैं। नमो नम इति यज्ञः' वातपथे। श्रद्धा भक्ति से जो जन ईश्वर को नमस्कारादि करता है, सो भी मङ्गलमय ही होता [है] ॥ २६ ॥

### प्रार्थना-विषय

१०

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।

स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाꣳसस्तनूभिर्व्यशेमहि देवहितं यदायुः ॥ २७ ॥

२५।२१॥

व्याख्यान—हे देवेश्वर! [हे] (देवाः) विद्वानो! [(भद्रं कर्णेभिः)] हम लोग कानों से सदैव भद्र=कल्याण को ही सुनें, अकल्याण की बात भी हम कभी न सुनें। हे यजनीयेश्वर! हे यज्ञकर्त्तारः! [(भद्रं पश्येमाꣳ)] हम आंखों से कल्याण=मंगल सुख को ही सदा देखें। हे जगदीश्वर! हे जनो! [(स्थिरैरङ्गैःꣳ)] हमारे सब अंग उपाङ्ग=श्रोत्रादि इन्द्रिय तथा सेनादि उपाङ्ग स्थिर=दृढ़ सदा रहें, जिससे हम लोग स्थिरता से आपकी स्तुति और आप की आज्ञा का अनुष्ठान सदा करें। [(व्यशेमहि)] जिससे हम लोग आत्मा शरीर तथा इन्द्रिय और विद्वानों के हितकारक आयु को विविध सुखपूर्वक प्राप्त हों, अर्थात् सदा सुख में ही रहें ॥ २७ ॥



स्तुति-विषयः

ब्रह्म जज्ञानं प्रथमं पुरस्तादि सीमतः सुरुचो वेनऽ आवः ।

स बुध्याऽ उपमाऽ अथ विष्ठाः सतश्च योनिमसतश्च विवः ॥२८॥

व्याख्यान—हे महीय परमेश्वर ! [(ब्रह्म)] आप बड़ों से भी बड़े हो । आप से बड़ा वा [आपके] तुल्य कोई नहीं है । (जज्ञानम्) सब जगत् में व्यापक = प्रादुर्भूत हो । [(प्रथमम्)] सब जगत् के प्रथम = आदिकारण आप ही हो । सूर्यादि लोक (सीमतः) सीमा से युक्त = मर्यादा-सहित (सुरुचः) आप से प्रकाशित हैं । (पुरस्तात्) इनका पूर्व रचके आप ही धारण कर रहे हो । (वि आवः) इन सब लोकों को विविध नियमों से पृथक्-पृथक् प्रथायोग्य वर्त्ता रहे हो । (वेनः) आपके आनन्दस्वरूप होने से ऐसा कोई जन्म-संसार में नहीं है जो आपकी कसमना त करे, किन्तु सब ही आपको मिला चाहते हैं । तथा आप अनन्त विद्यायुक्त हो । सब शक्ति से आप = समन्तात् रक्षके-आप ही हो । सौ ही परमात्मा (बुध्याः) अन्तरिक्षान्तर्गत दिशादि पदार्थों को (विवः) विवृत = विभक्त करता है । वे अन्तरिक्षादि (उपमाः) सब व्यवहारों में उपयुक्त होते हैं, और [(विष्ठाः)] वे इस विविध जगत् के निवासस्थान हैं । [(सतश्च ०)] 'सत्' = विद्यमान-स्थूल जगत् 'असत्' = अविद्यमान [चक्षुरादि इन्द्रियों से अगोचर इस द्विविध जगत् की 'योनि' = आदिकारण आपको ही वेदशास्त्र और विद्वान् लोग कहते हैं । इससे इस जगत् के माता-पिता आप ही हैं । [आप ही] हम लोगों के भजनीय इष्ट देव हो ॥ २८ ॥

प्रार्थना-विषय

२५ सुमित्रिया नऽ आपऽ ओषधयः सन्तु दुमित्रियास्तस्मै सन्तु योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः ॥२९॥ ३६।२३॥

व्याख्यान—हे सर्वमित्रसम्पादक ! [(आपः)] आप की कृपा से प्राण और जल तथा विद्या और ओषधि (सुमित्रियाः ०) सुखदायक



हम लोगों के लिये सदा हों, कभी प्रतिकूल न हों। और जो हम से द्वेष अप्रीति = शत्रुता करता है, तथा जिस दुष्ट से हम द्वेष करते हैं, हे न्यायकारिन् ! उसके लिये (दुर्मित्रियों) पूर्वोक्त प्रीणादि प्रतिकूल दुःखकारक ही होंगे अर्थात् जो अधर्म करे, उसको आपके रचे जगत् के पदार्थ, दुःखदायक ही हों। जिससे वह हमको दुःख न दे सके। पुनः हम लोग सदा सुखी हों रहें ॥ २६ ॥

### स्तुति-विषय

यऽ इमा विश्वा भुवनानि जुह्वदधिर्हीता न्यसीदत् पिता नः ।

सऽ आशिषः द्रविणमिच्छमानः प्रथमच्छदवरुं २५ आविवेश ॥

**व्याख्यान**—(होता) उत्पत्ति-समय में देने और प्रलय-समय में सब को लेनेवाला परमात्मा ही है। (ऋषिः) सर्वज्ञ (इमाः ०) इन सब लोक-लोकान्तर भुवनों का अपने स्वसामर्थ्य = कारण में होम = प्रलय करके (न्यसीदत्) नित्य अवस्थित रहता है। सो ही हमारा पिता है। फिर जब (द्रविणम्) द्रव्यरूप जगत् को [(इच्छमानः)] स्वेच्छा से उत्पन्न किया चाहता है, उस (आशिषा) सामर्थ्य से यथायोग्य विविध जगत् को सहजस्वभाव से रच देता है। चराचर (प्रथमच्छत्) विस्तीर्ण जगत् को रचके अनन्तस्वरूप आच्छादित किया है। और अन्तर्यामी साक्षीस्वरूप [उसमें] प्रविष्ट हो रहा है, अर्थात् बाहर और भीतर परिपूर्ण हो रहा है। वही हमारा निश्चित पिता है। उसकी सेवा छोड़के जो मनुष्य अन्य पाषाणादि मूर्ति की सेवा करता है, वह कृतघ्नत्वादि महा-दोषयुक्त होके सदैव दुःखभागी होता है। और जो मनुष्य परम-दयामय पिता की आज्ञा में रहता है, वह सर्वानन्द का सदैव भोग करता है ॥ ३० ॥

१. महर्षि स्वसामर्थ्य शब्द से कारणरूप प्रकृति का ग्रहण करते हैं। देखो—पृष्ठ ५६ की टिप्पणी १। (यु० मी०)



प्रार्थना-विषय

इषे पिन्वस्त्रोर्जे पिन्वस्त्र ब्रह्मणे पिन्वस्त्र  
क्षत्राय पिन्वस्त्र द्यावापृथिवीभ्यां पिन्वस्त्र ।  
धर्मासि सुधर्मान्यस्मे नृम्णानि धारय  
ब्रह्म धारय क्षत्रं धारय विशं धारय ॥३१॥ ३८।१४॥

- व्याख्यान—हे सर्वसौख्यप्रदेश्वर ! हमको (इषे०) उत्तमान्न के लिये पुष्ट कर, अन्न के अपचन के रोगों से बचा । तथा विना अन्न के दुःखी हम लोग कभी न हों । हे महाबल ! (ऊर्जे०) अत्यन्त पराक्रम के लिये हमको पुष्ट कर । हे वेदोत्पादक ! (ब्रह्मणे०) सत्य वेदविद्या के लिये बुद्ध्यादि बल से सदैव हमको पुष्ट और बलयुक्त कर । हे महाराजाधिराज परब्रह्मन् ! (क्षत्राय०) अखण्ड चक्रवर्ती राज्य के लिये शौर्य धैर्य नीति विनय पराक्रम और बलादि उत्तम गुणयुक्त कृपा से हम लोगों को यथावत् पुष्ट कर । अन्य देशवासी राजा हमारे देश में कभी न हों, तथा हम लोग पराधीन कभी न हों । हे स्वर्गपृथिवीश ! (द्यावापृथिवीभ्याम्०) स्वर्ग=परमोत्कृष्ट मोक्षसुख पृथिवी=संसारसुख इन दोनों के लिये हमको समर्थ कर । [(धर्मा०)] हे सुष्ठुधर्मशील ! तुम धर्मकारी हो, तथा धर्मस्वरूप ही हो, हम लोगों को भी कृपा से धर्मात्मा कर । (अमेनि) तुम निर्वैर हो, हमको भी निर्वैर कर । तथा कृपादृष्टि से (अस्मे) =अस्मभ्यम्=हमारे लिये (नृम्णानि) विद्यां पुरुषार्थ हस्ती अश्व सुवर्ण हीरादि रत्न उत्कृष्ट राज्य उत्तम पुरुष और प्रीत्यादि पदार्थों को धारण कर । जिससे हम लोग किसी पदार्थ के बिना दुःखी न हों । [(ब्रह्म धारय०)] हे सर्वाधिपते ! [ब्रह्म=] ब्राह्मण=पूर्णविद्यादि सद्गुणयुक्त, क्षत्र=बुद्धि विद्या तथा शौर्यादिगुणयुक्त, विश=अनेकविधोद्यम बुद्धि विद्या धन और धान्यादि वस्तुयुक्त, तथा शूद्रादि भी सेवादिगुणयुक्त, ये सब स्वदेशभक्त उत्तम हमारे राज्य में हों । इन सब का धारण आप ही करो । जिससे अखण्ड ऐश्वर्य हमारा आपकी कृपा से सदा बने रहे ॥३१॥



## स्तुति-विषय

किंस्विदासीदधिष्ठानमारम्भं कतुपस्विन्कृथासीत् ।

यतो भूमिं जनयन्विश्वकर्मा विद्यामौर्णोन्महिना विश्वचक्षाः ॥

३२॥ १७।१८॥

व्याख्यान—प्रश्नोत्तरविद्या—[ प्रश्न—(किंस्विदासी०) ] ५

इस संसार का अधिष्ठान क्या है ? कारण तथा उत्पादक कौन है ? किस प्रकार से है ? तथा रचना करनेवाले ईश्वर का अधिष्ठानादि क्या है ? तथा निमित्तकारण और साधन जगत् वा ईश्वर के क्या हैं ? (उत्तर)—(यतः०) जिसका विश्व=जगत् कर्म किया हुआ है, उस विश्वकर्मा परमात्मा ने अनन्त स्वसामर्थ्य<sup>१</sup> से इस जगत् को रचा है। वही इस सब जगत् का अधिष्ठान निमित्त और साधनादि है। उसने अपने अनन्त स्वसामर्थ्य<sup>१</sup> से इस सब जीवादि जगत् को यथायोग्य रचा, और भूमि से लेके स्वर्गपर्यन्त रचके स्वमहिमा से (मौर्णोत्) आच्छादित कर रक्खा है। परमात्मा का अधिष्ठानादि परमात्मा ही है, अन्य कोई नहीं। सबका भी उत्पादन रक्षण धारणादि वही करता है, तथा आनन्दमय है। वह ईश्वर कैसा है ? कि (विश्वचक्षाः) सब संसार का द्रष्टा है। उसको छोड़के अन्य का आश्रय जो करता है, वह दुःख-सागर में क्यों न डूबेगा ? ॥ ३२ ॥ १०

## प्रार्थना-विषय

२०

तनुपाऽअग्नेऽसि तन्वं मे पाह्यायुर्दाऽअग्नेऽस्यायुर्मे देहि

वर्चोदाऽअग्नेऽसि वर्चो मे देहि ।

अग्ने यन्मे तन्वाऽऊनं तन्मऽआपृण ॥३३॥ ३।१७॥

व्याख्यान—[(तनुपा अग्ने०)] हे सर्वरक्षकेश्वराग्ने ! तू हमारे शरीर का रक्षक है। सो शरीर को कृपा से पालन कर । २५

१. देखो—पृष्ठ ५६ की टिप्पणी १। (यु० मी०)

२. जीव से आशय यहां चेतन से है, और आदि शब्द से अचेतन का ग्रहण है। (सम्पादक)



[ (आयत् ०) ] हे महावैद्य ! आप आयु = उमर बढ़ानेवाले तथा रक्षक हो, मुझ को सुखरूप उत्तमायु दीजिये । [ (वर्चोद्भा ०) ] हे अनन्तविद्यातेजः ! आप 'वचः' = विद्यादि तेज = प्रकाश अर्थात् यथार्थविज्ञान देनेवाले हो, मुझको सर्वोत्कृष्ट विद्यादि तेज देओ । पूर्वोक्त शरीरादि की रक्षा से हमको सदा आनन्द में रखओ । [ (यन्मेतन्वा ०) ] और जो-जो कुछ भी शरीरादि में 'ऊनम्' = तूज हो, उस-उस को कृपादृष्टि से सुख और ऐश्वर्य के साथ सब प्रकार से आप पूर्ण करो । किसी आनन्द वा श्रेष्ठ पदार्थ की न्यूनता हमको न रहे । आप के पुत्र हम लोग जब पूर्णानन्द में रहेंगे, तभी आप पिता की शोभा है । क्योंकि लड़के लोग छोटी वा बड़ी चीज़ अथवा सुख पिता-माता को छोड़ किससे मांगें ? सो, आप सर्वशक्तिमान् हमारे पिता सब ऐश्वर्य तथा सुख देनेवालों में पूर्ण हो ॥ ३३ ॥

स्तुति-विषय

१५ विश्वतश्चक्षुस्त विश्वतोमुखो विश्वतोबाहुस्त विश्वतस्पाद ।

सं बाहुभ्यां धर्मति संपतत्रैर्वाविभूमी जनयन्देवऽएकः ॥ ३४ ॥

१७११६॥

व्याख्यान—[ (विश्वतश्चक्षु ०) ] विश्व = सब जगत् में जिसका चक्षु = दृष्टि है, जिससे अदृष्ट कोई वस्तु नहीं है, तथा जिसके २० सर्वत्र मुख बाहु पद अन्य श्रोत्रादि हैं अर्थात् सर्वदृक् सर्ववक्ता सर्वधारक और सर्वगत ईश्वर व्यापक है । उसी से जो इरेगा वही धर्मता होगा, अन्यथा कभी नहीं । [ (बावाभूमी ०) ] वही विश्ववर्मा परमात्मा एक ही अद्वितीय है, पृथिवी से लेके स्वर्ग-पर्यन्त जगत् का कर्ता है । [ (संबाहुभ्याम्) ] जिस-जिस जैसा पद वा पुण्य किया है, उस-उस को न्यायकारी दयालु जगत्-पिता पक्षपात छोड़के अनन्तबल और पराक्रम इन दोनों बाहुओं से सम्यक् (पतत्रैः) प्राप्त होनेवाले सुख-दुःख-फलदान से सब जीवों

१. सच्चे ईश्वर-भक्त के अति प्रेम के ये उद्गार हैं । (सम्पादक)



[को] (धेयति)। धसनत्कम्पन यथास्योग्य जन्ममरणआदि को प्राप्त करा रखा है। उसी निराकार अज्ञ अनन्त सर्वशक्तिमान् न्याय-कासी दयामय ईश्वर से अन्त्य को कभी त मानना चाहिये। वही याचनीय पूजनीय हमारा प्रभु और स्वामी इष्टदेव है। उसी से सुख हमको होगा, अन्त्य से कभी नहीं ॥३४॥

प्रार्थना-विषय

भूभुवःस्वः सुप्रजाः प्रजाभिः स्याथि सुवीरौ वीरैः सुपौषः पौषैः ।  
नर्यं प्रजां मे पाहि शशस्य प्रशन्ते प्रशन्ते पितृमे पाहि ॥  
३५॥ ३१३७॥

व्याख्यान—हे सर्वमङ्गलकारकेश्वर ! आप (भूः) सदा वर्तमान हो। (भुवः) वायु अक्षिपदाश्रयों के रचनेवाले (स्वः) सुखरूप लोक के रचनेवाले हो। हमको तीन लोक का सुख दीजिये। हे सर्वार्थदायक ! आप कृपा करो जिससे कि मैं [(सुप्रजाभिः)] पुरुषौणादि उत्तम गुणवाली प्रजा से, श्रेष्ठ प्रजावाला होऊँ। [(सुवीरः वीरैः)] सर्वोत्कृष्ट वीर योद्धाओं से सुवीरः=युद्ध में सदा विजयी होऊँ। हे महापुष्टिप्रद ! आपकी अनुग्रह से [(सुपौषः पौषैः)] अत्यन्त विद्यादि तथा सोम ओषधि सुवर्णादि और जैरोन्मादि से सर्वपुष्टिबुक्त होऊँ। हे (नर्यं) तज्जों के हितकारक ! [(प्रजाम्)] मेरी प्रजा की रक्षा आप करो। हे (शस्य) स्तुति करने योग्य ईश्वर ! [(प्रशून्)] मेरे हस्तप्रभवादि पशुओं का आप पालन करो। हे (अथर्गः) व्यापक ईश्वर ! [(पितृम्)] मेरे अन्न की रक्षा करो। दयानिधे ! हम लोगों को सब उत्तम प्रदार्थों से पूर्ण और सबदिन आप आनन्द में रखो ॥३५॥

स्तुति-विषय

किंखिद्रुनं कऽउ स वृक्षऽआस यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः ।  
मनीषिणो मनसा पुच्छतेदु तद्यदुष्यतिष्ठद् भुवनानि धारयन् ॥  
३६॥ १७१२०॥



व्याख्यान—प्रश्नोत्तरविद्या'—( प्रश्न ) [ ( किंस्विद् वनं क उ स.....निष्टतक्षुः) ] वन और वृक्ष किसको कहते हैं ? (उत्तर) जिस सामर्थ्य से विश्वकर्मा ईश्वर ने जैसे तक्षा=बढ़ई अनेकविध रचना से अनेक पदार्थ रचता है, वैसे ही स्वर्ग= सुखविशेष और भूमि=मध्य सुखवाला लोक तथा नरक=दुःख-विशेष और [इन] सब लोकों को रचा है, उसी को 'वन और वृक्ष' कहते हैं। हे (मनीषिणः) विद्वानो ! [ (यदध्यतिष्ठत्०) ] जो सब भुवनों को धारण करके सब जगत् में और सब के ऊपर विराजमान हो रहा है, उसके विषय में प्रश्न तथा उसका निश्चय तुम लोग करो । (मनसा०) उसी के विज्ञान से जीवों का कल्याण होता है, अन्यथा नहीं ॥३६॥

### प्रार्थना-विषय

तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत् । पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतं शृणुयाम शरदः शतं प्र ब्रवाम शरदः शत- मदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात् ॥३७॥

३६।२४॥

व्याख्यान—[ (तत्) ] वह ब्रह्मा(चक्षुः)सर्वदृक् चेतन है, [ (देव-हितम्) ] तथा देव अर्थात् विद्वानों के लिये वा मन आदि इन्द्रियों के लिये हितकारक मोक्षादि सुख का दाता है । (पुरस्तात्) सब का आदि प्रथम कारण वही है । (शुक्रम्) सब का करनेवाला, किंवा शुद्धस्वरूप है । (उच्चरत्) प्रलय के ऊर्ध्व वही रहता है । [ (पश्येम .....शतात्) ] उसी की कृपा से हम लोग १०० वर्ष तक देखें जीवें सुनें कहें, किसी के पराधीन न हों । अर्थात् ब्रह्म-ज्ञान बुद्धि और पराक्रमसहित इन्द्रिय तथा शरीर सब स्वस्थ रहें । ऐसी कृपा आप करें कि कोई अङ्ग मेरा निर्बल=क्षीण तथा

१. सं० १,२ में (प्रश्न) विद्या क्या है ? यह अपपाठ है । देखो मन्त्र ३२ का आरम्भिक व्याख्यान भाग । (यु० मी०)

२. 'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' । यजुः ३१।१६॥ (यु० मी०)



रोगयुक्त न हो, तथा सौ वर्ष से अधिक भी । आप कृपा करें कि सौ वर्ष से उपरान्त भी हम देखें जीवें सुनै कहें, और स्वाधीन ही रहें ॥ ३७ ॥

### प्रार्थना-विषय

या ते धामानि परमाणि यावमा

या मध्यमा विश्वकर्मन्नुतेमा ।

शिक्षा सखिभ्यो हविषि स्वधावः

स्वयं यजस्व तन्वं वृधानः ॥३८॥ १७।२१॥

व्याख्यान—हे सर्वविधायक विश्वकर्मन्नीश्वर ! [(या ते... उतेमा)] जो तुम्हारे स्वरचित उत्तम मध्यम निकृष्ट त्रिविध धाम = १० लोक हैं, [(शिक्षा सखिभ्यः)] उन सब लोकों की शिक्षा हम आपके सखाओं को करो । यथार्थ विद्या होने से सब लोकों में सदा सुखी ही रहें । तथा इन लोकों के (हविषि) दान और ग्रहण व्यवहार में हम लोग चतुर हों । हे (स्वधावः) स्वसामर्थ्यादि धारण करने-वाले ! [(तन्वं वृधानः)] हमारे शरीरादि पदार्थों को आप ही १५ बढ़ानेवाले हैं । (यजस्व) हमारे लिये विद्वानों का सत्कार, सब सज्जनों के सुखादि की संगति, विद्यादि गुणों का दान आप स्वयं करो । आप अपनी उदारता से ही हम को सब सुख दीजिये । किञ्च हम लोग तो आप के प्रसन्न करने में कुछ भी समर्थ नहीं हैं । सर्वथा आप के अनुकूल वर्तमान नहीं कर सकते, परन्तु २० आप तो अधमोद्धारक हैं, इससे हमको स्वकृपा कटाक्ष से सुखी करें ॥३८॥

### प्रार्थना-विषय

यन्मे छिद्रं चक्षुषो हृदयस्य मनसो वार्तिदृणं बृहस्पतिर्मे

तद् दधातु । शं नो भवतु भुवनस्य यस्पतिः ॥३९॥ ३६।२॥ २५

व्याख्यान—हे सर्वसन्धायकेश्वर ! [(यन्मे छिद्रं...दधातु)]



- मेरे चक्षु=नेत्र, हृदय=प्राणात्मा, मन, बुद्धि, विज्ञान, विद्या और सब इन्द्रिय इनके छिद्र=निर्बलता, राग-द्वेष चाञ्चल्य यद्वा मन्दत्वादि विकार इनका निवारण=निर्दोष करके सत्यधर्मादि में धारण आप ही करो, क्योंकि आप 'वृहस्पति'=सब से बड़े हो। सो अपनी बड़ाई की ओर देखके इस बड़े काम को आप अवश्य करें। जिस से हम लोग आप और आपकी आज्ञा के सेवन में यथार्थ तत्पर हों। मेरे सब छिद्रों को आप ही ढाँकें। [(शं नो...यस्पति:)] आप सब भुवनों के पति हैं, इसलिये आप से वारम्बार प्रार्थना हम लोग करते हैं कि सब दिन हम लोगों पर कृपादृष्टि से कल्याणकारक हों। हे परमात्मन्! आपके सिवाय हमारा कल्याण-कारक कोई नहीं है। हमको आप[ही] का सब प्रकार का भरोसा है, सो आप ही पूरा करेंगे ॥३६॥

### स्तुति-विषय

- विश्वकर्मा विमनाऽ आद्विहाया  
धाता विधाता परमोत सन्दृक् ।  
तेषामिष्टानि समिषा मदन्ति

यत्रा सप्तऋषीन् परऽ एकमाहुः ॥४०॥ १७।२६॥

- व्याख्यान—हे सर्वज्ञ सर्वरचक ईश्वर ! आप (विश्वकर्मा) विविध जगदुत्पादक हो। तथा (विमनाः) विविध=अनन्त विज्ञानवाले हो। तथा (आद्विहाया) सर्वव्यापक और आकाशवत् निर्विकार अक्षोभ्य सर्वाधिकरण हैं। वही सब जगत् का (धाता) धारणकर्त्ता है। (विधाता) विविध विचित्र जगत् का उत्पादक है। तथा (परम उत) सर्वोत्कृष्ट है। (सन्दृक्) यथावत् सबके पाप और पुण्यों को देखनेवाला है। [(तेषामिष्टानि)] जो मनुष्य उसी की भक्ति, उसी में विश्वास, और उसी का सत्कार=पूजा करते हैं, उसको छोड़के अन्य किसी को लेशमात्र भी नहीं मानते, उन पुरुषों को ही सब इष्ट सुख मिलते हैं, औरों को नहीं। वह ईश्वर अपने भक्तों को सुख में ही रखता है, और वे भक्त भी [(समिषा)] सम्यक् स्वेच्छापूर्वक (मदन्ति) परमानन्द में ही



सदा रहते हैं, कभी दुःख को नहीं प्राप्त होते ।' [(पर एकमाहुः)] वह परमात्मा एक अद्वितीय है । जिस परमात्मा के सामर्थ्य में (सप्त ऋषीन्) अर्थात् पञ्च प्राण अन्तःकरण और जीव ये सब प्रलय-विषयक कारणभूत ही रहते हैं, वही जगत् की उत्पत्ति स्थिति और प्रलय में निर्विकार आनन्दस्वरूप ही रहता है । उसी की उपासना करने से हम लोगों को सदा सुख रहता है ॥४०॥

### प्रार्थना-विषय

चतुःशक्तिर्नाभिऋतस्य सप्रथाः स नो विश्वायुः सप्रथाः  
स नः सर्वायुः सप्रथाः । अप द्वेषोऽप द्वरोऽन्यव्रतस्य सश्चिम ॥

४१॥ ३८१२०॥ १०

व्याख्यान—हे महावैद्य ! सर्वरोगनाशकेश्वर [(चतुःशक्तिः ... ऋतस्य)] चार कोणेवाली नाभि=मर्मस्थान ऋत की भरी नैरोग्य और विज्ञान का घर, (सप्रथाः) विस्तीर्ण सुखयुक्त आपकी कृपा से हो । तथा आपकी कृपा से (विश्वायुः) पूर्ण आयु हो । [(स नः सप्रथाः)] आप जैसे सर्वसामर्थ्य से विस्तीर्ण हो, वैसे ही विस्तृत सुखयुक्त विस्तारसहित सर्वायु हमको दीजिये । हे शान्तस्वरूप ! हम (अपद्वेषः) द्वेषरहित आप की कृपा से, तथा (अपह्वरः) चलन=कम्पन रहित हों । [(अन्य व्रतस्य)] आपकी आज्ञा और आप से भिन्न को लेशमात्र भी ईश्वर न मानें, यही हमारा व्रत है । इससे अन्य व्रत को कभी न मानें । किन्तु आप को(सश्चिम)सदा सेवें । यही हमारा परम निश्चय है । इस परम निश्चय की रक्षा आप ही कृपा से करें ॥४१॥

१. इस विषय में देखो—टिप्पणी ३, पृष्ठ ४३-४४ । (सम्पादक)

२. आजकल के अजमेरीय संस्करणों में इस पाठ के स्थान पर “ऋत की भरी” पाठ है, जो कि अपपाठ है । प्रथम तथा द्वितीय संस्करण में ‘ऋत की भरी’ शुद्ध पाठ ही है । (सं०)



स्तुति-विषय

यो नः पिता जनिता यो विधाता

धामानि वेद भुवनानि विश्वा ।

यो देवानां नामधाऽ एकऽ एव

त५ सम्प्रश्नं भुवना यन्त्यन्या ॥४२॥ १७।२७॥

- व्याख्यान—हे मनुष्यो ! [(यो नः)] जो अपना (पिता) नित्य पालन करनेवाला (जनिता) = जनक उत्पादक (विधाता) सब मोक्ष सुखादि कामों का विधायक = सिद्धिकर्ता (विश्वा) सब [(भुवनानि)] भुवन = लोकलोकान्तर (धामानि) अर्थात् स्थिति के स्थानों को [(वेद)] यथावत् जाननेवाला, सब जातमात्र भूतों में विद्यमान है । जो (देवानां नामधा) दिव्य सूर्यादि लोक तथा इन्द्रियादि और विद्वानों का नाम = व्यवस्थादि करनेवाला (एक एव) अद्वितीय वही है, अन्य कोई नहीं । वही स्वामी और पितादि अपने लोगों का है, इसमें शंका नहीं रखनी ।
- १० [(तं सम्प्रश्नं...अन्या)] तथा उसी परमात्मा के सम्यक् प्रश्नोत्तर करने में विद्वान् वेदादि शास्त्र और प्राणीमात्र प्राप्त हो रहे हैं । क्योंकि सब पुरुषार्थ यही है कि परमात्मा उसकी आज्ञा और उसके रचे जगत् का यथार्थ से निश्चय = ज्ञान करना । उससे ही धर्म अर्थ काम और मोक्ष इन चार प्रकार के पुरुषार्थ के फलों
- २० की सिद्धि होती है, अन्यथा नहीं । इस हेतु से तन मन धन और आत्मा इनसे प्रयत्नपूर्वक ईश्वर के सहाय से सब मनुष्यों को अर्मादि पदार्थों की यथावत् सिद्धि अवश्य करनी चाहिये ॥४२॥

प्रार्थना-विषय

यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति ।

२५ दूरङ्गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥४३॥

३४।१॥

व्याख्यान—हे धर्मनिरूपद्रव परमात्मन् ! [(मे मनः)] मेरा मन सदा (शिवसंकल्पम्) धर्म-कल्याण-संकल्पकारी ही आपकी



कृपा से हो, कभी अधर्मकारी न हो। वह मन कैसा है? कि  
 [(यज्जाग्रतो - तथैवेति)] जागते हुए [ तथा सोते हुए ] पुरुष  
 का दूर-दूर आता जाता है, दूर जाने का जिसका स्वभाव ही है।  
 [(ज्योतिषां ज्योतिः)] अग्नि सूर्यादि श्रोत्रादि इन्द्रिय इन  
 ज्योति=प्रकाशकों का भी ज्योति=प्रकाशक है। अर्थात् मन के  
 बिना किसी पदार्थ का प्रकाश कभी नहीं होता। वह एक बड़ा  
 चञ्चल वेगवाला मन आपकी कृपा से ही स्थिर शुद्ध धर्मात्मा  
 विद्यायुक्त हो सकता है। (दैवम्) देव=आत्मा का मुख्यसाधक,  
 भूत भविष्यत् और वर्तमान काल का ज्ञाता है। वह आपके वश  
 में ही है। उसको आप हमारे वश में यथावत् करें, जिससे हम  
 कुकर्म में कभी न फँसें। सदैव विद्या धर्म और आपकी सेवा में  
 ही रहें ॥ ४३ ॥

### स्तुति-विषय

न तं विदाथु य ऽ इमा ज्जानान्यद्युष्माकमन्तरं बभूव ।  
 नीहारेण प्रावृता जल्प्या चासुतृपऽ उक्थशासश्चरन्ति ॥४४॥ १५

१७।३।१॥

व्याख्यान—हे जीवो ! [(न तं.....जजान)] जो परमात्मा  
 इन सब भुवनों का बनानेवाला विश्वकर्मा है, उसको तुम लोग  
 नहीं जानते हो। इसी हेतु से तुम (नीहारेण) अत्यन्त अविद्या  
 से [(प्रावृता जल्प्या)] आवृत मिथ्यावाद नास्तिकत्व बकवाद  
 करते हो। इस से दुःख ही तुम को मिलेगा, सुख नहीं। तुम लोग  
 (असुतृपः) केवल स्वार्थसाधक प्राण-पोषणमात्र में ही प्रवृत्त हो  
 रहे हो। (उक्थशासश्चरन्ति) केवल विषय-भोगों के लिये ही  
 अवैदिक कर्म करने में प्रवृत्त हो रहे हो। और जिसने ये सब  
 भुवन रचे हैं, उस सर्वशक्तिमान् न्यायकारी परब्रह्मा से उलटे  
 चलते हो। अत एव उसको तुम नहीं जानते। (प्रश्न) वह ब्रह्म  
 और हम जीवात्मा लोग ये दोनों एक हैं वा नहीं? (उत्तर)  
 (यद्युष्माकमन्तरं बभूव) ब्रह्म और जीव की एकता वेद और  
 युक्ति से सिद्ध कभी नहीं हो सकती, क्योंकि जीव ब्रह्म का पूर्व  
 से ही भेद है। जीव अविद्या आदि दोषयुक्त है, ब्रह्म अविद्यादि



दोषयुक्त कभी नहीं होता। इससे यह निश्चित है कि जीव और ब्रह्म एक न थे, न होंगे और न ही हैं। किञ्च व्याप्य-व्यापक, आधाराधेय, [सेव्य-सेवकादि] जन्यजनकादि सम्बन्ध तो जीवादि के साथ ब्रह्म का है। इससे जीव ब्रह्म की एकता मानना किसी मनुष्य को योग्य नहीं ॥ ४४ ॥

### प्रार्थना-विषय

भगं ऽएव भगवाँऽ अस्तु देवास्तेन वयं भगवन्तः स्याम ।  
 तं त्वा भग सर्वं ऽ इज्जौहवीति स नो भग पुरं एता भवेह ॥४५॥

३४।३८॥

- १० व्याख्यान—हे सर्वाधिपते महाराजेश्वर ! आप ( भगः ) परमेश्वर्यस्वरूप होने से भगवान् हो। हे (देवाः) विद्वानो ! (तेन) = भगवतेश्वरेण प्रसन्नेन तत्सहायेनैव = उस भगवान् प्रसन्न ईश्वर के सहाय से ही [ (वयं .....स्याम) ] हम लोग परमेश्वर्ययुक्त हों। हे (भग) परमेश्वर ! सर्व संसार ( तं त्वा ) उन
- ५१ आपको ही [ (जोहवीति) ] ग्रहण करने को<sup>१</sup> अत्यन्त इच्छा करता है। क्योंकि कौन ऐसा भाग्यहीन मनुष्य है, जो आप को प्राप्त होने की इच्छा न करे ? [ (स नो -- भवेह) ] सो आप हमको प्रथम से प्राप्त हों। फिर कभी हम से आप और ऐश्वर्य अलग न हों<sup>२</sup>। आप अपनी कृपा से इसी जन्म में परमेश्वर्य का यथावत्
- २० भोग हम लोगों को करावें। और आपकी सेवा में हम नित्य तत्पर रहें ॥४५॥

१. यहां 'जन्य' से सशरीर जीव का अभिप्राय है, उसका जनक परमात्मा है। 'स नो बन्धुर्जनिता' यजुः ३२।१०॥ (यु० मी०)

२. सामान्य भाषानुसार "की"। (सं०)

२५ ३. अर्थात् सो आप हमें सदैव प्राप्त हों, और कभी हमसे आप दूर न हों, और ऐश्वर्य भी हम से अलग न हो। (सम्पादक)



## प्रार्थना-विषय

गुणानां त्वा गुणपतिः हवामहे प्रियाणां त्वा प्रियपतिः  
हवामहे निधीनां त्वा निधिपतिः हवामहे वसो मम ।  
आहमजानि गर्भधमा त्वमजासि गर्भधम् ॥४६॥ २३।१९॥

व्याख्यान—हे समूहाधिपते ! [(गणानां .....हवामहे)] ५  
आप मेरे गण=सब समूहों के पति होने से आप को 'गणपति'  
नाम से ग्रहण करता हूँ । तथा [(प्रियाणां...हवामहे)] मेरे  
प्रिय कर्मकारी पदार्थ और जनों के पति=पालक भी आप हैं ।  
इससे आप को 'प्रियपति' मैं अवश्य जानूँ । [(निधीनां०)] एवं १०  
मेरी सब निधियों के पति होने से आप को मैं निश्चित निधिपति  
जानूँ । हे (वसो) सब जगत् जिस सामर्थ्य से उत्पन्न हुआ, उस  
[(गर्भधम्)] गर्भ=स्वसामर्थ्य का धारण और पोषण करने-  
वाला आपको ही मैं जानूँ । सो गर्भ सब का कारण आपका  
सामर्थ्य है । यही सब जगत् का धारण और पोषण करता है । यह १५  
जीवादि जगत् तो जन्मता और मरता है, परन्तु [(त्वमजासि)]  
आप सदैव अजन्मा और अमृतस्वरूप हैं । आपकी कृपा से अधर्म  
अविद्या दुष्टभावादि को (अजानि) दूर फेंकूँ । तथा हम सब  
लोग आपकी ही (हवामहे) अत्यन्त स्पर्धा=प्राप्ति की इच्छा  
करते हैं । सो आप अब शीघ्र हमको प्राप्त होओ । जो प्राप्त  
होने में आप थोड़ा भी विलम्ब करेंगे, तो हमारा कुछ भी कभी २०  
ठिकाना न लगेगा ॥४६॥

## प्रार्थना-विषय

अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छक्रेयं तन्मे राक्ष्यताम् ।  
इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि ॥४७॥ १।५॥

व्याख्यान—[(अग्ने...चरिष्यामि)] हे सच्चिदानन्द स्व- २५  
प्रकाशरूप ईश्वरान्ते ! ब्रह्मचर्य गृहस्थ वानप्रस्थ संन्यास आदि

१. जीव से तात्पर्य यहां प्राणी (आत्मा और शरीर) का है । (सं०)



- सत्यव्रतों का आचरण मैं करूंगा। [(तत्...राध्यताम्)] सो इस व्रत को आप कृपा [कर]के सम्यक् सिद्ध करें। [(इद...उपेमि)] तथा मैं अनृत=अनित्य<sup>१</sup> देहादि पदार्थों से [(पृथक् होके)] इस यथार्थ सत्य, जिसका कभी व्यभिचार विनाश नहीं होता, उस सत्याचरण विद्यादि लक्षण धर्म को प्राप्त होता हूँ।  
 १ इस मेरी इच्छा को आप पूरी करें। जिससे मैं सम्य विद्वान् सत्याचरणी आपकी भक्तियुक्त धर्मात्मा होऊँ ॥४७॥

### स्तुति-विषय

- यऽ आत्मदा बलदा यस्य विश्वऽ उपासते प्रशिषं यस्य देवाः।  
 १० यस्य छायाऽमृतं यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम॥४८॥  
 २५।१३॥

- व्याख्यान—हे मनुष्यो ! जो परमात्मा अपने लोगों को (आत्मदाः) आत्मा का देनेवाला, तथा आत्मज्ञानादि का दाता है, जीवप्राणदाता<sup>१</sup> तथा (बलदाः) त्रिविध बल=एक—मानस-  
 १५ विज्ञानबल; द्वितीय—इन्द्रियबल अर्थात् श्रोत्रादि की स्वस्थता तेजोवृद्धि; तृतीय—शरीरबल नाम नैरोग्य महापुष्टि दृढाङ्गता और वीर्यादिवृद्धि इन तीन बलों का जो दाता है, [(यस्य विश्व उपासते)=जिसकी सब लोग उपासना करते हैं,][(यस्य)] जिसके (प्रशिषम्) अनुशासन=शिक्षा मर्यादा को यथावत् (देवाः) विद्वान् लोग मानते हैं। सब प्राणी-अप्राणी जड़-चेतन विद्वान् वा मूर्ख उस परमात्मा के नियमों को कोई कभी उल्लंघन नहीं कर सकता। जैसे कि कान से सुनना, आंख से देखना इसका उलटा कोई नहीं कर सकता है। जिसकी (छाया) आश्रय ही [(अमृतम्)] अमृत=विज्ञानी लोगों का मोक्ष कहाता है, तथा जिसकी

- २५ १. यहां 'अनृत' का अर्थ अनित्य दर्शाया गया है। सामान्यतया "ऋत" नाम है सत्य का, जो सदा रहे। देहादि पदार्थ सदा न रहने से अनित्य अर्थात् 'अनृत' हैं, यह अभिप्राय है। (सम्पादक)  
 २. अर्थात् जीवन और प्राणों का दाता है। (सम्पादक)



‘अच्छाया’—अकृपा दुष्ट जनों के लिये [(मृत्युः)] वारम्बार मरण और जन्मरूप महाक्लेशदायक है। हे सज्जन मित्रो ! [(कस्मै ..... विधेम)] वही एक परमसुखदायक पिता है। आओ, अपने सब जने मिलके प्रेम विश्वास और भक्ति करें। कभी उसको छोड़के अन्य को उपास्य न मानें। वह अपने को अत्यन्त सुख देगा, इसमें कुछ सन्देह नहीं ॥४८॥

### प्रार्थना-विषय

उपहृताऽ इह गावऽ उपहृताऽ अजावयः । अथोऽ अन्नस्य  
कीलालऽ उपहृतो गृहेषु नः । क्षेमाय वः शान्त्यै प्र पद्ये शिवः  
शुग्मः शंयोः शंयोः ॥४९॥ ३।४३॥

व्याख्यान—हे पश्वादिपते उत्तम महात्मन् ! [(उपहृता... अजावयः)] आपकी ही कृपा से उत्तम-उत्तम गाय भैंस घोड़े हाथी बकरी भेड़, तथा उपलक्षण से अन्य सुखदायक सब पशु, [(अथो अन्नस्य कीलालः)] और अन्न सर्वरोगनाशक ओषधियों का उत्कृष्ट रस (नः) हमारे घरों में नित्य स्थिर=प्राप्त रख। जिससे किसी पदार्थ के बिना हमको दुःख न हो। हे विद्वानों ! (वः) ‘युष्माकम्’=तुम्हारे संग और ईश्वर की कृपा से [(क्षेमाय)] क्षेम कुशलता, और [(शान्त्यै)] शान्ति तथा सर्वोपद्रव [के] विनाश के लिये (शिवम्) मोक्षसुख और (शुग्मम्) इस संसार-सुख को मैं प्राप्त होऊँ। [(शंयोः शंयोः)] मोक्षसुख और प्रजा-सुख इन दोनों की कामना करनेवाला जो मैं हूँ, उस मेरी उक्त दोनों कामनाओं को आप यथावत् शीघ्र पूरी कीजिये। आप का यही स्वभाव है कि अपने भक्तों की कामना अवश्य पूरी करना ॥ ४९ ॥



## स्तुति-विषय

तमीशानं जगतस्तस्थुषस्पतिं धियञ्जिन्वमवसे हूमहे वयम् ।  
पूषा नो यथा वेदसामसद्वृधे रक्षिता पायुरदब्धः स्वस्त्यो॥५०॥

२५।१८॥

- १ व्याख्यान—हे सुख और मोक्ष की इच्छा करनेवाले जनों !  
[(तम्)] उस परमात्मा के ही (हूमहे) हम लोग प्राप्त होने के लिये  
अत्यन्त स्पर्धा करते हैं कि उसको हम कब मिलेंगे । क्योंकि वह  
(ईशानम्) सब जगत् का स्वामी है । और ईषण=उत्पादन करने  
की इच्छा करनेवाला है । [(जगतः तस्थुषस्पतिम्)] दो प्रकार का  
१० जगत् है—चर और अचर, इन दोनों प्रकार के जगत् का पालन  
करनेवाला वही है । ( धियञ्जिन्वम् ) विज्ञानमय विज्ञानप्रद और  
तृप्तिकारक ईश्वर से अन्य कोई नहीं है । उसको (अवसे) अपनी  
रक्षा के लिये हम स्पर्धा=इच्छा से आह्वान करते हैं । जैसे वह  
ईश्वर (पूषा) हमारे लिये पोषणप्रद है, वैसे ही (वेदसाम्) धन  
१५ और विज्ञानों की वृद्धि का (रक्षिता) रक्षक है । तथा (स्वस्त्ये)  
निरुपद्रवता के लिये हमारा (पायुः) पालक वही है, और (अदब्धः)  
हिंसारहित है । इसलिये ईश्वर, जो निराकार सर्वानन्दप्रद है, हे  
मनुष्यो ! उसको मत भूलो । बिना उसके कोई सुख का ठिकाना  
नहीं है ॥ ५० ॥

## प्रार्थना-विषय

२०

मयीदमिन्द्रऽ इन्द्रियं दधात्वस्मान् रायो मघवानः सचन्ताम् ।  
अस्माकं सन्त्वाशिषः सत्या नः सन्त्वाशिषः ॥५१॥ २।१०॥

- २५ व्याख्यान—हे (इन्द्र) परमैश्वर्यवान् ईश्वर ! (मयि) मुझमें  
[(इन्द्रियम्)] विज्ञानादि शुद्ध इन्द्रिय [(दधातु) धारण करो ।  
और] (रायः) उत्तम धन को (मघवानः) परम धनवान् आप  
[(अस्मान्) हमारे लिये] (सचन्ताम्) सद्यः प्राप्त करो । हे सर्व  
काम पूर्ण करनेवाले ईश्वर ! [(अस्माकं सन्तु०)] आपकी  
कृपा से हमारी आशा सत्य ही होनी चाहिये । (पुनरुक्त अत्यन्त



प्रेम और त्वरा द्योतनार्थ है)। भगवन् ! हम लोगों की इच्छा आप वीघ्र ही सत्य कीजिये । इससे हमारी न्याययुक्त इच्छा के सिद्ध होने से हम लोग परमानन्द में सदा रहें ॥५१॥

### स्तुति-विषय

सदसस्पतिमद्भुतं प्रियमिन्द्रस्य काम्यम् ।

सनि मेधामयासिषु स्वाहा ॥५२॥ ३२।१३॥

व्याख्यान—हे सभापते विद्यामय न्यायकारिन् ! [(सदस-स्पतिम्)] हमको सभासद् सभाप्रिय सभा ही हमारा राजा न्यायकारी हो, ऐसी इच्छावाले आप हमको कीजिये । किसी एक मनुष्य को हम लोग राजा कभी न बनावें, किन्तु आप को ही हम लोग सभापति सभाध्यक्ष राजा मानें । [(अद्भुतं प्रियम्)] आप अद्भुत आश्चर्य विचित्र शक्तिमय हैं, तथा प्रियस्वरूप ही हैं । [(इन्द्रस्य काम्यम्)] इन्द्र जो जीव उसके कमनीय=कामना के योग्य आप ही हैं । (सनिम्) सम्यक् भजनीय और सेव्य भी सब जीवों के आप ही हैं । (मेधाम्) विद्यासत्यधर्मादि धारणवाली बुद्धि को हे भगवन् ! [(अयासिषम्)] मैं याचता हूं, सो आप कृपा करके मुझको देओ । (स्वाहा) यही स्वकीय वाक् 'आह' =कहती है कि ईश्वर से भिन्न कोई जीवों को सेव्य नहीं है । ऐसी वेद में ईश्वराज्ञा है । सो सब मनुष्यों को अवश्य मानना योग्य है ॥५२॥

### प्रार्थना-विषय

यां मेधां देवगुणाः पितरश्चोपासते ।

तया मामद्य मेधयाग्ने मेधाविनं कुरु स्वाहा ॥५३॥ ३२।१४॥

व्याख्यान—हे सर्वज्ञाने परमात्मन् [(यां मेधाम्)] जिस

१. मन्त्र में 'सन्त्वाशिषः' पाठ दो बार आया है । ये ब्रैकट के अन्दर वाले शब्द मन्त्र के इस पाठ के विषय में लिखे गये हैं । (सं०)



विज्ञानवती यथार्थ धारणावाली बुद्धि को [(देवगणाः)] देवसमूह  
 =विद्वानों के वृन्द (उपासते) धारण करते हैं, [(पितरश्च)]  
 तथा यथार्थ पदार्थविज्ञान वाले पितर जिस बुद्धि के उपाश्रित  
 होते हैं, [(तया...कुरु)] उस बुद्धि के साथ इसी समय कृपा  
 ५ से मुझको मेधावी कर। (स्वाहा) इसको आप अनुग्रह और  
 प्रीति से स्वीकार कीजिये। जिससे मेरी जड़ता सब दूर हो  
 जाय ॥ ५३ ॥

### प्रार्थना-विषय

मेधां मे वरुणो ददातु मेधामग्निः प्रजापतिः ।  
 १० मेधामिन्द्रश्च वायुश्च मेधां धाता ददातु मे स्वाहा ॥५४॥  
 ३२।१५॥

व्याख्यान - हे सर्वोत्कृष्टेश्वर ! आप (वरुणः) वर=वरणीय  
 आनन्दस्वरूप हो, कृपा से मुझको (मेधाम्) सर्वविद्या-सम्पन्न बुद्धि  
 दीजिये। तथा (अग्निः) विज्ञानमय विज्ञानप्रद, (प्रजापतिः) सब  
 १५ संसार के अधिष्ठाता पालक, (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान्, (वायुः)  
 विज्ञानवान् अनन्तबल, (धाता) तथा सब जगत् का धारण और  
 पोषण करनेवाले आप मुझको अत्युत्तम [(मेधाम्)] मेधा=  
 बुद्धि दीजिये\* ॥५४॥

### प्रार्थना-विषय

२० इदं मे ब्रह्म च क्षत्रं चोभे श्रियमश्नुताम् ।  
 मयि देवा दधतु श्रियमुत्तमां तस्यै ते स्वाहा ॥५५॥  
 ३२।१६॥

व्याख्यान - हे महाविद्य महाराज सर्वेश्वर ! मेरा (ब्रह्म)

\* अनेक बार मांगना ईश्वर से अत्यन्त प्रीतिद्योतनार्थ और सद्यः  
 २५ दानार्थ है। बुद्धि से उत्तम पदार्थ कोई नहीं है। उसके होने से जीव को  
 सब सुख होते हैं। इस हेतु से वारम्बार परमात्मा से बुद्धि की ही याचना  
 करना श्रेष्ठ बात है। (महर्षि)



विद्वान्, और (क्षत्रम्) राजा महाचतुर न्यायकारी शूरवीर  
 राजादि=क्षत्रिय [(उभे)] ये दोनों आपकी अनन्त कृपा से  
 यथावत् अनुकूल<sup>१</sup> हों। (श्रियम्) सर्वोत्तम विद्यादि-लक्षणयुक्त  
 महाराज्य श्री को हम प्राप्त हों। हे (देवाः) विद्वानो ! [(उत्तमां  
 श्रियम्)] दिव्य ईश्वर-गुण=परमकृपा आदि उत्तम विद्यादि लक्षण ५  
 समन्वित श्री को मुझ में [(दधत्)] अचलता से धारण कराओ।  
 उसको मैं अत्यन्त प्रीति से स्वीकार करूँ। और उस श्री को  
 विद्यादि सद्गुण वा सर्व संसार के हित के लिये तथा राज्यादि  
 प्रबन्ध के लिये व्यय करूँ ॥ ५५ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्याणां श्रीयुतविरजानन्द

१०

सरस्वतीस्वामिनां महाविदुषां शिष्येण दयानन्द-

सरस्वतीस्वामिना विरचित आर्याभिविनये

द्वितीयः प्रकाशः सम्पूर्णः ॥<sup>२</sup>

१. "अनुकूल" पाठ प्रथम संस्करण में नहीं है। (सम्पादक)

२. अजमेरीय संस्करणों में इसके आगे "समाप्तश्चामं ग्रन्थः" पाठ १५  
 मिलता है। वह अयुक्त है, क्योंकि 'आर्याभिविनय' ग्रन्थ पूर्ण नहीं है,  
 अधूरा है। देखो—पृष्ठ ४२ की दूसरी टिप्पणी तथा मूल पाठ।



1897



---

---

# अथ ऋग्वेद-भाष्यम्

प्रथम (नमूने का) अङ्क

---

---



ॐ नमो भगवते वासुदेवाय

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय



❧ ओ३म् ❧

# अथ ऋग्वेद-भाष्यम्

मण्डल १ । अनु० १ । सूक्त १॥] [अष्टक १ । अध्याय १ । वर्ग १॥

अस्याग्नेयसूक्तस्य मधुच्छन्दा ऋषिः । अग्निर्देवता ।  
गायत्रीच्छन्दः । षड्जः स्वरः ॥

मू०—ओ३म् । अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम् ।  
होतारं रत्नधातमम् ॥१॥

पदपाठः—अग्निम् । ईळे । पुरःहितम् । यज्ञस्य । देवम् । ऋत्विजम् ॥  
होतारम् । रत्नधातमम् ॥१॥

भाष्यम्—अथात्र प्रथमत ईश्वर एवार्थोऽग्निशब्देन गृह्यते । १०  
अत्र प्रमाणानि—

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहु रथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान् ।  
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥  
ऋग्वेद अष्टक २ । अध्याय ३ । वर्ग २२ । मन्त्र ४६ ॥

अस्यायमर्थः—एकस्य सतः परब्रह्मण इन्द्रादीनि बहुधा नामानि १५  
सन्तीति वेदितव्यम् ।

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः ।

तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपस्स प्रजापतिः ॥

यजुर्वेद अध्याय ३२ । मन्त्र १ ॥

यत्सच्चिदानन्दादिलक्षणं ब्रह्म तदेवाग्न्यादिनामवाच्यमत्र २०  
बोध्यम् ।

अग्निर्होता कविक्रतुः सत्यश्चित्रश्रवस्तमः ।

देवो देवेभि रागमत् ॥ ऋ० अ० १ । अ० १ । व० १ । मन्त्र ५ ॥

कविः=सर्वज्ञः, सत्यः=सर्वदा विनाशरहितः, अत्यन्ताश्चर्य-



श्रवणश्चेत्यादिविशेषणयुक्तो मुख्यतया परमेश्वरो भवितुमर्हति, नान्यः ।

ब्रह्म ह्यग्निः । शतपथ काण्ड १। अध्याय ५ ॥<sup>१</sup> आत्मा वा अग्निः । श० कां० ७। अ० २ ॥<sup>२</sup> अयं वा अग्निः प्रजाश्च प्रजापति-  
५ इच । श० कां० ६। अ० १ ॥<sup>३</sup> संवत्सरो वा अग्निर्वैश्वानरः । श० कां० ६ । अ० ६ ॥<sup>४</sup> अग्निर्वै देवानां व्रतपतिः । श० कां० १ । अ० १ ॥<sup>५</sup>

अग्निर्ब्रह्मात्मनोरत्र वाचकोऽस्ति । प्रजाशब्देन भौतिकोग्निः, प्रजापतिशब्देनात्रेश्वरो ग्राह्यः ।<sup>६</sup>

- १० एतद्ध वै देवा व्रतं चरन्ति यत्सत्यम् । श० का० १। अ० १ ॥<sup>७</sup>  
सत्याचारनियमपालनं देवानां विदुषां व्रतं, तत्पतिरीश्वरः ।  
एष वै देवाननु विद्वान्यदग्निः । श० कां० १। अ० ५ ॥<sup>८</sup>  
तेषूभयेषु सत्येष्वग्निरेवाऽमृत आस । श० कां० २। अ० २ ॥<sup>९</sup>  
विद्यासंभव ईश्वरेऽस्ति नैव च भौतिके । तथाऽमृतत्वं परमेश्वर  
१५ एव घटते नान्यत्रेति ।

‘प्राणोऽग्निः परमात्मा’ इति मैत्र्युपनिषदि<sup>१०</sup>, प्रपाठक ६। खण्ड ६॥

- ‘एष हि खत्वात्मेशानः शंभुर्भवो रुद्रः । प्रजापतिश्चैव सृक्  
हिरण्यगर्भः सत्यं प्राणो हंसः शास्ता विष्णुर्नारायणोऽर्कः सविता  
धाता विधाता संम्राडिन्द्र इन्दुरिति य एष तपत्यग्निरिवाग्निनापि  
२० हितः सहस्राक्षेण हिरण्यमेनाण्डेन एष वा जिज्ञासितव्योऽन्वेष्टव्यः  
सर्वभूतेभ्योऽभयं दत्त्वा ।’ इत्यादि मैत्र्युपनिषदि<sup>११</sup> प्र० ६। खं० ८॥

१. शत० १।५।१।११॥ २. शत० ७।३।१।२॥ मूले ‘अ० २’  
प्रमादपाठः । ३. शत० ६।१।२।४२॥ ४. शत० ६।६।१।२०॥

५. शत० १।१।१।२॥ ६. इतोऽग्रे ‘देवानां विदुषां व्रतम्’ इत्येता-  
२५ वानंशः ‘एतद्ध वै’ इत्युद्धरणात् प्राक्पठ्यते । सोऽस्थान इति कृत्वा यथास्थानं  
स्थापितः । ७. शत० १।१।१।५॥ ८. शत० १।५।१।६॥

९. श० २ । २ । २ । ८ ॥

१०. मैत्रायण्युपनिषद् शुद्ध नाम है । यहां के पाठ तथा ‘भ्रान्तिनिवारण’  
में मैत्र्युपनिषद् के नाम से उद्धृत समस्त पाठ श्री पं० सातवलेकर जी द्वारा  
३० सम्पादित मैत्रायणी संहिता के अन्त में मुद्रित मैत्रायणी आरण्यक में मिलते  
हैं । अन्यत्र छपी मैत्रायण्युपनिषद् में सब पाठ नहीं मिलते । यदि मैत्रि और



प्राणान्यात्मेशानादीनीश्वरस्य नामान्यत्र सन्तीति बोध्यम् ।  
 'अग्निर्वै सर्वा देवता' । इत्याद्यैतरेयब्राह्मणे पञ्चिका १ ।  
 अध्याय १ ॥'

यत्रोपास्यत्वेन सर्वा देवतेत्युच्यते तत्र ब्रह्मात्मैव ग्राह्यः—  
 'आत्मैव देवताः सर्वाः सर्वमात्मन्यवस्थितम्' । इति मनुनोक्त- ५  
 त्वात् १२ अध्याये ॥'

'अग्निः कस्मादग्रणीर्भवत्यग्रं यज्ञेषु प्रणीयतेऽङ्गं नयति सन्नम-  
 मानोऽक्नोपनो भवतीति स्थौलाष्ठीविर्न क्नोपयति न स्नेहयति त्रिभ्य  
 आख्यातेभ्यो जायत इति शाकपूणिरितादक्ताद्गन्धाद्वा नीतात् स  
 खल्वेतेरकारमादत्ते गकागमनक्तर्वा दहतेर्वा नीःपरस्तस्यैषा भव- १०  
 तीति ।' निरुक्त अध्याय ७। खण्ड १४ ॥

अग्रणी=सर्वोत्तमः सर्वेषु यज्ञेषु पूर्वमीश्वरस्यैव<sup>३</sup> प्रतिपादनादी-  
 श्वरस्यात्र ग्रहणम् । 'दग्धाद्'इति विशेषणाद्भौतिकस्यापि च ।

'अग्निः सर्वा देवताः । इति...निर्वचनाय इन्द्रं मित्रं वह...एकं  
 सद्विप्रा ब०। इममेवाग्निं महान्तमात्मानमेकमात्मानं बहुधा मेधाविनो १५  
 वदन्तीन्द्रं मित्रं वहणमग्निं दिव्यञ्च गरुत्मन्तम् । दिव्यो दिविजो  
 गरुत्मान् [गरणवान्] गुर्वात्मा महात्मेति वा । यस्तु सूक्तं भजते यस्मै  
 हविर्निरूप्यतेऽयमेव सोग्निः । निपातमेवैते उत्तरे ज्योतिषी एतेन  
 नामधेयेन भजेते ।' नि० अ० ७। खं० १८ ॥

अनेनोभयोज्ञानप्रकाशवतोज्योतिषोरीश्वरभौतिकाग्न्योर्ग्रहणमि- २०  
 त्युभयार्थग्रहणस्येदं प्रमाणम् ।

'अग्निः पवित्रमुच्यते...अग्निः पवित्रं स मा पुनातु वायुः सोमः  
 सूर्य इन्द्रः पवित्रं ते मा पुनन्त्वित्यपि निगमो भवति ।'

नि० अ० ५। खं० ६ ॥

मैत्रायण नाम एक ही व्यक्ति के हों, तो दोनों नामों से प्रोक्तार्थ में मैत्री और २५  
 मैत्रायणी पद बन सकते हैं । दाक्षि दाक्षायण आदि कुछ नाम एक ही व्यक्ति  
 के हैं, यह इतिहाससिद्ध है ।

१. ऐत० ब्रा० १।१।१; शत० १।६।२।८॥ २. मनु० १२।१।१६॥

२. तुलना कार्या—'अग्निशब्दोऽप्यग्रणीत्वादियोगाश्रयेण परमात्मविषय  
 एव भविष्यति' । शाङ्करभाष्य, वेदान्त १।२।२८॥

३०



प्रशासितारं सर्वेषामणीयांसमणोरपि ।  
रुक्माभं स्वप्नधीगम्यं विद्यात्तं पुरुषं परम् ॥ १॥

एतमेके वदन्त्याग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम् ।

इन्द्रमेके परे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम् ॥ २ ॥ इति

५

मनुस्मृतिः, अ० १२। श्लोक १२२, १२३ ॥

‘पवित्रः’ पवित्रकर्त्ता परमात्मास्तीत्यतः ‘पवित्र’शब्देन परमेश्वरस्यैव ग्रहणम् । तथापरः पुरुषोऽग्न्यादीनि च परमेश्वरस्यैवात्र नामानि सन्तीति बोध्यम् । इत्यादिभिः प्रमाणैरग्निशब्देन परमात्मनोऽत्र ग्रहणमिति सिद्धम् ।

१० (अग्निमीळे) सर्वज्ञस्सर्वशक्तिमान् न्यायकारीत्यादिविशेषण-  
युक्तः परमेश्वरोऽग्निः पितृवत् पुत्रान् प्रत्युपदिशति स्म - हे जीव  
मनुष्यदेहधारिन् ! अहम् अग्निं परमात्मानं ईळे स्तौमीति वदेति  
पूर्वान्वयः । ततो जीवोऽभिवदति—सर्वज्ञं शुद्धं सनातनमजमनाद्यनन्तं  
सर्वव्यापकं जगदादिकारणं स्वप्रकाशं परमेश्वरमग्निमहमीळे स्तौमि ।

१५ तस्मादन्यमीश्वरत्वेन लेशमात्रमपि नाश्रये । कस्मै प्रयोजनाय ?  
धर्मार्थकाममोक्षसिद्धय इति निश्चयः । अञ्चु गतिपूजनयोः, णीञ्  
प्रापणे, अग्नि गत्यर्थः, इण् गतौ इत्यादिधातुभ्योऽग्निशब्दः सिध्यति ।  
अञ्चति अच्यते जानाति ज्ञायते गच्छति गम्यते प्राप्नोति प्राप्यते  
सत्करोति पूजयति सत्क्रियते पूज्यते नयति प्राप्नोति नीयते प्राप्यते  
२० धर्मात्मा जनो विद्वान्, तथा विद्वद्भिर्धर्मार्थमभिर्मुमुक्षुभिश्चेत्यादि-  
व्याकरणनिरुक्तप्रमाणैरप्यग्निशब्देन परमेश्वरग्रहणे सुष्ठूक्तिर्गम्यते ।

कथंभूतः सोऽग्निः—(पुरोहितम्) सर्वस्य जगतः स्वभक्तानां  
च धर्मात्मनां भक्तेरारम्भात् पूर्वमेव सकलपदार्थोत्पादनेन विज्ञाना-  
दिदानेन चैनं जीवं दधाति स‘पुरोहितः’ परमात्माऽग्निः । डुधाञ्  
२५ धारणपोषणयोः अस्मात् पुरःपूर्वात् क्तप्रत्ययान्तात् ‘पुरोहित’शब्दः  
सिध्यति । अतएव सर्वाधारकस्सर्वपोषकश्चेश्वर एव नान्यः । अत्राह  
निरुक्तकारः—

‘पुरोहितः पुर एनं दधति, होत्राय वृतः कृपायमाणोन्वध्यायत्,  
देवश्रुतं देवा एनं शृण्वन्ति वृष्टिर्वानि वृष्टियाचिनम्, रराणो  
३० रातिरभ्यस्तः, बृहस्पतिर्ब्रह्मासीत्, सोऽस्मै वाचमयच्छद्, बृहदुपव्या-  
ख्यातमिति’ । नि० अ० २। खं० १२ ॥



(यज्ञस्य देवम्) यज देवपूजासंगतिकरणदानेषु, अस्माद्धातोर्नङ् प्रत्ययान्ताद् 'यज्ञ' शब्दः साध्यते । अग्निहोत्राद्यश्वमेधान्तस्य क्रिया-समूहजन्यस्य सर्वजगदुपकारकस्य यज्ञस्य । द्वया—परमेश्वरस्य सामर्थ्यात् सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिरूपन्नासीत्, तत् प्रकृत्यादिपृथिव्यन्तकार्यकारणसंगत्योत्पन्नस्यास्य जगतो यज्ञस्य । ५  
अथवा—सत्संगतिकरणोत्पन्नस्य विद्यादिविज्ञानयोगादेर्यज्ञस्य । 'यज्ञः कस्मात्, प्रख्यातं यजतिकर्मेति नैरुक्ताः, याच्यो भवतीति वा, यजुर्हन्तो भवतीति वा, बहुकृष्णाजिन इत्यौपमन्यवः, यजूष्येन नयन्तीति वा' । निरुक्तं अ० ३ । खं० १६ ॥ 'देवं दातारं, सुखानां द्योतकं, सर्वस्य जगतं प्रकाशकं, सर्वैर्विद्वद्भिः कमनीयम्, स्वभक्तानां मोदकं हर्ष- १०  
करम्, शत्रूणां मनुष्याणां कामक्रोधादीनां वा विजिगीषकम्, विजेतुमिच्छन्तं देवम् । दिवु क्रीडाविजिगीषाव्यवहारद्व्यतिस्तुति-मोदमदस्वप्नकान्तिगतिषु अस्माद्धातोरचि प्रत्यये कृते 'देव' शब्दः सिध्यति ।

(ऋत्विजम्) 'कृत्त्युटो बहुलम्' इति वार्तिकम् कृत्यत्युटो १५  
बहुलम् (अ० ३।३।११३) इत्यस्य भाष्येऽस्ति, अतः कर्मण्यपि त्रिवन् । सर्वेषु ऋतु यजनीये पूजार्हं यथाकालं जगद्रचकं ज्ञानादियज्ञसाधक-मृत्विजम् । ऋतुपपदात् त्रिवन्प्रत्ययान्ताद् यजधातोरयं प्रयोगः ।

(होतारम्) सर्वजगते सर्वप्रदार्थानां दातारम्, मोक्षसमये प्राप्तमोक्षाणां जनानामादातारं ग्रहीतारम्, वर्त्तमानप्रलययोः समये २०  
सर्वस्त जगत आदातारं ग्रहीतारमाधारभूतं होतारम् । हु दानादनयोः आदाने चेत्येके अस्माद्धातोरयं शब्दः सिद्धो जायते । अदनं भक्षणं न, किंतु चराचरस्य जगतो ग्रहणम्, तत्कर्त्ता परमेश्वरोऽस्त्युच्यते । अत्र प्रमाणम्—अत्ता चराचरग्रहणात् । इति वेदान्तशास्त्रस्य सूत्रम् ।  
अ० १। पा० २। सू० ६ ॥ २५

(रत्नधातमम्) रत्नानि सर्वजनै रमणीयानि प्रकृत्यादिपृथिव्यन्तानि ज्ञानहीरकसुवर्णादीनि च जीवेभ्यो दानार्थं दधातीति रत्नधाः, अतिशयेन रत्नधाः स रत्नधातमः, तं रत्नधातमम् । रत्नोपपदात् त्रिवन्प्रत्ययान्ताद् रत्नधातमम् । इति वेदान्तशास्त्रस्य सूत्रम् ।

इमं मन्त्रं यास्को निरुक्तकार एवं समाचष्टे—'अग्निमीळेर्धिनः' ३०  
याचामि, ईळिरध्येषणाकर्मा पूजाकर्मा वा, पुरोहितो व्याख्यातो यज्ञश्च । देवो दानाद्वा दीपनाद्वा द्योतनाद्वा द्युस्थानो भवतीति वा । यो देवः



सा देवता । होतारं ह्वातारं जुहोतेर्होतैत्यौर्णवाभः, रत्नधातमं रमणी-  
यानां धनानां दातृतमम् । तस्यैषापरा भवतीति' । नि० अ० ७ ।  
ख० १५ ॥

अथास्य मन्त्रस्य अन्वयो लिख्यते 'पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्  
५ होतारं रत्नधातमं परमात्मानमग्निमहमीळे' स्तौमि याचामि, तस्यै-  
वाध्यन्वेषणं कुर्वे' इत्यन्वयः ॥

अथ संस्कृतभाष्यस्य प्राकृतभाषयार्थो लिख्यते

(अग्निमीळे) इस मन्त्र का ईश्वराभिप्राय से जो अर्थ है, सो  
प्रथम किया जाता है। इस मन्त्र में 'अग्नि' शब्द से परमेश्वर का  
१० ग्रहण होता है। इस के ग्रहण में "इन्द्रं मित्रं वरुण०" इत्यादि यथा-  
लिखित प्रमाण का आधार है। सब जगत् को उत्पन्न करके, संसार-  
स्थ पदार्थों का और परमात्मा का जिससे यथार्थ ज्ञान होता है, उस  
सनातन अपनी विद्या का सब जीवों के लिये, आदि सृष्टि में पर-  
मात्मा ने उपदेश किया है। जैसे अपने सन्तानों को पिता उपदेश  
१५ करता है, वैसे ही परम कृपालु पिता जो परमेश्वर है, उसने हम  
सब जीवों के हित के लिये सुगमता से वेदों का उपदेश किया है,  
जिससे धर्म-अर्थ-काम मोक्ष और सब पदार्थों का विज्ञान और उनसे  
यथावत् उपकार लेवें। इसलिये अत्यन्त हित से हम लोगों को  
उपदेश किया है। सो हम लोग भी अत्यन्त प्रेम से इसको स्वीकार  
२० करें। अब जैसा उपदेश परमात्मा को करना है, सो सब जीवों की  
ओर से परमेश्वर करता है कि जीव लोग जब इस वेद को पढ़ें  
पढ़ावें, पाठ करें और विचारेंगे, तब यथावत् कर्त्ता क्रिया और कर्म  
का सम्बन्ध हो जायगा।

जो सब का जाननेवाला, शुद्ध, सब विकारों से रहित, सनातन,  
२५ जो सब काल में एकरस बना रहता है, जो अज है जिसका कभी  
जन्म नहीं होता, जो अनादि है जिसका आदिकारण कोई नहीं, जो  
अनन्त है जिसका अन्त कोई नहीं ले सक्ता, जगत् में जो परिपूर्ण  
हो रहा है, सब जगत् का आदिकारण और जो स्वप्रकाशस्वरूप है,  
ऐसा जो परमेश्वर, जिसका नाम 'अग्नि' है, उसकी मैं स्तुति करता  
३० हूँ। इससे भिन्न कोई दूसरा ईश्वर नहीं है। और उसको छोड़के  
दूसरे का लेशमात्र भी आश्रय मैं कभी नहीं करता। किस प्रयोजन  
के लिये? धर्म-अर्थ-काम और मोक्ष इनकी सिद्धि के लिये।



अञ्चु 'गतिपूजनयोः' इत्यादि धातुओं से 'अग्नि' शब्द सिद्ध होता है। अञ्चतीत्यादि०—जो सब को जानता है, जो सब वेदादिक शास्त्रों से जाना जाता है, जो सब में गत नाम प्राप्त हो रहा है, जो सर्वत्र प्राप्त होता है, जो सब धर्मात्माओं का सत्कार करता है, जिसका सत्कार सब विद्वान् लोग करते हैं, जो सब सुख को प्राप्त करता है, और जो सब सुखों के अर्थ प्राप्त किया जाता है, इस प्रकार व्याकरण निरुक्त आदि के प्रमाणों से 'अग्नि' शब्द से परमेश्वर के ग्रहण में कोई भी विवाद नहीं है।

पूर्वोक्त अग्नि कैसा है कि—(पुरोहितम्) सब देहधारियों की उत्पत्ति से प्रथम ही सब जगत् और स्वभक्त धर्मात्माओं के लिये १० सब पदार्थों की उत्पत्ति जिसने की है। और विज्ञानादि दान से जो जीवादि सब संसार का धारण और पोषण करता है, इससे परमात्मा का नाम 'पुरोहित' है। 'पुरः' पूर्वक 'क्त' प्रत्ययान्त 'डुधाञ्' धातु से 'पुरोहित' शब्द सिद्ध हुआ है। इसी से सब का धारण और पोषण करनेवाला एक परमात्मा ही है। अन्य कोई भी नहीं। इस १५ पुरोहित शब्द में 'पुर एनं०' इत्यादि निरुक्त का भी प्रमाण है।

(यज्ञस्य देवम्) 'यज्ञ' धातु से 'यज्ञ' शब्द सिद्ध होता है। इसका यह अर्थ है कि अग्निहोत्र से लेके अश्वमेधपर्यन्त विविध क्रियाओं से जो सिद्ध होता है, जो वायु और वृष्टि जल की शुद्धि द्वारा सब जगत् को सुख देनेवाला है, उसका नाम 'यज्ञ' है। अथवा—परमेश्वर के २० सामर्थ्य से सत्त्वगुण रजोगुण और तमोगुण इन तीनों गुणों की जो एक अवस्थारूप कार्य उत्पन्न हुआ है, जिसका प्रकृति अव्यक्त और अव्याकृतादि नामों से वेदादि शास्त्रों में कथन किया है, उससे लेके पृथिवीपर्यन्त कार्यकारण संगति से उपत्त हुआ जो जगत् रूप 'यज्ञ' है। अथवा—सत्यशास्त्र सत्यधर्माचरण सत्पुरुषों के संग से जो उत्पन्न २५ होता है, जिसका नाम विद्या ज्ञान और योग है, उसका भी नाम 'यज्ञ' है। इन तीनों प्रकार के यज्ञों का जो 'देव' है, जो सब सुखों का देनेवाला, जो सब जगत् का प्रकाश करनेवाला, जो सब भक्तों को आनन्द करानेवाला, जो अधर्म अन्यायकारी शत्रुओं का, और काम—क्रोधादि शत्रुओं का विजिगीषक नाम जीतने की इच्छा पूर्ण ३० करनेवाला है, इससे ईश्वर का नाम 'देव' है।



(ऋत्विजम्) जो सब ऋतुओं में पूजने योग्य है, जो सब जगत् का रचनेवाला और ज्ञानादि यज्ञ की सिद्धि का करनेवाला है, इससे ईश्वर का नाम 'ऋत्विज्' है। 'ऋतु' शब्दपूर्वक 'क्विप्' प्रत्ययान्त 'यज' धातु से ऋत्विज् शब्द सिद्ध होता है।

- ५ (होतारम्) जो सब जगत् के जीवों को सब पदार्थों को देनेवाला है। जो मोक्ष समय में मोक्ष को प्राप्त हुए जीवों का ग्रहण करनेवाला है, तथा जो वर्तमान और प्रलय में सब जगत् का ग्रहण और धारण करनेवाला है, इससे परमात्मा का 'होता' नाम है। 'हु दानादनयोः, आदाने चेत्येके' इस धातु से 'तृच्' प्रत्यय करने से १० 'होता' शब्द सिद्ध हुआ है।

- (रत्नधातमम्) जिनमें रमण करना योग्य है, जो प्रकृत्यादि पृथिवीपर्यन्त रत्न यथा विज्ञान हीरादि जो रत्न और सुवर्णादि जो रत्न हैं, जिनके यथावत् उपयोग करने से आनन्द होता है, उन रत्नों का सब जीवों को दान के लिये जो धारण करता है, १५ वह 'रत्नधा' कहाता है। और जो अतिशय से पूर्वोक्त रत्नों का धारण करनेवाला है, इससे परमेश्वर का नाम 'रत्नधातम' है। 'रत्न' शब्दपूर्वक 'क्विप्' प्रत्ययान्त 'डुधाञ्' धातु से 'तमप्' प्रत्यय करने से यह शब्द सिद्ध हुआ है।

- इस मन्त्र की निरुक्तकार यास्कमुनि ने जिस प्रकार की व्याख्या २० की है सो संस्कृत में लिखी है, उसकी वहीं देख लेना ॥

- अथ द्वितीयोऽर्थः—(अग्निमीळे) अत्राग्निशब्देन भौतिकोऽग्नि-  
गृह्यते। रूपगुणं दाहकमूर्ध्वगामिनं भास्वरमग्निमहमीळे, तस्य  
गुणानामन्वेषणं कुर्वे। कीदृशगुणोऽग्निरस्तीत्याह—कलाकौशलया-  
चालनादिपदार्थविद्याया अग्निरेव मुख्यं कारणमस्ति। विनाग्निने-  
२५ दृगुत्तमक्रिया नैव सिध्यति। अत एव सर्वैर्विद्वद्भिः शिल्पिभिरग्नेः  
स्वभावगुणा यथावदध्यन्वेषणीयाः।

पुरा ह्यार्यैर्याश्वविद्या शीघ्रगमनहेतुः सम्यक् संपादितेति श्रूयते,  
साग्निविद्यैवासीत्। अत्र प्रमाणानि—

- ३० 'ततो देवा एतं वज्रं ददृशुः, यदश्वं तं पुरस्तादुदश्वयस्तस्या-  
भयेनाष्ट्रेनिवातेग्निरजायत, तस्माद्यत्राग्निं मन्थिष्यन्त्स्यात्तदश्वमाने-  
तवै ब्रूयात्स पूर्वेणोपतिष्ठते, वज्रमेवैतदुच्छयति तस्याभयेनाष्ट्रेनिवाते-



ऽग्निर्जायत इति । श० का० २ । अ० १ ॥<sup>१</sup> वृषो अग्निरिति । श० का० १ । अ० ४ ॥<sup>२</sup> अग्निर्वा अश्वः । श० का० ३ । अ० ६ ॥<sup>३</sup> अश्वो ह वा एष भूत्वा देवेभ्यो यज्ञं वहति । श० का० १ । अ० ४ ॥<sup>४</sup> तूर्णिर्हव्यवाडिति । श० का० १ । अ० ४ ॥<sup>५</sup> अग्निर्वै योनिर्यज्ञस्येति । श० का० १ । अ० ६ ॥<sup>६</sup>

५

इत्याद्यनेकप्रमाणैः 'अश्व'नाम्ना भौतिकोऽग्निरेवात्र गृह्यते । आशु-  
गमनहेतुत्वाद् 'अश्वो' ऽग्निर्विज्ञेयः । अयमेवाग्निर्वज्रः' सर्वपदार्थोच्छेद-  
कत्वात् स्वयमच्छेद्यत्वाच्चाश्ववद्विमानादियानानां शीघ्रं गमयितेति  
विज्ञायते । वृषवद्यानानां वोढाग्निरिति च, तथाश्ववदपि । एषोग्नि-  
रश्वो भूत्वा देवेभ्यो विद्वद्भ्यः शिल्पविद्याविद्भ्यो मनुष्येभ्यः शिल्प- १०  
विद्यासंगतं विमानादियानाख्यं यज्ञमेषोऽग्निरेव वहति प्रापयतीति  
शेषः । अत एव तूर्णिः=शीघ्रगमनहेतुः, हव्यवाड्=दातुं ग्रहीतुं  
योग्यं शिल्पविद्यामयं यज्ञं वहति प्रापयतीत्यर्थः । इत्थं शिल्पविद्या-  
समूहभूतस्य यज्ञस्याग्निरेव योनिः कारणं बीजं निदानमिति शेषः ।

(पुरोहितम्) अत एव सोऽग्निः पुरोहितः=पुरस्तात् विमान- १५  
कलाकौशलक्रियाप्रचालनादिगुणमेनं शिल्पविद्यामयं दधातीति 'पुरो-  
हितः' ।

(यज्ञस्य देवम्) विविधक्रियाजातस्य शिल्पविद्यादिक्रियाजन्य-  
बोधसंगतस्य, देवः व्यावहारिकविद्याप्रकाशकस्तम् ।

(ऋत्विजम्) सर्वशिल्पादिव्यवहारविद्याद्योतनमहम् ।

२०

(होतारम्) तद्विद्यादिगुणानां दातारमादातारं च । अत एव—  
(रत्नधातमम्) तद्विद्यानिष्ठानां शिल्पिनां रत्नैरतिशयेन पोषकम्,  
तद्विद्याऽऽधारकं वा ॥

अस्यान्वयस्तु पूर्ववद्वेदितव्यः ।

चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत । ओत्राद्वायुश्च २५

१. शत० २।१।४।१६॥

२. शत० १।४।१।२६

३. शत० ३।६।२।५॥

४. शत० १।४।१।३०॥

५. शत० १।४।२।१२॥

६. शत० १।५।२।१६॥ मूलपाठः 'अ० ६'

इत्यपपाठः ।



प्राणश्च मुखादग्निरजायतेति । शुक्ल<sup>१</sup> य० अ० ३१ । मं० १२ ॥  
तथा तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः । आकाशाद्वायुः ।  
वायोऽग्निरिति तैत्तिरीयोपनिषदि अनुवाक १॥

इत्यादिभिः प्रमाणैर्भौतिकोऽग्निरेवात्र ग्राह्यः । कुतः ? उत्पत्ति-  
स्थितिप्रलयवतां पदार्थानां संसारान्तर्गतभावात् । परमेश्वरस्त्वेतेभ्यो  
विलक्षण एवातः । भौतिकाग्न्यादीनि जन्मादिधर्मवन्ति सन्ति,  
कार्यत्वात् । परमेश्वरस्य जन्मादयो धर्मा न विद्यन्ते, सर्वस्यादि-  
कारणत्वात् । इति द्वितीयोऽर्थः ॥

पूर्वेषां भाष्यकृतां सायणाचार्यादीनां ये गुणाः सन्ति, ते त्वस्मा-  
१० भिरपि स्वीक्रियन्ते । गुणानां सर्वैः शिष्टैः स्वीकार्यत्वात् । तेषां ये  
दोषाः सन्ति, तैऽत्र दिग्दर्शनेन खण्ड्यन्ते । रावणोवटसायणमाधवमही-  
धराणां दोषवद्भाष्यखण्डनविषये यत्र यत्र समानं भाष्यं तत्र तत्रैकस्य  
खण्डनेनेतरेषामपि भाष्यस्य खण्डनं वेद्यम् । यत्र यत्र च विशेषस्तत्र  
तत्र पृथक् पृथक् खण्डनं विधास्यामि । तेनैवार्येङ्गलैण्डभाषादिनिर्मि-  
१५ तस्य व्याख्यानस्यापि खण्डनं बोध्यम् ।

सायणाचार्यादिभिरग्निशब्देनात्र भौतिकोऽग्निर्गृहीतः । तद्यथा—  
'तथाग्निरपि यज्ञस्यापेक्षितं होमं संपादयति । यद्वा यज्ञस्य  
संबन्धिनि पूर्वभाग आहवनीयरूपेणावस्थितम् । 'यद्यपोन्द्रादयस्तत्र  
तत्र हूयन्ते, तथापि परमेश्वरस्यैवेन्द्रादिरूपेणावस्थानादविरोधः'  
२० इत्युक्तत्वात् ।

इदमसमञ्जसं मुख्येश्वरार्थस्य त्यागात् । इन्द्रादिरूपधारणम-  
पोश्वरो नैव करोति । स पर्यगाच्छुक्रमकायस्<sup>२</sup>; अज एकपात्<sup>३</sup> इति  
मन्त्रार्थविरोधात् । इन्द्रं मित्रं<sup>४</sup>मित्यादिप्रमाणैः सिद्धस्य परमेश्वरार्थस्य  
त्यागः शिष्टसंमतो नास्ति ।<sup>५</sup> भौतिकाग्न्यर्थस्य विषयस्याप्यल्पोक्त-

२५ १. ऋषि दयानन्द ने 'शुक्ल यजुर्वेद' शब्द का व्यवहार ऋग्वेदादिभाष्य-  
भूमिका (रा. ला. क. द्र. सं.) पृष्ठ १७३, ३३४, तथा भ्रमोच्छेदन (शताब्दी  
सं० पृष्ठ ८६८) में भी किया है ।

२. इदं वाक्यमृग्वेदस्योपोद्धातस्यादौ 'तस्माद् यज्ञात्' मन्त्रव्याख्याने वर्तते ।  
शिष्टं वचनं प्रकृतमन्त्रव्याख्यान एव । ३. यजुः० ४०।८।

३० ४. ऋ० ७।३५।१।३।

५. ऋ० १।१६४।४६।

६. प्रकरणमिदं (सायणभाष्यदोषप्रदर्शनपरं) ग्रन्थ-कृता स्वीयगर्वेदभाष्य-



त्वात्' । तस्मादयमर्थोऽपि निर्दोषो नास्ति । इन्द्रादीनि परमेश्वरस्य सूर्यादीनां च नामानि सन्ति । तान्यैतरेयशतपथदिब्राह्मणनिरुक्तव्याकरणादिषु व्याख्यातानि । तथा वेदेष्वपि तेषां मध्यादस्मिन् मन्त्रभाष्येऽपि कानिचिदिन्द्रादीनि नामानि प्रकाशितानि ।<sup>१</sup> अग्रे यत्र यत्र यस्य यस्य मन्त्रार्थस्य विषय आगमिष्यति तत्र तत्र खण्डनं मयोदाहरिष्यते । सायणाचार्येण तथा प्रतिपादनं नैव कृतमतस्तद्भाष्यं दोषवदस्तीति बोध्यम् । एतत्खण्डनाभ्यन्तरे डाक्तरविलसनाख्यवेदार्थयत्नादीनामपि खण्डनमागतमिति विज्ञेयम् ।

कश्चिद् ब्रूयात्—सायणाचार्यादिभिर्निरुक्तादिप्रामाण्ययुक्तं भाष्यं विहितम् । कथं दोषवदिति ? अत्रोच्यते—निरुक्तादिवचनानि १० तु लिखितानि, परन्तु तानि तद्वचनाद्विरुध्यन्त एव । तद्यथा—अग्निः कस्मादग्रणीर्भवतीत्यादि' । अग्रणीः सर्वोत्तमः । अग्रं सर्वोत्तमं नयतीत्यनेन परमेश्वरस्यैव ग्रहणं भवितुमर्हति, नान्यस्य । कुतः ? गौणमुख्ययोर्मुख्ये कार्यसंप्रत्ययः' इति व्याकरणन्यायेन परमेश्वरादग्रणीमुख्यः कश्चिदपि नास्ति, इत्यतो विरोध एव तद्भाष्येऽस्ति । १५ अन्येऽपि बहवो दोषास्तत्र सन्ति, ग्रन्थभूयस्त्वभ्याश्लोलीक्यन्ते । एतावतैवेदुशानि पूर्वजकृतानि भाष्याण्यासन् । यानि भवन्ति भविष्यन्ति च तेषां खण्डनं तावतैव बोध्यम् । अग्रेऽग्रे यद्यदत्यन्तविरुद्धं भाष्यमस्ति, तत्तदेव खण्डयिष्यामि, नान्यदिति च ॥ १ ॥

भाषार्थः—( अग्निमीळे ) अब दूसरा अर्थ व्यवहारविद्या के २० अभिप्राय से प्रमाण के सहित किया जाता है । इस अर्थ में 'अग्नि' शब्द से भौतिक अग्नि, जो यह जलाने और ऊपर चलनेवाला है, तथा सब पदार्थों को अलग-अलग करने और बल देनेवाला, तथा जिसका रूप गुण है, और मूर्तिमान् द्रव्यों का जो प्रकाशक है, [तथा जो] ज्वालारूप [है], उसका ग्रहण किया जाता है । २५

भूमिकायां भाष्यकरणशंकासमाधानादिविषयस्यादौ (पृष्ठ ३६४, ३६५) विस्तरेण निरूपितम् ।

१. भौतिकार्थसामान्ये ग्रहीतव्ये सायणेन केवलं यज्ञविषयक एवाग्निगृहीत इति तस्याल्पता । २. एतन्मन्त्रस्य प्रथमार्थस्यादौ ।

३. निरु० ७।१४।

४. सीरदेवीय पारिभाषावृत्ति १०३ ।

३०



मैं उस अग्नि की स्तुति करता हूँ, उसके गुणों का अन्वेषण अर्थात् खोज करता हूँ ।

- अग्नि में कौन-कौन गुण हैं, और [इससे] किस विद्या की सिद्धि होती है ? जो-जो कलाकौशल सवारी चालनादि पदार्थविद्याओं की सिद्धि करने के उत्तम गुण हैं, सो-सो अग्नि से ही प्राप्त होते हैं, इससे अग्नि ही शिल्पविद्या का मुख्य कारण है । क्योंकि बिना अग्नि से कोई भी उत्तम गुणवाली पदार्थविद्या सिद्ध नहीं हो सकती । इसी से जो विद्वान् लोग पदार्थविद्या में हो गये, होते हैं, और होंगे, उन सबों ने पदार्थविद्या में अग्नि को ही मुख्य साधन माना है, मानते हैं, और मानेंगे । इस समय में भी जो पदार्थ-विद्याओं को किया जाहे, सो भी अग्नि के गुणों का खोज करै । पहिले आर्यों ने अश्वविद्या नाम से जो विमानादि शिल्पविद्या सिद्ध की थी, वह अग्निविद्या ही थी । अश्वविद्या जो अग्न्यादि पदार्थों से रसायनविद्या होती है, सो शिल्पविद्या ही है । इसमें अनेक प्रमाण हैं—

- ‘ततो देवा एतं वज्रं ददुःशुः यदश्वम्’ इत्यादि शतपथादि ग्रन्थों का यथालिखित प्रमाण देख लेना । उनमें जो अग्नि है, उसी का ग्रहण किया है । इस प्रकार के अनेक प्रमाणों से अश्वविद्या नामों से इस भौतिक अग्नि का ही ग्रहण किया जाता है । आशु नाम शीघ्र चलाने का जो हेतु है, इससे अग्नि को ही ‘अश्व’ जानना । शिल्पविद्यारूप यज्ञ का अग्नि ही देव है । इसी अग्नि का ‘वज्र’ नाम है, क्योंकि सब पदार्थों का अलग-अलग करने और प्रकाशनेवाला अग्नि ही है । और वह किसी से छेदन में नहीं आता, इससे अग्नि का नाम ‘वज्र’ है । ‘वृषः’ वृषवत् बल की नाई सवारियों को चलानेवाला अग्नि ही है । तथा घोड़े की नाई भी सवारियों को दौड़ानेवाला अग्नि ही है । तथा ‘तूर्णिः’ अग्नि को ही अत्यन्त वेगवाला सवारियों के चलाने में जानना । तथा हव्य-वाद् शिल्पविद्यारूप यज्ञ की प्राप्ति करानेवाला भी अग्नि ही है ।

- (पुरोहितम्) इसी से इस अग्नि को ‘पुरोहित’ जानना । विमान, कला-कौशल, क्रिया-चालनादि गुणों का धारण करनेवाला है । और सब विद्याओं का प्रथम हेतु होने से अग्नि का नाम ‘पुरोहित’ है । (यज्ञस्य देवम्) यज्ञ का देव अर्थात् विविध क्रियाओं से जो



शिल्पविद्या बनती है, उस विद्या का जो प्रकाश करनेवाला है, सो 'देव' है। (ऋत्विजम्) जो शिल्पादि सब व्यवहारों की सिद्धि करनेवाला है। (होतारम्) जो उस विद्या के दिव्य गुणों को देने और धारण करनेवाला है। (रत्नधातमम्) जो उस शिल्पविद्या के जाननेवाले मनुष्यों को रत्नों से अत्यन्त सुख देनेवाला है। उसी ५ को हम लोग शिल्पविद्या की सिद्धि के लिये ग्रहण करें।

'चन्द्रमा मन से उत्पन्न हुआ है' इत्यादि शुक्ल<sup>१</sup> यजुर्वेद तथा तैत्तिरीयोपनिषदादि प्रमाणों से व्यवहारविद्या में भौतिक अग्नि का ही ग्रहण करना चाहिये। क्योंकि जिन पदार्थों की उत्पत्ति और वर्तमान होके पुनः प्रलय हो, उन सब पदार्थों को संसार में १० ही जानना चाहिये। इससे भौतिक अग्नि को ही इस अर्थ में जानना। परमेश्वर तो इन जन्मादि घर्मवाले पदार्थों से सदा अलग ही है, और सब का आदिकारण है।

पूर्व जो 'सायणाचार्य' आदि वेदभाष्य के करनेवाले हैं, और जो उनके भाष्य में दोष हैं, उनका खण्डन संक्षेप से दिखाया जाता १५ है। रावण उबट सायण और महीधर वेदों के व्याख्या करनेवाले हैं, इनमें से एक के खण्डन से इस प्रकार के अन्य का भी खण्डन सर्वत्र जान लेना। और जहां-जहां उनमें बड़ा दोष है, उस-उस का अलग-अलग खण्डन किया जायगा। वैसे ही आर्यभाषा दक्षिणभाषा<sup>२</sup> किंवा अन्यभाषा तथा अंग्रेजी भाषा में किये व्याख्यान का भी २० खण्डन जानना। उनका दोष संक्षेप से लिखते हैं—

इस मन्त्र के अर्थ में सायणाचार्य आदि ने भौतिक अग्नि का ही ग्रहण किया है, जिसमें होम करते हैं। इस अर्थ से भिन्न अर्थ का ग्रहण नहीं किया है। इसका खण्डन संस्कृत में लिखा है, वहां समझ लेना। अन्यथा भाष्य बनानेवाले जितने पहिले हो गये, इस समय २५ जितने हैं, वा आगे जितने होंगे, इन सब का भाष्य खण्डन के योग्य अवश्य है। क्योंकि मनुष्यों की बुद्धि विद्या विचार बल और परा-

१. द्रष्टव्य पृष्ठ १४६ की टि० १।

२. ऋषि दयानन्द के समय में महाराष्ट्र से 'वेदार्थयत्न' के नाम से ऋग्वेद का एक भाष्य अङ्कों के रूप में छपता था। उसमें संस्कृत, मराठी और ३९ अंग्रेजी भाषा में भाष्य छपता था।



क्रमादि अधिक न्यून होते ही रहते हैं। इससे विना विचार किये ग्रन्थ का प्रमाण सर्वदा नहीं रहता, इसमें कुछ आश्चर्य नहीं ॥ १॥

अथ द्वितीयामृचमाह—

मू०—अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत ।

५ स देवाँ एह वक्षति ॥ २॥

प०—अग्निः । पूर्वेभिः । ऋषिभिः । ईड्यः । नूतनैः । उत ॥ सः । देवान् । आ । इह । वक्षति ॥ २॥

भाष्यम्—(अग्निः) अयमग्निः परमेश्वरः (पूर्वेभिः) पूर्वैस्तथा (नूतनैरुत) नवीनैरपि (ऋषिभिरीड्यः) मन्त्रद्रष्टृभिर्ऋषिभिस्तर्कैः १० प्राणैश्च सदैवेड्यः स्तुत्यो वन्द्योऽन्वेषणीयः पूज्यश्चास्ति । स जगदीश्वरः स्वकृपाकटाक्षेण (देवान्) देवान् दिव्यानीन्द्रियाणि विद्यादिदिव्यगुणान् दिव्यर्त्तून् दिव्यभोगांश्च (एह वक्षति) इहां-स्मिन् संसारे जन्मन्यात्मनि च (आवक्षति) आवहत्तु, आसमन्तात् प्रापयतु न इति शेषः ।

१५ अत्र प्रमाणानि—

प्राणा वा ऋषयो दैव्यासः । ऐत० पं० २ । अ० ४ ॥<sup>१</sup> प्राणा ऋषयः । ऋतवो वै देवाः । श० का० ७ । अ० २ ॥<sup>२</sup>

अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत । स देवाँ एह वक्षति ॥ १ ॥ अग्निर्यः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीडितव्यो वन्दितव्योऽस्माभिश्च २० नवतरैः स देवानिहावहत्विति । स न मन्येतायमेवाऽग्निरित्यप्येते उत्तरे ज्योतिषी अग्नी उच्येते । नि० अ० ७ । खं० १६ ॥

पुरस्तान्मनुष्या वा ऋषिषूतक्रामत्सु देवानब्रुवन् को न ऋषि-र्भविष्यतीति, तेभ्य एतं तर्कमृषि प्रायच्छन्मन्त्रार्थचिन्ताभ्यूहमभ्यूढम् इति । नि० अ० १३ । खं० १२ ॥

२५ अयमर्थः—पूर्वेभिर्जगत्कारणस्थैर्नूतनैः कार्यशरीरस्थैर्ऋषिभिः प्राणैः सह मनुष्यैरीड्य इत्यर्थः । (अग्निर्य०) योऽग्निः परमेश्वरो भौतिको वास्ति, सोऽत्र ग्राह्यः । कुतः । 'स न मन्येतायमेवाग्निरित्यप्येते

१. ऐत० १।४।३॥ २. प्राणा ऋषयः ॥ शत० ७।२।३।५॥ ऋतवो वै देवाः । शत० ७।२।४।२६॥



उत्तरे ज्योतिषी अग्नी उच्येते' इत्युक्तत्वात् । परमेश्वरो विद्युदादि-  
दिव्यश्चैतावग्नी उत्तरे ज्योतिषी अत्र ग्रहीतुं योग्ये स्तः । एवमेव  
तर्कवैदशास्त्रादिस्थैः पूर्वैर्भिरस्मदादिभिरिदानीन्तनैर्नवतरेष्वेश्वरः  
स्तुत्या वन्दनेन वेद्योऽस्ति नान्यथा । 'अविज्ञाततत्त्वेऽर्थे कारणोपपत्ति-  
तस्तत्त्वज्ञानार्थमूहस्तर्कः' इति गोतमाचार्येण न्यायशास्त्रे प्रतिपादि- ५  
तत्वात्, मनुष्याणां तर्कविना यथार्थज्ञानं नैव कदाचिद्भवत्यत  
उक्तमृषिभिस्तर्करिति । तथेश्वरस्य त्रिकालज्ञत्वात् । नवीनापेक्षया  
प्राचीनैः प्राचीनापेक्षया नवीनैश्च विद्वद्भिरीड्य इत्युक्ते सति न  
दोषो भवति । वेदस्य सर्वज्ञवाक्यत्वात् प्रथममन्त्रभाष्ये निरुक्तव्या-  
करणादिरीत्या देवशब्दार्थं उक्तः, सोऽत्र द्रष्टव्यः । १०

एतन्मन्त्रार्थः सायणाचार्यादिभिरन्यथोक्तः । तद्यथा—'पुरातनै-  
र्भृग्वज्जिरःप्रभृतिभिः । नूतनैस्तेदानीन्तनैरस्माभिरपि स्तुत्यः ।  
देवान् हविर्भुज आवाक्षतीति ।' अन्यथेदं व्याख्यानमस्ति, तद्वच्चूरोप-  
खण्डस्थैरत्रस्थैश्च कृतमिङ्गलैण्डभाषायां वेदार्थयत्नादिषु च व्याख्या-  
नमप्यसमञ्जसम् । कुतः । ईश्वरोक्तस्यानादिभूतस्य वेदस्येदृशं १५  
व्याख्यानं क्षुद्राशयं गम्यते, तथा निरुक्तशतपथादिग्रन्थाशयविरुद्ध  
चातः ॥ २ ॥

भाषार्थः—(अग्निः) अग्नि जो परमेश्वर (पूर्वैर्भिर्ऋ०) प्राचीन  
और नवीन ऋषि जो प्राण, मन्त्रार्थ जाननेवाले जो विद्वान् और  
तर्क हैं, अर्थात् स्थूल जगत् का कारण जो ईश्वर की सामर्थ्य प्रकृति और २०  
परमाणु रूप है, इनमें जो सूक्ष्म प्राण हैं, उनका नाम 'प्राचीन' है ।  
और जो प्राण सदैव निर्विकार बने रहते हैं, जो ब्रह्माण्ड को धारण  
करनेवाले हैं, उनका 'पूर्वैर्भिः' इस पद से ग्रहण होता है । और कार्य  
जो स्थूल जगत् तथा शरीर में जो प्राण हैं, तथा पहिले और  
वर्तमान में जो विद्वान् हैं, उन पूर्व हो गये विद्वानों के जो तर्क थे, २५  
और आत्मा में जो तर्क हैं, उनको भी 'पूर्वैर्भिः' तथा 'नूतनैः' इन पदों से  
ग्रहण करते हैं । क्योंकि ये सब शरीर के साथ ही उत्पत्ति वृद्धि और  
क्षय को प्राप्त होते हैं । इन दोनों प्राणों के साथ अभ्यास करने से  
इनके बीच ही परमेश्वर प्राप्त होता है । तथा मन्त्रार्थ जानने वाले  
प्राचीन और नवीन ऋषियों को भी स्तुति करने के योग्य परमेश्वर ३०



- ही है। सो जगदीश्वर अपनी कृपाकटाक्ष से शुद्ध सद्विद्यादि गुण, श्रेष्ठ इन्द्रिय, उत्तम ऋतु और सब प्रकार के जो उत्तम भोग हैं कि जिन गुणों से परमानन्द मोक्ष प्राप्त होता है। जिन इन्द्रियों से धर्माचरण विद्या और उत्तम सुख होता है। दिव्यऋतु=जिनमें
- ५ परमार्थ और व्यवहार के दोनों सुख बढ़ें। दिव्यभोग=जो मोक्ष और व्यवहार में भी होते हैं। (स देवानेह वक्षति) इस संसार, इस जन्म और हमारे आत्मा में, हे परमेश्वर ! कृपा से आप हम लोगों को सब प्रकार से उन सुखों को प्राप्त करो। प्राण तर्क और मन्त्रार्थ के जाननेवाले विद्वानों को 'ऋषि' कहते हैं। सद्विद्यादि
- १० जो दिव्यगुण और ऋतु आदि को 'देव' कहते हैं। इसमें शतपथादि ग्रन्थों का लेख संस्कृत में लिखा है, सो देख लेना।

इस मन्त्र का सायणाचार्य आदि लोगों ने अन्यथा अर्थ वर्णन किया है, इसका खण्डन भी संस्कृत में देख लेना। तद्वत् डाक्टर विलसन साहेब कृत और वेदार्थयत्न में भी इस मन्त्र का अर्थ ठीक १५ नहीं किया है। वेदार्थयत्नवाले ने जो यह बात लिखी है कि यह मन्त्र लक्ष्य में रखने के योग्य है, अर्थात् वेद ईश्वरकृत सनातन नहीं है। उनका ऐसा अभिप्राय देखने में आता है। सो उनकी बुद्धि के अनुसार ही है, यह प्रमाणयुक्त नहीं है ॥२॥

अथ द्वितीयोऽर्थः—प्राक्तनैर्नवीनैः प्राणैः शिल्पविद्याविद्भिस्तर्कैः २० पूर्वोक्तं ऋषिभिरयमेवाग्निरन्वेष्टव्यगुणोऽस्ति। कुतः? सोऽयमग्निरिह पदार्थविद्यायां कलाकौशलस्य विमानादीनां यानानां दिव्यगुणाना-वक्षति आवहत्वित्याकाङ्क्षेत चेति ॥ २ ॥

भाषार्थः—(अग्निः) शिल्पविद्या के जानने तथा शिल्पविद्या को सिद्ध करने की इच्छा रखनेवाले, उसको पढ़ाने और पढ़नेवाले जो २५ ऋषि अर्थात् कारीगर लोग हैं, वे अग्नि के गुणों के सुतर्कपूर्वक खोज से पदार्थविद्या को सिद्ध करते हैं और करें। क्योंकि पदार्थ-विद्या में कलाकौशल विमान आदि सवारियों के परमोत्तम गुणों की प्राप्ति अग्नि से ही होती है। इससे अग्नि के गुणों के खोजने में सब लोग सदा प्रयत्न करें ॥२॥



## अथ तृतीयमन्त्रमाह

मू०—अग्निना रयिमश्नवत्पोषमेव दिवेदिवे ।

यशसं वीरवत्तमम् ॥३॥

प०—अग्निना । रयिम् । अश्नवत् । पोषम् । एव । दिवेऽदिवे ॥  
यशसम् । वीरवत्तमम् ॥३॥

५

भाष्यम्—(अग्निना) विज्ञानानन्दस्वरूपेण दयालुना सद्धर्मानु-  
ष्ठानयोगाभ्यासपरमप्रीत्युपासनोपासितेनैवाग्निनेश्वरेण, विद्याधर्मयुक्तः  
सन् जीवः (रयिम्) धर्ममोक्षविद्यांचक्रं वर्त्तिराज्यारोग्यादिस्वरूपं  
धनम् (अश्नवत्) प्राप्नुयात् प्राप्नोति वा, नान्यथेति निश्चयः ।  
कथंभूतं तद्धनम् ? आत्ममनःशरीरेन्द्रियाणाम् (दिवेदिवे) प्रतिदिनं १०  
नित्यम् (पोषमेव) पुष्टिकरमेव भवति, तथा (यशसम्) यशः  
सत्कीर्तिवर्धकं शिष्टाचारादिकीर्तिमच्च, तथा (वीरवत्तमम्) प्रति-  
दिनं बुद्धिबलवीर्यशौर्यधैर्यादिगुणयुक्ताः पुत्रबन्धुमित्रभृत्यादयो वीरा  
भवन्ति यस्मिन् धने तद्वीरवत्, अतिशयेन वीरवत् इति वीरवत्तमम् ।  
अयमाशयः—परमेश्वरोपासनेन विना स्थिरं नित्यं च सुखं कदाचित् ११  
कस्यापि नैव भवतीति । रयिमिति धननामास्ति निघण्टौ ॥

सायणाचार्येण यजहोमसम्बन्धमात्रेणैवेयमूग्याख्याता । अत्रे-  
श्वरान्यपदार्थविद्यात्यागात् तद्व्याख्यानं सम्यङ् नास्तीति विज्ञेयम् ।  
तथा वेदार्थयत्नकर्तृडाक्तरविलसनाख्यकृतमपि<sup>१</sup> च तादृशमेवास्ति ।  
अस्य स्वल्पविषयत्वात्, मुख्यार्थस्येश्वरस्य त्यागादस्पष्टार्थत्वाच्च २०  
विदुषामाह्लादकरमीदृशं व्याख्यानं नैव भवतीति दिक् ॥ ३ ॥

भाषार्थः—(अग्निना) अग्नि=जो विज्ञान और आनन्दस्वरूप  
है, और दया करनेवाला है । सत्य धर्म का आचरण, योगाभ्यास  
जो समाधि का करना, तथा परमेश्वर में अत्यन्त प्रीति और विज्ञान  
से जो दृढ़ विश्वास का यथावत् होना, इस प्रकार की उपासना २५

१. निघण्टु २।१०॥

२. वेदार्थयत्नकर्ता च डाक्तरविलसनाख्यश्च, वेदार्थयत्नकर्तृडाक्तरविल-  
सनाख्यौ, ताभ्यां कृतम् ॥



- से जो प्रसन्न होता है, उस अग्नि=ईश्वर की कृपादृष्टि से सत्यविद्या और सत्यधर्माचरण से युक्त जो जीव, सो (रयिम्) जो धर्म मोक्ष-विद्या और चक्रवर्त्ति राज्यादि का होना, इस धन को (अश्नवत्) प्राप्त होता है, इससे दूसरे प्रकार से नहीं। वह धन कैसा है ?
- ५ (पोषमेव दिवेदिवे) आत्मा मन शरीर और इन्द्रिय इन को नित्य पुष्टि और आनन्द करानेवाला है, तथा (यशसम्) अर्थात् दिन-दिन के प्रति सत्कीर्त्ति को बढ़ानेवाला, और जिस धन से शिष्टाचार और सब मनुष्यों का उपकार हो, तथा (वीरवत्तमम्) बुद्धि बल शरीर पराक्रम शूरता धीरज आदि गुणवाले जो हैं, वे पुत्र भाई
- १० मित्र और भृत्यादि वीरपुरुष प्राप्त हों जिस धन से, उस धन को वीरवत् कहत हैं। और जो पूर्वोक्त गुणों से अत्यन्त युक्त हो उस धन को 'वीरवत्तम' कहते हैं। इसका यह अभिप्राय है कि विना परमेश्वर की उपासना से संसार में स्थिर जो सुख और मोक्ष में जो नित्य सुख उसको कोई भी प्राप्त नहीं हो सकता ॥

- १५ सायणाचार्य ने 'अग्निमीळे' आदि मन्त्रों का अग्नि में आहुति डालनामात्र प्रयोजन लिखा है। इस अर्थ में ईश्वर और होम से भिन्न अन्य पदार्थविद्या के त्याग से वह व्याख्यान अच्छा नहीं है। तथा वेदार्थयत्न में और डाक्टर विलसन साहेब का किया व्याख्यान भी वैसा ही है। तथा सायणाचार्य के व्याख्यान से इन का व्याख्यान बहुत अल्पार्थ है। क्योंकि ये सब व्याख्यान मुख्य अर्थ जो ईश्वर उस के त्याग, और निश्चितार्थ नहीं होने से विद्वानों को प्रिय और साधारण को भी यथावत् उपकारक नहीं हो सकता ॥३॥

- अथ द्वितीयोऽर्थः—भौतिकाग्निनिमित्तेन शिल्पविद्याचिकीर्षुः पुरुषः सुवर्णरत्नादि राज्यादि च पूर्वोक्तविशेषणयुक्तं रयिं धनमश्न-  
 २५ वत् प्राप्नोतु प्राप्तुमिच्छेत् । शिल्पविद्यायामग्नेरेव मुख्यसाधन-त्वात् ॥३॥

- भाषार्थः—प्रत्यक्ष जो यह अग्नि इस के विना उत्तम कारीगरी सिद्ध नहीं हो सकती। कारीगरी के विना धन और राज्य के जो उत्तम व्यवहार तथा पदार्थ हैं, वे सब मनुष्यों को यथावत् प्राप्त  
 ३० नहीं हो सके। क्योंकि उत्तम कारीगरी के होने में अग्नि ही मुख्य साधन है। इस अग्नि से विजुली आदि पदार्थों को सिद्ध करके अनेक



विमानादि विद्या रच लेना चाहिये । इससे पृथिवी जल और आकाशमार्ग में चलने के लिये विमान आदि विद्या रचनी सब मनुष्यों को उचित है ॥३॥

अथ चतुर्थो मन्त्रः

मू०—अग्ने यं यज्ञमध्वरं विश्वतः परिभूरसि ।

५

स इद् देवेषु गच्छति ॥४॥

प०—अग्ने । यम् । यज्ञम् । अध्वरम् । विश्वतः । परिभूः । असि ॥  
सः । इत् । देवेषु । गच्छति ॥४॥

भाष्यम्—( अग्ने ) हे अनन्तशक्ते परमात्ममग्ने ! त्वं (विश्वतः) सर्वतः (परिभूरसि) व्याप्तः सन् (यं यज्ञम्) (अध्वरम्) १०  
अहिंसनीयमर्थात् सर्वथा रक्षयितव्यम् जगद्रूपम् यज्ञम्, किं वा अग्निहोत्राद्यश्वमेधपर्यन्तं यज्ञं, तथा भवत्स्तुतिप्रार्थनोपासनाख्यं च त्वमेव पालितवानसि । स एव यज्ञः परिपूर्णः सन्निष्टफलप्रापको भवति । अस्य यज्ञास्यानुष्ठातुर्जनस्य भवानेव रक्षकोऽस्ति । (सः) तस्मात् स मनुष्यः (देवेषु) विद्यादिदिव्यगुणेषु विद्वत्सु वा प्रवर्त्तमानः सन् १५  
(इत्) सुखेनैव (गच्छति) परमानन्दं प्राप्नोति, न चान्यथेति । 'इत्' अत्र निश्चयार्थोऽस्ति ॥

अयमपि मन्त्रः सायणाचार्यादिभिरन्यथा व्याख्यातः । भौतिकाग्नेर्जडत्वाद् यज्ञरक्षणं न संभवति सर्वव्यापकत्वं चातः, विश्वतः परिभूरसीत्यग्नेरीश्वरस्यैव विशेषणत्वात् । एवमेव डाक्तरविलसना- २०  
ख्यकृतं वेदार्थयत्नाख्यं च व्यख्यानमस्य मन्त्रस्य सम्यङ् नास्तीति गम्यते ॥४॥

भाषार्थः—(अग्ने) हे परमेश्वर अग्ने ! (विश्वतः परिभूरसि) सब संसार में परिपूर्ण होके (यं यज्ञमध्वरम्) रक्षा करने के योग्य यह जगत् रूप जो यज्ञ, अथवा अग्निहोत्र से लेके अश्वमेधपर्यन्त जो २५  
यज्ञ, तथा आप की स्तुति प्रार्थना और उपासना का यथावन् करना जो यज्ञ, इन तीन प्रकार के यज्ञ का रक्षण आप ही कर रहे हो । इस कारण से यज्ञ परिपूर्ण होके सुखरूप फल को सदा करता है । जो मनुष्य इस यज्ञ के अनुष्ठान करनेवाला है, उसकी भी रक्षा



करनेवाले आप ही हो। (स इद्देवेषु) सो मनुष्य विद्या-मोक्षादि दिव्यगुणों में, और श्रेष्ठ विद्वानों के संग करने में प्रवर्तमान होके सुखपूर्वक ही आनन्द को (गच्छति) प्राप्त होता है, अन्य प्रकार से नहीं ॥

- ५ इस मन्त्र को भी सायणाचार्य और डाक्टर विलसन साहेब ने तथा वेदार्थयत्नादि में अन्यथा व्याख्यान किया है। क्योंकि जड़ पदार्थ को रक्षा करने का ज्ञान ही नहीं होता, और वह सर्वत्र व्यापक भी नहीं हो सक्ता। इससे उनका व्याख्यान ठीक नहीं ॥४॥

अथ द्वितीयोऽर्थः—(अग्ने) हे परमेश्वर ! भवद्रचितगुणोऽय-

- १० मग्निः शिल्पक्रियामयं (यं यज्ञमध्वरं विश्वतः परिभूः०) सर्वतो व्याप्तवानस्ति, यः परितः सर्वेषां शिल्पविद्यासाधनानामुपरि विराजमानः सन् सर्वशिल्पविद्यायाः प्रधानसाधनं वर्तते, तमग्निं त्वं रचितवानसि। एवं तेनाग्निना निमित्तभूतेन यो मनुष्यः शिल्पविद्यां गृह्णाति (स इद्देवेषु) स एव पुरुषो दिव्येषु द्योतमानेषूत्तमेषु भोगेषु स्थिरः सन् १५ परमानन्दं (गच्छति) प्राप्नोतीत्यर्थः ॥ ४ ॥

- भाषार्थः—(अग्ने) जो कारीगरी क्रिया का मुख्य हेतु है, जिससे विमान आदि यान सिद्ध होते हैं, जिनसे मार्ग में शीघ्र गमन कर सकें, हे परमात्मन् ! उस अग्नि को अनेक गुणयुक्त आपने ही उत्पन्न किया है। इसी अग्नि के गुणों के ज्ञान से जो मनुष्य २० पदार्थविद्या को सिद्ध करता है, वही दिव्यभोगों में स्थिर होके सदैव अत्यन्त सुखी रहता है ॥ ४ ॥

अथ पञ्चमी ऋक्

मू०—अग्निर्होता कृविऋतुः सत्यश्चित्रश्रवस्तमः ।

देवो देवेभिरागमत् ॥५॥

- २५ प०—अग्निः । होता । कृविऋतुः । सत्यः । चित्रश्रवःस्तमः ॥ देवः । देवेभिः । आ । गमत् ॥५॥

भाष्यम्—(अग्निः) पूर्वोक्तविशेषणयुक्तः परमेश्वरोऽग्निः (होता) सर्वोत्तमपदार्थानां दाता, पृथिव्यादीनामादाता ग्रहीता यो धारण-



कर्त्तास्ति, (कविऋतुः) कविश्चासौ ऋतुश्च स कविऋतुः । कविः= सर्वज्ञः क्रान्तप्रज्ञः सर्वेषां जीवानां बुद्धेः क्रमिता, तदग्रे न कस्यापि बुद्धिः क्रमते सर्वेषां बुद्धेः प्रभुत्वात् । ऋतुः=सर्वजगत्कर्त्ता, (सत्यः) अस्तीति सत्, सति साधुः सत्यः=सर्वदा विनाशरहितः (चित्रश्रवस्तमः) चित्रमाश्चर्यं श्रवः श्रवणं यस्य स चित्रश्रवाः, अतिशयेन चित्रश्रवाः ५ इति चित्रश्रवस्तमः । इत्यत्रार्थे प्रमाणम्—श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः श्रणवन्तोऽपि बहवो यन्न विद्युः । आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धाश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः ॥ कठोपनि० वल्ली २ ॥ इत्यनेनाश्चर्यश्रवणत्वं परमेश्वरे एव घटते नान्यत्रेति । (देवः) स ज।दी-श्वरः सर्वजगत्प्रकाशकः (देवेभिरागमत्) दिव्यैः सर्वज्ञपरमानन्दादि- १० भिर्गुणैः सह अस्माकं हृदयेऽस्मिन्संसारे च प्रकाशमागमत् आगच्छतु । स्वसामर्थ्येन कृपया च सर्वथा प्रकाशितो भवत्विति प्रार्थ्यतेऽस्माभिः ।

कविसत्यशब्दार्थो यास्केनाप्येवं व्याख्यातः—कविः क्रान्तदर्शनो भवति कवतेर्वा प्रसुवति भद्रमित्यादि ॥ नि० अ० १२ । खं० १३ ॥ कुङ् शब्दे, कु शब्दे कवते कौति वा सर्वविद्यायुक्तं वेदशास्त्रमुपदिशति १५ स कविरिश्वरः । प्रसुवति भद्रं=भद्रैश्वर्योत्पादनदानाभ्याम् ॥ सत्यं कस्मात् सत्सु तायते, सत्प्रभवं भवतीति वा इति ॥ नि० अ० १२ । खं० १३ ॥ सत्सु गुणेषु भोगेषु पदार्थेषु वा संतानयति पालयति वा सर्वान् जनान् यः । सत्प्रभ०=सता ज्ञानेन योगेन धर्मेण वेदैर्वा प्रभवः प्रकटता यस्य च । अतः स परमेश्वर एव सत्यो भवितुमर्हति, नान्यः ॥ २०

अयमपि मन्त्रः सायणाचार्येण तथा तदनुसारिभिरध्यापकविलसनाख्यादिभिश्च न सम्यग्वर्णितः । कुतः ? अस्य मन्त्रस्यार्थो होममात्र-संबन्धेनैव वर्णितस्तस्मात् । एवमेव प्राकृतभाषाकृतामप्यर्थोऽन्यथैवास्तीति बोध्यम् ॥ ५ ॥

भाषार्थः—( अग्निः ) पूर्वोक्त विशेषणयुक्त जो परमेश्वर है, २५ (होता) जो सत्यविद्यादि शुभगुण और चक्रवर्त्ति राज्य ऐश्वर्य का देनेवाला है, तथा जो पृथिव्यादि लोकों का धारण करनेवाला है, (कविऋतुः) और जो सब का जाननेवाला है, और सब की बुद्धि का अध्यक्ष है, उसको 'कवि' कहते हैं । जिसके सामने सब की बुद्धि अल्प हो जाती है, क्योंकि वह सब की बुद्धियों का प्रभु है । ३०



- तथा ऋतुः=जो सब जगत् का करनेवाला है, (सत्यः) जिसका नाश कभी नहीं होता, (चित्रश्रवस्तमः) जिसका कथन श्रवण और स्वरूप अत्यन्त अद्भुत है, (देवो देवेभिरागमत्) उस परमेश्वर की सत्यभाव से हम लोग भक्ति करते हैं, वही जगदीश्वर एक अद्वितीय देव है। क्योंकि
- ५ प्रकाश करनेवाले जो सूर्य आदि सब लोक हैं, उनका भी प्रकाशक एक वही परमेश्वर है। और उसका प्रकाश करनेवाला दूसरा कोई नहीं, किन्तु वह तो आप से आप ही प्रकाशित है। वह परमेश्वर जो सर्वज्ञ और परमानन्दादि दिव्य उत्तम गुण हैं उनके सह वर्तमान हमारे हृदय और इस संसार में कृपा करके प्रकाश को प्राप्त हो।
- १० ऐसी प्रार्थना उसकी हम लोग करते हैं, जिससे वह अपनी कृपा करके जगत् के बीच में सर्वदा प्रकाशित हो।

- श्रवणाया०=जिस परमेश्वर को सुनने को बहुत मनुष्य प्रवृत्त होते हैं, परन्तु उन में से जो विद्वान् सत्याचरण करनेवाले हैं, वे ही परमेश्वर को सुनके प्राप्त होते हैं। और जो इस प्रकार के
- १५ नहीं हैं, वे परमेश्वर को सुनके भी प्राप्त नहीं होते। क्योंकि इस परमेश्वर के यथार्थ उपदेश करनेवाले का मिलना कठिन है। तथा ब्रह्म जाननेवाले से परमेश्वर को सुनके जाननेवाला भी कठिन है। सो जो कुशल अत्यन्त चतुर है, वही इस ब्रह्म को प्राप्त होता है। क्योंकि इसका जाननेवाला अत्यन्त अद्भुत है। और इस कुशल पुरुष
- २० के उपदेश से भी जो इस ब्रह्म को यथावत् जानता है, वह भी इस जगत् में आश्चर्यरूप ही है। इस कारण से परमेश्वर को 'चित्र-श्रवस्तम' इस मन्त्र में विशेषण दिया है।

- तथा सत्सु ता०—जो सत्य गुण सत्य भोग सत्य पदार्थ और सत्यव्यवहार हैं, इन में ही जो मनुष्य प्रवर्तमान हैं, उनको जो सुख
- २५ में विस्तृत करता है, किंवा उनका जो पालनकर्त्ता है, इससे परमेश्वर का 'सत्य' नाम है। तथा सत्प्रभवं०—जो सत्य ज्ञान सत्य योग सत्य धर्म और सत्य जो वेद हैं, इनसे ही जिसकी प्रकटता होती है, इसलिये परमेश्वर का नाम 'सत्य' है ॥

- इस मन्त्र का भी सायणाचार्यदि, अध्यापक विलसन साहेब ने
- ३० और वेदार्थयत्न में भी अच्छी रीति से व्याख्यान नहीं किया है ॥५॥



अथ द्वितीयोऽर्थः—(अग्निर्होता) अग्निर्भौतिकोऽश्वः, होता सर्व-  
शिल्पविद्यागुणधारकोऽस्ति, (कविः) शिल्पविद्यायाः क्रान्तदर्शनः  
क्रमप्रकाशकः, (ऋतुः) शिल्पविद्या क्रियते येन सोऽयं ऋतुः, (सत्यः)  
सति शिल्पविद्याव्यवहारे साधुर्यः स सत्योऽग्निः, (चित्रश्रवस्तमः)  
विद्युदादिस्थगुणानां चित्रमद्भुतं श्रवः श्रवणं यस्मिन्सः, अतिशयेन ५  
चित्रश्रवा इति चित्रश्रवस्तमः, (देवः) शिल्पविद्यादिगुणद्योतकः  
सोऽग्निः (देवेभिः) शिल्पविद्याद्योतकैर्गुणैर्दिव्यैः सह वर्त्तमानो योऽग्नि-  
रस्ति सः, हे परमेश्वर ! भवत्कृपया (आगमत्) अस्माभिर्ज्ञातो  
भवतु । येन सर्वा शिल्पविद्या वयं लभेमहि ॥ ५ ॥

भाषार्थः—(अग्निर्होता) जिस अग्नि का नाम अश्व है, और १०  
जो सब शिल्पविद्या के गुणों का धारण करनेवाला है, (कविः) कविः=जो शिल्पविद्या का प्रकाश करनेवाला, और ऋतुः=कि  
शिल्पविद्या जिससे की जाती है, (सत्यः) कारीगरी में जो साधु  
उत्तम साधन है, (चित्रश्रवस्तमः) बिजुली आदि में अत्युत्तम  
जो वेगादि गुण हैं वे जिसमें सुनते हैं, वे जिसमें अत्यन्त अद्भुत १५  
सामर्थ्य ईश्वर ने रक्खा है, (देवो देवेभिः०) जो अग्नि वेगादि  
गुणों का प्रकाश करनेवाला है, सो हमारे शिल्पविद्याव्यवहार में  
अत्यन्त उपकार करनेवाला [हे परमेश्वर !] आपकी कृपा से हो ।  
जिससे शिल्पविद्या में जो दिव्यगुण उनको हम लोग यथावत् सिद्ध  
करके अत्यन्त सुखी हों ॥ ५ ॥

२०

इति [प्रथमाष्टके] प्रथमाध्याये प्रथमो वर्गः ॥

[ अ० १, अ० १, वर्ग २ ]

अथ षष्ठो मन्त्रः

मू०---यदुङ्ग दाशुषे त्वमग्ने भद्रं करिष्यसि ।

तवेत्तत् सत्यमङ्गिरः ॥६॥

२५

प०—यत् । अङ्ग । दाशुषे । त्वम् । अग्ने । भद्रम् । करिष्यसि ॥ तव ।  
इत् । तत् । सत्यम् । अङ्गिरः ॥६॥



भाष्यम्—(यदङ्ग) हे अग्ने प्रापणीयेश्वर ! हे अङ्ग सर्व-  
मित्र ! तुभ्यं सर्वपदार्थदात्रे परमेश्वराय यो मनुष्य आत्मप्राणा-  
द्युत्तमपदार्थान् दत्तवानस्ति, तस्मै (दाशुषे) त्वय्यत्यन्तप्रेमकारिणे  
मनुष्याय (भद्रम्) भजनीयं परमानन्दस्वरूपं मोक्षाख्यं कल्याणं सुखं  
५ च (त्वमग्ने) त्वमेव (करिष्यसि) करोषि वेति निश्चयो नः ।  
(तवेत्तत्स०) हे अङ्गिरः प्राणानां रसभूतपरमेश्वर ! इदं सत्यं व्रतं  
शीलं तवैवास्ति, न कस्यचिदन्यस्येति । त्वया यद्भद्रं क्रियते, तदेव  
सत्यमविनाशिरूपमस्ति, नान्यदीदृशमिति विजानीमः ।

यास्काचार्येण 'भद्र' शब्दार्थ एवं वर्णितः—“भद्रं भगेन व्याख्यातम्  
१० भजनीयं भूतानामभिद्रवणीयं, भवद्रमयतीति वा, भाजनवद्वा इति ॥  
नि० अ० ४ । खं० ६ ॥ प्राणो वा अङ्गिराः ॥ श० कां० ६ । अ०  
१ ॥<sup>१</sup> अङ्गिरसो अङ्गानां<sup>७</sup> हि रसः । प्राणो वा अङ्गानां<sup>७</sup> रसः ॥  
श० कां० १४ । अ० ४ ॥<sup>२</sup> यजमानो वै दाश्वान् इति ॥ श० कां०  
७ । अ० ३ ॥<sup>३</sup>

१५ अयमर्थः—यत्र दुःखं लेशमात्रमपि नास्ति, यन्मुक्त्याख्यं परम-  
सुखं सत्यमस्ति, तदत्र विज्ञेयम् । परमेश्वरं यजते स यजमानो विद्या-  
दिदानशीलः स दाश्वान् । अङ्गानां पृथिव्यादीनां सारभूतोऽन्तर्यामी  
परमेश्वरः सर्वस्य प्राणभूतत्वाद्रसोऽस्तीति बोध्यम् ॥

अतः सायणाचार्येण वेदार्थयत्नकृताऽध्यापकविलसनादिभिश्चायं  
२० मन्त्रो यथावन्नेव व्याख्यात इति विज्ञायते ॥ ६ ॥

भाषार्थः—(अग्ने) हे प्राप्ति होने के योग्य ईश्वर अग्ने !  
(अङ्ग) हे अङ्ग=सब के परममित्र ! (दाशुषे) जो मनुष्य आपको  
प्राण और आत्मा आदि का समर्पण करता है, जो आप में अत्यन्त  
प्रेम करनेवाला है, (भद्रं) परमानन्दस्वरूप जो मोक्ष का सुख, सो  
२५ उस मनुष्य को आप ही देनेवाले हो । (अङ्गिरः) हे प्राणों के  
प्राण ईश्वर ! जो प्राणवत् प्रिय सुख है, सो आपकी कृपा से ही होता  
है । क्योंकि (तवेत्तत्सत्यं) वह आप का ही स्वभाव है, जो सत्य  
सुखों को ही देना, यह सामर्थ्य अन्य किसी का नहीं । जो आपका  
दिया सुख है वही एक नित्य है, इससे दूसरा कोई ऐसा सुख नहीं है ॥

३० १. शत० ६।१।२।२८॥  
२. शत० ७।३।१।२९॥

२. शत० १४।४।१।२१॥



इसको व्याख्या निरुक्त और शतपथ के भाष्य में लिखी है, सो देख लेना । इससे यह जानना कि सायणाचार्य वेदार्थयत्न तथा डाक्टर विलसन साहेब आदि के व्याख्यान में इस मन्त्र का अर्थ ठीक नहीं किया है ॥ ६ ॥

अथ सप्तमो मन्त्रः

५

मू०—उप त्वाग्ने दिवेदिवे दोषावस्तधिया वयम् ।

नमो भरन्त एमसि ॥७॥

प०—उप । त्वा । अग्ने । दिवेऽदिवे । दोषावस्तः । धिया । वयम् ॥  
नमः । भरन्तः । आ । इमसि ॥७॥

भाष्यम्—(उप त्वाग्ने०) हे अग्ने पूज्यतमेश्वर ! (दिवेदिवे) १०  
प्रतिदिनं नित्यं (धिया) बुद्ध्या (त्वा) त्वाम् वयं (उपैमसि) तव  
उप सामीप्यं आ सर्वतः इमः प्राप्नुमः । तथा (दोषावस्तः) अह्निशं  
निरन्तरम्<sup>१</sup> (भरन्तः) ज्ञानेन प्रेमभक्ति धारयन्तः सन्तो (वयं) त्वां  
(नमः) नमस्कुर्मः । यतो भवान् सद्योऽस्मान् प्राप्नुयात् । भवत्प्राप्त्या  
वयं सुखिनो नित्यं भवेम ॥

१५

अत्र मन्त्रव्याख्याने सायणाचार्याध्यापकविलसनादिभिर्भौतिका-  
ग्निमात्रस्यैव गृहीतत्वात् तद्व्याख्यानमन्यथास्ति । कुतो ? भौतिका-  
ग्नेरनायासेन होममात्रे प्राप्तत्वान्नमस्करणीयाभावाच्चेति ॥७॥

भाषार्थः—(उप त्वाग्ने०) हे अग्ने=ईश्वर ! हमको एक  
पूज्य आप ही हो । हम लोग (धिया) बुद्धि जो ज्ञान है, इससे २०  
(दिवेदिवे) सब दिन के लिये (त्वामुपैमसि) आपके सामीप्य को  
शरणगति को प्राप्त होते हैं । (दोषावस्तः) तथा दिन और रात्रि  
में, सत्य भक्तिपूर्वक आप को (वयम्) हम लोग नित्य ही (नमो  
भरन्तः) नमस्कार करते हैं । जिससे कृपा करके आप हमको शीघ्र  
प्राप्त हों । आपकी प्राप्ति से हम लोग निरन्तर सुखी हों ॥

२५

सायण डाक्टर विलसन और वेदार्थयत्नादि के कर्त्ताओं ने इस  
अर्थ को जाना भी नहीं ॥ ७ ॥

अथ द्वितीयोऽर्थः—(उप त्वाग्ने०) हे पूर्वोक्तविशेषणयुक्तेष्व-

१. स्वरानुरोधेन सम्बुद्धचन्तमिदम् । यजुर्भाष्येऽपीदं ग्रन्थकृता व्या-  
ख्यातम् । द्र०—यजुः० ३।२३॥

३०



राग्ने ! भवन्तमुपगता नमस्कुर्वन्तः कथयन्तश्च भवन्तं नित्यं प्रार्थयामः । भवत्प्रार्थनया त्वद्गच्छितस्य भौतिकाग्नेः सकाशाद् वायुवृष्टि-शुद्धिकरं यज्ञानुष्ठानं शिल्पविद्यामयं च प्राप्नुयाम । एतदर्थं निरन्तरं नमोऽस्तु ते ॥ ७ ॥

- ५ भाषार्थः— ( उप त्वाग्ने० ) हे परमेश्वर अग्ने ! हम लोग आपके शरणागत हैं । नित्य आपको नमस्कार और प्रार्थना करते हैं कि जो-जो आपने भौतिकाग्नि में गुण रक्खे हैं, उन-उन गुणों से हम लोग सुगन्धि आदि पदार्थों का होम करके वायु तथा वर्षा के जल की शुद्धि करें, तथा शिल्पविद्या को भी प्राप्त हों । इसलिये १० और मोक्षादि सुख के लिये भी आपको निरन्तर नमस्कार करते हैं ॥ ७ ॥

### अथाष्टमो मन्त्रः

मू०—राजन्तमध्वराणां गोपामृतस्य दीदिविम् ।

वर्धमानं स्वे दमे ॥८॥

- १५ प०—राजन्तम् । अध्वराणाम् । गोपाम् । कृतस्य । दीदिविम् ॥  
वर्धमानम् । स्वे । दमे ॥८॥

- भाष्यम्—एमसीत्यनुवर्तते । ( अध्वराणाम् ) अग्निष्टोमादि-यज्ञानां तत्कर्तृणां धर्मात्मनां मानवानां च ( गोपाम् ) रक्षकम्, तथा ( राजन्तम् ) सूर्यादीनां लोकानां मध्ये योगिनामात्मनश्च मध्ये धारका-  
२० न्तर्यामितया राजन्तं सदा प्रकाशमानम्, ( ऋतस्य दीदिविम् ) सत्यविद्या-मयस्य वेदचतुष्टयस्य मोक्षस्य च, दीदिविम्—सम्यक् प्रकाशकम्, तथा ( स्वे ) स्वकीये ( दमे ) परमोत्कृष्टे पदे ( वर्धमानम् ) अत्यन्त-वृद्धिमन्तम्, एवंभूतं परमेश्वरमग्निं त्वां वयं सदैवोपैमसि । भवत्परम-पदमोक्षप्राप्तये परमप्रेम्णा सर्वतः सदा भवन्तं जगदीश्वरमेवोपा-  
२५ ण्मुमः । यतोऽस्मिन्नेव जन्मनि भवत्कृपयास्माकं निश्चितो मोक्षो भवेदिति नित्यमिच्छामः ॥ ८ ॥

- भाषार्थः— ( अध्वराणां गोपाम् ) अध्वर जो अग्निष्टोम आदि यज्ञ, और इन यज्ञों के करनेवाले जो धर्मात्मा मनुष्य हैं, उनकी जो यथावत् रक्षा करनेवाला है, तथा ( राजन्तम् ) सूर्य आदि जो लोक  
३० उनके बीच में और योगियों के आत्मा के बीच में जो धारण करने-वाला और अन्तर्यामीरूप से प्रकाशमान है, तथा ( ऋतस्य दीदिविम् )



लत्यविद्यास्वरूप जो चारों वेद हैं, उनका और मोक्ष का जो प्रकाश करनेवाला है, (वर्धमानं स्वे दमे) स्वे=अपना जो दमे=परमपद है उसमें वर्धमान=सब सामर्थ्य से युक्त होके जो सदा विराजमान है, और जो मनुष्य मोक्ष को प्राप्त होते हैं, उनको अपने उस परम-पद में विज्ञान और आनन्दादि गुणों से जो सदा बढ़ानेवाला है, ५ उस परमात्मा को मोक्ष आदि सुखों की प्राप्ति के लिये (उपेमसि) हम लोग प्राप्त होते हैं। अर्थात् हे परमेश्वर ! सत्य प्रेम भक्ति से हम लोग आपको सदा प्राप्त रहें, कि आप और आपकी आज्ञा से विरुद्ध हम लोग कभी न हों। जिससे हम लोगों को आपकी प्राप्ति से मोक्ष आदि सुख इसी जन्म में प्राप्त हों ॥ ८ ॥

१०

### अथ नवमो मन्त्रः

मू०---स नः पितेव सूनवेगेनै सुपायनो भव ।

सचस्वा नः स्वस्तये ॥९॥

प०—सः । नः । पिताइव । सूनवे । अग्रे । सुऽउपायनः । भव ॥ सचस्व । नः । स्वस्तये ॥९॥

१५

भाष्यम्—(सः) यः 'अग्निमीळे पुरोहितम्' इत्यादिमन्त्रेषु पुरोहितादिविशेषणैः प्रतिपादितोऽग्निसंज्ञः परमेश्वरः, सोऽत्र गृह्यते । (अग्ने) हे परमात्मन् ! (नः) अस्मान् । (सुपायनः) स्वकृपया सुखेनैव प्राप्तस्त्वं भव । तथा हे परमेश्वराभिधाने ! (नः) (स्वस्तये) ऐहिकपारमाथिकसुखायास्मान् स्वकृपया (सचस्व) समवेतान् कुरु । २० अर्थात् तत्सुखेन सह वर्तमानानस्मान् सदा कुरु । एवं तत्सुखस्य यथावत् सिध्यर्थं सचस्व त्वं नित्यं समवेतः कृपयानुकूलो भव । कस्मै क इव ? (पितेव सूनवे) यथा स्वसंतानाय स्वप्रजायै अत्यन्तप्रेम्णानुकम्पयमानः संतानसुखाय प्रवर्तमानः पिता इव । कुतः ? भवानेवास्माकं पितास्त्यतः ।

२५

वर्गद्वयस्थैर्नवभिर्मन्त्रैरग्निहोत्राद्यश्वमेधपर्यन्तेषु वायुवृष्टिजल-शुद्धिप्रयोजनेषु यज्ञेषु युक्तिप्रमाणसिद्धानां कर्मणामनुष्ठानं कर्तुं

१. ऋ० १।१।१॥ आदिशब्दादष्टमपर्यन्तेषु मन्त्रेषु ।



योग्यमस्ति । परन्तु सूत्रब्राह्मणग्रन्थेषु यादृशो विनियोगः प्रतिपादितः, सोऽप्यत्र तदुक्तरीत्या कार्यः<sup>१</sup> ॥ ६ ॥

भाषार्थः—(सः) अग्निमीळे इत्यादि आठ न मन्त्रों में पुरोहित आदि विशेषणों से जिस परमेश्वर का कथन किया है, उसी का 'सः' शब्द से ग्रहण होता है । (अग्ने) हे परमेश्वर अग्ने ! अपनी कृपा से ही [आप] (नः) हमको प्राप्त हों । तथा (सूपायनः०) इस लोक और परलोक के सुख के लिये (नः) हमको (सचस्व) संयुक्त कर, तथा आप भी हमारे सहायकारी नित्य रहो । तथा (स्वस्तये) सद्विद्यादि शुभगुणों में मोक्ष आदि सुख के लिये हमको सदा युक्त कर । जिससे स्वस्ति=जो परम सुख सो सदा हमको प्राप्त हो । [(पितेव सूनवे)] जैसे पिता अत्यन्त प्रेम से अपने संतानों को सुख देता है, वैसे ही आप हमको पुरुषार्थ से आनन्दयुक्त करके नित्य पालन करो । क्योंकि आप ही हम लोगों के पिता हो, इससे हमको सुख देनेवाले एक आप ही हो ॥ ६ ॥

१५ इति प्रथमस्याष्टकस्य प्रथमेऽध्याये द्वितीयो वर्गः ;

प्रथमं सूक्तं [च] समाप्तम् ॥

म० १, अनु० १, सू० २]

[अ० १, अ० १, व० ३ ।

✽ सूक्तम् २ ✽

२० 'वायवा याहि' इत्यस्य नवर्चस्य सूक्तस्य मधुच्छन्दा ऋषिः । तत्र प्रथमद्वितीयतृतीयमन्त्राणां वायुदेवता, चतुर्थपञ्चमषष्ठ-मन्त्राणाम् इन्द्रवायू देवते, सप्तमाष्टमनवममन्त्राणां मित्रावरुणौ च देवते । सर्वस्य सूक्तस्य गायत्रीच्छन्दः ।

षड्जः स्वरश्च ॥

अथ प्रथमो मन्त्रः

२५ मू०—वायवा याहि दर्शतेमे सोमा अरंकृताः ।

तेषां पाहि श्रुधी हवम् ॥१॥

१. तुलना कार्या—कर्मकाण्डस्यैतरेयशतपथब्राह्मणपूर्वमीमांसाश्रौतसूत्रादिषु यथार्थे विनियोजितत्वात् । ..... तस्माद् युक्तिसिद्धो वेदादिप्रमाणानुकूलो मन्त्रार्थानुसृतस्तदुक्तोऽपि विनियोगो ग्रहीतुं योग्योऽस्ति । ऋ.भा.भू. पृष्ठ ३८२।



५०— वायो इति । आ । याहि । दर्शत । इमे । सोमाः । अरम्ऽकृताः ॥  
तेषाम् । पाहि । श्रुधि । हवम् ॥१॥

भाष्यम्—(वायो) हे वायो अनन्तबल सर्वप्राण अन्तर्यामिन् !  
(दर्शत) द्रष्टुं योग्य प्रेक्षणीयेश्वर ! कृपया अस्मद्घृद्देशं (आयाहि)  
आगच्छ, नित्यं प्रकाशको भव । (इमे सोमाः) सर्वे पदार्थाः भवतैव ५  
(अरम्कृताः) अलंकृताः भूषिताः सन्ति । (तेषां पाहि) तान् त्वमेव  
रक्ष । तथा (हवम्) स्तोत्रभागं त्वं (श्रुधी) श्रुधि शृणु, अस्मत्कृतां  
स्तुतिं सद्यो निशामय ।

वायुः परमेश्वरस्य नामास्ति । प्रथममन्त्रभाष्योक्तान्यपि प्रमाणा-  
न्यत्र वेद्यानि । अन्यच्च—‘नमो ब्रह्मणे नमस्ते वायो त्वमेव प्रत्यक्षं १०  
ब्रह्मासि’ इत्यादीन्यपि च तैत्तिरीयोपनिषदि अ० १ वल्ली १ अनु०  
१ ॥ इत्येकोऽर्थः ॥

अथ द्वितीयोऽर्थः—(वायो) अयं भौतिको वायुः (दर्शत) दर्शतः  
द्रष्टव्यः, पदार्थविद्यार्थं प्रेक्षणीयोऽस्ति । येन वायुना (इमे सोमाः)  
सोमवल्याद्या ओषधयः तद्रसाश्च (अरम्कृताः) तेनैवात्युत्तमा भवन्तीति १५  
जानीमः । कुतः ? (तेषां पाहि) तेषां पाता रक्षकः स एवास्ति ।  
यज्ञे सुगन्ध्यादिहोमेन शुद्धः सन् स एव पाति रक्षत्यतः । तथा (हवम्)  
देयं ग्राह्ययोग्यं विद्यान्वितं शब्दम् (श्रुधी) श्रुधि येन सर्वे जीवाः  
शृण्वन्ति स च श्रावयति विद्योपदेशार्थं यदाख्यानं भवति । तत्राचेतने  
चेतनवद्व्यवहारे न दोषो भवति ॥ २०

भौतिको वायुद्वितीयोऽर्थे गृह्यते । कुतः ? वायुशब्दग्रहण एतत्  
प्रयोजनं विद्याद्वयं यथा गृहीतं स्यात्, अन्यथा प्रभो वा स्पर्शवन्  
इत्येवं [वा] ब्रूयात् । यथा प्रथमसूक्ते व्यावहारिकपारमार्थिकविद्या-  
द्वयमग्निशब्दग्रहणेनैवेश्वरः प्रकाशितवान्, तथास्मिन् द्वितीये सूक्तेऽपि  
बोध्यम् । व्यवहारविद्यायामग्नेर्मुख्यकारणत्वात् प्रथमं ग्रहणं कृतम्, २५  
ततः तदनुसंगित्वाद् वायोद्वितीयसूक्ते ग्रहणं च । वायुरेवाग्नेर्वर्ध-  
कोऽस्तीत्यतो याग्नविद्या प्रथमे द्वितीये च वर्ग उक्ता, तस्या अपि वायुः  
कारणम् । वायुसहायेन विनाग्निरप्यकिञ्चित्करो भवति । स्थावर-  
जङ्गमस्य द्विविधस्य जगतो वायुर्वृद्धिरक्षकरोऽस्ति, अतएव रक्षकः ।

१. पत्वं विनाश्यं प्रयोग ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकायामपि प्रयुज्यते । ३०

६०—पृष्ठ ७७॥



तथा श्रवणकथनादिचेष्टामयस्य व्यवहारस्य वायुरेव मुख्यं कारण-  
मस्ति । तस्माद्वायुगुणोपदेश ईश्वरेण कृतोऽस्ति ॥ १ ॥

अत्रोभयार्थे प्रमाणानि—व्यत्ययो बहुलम् । अष्टाध्याय्याम् । अ० ३  
पा० १ । 'अस्य सूत्रस्योपरि भाष्ये कारिकास्ति—

५ सुप्तिङुपग्रहलिङ्गनराणां कालहलच्स्वरकर्तृयडां च ।  
व्यत्ययमिच्छति शास्त्रकृद्देषां सोऽपि च सिध्यति बाहुलकेनेति ॥ १ ॥

'प्रातिपदिकनिर्देशाश्चार्थतन्त्रा भवन्ति । न कांचित्प्राधान्येन  
विभक्तिमाश्रयन्ति । यां यां विभक्तिमाश्रयितुं बुद्धिरुपजायते, सा सा  
आश्रयितव्या । 'स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ' । अ० १, पा० १, सू० ५५  
१० इत्यस्य सूत्रस्योपरि भाष्यवचनम् ॥

'अर्थगत्यर्थशब्दप्रयोगः' । 'न वेति विभाषा' इत्यस्य सूत्रस्यो-  
परि भाष्यसूत्रम् । 'अर्थवशाद्विभक्तोर्विपरिणामः' इति भाष्योक्ता  
परिभाषेयम् । अर्थेषां संक्षेपतोऽर्थः । वैदिकशब्दनिर्देशे ॥

विशेष द्रष्टव्य—लाजरस कम्पनी काशी से सं० १९३३ वि० में  
१५ जो प्रथम नमूने का १४ पृष्ठों का अङ्क छपा था, उस में द्वितीय सूक्त  
के प्रथम मन्त्र के भाष्य का इतना ही अंश छपा था । शेष अंश दूसरे  
अङ्क में जाना था, परन्तु ऋग्वेदभाष्य का छपना आरम्भ होने पर  
उस में परिवर्तन कर देने से अगले भाष्य का उक्त स्वरूप नहीं छप  
सका ।

२० वैदिक यन्त्रालय अजमेर से प्रस्तुत नमूने के अङ्क के जो द्वितीय  
तृतीय संस्करण छपे हैं, उनमें प्रथम सूक्त तक का भाष्य ही छापा  
गया है । द्वितीय सूक्त के प्रथम मन्त्र का अंश अधूरा होने से छोड़  
दिया गया । सं० २०२७ वि० में वै० य० अजमेर से ऋग्वेदभाष्य  
के नमूने की जो चतुर्थावृत्ति छपी है, उसमें प्रथम सूक्त का अर्थ  
२५ तो पूर्वमुद्रित ही है, परन्तु सूक्त २ तथा सूक्त ३ के चतुर्थ मन्त्र  
तक का जो भाष्य छापा गया है, वह उस हस्तलेख के अनुसार नहीं है,  
जिसके अनुसार सं० १९३३ वि० के नमूने के अङ्क में द्वितीय सूक्त  
के प्रथम मन्त्र का अधूरा अंश छपा है । यह बात दोनों की तुलना से  
स्पष्ट हो जाती है । अतः हमने उसे नहीं छापा । —सम्पादक

३० १. अष्टा ३।१।८५॥

२. अष्टा० १।१।४३॥

३. अत्र टिप्पणी ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकायाम् ३९८तमे पृष्ठ उक्ता, सा  
द्रष्टव्या ।

४. महाभाष्य अ० १।३।१॥



# परिशिष्ट

[१]

वेदभाष्य की उत्तमता का बोधक विज्ञापनपत्र

ओम् नमः सर्वशक्तिमते जगदीश्वराय

विज्ञापनपत्रमिदम्

श्रीमद्भयानन्दसरस्वतीस्वामीकृतम्

वेदभाष्य-प्रचारार्थं विज्ञेयम् ।

५

इदं वेदभाष्यं संस्कृतार्थभाषाभ्यां भूषितं क्रियते—

कालरामाङ्कचन्द्रेऽब्दे भाद्रमासे सिते दले ।

प्रतिपद्यादित्यवारे भाष्यारम्भः कृतो मया ॥ १ ॥'

१०

तदिदमिदानीं<sup>१</sup> पर्यन्तं दशसहस्रश्लोकप्रमितं तु सिद्धं जातम् । तच्चेदं प्रत्यहमग्रेऽग्रे न्यूनान्यूनं पञ्चाशच्छ्लोकप्रमितं नवीनं रच्यते, एवमधिकादधिकं शतश्लोकप्रमाणं च । तच्च वाराणस्यां लाजरस-कंपन्याख्यस्य यन्त्रालये प्रतिमासं मासिकपुस्तकवद्यन्त्रितं कार्यते । मासिकस्य मूल्यमेतावत् ।—<sup>२</sup>, इदं द्वादशमासानां मिलित्वैतावद्भवति ३॥॥) । इदं राजमार्गवेतनदानेन सहैतावन्मात्रं ४॥॥) वार्षिकं जायते । अस्य वेदभाष्यस्य ग्रहणेच्छा यस्य भवेत्, स लाजरकंपन्या-ख्यस्य वा भाष्यकर्तुः श्रीमद्भयानन्दसरस्वतीस्वामिनः समीपं वार्षिकं धनं ४॥॥) प्रेषयेत् । तस्य समीपमेकवर्षपर्यन्तं प्रतिमासं मासिकपुस्तकं पोष्टाख्यराजमार्गप्रबन्धेनावश्यमागमिष्यति । पुनर्ग्राहकैर्वार्षिकं देयं २०

१. २० अगस्त सन् १८७६ को वेदभाष्य बनना आरम्भ हुआ । यह काल ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के प्रारम्भ करने का है । भूमिका के लेखन का प्रारम्भ अयोध्या के सरयूबाग में चौधरी गुरुचरणलाल के मन्दिर में हुआ था । देखो—देवेन्द्रनाथ संकलित जी०च० पृष्ठ ३७५, तथा ऋ० द० के ग्रन्थों का इतिहास पृष्ठ ६६ । यु०मी०

२५

२. अर्थात् मार्गशीर्ष शुक्ला १५ सं० १६३३ (१ दिसम्बर १८७६) देखो—भाषानुवाद पृष्ठ ३५ । सम्भवतः बरेली में लिखा गया । यु० मी० ।

३. पांच आने अर्थात् आजकल ३१ पैसे ।

४. राजमार्गवेतन=डाक व्यय ।



चैवमेव पुनःपुनर्ज्ञेयम् । योऽस्य वार्षिकं मूल्यं प्रेषयिष्यति, तन्नामलेख-  
पूर्वकं मासिकपुस्तकपृष्ठोपरि<sup>१</sup> यन्त्रयित्वैकवारं प्रसिद्धं भविष्यति ।  
इदमेव तस्य विश्वासार्थं भविष्यति मद्धनं तेन भाष्यकर्त्ता वा यन्त्रण-  
कर्त्ता प्राप्तं चेति । अत्रान्यथा यः कुर्यात्तस्य समाधाता स एव  
५ भविष्यति । सर्वशक्तिमदीश्वरानुग्रहेणात्र व्यत्ययः<sup>२</sup> कदाचिन्नैव भविष्य-  
तीति विज्ञाप्यतेऽस्माभिः । एकरौप्यमुद्रया श्लोकसहस्रद्वयप्रमितं  
न्यूनान्यूनमुत्तमपत्राक्षरललितदर्शनं हृद्यं पुस्तकं ग्राहकाः प्राप्स्यन्त्येव ।

इदं वेदभाष्यमपूर्वं भवति । कुतः ? (१) महाविदुषामार्याणां  
पूर्वजानां यथाध्वेदार्थविदामाप्तानामात्मकामानां धर्मात्मनां सर्व-  
१० लोकोपकारबुद्धीनां श्रोत्रियाणां ब्रह्मनिष्ठानां परमयोगिनां ब्रह्मा-  
दिव्यासपर्यन्तानां मुन्यृषीणाम्, एषां कृतीनां सनातनानां वेदाङ्गाना-  
नाम् एतरेयशतपथसामगोपथब्राह्मणपूर्वमीमांसादिशास्त्रोपवेदोपनि-  
षच्छाखान्तरमूलवेदादिसत्यशास्त्राणां वचनप्रमाणसंग्रहलेखयोजनेन  
प्रत्यक्षादिप्रमाणयुक्त्या च सहैव रच्यते ह्यतः । (२) वेदानां यः  
१५ सत्यार्थः सोऽनेन भाष्येण सर्वेषां सज्जनानां मनुष्याणामात्मसु सम्यक्  
प्रकाशीभविष्यति । पुनरनर्थव्याख्यानानि यानि वेदानामुपरि वर्तन्ते,  
तन्निवृत्तिरनेन च तत्प्रयुक्तभ्रमजालोऽपि लयं गमिष्यत्यवश्यमतश्च ।  
(३) ततोऽसत्यव्यवहारत्यागात् सत्याचारग्रहणप्रवृत्तिभ्यां मनुष्याणां  
महान् सुखलाभो निश्चितो भविष्यति, वेदेश्वरयोः सत्यार्थसाम्राज्य-  
२० प्रकाशश्चातः । (४) सत्यधर्मार्थिकाममोक्षाणां यथावत् सिद्धेऽचेत्या-  
दयोऽस्य भाष्यस्यापूर्वत्वे हेतवो विज्ञेयाः । एतदर्थं सत्यविद्याप्रियै-  
र्विद्वद्भिः सत्यार्थजिज्ञासुभिर्मनुष्योपकारसत्यविद्योन्नतिं चिकीर्षुभी  
राजादिनृवर्त्यैरस्मिन्महति सर्वोपकारके कार्ये मासिकपुस्तकग्रहणे-  
नान्यप्रकारेण च सर्वैर्यथाशक्त्या सहायः कार्यं इति विज्ञाप्यते ॥

२५ भाषार्थः—सो यह दयानन्द सरस्वती स्वामी जी ने प्रसिद्ध किया  
है । इसका यह प्रयोजन है कि चारों वेदों का भाष्य करने का  
आरम्भ मैंने किया है । सो सब सज्जन लोगों को विदित हो कि  
यह भाष्य संस्कृत और आर्यभाषा, जो कि काशी प्रयाग आदि  
मध्य देश की है, इन दोनों भाषाओं में बनाया जाता है । इस में

३० १. पुस्तकपृष्ठ=टाइटल पेज ।

२. व्यत्यय=उलट फेर ।



संस्कृत भाषा भी सुगम रीति को लिखी जाती है, और वैसे अर्थ-भाषा भी सुगम लिखी जाती है। संस्कृत ऐसा सरल है कि जिसको साधारण संस्कृत को पढ़नेवाला भी वेदों का अर्थ समझ ले, तथा भाषा का पढ़नेवाला भी सहज में समझ लेगा। संवत् १९३३ भाद्रमास के शुक्लपक्ष की प्रतिपदा<sup>१</sup> के दिन इस भाष्य का आरम्भ किया है। सो संवत् १९३३ मार्गशिर शुक्ल पौर्णमासी<sup>२</sup> पर्यन्त दश हजार श्लोकों<sup>३</sup> के प्रमाण भाष्य बन गया है। और कम से कम ५० श्लोक और अधिक से अधिक १०० श्लोक पर्यन्त प्रतिदिन भाष्य को रचते जाते हैं। इस भाष्य को काशी जी में लाजरस कम्पनी के छापेखाने में छपवाते हैं। सो छापने का प्रबन्ध इस प्रकार से किया है कि मासिक पुस्तक को नाई छपता जायगा। इसका मासिक जो एक अंक होता है, उसका मूल्य १-) पांच आना है। सो बारह महिनों का मिलके ३।।।) पौने चार रुपये होते हैं। सो डाक का खर्च महिने महिने में -) एक आने का टिकट लगेगा, सो मिलके एक वर्ष का ४।।) साढ़े चार रुपये होते हैं। सो जिस किसी को इस पुस्तक के लेने की इच्छा हो, वह लाजरस कम्पनी के पास एक वर्ष का मूल्य भेज दे, अथवा स्वामी दयानन्द सरस्वती जी के पास भेज दे। उसके पास महिने महिने में एक वर्ष पर्यन्त पोस्ट मार्ग से अर्थात् सरकारी डाक के प्रबन्ध से मासिक पुस्तक अवश्य पहुंचेगा। पुनः एक वर्ष के पीछे फिर भी दूसरे वर्ष का इसी प्रकार जमा करना होगा। और ग्राहकों के पास इसी प्रकार से मास-मास में पुस्तक पहुंचा करेगा। सो जिस महिने में जो ग्राहक मूल्य भेजेगा, उस महिने के अथवा दूसरे महिने के अंक में उसका नामलेखपूर्वक उस धन की पहुंच मासिक पुस्तक के पृष्ठ के ऊपर छपाके उस लेख द्वारा सर्वत्र प्रसिद्ध कर दिया जायगा। सो एक वर्ष में एक का नाम एक बार ही छपेगा। पुनः दूसरे वर्ष में भी इसी प्रकार से होगा। उस लेख को ग्राहक लोग अपने पास रख लें, और यह निश्चय जान लें कि मेरा धन उस के पास पहुंच गया। और जो पुस्तक देनेवाला

१. २० अगस्त १८७६। यु० मी०

२. प्रथम दिसम्बर १८७६। यु० मी०

३. ग्रन्थ परिमाण बताने के लिये ३२ अक्षर का एक श्लोक मानकर गिनती करने की प्राचीन परिपाटी है। यु० मी०



व ग्राहक इस में अन्यथा करेगा, वह इस बात को पूरी करनेवाला होगा। सो हम लोग निश्चय जानते हैं कि जो सर्वशक्तिमान् परमात्मा है, उसकी कृपा से इस काम में विपरीतता कभी न होगी। सो ग्राहक लोगों को एक रुपये में २००० दो हजार श्लोक मिलेंगे।<sup>१</sup> सो इसमें ५ कागज और अक्षर अच्छे रहेंगे, जो बांचनेवाले और देखनेवाले जिसको देख और बांचके प्रसन्न हों।

सो यह वेदभाष्य अपूर्व होता है, अर्थात् अत्यन्त उत्तम बनता है। क्यों कि इसमें अप्रमाण वा कपोलकल्पित लेख नहीं होता।  
 'जे बड़े विद्वान् आर्यावर्तवासी प्रथम हो गये हैं, जे वेदों  
 १० के अर्थ को यथावत् जानते थे, जे कि सत्यवादी जितेन्द्रिय और धर्मात्मा थे, तथा जिनकी बुद्धि में सब लोगों का उपकार करना ही रहता था, जे कि वेदों में परम विद्वान् थे, और जिनकी निष्ठा एक अद्वितीय ब्रह्म में थी, जे ब्रह्मा से लेके व्यास जी पर्यन्त मुनि जे कि मननशील थे, और ऋषि जे कि वेदमन्त्रों के अर्थों को यथावत्  
 १५ जाननेवाले थे। उनके किये सनातन जे ग्रन्थ हैं— शिक्षा कल्प व्याकरण निघण्टु निरुक्त छन्द और ज्योतिष, ए<sup>१</sup> वेदों के छः अङ्ग कहाते हैं। तथा ऐतरेय शतपथ साम और गोपथ, ए चारों वेदों के चार ब्राह्मण कहाते हैं। तथा पूर्वमीमांसा वैशेषिक न्याय योग सांख्य और वेदान्त ए छः शास्त्र कहात हैं। और चार उपवेद हैं—आयुर्वेद जो वैद्यक  
 २० शास्त्र है, धनुर्वेद जो राजविद्या है, गान्धर्ववेद जो गानशास्त्र है, और अथर्ववेद जो शिल्पशास्त्र है, ए चार उपवेद कहाते हैं। तथा केनकठ प्रश्न मुण्डक माण्डूक्य तैत्तिरीय ऐतरेय [छान्दोग्य बृहदारण्यक] और मैत्रेयी ए दश उपनिषद् कहाती हैं। ११२७ ग्यारहसौ सत्ताईस वेदों की शाखा, जे कि वेदों के ऊपर मुनि और ऋषियों के किये व्याख्यान  
 २५ हैं, इनमें से जितनी शाखा मिलती हैं, और मूल वेद जे ऋक् यजुः साम और अथर्ववेद, इनकी जे चार मन्त्रसंहिता हैं, ए ईश्वरकृत

१. अर्थात् दो हजार श्लोक परिमाणवाला पुस्तक मिलेगा।

२. वर्तमान भाषानुसार 'जे' के स्थान पर 'जो' होगा।

३. ए=ये।

३० ४. ग्रन्थकार ईश उपनिषद् को यजुर्वेदान्तर्गत मानते हैं (द्र०—ऋ० द० का पत्र और विज्ञापन पृष्ठ १८६, सं० २), अतः उसे यहां नहीं गिना है। कहीं-कहीं मैत्रेयो के स्थान पर स्वैताश्चतर की गणना की है।



सनातन चार वेद कहाते हैं। शिक्षा से लेके शाखान्तर-पर्यन्त वेद के जे सत्यार्थयुक्त व्याख्यान हैं, जे कि ब्रह्मा से लेके व्यास जी पर्यन्त ऋषि और मुनियों के किये हैं, उन सनातन सत्य ग्रन्थों के वचनों का लेख प्रमाण मे सहित और मूल वेदों के भी प्रमाणों से सहित यह वेदभाष्य रचा जाता है। और प्रत्यक्षादि प्रमाणों की योजना भी इस में लिखी जाती है। इम कारण से यह वेदभाष्य अपूर्व होता है। और इस वेद-भाष्य से वेदोंका जो सत्य अर्थ वह सब सज्जन लोगों के आत्माओं में यथावत् प्रकाशित होगा। तथा वेदों के ऊपर लोगों ने मिथ्या जे व्याख्यान किये हैं, उनकी निवृत्ति भी इस भाष्य से अवश्य होगी। और जो उन व्याख्यानो के देखने से मिथ्या जाल जगत् में प्रवर्तमान है, सो भी इस भाष्य से नष्ट अवश्य हो जायगा। इस कारण से भी यह वेदभाष्य अपूर्व होता है। क्यों कि जब वेदों का सत्य अर्थ सब को विदित होगा, तब मनुष्य लोग असत्य व्यवहार को छोड़के सत्य का ग्रहण और सत्य में ही प्रवृत्त होंगे। इस के होने से मनुष्यों को सुख की प्राप्ति अवश्य होगी। तथा वेद का सत्य अर्थ रूप जो राज्य और परमेश्वर का यथावत् प्रकाशरूप जो अखण्ड राज्य है, सो भी इस भाष्य के होने से जगत् में यथावत् प्रकाशित होगा। इस निमित्त से भी यह वेदभाष्य परमोत्तम होता है। और जब इस वेदभाष्य को यथावत् विचारके उसके कहे प्रमाण से जे मनुष्य आचरण करेंगे, उन को सत्य धर्म सत्य अर्थ सत्य काम और नित्य सुखरूप जो मोक्ष इन चारों पदार्थों की सिद्धि यथावत् प्राप्त होगी। इस में कुछ संदेह नहीं। बहुत लिखना बुद्धिमानों के लिये अवश्य नहीं। किन्तु इस वेदभाष्य को जब देखेंगे, तब उनको ए सब बात देखने में आवेंहींगी।

और वेदों का भूमिका जो बनाई है, उसको भी देखने से सज्जन लोगों के हृदयकमल अत्यन्त आनन्दित होंगे। जिस से इन की प्रवृत्ति यथावत् हो, इसलिये यह विज्ञापन किया जाता है कि जे सत्य विद्या के प्रमी विद्वान् हैं, तथा जे सत्य अर्थ के जानने की इच्छा करनेवाले हैं, तथा सब मनुष्यों को सत्य विद्या से सुख प्राप्त हो, और सब मनुष्यों की बढ़ती हो। इस उपकार की इच्छा करने-वाले जे मनुष्य हैं, उन राजाओं से लेके जो भृत्यपर्यन्त, और जे ऐश्वर्ययुक्त और उत्तम मनुष्य हैं, जो सब मनुष्यों का उपकार करनेवाला वेदभाष्य का होना यह बड़ा कृत्य है। इस में जितना



जिसका सामर्थ्य हो उतना सहाय करना सब को उचित है। सो सहाय दो प्रकार से होगा—एक तो मासिक पुस्तकों के ग्रहण करने से, दूसरा इस के बनने और छपवाने में धन और पण्डितों के रखने में सहाय देने से होगा। यही सज्जनों से विज्ञापन है कि अत्यन्त ५ प्रीति से इस कार्य में दो प्रकार का सहाय सदा करें ॥

भाष्यस्यापूर्वत्वे दृष्टान्ताः संक्षेपतोऽन्येऽपि लिख्यन्ते—तत्र सत्येष्वार्षेषु सनातनग्रन्थेषु रूपकाद्यलङ्कारेण सत्यविद्याप्रकाशिकाः प्रमाणयुक्तिसिद्धा अनुत्तमा बह्व्यः कथा लिखिताः सन्ति । तासां मध्याह्नदशनवत्काश्चित्कथा अत्र वेदभाष्यभूमिकायां मयोल्लिखिताः, १० यासामज्ञानादाधुनिकपुराणग्रन्थेषु भ्रान्त्या मनुष्यैस्ता अन्यथैव लिखिता उपदिश्यन्ते श्रूयन्ते च । तत्परीक्षार्थं संक्षेपतोऽत्र विज्ञापनपत्रेऽपि काश्चिल्लिख्यन्ते —

तद्यथा—प्रजापतिर्वै स्वां दुहितरमभ्यध्यायद्विवमित्यन्य आहुरूपसमित्यन्ये । तामृश्यो भूत्वा रोहितं भूतामभ्यैतस्य यद्वेतसः १५ प्रथममुददीप्यत तदसावादित्योऽभवत् । एतरेयब्रा० पंचिका ३, अध्याय ३ ॥ प्रजापतिः सविता । शतप० काण्डे १०, अध्याय २ ॥ तत्र पिता दुहितुर्गर्भं दधाति पर्जन्यः पृथिव्याः । निरु० अध्याय ४, खं० २१ । द्यौर्मै पिता जनिता नाभिरत्र बन्धुर्मै माता पृथिवी महीयम् ॥ उत्तानयोश्चम्बोर्योनिरःतरत्रा पिता दुहितुर्गर्भमाधात् । २० निरु० अध्याय ४, खण्ड २१ ॥ शासद्वह्निर्दुहितुर्नृत्यङ्गाद्विद्वां ऋतस्य दीर्घातिं सपयन् । पिता यत्र दुहितुः सेकमृज्जन्तसं शम्भ्येन मनसा दधन्वे ॥ ऋग्मंत्रद्वयमिदम् ॥ ज्योतिर्भाग आदित्यः । निरु० अ० १२, खंड १ ॥

भाषार्थः—इस भाष्य के अपूर्व होने में तीन कथा दृष्टान्त के २५ के लिये इस विज्ञापनपत्र में संक्षेप से लिखते हैं। उनमें से एक यह कथा है कि जिसको श्रीमद्भागवतादि नवीन ग्रन्थों में बहुत विपरीत करके लिखी है। जिस कथा को वेदविरोधी मत वाले नहीं जानके लोगों को मिथ्या बहकाके अपने चले कर लेते हैं। और जो वेदमत वाले हैं, वे भी सत्य कथाओं के नहीं जानने से ३० और मिथ्या कथाओं को सुनके भ्रान्त होके उनके चले हो जाते हैं। सो देखो चित्त देके कि कितना बड़ा भ्रम मनुष्यों को अज्ञान से से हुआ है ।



(प्रजापतिर्वै०) प्रजापति नाम है सूर्य का, क्योंकि सब प्रजा का जो पालन होना उसका मुख्य हेतु सूर्य ही है। उसकी दो कन्या हैं। एक द्यौः अर्थात् प्रकाश और दूसरी उषा, जो चार घड़ी रात्रि रहने से प्रातः काल पूर्व दिशा में किंचित् प्रकाश होता है क्योंकि जो जिससे उत्पन्न होता है वह उसका सन्तान कहाता है। सो इन दोनों का पिता की नाई सूर्य है। और उन दोनों को सूर्य की कन्या की नाई समझना। उषा जो सूर्य की कन्या उसमें पिता जो सूर्य उसने अपना किरणरूप वीर्य को डाला। उन दोनों के समागम से यह जो आदित्य अर्थात् प्रकाशमय दिन है, यह एक पुत्र उत्पन्न होता है ॥

तथा इसी प्रकार से पर्जन्य जी मेघ है सो पिता स्थानी है, १० और पृथ्वी उसकी कन्या स्थानी है, क्योंकि जल से पृथिवी की उत्पत्ति होती है। जिससे ए दोनों पिता पुत्रवत् हैं। सो अपनी कन्या जो पृथिवी उसमें मेघ जो पिता वह वृष्टिद्वारा जलरूप वीर्य को डालता है। इन दोनों के परस्पर समागम से गर्भ धारण होने से अन्न ओषधि और वृक्षादि अनेक पुत्र उत्पन्न १५ होते हैं। यह पिता और दुहिता की रूपकालंकार कथा से उत्तम विद्या का अत्यन्त प्रकाश होता है। इस उत्तम कथा को बिगाड़के अज्ञानी लोगों ने बुरी प्रकार से लिखी है ॥

दूसरी यह कथा है जिसको बहुत प्रकार से लोगों ने पुराणों में बिगाड़के लिखी है— २०

इन्द्रागच्छेति । गौरावस्कन्दिन्नहल्यायै जारेति । तद्यान्येवास्य चरणानि तैरेवैनमेतत्प्रमुनोदयिषति ॥ रेतः सोमः । शतपथ० कांड ३, अ० ३ ॥ रात्रिरादित्यस्यादित्योदयेऽन्तर्धायते । नि० अ० १२, खं० ११ ॥ सूर्यरश्मिश्चन्द्रमा गन्धर्व इत्यपि निगमो भवति । सोऽपि गौरुच्यते । नि० अ० २, खं० ६ ॥ जार आ-भगम् जार इव २५ भगमादित्योऽत्र जार उच्यते । रात्रेर्जरयिता । नि० अ० ३, खं० १६ ॥ एष एवेन्द्रो य एष तपति । श० कां० १, अ० ६ ॥

भाषार्थः—इसको इस प्रकार से बिगाड़ी है—इन्द्र जो देव लोक का राजा था, वह गोतम ऋषि की अहल्या जो स्त्री उससे व्यभिचार करता था। इस बात को गोतम ने जब जाना, तब इन्द्र को शाप ३० दिया कि तेरे शरीर में हजार भग हों। और अहल्या को शाप दिया



किं तू शिला हो जा । इस शाप का मोक्षण राम के पांव की धूल के स्पर्श से होगा । सो इसी कथा को विद्याहीन लोगों ने इस प्रकार से बिगाड़ी है । यह ऐसी कथा है कि - इन्द्र नाम है सूर्य का, तथा चन्द्रमा का नाम गोतम है, और रात्रि का नाम अहल्या है । क्योंकि ५ अहर् नाम है दिन का, सो लय होता है जिसमें, इस कारण से रात्रि का नाम अहल्या है । जैसे स्त्री और पुरुष का जोड़ा होता है, इसी प्रकार रात्रि और चन्द्रमा का रूपकालंकार किया है । इस रात्रि का जार' सूर्य है । क्योंकि जिस देश में रात्रि है, उसमें सूर्य का किरण रूप जो वीर्य है, वहां उसके गिरने से रात्रि अन्तर्धान अर्थात् निवृत्त १० हो जाती है । इससे सूर्य का नाम अहल्या का जार है । रात्रि की उमर को सूर्य ही बिगाड़ता है, अर्थात् उसकी हानि कर्त्ता है, इससे सूर्य रात्रि का जार कहाता है । और चन्द्रमा अपनी स्त्री जो रात्रि है, उससे सब संसार को आनन्द करता है । इस अत्यन्त श्रेष्ठ कथा को लोगों ने बिगाड़के अन्यथा ही लिखी है ॥

१५ तथा तीसरी यह कथा है, जो इन्द्र और वृत्रामुर के युद्ध की कहानी है—

तद्यथा—अहन्नहि पर्वते शिश्रियाणं त्वष्टास्यै वज्रं स्वयं ततक्ष ।  
वाश्वा इव धेनवः स्थन्दमाना अजः समुद्रमवजग्मुरापः ॥ ऋग्वेद  
अष्टक १, अध्याय २, वर्ग ३७ इत्यादय एतद्विषया वेदेषु बहवो  
२० मन्त्राः सन्ति । अद्रिरित्यादिषु मेघस्य त्रिशन्नामसु—वराहः । अहिः ।  
वृत्रः । असुर इति चत्वारि नामानि यास्कमुनिकृतनिघण्टोः प्रथमाध्याये  
लिखितानि । इन्द्रशत्रुरिन्द्रोऽस्य शमयिता वा शातयिता वा तस्मा-  
दिन्द्रशत्रुः, तत्को वृत्रो मेघ इति नैरुक्तास्त्वाष्टोऽसुर इत्यैतिहासिकाः ।  
वृत्रं जघ्नवानपववार तद्वृत्रो वृणोतेर्वा वर्त्ततेर्वा वर्धतेर्वा ।  
२५ यद्वृणोत्तद् वृत्रस्य वृत्रत्वमिति विज्ञायते । निरुक्त अध्याय २, खंड  
१६, १७ ॥

वृत्रो ह वा इदं ॐ सर्वं वृत्वा शिष्ये । यदिदमन्तरेण द्यावा-  
पृथिवी स यदिदं ॐ सर्वं वृत्वा शिष्ये तस्माद् वृत्रो नाम ॥४॥ तमिन्द्रो  
जघान स हतः पूतिः सर्वत एवापोभिः प्रसुप्ताव सर्वत इव ह्ययं ॐ  
३० समुद्रस्तस्माद् हैका आपो बीभत्सां चक्रिरे ता उपयुं पर्यति पुप्त्रुचिरे  
त इमे दर्भास्ता हैता अनापूयिता आपोस्ति वा इतरासु स ॐ सृष्टमिव

१. रात्रि का नाश करने वाला (जृष् वयोहानी) । यु० मी०



यदेना वृत्रः पुनरभिप्रास्यवत्तदेवासामेताभ्यां पवित्राभ्यामपहन्त्यथ  
मेध्याभिरेवाद्भिः प्रोक्षति तस्माद्वा एताभ्यामुत्पुनाति । शतपथ  
कांड १, अ० १ ॥ तिस्र एव देवता इति नेरुक्ताः । अग्निः पृथिवी-  
स्थानो वायुर्वेन्द्रो वान्तरिक्षस्थानः सूर्यो द्युस्थान इति । निरु० अ०  
७, खण्ड ५ ॥

५

भाषार्थः—(अहन्नहि०) यह ऋग्वेद का मन्त्र है, इत्यादि । इस  
विद्या के निरूपण करनेवाले और भी बहुत मन्त्र हैं । इन्द्र नाम है  
सूर्य का, सो निघण्टु में लिखे हैं । इन दोनों का रूपकालङ्कार से युद्ध  
की नाई वर्णन किया है । जब त्वष्टा जो सूर्य है, वह मेघ और सब  
चीजों का काटनेवाला है, वह जब मेघ को अपनी किरणरूप वज्र १०  
से काटता है, तब वह वृत्रासुर जो मेघ है, सो पर्वत और भूमि का  
आश्रय लेना है । पुनः उसका शरीररूप जो जल है सो समुद्र को  
प्राप्त होता है । पुनरपि सूर्य की किरण से उसके शरीर का खण्ड  
खण्ड होता है । सो वायु के साथ आकाश में ऊपर चढ़ता है । फिर  
भी बादलरूप सेना को जोड़के सूर्य की सेना जो किरणरूप है १५  
उसको रोकता है । पुनः सूर्य भी अपनी किरणरूप सेना से उसका  
हनन कर्त्ता है । पुनः वह मेघ पृथिवी में गिर पड़ता है । पुनरपि  
उठके इसी प्रकार युद्ध कर्त्ता है । (इन्द्रशत्रुः) इन्द्र शत्रु है जिसका  
ऐसा जो मेघ उसका छेदन करनेवाला सूर्य ही है । इससे सूर्य का  
नाम त्वष्टा है । उसके पुत्र की नाई मेघ है, क्योंकि मेघ की उत्पत्ति २०  
सूर्य के निमित्त से ही होती है । इससे मेघ का नाम त्वष्टा है, और  
असुर भी नाम है । वृत्र नाम मेघ का इस कारण से है कि सूर्य के  
प्रकाश को आवरण कर्त्ता है, और सूर्य से ही वृद्धि को प्राप्त होता  
है, यही मेघ में वृत्रपना है । सो जब आकाश में वृद्धि को प्राप्त  
होता है, तब सब को आवरण करके आकाश और पृथिवी के बीच २५  
में सोता है । पुनः जब सूर्य इस मेघ को हनन करके पृथिवी में गिरा  
देता है, तब पृथिवी को आच्छादित करके पृथिवी में सोता है ।  
पुनरपि उसी प्रकार ऊपर को चढ़ता है । इसी प्रकार से सूर्य और  
मेघ के रूपकालङ्कार से परमोत्तम जो मेघविद्या है, उसका इस  
कथा से परमेश्वर ने, इसके अनुसार मुनि और ऋषियों ने भी उपदेश ३०  
किया है । इसको यथावत् नहीं जानके बालकों की नाई विपरीत  
कथा मनुष्यों ने रच ली हैं ॥



ऐसी अनेक कथा रूपकादि अलङ्कारों से वेदादि सत्य शास्त्रों में लिखी हैं। उनमें से कई एक कथा वेद की भूमिका में सज्जनों को जानने के लिये लिखी है। तथा वेदों की उत्पत्ति किस प्रकार से है, वेद नित्य हैं वा अनित्य हैं, वेद ईश्वर ने बनाये हैं वा अन्य ने, वेदों में सब विद्या है वा नहीं, इत्यादि बहुत कथा भूमिका में लिखी हैं। जब भूमिका छपके सज्जनों के दृष्टिगोचर होगी, तब वेदशास्त्र का महत्त्व जो बड़ापन तथा सत्यपन भी सब मनुष्यों को यथावत् विदित हो जायगा। सो भूमिका के श्लोक न्यून से न्यून संस्कृत और आर्यभाषा के मिलके आठ ८ हजार हुये हैं। इसमें १० सब विषय विस्तारपूर्वक लिखे हैं। सो इसको छपवाके हम लोग प्रसिद्ध किया चाहते हैं। इसलिये सब सज्जन लोगों को यही विज्ञापन है कि अत्यन्त उत्साह से पूर्वोक्त दो प्रकार का सहाय इस उत्तम काम में यथावत् देवें ॥

‘ओं नमः सर्वशक्तिमते जगदीश्वराय’। यही परमेश्वर स्वकृपा १५ से सब का सहायक हो ॥

[२]

### श्रुति दयानन्द का पत्र

ग्रिफिथ टानी ह्यूशिकेश भगवान् दास के आक्षेपों के उत्तर में

मुझे वकील हिन्द और यूनीवर्सिटी कालिज पंजाब के (प्रका- २० शित) पत्रों से ज्ञात हुआ कि कई एक साहबों ने मन्त्रचित वेदभाष्य पर प्रतिकूल अनुमति दी है। इसलिये मैं उनकी शंकाओं का उत्तर क्रम से निवेदन करता हूँ---

प्रथम उन शंकाओं का उत्तर है, जो मिस्टर आर० ग्रिफिथ० एम० ए०, प्रिंसिपल बनारस कालिज ने की है। पांच हजार वर्ष के ३० लगभग से वेदविद्या जाती रही। महाभारत से पहले इस देश में सब विद्या ठीक ठीक प्रचरित थीं। परन्तु पीछे से पढ़ने-पढ़ाने के

१. अर्थात् नवम्बर १८७६ के मध्य तक भूमिका बत चुकी थी। इस से ज्ञात होता है कि भूमिका के बनने में लगभग पौने तीन मास लगे।



ग्रन्थ और रीति विल्कुल बदल गई। तब से अब तक वही अशुद्ध प्रणाली प्रचरित है। यद्यपि कहीं-कहीं के लोग वेदादिक सत्य ग्रन्थों को कण्ठ कर लेते हैं, परन्तु उसके शब्दार्थ को कोई भी नहीं जानता। न ऐसे कोई व्याकरणादिक ग्रन्थ अर्थसहित पढ़ाये जाते हैं, जिन से वेदों का अर्थ हो सके। आधुनिक जो महीधर आदि के बनाये हुए ५ वेदभाष्य देखने में आते हैं, वे महाभ्रष्ट और अन्धकार के बढ़ाने-वाले हैं। उनके देखनेवालों को मद्रचित भाष्य ठीक समझ में नहीं आता।

मेरा भाष्य शुद्ध वेदार्थबोधक और प्राचीन भाष्यों के ठीक अनुकूल है। वह तभी समझ में आवेगा, जब लोग प्राचीन भाष्यादिक ग्रन्थों की सहायता स्वीकार करेंगे। मैंने प्रत्येक मन्त्र का अर्थ सत्य प्रतीत होने के अर्थ बहुत प्राचीन आप्त व्याख्यानकारों का प्रमाण बहुत स्पष्ट पतेवार लिख दिया है। यदि ग्रिफिथ साहब ने प्राचीन भाष्य वा मेरे लिखे प्रमाणों और उदाहरणों को पढ़ा होता, तो कभी उनकी ऐसी विरुद्ध सम्मति न होती, जैसी कि उन्होंने हाल में दी है। उबट सायण महीधर रावण आदि के रचे हुए भाष्य प्राचीन भाष्यों से सर्वथा विपरीत हैं। केवल इन्हीं भाष्यों का उलथा अंग्रेजी में विलसन और मैक्समूलर आदि प्रोफेसरों ने किया है। इसलिये मैं उनके भाष्यों को भी शुद्ध और न्यायकारी नहीं कह सकता। इन्हीं ग्रन्थों के कारण ग्रिफिथ साहब आदि लोग भी सन्देहमार्ग में पड़े हैं, और मुझको यह कहकर दूषित करते हैं कि स्वामी जी ने अर्थ पलटकर अपने प्रयोजन के सिद्धार्थ दूसरे ही अर्थ नियत किये हैं। परन्तु उनका यह तर्क सर्वथा निर्मूल है। मैंने सर्वत्र ऐतरेय और शतपथ नामक ब्राह्मण ग्रन्थ और निरुक्त तथा पाणिनीय व्याकरणादिक सत्य ग्रन्थों का प्रमाण देकर प्रत्येक मन्त्र का सत्य-सत्य अर्थ लिखा है। यदि ग्रिफिथ साहब उसको देखते तो कभी ऐसा न लिखते। विचार करता हूँ कि उनने मेरा भाष्य विना ही देखे-भाले अपनी मनमानी अनुमति प्रकाशित कर दी है।

मैं नहीं समझ सकता हूँ कि ग्रिफिथ साहब मेरा श्रम क्या क्यों समझते हैं? जब कि मेरे भाष्य के लेनेवाले हजार से अधिक बड़े-बड़े सत्पुरुष हैं, और प्रत्यह नवीन जनों के निवेदनपत्र मेरी पुस्तक लेने के विषय में बराबर चले आते हैं। मेरे ग्राहकों में से



बहुत से अच्छे-अच्छे संस्कृतज्ञ और बहुतेरे अंग्रेजी और संस्कृत में पूरे-पूरे विद्वान् हैं। ग्रिफिथ साहब का यह अन्तिम लेख कि वेदों की ऋचाओं से बहुत से देवताओं के नाम प्रकाशित होते हैं, सो उनकी यह बात मुझको तब प्यारी लगे, और विद्वानों के समीप ५ प्रामाणिक ठहरे, जब वे उस मतलब की कोई ऋचा मुझको लिख भेजें—

पूर्वलिखित की पुष्टि में निम्नलिखित उद्धरण दिये जाते हैं—

(a) ऐच. टी. कोलब्रुक रचित 'दी वेदाज्' से।

(b) चार्ल्स कोलमैन रचित "माईथालोजी आफ दी १० हिन्दूज" से।

१. यद्यपि वेदों को शीघ्र दृष्टि से देखने से देवताओं के नाम उतने दीख पड़ते हैं जितने कि स्तुति करनेवालों के हैं, परन्तु पुराने व्याख्यानग्रन्थों के अनुसार, कि जो ठीक आर्य धर्म के विषयक हैं, वे अनेक नाम देवता वा मनुष्य और वस्तुओं के नहीं ठहर सकते, अर्थात् वे सब तीन देवताओं ही के १५ नाम से सम्बन्ध रखते हैं। और फिर वे तीनों नामों की देवता भी पृथक्-पृथक् नहीं हैं, अर्थात् वे तीनों नाम एक ही परमेश्वर के हैं। निघण्टु अर्थात् वेदों के शब्दकोष के अन्त में तीन नामावली देवताओं की हैं। उनमें से पहिली में अग्नि के, दूसरी में वायु के, तीसरी में सूर्य के पर्यायवाची नाम हैं।

निरुक्त के अन्त भाग में, जिसमें केवल देवताओं का वृत्तान्त है, यह दो २० बार कथन किया गया है कि देवता केवल तीन हैं (तिस्त्र एव देवताः) इनसे अधिकतर अनुमान सिद्धान्त यह निकलता है कि केवल एक ही देवता है। यह बात वेद के अनेक वाक्यों से भी सिद्ध होती है, और यही आशय निरुक्त और वेद के प्रमाण के अनुसार अति सुगम और संक्षेप रीति से ऋग्वेद के सूचीपत्र में वर्णन किया है। इससे यह निर्णय होता है कि आर्यों के पुराने २५ धर्ममार्ग की पुस्तकों केवल एक ही ब्रह्म को गाती हैं, और सूत्रों से भी ऐसा ही सिद्ध होता है।

२. वेदों से ज्ञात होता है कि आर्य ऋषियों का धर्ममार्ग केवल एक बड़े ब्रह्म के पूजन और श्रद्धा वा भक्ति में था, जिस को वे सर्वशक्तिमान् सर्वज्ञ और सर्वव्यापक जानते थे, और जिसके सम्बन्धी गुणों को वे ३० अत्यन्त पूजनीय वाक्यों में प्रकट करते थे, और वे सम्बन्धित गुण उसकी तीन प्रकार की शक्तियां हैं। उनमें से प्रथम उत्पादक, दूसरी पालक, तीसरी संहारक नाम से वर्णन की जाती है।



(c) पादरी गैरट के अनूदित “भगवद्गीता” के परिशिष्ट से ।

(d) मैक्समूलर रचित “हिस्टरी आफ ऐन्शण्ट संस्कृत लिटरेचर” पृ० ५६७ से<sup>२</sup> ।

ऋग्वेद में जो प्रथम मन्त्र है, उसमें अग्नि शब्द आया है । उसका उल्था सी० एच० टानी साहब एम० ए० प्रिन्सिपल प्रेसीडेन्सी ५ कालिज कलकत्ता ने आग के अर्थ में अपने उस प्रथमोक्त ध्यान से किया है कि अग्नि भो एक पदार्थ प्रतिष्ठा का वेद में है । परन्तु अग्नि को तत्त्व मान कर किसी प्राचीन ऋषि-मुनि ने पूजन वा आवाहन नहीं किया । और अग्नि शब्द का जो स्वाभाविक अर्थ आग का है, वह केवल उन वाक्यों में लिया जाता है, जिनमें लौकिक सम्बन्धी बातें १० हैं । परन्तु ऐसे वाक्यों में जहाँ ईश्वर की स्तुति प्रार्थना निवेदन आदि का प्रसंग होता है, वहाँ अग्नि शब्द का अर्थ परमेश्वर का घटित किया जाता है । यह अर्थ कुछ मैंने मिथ्या कल्पित नहीं किया । इस प्रकार के युक्तार्थ ब्राह्मण और निरुक्तनामी ग्रन्थों में बराबर वर्णन हो आये हैं ।

१५

अन्त पर टानी साहब की जो यह सम्मति है कि मैंने जो भाष्य बनाया है, वह इस कारण से रचा है कि सायण और अंगरेजी उल्थाकारों के भाष्य कट जावें, अर्थात् अशुद्ध ठहरें । सो इस विषय में मैं

१. इन अतिसत्य ध्यानों से हमें पूर्ण विश्वास होता है कि चारों वेद एक ब्रह्म को गाते हैं, जो सर्वशक्तिमान् अनन्त चिरस्थायी स्वयंभू संसार का द्योतक २० और पालक है । मैं इसके संग एक और ऋचा लिखता हूँ, जिससे एक ही ब्रह्म निश्चित होता है । इससे हम आपकी शका-निवृत्ति करते हैं । जानिये कि आर्य लोग स्वाभाविक बुद्धि से सदैव अद्वैतसेवी अर्थात् केवल एक ईश्वर को ही मानते थे ।

२. उसी उक्त ऋचा का एक चरण यह है जिससे निस्सन्देह केवल एक २५ ही ब्रह्म का निरूपण होता है, यद्यपि हम उसको अनेक नाम से आवाहन करते हैं । ऋग्वेद मण्डल १, सूक्त १६४ की ४६ वीं ऋचा को देखो । स्पष्ट लिखा है कि उसी एक परब्रह्म को ज्ञानवान् इन्द्र मित्र वरुण और अग्नि के नाम से पुकारते हैं । कोई कहते हैं कि वह आकाश में सपक्ष गरुत्मान् है, और कोई-कोई बुद्धिमान् उसी के अग्नि यम मातरिश्वा आदि अनेक नाम ३० मानते हैं ।



- कभी दूषित नहीं हो सकता हूं। यदि सायण ने भूल की है, और अंगरेजों ने उसको अपना मार्ग-प्रदर्शक जानकर अंगीकार कर लिया तो भले ही करें, परन्तु मैं जानबूझ कर कभी भूल का काम नहीं कर सकता। परन्तु मिथ्या मत बहुत काल तक नहीं ठहर सकता, केवल
- ५ सत्य ही ठहरता है। और असत्य सत्यता के सन्मुख शीघ्र ही धुमैला हो जाता है। पण्डित गुरुप्रसाद हेड पण्डित ओरियंटल कालिज लाहौर ने यह बात कह कर कि स्वामी जी के भाष्य में कोई अशुद्धि छापे की कहे सो नहीं हैं, मेरे प्रत्येक आशय को दूषित ठहराया है, तथापि मैं उनको धन्यवाद देता हूं। उनसे मेरे भाष्य के छापने-
- १० वाले का विश्वास माना, यह क्या थोड़ी बात है? परन्तु मैं कहता हूं कि उसका भी दोष वे मेरा ही जानें, परन्तु थोड़ा मुंह खोल कर कहें तो कफियत खुले, नहीं तो क्या जान पड़े। और जो वे मुझे दूसरे स्थल पर यह दोष लगाते हैं कि अपने ही पन्थ का प्रचार किया चाहता है, सो मैं ऐसी बातों को सुन अति पश्चात्ताप से कहता
- १५ और समझता हूं कि वे वेदविद्या से नितान्त अज्ञान हैं। यदि उन्होंने प्राचीन भाष्यों का अवलोकन किया होता, तो कभी ऐसा न कहते।

- और तीसरा कलंक जो वे मुझे यह लगाते हैं कि इन्द्र मित्र और त्वष्टा आदि शब्दों के अर्थ स्वामी जी ने अपनी ओर से गढ़े हैं, सो उनकी इस शंका के उत्तर में मैं उनको वेदभाष्य के 'विज्ञापन' का
- २० प्रमाण देता हूं, और एक प्रति साथ ही इस उत्तर के ऐसी लगाये देता हूं कि जिसमें उन शब्दों का यथावत् वर्णन है। फिर भी इन सब बातों के परिणाम में मुझे निस्सन्देह हो यही कहना पड़ता है कि उनमें पुरातन संस्कृत विद्या अत्यन्त ही कम है।

- चौथा दोष जो वे मेरे व्याकरण में यह आरोपण करते हैं कि
- २५ परस्मैपद के स्थान में आत्मनेपद लिखा है, सो अब मैं इस बात का निश्चय कराने को कि स्वयं पण्डित जी व्याकरण का ज्ञान नहीं रखते, कैयट [ के भाष्यप्रदीप ] और नागेश, रामाश्रम आचार्य, अनुभूतिसरूप आचार्य आदि के ग्रन्थों के कई एक प्रामाणिक उदा-

१. यह विज्ञापन 'ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन' ग्रन्थ में पूर्णाङ्क
- ३० २४ पर छपा है।



हरण पृथक् लिखता हूँ। वे मेरे विदधीमहि<sup>१</sup> के प्रयोग को सर्वथा युक्त समझते हैं। वदामहे<sup>२</sup> के शुद्ध प्रयोग के लिये मैंने पाणिनीय व्याकरण के प्रथमाध्याय के तीसरे पाद के ४७ वें सूत्र का प्रमाण दिया है। और उन स्थलों की नकल भी हूबहू उनको भेज सकता हूँ, जिससे मेरा किया प्रयोग कैसा शुद्ध है, यह प्रतीति यथेच्छ हो जावेगी। परन्तु बिना व्याकरण-बोध क्योंकि उनके समझ में आवे ?

[ सब प्रमाण मूल भाषालेख के साथ नष्ट हो गये । ]

पांचवीं शंका उनको मेरे एक छन्द के प्रयोग पर उपस्थित हुई है। वह अत्यन्त हास्यजनक है। जो मैं उसका इस संक्षिप्त उत्तर में १० कुछ वर्णन करूँ, तो असार विस्तार होगा। रहा उनका समाधान, सो उनके लिये पैङ्गल सूत्र और उसके भाष्यकार हलायुधभट्ट का एक स्पष्ट प्रमाण पृथक् लिखता हूँ, देख शान्त होवें।

[ वह प्रमाण मूल भाषा लेख के साथ ही नष्ट हो गया । ]

ज्ञात होता है कि पण्डित हृषीकेश भट्टाचार्य द्वितीय पण्डित १५ ओरियंटल कालिज लाहौर सर्वत्र पण्डित गुरुप्रसाद जी के ही अनुगामी हुए हैं। इससे उनकी शंकाओं का उत्तर वही समझना चाहिये, जो पीछे लिख आये हैं। उपचक्र<sup>३</sup> शब्द में उनकी शंका एक पृथक् है। सो उन्हें यह बात सुझाने को कि मेरा अर्थ बहुत ही निर्मल है, मैं उन्हें केवल पाणिनीय व्याकरण के प्रथमाध्याय के तीसरे पाद के २० ३० वें सूत्र का प्रमाण देता हूँ, उसको देख तुष्ट होवें।

अब रहे पण्डित भगवान दास असिस्टेंट प्रोफेसर संस्कृत गवर्नमेण्ट कालिज लाहौर। सो उनकी कोई नवीन शंका नहीं है, इसलिये जो मैंने ऊपर कहा, वही बहुत है। वे भी तुष्ट होवें, इति।

१. वेदानां यथार्थं भा यं वयं विदधीमहि—ऋग्वेदाः भा० भूमिका २५ ईश्वरप्राथन्याविषय, पृष्ठ ३, पं० २४ (रा. ला. क. ट्रस्ट संस्क०)।

२. एवं प्राप्ते वदामहे—ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका वेदोत्पत्तिविषय, पृष्ठ १४, पं० २६ (रा. ला. क. ट्रस्ट संस्क०)।

३. यथा पिता स्वसन्ततिः..... सर्वमनुष्यार्थं वेदोपदेशमुपचक्रे। ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका वेदोत्पत्तिविषय, पृष्ठ १६ पं० १५ (रा. ला. क. ट्रस्ट संस्क०)।



अन्त में मुझे प्रतीत होता है कि इन विरुद्ध लेखों का सारा बल देश के विद्यालयों में मेरे वेदभाष्य के लगाये जाने के विपरीत है। परन्तु मेरे आलोचक भारी भूल कर रहे हैं। मेरा वेदभाष्य महाभारत के पूर्व के भाष्यों के प्रमाणों को देने के कारण, और ५ योरोपीय विद्वानों के विचारों के विरुद्ध होने के कारण गवेषणा का एक ऐसा भाव उत्पन्न कर देगा कि जिससे सत्य प्रकट हो जायगा। और हमारे विद्यालयों में सदाचार के भाव को उत्पन्न करेगा। और इसी कारण सरकार की संरक्षता का अधिकारी है ॥



[३]

### १० वेदभाष्य-मन्त्रन्धी पत्र<sup>१</sup>

मन्त्री, आर्यसमाज लाहौर की ओर से,  
डक्टर जी. डबल्यू. लाइटनर, एम. ए. वार. एटला.  
रजिस्ट्रार, पंजाब यूनिवर्सिटी कालेज, सिमला।

श्रीमन् !

- १५ पंजाब सरकार ने आप के यूनिवर्सिटी कालेज की सैनेट को पण्डित स्वामी दयानन्द सरस्वती के वेदभाष्य के गुणों को जानने के लिये एक पत्र भेजा था। उसका परिणाम जानने के लिये दक्षिण में मुम्बई और पूना की, पश्चिमोत्तर प्रान्त में मुरादाबाद और शाहजहांपुर की, और पंजाब में लाहौर और अमृतसर की आर्य-  
२० समाजें अत्यधिक उत्सुक थीं। जूँही मैसर्ज ग्रिफिथ और टानी तथा लाहौर के कुछ पण्डितों की दी हुई सम्मतियां प्रकाश में आईं, तब भी आर्य-समाज लाहौर ने, अभिमानी समझे जाने के भय में पड़ कर भी, अपना यह कर्तव्य समझा कि आप को ऐसी सूचना दी

१. २४ मई १८७७ सोमवार को लगभग १० बजे श्रीस्वामी जी  
२५ पञ्जाब के लेफ्टिनेंट गवर्नर से मिले। देखो—लेफ्टिनेंट गवर्नर के निजी सचिव मि० जे० ग्रिफिथ का १२ मई का श्री स्वामी जी के नाम पत्र। उसी दिन गवर्नर से वार्तालाप के अनन्तर स्वामी जी ने अपने वेदभाष्य के सहाय-तार्थ पञ्जाब सरकार को एक पत्र लिखा था। पत्र के साथ ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका और वेदभाष्य का नमूना भी भेजा था। यु० मी०



जाये, जैसी इसकी सम्मति में, सैनेट ऐसी विद्वत्-सभा को अधिक ठीक और परिपक्व निर्णय पर पहुँचने के योग्य बना दे। वह विद्वत्सभा वह सब कुछ सुन ले, जो उस भावी कार्य के अनुकूल या विरुद्ध कहा जा सकता है।

स्वामी दयानन्द ने स्वयं भी इस विषय पर एक लेख लिखा है। समाज उसे स्वामी दयानन्द सरस्वती के आलोचकों के समस्त आक्षेपों का सन्तोषदायक उत्तर समझता है। वह मूल लेख भी साथ ही भेजा जाता है।<sup>१</sup>

प्रतीत होता है कि महाभारत-काल से पहले, जिसे यूरोपियन काल-गणना के अनुसार तथा बहुत न्यून गिनती से भी ईसा के संवत् से ६०० या ७०० वर्ष पहले सरलता से धरा जा सकता है, भारत में वेदों का पठन-पाठन नियम से होता था, और उन पर भाष्य रचे जाते थे। उस समय ऐसे गुरुकुल वा विद्यालय थे, जिन में केवल वेद ही अध्ययनाध्यापन में आते थे, और भाष्य कोष तथा व्याकरण लिखे जाते थे। ये ग्रन्थ इस लिये रचे जाते थे कि वेदमन्त्रों का व्याख्यान और स्पष्टीकरण हो। इन में से कई ग्रन्थ काल के अनेक विनाशों के होने पर भी हम तक पहुँच पाये हैं। ये ग्रन्थ यद्यपि अलभ्य हैं, पर सर्वथा अप्राप्त नहीं हुए। इन में सब से अग्रणी ब्राह्मण, निरुक्त, निघण्टु और पाणिनि का व्याकरण आदि हैं। अत एव यही ग्रन्थ वेदों के सब से पुरातन और विश्वसनीय भाष्य और व्याकरण हैं। क्योंकि जब महाभारत का महासंग्राम हुआ, तो उसने हिन्दू समाज को उसकी जड़तक हिला दिया। उस समय अध्ययन को अपेक्षा लोगों को अपने प्राणों की चिन्ता अधिक थी। उस युद्ध में सारा उत्तर भारत एक अथवा दूसरे पक्ष की ओर हुआ।

तब न केवल युद्ध के काल में प्रत्युत उसके शताब्दियों पश्चात् वेद घोर लुप्तावस्था में रहे। अधिक शान्तिप्रद कालों के लौटने पर वैदिक विद्या पुनर्जीवित हुई। नये विद्यालय उठे और नये भाष्य निकल पड़े। इन्होंने पुराने ऋषियों की व्याख्याओं को तिलाञ्जलि दी, और अपने युग की प्रवृत्तियों के अधिक अनुकूल व्याख्याएँ कीं। तथापि इससे निकृष्ट समय भी आनेवाला था।<sup>२</sup>

१. यह लेख 'ऋषि दयानन्द का पत्र' शीर्षक से पूर्व पृष्ठ १७६ पर उद्धृत है। यु० मी०



- बौद्ध धर्म भारत में सर्वोपरि हो गया। वेदों के विद्वान् पकड़े और मारे जाते थे। उनकी धार्मिक पुस्तकें जलाई जाती थीं, और नष्ट की जाती थीं। ब्राह्मणों ने अभी बौद्धों की देश से निकाला ही था, अभी उन्होंने अपना प्रभुत्व पुनः प्राप्त किया ही था, जब उन्हें ५. एक अधिक भयानक शत्रु से सामना करना पड़ा। महाभारत के युद्ध ने और बौद्ध-धर्म के विस्तार ने जो बात आंशिक रूप में की थी, देश पर मुसलमानों के अधिकार ने वह सर्वथा पूर्ण कर दी। सारी विद्या, सारा वाङ्मय और सारी सच्ची वैदिक विद्वत्ता समाप्त हो गई। इन्हीं उत्तर समयों में सायण महीधर उब्वट १० और रावण के भाष्य हुए। इन से लाभ के स्थान में हानि अधिक हुई। सर्व साधारण लोगों पर इनके भाष्यों का इतना प्रभाव हो गया है कि पुराने भाष्यों को निरर्थक समझा जाता है, और उन्हें कभी ही कोई देखता है।

- तथापि कुछ दूरी पर एक उज्ज्वल भविष्य होनेवाला था। १५ (ईसा की) गत शताब्दी के अन्तिम दिनों में संस्कृत भाषा और वाङ्मय ने कोलब्रुक जोन्स और कारी (Carey) ऐसे प्रसिद्ध विद्वानों के ध्यान को पुनः अपनी ओर खेंचा। उनके दिये हुए धक्के ने भाषाविज्ञान में ही आश्चर्य नहीं किया, बाप्प, बनफ, श्लेगल, विलसन, वेबर और मैक्समूलर सदृश चमकते हुए प्राच्य विद्या २० विशारदों की एक विशेष पंक्ति को ही उत्पन्न नहीं किया, और हमें एक राजेन्द्रलाल मित्र ही नहीं दिया, परन्तु हम आशा करते हैं कि वह धक्का अवश्य ही स्वामी दयानन्द सरस्वती के वेदभाष्य के रूप में परिणत होगा। परन्तु इस बात का बड़ा शोक है कि योरोपियन विद्वानों को अपनी अत्यधिक सामग्री के लिये एतद्देशीय २५ पण्डितों पर आश्रित रहना पड़ता है। वे पण्डित ऐसे हैं जिनका

१. रावण एक दाक्षिणात्य पण्डित था, इसने ऋग्वेद का भाष्य रचा था। इसके पदपाठ का एक हस्तलेख फर्खाबाद निवासी पं० केशव देव निर्मल के घर में था। उसका एक अष्टक, जिस पर रावण का नाम अंकित था, ३ मार्च १९२७ को श्री मामराज जी ले आये थे। डा० लक्ष्मणस्वरूप ने उसका ३० फोटो कराकर पञ्जाब विश्वविद्यालय लाहौर के पुस्तकालय में रख दिया था, परन्तु मूलकोश उन से नष्ट हो गया। हमने मूलकोश लालचन्द लायब्रेरी लाहौर में देखा था।



अधिक से अधिक ज्ञान भी गहरा नहीं है। और इनमें से भी जो सब से अधिक ज्ञानवान् हैं, सायण और महीधर से अधिक बड़े नाम नहीं जानते। यही कारण है कि वैदिक विद्वत्ता ने अपेक्षाकृत धीमी उन्नति की है, और योरोप में वेदों की शिक्षा के सम्बन्ध में, अशुद्ध विचार फैले हुए हैं।

प्रति वर्ष, प्रति मास और दिन-दिन हमारे महान् देश के प्राचीन साहित्य और सभ्यता पर निस्सन्देह अधिक प्रकाश पड़ रहा है। यद्यपि इस साहित्य के लिये योरोप में प्राच्य-विद्या के विद्वानों के सम्मिलित यत्नों के द्वारा बहुत कुछ पहले ही किया गया है, परन्तु इससे भी अधिक अभी किया जाना शेष है। हमें विश्वास है, एक १०  
समय आयेगा, जब उपस्थित वेदभाष्य वैदिक विद्वत्ता के प्रासाद का मूलधार समझा जायगा। वेदों की उलटी व्याख्या करनेवाले भाष्यकारों द्वारा योरोपियन विद्वान् जिस प्रकार उटला समझे हैं, उससे यह सर्वथा आश्चर्य नहीं होता कि वे कुछ काल के लिये इस विचार की अवहेलना करें कि वेद एक ही सद्ब्रह्म की उपासना १५  
सिखाते हैं। परन्तु हमारी धारणा है कि स्वामी दयानन्द ने जो धक्का अब दिया है, वह अधिक गम्भीर अन्वेषण को प्रोत्साहन देगा, और सत्य को प्रकाश में लायेगा। तथापि इस देश के पण्डितों की अपेक्षा योरोपियन विद्वानों से अधिक आशायें की जाती हैं। पण्डितों का यह स्वार्थ है कि जब तक वे कर सकें तब तक मूर्तिपूजा २०  
और उसकी विधियों को स्थिर रखें। समाज इस समय ऐसी ही आशा कर सकता है कि बढ़ता हुआ प्रकाश किसी दिन अन्धकार को दूर करेगा, और सब को सचेत करेगा।

योरोप में वैदिक विद्वत्ता सम्प्रति भी थोड़ी है, इसके अधिक प्रमाण अपेक्षित नहीं। योरोप के सब से बड़े वैदिक विद्वान् दृढ़ता २  
से कहते हैं कि अब भी अनेक मन्त्र हैं कि जिनका कोई अर्थ नहीं निकलता। योरोप में अब तक जितना हुआ है, वह शब्दों के अर्थों का अनुमान मात्र करने से अधिक नहीं है। इन से (मन्त्रों से) कोई सुसम्बद्ध विचार नहीं निकाले जा सकते। योरोप के सात प्रमुख प्राच्य विद्याविशारदों के एक मन्त्र के निम्नलिखित अनुवाद, जो ३०  
मूलार्थ से अत्यधिक भिन्न हैं, उच्चस्वर से प्रमाणित करते हैं कि योरोप में वेदार्थ-ज्ञान अभी स्थूल रूप में ही है—



उत ब्रुवन्तु नो निदो निरन्यतश्चिदारत ।

दधाना इन्द्र इद् दुवः ॥ ५ ॥

उत नः सुभगां अरिर्वोचैयुर्दस्म कृष्टयः ।

स्यामेदिन्द्रस्य शर्मणि ॥ ६ ॥

५ देखो-ऋग्वेदसंहिता की मैक्समूलर की भूमिका पृ० २२-२४॥

१. चाहे हमारे शत्रु कहते हैं, किसी और स्थान को चले जाओ, तुम जो केवल इन्द्र की पूजा करते हो ।

२. अथवा चाहे हे बलशालिन्, सारे लोग हमें भगवान् कहें, हम सदा इन्द्र की रक्षा में रहें ।

१० इन मन्त्रों के सामान्य भाव के सम्बन्ध में मैंने विचारा कि कोई सन्देह ही नहीं हो सकता । यद्यपि इस में एक शब्द अर्थात् 'अरिः' व्याख्या योग्य है । फिर भी अनेक प्रकार की व्याख्याएँ, जो विविध विद्वानों ने की हैं, विलक्षण हैं । प्रथम यदि हम सायण को देखें, तो वह अर्थ करता है—

१५ १. हमारे पुरोहित इन्द्र की स्तुति करें । हे शत्रुओ, इस स्थान से चले जाओ, और दूसरे स्थान से भी । हमारे पुरोहित (इन्द्र की स्तुति करें) वही जो सदा इन्द्र की स्तुति करते रहते हैं ।

२. हे शत्रुओं के नाशक, शत्रु हमें धनवान् कहे, कितना अधिक मित्र लोग ! हम इन्द्र की प्रसन्नता में हों ।

१० प्रोफेसर बिलसन ने सायण का पूरा अनुकरण नहीं किया । परन्तु उसने अनुवाद किया—

१. हमारा पुरोहित उत्सुकता से उस की स्तुति करता हुआ बोले— ऐ गालियां निकालने वालो, यहां से चले जाओ, और प्रत्येक दूसरे स्थान से (जहां वह पूजा जाता है) ।

२५ २. हे शत्रुओं के नाशक, हमारे शत्रु कहें कि हम समृद्ध हैं ।

१. ऋग्वेद १।४।५, ६॥



लोग हमें (वधाई दें) । हम सदा उस आनन्द में वास करें, जो इन्द्र की (अनुकूलता से मिलता है) ।

लेंगलाएस ने अनुवाद किया—

स्टीवन्सन ने अनुवाद किया—

१. इन्द्र की स्तुति में सब लोग पुनः सम्मिलित हो जायें । ५  
तुम दुष्ट और घृणा करनेवाले सब यहां से चले जाओ, और प्रत्येक दूसरे स्थान से, जब कि हम इन्द्र सम्बन्धी कृत्य को करते हैं ।

२. हे शत्रुनाशक (तेरी कृपा से) हमारे शत्रु भी हमारे साथ, जो हम धनों के स्वामी हैं, शान्ति से बोलें । तब क्या आश्चर्य है कि यदि दूसरे आदमी ऐसा करते हैं । हम सदा उस आनन्द को भोगें, जो १०  
इन्द्र के आशीर्वाद से उपजता है ।

प्रोफेसर बैनफी अनुवाद करता है—

१. और घृणा करनेवाले कर्तें, वे हर एक दूसरे से अस्वीकृत किये गये हैं, अतः वे इन्द्र का उत्सव करते हैं ।

२. और शत्रु और देश हमें प्रसन्न घोषित करें । हे नाशक, यदि १५  
हम [केवल] इन्द्र की रक्षा में हैं ।

प्रोफेसर राथ ने 'अन्यतः' का ठीक अर्थ लिया है अर्थात् भिन्न स्थान को । और इसलिये उसने उस वचन का यही अर्थ किया होगा—किसी दूसरे स्थान को गति करो । अर्थात् उसी अर्थ में, जैसा भाव मैंने लिया है । तथापि कुछ काल पश्चात् S. V. ar उसने २०  
अपने आप को ठीक किया, और उन्हीं शब्दों का यह अनुवाद प्रस्तावित किया—“तुम किसी अन्य पदार्थ को भुला दो ।”

प्रोफेसर बोल्लेनसन (ओरियण्ट एण्ड आक्सिडेण्ट वाल्यूम १, पृ० ४६२) ने किसी सीमा तक प्रोफेसर राथ के दूसरे अनुवाद का अनुसरण किया, और प्रोफेसर बैनफी के अनुवाद को ठीक न समझ कर यह दिखाने का यत्न किया कि “वह अन्य पदार्थ जो भुलाया २५

१. लैटिन भाषा में होने के कारण इसका अनुवाद नहीं दिया गया ।



गया है' कुछ अनिश्चित पदार्थ नहीं है, परन्तु इन्द्र के अतिरिक्त दूसरे सारे देवताओं की पूजा है।

यह है वेदार्थ की [योरूप में] अनिश्चित अवस्था, जिसने प्रोफेसर मैक्समूलर को ऋग्वेद संहिता के प्राक्कथन में यह लिखने पर विवश किया है कि उसका अनुवाद अनेक स्थानों में शुद्धि योग्य है, और शीघ्र या कालान्तर में इसका स्थान एक नये अनुवाद को लेना पड़ेगा।

और कि भारत में वैदिक विद्वत्ता इस से भी अधिक स्वल्प है, यह इसी बात से जाना जा सकता है कि स्वामी दयानन्द के बार-बार के आह्वानों पर भी एक पण्डित भी अभी तक ऐसा प्रकट नहीं हुआ, जो वेदों से यह सिद्ध करे कि उन में मूर्तिपूजा पाई जाती है, यद्यपि वे सब इस बात को कह तो देते हैं। ऐसी अवस्था का यही कारण कहा जा सकता है कि इस देश में वेद अपितु उनके थोड़े-थोड़े भाग ही अर्थज्ञान के बिना कण्ठस्थमात्र किये जाते हैं। इसके विपरीत स्वामी दयानन्द न केवल अपनी वाग्मिता से, न केवल अपने तर्क के असाधारण बल से अपने श्रोतागणों के मनों में विश्वास उत्पन्न करा देता है, प्रत्युत अपने वेदभाष्य में शब्दों के इतिहास को खोलता है, प्रत्येक बात की व्याख्या करता है कि जिस से वह अपने अर्थ पर पहुँचा है। और शब्दों के जो अर्थ करता है, उनकी पुष्टि में वेदों, ब्राह्मणों, निघण्टु और पाणिनि के व्याकरण से प्रमाण देता है।

संक्षेप में यह कह सकते हैं कि अपनी महत्ती विद्वत्ता की योग्यता से, अपनी धैर्ययुक्त गवेषणा से, अपने काम के लिये असीम प्रेम के द्वारा वह मानव-पुस्तकालय के इस सब से पुराने ग्रन्थ में जीवन-प्राण का संचार कर रहा है। वह उन कठिनाइयों को प्रकट करता है, जिन्होंने अब तक उस (वेद) की स्वतन्त्र उन्नति को रोक रखा है। वह भाषाविज्ञान की सामान्यरूप से और भारतीय भाषा-विज्ञान की विशेषरूप से अचिन्त्य सेवा कर रहा है। उस के वेद-भाष्य के एक हजार से ऊपर ग्राहक अब तक बन गये हैं, और

१. अमुक शब्द का क्या अर्थ है, और क्यों है? इस रहस्य को ऋषि  
३० दयानन्द ने शब्दों के यौगिक अर्थ करके दर्शाया है। उसकी ओर यह संकेत है।



ग्राहकों की संख्या प्रतिदिन उन्नति पर है। इन बातों का विचार करके और इस बात को जान कर, जैसा कि पंजाब सरकार और भारत में दूसरी प्रान्तीय सरकारें जानती हैं कि वेदों ने भारतीय इतिहास के सब उत्तरवर्ती युगों पर कैसा प्रबल प्रभाव डाला है, और उनका भारतीय वाङ्मय की प्रत्येक शाखा के साथ कैसा ५ घनिष्ठ सम्बन्ध है, और उनके धार्मिक और सदाचार के विचारों ने भारतीय जाति के हृदयों में कितनी गहरी जड़ पकड़ी है, तथा उनके सनातन प्रमाणों से भारतीय जीवन के जनता-सम्बन्धी और व्यक्तिगत सब काम नियमित किये जाते हैं, यह सब जान कर समाज विश्वास रखता है कि सरकार ऐसे महाशयों की दी हुई सम्मतियों १० के अनुकूल नहीं चलेगी कि जो अन्य गुणों के रखते हुए भी, समाज की नम्र दृष्टि में, वैदिक विद्वान् होने की प्रतिष्ठा नहीं रखते।

अन्ततः समाज आशा चाहता है कि उन मुख्य कारणों को संक्षेप से दोहराए कि जिनके आधार पर वह स्वामी दयानन्द सरस्वती के वेदभाष्य की पंजाब सरकार द्वारा संरक्षकता चाहता है, और आशा १५ प्रकट करता है कि सरकार देश की दूसरी सब प्रान्तीय सरकारों को प्रेरित करे कि वे भी एक महान् सुधारक और विद्वान् के इस पुण्य और परोपकारयुक्त उद्देश्य के प्रोत्साहन में इसके साथ सम्मिलित हों—

(१) कि भारतीय भाषा-विज्ञान यदि यह स्वाभाविक गति<sup>१</sup> पर २० चले, तो अवश्य ही वेदों के स्वाध्याय से प्रारम्भ होगा। अतः उनके ज्ञान का प्रचार अत्यधिक अभीष्ट है।

(२) कि इस वेदभाष्य के प्रकाश ने गवेषणा का भाव उत्पन्न कर दिया है। इसको प्रोत्साहन देना श्रेष्ठ है।

(३) कि आशा की जाती है कि वेदों के सच्चे ज्ञान के प्रचार २५ द्वारा हिन्दू मन मिथ्या विश्वास और गहरे गड़े हुए पक्षपात से मुक्त होगा।

---

१. भारतीय भाषाविज्ञान की स्वाभाविक गति है—ईश्वरप्रदत्त वैदिकी वाक् से मानुषी (संस्कृत) भाषा की उत्पत्ति अथवा विकास, और उससे संसार भर की भाषाओं की उत्पत्ति।



(४) कि स्वामी दयानन्द का भाष्य उन सब से अधिक विश्व-सनीय प्रमाणों पर समाधारित है कि जिनको योरोपीय विद्वान् भी प्रामाणिक स्वीकार करते हैं, परन्तु जिन्हें वे अभी तक पूर्णतया योग में नहीं लाये ।

५ (५) कि वर्तमान परिस्थितियों में स्वार्थी ब्राह्मणों अथवा भ्रान्त समझनेवाले योरोपियनों से निष्पक्ष सम्मतियों की आशा नहीं हो सकती ।

अतः पूरा अवसर मिलना चाहिये ॥

मैं हूँ.....

१०

लाहौर

जीवनदास

२५ अगस्त १८७७

मन्त्री आर्यसमाज



---

---

# भ्रान्ति-निवारण

---

---



प्राचीन-तन्त्र



# भ्रान्ति-निवारण

## भूमिका

विदित हो कि जो मैंने संसार के उपकारार्थ वेदभाष्य के बनाने का आरम्भ किया है, कि जो सब प्राचीन ऋषियों की की हुई व्याख्या और अन्य ग्रन्थों के प्रमाणयुक्त बनाया जाता है, जिसमें इस बात की साक्षी वे सब ग्रन्थ आज पर्यन्त वर्तमान हैं। और मेरे बनाये मासिक अङ्कों में भी विद्वानों के समझने के लिये संकेत-मात्र जहां-तहां लिख दिये हैं कि देखनेवालों की सुगमता हो। और किसी प्रकार की भ्रान्ति वा शङ्का मेरे लेख पर होकर बुधा कुतर्क खड़ी करके कोई मनुष्य मेरे काल को न खोवे कि जिससे देशभर की हानि हो, और उस को भी कुछ लाभ न हो। परन्तु बहुधा संसार में यह उलटी रीति है कि लोग उत्तम कर्म कर चुके और करते हुये को देखकर ऐसे प्रसन्न नहीं होते, जैसे कि निषिद्ध कर्म वा हानि को देखकर होते हैं।

जो मैं निरानिरी संसार ही का भय करता, और सर्वज्ञ परमात्मा का कुछ भी नहीं, कि जिसके आधीन मनुष्य के जीवन-मृत्यु और सुख-दुःख हैं, तो मैं भी ऐसे ही अनर्थक वाद-विवादों में मन देता। परन्तु क्या करूं, मैं तो अपना तन मन धन सब सत्य के ही प्रकाशार्थ समर्पण कर चुका। मुझ से खुशामद करके अब स्वार्थ का व्यवहार नहीं चल सकता, किन्तु संसार को लाभ पहुंचाना ही मुझ को चक्रवर्ती राज्य के तुल्य है।

१. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, ऋग्वेदभाष्य और यजुर्वेदभाष्य का प्रथम संस्करण मासिक अङ्कों में छपा था। ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के एक दो अङ्क के पीछे ही ऋग्वेदभाष्य के नमूने का भी एक अङ्क छपा था। इस ग्रन्थ में इस नमूने के अङ्क और भूमिका के कुछ अङ्कों पर पं० महेशचन्द्र न्यायरत्न ने जो आक्षेप किये, उनका उत्तर इस पुस्तिका में दिया है। इस ग्रन्थ में सम्पूर्ण टिप्पणियां हमारी हैं। यु० मी०।



मैं इस बात को प्रथम ही अच्छे प्रकार जानता था कि न्यारिये के समान बालू से सुवर्ण निकालनेवाले चतुर कम होंगे, किन्तु मलीन मच्छी की नाई निर्मल जल को गदला करने और बिगाड़ने-वाले बहुत हैं। परन्तु मैंने इस धर्म-कार्य का सर्वशक्तिमान्, सत्यग्राहक और न्याय-सम्बन्धी परमात्मा के शरण में सीस धरके उसी के सहाय के अवलम्ब से आरम्भ किया है।

मैं यह भी जानता था कि इस ग्रन्थ के विषय में जो शङ्का होंगी, तो कम विद्वान् और ईर्ष्या करनेवालों को होंगी। परन्तु बड़े आश्चर्य की बात है कि कई विद्वान् भी इसी अन्धकार में फिसल पड़े। और इतना न हुआ कि आंख खोलकर अथवा लालटेन लेकर चलें, कि जिसमें चाल चूकने पर हँसी और दुःख न हो। यह पूर्व विचार करना बड़े विद्वान् अर्थात् दीर्घदृष्टिवाले का काम है, नहीं तो गिरे को लज्जा का फिर क्या ही ठीक है ?

इस वेदभाष्य के विषय में पहिले आर० ग्रिफिथ साहब, सी० एच० टानी और पण्डित गुरुप्रसाद आदि पुरुषों ने कही-कहीं अपनी सामर्थ्य के अनुसार पकड़ की थी, सो उनका उत्तर तो अच्छे प्रकार दे दिया गया था। परन्तु अब पण्डित महेशचन्द्र न्यायरत्न, जो आफिशियेटिंग प्रिन्सिपल कलकत्ते में के संस्कृत कालिज के हैं, उन्होंने भी पूर्वोक्त विद्वान् पुरुषों का रंग पकड़कर सन के छुछे गोले चलाये हैं। इसलिये यद्यपि मेरा बहु अमूल्य समय ऐसे तुच्छ कामों में खर्च न होना चाहिये, परन्तु दो बातों की सिद्धि समझकर संक्षेप से कुछ लेख करना आवश्यक जानता हूँ। एक तो यह कि—ईश्वर-कृत सत्यविद्या पुस्तक वेदों पर दोष न आवे कि उनमें अनेक परमेश्वर की पूजा पाई जाती है। और दूसरे यह कि—आगे को मनुष्यों को प्रकट हो जाय कि ऐसी-ऐसी व्यर्थ कुतर्क फिर खड़ी करके मेरा काल न खोवें। क्योंकि इससे कई कटिन शङ्का तो मेरे बनाये ग्रन्थों ही के ठीक-ठीक मन लगाकर विचारने से ही निवारण हो सकती है, फिर निष्प्रयोजन मेरा सर्वहितकारी काल क्यों खोते हैं ?

यह दोष इस देश में बहुत काल से पड़ा हुआ है। अर्थात् महा-भारत के युद्ध में जब अच्छे-अच्छे पूर्ण विद्वान् वेद और शास्त्रादिक

१. यह उत्तर हम पूर्व पृष्ठ १७६ पर छाप चुके हैं।



के जाननेवाले चल बसे। विद्या का प्रचार तथा सत्य उपदेश की व्यवस्था छूटकर तमाम देश में नाना प्रकार के विघ्न और उपद्रव उठने लगे। लोगों ने अपना-अपना छप्पर अपने-अपने हाथ से छाने की फिकर की, और इस थोड़े से सुख के लोभ में उत्तम-उत्तम विद्याओं को ऐसा हाथ से खो बैठे कि जिससे उनका विचार हुआ ५  
लाभ भी नष्ट हो गया, और तमाम अपने देश को भी धर कर डुबा दिया। बड़े शोक की बात यह है कि आंखों से देखकर भी कूप में गिरना अच्छा समझकर अपनी अज्ञानता पर दुःखी और लज्जावान् होने की जगह भी बराबर हठ ही करते चले जाते हैं। इस का परिणाम न जाने क्या होना है ? १०

दूसरा कारण आर्यों के बिगाड़ का यह भी है कि—उन्त्रको जैन लोगों ने बहुत कुछ दबाया, और सत्यग्रन्थों का नाश किया। फिर इन्हीं के समान मुसलमानों ने भी अपने धर्म का पक्ष करके दुःख दिया। और जब से अंग्रेजों ने इस देश में राज किया, तो इन्होंने यह बात बहुत अच्छी की कि सब प्रकार की विद्याओं का प्रचार १५  
करके प्रजा को समान दृष्टि से सुधारा। परन्तु कुछ-कुछ निज धर्म का पक्ष करते ही रहे। इससे लोगों का उत्साह भी कमती होता गया। और आज तक वेदों का प्रचार और सत्य उपदेश का प्रबन्ध ठीक-ठीक होता, तो किसी को शङ्का भ्रान्ति और हठ, वेद के विरुद्ध नवीन कल्पित मत-मतान्तर का न होता, जैसा कि पण्डित महेशचन्द्र २०  
का गुमान है। यह केवल उनका वेदों से विमुख होने का कारण है। इसलिये उनकी भ्रान्ति-निवारण विषय में कुछ लिखा जाता है ॥

[दयानन्द सरस्वती]



# ॐ ओ३म् ॐ भ्रान्ति-निवारण

अर्थात्

पण्डित महेशचन्द्र न्यायरत्नकृत वेदभाष्यपरत्व प्रश्न-  
५ पुस्तक का पण्डित स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी  
की ओर से उत्तर'

पण्डित महेशचन्द्र न्यायरत्नजी ने विरुद्ध पण्डितों के साथ में अपनी राय दी है। तो उन्हीं के उत्तर में इनका भी उत्तर मेरी ओर से जान लेना।

१० पं० महेश०—पण्डित दयानन्द सरस्वतीजी के परिश्रम विद्या और पण्डिताई निस्सन्देह प्रशंसा योग्य हैं, परन्तु उनका कुछ फल मालूम नहीं देता।

१५ स्वामीजी—सम्मति देनेवालों की निरपेक्षता और न्याय तो उनके कथन से ही प्रत्यक्ष है, कि जिस को छोटे विद्वान् लड़के भी जान लेंगे। क्योंकि पण्डितजी लिखते हैं कि—“स्वामीजी सब तरह विद्या आदि पूर्ण गुणयुक्त होने से प्रशंसायोग्य हैं, परन्तु कुछ फल-दायक नहीं”। तो उनका यह कथन पूर्वापरविरोधी है। और इसमें उनका हठ वा वेदविद्या से विमुखता साबित होती है।

२० पं० महेश०—स्वामीजी का यह गुमान वा अभिप्राय है कि वेद में एक परमेश्वर की पूजा ठीक है। तथा सब संसारी विद्या और वर्तमानकाल की कलाकौशलादि पदार्थविद्या वेदों से ही निकली है। इत्यादि बातें उनका काम मट्टी कर देती हैं।

२५ १. इस ग्रन्थ में उद्धृत उद्धरणों में से अधिकांश उद्धरणों के पते शताब्दी संस्करण भाग २ में छपे संस्करण में दिये गये हैं, परन्तु उत्तरवर्ती संस्करणों में वे पुनः लुप्त हो गये। हमने उन उद्धरणों के भी पते देने का प्रयत्न किया है, जिनके शताब्दी-संस्करण में नहीं दिये गये।

यह भी ध्यान रहे कि वै० य० मुद्रित पाठ अनेक स्थानों पर भ्रष्ट है। हमने प्रथम संस्करण, जो शाहजहांपुर से संवत् १९३४ में लीथो पर छपा था, के अनुसार इसे शोध है।



स्वामीजी—इस बात का उत्तर मैं ग्रिफिथ साहब के उत्तर में दे चुका हूँ। जब पण्डितजी के विचार से वेदों में एक परमेश्वर की उपासना नहीं है, तो उनको उचित था वा अब भी चाहिये कि कोई मन्त्र वेदों में से लिखकर यह बात सिद्ध कर दें कि वेदों में अनेक परमेश्वरों का होना सिद्ध है। क्योंकि उन्होंने वेदमन्त्रों में से कोई प्रमाण अपने पक्ष की पुष्टि के लिये नहीं लिखा, इससे इनके मन का अभिप्राय खुल गया, और उनकी विद्या की थाह मिल गई, कि उन्होंने जो अष्टकलपच्चू कूपमण्डूक<sup>१</sup> के समान चतुराई दिखलाई है, ये सब किसी ईर्ष्यक स्वार्थी विद्याहीन और पक्षपाती मनुष्य के फुसलाने से वा अपनी ही थोड़ी सामग्री अर्थात् 'हलदी की गांठ' के बल से लिखकर बैठ रहे कि जिसमें वृथा कीर्ति देशमें हो जावे। १०

सो पण्डितजी यह न समझें कि भारतवर्ष में विद्वान् नहीं रहे। यह व्याघ्र की खाल किसी दिन उघड़कर सब कलई खुल जावेगी। और मैं तो अपनी थोड़ीसी विद्या और बुद्धि के अनुसार जो कुछ लिखूंगा, वह सबको मालूम होता जावेगा। और जितना कर चुका, वह जान लिया होगा। और कदाचित् पण्डितजी ने भी समझ लिया होगा। परन्तु मूक के समान संसारी और कल्पित भय से कन्द का स्वाद जानकर यथार्थ और निर्पक्षता से कह और मान नहीं सकते हैं। १५

परमात्मा की कृपा से मेरा शरीर बना रहा, और कुशलता से वह दिन देख मिला कि वेदभाष्य सम्पूर्ण हो जावे, तो निस्सन्देह इस आर्यावर्त्त देश में सूर्य का सा प्रकाश हो जावेगा कि जिस के मेटने और भांपने को किसी का सामर्थ्य न होगा। क्योंकि सत्य का मूल ऐसा नहीं कि जिसको कोई सुगमता से उखाड़ सके। और कभी भानु के समान 'ग्रहण' में भी आजावे, तो थोड़े ही काल में फिर उग्रह अर्थात् निर्मल हो जावेगा। २०

पं० महेश०—स्वामीजी हिन्दुओं के धर्मप्रचारी ग्रन्थों को नहीं मानते, कि जिनमें कर्मकाण्ड और होमादिक का विधान है, २५

१. यह लेख हम पूर्व छाप चुके हैं। द्रष्टव्य पृ० १७६। यु० मी०।

२. सब संस्करणों में 'कूप शब्द के' पाठ है, जो अर्थ रहित है। यहां 'कूप-मण्डूक के' पाठ प्रकरणानुसार चाहिये। ३०.

३. तुलनीय—'हलदी की गांठ पाके ऊन्दरो (चूहा) पंसारी बण बैठयो' मारवाड़ी कहावत। यु० मी०

४. अर्थात् ढांपने। यु० मी०



किन्तु केवल वेदों ही की तरफ खिंचते हैं। इससे मेरी समझ से तो उनको यही उचित है कि वेदों को भी एक तरफ डालकर अपनी युक्ति और बुद्धि ही के अनुसार वर्तव बर्त्ते।

- स्वामीजी—इस जगह पण्डितजी की और भी बढ़कर भूल साबित होती है। तथा जाना जाता है कि उन्होंने प्राचीन सत्य ग्रन्थ कभी देखे भी न हों। और कल्पना किया कि देखे हो, तो केवल दर्शनमात्र किया हो, नहीं तो खाली तुकें न मिलाते। अब कोई साहब पण्डितजी से पूछें कि उन्होंने 'हिन्दू' शब्द कौन से ग्रन्थ में देखा है? कि जिस के अर्थ गुलाम वा काफिर आदि के हैं, और जो कि आर्यावर्तियों को कलंक रूप नाम यवनादिक को ओर से है। और 'आर्य' शब्द जिस के अर्थ श्रेष्ठ के हैं, वह वेदों में अनेक ठिकाने मिलता है। सो पण्डितजी 'नौका में धूसर उड़ते हैं'। सो कब हो सकता है? और भूषण को दूषण करके मानते हैं, तो माना करो। परन्तु विद्वानों और पूर्ण पण्डितों की ऐसी उल्टी रीति निज धर्म-शास्त्र के विरुद्ध कभी नहीं होगी।

- आगे वे लिखते हैं कि—'स्वामीजी धर्मप्रचारी ग्रन्थों को ही नहीं मानते हैं कि जिनमें कर्मकाण्ड का विधान है।' तो यह बड़े तमाशे की बात है कि न तो पण्डितजी ने कभी मुझ से मिलकर चिरकाल विचार किया, और न उन्होंने मेरे बनाये हुये ग्रन्थ देखे।<sup>१</sup> किन्तु प्रथम ही मेरे मानने न मानने के विषय में अपना सिद्धान्त कर बैठे। तो यह वही बात हुई कि—'सोवें भोंपड़े में और स्वप्न देखें राजमहलों का'। क्योंकि मैं—'अपने निश्चय और परीक्षा के अनुसार ऋग्वेद से लेकर पूर्वमीमांसा पर्यन्त अनुमान से तीन हजार ग्रन्थों के लगभग मानता हूँ'।<sup>२</sup>

- २५ १. यहां संस्कृत ग्रन्थों से अभिप्राय है। २. अर्थात् धूलि।  
३. 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' आदि में सर्वत्र श्रुत गृह्य आदि कर्मकाण्ड के ग्रन्थों को स्वीकार किया है। इतना ही नहीं, भूमिका ग्रन्थ के प्रतिज्ञाविषय में वेद के कर्मकाण्डानुसारी याज्ञिक अर्थ को भी स्वीकार किया है।  
४. अथात् बना बैठे।  
३० ५. जिस व्यक्ति ने परीक्षा करके तीन हजार ग्रन्थों को प्रामाणिक रूप में चुना, उसने कितने सहस्र ग्रन्थों का अध्ययन किया होगा, यह अनुमान सहज में ही लगाया जा सकता है।



तथा कर्मकाण्ड के विषय में यह उत्तर है कि—‘मेरा मत वेद पर है। इसलिये जो-जो कर्मकाण्ड वेदानुकूल है, उस सबको मानता हूं, उससे विरुद्ध को नहीं। क्योंकि वे ग्रन्थ मनुष्यों ने अपने स्वार्थ-साधन के निमित्त रच लिये हैं। वे वेद युक्ति वा प्रमाण से सिद्ध नहीं हो सकते। जो-जो संस्कार आदि मैं मानता हूं, वे सब मेरी बनाई हुई वेदभूमिका अङ्क ३ (तीन) में तथा संस्कारविधि आदि ग्रन्थों में देखना चाहिये।

और वे लिखते हैं कि—‘वेदों को भी एक तरफ धर दें, केवल अपनी युक्ति वा बुद्धि ही के आधारों रहें। तो उत्तर यह है कि—‘मैं वेदों में कोई बात युक्तिविरुद्ध वा दोष की नहीं देखता, और उन्हीं पर मेरा मत है। सो यह सब भेद मेरे वेदभाष्य में खुलता जायगा। और विद्वानों का यह काम नहीं कि किसी हेतु से सत्य को त्याग के असत्य का ग्रहण करें।’

पं० महेश०—हिन्दुओं का विश्वास है कि देववाणी का प्रकाश परमेश्वर की ओर से वेद-पुस्तकों के रूप से हुआ है, वा ऋषियों के द्वारा प्रेरणा की गई है। परन्तु मेरी समझ से तो दोनों प्रकार ठीक नहीं हो सकता।

स्वामीजी—इस बात का उत्तर वेदभाष्य की भूमिका अङ्क १ प्रथम ‘वेदोत्पत्तिप्रकरण’ में देख लेना चाहिये। परन्तु इतना यहां भी मैं कहता हूं कि आर्य्य लोग सनातन से युक्ति प्रमाण-सहित वेदों को परमेश्वरकृत मानते बराबर चले आये हैं। इसका ठीक-ठीक विचार आर्य्य लोग ही कर सकते हैं। हिन्दू विचारों का क्या ही सामर्थ्य है ?

पं० महेश०—वेद इस विषय में स्वतः प्रमाण हैं कि उनमें बहुधा होम बलिदान आदि का विधान है। तथा इसका प्रमाण अन्य ग्रन्थों में भी पाया जाता है कि जिनको स्वामीजी भी मानते हैं। इसलिये वे वेदमत को स्वीकार करके होमादिक से अलग नहीं बच सकते हैं। सिवाय ऐसे मनुष्य के कि जो स्वामीजी की तरह अपनी नवीन रीति से मन्त्रभाष्य की रचना करे। देखना चाहिये कि यह

१. रा. ला. क. ट. संस्क० पृष्ठ ५३-७३।

२. रा. ला. क. ट. संस्क० पृष्ठ १०-३०।



स्वामीजी का परिश्रम कैसा वृथा समझा जा सकता है कि जब मैं उनके भाष्य की परीक्षा करूँगा।

स्वामीजी-वेदों में जो यज्ञादिक करने की आज्ञा है, उस सबको प्रमाण और युक्ति-सिद्ध होने के कारण मैं मानता हूँ, और सबको ५ अवश्य मानना चाहिये। जैसे कि वेदभूमिका अङ्क ३ के 'यज्ञप्रकरण' में लिख दिया है। उससे विरुद्ध जो बलिदान अर्थात् आजकल के लोगों ने समझ रक्खा है, यह सब वेदविरुद्ध है। और मेरा भाष्य तो नवीन रीति का नहीं ठहर सकता, क्योंकि वह प्राचीन सत्य ग्रन्थों के प्रमाणयुक्त बनता है। परन्तु पण्डितजी का जो कथन है, १० सो केवल अप्रमाण है। और पण्डितजी ने मन के ही गुलगुले खाये हैं। आगे मेरे ग्रन्थ की परीक्षा तो तमाम देशभर को हो ही जावेगी, परन्तु पण्डितजी की विद्या तो अभी तुल गई।

पं० महेश०—स्वामीजी का मन्त्रभाष्य ही अद्भुत नहीं है, किन्तु उनके लिखने की रीति और व्याकरण भी पण्डितों के आगे १५ हंसी के कसनेवाले हैं। तथा कई अशुद्धियाँ, जो उनके परीक्षकों ने निकाली हैं, वे इस बात को साफ-साफ सिद्ध करती हैं कि स्वामीजी सत्य का प्रकाश तो नहीं करते, किन्तु अपनी कीर्ति और नाम की २० प्रसिद्धि अवश्य चाहते हैं। जैसे कि वे 'उपचक्र' शब्द को पाणिनि के 'गन्धनावक्षे०' सूत्र से सिद्ध करते हैं, यह कभी नहीं हो सकता। यह बात मानी जा सकती है कि 'उपचक्र' में आत्मनेपद लाया गया है, साफ कहने के अर्थ में। परन्तु 'उप कृञ्' से यह अर्थ नहीं निकल सकता है, और न स्वामीजी का यह अभिप्राय है। क्योंकि वे उसका भाषा में अर्थ करते हैं कि—'किया है'।

स्वामीजी—इनका उत्तर मैं पण्डित गुरुप्रसाद आदि के 'तर्क- २५ खण्डन' के साथ दे चुका हूँ। और पण्डितजी ने कुछ उनसे विशेष पकड़ नहीं की है।

१. रा. ला. क. ट. संस्क० पृष्ठ ५३-७३।

२. अष्टा० १। ३। ३२॥

३. द्रष्टव्य—पूर्वत्र पृष्ठ १८०-१८१।

३० ४. इससे आगे वै० य० मुद्रित संस्करणों में 'परन्तु.....की प्रसिद्धि।' पाठ छपा मिलता है। यह अस्थान में है। इस ग्रन्थ का जो सर्व प्रथम संस्करण शाहजहांपुर से लीथो प्रेस में छपा था, उसमें "नहीं की है", परन्तु



भाषार्थ में जो शब्द 'किया है' लाया गया, तो इसका कारण यह कि भाषा में संस्कृत का अभिप्रायमात्र लिखा है, केवल शब्दार्थ ही नहीं। क्योंकि भाषा करने का तो केवल यहां तात्पर्य है कि जिन लोगों को संस्कृत का बोध नहीं है, उनके बिना भाषार्थ के यथार्थ वेदज्ञान नहीं हो सकेगा। इसलिये भला यह कोई बात है कि ऐसी ५ तुच्छ बातों में दोष पैदा करना, जो कि विद्वानों के विचार से दूर हैं। और 'उप, कृञ्' धातु का अर्थ है 'उपकार' और 'किया'। ये दोनों अर्थ भी भूतकाल की क्रिया को बतलाते हैं कि ईश्वर ने जीवों के हित के लिये वेदों का उपदेश किया है, और ठीक-ठीक घट सकता है। परन्तु इस बात का भेद सिवाय अन्तर्यामी परमेश्वर के १० जीव नहीं जान सकता कि मैं लोकहित चाहता हूं, वा केवल विजय, अर्थात् नाम की प्रसिद्धि।

पं० महेश०—खैर ये तो साधारण बातें थी। परन्तु अब मैं भारी-भारी दोषों पर आता हूं। मन्त्रभाष्य के प्रथम संस्कृतखण्ड में 'अग्निमीडे पुरोहितम्' इसके भाष्य में स्वामीजी ने 'अग्नि' शब्द १५ से ईश्वर का ग्रहण किया है, जब कि प्रसिद्ध अर्थ अग्नि शब्द के सिवाय आग के दूसरे कोई नहीं ले सकता। तथा सायणाचार्य वेद के भाष्यकार की इसी विषय में साक्षी वर्तमान है।

स्वामीजी अपने पक्ष में शतपथ ब्राह्मण और निरुक्त आदि को प्रमाण मानते हैं। परन्तु क्या ये भाष्य आदि अग्नि शब्द से परमेश्वर २० के अर्थ की पुष्टि कर सकते हैं? अर्थात् कभी नहीं। क्योंकि जो-

इस..... प्रसिद्ध है। 'भाषार्थ में.....घट सकता है।'।" इस प्रकार पाठ को आगे पीछे पढ़ने के लिए (जो लेखक के प्रसाद से अस्थान में लिखा जा चुका था) २ तथा १ के संकेत दिए थे। परन्तु द्वितीय संस्करण के संशोधक के अज्ञान के कारण अर्थात् संख्या देने का कारण न समझने के कारण २५ यह पाठ पूर्ववत् अस्थान में छप गया। तदनुसार ही अगले संस्करणों में भी छपता चला आ रहा है। ऐसी ही एक भयङ्कर अशुद्धि यजुर्वेदभाष्य अ० १ मं० ५ के अन्वय में हस्तलेख में पाठ को आगे-पीछे करने के लिये लगाये गए २-२, १-१ संख्या के संकेतों को न समझने के कारण हुई, और आज तक यह पाठ वै० य० मुद्रित में अस्थान में छप रहा है। इसके लिये देखिए ३० रा. ला. क. द्रष्टृ का संस्करण पृष्ठ ४६ पर टिप्पणी।

१. यह संकेत ऋषि दयानन्द सरस्वती द्वारा प्रकाशित वेदभाष्य के नमूने के अङ्क की ओर है। यह प्रथम बार लाजरस प्रेस काशी से सं० १९३३ में छपा था। इस संग्रह में भी हमने पृष्ठ १३६-१६६ तक छापा।

२. ऋ० १।१।१।१।१।

३५



जो शब्द उन में ईश्वरार्थ में लिखे हैं, उन में अग्नि शब्द का नाम भी नहीं है। फिर स्वामीजी इसी पक्ष में ऐतरेय ब्राह्मण का प्रमाण धरते हैं कि—“अग्निर्वै सर्वा देवताः ॥ ऐ० १। पं० १।” जिस का यहां कुछ सम्बन्ध नहीं है, किन्तु दीक्षास्थित यज्ञ में लग सकता है। ५ में यह आगे का वाक्य डाक्टर एम० हाग साहब के टीका सहित लिखता हूं।

स्वामीजी अब पण्डितजी की ऐसी पकड़ से मालूम हो गया कि उन को संस्कृत ग्रन्थ समझने का बहुत ही बोध है, और विद्वानों को चाहिये कि पण्डितजी की खातर से मान भी लें कि वेदविद्या के १० बड़े प्रवीण हैं। सत्य तो यह है कि उन्होंने प्राचीन ऋषि मुनियों के ग्रन्थ कभी नहीं देखे, और उनको ठीक ठीक अर्थ समझने का बिलकुल ज्ञान नहीं। क्योंकि जिन-जिन ग्रन्थों अर्थात् वेद शतपथ और निरुक्त आदियों के प्रमाण मैंने वेदभाष्य में लिखे हैं, उनको ठीक-ठीक विचारने से आयने के समान जान पड़ता है कि ‘अग्नि’ १५ शब्द से ‘आग’ और ‘ईश्वर’ दोनों का ग्रहण है। जंसे देखो कि—

१—‘इन्द्र मित्रं वरुण०’ ॥ २—‘तदेवाग्निस्तदादित्य०’ ॥  
३—‘अग्निर्होता कवि०’ ॥ ४—‘ब्रह्मा अग्निः’ ॥ ५ ‘आत्मा वा अग्निः’ ॥

देखिये विद्वानेत्र से इन पांच प्रमाणों में ‘अग्नि’ शब्द से परमे- २० श्वर ही का ग्रहण होता है।

‘अयं वा अग्निः प्रजाश्च प्रजापतिश्च’ ॥ और इस प्रमाण में प्रजा शब्द से भौतिक अग्नि और प्रजापति शब्द से परमेश्वर लिया जाता है। इसी प्रकार ‘संवत्सरोऽग्निः’ ॥ इत्यादि प्रमाणों में ‘अग्नि’ शब्द से ठीक ठीक परमेश्वर का ग्रहण होता है।

२५ तथा ‘अग्निर्वै सर्वा देवताः’ ॥ इस वचन में भी परमेश्वर और सांसारिक अग्नि का ग्रहण होता है। क्योंकि जहां उपास्य-

- |                                      |                      |
|--------------------------------------|----------------------|
| १. अर्थात् दर्पण।                    | २. ऋ० १। १६४। ४६ ॥   |
| ३. यजु० ३२। १ ॥                      | ४. ऋ० १। १। ५ ॥      |
| ५. शत० १। ५। १। ११ ॥                 | ६. शत० ७। ३। १। २ ॥  |
| ७. शत० ६। १। १। ४२ ॥                 | ८. शत० ६। ३। १। २५ ॥ |
| ९. ऐत. ब्रा० १। १ ॥ शत० १। ६। २। ८ ॥ |                      |



उपासक प्रकरण में सर्व देवता शब्द से अग्निसंज्ञक परमेश्वर का ग्रहण होता है, इसमें मनु का प्रमाण दिया है।<sup>१</sup> क्योंकि—‘यत्रोपास्यत्वेन सर्वा देवतेत्युच्यते तत्र ब्रह्मात्मैव ग्राह्यः’<sup>२</sup> ॥’ जो वे इस पङ्क्ति का अभिप्राय समझते, तो उनको ‘अग्नि’ शब्द से परमेश्वर के ग्रहण में कभी भ्रम न होता।

५

तथा निरुक्त से भी परमेश्वर और भौतिक इन दोनों का यथावत् ग्रहण होता है। देखो एक तो—‘अग्रणीः’<sup>३</sup> इस शब्द से उत्तम परमेश्वर ही माना जाता है,<sup>४</sup> इस में कुछ सन्देह नहीं। और दूसरा हेतु यह है कि—‘इतात्’ इस शब्द से ‘अग्नि’ ज्ञानस्वरूप परमेश्वर ही का ग्रहण हो सकता है। क्योंकि ‘इण गतौ’ इस धातु से यहां ज्ञानार्थ ही अभिप्रेत है। ‘दग्धात्’ इस पद से केवल भौतिक अग्नि लिया जायगा, परमेश्वर नहीं। तथा ‘अक्तात् और ‘नीतात्’ इन दोनों से परमेश्वर और भौतिक दोनों लिये जाते हैं। क्योंकि ‘इण’ धातु से ऋषि का प्राप्ति का गमन अर्थ ही लेने का अभिप्राय होता, तो ‘अक्तात्, दग्धात्, नीतात्’ ऐसे शब्दों का ग्रहण नहीं करते। १५

तथा जो ‘अग्नि’ शब्द से धात्वर्थ<sup>५</sup> ग्रहण में यास्कमुनि का

१. यह संकेत ग्रन्थकार द्वारा उद्धृत मनु के ‘आत्मैव देवताः सर्वाः सर्वमात्मन्यवस्थितम्’ (१२।११६) वचन की ओर है।

२. यह पंक्ति ग्रन्थकार की है। जो वेदभाष्य के नमूने के अङ्क (पूर्वत्र पृष्ठ १३६ पं० २, ३) में वर्णित ‘अग्निर्वै सर्वा देवताः’ के आगे (पं० ४ में) पढ़ी हुई है। २०

३. यह पद तथा अगले पद ग्रन्थकार द्वारा उद्धृत ‘अग्निः कस्मादग्रणीर्भवति’ इत्यादि निरुक्त ७।१४ के पाठ के हैं।

४. ‘अग्रणीः’ निर्वचन से अग्निशब्द से परमेश्वर का ग्रहण होता है, इसमें आचार्य शंकर का भी प्रमाण है। वे लिखते हैं—‘अग्निशब्दोऽग्रणीत्वादियोगाश्रयेण परमात्मविषय एव भविष्यति।’ ब्र०—वेदान्तभाष्य २५।२।२८ ॥

५. ‘सर्वे गत्यर्था ज्ञानार्थाः’ इस वैयाकरण-नियम से।

६. पाश्चात्य मतानुयायी निरुक्त के निर्वचनों का प्रयोजन धातुनिर्देश मानते हैं, और उसी के अनुसार यास्क के लगभग १२०० निर्वचनों में से लगभग ६०० निर्वचनों को अशुद्ध बताते हैं। डा० सिद्धेश्वर वर्मा ने ‘इटिमो-लोजी आफ् यास्क’ में और डा० वेल्वेल्कर ने निरुक्त की भूमिका वा टिप्पणी-



अभिप्राय नहीं होता, तो पृथक् पृथक् धातुओं को नहीं गिनते । और 'अग्निर्वै सर्वा देवताः इति.....निर्वचनाय' इस वचन का अर्थ निरुक्तकार करते हैं कि जिसको बुद्धिमान् लोग अनेक नामों से वर्णन करते हैं, जो कि एक अद्वितीय सबसे बड़ा सब का आत्मा है, उसी ५ को 'अग्नि' कहते हैं ।<sup>२</sup>

'उत्तरे ज्योतिषी एतेन नामधेयेन भजेते ॥'<sup>३</sup> इस वचन में 'अग्नि' शब्द से परमेश्वर और भौतिक दोनों का ग्रहण होता है । क्योंकि इस अग्नि नामधेय से दोनों उत्तर ज्योति अर्थात् अनन्त ज्ञान प्रकाशयुक्त परमेश्वर, जो कि प्रलय के उत्तर सब से सूक्ष्म तथा १०. [सब का] आधार है उसका,<sup>४</sup> और जो विद्युत् रूप गुणवाला सबसे सूक्ष्म स्थूल पदार्थों में प्रकाशित और प्रकाश करनेवाला भौतिक अग्नि है, इन दोनों का यथावत् ग्रहण होता है ।

इसी प्रकार 'अग्निः पवित्रमुच्यते' इत्यादि में भी 'अग्नि' शब्द से दोनों ही को लेना होता है । तथा 'प्रशासितारं०'<sup>५</sup> जो सबको १५ शिक्षा करनेवाला, सूक्ष्म से भी अत्यन्त सूक्ष्म, स्वप्रकाशस्वरूप,

में यास्क के निर्वचनों को वेहूदा, और यास्क को प्रमादी आदि कहा है । वस्तुतः निरुक्त का प्रयोजन शब्द-निर्वचन नहीं है, वह तो व्याकरण का क्षेत्र है । यास्क का क्षेत्र अर्थनिर्वचन है । दुर्गादि समस्त प्राचीन नैरुक्त 'निरुक्तम् अर्थनिर्वचनशास्त्रम्' ऐसा कहते हैं । इसी प्राचीन मत की दृष्टि से ऋषि २० दयानन्द ने भी 'धात्वर्थ-ग्रहण' शब्दों का प्रयोग किया है । इसी ग्रन्थ में आगे ऋषि दयानन्द ने स्पष्ट लिखा है कि 'धात्वर्थ के निर्देश से अर्थ प्रतीति कूराई है । क्योंकि शब्दों का साधुत्व व्याकरण का ही विषय है, निरुक्त का नहीं ।'

१. निरुक्त ७ । १७ ॥

२५ २. निरुक्तकार ने उक्त वचन के आगे 'इन्द्र मित्रं' (ऋ० १ । १६४ । ४६) को उद्धृत करके यह अभिप्राय दर्शाया है ।

३. निरुक्त ७ । १८ ॥

४. यद्यपि आधिदैविक पक्ष में 'उत्तरे' पद से सूर्य और विद्युत् (= इन्द्र) का संकेत है । तथापि निरुक्त अ० १३-१४ में पठित अतिस्तुति अर्थात्

३० अध्यात्मपक्ष में परमेश्वर का ही ग्रहण होता है ।

५. निरुक्त ५ । ६ ॥

६. मनु० १२ । १२२ ॥



समाधियोग से जानने योग्य परपुरुष परमात्मा है, विद्वान् उसी को परमेश्वर जाने। फिर 'एतमेके वदन्त्यग्नि०'<sup>१</sup> विद्वान् लोग 'अग्नि' आदि नामों करके एक परमेश्वर को ही कहते हैं।

ऊपर के सब प्रमाण अग्नि अर्थात् परमेश्वर में प्राचीन सत्य-ग्रन्थों की साक्षी से ठोक-ठोक घटते हैं। परन्तु जो पण्डितजी के घर ५ के निराले ग्रन्थ हैं, उनमें न होगा। और कदाचित् वे कहें कि— निघण्टु में जो ईश्वर के नाम हैं, उनमें अग्नि शब्द नहीं आता, इससे मालूम हुआ कि अग्नि परमेश्वर का वाची नहीं। तो समझता चाहिये कि—जैसे निघण्टु के अ० २। खं० २२। में जो 'राष्ट्री, अर्य्यः, नियुत्वान्, इनः' ये चार ईश्वर के अप्रसिद्ध नाम हैं। और १० यह नहीं हो सकता कि जो नाम ईश्वर के निघण्टु में हों, वे ही माने जायं, औरों को विद्वान् लोग छोड़ दें। परमेश्वर के तो असंख्यात नाम हैं, और आप क्या चार ही नाम ईश्वर के समझते हैं? और क्या निघण्टु में न लिखने से ब्रह्म परमात्मा आदि ईश्वर के नाम नहीं हैं? यह पण्डितजी की बिलकुल भूल है। जैसे १५ ब्रह्म आदि ईश्वर के नाम निघण्टु के बिना लिखे भी लिये जाते हैं, वैसे 'अग्नि' आदि भी परमेश्वर के नाम हैं। इस पूर्वपक्ष में जो कुछ अवश्य था, संक्षेप से लिख दिया। यह बात वेदभाष्य के अङ्क<sup>३</sup> में विस्तारपूर्वक सिद्ध कर दी है, वहां देख लेना।

पण्डितजी आर० अफिथ साहब और सी० एच० टानी साहबों २० के पीछे-पीछे चलते हैं। सो इसका कारण यह है कि पण्डितजी ने महीधरादि की अशुद्ध टीका देख ली है, और उक्त साहबों ने प्रोफेसर विलसन आदि के उन्हीं अशुद्ध भाष्यों के उलथे अंग्रेजी में देख लिये होंगे। उनसे क्या हो सकता है। जब तक सत्य ग्रन्थों और मूलमन्त्रों को न देखें समझें, तब तक वेदमन्त्रों का अभिप्राय ठीक-ठीक जान २५ लेना लड़कों का खिलौना नहीं है। इसी के समान पण्डितजी का और कथन भी है। इसलिये अब दूसरी बात का उत्तर लिखते हैं—

'अग्निर्वै सर्वा देवताः'। [अग्निर्वै] देवानामवमो विष्णुः परमस्त-दन्तरेण सर्वा अन्या देवताः'<sup>४</sup> इत्यादि पर जो पण्डितजी ने लिखा है,

१. मनु० १२। १२३॥

२. अर्थात् 'पूर्वपक्ष के उत्तर में आवश्यक था'।

३. पृष्ठ १-२। इस संग्रह में पृष्ठ १३७-१४०। ४. ऐत० १। १॥



सो भी अयुक्त है । क्योंकि वेदमन्त्रादि प्रमाणों को छोड़कर 'अग्निर्वै सर्वा०' इस पद पर लिखने से मालूम होता है कि पण्डितजी ने भाष्य की परीक्षा तो न की, किन्तु छल अवश्य किया है । सो भी पण्डितजी ने इस वाक्य को तो लिखा, परन्तु उसके अभिप्राय को यथार्थ नहीं जाना । क्योंकि इसका अभिप्राय यह है कि—कर्मकाण्ड के अग्निहोत्रादि अश्वमेध पर्यन्त होम क्रिया में अग्नि मन्त्र प्रथम और विष्णु मन्त्र का पश्चात् उच्चारण करते हैं । जहां-कहीं व्यावहारिक ३३ देव गिनाये हैं, वहां भी अग्नि प्रथम और विष्णु अन्त में गिनाया है । तथा "अग्निर्देवता०" इस मन्त्र में भी अग्नि का प्रथम वरुण का अन्त में ग्रहण किया है । सो ऐतरेय ब्राह्मण के पं० १, अ० २, कं० १० में लिखा है कि—त्रयस्त्रिंशद् वै देवा अष्टौ नसवः' इत्यादि ।

तथा शतपथ ब्राह्मण में भी इसी बात की व्याख्या [लिखी है ।] वेदभाष्य की भूमिका के अङ्क ३ पृष्ठ ५६ की पंक्ति ३१<sup>३</sup> में देवता शब्द से किस-किस को किस-किस गुण से ग्रहण करना लिखा है, वहां देख लेना । तथा उसी अङ्क ३ के पृष्ठ ६६ पंक्ति ७<sup>४</sup> में अग्नि से आरम्भ करके प्रजापति यज्ञ अर्थात् विष्णु में गिनती पूर्ण कर दी है । इसलिये 'अग्निर्वै०' इस वचन में अग्नि को प्रथम और विष्णु को अन्त में गिना है । सो पूर्वलिखित ग्रन्थ में देखने से सब शंका निवारण हो जायगी । तथा उक्त साहब लोगों और पण्डितजी की यह भी शंका निवृत्त हो जावेगी कि वेदों में एक के सिवाय दूसरा ईश्वर कोई भी नहीं है, किन्तु जिस-जिस हेतु से जिस-जिस पदार्थ का नाम 'देव' धरा है, उस-उस को वहां अर्थात् अङ्क ३ में देख लेना ।<sup>५</sup>

२५ १. यजु० १४ । २० ॥

२. प्रथम संस्करण में 'वरुण' पाठ ही है । यजुर्मन्त्र में भी 'वरुण' पद ही अन्त में है : उत्तरवर्ती संस्करणों में 'वरुण' के स्थान पर 'विष्णु' पाठ मिलता है, वह अपपाठ है ।

३. रा. ला. क. ट. संस्क० पृष्ठ ६७ ।

३० ४. रा. ला. क. ट. संस्क० पृष्ठ ७३ ॥

५. अङ्क में पृष्ठ ५६-७१ तक । रा. ला. क. ट. सं० में पृष्ठ ६७-७६ तक ।



और डाक्टर एम० [हाग] साहब की अशुद्ध टीका का जो हवाला देते हैं, तो यह पण्डितजी को एक लज्जा की बात है कि प्राचीन सत्य संस्कृत ग्रन्थों को छोड़कर इधर-उधर कस्तूरिये हिरन के समान भूलते और भटकते हैं। डाक्टर एम० [हाग] साहब वा सी० एच० टानी साहब वा आर० ग्रिफिथ साहब आदि कुछ ईश्वर नहीं, ५ कि जो कुछ वे लिख चुके वह बिना परीक्षा वा विचार के मान लेने योग्य ठहरे। क्या डाक्टर एम० हाग साहब हमारे आर्य ऋषि-सुनियों से बढ़कर हैं? कि जिनको हम सर्वोपरि मान निश्चय कर लें और प्राचीन सत्य ग्रन्थों को छोड़ दें, जैसा कि पण्डितजी ने किया है? जो उन्होंने ऐसा किया तो किया करो, मेरी दृष्टि में तो १० वे जो कुछ हैं, सो ही हैं।

तथा इस कण्डिका में भी 'यज्ञस्यान्ते' वचन में आदि में अग्निमन्त्र और अन्त में विष्णुमन्त्र का प्रयोग किया जाता है, फिर इन दोनों के बीच में व्यवहार के सब मन्त्र देवता गिने हैं। अग्नि को प्रथम [इस कारण माना है कि] जिन-जिन द्रव्यों का वायु और १५ वृष्टि जल की शुद्धि के लिये अग्नि में होम किया जाता है, वे सब परमाणुरूप होकर विष्णु अर्थात् सूर्य के आकर्षण से वायु द्वारा आकाश में चढ़ जाते हैं। फिर मेघमण्डल में जलवृष्टि के साथ उतर कर, बाकी जो बीच में ३० देव गिना दिये हैं, उन सभी को लाभ पहुंचाते हैं। इस अभिप्राय को पण्डितजी नहीं समझते हैं। २०

पं० महेश० - अब ऊपर के वचन से साफ जाना जा सकता है कि वेद में एक परमेश्वर की पूजा नहीं, किन्तु निस्सन्देह देवता-विधान पाया जाता है। और उन देवताओं को बलिदान आदि पदार्थों का भेंट करना लिखा हुआ है। इस वाक्य में यह बात सिद्ध नहीं हो सकती कि 'अग्नि' शब्द का अर्थ ईश्वर है, किन्तु उसमें २५ ईश्वर का जिकर भी नहीं है। इस बात की साबूती में स्वामीजी एक प्रमाण देते हैं - 'यत्रोपास्यत्वेन०' अर्थात् जहां सब देवों का

१. यह ऐतरेय ब्राह्मण का अंग्रेजी अनुवाद है।

२. ऐत० १।१॥

३. अगला वचन प्रमाणरूप नहीं है, अपितु स्वामी दयानन्द का अपना ३० वचन है। द्र०-पृष्ठ २०३ की १२वीं टिप्पणी।



पूजन कहा है, वहां परमेश्वर को समझना चाहिये। फिर इसकी पुष्टि में स्वामीजी मनु का प्रमाण देते हैं—‘आत्मैव देवताः सर्वाः’ अर्थात् आत्मा सब देव है, और आत्मा ही में संसार स्थित है। यह नहीं समझ सकते कि यह वचन स्वामीजी का मन-प्रसन्न प्रमाण की ५ पुष्टता कैसे कर सकता है ?

स्वामीजी—ऊपर के वचनों से ईश्वर का नाम ‘अग्नि’ सिद्ध कर दिया गया है। परन्तु पक्षपात छोड़के विद्या की आंख से देखने-वाले को स्पष्ट मालूम होता है कि निस्सन्देह ‘अग्नि’ ईश्वर का भी नाम है। वेदों में अनेक ईश्वर का विधान कहीं नहीं है। और जो १० देवता शब्द से सृष्टि के भी पदार्थों का विधान है, उसका उत्तर ‘ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका’ के अङ्क ३ के देवता-विधान-प्रकरण को देखने से अच्छी प्रकार जान लेना। अर्थात् जिस-जिस गुण और अभिप्राय से सृष्टि के पदार्थों का नाम ‘देवता’ रक्खा गया है, उसको देख लेना चाहिये। क्योंकि वहां यह बात अनेक प्रमाणों से सिद्ध कर दी है। परन्तु चारों वेदों में उनको दूसरा ईश्वर कहीं नहीं माना १५ है, और न ईश्वर के तुल्य पूजना कहा है। किन्तु उनकी दिव्यगुणों से व्यवहारमात्र में ‘देवता’ संज्ञा मानी है। चारों वेदों में एक से दूसरा ईश्वर कहीं प्रतिपादन नहीं किया है। तथा इन्द्र अग्नि और प्रजापति आदि शब्दों से ईश्वर और भौतिक दोनों का प्रतिपादन २० किया है।

और जो पण्डितजी लिखते हैं—कि ‘अग्नि’ शब्द का अर्थ ईश्वर नहीं है, किन्तु उस स्थान में जिकर भी नहीं। इसका उत्तर यह है कि इसमें वेद वेदान्त ब्राह्मण तथा मेरा दोष नहीं है, किन्तु इस में पण्डितजी के शास्त्रों में न्यून अभ्यास का दोष है। क्योंकि जो २५ मनुष्य वेदादिशास्त्रों का यथार्थ अर्थ न समझा होगा, उसके उलटे ज्ञान हो जाने का सम्भव है। वेदों में एक ईश्वर के प्रतिपादन में

१. अर्थात् मन-प्रसन्न । ऋषि दयानन्द ‘प्रसन्न’ के अर्थ में सर्वत्र ‘प्रसन्न’ शब्द का ही व्यवहार करते हैं, प्र + सद् + क्त = प्रसन्न । मनोजस्मिन् प्रसीदति तत् प्रसन्नम् । अधिकरण में क्त ।

३०

२. रा. ला. क. ट. संस्क० पृष्ठ ६७-८० तक

३. अर्थात् अग्नि आदि भौतिक पदार्थों को ।



भूमिका अङ्क ४ में ८६ के पृष्ठ से १२ तक 'ब्रह्मविद्याप्रकरण' की समाप्ति-पर्यन्त देखना चाहिये ।

'आत्मैव देवताः सर्वाः०'<sup>१</sup> इसका अभिप्राय पण्डितजी ने ठीक-ठीक नहीं समझा है । क्योंकि इसका मतलब यह है कि आत्मा अर्थात् परमेश्वर ही अग्नि आदि सब व्यवहार के देवताओं का रचन ५ पालन और विनाश करनेवाला है । तथा 'अग्निर्देवताः०'<sup>२</sup> इत्यादि प्रकरण में व्यवहार के देवता और अग्नि आदि नामों से परमेश्वर का भी ग्रहण है । क्योंकि 'सर्वमात्मन्यवस्थितम्'<sup>३</sup> इस वचन से सिद्ध होता है कि सब जगत् का आत्मा जो परमेश्वर है, सो उसी में स्थिर है, और वही सब में व्यापक है । इस अभिप्राय से यह बात १० सिद्ध होती है कि 'अग्नि' परमेश्वर का भी नाम है । इससे मेरा कहना यथार्थ पुष्टि रखता है ।

पं० महेश०—ऐतरेय ब्राह्मण के प्रमाण से अग्नि और विष्णु दो ही देव मुख्य करके पूजनीय माने हैं । क्योंकि वे ही यज्ञ में आदि [और] अन्त के देव हैं, जिनके द्वारा सब बीचवालों को भाग १५ पहुँचता है । इसलिये इन्हीं दोनों की सब देवों के तुल्य स्तुति की गई है । इसमें स्वामीजी ऐतरेय ब्राह्मण का जो प्रमाण देते हैं, सो उनके कथन की पुष्टि तो नहीं करता, किन्तु विरुद्ध पड़ता है ।

स्वामीजी—अब जो पण्डितजी 'अग्निर्वै सर्वा देवताः'<sup>४</sup> इसमें भ्रान्त हुए हैं, सो ठीक नहीं । और जो 'अग्निर्वै देवानामवमो विष्णुः २० परमस्तदन्तरेण सर्वा अन्या देवताः'<sup>५</sup> इत्यादि ऐतरेय ब्राह्मण का प्रमाण धरा है, इसका अर्थ ठीक-ठीक पण्डितजी नहीं समझे हैं । इसका अभिप्राय यह है कि 'अग्निर्वै सर्वा देवताः, विष्णुः सर्वा देवताः' । इसका भी मनु के प्रमाण समान अर्थ होने से मेरे अभिप्राय की पुष्टि करता है । और जहां भौतिक वा मन्त्र ही देवता लिये २५ गये हैं, वहां पुरोडाश आदि करने की क्रिया द्रव्ययज्ञ में संघटित यथावत् की गई है । क्योंकि जब प्रथम अग्नि में होम किया जाता

१. रा. ला. क. ट. संस्क० पृष्ठ १०२-१०५ तक ।

२. मनु० १२ । ११६ ॥

३. यजु० १४ । २० ॥

४. मनु० १२ । ११६ ॥

३०

५. ऐत० ब्रा० १ । ११; शत० १ । ६ । २ । ८ ॥ ६. ऐत० १ । १ ॥



है, और उससे सब द्रव्यों के रस और जल आदि के परमाणु पृथक्-पृथक् हो जाते हैं, तब वे हलके होके सूर्य के आकर्षण से वायु के साथ मेघमण्डल में जाके रहते हैं। फिर वे ही मेघाकार संयुक्त होकर वृष्टि द्वारा पृथ्वी आदि मध्यस्थ देवसंज्ञक व्यवहार के पदार्थों को ५ पुष्ट करते हैं। इसका नाम 'भाग' और 'बलिदान' है। तथा इसी कारण अग्नि को प्रथम और सूर्य को अन्त में माना है। ऐसे ही अग्नि को सूक्ष्म और सूर्यलोक को अग्नि का बड़ा पुञ्ज समझा है। इत्यादि अभिप्रात से यह पंक्ति ऐतरेय ब्राह्मण में लिखी है। जिसको पण्डितजी ने न जानकर मेरे लेख पर विरुद्ध सम्मति दी है।

- १० पं० महेश०—निरुक्त भी कुछेक ही साक्षी देता है। स्वामीजी 'अग्निः कस्माद् अग्रणीर्भवति' इत्यादि निरुक्त का प्रमाण धरते हैं कि जिसमें अग्नि शब्द की साधना की गई है। कई धात्वर्थ केवल भौतिक अग्नि के वाची हैं। और स्वामीजी भी इस बात को मानते हैं, और कहते हैं कि—'सिवाय भौतिक के अग्नि शब्द से ईश्वर का १५ भी ग्रहण होता है'। और यह अर्थ 'अग्रणीः' शब्द से लेते हैं। जैसा कि निरुक्तकार समझता है कि अग्नि शब्द 'अग्र-नी' से मिलकर बना है। निरुक्तकार इस शब्द के कुछ विशेष अर्थ नहीं करता है। शतपथ ब्राह्मण जिसको स्वामीजी मानते हैं, विशेष अर्थ बताता है, परन्तु ईश्वर के नहीं। यद्यपि वे कुछ कहते हैं, लेकिन सिवाय २० भौतिक के दूसरा अर्थ नहीं हो सकता।

स्वामीजी—अब जो पण्डितजी लिखते हैं कि निरुक्तकार भी कुछेक ही सम्मति देता है, सो नहीं। क्योंकि निरुक्त में 'अग्नि' शब्द से परमेश्वर और भौतिक दोनों अर्थों का यथावत् ग्रहण किया है।

१. यहां 'भाग' शब्द के साथ केवल 'बलि' शब्द का प्रयोग होना २५ चाहिये, अर्थात् भाग और बलि पर्याय हैं। २. निरुक्त ७।१४॥

३. 'अग्नि' शब्द का साक्षात् रूप से परमात्मा अर्थ निरुक्तकार ने अध्याय १३ के आरम्भ में अतिस्तुति प्रकरण में किया है। वहां भी ये ही निर्वचन अभिप्रेत हैं। 'अग्रणी' पद से परमेश्वर अर्थ लिया जाता है, इस विषय में ग्रन्थकार ने इसी सन्दर्भ में आगे विशेषरूप से कहा है, वहां देखिये। ३० उस पर हमारी टिप्पणी भी द्रष्टव्य है।



तथा उसमें अग्नि शब्द का साधुत्व तो कुछ भी नहीं लिखा है, किन्तु धात्वर्थ के निर्देश से अर्थप्रतीति कराई है।<sup>१</sup> क्योंकि शब्दों का साधुत्व व्याकरण का ही विषय है, निरुक्त का नहीं। इसलिये उसमें रूढ़ि यौगिक और योगरूढ़ि शब्दों [के अर्थों] का निरूपण मुख्य करके किया गया है। जैसे कि 'इतात्, अक्तात्, दग्धात् वा नीतात्' इनमें 'इण्' धातु गत्यर्थक, 'अञ्ज्' व्यक्त्याद्यर्थ, 'दह' भस्मीकरणार्थ, 'णीञ्' प्रापणार्थ दिखाने से विद्वानों को ऐसा भ्रम कभी नहीं हो सकता है कि अग्नि शब्द से परमेश्वर और भौतिक दोनों का ग्रहण नहीं है। क्योंकि 'इण्' और 'अञ्ज्' इन धातुओं के गत्यर्थ होने से ज्ञान गमन प्राप्ति ये तीनों अर्थ लिये जाते हैं। इनमें ज्ञान और प्राप्त्यर्थ से परमेश्वर तथा गमन और प्राप्त्यर्थ से भौतिक-पदार्थ ये दोनों ही लिये जाते हैं।<sup>१०</sup>

और 'अग्रणी' शब्द तथा 'अग्रं यज्ञेषु प्रणीयतेऽङ्गं नयति' इसके अभिप्राय से अग्नि शब्द परमेश्वर, और 'न कनोपयति न स्नेहयति' इससे भौतिक पदार्थ में लिया जाता है, यह निरुक्त का अभि-<sup>११</sup> प्रायार्थ है। [यह] मन्त्रभाष्य के दूसरे पृष्ठ<sup>४</sup> में ठीक-ठीक लिख दिया गया है। जो उसको पण्डितजी ययार्थ विचारते, तो इस वेद-भाष्य पर ऐसी विरुद्ध सम्मति कभी न देते। क्योंकि निरुक्तकार ने पूर्वोक्त प्रकार से दोनों अर्थ का विशेष अच्छी तरह दिखला रक्खा है। परन्तु जो कोई किसी के लेख का अर्थ यथावत् नहीं समझते,<sup>२०</sup> उनको उसके विशेष वा सामान्य अर्थ का ज्ञान कभी नहीं हो सकता।

पं० महेश०—'प्रजापतिर्ह वा इदमग्र०'<sup>५</sup> हमारी मुराद यह नहीं है कि हम शतपथ ब्राह्मण में अग्नि शब्द भौतिक का वाची हूँ, किन्तु मैं यह बताता हूँ कि पूर्वोक्त वाक्य से निश्चित होता है कि<sup>२५</sup> अग्नि सिवाय आग के दूसरा अर्थ नहीं देती है।

१. द्र०-पृष्ठ २०३ टिप्पणी, ६।

२. निरुक्त ७। १४॥

३. 'अग्रणी' आदि निर्वचनों से अग्नि का अर्थ ब्रह्म स्वीकार किया जाता है, इसमें शङ्कराचार्य की सम्मति भी है। यह हम पूर्व पृष्ठ १३६ टि० २ में दर्शा चुके हैं।

४. इस संग्रह में पृष्ठ १३६ पर।

५. शत० २।२।४.१॥



स्वामीजी—पण्डितजी का कथन है—हमारी मुराद यह नहीं है कि हम शतपथ ब्राह्मण में अग्नि शब्द भौतिक का वाचीं ढूँं इत्यादि । इसका उत्तर यह है कि मैं पूर्वोक्त प्रकार अग्नि शब्द से परमेश्वर और भौतिक दोनों अर्थों को लेता हूँ, सो वेदादिशास्त्रों के प्रमाण ते निभ्रमता के साथ सिद्ध है । परन्तु पण्डितजी का अभि-  
प्राय, जो अग्नि शब्द से परमेश्वर के ग्रहण में विरुद्ध है, उसका हेतु यह मालूम पड़ता है कि पण्डितजी बाल्यावस्था से लेकर आज पर्यन्त अग्नि शब्द से भौतिक अर्थात् चूल्हे आदि में जलनेवाले ही अग्नि को सुनते और देखते आये हैं, इसलिये वहीं तक उन की  
१० दौड़ है ।

परन्तु मैं उनसे मित्रभाव से कहता हूँ कि वेद वेदाङ्ग उपाङ्ग और ब्राह्मण आदि सनातन आर्षग्रन्थों के अर्थ जानने में अधिक पुरुषार्थ करें कि जिस से ऐसी-ऐसी तुच्छ शङ्का हृदय में उत्पन्न न हों । क्योंकि जो-जो शतपथ के प्रमाण मैंने वेदभाष्य में अग्नि शब्द से परमेश्वर के ग्रहण-विषय में धरे हैं, वे क्या शतपथ के नहीं हैं ?  
१५ जो शङ्का हो, तो उक्त जगह पुस्तक में देख लें ।

और जिस वाक्य की पंक्ति का प्रमाण पण्डितजी ने धरा है, उसमें का मुख्य पाठ उन्होंने पहिले ही उड़ा दिया । इस चालाकी को देखना चाहिये कि—तद्यदेनं मुखादजनयत् तस्मादन्नादोऽग्निः, स यो  
२० हैवमेतमग्निमन्नादं वेदान्नादो हैव भवति।' इस में 'अन्नाद' शब्द अग्नि का वाची है । और—'अहमन्नमहमन्नमहमन्नम् । अहमन्नादो अहमन्नादो अहमन्नादः ।' यह तैत्तिरीय उपनिषद् का वचन परमेश्वर के विषय में है । अर्थात् वह उपदेश करता है कि मैं ही अन्नाद हूँ । और 'अन्नाद' अग्नि को कहते हैं, इससे यहां भी परमेश्वर का  
२५ नाम अग्नि आता है ।

और दूसरी चाल पण्डितजी यह भी खेले हैं कि जिस आधी पंक्ति से शतपथ में अग्नि शब्द से परमेश्वर लिया है, उस पाठ को अपने पुस्तक में नहीं लिखा । देखिये कि—

'प्रजापतिः परमेश्वरः यत् यस्मात् मुख्यात् प्रकाशमयान्मुख्यात्  
३० कारणात् एनं भौतिकमग्निमजनयत्, तस्मात् स परमेश्वरोऽन्नादो-



ऽग्निरर्थादग्निसंज्ञो विज्ञेयः । यो मनुष्यो ह इति निश्चयेनैवममुना प्रकारेणेतमन्नादं परमेश्वरमग्निं वेद जानाति ह इति प्रसिद्धे स एवान्नादो भवत्यर्थाद् ब्रह्मविद्भवतीति ॥'

इस प्रकार से यह बात निश्चित होती है कि पण्डितजी उन ग्रन्थों का अर्थ ठीक-ठीक नहीं जानते, और जितना जानते हैं उसमें ५ भी कपट और आग्रह से सत्य नहीं लिखते । पण्डितजी को विदित हो कि यहां पाठशालाओं के लड़कों से प्रश्नोत्तर लेख वा उनकी परीक्षा नहीं है । इससे जो कुछ वे लिखें, सो विचारपूर्वक होना चाहिये कि उनको किसी खुशामद वा आग्रह से लिखना उचित नहीं । जो-जो शतपथ के प्रमाण मैंने वहां-वहां लिखे हैं, उनका अर्थ भी १० संक्षेप से लिख दिया है, उनको ध्यान देकर देख लें ।

पं० महेश०—'अग्निः पृथ्वीस्थानस्तं प्रथमं व्याख्यास्यामः' पृथिवी का अग्नि ईश्वर अर्थ में कभी नहीं लिया जा सकता है । इस बात को अच्छी तरह प्रकाश करने के लिये कि निरुक्तकार अग्नि शब्द के क्या अर्थ लेता है (इसमें उक्त वचन प्रमाण है) । १५

स्वामीजी—फिर जो पण्डितजी ने 'अग्निः पृथ्वीस्थानस्तं प्रथमं व्याख्यास्यामः' इसमें अपना अभिप्राय जताया है कि क्या पृथ्वी का अग्नि ईश्वर अर्थ में कभी लिया जा सकता है ? इसमें पण्डितजी से मैं पूछता हूं कि क्या आप अन्तरिक्ष और सूर्यादि लोकस्थ अग्नि ईश्वर अर्थ में ग्रहण नहीं करते ? तथा क्या परमेश्वर के व्यापक २० होने से [उसका] पृथिवीस्थान नहीं हो सकता ?

और उनको विचारना चाहिये कि 'पृथ्वीस्थानं यस्य सः परमेश्वरोऽग्निर्भौतिकश्चेत्यर्थद्वयं गृह्यताम् ।' इस वचन के अर्थ पर उनका अभिप्राय ठीक नहीं सिद्ध होता, क्योंकि इस बात को कौन सिद्ध कर सकता है कि पृथिवी से भिन्न अन्य पदार्थ में भौतिक अग्नि २५ नहीं है, जब कि यहां पृथिवी अर्थात् सब सृष्टि भर ली जाती है । तथा कार्य और कारणरूप को भी पृथिवी शब्द से लेते हैं । फिर इनका अभिप्राय इस बात में शुद्ध कभी नहीं हो सकता । क्योंकि रूप गुणवाला पदार्थ अग्नि शब्द से गृहीत होता है, और न केवल चूल्हे वा वेदि में घरा हुआ । ३०



तथा पृथिवी-स्थान शब्द के होने से अग्नि शब्द का ग्रहण परमेश्वर अर्थ में भी यथावत् होता है। जैसे—

“यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं पृथिवीमन्तरो यमयति स त आत्मा अन्तर्याम्यमृतः ॥”

- ५ यह वचन शत० कां० २४ अ० ६ ब्रा० ५ कण्डिका ७ का है कि जिसमें पृथिवी-स्थान शब्द से परमेश्वर का ग्रहण किया है। क्योंकि जहां-कहीं अन्तर्यामी शब्द से परमेश्वर की विवक्षा होती है, वहां एक जीव के हृदय की अपेक्षा से भी परमेश्वर का ग्रहण होता है। जैसे—“स त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः” अर्थात् गौतम ऋषि से
- १० याज्ञवल्क्य कहते हैं कि हे गौतमजी ! जो पृथिवी में ठहर रहा है और उससे पृथक् भी है, तथा जिसको पृथिवी नहीं जानती, जिसके शरीर के समान पृथिवी है, जो पृथिवी में व्यापक होकर उसको नियम में रखता है, वही परमेश्वर अमृत अर्थात् नित्यस्वरूप तेरा जीवात्मा का अन्तर्यामी आत्मा है।

- १५ इतने ही से बुद्धिमान् समझ लेंगे कि पण्डितजी निरुक्त का अभिप्राय कैसा जानते हैं ?

- पं० महेश—तथा देवता-विषय में उसका कैसा विचार था, आगे के प्रमाण अंग्रेजी टीका सहित लिखते हैं—“यत्काम ऋषि-र्यस्यां०” जिस मन्त्र से जिस देवता की स्तुति की जाती है, वही
- २० उस मन्त्र का देवता है। “माहाभाग्याद्देवतायाः०” अर्थात् देवता एक ही है, परन्तु उसमें बहुत सी शक्ति होने के कारण [ वह ] अनेक रूपों में पूजा जाता है। उसके सिवाय और और देव उस के अङ्ग हैं। प्राचीन अनुक्रमणिकाकार<sup>४</sup> भिन्न-भिन्न मन्त्रों के पृथक्-पृथक् देवता विभाग करता है। और इसका प्रमाण स्वामीजी ने माना है।<sup>५</sup> देखो
- २५ पृष्ठ १ पं० २, तथा पृ० २३ पं० १४<sup>६</sup> इसी विषय की।

१. शत० १४। ६। ७। ७॥

२. निरु० ७। १॥

३. निरु० ७। ४॥

४. अर्थात् ऋक्सर्वानुक्रमणीकार कात्यायन।

५. ऋषि दयानन्द ने भी अपने वेदभाष्य में ऋग्वेद के देवता इसी ग्रन्थ के अनुसार “प्रायः” लिखे हैं (क्वचित् भेद भी हैं)।

६. यह पृष्ठ पंक्ति संख्या पं० महेशचन्द्र के ग्रन्थ की है।



परन्तु बात काटके उसके असली अर्थ के विरुद्ध कहते हैं कि सब मन्त्रों का देवता परमेश्वर है, अग्नि वायु आदि नहीं। यह हिन्दुओं का बड़ा सत्यानुसार धर्म है कि अनेक देवते एक ईश्वर ही के प्रकाशरूप हैं। इस बात का प्रमाण ऐतरेयोपनिषद् में लिखा है कि जिसको स्वामीजी भी मानते हैं। जंसे—

५

“निहितमस्माभिरेतद् यथावदुक्तं मनसीत्यथोत्तरं प्रश्नमनु-  
ब्रूहीति”० इत्यादि ॥ १४ । ५-६ ॥

स्वामीजी—“यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्यमिच्छन्  
स्तुतिं प्रयुङ्क्ते तदैवतः स मन्त्रो भवति”॥ इसका उत्तर भूमिका  
अङ्क के देवता-विषय में देख लेना। वहां अभिप्राय सहित लिख १०  
दिया है। अर्थात् प्रकारान्तर से व्यवहार के पदार्थों की भी ‘देव’  
संज्ञा मानी है, पूज्योपास्य बुद्धि से नहीं।

अब प्राचीन अनुक्रमणिकाकार जो भिन्न-भिन्न देवता मानता है,  
सो भी इस अभिप्राय से है कि ‘इस मन्त्र का अग्निदेवता’ [ है ],  
इत्यादि लेख से कुछ आपकी बात की पुष्टि नहीं होती। क्योंकि वहां १५  
केवल नाममात्र का प्रकाश है, विशेष अर्थ का नहीं। वैसे ही अग्नि  
शब्द के पूर्वोक्त प्रकार से घटित दोनों अर्थ लिखे जाते हैं। तथा  
सब मन्त्रों का देवता परमेश्वर इस अभिप्राय से है कि सब देवों का  
देव पूजनीय और उपासना योग्य एक अद्वितीय ईश्वर ही है। सो

१. यहां ‘मैत्रायण्युपनिषद्’ पाठ चाहिये। अगला उद्ध्रियमाण प्रमाण २०  
मैत्रायण्युपनिषद् का है। श्री स्वामीजी ने भी अपने उत्तर में ‘मैत्रायण्युपनिषद्’ का  
ही उल्लेख किया है। वहां भी ‘मैत्रायण्युपनिषद्’ पाठ होना चाहिये। मैत्राय-  
ण्युपनिषद् को श्री स्वामीजी महाराज दशोपनिषद् के समान प्रमाण नहीं  
मानते, पुनरपि वेदभाष्य के नमूने के अङ्क में पृष्ठ १३८ (यही संग्रह) में प्रमाण  
देने से पं० महेशचन्द्र को श्रान्ति हुई है।

२५

२. मैत्रायण्युपनिषद् प्रपाठक ४। मैत्रायण्युपनिषद् के समस्त पाठ श्री  
पं० सातवलेकर जी द्वारा सम्पादित मैत्रायणी संहिता के अन्त में छपे मैत्रायणी  
आरण्यक के अनुसार हैं। अन्यत्र छपी मैत्रायण्युपनिषद् में ये पाठ नहीं मिलते।

३. निरुक्त ७। १॥ द्रष्टव्य—ऋ० भा० भू० रा. ला. क. द्र. सं०  
पृष्ठ ६८।

३०



यथावत् देवता-प्रकरण में लिख दिया है, वहां देख लेना कि व्यावहारिक अग्नि वायु को देवता किस लिये और परमेश्वर किस प्रकार माना जाता है।

ऐसे ही 'सब जगत् को ब्रह्म मानना, तथा ब्रह्म को जगत् रूप ५ समझना' यह हिन्दुओं की बात होगी, आर्यों की नहीं। हम लोग आर्यावर्तवासी ब्राह्मणादि वर्ण और ब्रह्मचर्यादि आश्रमस्थ ब्रह्मा से लेकर आज पर्यन्त परमेश्वर को वेदरीति से ऐसा मानते चले आये हैं कि वह शुद्ध सनातन निर्विकार अज अनादिस्वरूप, जगत् के कारण से कार्यरूप जगत् का रचन-पालन और विनाश करनेवाला १० है। और हिन्दू उसको कहते हैं कि जो वेदोक्त सत्यमार्ग से विरुद्ध चले। इसमें पण्डितजी ने जो मैत्र्युपनिषद् का प्रमाण धरा है, सो भी बिना अर्थ जाने हुए लिखा है। क्योंकि वहां ब्रह्म की उपासना का प्रकरण है। तद्यथा:—

“यस्तपसाऽपहतपाप्मा ओं ब्रह्मणो महिमेत्येवैतदाह । यः सुयु- १५ त्तोजस्रं चिन्तयति तस्माद् विद्यया तपसा चिन्तया चोपलभ्यते ब्रह्म । स ब्रह्मणः पर एता अधिदैवत्वं देवेभ्यश्चेत्यक्षयमपरिमितमनामयं सुखमश्नुते य एवं विद्वाननेन त्रिकेण ब्रह्मोपास्ते ॥”

जो पण्डितजी इस प्रकरण का अर्थ ठीक-ठीक समझ लेते, तो परमेश्वर का नाम अग्नि नहीं, ऐसा कभी न कह सकते। क्योंकि २० उसी ब्रह्म के 'अग्नि' आदि नाम यहां भी हैं। और ब्रह्म की तनू अर्थात् व्याप्य जो पूर्वोक्त स्थान 'शतपथ ब्राह्मण' में अन्तर्यामी पृथिवी से लेकर जीवात्मा पर्यन्त अर्थात् ३० कण्डिका<sup>१</sup> अन्वय और व्यतिरेकालङ्कार से शरीर-शरीरी अर्थात् व्याप्य [व्यापक] सम्बन्ध परमेश्वर का जगत् के साथ दिखलाया है, सो देख लेना।

२५ उसी शतपथ में पांचवें<sup>२</sup> ब्राह्मण की ३१ कण्डिका में—“अदृष्टो

१. ऋ० भा० भू० रा. ला. क. ट. सं० पृष्ठ ७२।

२. मैत्रायण्युपनिषद् शुद्ध पाठ होना चाहिये। ३. मैत्रायण्यु० प्रपा० ४॥

४. अजमेर मुद्रित में 'पर्यन्त २४ अर्थात् अन्वय' ऐसा अपपाठ है।  
द्र०—शत० १४।६।७।७—२४॥

३० ५. यह ब्राह्मण-निर्देश प्रपाठक-विभाग के अनुसार है। अध्याय-विभाग के अनुसार 'सातवां ब्राह्मण' पाठ जानना चाहिए। सर्वत्र प्रायः अध्याय-विभागानुसार ही शतपथ के पते ग्रन्थकार ने दिये हैं।



द्रष्टाऽश्रुतः श्रोताऽमतो मन्ताऽविज्ञातो विज्ञाता नान्योऽस्ति द्रष्टे-  
त्यादि” । व्याप्यव्यापक सम्बन्ध पूर्वोक्त अलङ्कार से यथावत् दिखला  
दिया है । इससे “ब्रह्म खल्विदं वाव सर्वम् ।” इसका अर्थ इस प्रकार  
से है कि—ब्रह्म केवल एक चेतनामात्र तत्त्व है । जैसे किसी ने किसी  
से कहा कि ‘यह सुवर्ण खरा है,’ तो इस वाक्य का अभिप्राय यह है ५  
कि इस सुवर्ण में दूसरे धातु का मेल नहीं [ है ] । इसी प्रकार जैसे  
कार्यजगत् के संघातों में अनेक तत्त्वों का मेल है, वैसे ब्रह्म नहीं, किन्तु  
वह भिन्न वस्तु है । तथा तात्स्थ्योपाधि से यह सब जगत् ब्रह्म अर्थात्  
ब्रह्मस्थ है, और ब्रह्म सर्व विश्वस्थ भी है । यह इस वचन का ठीक  
अर्थ है । क्योंकि फिर इसी के आगे यह पाठ है कि— १०

“या वास्या अग्रचास्तनवस्ता अभिध्यायेदर्चयेन्निह्नुयाच्चात-  
स्ताभिः सहैवोपर्युपरि लोकेषु चरत्यथ कृत्स्नः क्षय एकत्वमेति  
पुरुषस्य पुरुषस्य ॥”

अर्थात् जो विद्वान् पुरुष अपने आत्मा में ब्रह्म की उपासना  
ध्यान और उसी का अर्चा कर अपने हृदय के सब दोषों को अलग १५  
करे, इसके उपरान्त जब अपने अन्तःकरण से शुद्ध होकर मुक्ति पा  
चुकता है, तब वह उन्हीं पूर्वोक्त तनुओं के सहित उपरि सब लोकों  
के बीचों-बीच रहता हुआ अन्त में परमेश्वर की सत्तामात्र को प्राप्त  
हो जाता है । सब मुक्त पुरुषों के समीप रहता हुआ अकथनीय परम  
आनन्द में किलोल करता है । २०

इसके आगे भी ‘मैत्र्युपनिषद्’ के पञ्चम प्रपाठक के आरम्भ  
में कौत्सायिनी स्तुति के अनुसार भी “त्वं ब्रह्मा त्वं च वै विष्णुस्त्वं  
रुद्रस्त्वं प्रजापतिः, त्वमग्निः” इत्यादि प्रमाण से अन्यादि परमेश्वर २  
के नाम यथावत् हैं । इससे यह बात पाई गई कि यद्यपि पण्डितजी  
प्रोफेसर ग्रिफिथ [तथा] टानी साहव के वकील भी हुए, तथापि मुकद्दमा २५  
में खारिज होने के योग्य हैं । तथा यह भी जान पड़ा कि वेदभाष्य  
पर विरुद्ध सम्मति देनेवाले वेदादि शास्त्रों का ज्ञान कम रखते हैं ।

पं० महेश— “तिस्र एव देवता इति नैरुक्ताः” जो लोग

१. मैत्रायण्युप० प्रपा० ४।६। २. मैत्रायण्युप० प्रपा० ४ ॥

३. यहां ‘मैत्रायण्युपनिषद्’ पाठ होना चाहिये । ३०

४. निरुक्त ७।५ ॥



निरुक्त के समझनेवाले हैं, वे कहते हैं कि देवता तीन ही हैं—अग्नि वायु और सूर्य । इन देवताओं का बल बहुत और काम पृथक्-पृथक् होने से उनको कई नामों से बोलते हैं ।

५ “अथाकारचिन्तनं देवतानाम् । पुरुषविधाः स्युरित्येकम्, चेतना-  
वद्वद्धिस्तुतयो भवन्ति, तथाभिधानानि । अथापि पौरुषविधिकैरङ्गैः  
संस्तूयन्ते ॥”

कितने ही देवते मनुष्यों के समान हैं, अर्थात् वे मनुष्यों के तुल्य घोड़े आदि की सवारी और खाना-पीना सुनना बोलना आदि काम करते हैं । कुछ देवते ऐसे हैं कि मनुष्यों के तुल्य नहीं, परन्तु दृष्टि में आते हैं, जैसे—अग्नि वायु आदित्य पृथिवी और चन्द्रमा । तथा १० कितने ही चेतन नहीं हैं, जैसे सिक्का वनस्पति आदि ।

“तिस्र एव देवता इत्युक्तं पुरस्तात्, तासां भक्तिसाहचर्यं व्याख्यास्यामः” ॥<sup>३</sup>

हम कह चुके हैं कि देवता तीन हैं—अग्नि वायु और सूर्य, १५ जिनके गुणों की व्याख्या कर दी है । अब अग्नि के गुण बताते हैं, अर्थात् वह देवताओं के पास चढ़ावा पहुंचाता है, तथा उनको यज्ञ में बुलाता है, ये अग्नि के प्रत्यक्ष काम हैं ।

“अग्निः पृथिवीस्थानस्तं प्रथमं व्याख्यास्यामः ।”<sup>४</sup> जो अग्नि पृथिवी पर रहता है, प्रथम हम उसी का वर्णन करते हैं । इसका २० अग्नि नाम क्यों हुआ, क्योंकि वह प्रथम ही आता है । देखो—‘अग्नि-मीळे’ इत्यादि ।

इन प्रमाणों से सिद्ध होता कि निरुक्तकार अग्नि शब्द से सिवाय भौतिक के दूसरी चीज नहीं समझा है । यह ब्रा० और नि० से स्वामीजी का कथन ठीक नहीं । श्रौत सूत्र, जो वेद की प्राचीन

२५ १. निरुक्त ७ । ६ ॥

२. यह पाठ सन्दिग्ध है । निरुक्त के अनुसार यहां ‘अक्ष’ पाठ होना चाहिये—‘यथाऽक्षप्रभृतीन्योषधिपर्यन्तानि’ । निरुक्त ७ । ७ ।

३. निरु० ७ । ८ ॥ यह पाठ प्रथम संस्करण और शताब्दी-संस्करण (पृष्ठ ८६५ भाग २) में उपलब्ध होता है । अगले संस्करणों में छूट गया है ।

४. निरुक्त ७ । १४ ॥

५. यहां आश्वलायन श्रौतसूत्र से अभिप्राय है ।



व्याख्या है, यद्यपि स्वामीजी ने उसका कोई प्रमाण नहीं दिया, परन्तु मैं कुछ साक्षी के तौर पर प्रमाण देता हूँ—सू० २६। कण्डिका १। अ० १, तथा सू० ७। कं० १३। अ० ४ में देखने से साफ मालूम होता है कि 'अग्निमीळे०' यह मन्त्र भौतिक अग्नि को पूजा विधान में लिखा गया है।

५

स्वामीजी—इसके आगे पण्डितजी “तिस्र एव देवता०” इत्यादि निरुक्त का अभिप्राय लिखते हैं। सो उन्होंने इसका भी अर्थ ठीक-ठीक नहीं जाना। क्योंकि इस प्रकरण में भी पूर्वोक्त प्रकार से दोनों व्यवस्था जानी जाती हैं, अर्थात् अग्नि आदि नामों से व्यवहारोपयुक्त पदार्थ और पारमार्थिक उपास्य परमेश्वर दोनों ही का यथावत् ग्रहण होता [है]। इस निरुक्त का अर्थ भूमिका के अङ्क ३ पृष्ठ ६० पंक्ति ८वीं से अङ्क ४ पृष्ठ ७८ तक देखने से ठीक-ठीक उत्तर मिल जायगा।

१०

और इसके आकार-चिन्तन से यह अभिप्राय है कि - जिस-जिस पदार्थ में जो जो गुण होते हैं, उन का यथावत् प्रकाश करना 'स्तुति' कहाती है। सो जड़ और चेतन दोनों में यथावत् घटती है। इसी प्रकरण में “एकस्य सतोऽपि वा पृथगेव स्युः पृथग्घि स्तुतयो भवन्ति। तथाऽभिधानानि” इस पङ्क्ति का अर्थ पण्डितजी ने न विचार होगा, नहीं तो इतने आडम्बर का लेख क्यों करते? क्योंकि देखो—

१५

“तासां साहाभार्यादेकैकस्यापि बहूनि नामधेयानि भवन्ति।” २०

इसका अभिप्राय यह है कि अग्न्यादि संसारी पदार्थों में भी ईश्वर की रचना से अनेक दिव्य गुण हैं, कि जिनके प्रकाश के लिये वेदों में उन पदार्थों के अग्न्यादि कई-कई नाम लिखे हैं। तथा वे ही नाम गुणानुसार एक अद्वितीय परमेश्वर के भी हैं। उन्हीं पृथक्-पृथक् गुणयुक्त नामों से परमेश्वर की स्तुति होती है। तथा उसी के वेदों में सर्वसुखदायक स्वयंप्रकाश सत्यज्ञान-प्रकाशक नाना प्रकार के व्याख्यान लिखे हैं।

२५

इस प्रकार सब सज्जन लोगों को जान लेना चाहिये कि

१. रा. ला. क. द्र. संस्क० में पृष्ठ ६७ पं० २६ से पृष्ठ ८८ पं० १८ तक। २. निरुक्त ७।५।। ३. निरुक्त ७।५।।

३०



अग्न्यादि नामों से पूर्वोक्त दोनों अर्थों का ग्रहण होता है, केवल एक का नहीं। और—

“तिस्र एव देवता इत्युक्तं पुरस्तात् तासां भक्तिसाहचर्यं व्याख्या-  
स्यामः।”<sup>१</sup>

- ५ इसका अभिप्राय यह है कि उन व्यावहारिक देवताओं का जुदापन साहचर्य अर्थात् संयोग दो प्रकार का होता है—एक सम-वायसम्बन्ध, दूसरा संयोग सम्बन्ध। समवाय नित्य गुण-गुणों आदि में होता है, और संयोग सम्बन्ध गुणी और गुणियों का होता है। जैसे जगत् के पदार्थों में स्वाभाविक और नैमित्तिक सम्बन्ध होता है, १० वैसे ही परमेश्वर में भी जान लेना कि वह अपने स्वाभाविक गुण और सामर्थ्यादि के साथ समवाय और जगत् के कारण कार्य तथा जीव के साथ संयोग सम्बन्ध अर्थात् व्याप्य व्यापकतादि प्रकार से है। इस वचन में भी परमेश्वर का त्याग कभी नहीं हो सकता।

तथा जैसे भौतिक अग्नि का काम व्यावहारिक देवताओं को १५ हवि<sup>१</sup> चढ़ाना वा पहुंचाना है, तथा मन्त्र देव और दिव्य गुणों को जगत् में प्राप्त करना है, वैसे ही सब जीवों को पाप-पुण्य के फल पहुंचाना, और ज्ञानानन्दी मोक्षरूप यज्ञ में धार्मिक विद्वानों को हर्षयुक्त कर देना परमेश्वर का काम है।

“अग्निः पृथिवीस्थानः” इस की व्याख्या पूर्व कर आये हैं। २० और “अग्निमीळे” इसकी व्याख्या निरुक्त के अनुसार इसी मन्त्र के भाष्य में लिख दी है<sup>४</sup>। परन्तु वहां भी दो ही अग्नि लिये हैं। क्योंकि एक अध्येषणाकर्मा अर्थात् परमेश्वर और भौतिक, दूसरा पूजाकर्मा अर्थात् केवल परमेश्वर ही लिया है।

तथा “अग्नि पूर्वभिर्ऋषिभिः<sup>५</sup>०” इस मन्त्र की व्याख्या में २५ निरुक्तकार का स्पष्ट लेख है कि—

१. निरुक्त ७।८॥

२. प्रथम संस्करण में यही शुद्ध पाठ है। अगले संस्करणों में ‘अगुणियों का’ अपपाठ मिलता है। ‘गुणी गुणियों का’ से अभिप्राय ‘द्रव्य के साथ द्रव्य का’ से है। द्रव्यों में परस्पर संयोग संबन्ध होता है।

३०

३. मूलपाठ ‘जल’ है।

४. इसी संग्रह में पूर्व पृष्ठ १४१-१४२ ॥

५. ऋ. १।१।२॥



“स न मन्येतायमेवाग्निरित्यप्येते उत्तरे ज्योतिषी अग्नी उच्येते ।”<sup>१</sup>

इसका अर्थ यह है कि—वह ‘अग्नि’ जो परमेश्वर का वाची है, चूल्हे में प्रत्यक्ष जलनेवाला नहीं है। किन्तु जो कि अपने व्याप्य में व्यापक विद्युत् रूप, और जो उत्तर अर्थात् कारणरूप ज्योतिःस्वरूप ५ और सबका प्रकाशक है। तथा जो परमेश्वर का ‘अग्नि’ शब्द से ग्रहण करना कहा है, एक आनन्दस्वरूप परमात्मा का स्वीकार है, जैसा कि पूर्वोक्त प्रकार से बुद्धिमान् लोग जान लेंगे कि वे सब प्रमाण जो मैंने इस विषय में लिखे हैं, मेरी बात की पुष्टि करते [ हैं ] वा नहीं। तथा पण्डितजी की पकड़ ठीक है, वा नहीं। १०

और जो कि वे श्रौतसूत्र का प्रमाण लिखते हैं, उसका भी अभिप्राय उन्होंने यथार्थ नहीं जाना। क्योंकि वहां तो केवल होम-क्रिया करने का प्रसङ्ग है, और होता आदि के आसनादिक और अध्वर्यु आदि के काम पृथक्-पृथक् लिखे हैं। इसलिये वहां तत्संसर्ग का ग्रहण नहीं हो सकता, क्योंकि जो जिसका काम है, उसको वही १५ करे। यहां उस सूत्र को प्राप्ति नहीं हो सकती, इसलिये उस का लिखना व्यर्थ है।

तथा आश्वलायन श्रौतसूत्र के चतुर्थाध्याय तेरहवीं कण्डिका के ७ सूत्र में भी केवल कर्मकाण्ड ही की क्रिया के मन्त्रों की प्रतीकों धरी हैं। वहां भी पण्डितजी ‘अग्नि’ शब्द से परमेश्वर का त्याग २० कभी नहीं करा सकते। किसलिये कि वहां मन्त्र ही देवता हैं। और सब शुभ कर्मों में परमेश्वर ही की स्तुति करना सब को उचित है। वहां मन्त्र का पाठातिदेश किया है, अर्थ नहीं। इससे सूत्र का लिखना पण्डितजी को योग्य नहीं था। क्योंकि वहां तो केवल क्रिया-यज्ञ का प्रकरण है, दूसरी बात का नहीं। २५

पं० महेश०—‘अग्निमीळे०’ इस मन्त्र की सिद्धि में और अधिक प्रमाण स्वामीजी ने नहीं दिये हैं। परन्तु कई मन्त्रों का प्रमाण धरके कहते हैं कि अग्नि से ईश्वर का ग्रहण है। सो उन मन्त्रों की साधारण विचार-परीक्षा से ही मालूम हो जाता है कि उनसे स्वामीजी के अर्थ नहीं निकल सकते। पहिला मन्त्र इन्द्रं ३०



मित्रम्०<sup>१</sup> वे उसको इन्द्र मित्र वरुण और अग्नि आदि नामों से पुकारते हैं। यह मालूम नहीं होता कि इस मन्त्र में किस को सन्मुख करके बोलते हैं? निरुक्तकार कहता है कि वह भौतिक के लिये आया है। कोई सूर्य को बताते हैं। खैर, कुछ भी हो, परन्तु अग्नि से ईश्वर कभी नहीं लिया जा सकता।

और यह जाना गया है कि जब किसी विशेष देवता की स्तुति करते हैं, तो उसको शब्द और-और देवताओं के नाम से लाते हैं उसके बल आदि गुण बताने के लिये । 'तदेवाग्नि०' शुक्लयजुर्वेद' से कि जिस के समान कृष्णयजुर्वेद में भी है—देखो 'तैत्तिरीय आरण्यक १० १ । प्र० १' <sup>३</sup> इस स्थान में अद्वैत मत का प्रतिपादन है । जैसे देखो—'जो सर्वज्ञ पुरुष सदा था, है और रहेगा, जिस का तमाम ब्रह्माण्ड एक अंशमात्र है, जिससे वेद उत्पन्न हुए हैं, तथा जिससे घोड़ा गौ बकरी और खटमल आदि निकले हैं । जिस के मन से चन्द्रमा, नेत्रों से सूर्य, कानों से वायु और प्राण, और मुख से अग्नि वह सर्वव्यापी और सब संसार का आधार है ।

इसके बाद स्वामीजी मन्त्र का प्रमाण देते हैं। जैसे 'तदेवाग्नि०' अर्थात् अग्नि सूर्य वायु आदि सब एक परमेश्वर के ही गुण<sup>४</sup> नाम हैं। जैसे अग्नि शब्द के अर्थ परमेश्वर में नहीं घटते, वैसे ही ऊपर के अर्थ भी नहीं लग सकते, सिवाय इसके जो 'तदेवाग्नि०' पदभेद २० को विषय अर्थ से मिलावें, तो स्वामीजी का अग्नि शब्द को परमेश्वर अर्थ में मिलाना ऐसा असंभव होगा, जैसे कह दे कि मनुष्य पशु है अथवा पशु मनुष्य है।

अग्निर्होता कविक्रतुः०<sup>५</sup> स्वामीजी 'कवि' शब्द के अर्थ सर्वज्ञ के लेते हैं, तथा सत्य का विनाशरहित। परन्तु निरुक्त में कवि का और ही अर्थ है। और स्वामीजी भी जब मन्त्र को शास्त्रसम्बन्धी २५ अर्थ में लेते हैं, तो कई प्रकार के अर्थ करते हैं। कदाचित् स्वामीजी

१. ऋ० ११६४४६ ॥

२. यजु० ३२।१॥ द्र०—ऋ० भा० भू० रा. ला. क. द्र. संस्क० पृ०  
१७३, टि० १॥

३०. ३. यहां तै० आ० का पता अशुद्ध है। शुद्ध पता तै० आ० १०११२ होना चाहिये।

४. गुणों के संयोग से होने वाले अर्थात् गौण । ५. ऋ० १११५॥



का अर्थ मान भी लें, तो वह उनके अभिप्राय को—‘अग्नि’ ईश्वर का नाम है, नहीं खोलता। क्योंकि यह दस्तूर की बात है कि देवता की स्तुति करने में सब प्रकार के विशेषण लाते हैं।

स्वामीजी—अब पण्डितजी प्रमाणों की परीक्षा पर बहुत भूले हैं। क्योंकि मैंने ‘अग्नि’ शब्द से परमेश्वर के ग्रहण विषय में वेद- ५ मन्त्रों के अनेक प्रमाण मन्त्रभाष्य के आरम्भ में लिखे हैं। उनका विचार छोड़कर मृग के समान आगे कूदकर चले गये हैं। इससे मालूम होता है कि पण्डितजी को मन्त्रों का अर्थ मालूम नहीं। और बिना इतनी विद्या के वे साधारण वा विशेष परीक्षा कैसे कर सकते हैं? उनका यह भी लिखना ठीक नहीं कि इन प्रमाणों से स्वामीजी १० का अर्थ नहीं निकल सकता।

अब विद्वान् लोग पण्डितजी के इस लेख की परीक्षा करें। अर्थात् वे लिखते हैं कि यह मालूम नहीं होता कि ‘इन्द्रं मित्रं’<sup>१</sup> इस मन्त्र में ‘उसको’ शब्द किस के लिये आया है, इत्यादि। तथा निरुक्त-कार कहता है कि वह भौतिक अग्नि के लिये आया है, इत्यादि। १३ सो पण्डितजी को जानना चाहिये कि बिना ज्ञान वेदविद्या के उनकी परीक्षा करना बालकों का खेल नहीं। इस मन्त्र में भी अग्नि का पाठ दो बार है। एक—“इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुः।”

दूसरा—“अग्नि यमं मातरिश्वानमाहुः।”<sup>२</sup>

इसका अभिप्राय यह है कि अग्नि शब्द से दोनों अर्थों का ग्रहण २० होता है, अर्थात् भौतिक और परमेश्वर। तथा उसमें तीन आख्यात पद होने से तीन अन्वय होते हैं, अर्थात् अग्न्यादि नाम भौतिक अर्थ में, और परमेश्वर अर्थ में भी दो अन्वय होते हैं।

‘एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निम्०।’<sup>३</sup> अर्थात् एक शब्द से पर-ब्रह्म को विद्वान् लोग, अथवा वेदमन्त्र अग्न्यादि नामों से अनेक प्रकार २५ की स्तुति करते हैं। तथा सबका निरुक्त जो दूसरे पृष्ठ में लिख दिया है, उसका भी अर्थ पण्डितजी ने नहीं जाना। क्योंकि वहां भी—

१. अर्थात् नमूने के अङ्क में। प्रथम मन्त्र के भाष्य के आरम्भ में।

२. ऋ० १।१६।४६।।

३. अर्थात् नमूने के अङ्क में। इस संग्रह में पृष्ठ १३७-१४०।।



‘उत्तरे ज्योतिषी एतेन नामधेयेन भजते ।’ इसका यह अर्थ है कि अग्नि नाम करके पूर्वोक्त प्रकार से उत्तर ज्योति गृहीत होते हैं । अर्थात् भौतिक और परमेश्वर इन दो अर्थों का ग्रहण होता है । तथा ‘इममेवाग्निः’ इत्यादि इन दोनों अर्थों के अभिप्राय में है । क्योंकि  
५ विना पठनाभ्यास के कोई कैसा ही बुद्धिमान् क्यों न हो, गूढ़ शब्दों का यथावत् अर्थ जानने में उसको कठिनता पड़ जाती है ।

इस मन्त्र का अभिप्राय मैंने अच्छी तरह वेदभाष्य में<sup>१</sup> प्रकाशित कर दिया था, तिस पर भी पण्डित जी न समझे । बड़े आश्चर्य की बात है कि विद्या के अभिमानी होकर ऐसी भ्रान्ति में गिर पड़ते,  
१० और उन प्रमाण मन्त्रों के यथार्थ अर्थ को उलटा समझते हैं । क्या यह हठ की बात नहीं है कि विद्वान् कहाकर बार-बार यही कहते चले जाना कि अग्नि शब्द से परमेश्वर का ग्रहण नहीं होता ।

जैसे इस मन्त्र के अर्थ में पण्डितजी भूल गये हैं, वैसे ही ‘तदेवाग्निः’<sup>२</sup> जो इसमें तैत्तिरीय आरण्यक का नाम लिखा, उसके प्रकरण का  
१५ अभिप्राय पण्डितजी ने ठीक-ठीक नहीं जाना । क्योंकि वहां परमेश्वर का निरूपण और सृष्टिविद्या दिखलाई है । जैसे वह परमेश्वर भूत भविष्यत् और वर्तमान तीनों काल में एकरस रहता है, अर्थात् जब-जब जगत् हुआ था, है और होगा, तब-तब वह ‘तदक्षरे परमे व्योमन्’<sup>३</sup> । ‘सर्वव्यापक आकाशवत् विनाशरहित परमेश्वर में स्थित  
२० होता है । क्योंकि ‘येनावृतं खं च दिवं महीं च०’<sup>४</sup> इत्यादि, जिसने आकाश सूर्यादि लोक और पृथिव्यादियुक्त जगत् को अपनी व्याप्ति से आवृत कर रक्खा है, ‘येन जीवान् व्यवससर्ज भूम्याम्’<sup>५</sup> जो कि जीवों को कर्मानुसार फल भोगने के लिये भूमि में जन्म देता है, ‘अतः परं नान्यदणीयमस्ति’<sup>६</sup> जिससे परे सूक्ष्म वा बड़ा कोई  
२५ पदार्थ नहीं है, तथा जो सबसे पर एक अद्वितीय अव्यक्त और अनन्तस्वरूपादि विशेषणयुक्त है, तदेवावर्तत्तदु सत्यमाहुस्तदेव

१. निरुक्त ७।१६॥

२. निरुक्त ७।१८॥

३. अर्थात् नमूने के अङ्क में ।

४. यजु० ३२।१; तै० आ० १०।१।२॥

५. तैत्तिरीय आरण्यक में ‘तदक्षरे परमे प्रजाः’ पाठ है । द्र०-१०।१।

१॥ ‘ऋचोऽक्षरे परमे व्योमन्’ यह ऋक्पाठ है । द्र०-१।१६४।३६;  
(तै० आ० २।११।१ में भी) । ६. तै० आ० १०।११॥



ब्रह्म परमं कवीनाम्<sup>१</sup> वही एक यथार्थ नित्य एक चेतन तत्त्वमय है। वही सत्य वही ब्रह्म तथा विद्वानों का उपास्य परमोत्कृष्ट इष्ट देवता है। और तदेवाग्नि०<sup>२</sup> अर्थात् वही परमेश्वर अग्न्यादि नामों का वाच्य है। 'सर्वे निमेषा जज्ञिरे०'<sup>३</sup> इत्यादि, जिससे सब काल-चक्रादि पदार्थ उत्पन्न हुए हैं। तथा—

५

‘न सन्दृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चिदेनम् ।

हृदा मनीषा मनसाऽभिव्यक्तो य एनं विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥’<sup>४</sup>

अर्थात् उस परमेश्वर का स्वरूप इयत्ता से दृष्टि में नहीं आ सकता, अर्थात् कोई उसको आंख से नहीं देख सकता, किन्तु जो धार्मिक विद्वान् अपनी बुद्धि से अन्तर्यामी परमात्मा को आत्मा के बीच में जानते हैं, वे ही मुक्ति को प्राप्त होते हैं।

तथा जिस अनुवाक का पण्डितजी ने नाम लिखा है, उसका अभिप्राय ही कुछ और है। अद्वैत शब्द का अर्थ उनकी समझ में ठीक-ठीक नहीं आया। क्योंकि उनके मन में भ्रम होगा कि सिवाय परमेश्वर के जगत् में दूसरा पदार्थ कोई भी नहीं, किन्तु परमेश्वर ही जगत् रूप बन गया है। क्योंकि वे लिखते हैं कि तमाम ब्रह्माण्ड एक अंशमात्र है, जिससे घोड़ा गौ और खटमल आदि निकले हैं। इससे उनका अभिप्राय स्पष्ट मालूम होता है कि ब्रह्म ही सब जगत्-रूप बन गया है।

१५

यह भ्रान्ति उनको वेदादि शास्त्रों के ठीक-ठीक न जानने के कारण हुई है। क्योंकि देखो ‘अद्वैत’ शब्द परमेश्वर का विशेषण है, कि जैसे एक-एक मनुष्यादि जाति जगत् में अनेक व्याप्तिमय है, वैसा परमेश्वर नहीं, किन्तु वह तो सब प्रकार से एकमात्र ही है। इसका उत्तर भूमिका अङ्क ४ पृष्ठ १० की पंक्ति २० में<sup>५</sup> मिलता है। जैसे—‘न द्वितीयो न तृतीयः’<sup>६</sup> इत्यादि में देख लेना। तथा—‘पुरुष एवेदं सर्वं यद् भूतं यच्च भाव्यम्’<sup>७</sup> इत्यादि मन्त्रों का अर्थ भूमिका

२५

१. तै० आ० १०।१।२॥

२. तै० आ० १०।१।२॥

३. तै० आ० १०।१।२॥

४. तै० आ० १०।१।३॥

५. रा. ल. क. द्र. संस्क०, पृष्ठ १०४ ॥

६. अथर्व १३।४।१६-१८, २०, २१॥

३०

७. यजु० ३।२॥ द्र०—रा. ला. क. द्र. संस्क०, पृ० १३४॥



अङ्क ५ के ११८ पृष्ठ<sup>१</sup> में 'सहस्रशीर्षा०' इत्यादि की व्याख्या से लेकर अङ्क ६ के १३४ पृष्ठ<sup>२</sup> की समाप्ति पर्यन्त देखने से इसका ठीक उत्तर मिल जायगा।

और—'अग्निर्होता कविक्रतुः०'<sup>३</sup> इसके अर्थ के विषय में जो ५ पण्डितजी को शङ्का हुई है कि अग्नि शब्द से ईश्वर कैसे लिया जाता है, तो निरुक्त में कवि शब्द का अर्थ 'क्रान्तदर्शन' अर्थात् सब को जाननेवाला है। सो सिवाय परमेश्वर के भौतिक में कभी नहीं घट सकता। क्योंकि भौतिक अग्नि जड़ है। इस मन्त्र का अर्थ वेद-भाष्य के अङ्क १ पृष्ठ १६ में देख लेना—[कवि] क्रतुः सब जगत् १० का करनेवाला। 'सत्यश्चित्रश्रवस्तमः'—इत्यादि पदों का अर्थ वहीं देख लेना। जब आग्रह छोड़के विद्या की आंख से मनुष्य देखता है, तब उस को सत्यासत्य का ज्ञान यथावत् होता है। और जब इस प्रकार की ठीक-ठीक विद्या ही नहीं, तो उसको सत्यासत्य का विवेक कभी नहीं हो सकता।

१५ तथा निघं० अ० ३ खं० १५ में 'मेधावी' का नाम 'कवि' लिखा है। सो परमेश्वर के सिवाय भौतिक जड़ अग्नि में कभी नहीं घट सकता। तथा यजुर्वेद अ० ४०। मं० ८ 'स पर्यगाच्छुक्रं' इस मन्त्र में कविर्मनीषी इत्यादि लिखा है। यहां भी कवि नाम सिवाय परमेश्वर के भौतिक जड़ अग्नि में कभी नहीं घट सकता। २० और ये सब प्रमाण मेरे अभिप्राय को ठीक-ठीक सिद्ध करते हैं। तथा पण्डितजी का विशेष लेख मेरे लेख की परीक्षा तो नहीं कर सकता, किन्तु उन की न्यूनविद्या की परीक्षा अवश्य कराता है।

पं० महेश०—'ब्रह्म ह्यग्निः'<sup>४</sup> जो कि आगे की संस्कृत<sup>५</sup> में आता है। जैसे—'अग्ने मह्यं असि ब्राह्मण भारतेति०'<sup>६</sup> इसमें अग्नि को ब्राह्मण २५ कहा है। क्योंकि अग्नि इस नियम से 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'<sup>८</sup> ब्रह्म है। और भारत इसलिये कहते हैं कि वह चढ़ाया हुआ पदार्थ देवताओं

१. रा. ला. क. द्र. संस्क०, पृष्ठ १३२॥  
 २. रा. ला. क. द्र. संस्क०, पृ० १४८। ३. ऋ० १।१।५॥  
 ४. इस संग्रह में पृष्ठ १५६-१५७ में। ५. शत० १।५।१।१॥  
 ६. संस्कृत में अर्थात् वेदभाष्य के नमूने के अङ्क की संस्कृत में पूर्व पृष्ठ १३८। ७. शत० १।४।२।२॥ ८. छा० उ० ३।१।४।१॥



को पहुंचाता है। शत० कां० १, अ० ४, ब्रा० ४, कं० २ इससे मालूम होता है कि यह अग्नि शब्द का अर्थ नहीं, किन्तु ब्राह्मण और भारत अग्नि में लगाये हैं।

‘आत्मा वा अग्निः’<sup>१</sup> यह शत० कां० ७, अ० ३, ब्रा० ३, कं० ४ के अगले प्रमाण में आया है। जैसे—

५

‘यद्वेव चिते गार्हपत्येऽचित आहवनीयेऽथ राजानं क्रीणाति । आत्मा वा अग्निः । प्राणः सोमः आत्मंस्तत् प्राणं मध्यतो दधाति ।’<sup>२</sup>

अर्थात् ‘बाद रखने गार्हपत्य और पूर्व रखने [ आहवनीय ] अग्नि के होम करनेवाला सोमलता को मोल लेता है। क्योंकि आत्मा अग्नि है, तथा प्राण चाम सोम का है, और आत्मा के बीच में प्राण रहते हैं।’ यहां आत्मा का अर्थ ईश्वर नहीं है, किन्तु मनुष्य के जीव से मुराद है। तथा अग्नि का नाम भी आत्मा अलङ्कार रूप से है। इसीलिये सोमलता प्राण का अर्थ लिया है। अग्नि का अर्थ आत्मा नहीं है, जैसे कि सोमलता का अर्थ प्राण है। ११ [वां प्रमाण<sup>३</sup>] भी शतपथ ब्राह्मण से लिया गया है, जिस में इस बात का नाम भी नहीं है कि अग्नि का अर्थ ईश्वर माना जावे। किन्तु जहां से ये प्रमाण रखे हैं, वे बराबर होमादि का विधान करते हैं। और ने निस्सन्देह केवल भौतिक अग्नि का अर्थ देते हैं दूसरा नहीं।

ऐतरेयोपनिषद् के हैं, अर्थात् १८ [वें] प्रमाण में ईश्वर का वर्णन प्राण अग्नि पञ्चवायु आदि से, तथा १३ [वें] में ईशान शंभु भव रुद्र आदि ये सब अर्थ उसी नियम पर हैं कि जिसका कथन कर चुके—सब वस्तु ब्रह्म है। इन प्रमाणों से भी स्वामीजी के कथन की पुष्टता नहीं होती। १३ [वें] प्रमाण में अग्नि कहीं नहीं आया है।

१. अगला पता अशुद्ध है। शत० १।४।२।२ चाहिये। द्र०—एष (अग्निः) उ वा इमाः प्रजाः प्राणो भूत्वा बिभर्ति तस्माद्वेवाह भारतेति। २५

२. शत० ७।३ १।२। अगला निर्दिष्ट पता अशुद्ध है, तृतीय अध्याय में दो ही ब्राह्मण हैं।

३. शत० ७।३।१।२ ॥ वे० य० मु० में ‘सोमः आत्मानं ततः प्राणं’ अपपाठ है।

४. यह तथा अगली प्रमाण संख्या वेदभाष्य के नमूने में उद्धृत प्रमाणों की है। द्र०—ग्रही संग्रह पृष्ठ १३६-१६६ तक।



सिवाय 'अग्निरिवाग्निना पिहितः' ब्रह्म को अग्नि शब्द के तुल्य करने से कि जो 'अग्निरिव' से उत्पन्न होता है। साफ मालूम होता है कि अग्नि और ईश्वर में बड़ा भेद है। परन्तु बड़ा आश्चर्य है कि स्वामीजी इसी को अपना प्रमाण मानते हैं। १४ [वां] ऐतरेय ५ ब्राह्मण और शतपथ ब्राह्मण के हैं, जो कह दिये गये।

स्वामीजी--इसके आगे जो-जो प्रमाण मैंने शतपथ के इस विषय में क्रम से धरे हैं, उनको तो देखते-विचारते नहीं, परन्तु इधर-उधर घूमते हैं। विद्वानों का यह काम है कि उलट-पुलट के आगे का पीछे और पीछे का आगे कर दें? 'ब्रह्म ह्यग्निः' इस १० वचन से स्पष्ट मालूम होता है कि ब्रह्म का नाम अग्नि है। तथा—'अग्ने मह्यं असि ब्राह्मण भारतेति' इस वचन के भी दूसरे अर्थ हैं। क्योंकि वहां 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' यह नियम कहीं नहीं लिखा।

'ब्रह्म ह्यग्निस्तस्मादाह ब्राह्मण इति भारतेत्येष हि देवेभ्यो हव्यं भरति तस्माद् भारतोऽग्निरित्याहुरेष उ वा इमाः प्रजाः प्राणो १५ भूत्वा बिभर्ति तस्मादेवाह भारतेति।'

इस कण्डिका का अर्थ पूर्वापर-सम्बन्ध से पण्डितजी न समझे। क्योंकि इसका अर्थ यह है कि—'हे अग्ने परमेश्वर ! आप महान् = सबसे बड़े हैं, और बड़े होने से 'ब्राह्मण' तथा प्रजा को धारण करने से 'भारत' कहाते हैं। और विद्वानों के लिये सब उत्तम २० पदार्थों का धारण करते हैं, इसलिये भी आपका नाम 'भारत' है।' इस कण्डिका के अर्थ से यथावत् सिद्ध होता है कि अग्नि भारत और ब्राह्मण ये नाम परमेश्वर के हैं।

और जो 'आत्मा वा अग्निः' इसमें अग्नि शब्द से परमेश्वर और भौतिक अग्नि का ग्रहण है, इससे दोष नहीं आ सकता। वही २५ मेरा अभिप्राय है, इसको पण्डितजी ठीक-ठीक नहीं समझे। और 'तस्मादयमात्मन् प्राणो मध्यतः' इसका यह अर्थ है कि—'(अयम्) यह होम करनेवाला वा परमेश्वर का उपासक सब के बलकारक

१. मैत्रायण्युपनिषद् ६।८॥

२. शत० १।५।१।१॥

३. शत० १।४।२।२॥

४. शत० १।४।२।२॥

३०

५. शतपथ १।४।२।२॥

६. शत० ७।३।१।२॥ यहां 'आत्मंस्तत् प्राणम्' पाठ होना चाहिये।



प्राण को शरीर में वा मोक्षस्वरूप अन्तर्यामी ब्रह्म के बीच में धारण करता है। क्योंकि सब के प्राण सामान्य से परमेश्वर की सत्ता में ठहर रहे हैं। इससे सब का आत्मा प्राण के बीच में है, और मनुष्य के प्राण की अपेक्षा व्यवहार दशा में है। परन्तु—‘स उ प्राणस्य प्राणः’ इस केनोपनिषद् [ १।२ ] के विधान से परमेश्वर का ५ नाम भी ‘प्राण’ है। इससे यहां आत्मन् शब्द से जीवात्मा और परमात्मा का ग्रहण है।

और आत्मा का नाम अग्नि अलङ्कार से नहीं, किन्तु संज्ञा-संज्ञि-सम्बन्ध से है। क्योंकि उस प्रकरण में वैसे ही अग्नि नाम से पूर्वोक्त दोनों अर्थ सिद्ध हैं। और यज्ञादि कर्मों में परमेश्वर का १० ग्रहण सामान्य से आता है। ‘सोम’ का नाम प्राण शतपथ में इसलिये है कि वह प्राण अर्थात् बल बढ़ाने का निमित्त है। परमेश्वर का नाम ‘सोम’ है, सो पूर्वोक्त ऐतरेय ब्राह्मण के प्रकरण में सिद्ध है। और जहां-जहां से प्रमाण लिखे हैं, वहां-वहां सर्वत्र होमादि क्रिया उपासना और परमेश्वर का ग्रहण है। परन्तु पण्डितजी लिखते हैं १५ कि अग्नि नाम से भौतिक अर्थ का ही ग्रहण होता है, यह केवल उनका आग्रह है। इसका उत्तर पूर्व भी हो चुका।

और ‘प्राणो अग्निः परमात्मेति ।’ यह मैत्र्युपनिषद् का प्रमाण भी यथावत् परमेश्वरार्थ को कहता है। प्राण अग्नि परमात्मा ये तीनों नाम एकार्थवाची हैं। तथा आत्मा और ईशानादि भी संज्ञा- २० संज्ञि-सम्बन्ध में स्पष्ट हैं। और ‘सब वस्तु ब्रह्म है’ इसका उत्तर मैं पूर्व दे चुका हूं। पण्डितजी वेदादिशास्त्रों को न जान कर भ्रम से जगत् को ब्रह्म मानते हैं। इस प्रकरण में प्राण अग्नि और परमात्मा पर्यायवाचक लिखे हैं। उनका अर्थ विना विचारे कभी नहीं मालूम हो सकता। क्योंकि ‘पञ्चवायुः’ इस शब्द से पण्डितजी को भ्रम २५ हुआ है। इसमें केवल व्याकरण का कम अभ्यास कारण है। क्योंकि जिसमें पांच वायु स्थित हों सो ‘पञ्चवायुः’ परमेश्वर कहाता है। और इस प्रकरण में ‘विश्वभुक्’ आदि शब्द भी हैं, इससे दोनों अर्थ वहां लिये जाते हैं।

१. यहां शुद्ध नाम मैत्रायण्युपनिषद् चाहिये । ३०-६।१॥

२. मैत्रायण्यु० ६ । ६—‘परमात्मा वै पञ्च वायुः समाश्रितः’ ।

३. मूल पाठस्थ स्वरानुसार पञ्च वायुः दो पद हैं ।



‘य एष तपति अग्निरिवाग्निना पिहितः । एष वाव जिज्ञासित-  
व्योज्वेष्टव्यः सर्वभूतेभ्योऽभयं दत्त्वाऽरण्यं गत्वाऽथ बहिः कृत्वेन्द्रिया-  
र्थान् स्वाच्छरीरादुपलभेतैनमिति । विश्वरूपं हरिणं जातवेदसं  
परायणं ज्योतिरेकं तपन्तं सहस्ररश्मिः शतधा वर्त्तमानः प्राणः  
५ प्रजानामुदयत्येष सूर्यः । तस्माद्वा एष उभयात्मैवंविदात्मन्येवाभिध्या-  
यत्यात्मन्येव यजतीति ध्यानम् ।’

जो परमेश्वर अग्नि और सूर्य के समान सर्वत्र तप रहा है,  
जिसको सब विद्वान् लोग जानने की इच्छा करते और खोजते हैं।  
तथा सब प्राणियों को अभयदान देके विषयों से इन्द्रियों को रोकके  
१० एकान्त देश में समाधिस्थ होकर इसी मनुष्य शरीर में जिसको प्राप्त  
होते हैं, वह परमेश्वर विश्वरूप है। अर्थात् जिसका स्वरूप विश्व  
में व्याप्त हो रहा है। और सब पापों को नाश करनेवाला, उसी से  
वेद प्रकाशित हुए हैं। वह सब विश्व का परम अयन, ज्योतिःस्वरूप  
एक अर्थात् अद्वितीय, सूर्यादि को तपानेवाला असंख्यात ज्योतियुक्त  
१५ अर्थात् सब विश्व में असंख्यात गुण और सामर्थ्य से यह वर्त्तमान,  
सब का प्राण अर्थात् सब प्रजाओं के बीच में ज्ञानस्वरूप से उदित  
और चराचर जगत् का आत्मा है। उस परमेश्वर को जो पुरुष  
उभयात्मा अर्थात् अन्तर्यामी और परमेश्वर की आत्मा परमेश्वर  
ही को जाननेवाला तथा अपने आत्मा में जगदीश्वर का अभिध्यान  
२० और समाधियोग से उसका पूजन करता है, वही मुक्ति को प्राप्त  
होता है।

इसी प्रकार से—‘उपलभेतैनमिति’ मनुष्य परमेश्वर को प्राप्त  
हो सकता है, अन्यथा नहीं। क्योंकि पण्डितजी ने इस प्रकरण का  
अर्थ कुछ भी नहीं जाना, इसी से विरुद्ध लेख किया। इस प्रकार से  
२५ यह प्रकरण मेरे लेख का मण्डन और पण्डितजी के लेख का खण्डन  
करता है। भौतिक अग्नि और परमेश्वर में बड़ा भेद है, यह मैं भी  
जानता और मानता हूं। परन्तु पण्डितजी ने मेरे लेख में उन दोनों  
का भेद कुछ भी नहीं समझा, यह बड़ा आश्चर्य्य है।

पं० महेश०—‘अग्निः पवित्रमुच्यते’ पवित्र शब्द की खराबी

- ३० १. मैत्रायण्युप० ६।८, ९॥ २. मैत्रायण्युप० ६।८॥  
३. निरुक्त ५।६॥ ४. यहां पाठ कुछ भ्रष्ट है, अर्थ अस्पष्ट है।



लगी है कि उनको पवित्र शब्द के अर्थ में लिया है। १८ [वां प्रमाण] मनु का है। इस स्थान में मैं कुछ अवश्य कहना चाहता हूं कि एक बड़ा भाग मनु का जो कि हिन्दू धर्म का बयान करता है। स्वामीजी उसके लौट डालने को अपनी ओर प्रेरणा अर्थात् रसूली समझते हैं। इसलिये मनु के प्रमाण रखने में उनकी चतुराई नहीं समझी जा सकती। और धरा तो धरा करो, परन्तु उससे भी सिद्ध नहीं हो सकता कि अग्नि ईश्वर का वाची है। जैसे—सब दृष्ट अदृष्ट सृष्टि को परमेश्वर में स्थित देखना चाहिये, आत्मा सर्व देवता है, सब आत्मा में स्थित हो रहे हैं। कोई कहते हैं कि वह अग्नि है, कोई मनु अर्थात् प्रजापति, कोई इन्द्र, कोई प्राण और कोई-कोई १० उसको नित्य ब्रह्म करके समझते हैं। वह मनुष्य जो परमात्मा को सब में व्यापक देखता है, स्वीकार करता है कि सब समान हैं, वह परमेश्वर में लवलिन हो जाता है—

‘सर्वमात्मनि संपश्येत् सच्चासच्च समाहितम् ।

आत्मैव देवताः सर्वाः सर्वमात्मन्यवस्थितम् ॥

१५

एतमेके वदन्त्याग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम् ।’

अब देखना चाहिये कि ये सब मन्त्रों के प्रमाण स्वामीजी ने अग्नि शब्द के परमेश्वरार्थ में सिद्ध करने को दिये हैं, सो कैसे वृथा हैं।

स्वामीजी—‘अग्निः पवित्रमुच्यते’ इसका उत्तर हम दे चुके। और मनु के प्रमाण के विषय में पण्डितजी का लेख विपरीत है, २० क्योंकि जो आर्यों का वेदोक्त सनातन धर्म है, उसको पण्डितजी के समान विचार करनेवाले मनुष्यों ने उलटा दिया है। इस उलटे मार्ग को उलटाकर पूर्वोक्त सत्यधर्म का स्थापन मैं किया चाहता हूं। इससे मेरी चतुराई तो ठीक हो सकती है, परन्तु पण्डितजी की चतुराई ठीक नहीं समझी जाती, क्योंकि मनु के प्रमाण का अभिप्राय २५ पण्डितजी ने कुछ भी नहीं समझा। ‘प्रशासितारं सर्वेषां’ इस पूर्वोक्त से पुरुष अर्थात् परमेश्वर की अनुवृत्ति, ‘एतमेके वदन्त्याग्निम्’<sup>१</sup> इस श्लोक में बराबर आती है। तथा—‘अपरे ब्रह्म शाश्वतम्’<sup>२</sup> इस

१. मनु० १२।१२३॥

२. निरुक्त ५।६॥

३. मनु० १२।१२२॥

४. मनु० १२।१२३॥

३०

५. मनु० १२।१२३॥



वचन से भी ठीक-ठीक निश्चय है—जिसका नाम परमेश्वर और ब्रह्म है, उसी के अग्न्यादि नाम भी हैं। इस सुगम बात को भी पण्डितजी ने नहीं समझा, यह बड़े आश्चर्य की बात है। और—

- ‘सर्वमात्मनि संपश्येत् सच्चासच्च समाहितः ।  
 ५ सर्वं ह्यात्मनि संपश्यन्नाधर्मं कुरुते मनः ॥ १ ॥  
 आत्मैव देवताः सर्वाः सर्वमात्मन्यवस्थितम् ।  
 आत्मा हि जनयत्येषां कर्मयोगं शरीरिणाम् ॥ २ ॥  
 एवं यः सर्वभूतेषु पश्यत्यात्मानमात्मना ।  
 स सर्वसमतामेत्य ब्रह्माभ्येति परं पदम्’ ॥ ३ ॥

- १० इन श्लोकों से पण्डितजी ने ऐसा अर्थ जाना है कि परमेश्वर ही सब देवता हैं, और सब जगत् परमेश्वर में स्थित है। यह पण्डित जी का जानना बिलकुल मिथ्या है। क्योंकि इन श्लोकों से इस अर्थ को नहीं सिद्ध करते। ‘समाहितः’ इस पद को अशुद्ध करके ‘समाहितम्’ यह पण्डितजी ने लिखा है। ‘जो समाधान पुरुष असत्कारण और  
 १५ सत्कार्यरूप जगत् को आत्मा अर्थात् सर्वव्यापक परमेश्वर में देखे, वह कभी अपने मन को अधर्मयुक्त नहीं कर सकता। क्योंकि वह परमेश्वर को सर्वज्ञ जानता है ॥ १ ॥

- आत्मा अर्थात् परमेश्वर ही सब व्यवहार के पूर्वोक्त देवताओं को रचनेवाला। और जिसमें सब जगत् स्थित है, वही सब मनुष्यों  
 २० का उपास्य देव तथा सब जीवों को पाप-पुण्य के फलों का देनेहार है ॥ २ ॥

- इसी प्रकार समाधियोग से जो मनुष्य सब प्राणियों में परमेश्वर को देखता है, वह सब को अपने आत्मा के समान प्रेमभाव से देखता है। वही परमपद जो ब्रह्म परमात्मा है, उसको यथावत् प्राप्त होके  
 २५ सदा आनन्द को प्राप्त होता है ॥ ३ ॥

अब देखना चाहिये कि मेरे वेदभाष्य पर बिना समझे जो पण्डितजी ने तर्क लिखे हैं, वे सब मिथ्या हैं। क्या इस बात को सब सज्जन लोग ध्यान देके न देख लेंगे ?

- पं० महेश०—फिर स्वामीजी लिखते हैं कि ‘अग्नि परमेश्वर  
 ३० सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् न्यायकारी पिता पुत्र के समान मनुष्य को



उपदेश करता है कि—हे जीव ! तू इस प्रकार कह कि मैं अग्नि परमेश्वर की स्तुति करता हूँ । तिस पर जीव कहता है कि—मैं अग्नि ईश्वर को स्तुति करता हूँ, जो कि सर्वज्ञ शुद्ध अविनाशी अजन्मा आदि-अन्त-रहित सर्वव्यापक सृष्टिकर्त्ता और स्वयंप्रकाशस्वरूप है, दूसरे की नहीं ।' इस विषय में स्वामीजी कोई प्रमाण नहीं देते हैं । ५ संसार स्वामीजी की इस प्रेरणा के बताने का ऋणी है । परन्तु उन को ऐसी मधुरता से अपने भाष्य में लेख करना उचित नहीं ।

अब 'अग्निमीळे ०' 'पुरोहित' शब्द को देखना चाहिये । स्वामीजी अर्थ करते हैं—'वह जो जीवों का पालन और रक्षा करता, तथा हर एक को उत्पन्न करके सत्य विद्या का उपदेश करता, और अपने १० उपासकों के हृदय में प्रेम-भक्ति का प्रकाश करता है ।' स्वामीजी हित शब्द को 'डुधाञ्' धातु से बनाते हैं, जिससे आगे 'त्त' है, इसमें वह निरुक्त का प्रमाण धरते हैं—'पुरोहितः पुर एनन्दधाति ०' ।<sup>१</sup> यह नहीं समझा जा सकता कि स्वामीजी 'पुरोहित' शब्द से अपने अर्थ कैसे निकालते हैं ? व्याकरण की रीति से इस 'हित' शब्द के अर्थ अग्ने रक्खे १५ के हैं । स्वामीजी लेते हैं कि जो कुछ रखता है । व्याकरण की रीति से हित शब्द डुधाञ् धातु का कर्माधार गौण क्रिया है, सकर्मक गौण क्रिया नहीं, स्वामीजी उसे व्याकरण के सूत्र से सिद्ध कर दें । परन्तु इस बात का दावा किया जा सकता है कि 'हित' शब्द किसी उदाहरण से सकर्मक गौण क्रिया सिद्ध नहीं कर सकते । २०

स्वामीजी—जो अग्नि नाम परमेश्वर का लिखा है, उसके प्रमाण उसी मन्त्र के भाष्य में यथावत् लिखे हैं, वहां ध्यान देकर देखने से मालूम हो जायेंगे । तथा 'पुरोहित' शब्द पर जो मैंने प्रमाण वा उसका अर्थ लिखा है, सो भी वहां देखने से ठीक-ठीक मालूम होगा कि जैसा व्याकरण और निरुक्तादि से सिद्ध है । पण्डितजी २५ 'पुरोहित' शब्द को कर्मवाच्य कृदन्त मानते हैं, किन्तु कर्तृवाच्य कृदन्त नहीं । यह उनका कथन ऐसा है कि जैसा प्रमत्तगीत, अर्थात्

१. यह वेदभाष्य के नमूने के अङ्क में प्रथम सूक्त के प्रथम मन्त्र के संस्कृत-भाष्य का अनुवाद है ।

२. निरुक्त २।१२ ॥



किसी ने किसी से प्रयाग का मार्ग पूछा । उसने उत्तर दिया कि यह द्वारिका का मार्ग सूधा जाता है ।

- ‘पुरोहित’ शब्द के साधुत्व में यहां व्याकरण का यह सूत्र उपयोगी है—‘आदिकर्मणि क्तः कर्त्तरि च । अष्टा० अ० ३ । पा० ४ । सू० ७१’ इससे आदिकर्मविषयक जो क्त प्रत्यय है, वह कर्त्ता में सिद्ध है । क्योंकि सकल पदार्थों का उत्पादन और विज्ञानादि दान अर्थात् वेद द्वारा सकल पदार्थ विज्ञान करा देना यह परमेश्वर का आदि-कर्म है । इसके न होने से सत्यासत्य का विवेक, और विवेक के न होने से परमेश्वर को जानना, और परमेश्वर के न होने से
- १० उसकी भक्ति होना, ये सब परस्पर असम्भव हैं ।

- निरुक्तकार ने भी ‘पुरोहित’ शब्द में ‘डुधाञ् से कर्त्ता में ‘क्त’ प्रत्यय मानकर परमेश्वर का ग्रहण किया है । वहां अन्वादेश इसी अभिप्राय में है कि परमेश्वर सब जगत् को उत्पन्न करके उसका धारण और पोषण करता है । उसी परमेश्वर को संसारी जन इष्ट-देव मानकर अपने आत्माओं में धारण करते हैं । देखिये वेदों में अन्यत्र भी ‘विश्वस्मा उपकर्मणे पुरोहितः’ । ऋ० १ । सू० ५५ । मं० ३ यह उदाहरण भी प्रत्यक्ष है ।

- और जो पण्डितजी—‘यद्देवापिः०’ इस मन्त्र में पुराण की आख्यायिका झूठी कहते हैं, सो उनकी बड़ी भूल है । क्योंकि उनको
- २० इस मन्त्र के अर्थ की खबर भी नहीं है । और जो इसके ऊपर निरुक्त लिखा है, उसका भी ठीक-ठीक अर्थ नहीं जानते । क्योंकि पण्डितजी ने ‘शन्तनु’ शब्द से भीष्मजी का पिता समझ लिया है । जो ‘शन्तनु’ शब्द का निरुक्त में अर्थ लिखा है, उसकी खबर भी नहीं है । ‘शन्तनुः शं तनोऽस्त्विति वा, शमस्मै तन्वा अस्त्विति वा ।’ इसका यह अर्थ है कि (शं) = कल्याणयुक्त (तनु) शरीर होता है, जिससे वह परमेश्वर ‘शन्तनु’ कहा जाता है । और जिस शरीर से जीव कल्याण को प्राप्त होता है, इसलिये उस जीव का नाम भी ‘शन्तनु’ है । इस से पण्डितजी ने इस में जो कथा लिखी, सो सब व्यर्थ है ।

१. पुर एनं दधाति । निरुक्त २।१२॥ यहां ‘एनं’ अन्वादेश में प्रयुक्त
- ३० होनेवाला पद है । २. ऋ० १० । ६८ । ७ ; निरुक्त २ । १२ ॥
३. निरुक्त २ । १२ ॥



अब 'यज्ञ' शब्द पर पण्डितजी लिखते हैं कि—'यज्ञ और देव शब्द को मिला करके लिया है', सो बात नहीं है, क्योंकि यह लेखक और यन्त्रालय का दोष है। 'यज्ञस्य' यह शैषिकी षष्ठी है, पुरोहित, देव, ऋत्विक्, होता और रत्नधातम ये सब यज्ञ के सम्बन्धी हैं, और अग्नि के विशेषण हैं। यज्ञ शब्द का अर्थ जैसा भाष्य में लिया है, वैसा समझ लेना चाहिये। और निरुक्तकार भी वैसा ही अर्थ लेते हैं, क्योंकि प्रख्यात अर्थात् प्रसिद्ध जो तीन प्रकार का वेदभाष्य में यज्ञ लिखा है, वह निरुक्तकार के प्रमाण से युक्त है।

और जो 'गौ' शब्द का दृष्टान्त दिया, सो भी नहीं घट सकता। क्योंकि प्रकरण आकांक्षा योग्यता आसक्ति तात्पर्य संज्ञा आदि कारणों १० से शब्द का अर्थ लिया जाता है। और जो 'देव' शब्द के विषय में पण्डितजी ने लिखा है कि स्वामीजी ने जय की इच्छा करनेवाले कहां से वा कैसे लिये हैं? इसका उत्तर यह है कि 'दिवु' का घात्वर्थ विजिगीषा भी है। और जो यज्ञ में विघ्नकारक दुष्ट प्राणी और कामक्रोधादि शत्रु हैं, उनका जीतनेवाला वही परमेश्वर देव है, क्यों- १५ कि त्रिविध यज्ञ का रक्षक इष्ट और पूज्यदेव परमेश्वर ही है।

'पुरोहितो व्याख्यातो यज्ञश्च' इसके अर्थ में पण्डितजी की बहुत भूल है, क्योंकि निरुक्तकार कहते हैं कि हमने पुरोहित और यज्ञ की पूर्व व्याख्या कर दी है। और पण्डितजी कहते हैं कि "निरुक्त

१. जो लोग ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों में लिपिकर वा मुद्रण आदि के २० दोषों को भी स्वीकार नहीं करते, और उनको शुद्ध करने का भी विरोध करते हैं, उन्हें इस लेख पर ध्यान देना चाहिये। इतना ही नहीं, कहीं-कहीं ऋषि दयानन्द के लेख में उनकी अस्वस्थता आदि के कारण शारीरिक मानसिक उद्विग्नता से भी लेखन-प्रमादजन्य दोष हुये हैं। इस बात को ऋषि दयानन्द ने 'संस्कृत-वाक्यप्रबोध' में हुई अशुद्धियों के कारण का विवेचन करते हुए स्वयं २५ स्वीकार किया। देखो—मुंशी बस्तावर सिंह के नाम श्री शु० १३ बुध सं० १९३७ का पत्र—'इस अशुद्धि के तीन कारण हैं—एक शीघ्र बनना, मेरा चित्त स्वस्थ न रहना। दूसरा भीमसेन के आधीन शोधने आ होना, और न देखना, न प्रूप शोधना। तीसरा छापेखाने में उस समय कोई भी कम्पो- जीटर बुद्धिमान न होना, लैम्पों की न्यूनता होनी।' ऋ. द. के पत्र और ३० विज्ञापन, पृष्ठ २२१ द्वि० सं०।

२. निरुक्त ७।१५ ॥

३. निरुक्त २।१२ में।



के तीसरे अध्याय के १६ खण्ड में 'यज्ञ' शब्द को व्याकरण से सिद्ध किया है" सो भूठ है। क्योंकि वहां अर्थ की निरुक्तिमात्र कही है, सिद्धि कुछ भी नहीं। और "जो निघण्टु ३। खं० १७ के प्रमाण से यज्ञ के अनेक नाम लिखे हैं कि बहुधा वे होमादिक के विधान में आते हैं, और स्वामीजी के अर्थों में उनमें से एक भी नहीं मिलता" यह बात पण्डितजी की भ्रान्तियुक्त है। क्योंकि उन १५ नामों का अर्थ मेरे अर्थ के साथ बराबर मिलता है, क्योंकि मैंने यज्ञ शब्द का अर्थ त्रिविध लिया है। इसके साथ उनको मिलाकर देखो।

- और पण्डितजी निरुक्तकार के विषय में कहते हैं कि 'देव' १० शब्द के अर्थ देनेवाला, प्रकाश करनेवाला और स्वर्ग में रहनेवाला ये तीन हो हैं। इस देव-शब्द-निषयक निरुक्त का अर्थ भूमिका के तीसरे अङ्क के ६३ पृष्ठ की ५ पंक्ति से देख लेना चाहिये। निरुक्तकार—'यो देवः सा देवता०'<sup>३</sup> इत्यादि जो पांच अर्थ लेते हैं, उनको पण्डितजी ठीक ठीक नहीं समझे कि निरुक्तकार कितने अर्थ लेते हैं। १५ इस में पण्डितजी की परीक्षा हुई कि वे निरुक्तकार का अभिप्राय ठीक नहीं जानते हैं।

- पं० महेश०—इसी प्रकार स्वामीजी 'ऋत्विजम्', 'होतारम्' और 'रत्नधातमम्' शब्दों के कई-कई अर्थ अद्भुत रीति से करते हैं। परन्तु क्योंकि उनकी भूल 'यज्ञस्य' 'देव' शब्दों से सिद्ध कर चुका हूं, २० इसलिये विशेष लिखना वृथा है। स्वामीजी 'ऋत्विजम्' का अर्थ करते हैं कि जिसकी सब ऋतुओं में पूजा की जाय। परन्तु सबके प्रामाणिक अर्थ इस शब्द के चढ़ानेवाले अर्थात् भेंट करनेवाले के हैं, और न कि जिसको भेंट चढ़ाई जाय। यह बात भी निरुक्त की साक्षी से सिद्ध है कि जिसका स्वामीजी भी प्रमाण मानते हैं।

- २५ १. निरुक्तशास्त्र अर्थनिर्वचन-विधायक है, शब्द-निर्वचनविधायक नहीं, यह हम पूर्व भी लिख चुके हैं।  
२. रा. ला. क. द. संस्क०, पृष्ठ ७०, पं० १६ से।  
३. निरुक्त ७। १४॥  
४. 'देवो दानाद्वा दीपनाद्वा द्योतनाद्वा द्युस्थानो भवतीति वा'। निरुक्त  
३० ७। १४ में चार अर्थ हैं। यहां भी ऋषि दयानन्द 'ये देव के अर्थ निर्वचन हैं' यह स्पष्ट कहते हैं।



स्वामीजी अब पण्डितजी 'ऋत्विज्' शब्द पर लेख करते हैं, सो भी ठीक-ठीक नहीं वे समझे। 'कृत्त्युटो बहुलम्' इस वाक्तिक का अर्थ भी नहीं समझे; क्योंकि इस वाक्तिक में कृतसंज्ञक प्रत्यय कर्म में भी उन शब्दों में माने जाते हैं, जो कि वेदादि सत्यशास्त्रों में प्रयुक्त हैं। इसलिये इस वेदभाष्य में जो इसका अर्थ लिखा गया है, सो व्याकरण से सिद्ध है। परन्तु पण्डितजी 'ऋत्विज्' शब्द का अर्थ नहीं समझे।

पं० महेश० - स्वामीजी 'होतार' शब्द के जो कई अर्थ करते हैं, उनमें से एक 'आदातार' अर्थात् ग्रहण करनेवाले के हैं। यह भिन्न पद है कि जिससे यह अर्थ लिये जाते हैं। 'होतार' जो 'हु' से बनता है, जिसके अर्थ अगले नियम धातुपाठ के से 'अदन' होते हैं और इस ग्रन्थ को स्वामीजी मानते हैं। जैसे—'हु दानादनयोरादाने चेत्येके' 'हु' धातु के अर्थ दान अदन और किसी के मत में आदान अर्थात् ग्रहण करना। अदन का अर्थ ग्रहण वा आदान अर्थ ग्रहण करना है। वेदान्तदर्शन का एक सूत्र है—'अत्ता चराचरग्रहणात्'।<sup>१</sup>

१५

इस प्रमाण से सिद्ध होता है कि अदन का अर्थ ग्रहण करना है, और फिर धातुपाठ के उसी नियम से सिद्ध होता है कि अदन शब्द जो उसमें आया है, उसके अर्थ आदान के नहीं हो सकते, किन्तु उसके अर्थ कुछ और ही हैं। नहीं तो उक्त नियम के अनुसार 'आदाने चेत्येके' कंसे बन सकता? किंसा के मत में 'हु' धातु का अर्थ भी आदान होता है, इससे मालूम हो गया कि धातुपाठकार ने अदन—आदान अर्थ में लाने का कभी ख्याल भी नहीं किया। अर्थात् उस अर्थ में कि जिसमें स्वामीजी ने लिया है।

इस सूत्र में कदाचित् स्वामीजी इस बात को सिद्ध कर सकें कि अदन 'आदान' के अर्थ में आता है, तो यह वेदान्तदर्शन का सूत्र ही हो यह माना, फिर भी वह धातुपाठ के नियम की वृत्ति में नहीं लग सकता, तथा पण्डितजी के प्रमाण की पुष्टि कभी नहीं कर सकता। अब इसलिये इस बात के कहने की आवश्यकता नहीं है कि वेदान्त सूत्र भी, जिसको कि स्वामीजी मानते हैं, अदन को आदान अर्थ में सिद्ध नहीं कर सकता है। यह तमाशे की बात है कि स्वामीजी ने

३०

१. अष्टा० ३। ३। ११३ के भाष्य में।

२. वेदान्त १।२।६।



५ अब मैं स्वामीजी के एक ईश्वरप्रतिपादन विषय की परीक्षा कर चुका कि जिसको पढ़नेवाले समझ लेंगे ।

१५

२५

३०. अर्थ का पृथक् ग्रहण किया है। इससे जान लो धातुपाठकार का यह ध्यान होता तो स्वयं दान और अदान में आदान का पाठ क्यों



नहीं कर लेते ? इससे धातुपाठ की वृत्ति' में ठीक-ठीक मेरा अभि-  
प्राय मिलता, और मेरे ही अर्थ की पुष्टि करता है, पण्डितजी  
की नहीं ।

इसी प्रकार वेदान्त का सूत्र भी मेरे अर्थ की पुष्टि करता है,  
पण्डितजी की कुछ भी नहीं । क्योंकि 'अत्ता' शब्द का ग्रहण करने-  
वाले के अर्थ में वेदान्त सूत्रकार का अभिप्राय है । 'आदान' शब्द के  
अर्थ के लिये नहीं, क्योंकि 'आदान' शब्द तो स्वयं ग्रहण करने अर्थ  
में है । इसलिये इस सूत्र आदि प्रमाणों के बिना 'अत्ता' शब्द को  
ग्रहणार्थ में कोई कभी नहीं ला सकता । यह बड़े आश्चर्य की बात है  
कि पण्डितजी अपनी निर्मूल बात को समूल करने के लिये बहुत से  
यत्न करते हैं, परन्तु क्या झूठा सच्चा और सच्चा झूठा कभी हो  
सकता है ?

इतने ही लेख से पण्डितजी की विद्या की परीक्षा विद्वान् लोग  
कर लेंगे । और पण्डित महेशचन्द्र न्यायरत्नजी की संस्कृत में विद्वत्ता  
कितनी है, इसको समझ लें कि इन्होंने क्या केवल विद्याहीन पौरा-  
णिक लोगों का वेदार्थविरुद्ध टीका, और वैसे ही अंग्रेजी में जो वेदों  
पर मूलार्थ विरुद्ध उलटे तरजुमे हैं, उनके सिवाय ब्रह्माजी से लेके  
जैमिनि मुनि पर्यन्त के किये वेदों के व्याख्यान-ग्रन्थों को कुछ भी  
कभी देखा वा समझा है ? नहीं तो ऐसी व्यर्थ कल्पना क्यों करते ।  
हां मैं यह कहता हूं कि—

न वेत्ति यो यस्य गुणप्रकर्षं, स तस्य निन्दां सततं करोति ।  
यथा किरातः करिकुम्भजाता, मुक्ताः परित्यज्य बिभर्ति गुञ्जाः ॥<sup>१</sup>

'चोर कोटपाल को दण्डे' अर्थात् जो सच्चे को झूठा दोष  
लगाते हैं, वे ऐसे दृष्टान्त के योग्य होते हैं कि जो जिसके उत्तम गुण  
नहीं जानता वह उसकी निन्दा निरन्तर करता है । जैसे कोई  
जङ्गली मनुष्य गजमुक्ताओं को हाथ में लेकर उनको छोड़के घुंघुची  
का हार बनाकर गले में पहनकर फूला-फूला फिरे, वैसे जिन्होंने  
मेरे बनाये भाष्य पर विरुद्ध बात लिखी हैं । क्या इस पत्र को जो-जो

१. प्रतीत होता है ऋषि दयानन्द अर्थनिर्देश को ही वृत्ति मानते हैं,  
और यह अर्थनिर्देश धातुपाठकार पाणिनि का है, यह स्वीकार करते हैं ।

२. यह श्लोक चाणक्यनीति का है ।



बुद्धिमान् लोग देखेंगे, वे जैसी उनकी पण्डिताई की खण्डबण्ड दशा को न जान लेंगे ?

परन्तु मैं यह प्रसिद्ध विज्ञापन देता हूं कि ग्रिफिथ साहव आदि अंग्रेज, पं० गुरुप्रसाद और महेशचन्द्र न्यायरत्नजी और मैं कभी सम्मुख बैठ कर वेदविषय में वार्तालाप करें, तब सब को विदित हो जावे कि विरुद्धवादियों को वेद के एक मूल मन्त्र का भी अर्थ ठीक-ठीक नहीं आता। यह बात सब को विदित हो जावे। मैं चाहता हूं कि ये लोग मेरे पास आवें, वा मुझको अपने पास बुलावें, तो ठीक-ठीक विद्या और अविद्या का निश्चय हो जावे, कि कौन पुरुष वेदों को यथार्थ जानता है, और कौन नहीं। क्योंकि - विद्यादम्भः क्षण-स्थायी । सब का दम्भ कुछ दिन चलता जाता, परन्तु विद्या का दम्भ क्षणमात्र में छूट जाता है ॥

इति श्रीमदयानन्दसरस्वतीस्वामिकृतशङ्कासमाधान-

युक्तपत्रं पूर्तिमगात् ॥

१५

संवत् १९३४, कार्तिक शुक्ला २ ॥





---

---

अ मो च्छे द न

---

---



ॐ नमो भगवते वासुदेवाय



ॐ ओ३म् ॐ

## भ्रमोच्छेदन

[ अविद्वानों का ] \*

मैंने राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द की बुद्धि और चतुराई की प्रशंसा सुनके चित्त में चाहा कि कभी उनसे समागम होकर आनन्द ५ होवे । जैसे पूर्व समय में बहुत ऋषि-मुनि-विद्वानों के बीच प्रज्ञासागर बृहस्पति महर्षि हुये थे, क्या पुनरपि वे ही महा अविद्यान्धकार के प्रचार से नाना प्रकार के अन्योन्य-विरुद्ध मत-मतान्तर के इस वर्तमान समय में शरीर धारण करके प्रकट तो नहीं हुये हैं ? देखना चाहिये कि जैसा उनको मैं सुनता हूं, वैसा ही वे हैं वा नहीं ? ऐसी १० इच्छा थी । यद्यपि मैंने संवत् १९२६ से लेके पांच वार<sup>१</sup> काशी में जाकर निवास भी किया, परन्तु कभी उनसे ऐसा समागम न हुआ<sup>४</sup> कि कुछ वार्तालाप होता ।

मैंने प्रस्तुत संवत् १९३६ कार्तिक सुदी १४ गुरुवार<sup>२</sup> को काशी

\* जो राजा शिवप्रसादजी अपने लेख पर स्वामी विशुद्धानन्दजी का १५ हस्ताक्षर न कराते, तो मैं इस पर एक अक्षर भी न लिखता । क्योंकि उनको तो संस्कृतविद्या में शब्दार्थ सम्बन्धों के समझने का सामर्थ्य ही नहीं है । इसलिये जो कुछ इस पर लिखता हूं, सो सब स्वामी विशुद्धानन्दजी की ओर ही समझा जावे ॥

× एक वार सय्यद अहमदखां सदरसद्वरजी की कोठी पर दूर से देखा २० था, पर वार्तालाप नहीं हुआ था ॥

१. प्रथम वार कार्तिक कृष्णा २, ३ संवत् १९२६, द्वितीय वार चैत्र शुक्ला सं० १९२७, तृतीय वार फाल्गुन सं० १९२८, चतुर्थ वार ज्येष्ठ सं० १९३१, पांचवीं वार ज्येष्ठ कृष्णा ४ सं० १९३३ ।

इस ग्रन्थ में चिह्नोंवाली टिप्पणी ग्रन्थकार की हैं, और संख्यावाली २५ हमारी हैं । यु० मी०

२. ऋ० द० के पत्रव्यवहार पृष्ठ १६९ (द्वि० सं०) में कार्तिक शुक्ला ८ शुक्रवार का एक पत्र है । वह काशी से लिखा गया है । इस



- में आकर महाराजे विजयनगराधिपति के आनन्दबाग में निवास किया । इतने में मार्गशीर्ष सुदी<sup>१</sup> में अकस्मात् राजा शिवप्रसाद जी प्रसिद्ध एस० एच० कर्नल आलकाट साहब और एच० पी० मेडम ब्लेवेष्टकी को मिलने के लिये आनन्दबाग में आ, उनसे मुझ से मिलकर कहा
- १५ कि मैं उक्त साहब और मेडम से मिला चाहता हूँ । सुनकर मैंने एक मनुष्य को भेज राजा साहब को सूचना कराई, और जब-तक उक्त साहब के साथ राजाजी न उठ गये, तबतक जितनी मैं अपने पत्र में लिख चुका हूँ, उनसे बातें हुईं । परन्तु शोक है कि जैसा मेरा प्रथम निश्चय राजाजी पर था, वैसा उनको न पाया \* । मन में विचारा
- १० कि जितनी दूसरे के मुख से बात सुनी जाती है, सो सब सच नहीं होती ।

राजा जी लिखते हैं कि—‘स्वामी जी की बात सुनकर मैं भ्रम में पड़ गया’ ।

- यहां बुद्धिमानों को विचारना चाहिये कि क्या मेरी बात का
- १५ सुनना ही राजा जी को बड़े सन्देह में पड़ने का निमित्त है, और उनकी कम समझ और आलस्य कारण नहीं है ? × जब कि उनको सन्देह ही छुड़ाना था, तो मेरे पास आके उत्तर सुनके यथाशक्ति सन्देह निवृत्त कर आनन्दित होना योग्य न था ? जैसा कोमल लेख

\* राजाजी की वाचालता बहुत बड़ी, और समझ अति छोटी देखी ॥

- २० × कोई कितना ही बड़ा विद्वान् हो, परन्तु अविद्वान् मनुष्य को विद्या की बातें बिना पढ़ाये कभी नहीं समझा सकता । न वह बिना पढ़े समझ सकता है ।

- विषय में पत्रव्यवहार की टिप्पणी द्रष्टव्य है । सम्भव है कार्तिक सुदी १४ से पूर्व १२-१३ दिन के लिये बीच में काशी से बाहर गये हों । अथवा इससे
- २५ पूर्व आनन्द बाग में न ठहर कर अन्यत्र ठहरे हों, और यहां आनन्द बाग में ठहरने की तिथि का उल्लेख हो । है यह बात विचारणीय ।

१. यहां तिथि की संख्या ‘३’ छूट गई है । देवेन्द्रनाथ विरचित जीवन-चरित में राजा शिवप्रसाद का १६ दिसम्बर को आना लिखा है । उस दिन मार्गशीर्ष शुक्ला तृतीया थी । द्र०—जी० च० में पृष्ठ ५६३ (प्र० सं०) ।

- ३० २. चैत्र सुदी १२ संवत् १९३७ का पत्र । यह आगे इसी ग्रन्थ के अन्त में छपा गया है ।



उनके पत्र में है, वैसा भीतर का अभिप्राय नहीं\* । किन्तु इसमें प्रत्यक्ष छल ही विदित होता है ।

देखो, मार्गशीर्ष [सुदी १४] से लेके वैशाख कृष्णा एकादशी बुधवार पर्यन्त सवां चार मास' उनके मिलने के पश्चात् मैं और वे काशी में निवास करते रहे । क्यों न मिलके सन्देश निवृत्त किये ? ५ जब मेरी यात्रा सुनी, तभी पत्र भेजके प्रत्युत्तर क्यों चाहे ? मेरे चलने के समय प्रश्न करना, मेरे बुलाये पर भी उत्तर सुनने न आना,<sup>२</sup> सवा चार महीने पर्यन्त चुप होके बैठे रहना, और मेरे काशी से चले आने पर अपनी व्यर्थ बड़ाई के लिये पुस्तक छपवाकर काशी में और जहां-तहां भेजना कि काशी में कोई भी विद्वान् स्वामी जी १० से शास्त्रार्थ करने में समर्थ न हुआ, किन्तु एक राजा शिवप्रसाद जी ने किया । ऐसी प्रसिद्धि होने पर सब लोग मुझको विद्वान् और बुद्धिमान् मानेंगे । ऐसी इच्छा का विदित कराना आदि हेतुओं से क्या उनकी अयोग्यता की बात नहीं है X ? भला ऐसे मनुष्यों से क्या किसी विद्वान् को उचित है कि बात और शास्त्रार्थ करने में प्रवृत्त १५ होवे ?

ऐसे कपट-छल के व्यवहार [ करनेवाले के साथ व्यवहार ] न करने में मनु जी की भी साक्षी अनुकूल है—

अधर्मेण तु यः प्राह यश्चाऽधर्मेण पृच्छति ।

तयोरन्यतरः प्रैति विद्वेषं वाधिगच्छति ॥ १ ॥

२०

अर्थ— (यः) जो (अधर्मेण) अन्याय पक्षपात असत्य का ग्रहण

\* हाथी के खाने के दांत भीतर, और दिखाने के बाहर होते हैं ॥

X जो राजाजी प्रश्नों के उत्तर चाहते, तो ऐसी अयोग्य चेष्टा क्यों करते ? जब मैंने उनकी अन्यथा रीति जानी, तभी से उनसे पत्रव्यवहार आगे को न चलाया । क्योंकि उनसे संवाद चलाना व्यर्थ देखा ॥ २५

१. यह काल चार मास १३ दिन होता है । देवेन्द्र बाबू विचरित जीवन-चरित के अनुसार बीच में प्रयाग भी गये थे (पृष्ठ ५६७, प्र० सं०) । उसका काल निकाल कर यह समय लिखा गया है, ऐसा प्रतीत होता है ।

२. इस विषय में देवेन्द्र बाबू विरचित जीवन-चरित पृष्ठ ६०६ (प्र० सं०) द्रष्टव्य है । ३०

३. मनु : ११११ ॥ वहां 'तु' के स्थान में 'च' पाठ है ।



सत्य का परित्याग हठ-दुराग्रह से, वा जिस भाषा का आप विद्वान् न हो उसी भाषा के विद्वान् के साथ शास्त्रार्थ किया चाहे, और उस भाषा के सच-भूठ की परीक्षा करने में प्रवृत्त होवे, और कोई प्रतिवादी सत्य कहे, उसका निरादर करे, इत्यादि अधर्म-कर्म से युक्त ५ होकर छल-कपट से + (पृच्छति) पूछता है, (च) और (यः) जो (अधर्मेण) पूर्वोक्त प्रकार से (प्राह) उत्तर देता है, ऐसे व्यवहार में विद्वान् मनुष्य को योग्य है कि न उससे पूछे और न उसको उत्तर देवे । जो ऐसा नहीं करता, तो पूछने वा उत्तर देनेवाले दोनों में से एक मर जाता है । (वा) अथवा (विद्वेषम्) अत्यन्त विरोध को (अधि १० गच्छति) प्राप्त होकर दोनों दुःखित होते हैं ॥१॥

जब इस वचनानुसार राजा जी को अयोग्य जानकर लिखके उत्तर नहीं दिये, तो :- फिर क्या मैं ऐसे मनुष्यों से शास्त्रार्थ करने को प्रवृत्त हो सकता हूं ? हां, मैं अपरिचित मनुष्यों के साथ, चाहे कोई धर्म से पूछे अथवा अधर्म से, उन सबों के समाधान करने को १५ एक बार तो प्रवृत्त हो ही जाता हूं । परन्तु उस समय जिसको अयोग्य समझ लेता हूं, जबतक वह अपनी अयोग्यता को छोड़कर नहीं पूछता और न कहता है, तबतक उससे सत्यासत्यनिर्णय के लिये कभी प्रवृत्त नहीं होता हूं । हां, जो सब विद्वानों को योग्य है, वह काम तो करता ही हूं । अर्थात् जब-जब अयोग्य पुरुष मुझ से २० मिलता वा मैं उससे मिलता हूं, तब-तब प्रथम उसकी अयोग्यता के छुड़ाने में प्रयत्न करता हूं । जब वह धर्मात्मता से योग्य होता है, तब मैं उसको प्रेम से उपदेश करता हूं । वह भी प्रेम से पूछके निस्सन्देह होकर आनन्दित हो जाता है \* ।

अब जो राजा शिवप्रसाद जी ने स्वामी विशुद्धानन्द जी की

२५ + जिसके आत्मा में और, और जिसके बाहर और होवे, वह 'छली' कहलाता है ॥

:- जो जिस बात के समझने और जिस काम के करने में सामर्थ्य [नहीं] रखता, वह उसका अधिकारी नहीं हो सकता ॥

\* कोई भी बंछ जबतक रोगी की आंखों की पीड़ा सोजा और मली- ३० नता दूर नहीं कर देता, तब तक उसको दिखला भी नहीं सकता । परन्तु जिसके नेत्र ही फूट गये हैं, उसको कुछ भी दिखलाने का उपाय नहीं है ।



सम्मति लिखी। ज्येष्ठ<sup>१</sup> महीने में 'निवेदन पत्र' छपवाके प्रसिद्ध किया है। उसी के उत्तर में यह पुस्तक है। इसमें जहां-जहां (रा०) चिह्न आवे, वहां-वहां राजा शिवप्रसाद जी का, और जहां-जहां (स्वा०) आवे, वहां-वहां मेरा लेख जानना चाहिये।

रा०—जितना महाराज जी के मुखारविन्द से सुना था, बड़े ५ सन्देह का कारण हुआ। निवृत्यर्थ पत्र लिखा। महाराज जी ने कृपा करके उत्तर दिया,<sup>२</sup> उसे देख मेरा सन्देह और भी बढ़ा। महाराजजी के लिखे अनुसार 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' मंगाके पृष्ठ ६ से ८८ तक<sup>३</sup> देखा, विचित्र लीला दिखाई दी। आधे-आधे वचन, जो अपने अनुकूल पाये ग्रहण किये हैं, शेषार्द्ध जो प्रतिकूल पाये परित्याग<sup>४</sup> [किये]। उन आधे अनुकूल में भी जो कोई शब्द अपने भाव से विरुद्ध देखे, उनके अर्थ पलट दिये, मनमाना लगा लिये<sup>५</sup>। परन्तु आपने याज्ञवल्क्यजी का यह<sup>६</sup> वाक्य आधा ही अपना उपयोगी समझ क्यों लिखा? क्या इसीलिये कि शेषार्द्ध वादी का उपयोगी है?<sup>७</sup>

† देखिये राजाजी की अद्भुत लीला। मैंने जो वेदार्थ के अनुकूल १५ लिखा है उसको मेरे अनुकूल, और जो वेदार्थ-प्रकरण के प्रतिकूल का त्याग किया है, उसको मेरे प्रतिकूल समझते हैं। इसीलिये राजाजी विद्यारहस्य को कुछ नहीं समझते, क्योंकि उनको भी ऐसा ही करना पड़ता है ॥

× जैसी राजाजी की समझ है, वैसी किसी छोटे विद्यार्थी की भी नहीं हो सकती, क्योंकि जो व्याख्येय शब्दार्थ के विरुद्ध का छोड़ना और अनुकूल का २० ग्रहण करना सबको योग्य होता है, उस-उस को वे उलटा समझते हैं। और फिर कोई उदाहरण भी नहीं लिखते कि इसका अर्थ उलटा वा मनमाना किया। क्या ज्वरयुक्त मनुष्य के लिये कुपथ्य का त्याग और सुपथ्य का ग्रहण करना वैद्य का दोष है, और मैंने तो अपनी समझ के अनुसार जो कुछ लिखा है, सो सब शास्त्रानुकूल ही है। उसको उलटा वा मनमाना लगा लेना जो समझते २५ हैं, यह उनकी समझ का दोष है ॥

१. संवत् १९३७।

२. द्र०—आगे इसी ग्रन्थ के अन्त में मुद्रित चैत्र सुदी १२ सं० १९३७ का पत्र।

३. रा. ला. क. द्र. सं० में पृष्ठ १०—१०१ तक।

३०

४. सम्भवतः यह संकेत 'एवं वा अरेऽस्य.....' वचन की ओर है। यह वचन पृष्ठ ११ (रा. ला. क. द्र. संस्क०) में उद्धृत है।

५. उक्त वाक्य में इतिहास पुराणादि का उल्लेख होने से।



स्वा०—क्या मेरी बात ही सन्देह की बढ़ानेहारी है, उनकी अल्प समझ और आलस्य नहीं हैं? और यह भी सच है कि जब-जब अविद्वान् होकर विद्वान् के बनाये ग्रन्थ को देखने लगता है, तब-तब कांच के मन्दिर में प्रविष्ट हुये श्वान के समान भूँस-भूँस' सुख के ५ बदले दुःख ही पाया करता है।

विदित हो कि जहां जितने वाक्य के भाग के लिखने की योग्यता हो, उतना ही लिखना उचित होता है, न अधिक न न्यून। जिसलिये यह वेदभाष्य की भूमिका है, इसलिये उस वाक्यसमूह में से जितना वेदों का उपयोगी लिखना उचित था, उतना ही लिखा है। जो १० इतिहासादि में से जिस-किसी की व्याख्या करनी होती, तो वहां उस-उस भाग का लिखना भी योग्य था। प्रकरणविरुद्ध लिखना विद्वानों का काम नहीं \*।

सब विद्वान् इस बात को निश्चित जानते हैं कि पदों का पद, वाक्यों का वाक्य प्रकरणों का प्रकरण, और ग्रन्थों का ग्रन्थों ही के साथ सम्बन्ध १५ होता ही है। जब ऐसा है, तब राजा जी को अपनी बात की पुष्टि के लिये सब पद, सब वाक्य, सब प्रकरण और सब ग्रन्थों का प्रमाणार्थ एकत्र लिखना उचित हुआ। क्योंकि यह उन्हीं की प्रतिज्ञा है x कि आधा छोड़ना और आधा लिखना किसी को योग्य नहीं। और जो राजा जी सम्पूर्ण को लिखना उचित समझते हैं, सो यह बात अत्यन्त २० तुच्छ और असम्भव है। ऐसी बात कोई बालबुद्धि मनुष्य भी नहीं कह सकता। देखिये फिर यही उनकी अविद्वत्ता उलटा उनको उन्हीं मिथ्यादोषों में पकड़कर गिराती रहती है, अर्थात् जो मिथ्या दोष वे मेरे लेख पर देते हैं, उन्हीं में आप डूबे हैं।

यहां जो कोई मनुष्य राजा जी से पूछेगा कि—आप जो स्वामी २५ दयानन्द सरस्वती जी को बनाई भूमिका में दोष देते हैं, वही आप के “अन्धेनैव नोयमाना यथाऽन्धाः”<sup>१३</sup> इस लेख में भी आते हैं।

\* चेत करना चाहिये यह उल्टी समझ राजाजी की है कि जो अनेक वाक्यों को एक वाक्य समझना ॥

x ऐसा असम्भव वचन किसी विद्वान् के मुख से नहीं निकल सकता ३० है, और न हाथ से लिखा जा सकता है ॥

१. अर्थात् भौख-भौख के।

२. मुण्डकोप० १।२।६ ॥



इसकी वाक्यावली X तो ऐसी है—

“अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितस्मन्यमानाः ।  
जङ्घन्यमाना अपि यन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः ॥”<sup>१</sup>

फिर आपने इस वाक्यावली में से पूर्व के तीन भाग छोड़ चौथे भाग को क्यों लिखा? तब राजा साहब घबड़ाकर मौन ही साध जायेंगे, क्योंकि वे वाक्यावली में से प्रकरणोपयोगी एक ही भाग का लिखना उचित नहीं समझते, चाहे प्रकरणोपयोगी हो वा न हो, किन्तु पूरी वाक्यावली लिखना योग्य समझते हैं ।÷

जो ऐसा न समझते, तो—“एवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यद्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानानीष्टं हुतमाशितं पायितमयं च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि च भूतान्यस्यैवैतानि सर्वाणि निःश्वसितानि ॥”<sup>२</sup> इस वाक्यसमुदाय को स्वामीजी ने नहीं लिखा, यह मिथ्यादोष क्यों लगाते? पर विचारे क्या करें, उन्होंने न कभी किसी से वाक्यलक्षण सुना, और न पढ़कर जाना है । जो सुना वा जाना होता, तो ‘एवं वा०’ इपसे लेके ‘निःश्वसितानि’ [तक] इस अनेक वाक्य के समुदाय को एक वाक्य क्यों समझते X?

देखिये, यह महाभाष्य में वाक्य का लक्षण लिखा है—एकतिङ् वाक्यम् ।<sup>३</sup> जिसके साथ एक तिङन्त के प्रयोग का सम्बन्ध हो, वह ‘वाक्य’ कहा जाता है । जैसे—‘एवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य विभोः परमेश्वरस्य

X जैसे कोई प्रमत्त अर्थात् पगल पगड़ी पग पर और जूते शिर पर धरता है, वैसे काम विद्वान् कभी नहीं कर सकता ॥

÷ मेरी प्रतिज्ञा तो यह है कि जहां जितना लिखना योग्य हो, वहां उतना ही लिखना ॥

X जो राजाजी विद्या में वास कर अविद्या से पृथक् होते, तो उनके मुख से ऐसी असम्भव बात कभी न निकलती ॥

१. मुण्डकोप० १।२।६॥ वहां ‘अपि यन्ति’ के स्थान में ‘परि यन्ति’ ऐसा पाठ है ।

२. वृ० उप० ४।५।११ काण्वपाठ । माध्यन्दिन पाठ में ‘इष्टं’ से ‘भूतानि’ पर्यन्त अंश नहीं है । द्र०—शत० १४।५।४।१०॥

३. महाभाष्य २।१।१॥



साक्षाद्वा परम्परासम्बन्धादेतत्सर्वं वक्ष्यमाणमनेकवाक्यवाच्यं निःश्व-  
सितमस्तीति' एक, और 'पूर्वोक्तस्य सकाशाद्वेदो निःश्वसितोऽस्तीति'  
दूसरा वाक्य है। इसी प्रकार इस कण्डिका में २० वाक्य तो पठित  
हैं, और आकांक्षित वाक्य 'त्वं विद्धि' इत्यादि ऊपर से, और चकार  
५ से इन्हीं के अतिरिक्त अपठित उपयोगी अनेक अन्य वाक्य भी अन्वित  
होते हैं।

क्या जिनको वाक्य का बोध न हो उनको पदार्थ और वाक्यार्थ  
का बोध, जिनको पदार्थ और वाक्यार्थ का बोध न हो उनको प्रकरणार्थ  
और ग्रन्थ के पूर्व पदार्थ का बोध होने की आशा कभी हो सकती  
१० है\* ? इसीलिये जो राजा जी को दूसरे पत्र में मैंने लिखा है, सो बहुत  
ठीक है कि इससे मुझको निश्चित हुआ कि राजा जी ने वेदों से  
लेके पूर्वमीमांसा पर्यन्त विद्या-पुस्तकों में से किसी भी पुस्तक के  
शब्दार्थ-सम्बन्धों को जाना नहीं है x । इसलिये उनको मेरी बनाई  
भूमिका का अर्थ भी ठीक-ठीक विदित न हुआ।

१५ क्या अब जिस को थोड़ीसी भी बुद्धि होगी, वह राजा साहब  
को शास्त्रों के तात्पर्यार्थ-ज्ञानशून्य जानने में कुछ भी शंका रख सकता  
है ? यहां 'चोर कोटवाल को दण्डे' यह कहानी चरितार्थ होती है,  
कि जो "अन्धेनैव नीयमाना यथाऽन्धाः"<sup>२</sup> के समान स्वयं राजाजी  
और उनके विचारानुकूल चलनेवाले होकर भ्रम से इसके अर्थ को

२० \* राजाजी ने समझा होगा कि मैं बड़ा बुद्धिमान् हूँ। हां 'अन्धानां मध्ये  
काणो राजा' यहां इस न्याय के तुल्य तो चाहे कोई सभझ लेवे ॥

x ईश्वरोक्त चार वेद स्वतःप्रमाण और ब्रह्मा से लेके जैमिनि-पर्यन्त  
ऋषि मुनि, और ऐतरेय ब्राह्मण से लेके पूर्वमीमांसा पर्यन्त ग्रन्थों की गणना  
से कोई भी आर्ष पुस्तक पढ़ना बाकी नहीं रहता कि जिसका परतःप्रमाण  
२५ ग्रहण न हो सके। क्योंकि ग्रन्थकारों में जैमिनि सब के पश्चात् हुये हैं, और  
पुस्तकों में [आर्ष ग्रन्थों में] पूर्वमीमांसा सब से पीछे बनाया है। इसलिये  
जो राजाजी ने नोट में "स्वामीजी ने पूर्वमीमांसा पर्यन्त पढ़ा होगा" लिखा  
है, सो भ्रम से ही है ॥

१. यह पत्र वैशाख वदी ७ संवत् १९३७ को लिखा गया था। इसे आगे  
३० इसी ग्रन्थ के अन्त में छपा है।

२. मुण्डकोप० १।२।६ ॥



मेरी बनाई भूमिका और मेरे उपदेश को माननेहारे पर झोंक देते हैं। क्या यह उलट-पलट नहीं है ?

इससे मैं सब आर्यसज्जनों को विदित करता हूँ कि जो अपना कल्याण चाहें, वे उनके व्यर्थ वाक्याडम्बर जाल में बद्ध हो अपने मनुष्य-जन्म के धर्मार्थ-काम-मोक्ष फलों से रहित होकर दुःखदुर्गन्ध- ५ सागररूप घोर नरक में गिरकर चिरकाल दारुण दुःख भोग न करें। और सर्वानन्दप्रद वेद के सत्यार्थ प्रकाश में स्थिर होकर सर्वानन्दों का भोग न छोड़ बैठें।

अब जो स्वामी विशुद्धानन्दजी की पक्षपातरहित विद्वत्ता की परीक्षा बाकी है, सो करनी चाहिये—

१०

रा०—श्रीमत्पण्डितवर × बालशास्त्रीजी तो बाहर गये हैं। परमपूजनीय जगद्गुरु × श्री स्वामी विशुद्धानन्दजी के चरणों में पहुँच, जो पत्र और उत्तरों को देखकर बहुत हँसे \*। और पिछले उत्तर पर, जिसमें इन दोनों महात्माओं का नाम है, कुछ लिखवा भी दिया। स्वामी विशुद्धानन्दजी का लिखवाया राजा साहब के प्रश्नों १५ का उत्तर दयानन्द से नहीं बना, इति।

स्वा०—जिनका पक्षी पक्षपातान्धकार से विचारशून्य हो, उनके साक्षी तत्सदृश क्यों न हों ? क्या यथाबुद्धि कुछ विद्वान् होकर स्वामी विशुद्धानन्दजी को योग्य था कि ऐसे अशास्त्रवित् अव्युत्पन्न व्यर्थ वैतण्डिक मनुष्य के अत्यन्त अयुक्त लेख पर बिना सोचे-समझे २० सम्मति लिख देवें ? और इससे 'सजातीयप्रवाहपन' न्याय करके यह भी विदित हुआ कि स्वामी विशुद्धानन्दजी भी राजाजी के तुल्यत्व की उपमा के योग्य हैं। मैं स्वामी विशुद्धानन्दजी को चिताता

× काशी के पण्डितों में तो बालशास्त्रीजी किसी प्रकार श्रेष्ठ हो सकते हैं, भूगोलस्थ पण्डितों में नहीं।।

२५

× जगत् में जो-जो उनके शिष्यवर्ग में हैं, उन उनके परमपूजनीय और गुरु होंगे, सब के क्योंकर हो सकते हैं ?

\* जो कुछ भी पत्रों के अभिप्राय को समझते, तो हास करके अयोग्य पत्र पर सम्मति क्यों लिख बैठते ?

१. यहां 'पहुँचा, वे' ऐसा पाठ चाहिये।

३०



हूँ कि आगे कभी ऐसा निबुद्धिता का काम न करें \* । भला मैंने तो राजाजी को संस्कृतविद्या में अयोग्य जानकर लिख दिया है कि आपने जिसलिये वेदादिविद्या के पुस्तकों में से एक का भी अभ्यास नहीं किया है, जो आपको उत्तरग्रहण की इच्छा हो, तो मेरे पास आके ५ सुन समझकर अपनी बुद्धि के योग्य ग्रहण करो । आप दूर से वेदादिविषयक प्रश्न करने और उत्तर समझने [के] योग्य नहीं हो सकते । इसीलिये उनको लिखके यथोचित उत्तर न भेजे, और न भेजूंगा ।

यह बात भी मेरे दूसरे पत्र से प्रसिद्ध है कि जो वे वेदादिशास्त्रों में कुछ भी विद्वान् होते, तो मेरी बनाई भूमिका का कुछ तो अर्थ १० समझ लेते । न ऐसी किसी की योग्यता है कि ग्रन्थों को दिखला सके । यह भी मैं ठीक जानता हूँ कि स्वामी विशुद्धानन्दजी भी वेदादिशास्त्रों में विद्वान् नहीं, किन्तु नवीन टीकानुसार दश उपनिषद् शारीरिक और पूर्वमीमांसा सूत्र और प्राचीन आर्षग्रन्थों से विरुद्ध कपोलकल्पित तर्कसंग्रहादि ग्रन्थों का अभ्यास तो किया है । १५ परन्तु वे भी नशा से विस्मृत हो गये होंगे, तथापि उनका संस्कारमात्र तो ज्ञान रहा ही होगा । इसलिये वे संस्कृत-पदवाक्य-प्रकरणार्थों को यथाशक्ति जान सकते हैं, परन्तु न जाने उन्होंने राजाजी के अयोग्य लेख पर क्योंकर साक्षी लिखी ?

अस्तु, जो किया सो किया । अब आगे को वे वा बालशास्त्रीजी २० जिसके उत्तर वा प्रश्नों पर हस्ताक्षर करके मेरे पास अपनी ओर से भेज दिया करें । और यह भी समझ रखें कि जो प्रश्नोत्तर उनके हस्ताक्षरयुक्त आवेंगे, वे उन्हीं की ओर से समझे जावेंगे, जैसा कि

\* जो कोई बिना विचारे [काम] कर बैठता है, उसको बुद्धिमान् प्राज्ञ नहीं कहते ॥

२५ × यह तो सच है कि जो मनुष्य योग्य होकर समझना चाहता है, वह समझ भी सकता है ॥

× सुना है कि स्वामी विशुद्धानन्दजी भांग और अफीम का सेवन करते हैं । जो ऐसा है तो अवश्य उनको विद्या का स्मरण न रहा होगा । जो मादक द्रव्य होते हैं, वे सब बुद्धिनाशक होते हैं ।<sup>१</sup> इससे सब को योग्य है कि उनका ३० सेवन कभी न करें ॥

१. 'शारीरिक' पाठ होना चाहिये । इसका अर्थ है—वेदान्तशास्त्र ।

२. बुद्धिं लुम्पति यद् द्रव्यं मदकारी तदुच्यते ॥



यह निवेदनपत्र का लेख स्वामी विशुद्धानन्दजी की ओर से समझा गया है। इसीलिये ये तीनों स्वामी-सेवक मिलकर प्रश्नों का विचार शुद्ध लिखकर मुन्शी बस्तावरसिंहजी के पास भेज दिया करें। मुन्शीजी आपकी ओर से यह लेख है वा नहीं, इस निश्चय के लिये पत्र द्वारा आप से सम्मतिपत्र मंगवाके मेरे पास भेज दिया करेंगे। ५ और मेरा लेख भी मेरे हस्ताक्षर सहित अपने हस्ताक्षर करके पत्र-सहित उनके पास भेज दिया करेंगे।

वे लोग राजाजी आदि को समझाया करें, और वे आप से मेरे लेखाभिप्राय को समझ लिया करें। जो इस पर भी आप लोग परस्पर विचार करने में प्रवृत्त न होंगे, तो क्या सब सज्जन लोग आप लोगों को भी अयोग्य न समझ लेंगे? क्योंकि जो स्वपक्ष के स्थापन और परस्पर पक्ष के खण्डन में प्रवृत्त न होकर केवल विरोध ही मानते रहें, वे अयोग्य कहाते हैं। इसलिये मैं सब को सूचना करता हूँ कि जो मेरे पक्ष से विरुद्ध अपना पक्ष जानते हों, तो प्रसिद्ध होकर शास्त्रार्थ क्यों नहीं करते? और टट्टी की आड़ में स्थित होकर ईंट पत्थर फेंकनेवाले के तुल्य कम करना क्यों नहीं छोड़ते? १० १५

और जो विरुद्ध पक्ष नहीं जानते हों, तो अपने पक्ष को छोड़ मेरे पक्ष में प्रवृत्त होकर प्रीति से इसी पक्ष का प्रचार करने में उद्यत क्यों नहीं होते? \* जो ऐसा नहीं करके दूर ही दूर रहकर झूठे गाल बजाने, और जैसे मेरे काशी से चले आने पर राजाजी के पत्र पर व्यर्थ हस्ताक्षर करने से उनसे अपनी अयोग्यता प्रसिद्ध कराई, वैसे जो वे मुझ से शास्त्रार्थ करेंगे, तो प्रशंसित भी हो सकते हैं। ऐसा किये बिना क्या वे लोग बुद्धिमान् धार्मिक विद्वानों के सामने अमाननीय और अप्रतिष्ठित न होंगे? २०

जो इसमें एक बात न्यून रही है कि बालशास्त्रीजी भी इस २५

\* उनको अवश्य योग्य है कि सत्य के आचरण और असत्य के छोड़ने में अति दृढ़ोत्साहयुक्त होके निन्दा-स्तुति हानि-लाभ आदि की प्राप्ति में शोक और हर्ष कभी न करें ॥

१. अर्थात् बस्तावर सिंह के।

२. पं० बालशास्त्री और स्वामी विशुद्धानन्द आदि के पास।

३०



पर अपनी सम्मति लिखते, तो उनको भी राजा शिवप्रसाद और स्वामी विशुद्धानन्दजी के साथ दक्षिणा मिल जाती। कहिये राजाजी! आप अपनी रक्षा के लिये स्वामी विशुद्धानन्दजी के चरणों में पहुंचकर पत्र दिखा सम्मति लिखा पुस्तक छपाकर इधर-उधर भेजने से भी न बच सके। आपके जाट खाट और कोल्हू लौटकर आपही के शिर पर चढ़े वा नहीं? अब इस बोझ के उतारने के लिये आपको योग्य है कि बालशास्त्रीजी के चरणों में भी गिरकर बचने का उपाय कीजिये। और आप अपने विजय के लिये स्वामी विशुद्धानन्दजी और बालशास्त्रीजी को प्राड्विवाक् अर्थात् वारिस्टर करना भी मत छोड़िये।

अथवा उत्तम तो यह है कि वे दोनों आपको ढाल बनाकर न लड़ें, किन्तु सम्मुख होकर शास्त्रार्थ करें। इसी में उनकी शोभा है, अन्यथा नहीं। परन्तु मैं आप और उनको निश्चित कहता हूं कि सब मिलकर कितना ही करो, जब तक कोई मनुष्य भूँ [को] छोड़ सत्यमत का ग्रहण नहीं करता, तब तक अपना और दूसरे का विजय कभी नहीं कर सकता, और न कर सकता है। क्या दूसरे की वृथा प्रशंसा से हर्षित होकर स्वामी विशुद्धानन्दजी का बहुत हंसना बालकों का खेल नहीं है? और जो कोई अपनी योग्यता के सदृश वर्तमान न करे, वह संशय में मग्न होकर विनष्ट क्योंकर न होवे?

अब मैं सूचना करता हूं कि बुद्धिमान् आर्य लोग पक्षी राजाजी और साक्षी विशुद्धानन्दजी के हास्यास्पद लेख को देख उस पर विश्वास कर इस 'क्वास्ता: क्व निपतिता:' महाभाष्योक्त वचनार्थ के सदृश होकर धर्मफल आनन्द से छूटकर दुर्गन्ध गढ़े और दुख-सागर में जा न गिरें।

रा०—'हम केवल वेद की संहितामात्र मानते हैं। एक 'ईशावास्य' उपनिषद् संहिता है, और सब उपनिषद् ब्राह्मण हैं। ब्राह्मण हम कोई नहीं मानते, सिवाय संहिता के हम और कुछ नहीं मानते हैं'।

स्वा०—'जैसा यह राजाजी का लेख है, वैसा मैंने नहीं कहा था। किन्तु जैसा नीचे लिखा है, वैसा कहा गया था। तद्यथा—

"रा०—आपका मत क्या है?

१. महाभाष्य १।२।६।।



स्वा०—वैदिक ।

रा०—आप वेद किसको मानते हैं ?

स्वा०—संहिताग्र्यों को ।

रा०—क्या उपनिषदों को वेद नहीं मानते ?

स्वा०—मैं वेदों में एक ईशावास्य को छोड़के अन्य उपनिषदों को नहीं मानता<sup>१</sup> । किन्तु अन्य सब उपनिषद् ब्राह्मण-ग्रन्थों में हैं, वे, ईश्वरोक्त नहीं हैं ।

रा०—क्या आप ब्राह्मण-पुस्तकों को वेद नहीं मानते ?

स्वा०—नहीं, क्योंकि जो ईश्वरोक्त है, वही वेद होता है, जीवोक्त को वेद नहीं कहते । जितने ब्राह्मण-ग्रन्थ हैं, वे सब ऋषि मुनि-प्रणीत और संहिता ईश्वर-प्रणीत हैं । जैसा ईश्वर के सर्वज्ञ होने से तदुक्त निश्चिन्त सत्य और मत के साथ स्वीकार करने योग्य होता है, वैसा जीवोक्त नहीं हो सकता, क्योंकि वे सर्वज्ञ नहीं । परन्तु जो-जो वेदानुकूल ब्राह्मण-ग्रन्थ हैं, उनको मैं मानता और विरुद्धार्थों को नहीं मानता हूँ । वेद स्वतःप्रमाण और ब्राह्मण परतः प्रमाण हैं ।<sup>१०</sup> इससे जैसे वेदविरुद्ध ब्राह्मण-ग्रन्थों का त्याग होता है, वैसे ब्राह्मण-ग्रन्थों से विरुद्धार्थ होने पर भी वेदों का परित्याग कभी नहीं हो सकता, क्योंकि वेद सर्वथा सब को माननीय ही हैं ।<sup>१५</sup>

यह मेरे पत्र<sup>१</sup> का लेख उनके भ्रमजाल-निवारण का हेतु विद्यमान ही था । परन्तु मेरा लेख क्या कर सकता है ? जो राजाजी मेरे लेख को समझने की विद्या ही नहीं रखते । तो क्या इसमें राजाजी का दोष नहीं है ?

रा०—वादी कहता है\*—जो संहिता ईश्वर-प्रणीत हैं, तो ब्राह्मण भी ईश्वर-प्रणीत हैं ।

\* क्या विद्या और सुशिक्षा-रहित मनुष्य प्रश्न और उत्तर करना कभी जान सकता है ? जब राजाजी वाद के लक्षणयुक्त ही नहीं हैं, तो वादी क्योंकर बन सकते हैं ?<sup>२५</sup>

१. यह लेख माध्यन्दिन ईशोपनिषद् के लिये है । काण्वपाठानुसारी ईशोपनिषद् को स्वामीजी शाखान्तर्गत मानते हैं ।

२. इस ग्रन्थके अन्त में मुद्रित पत्र में तथा इस लेख में नाममात्र का ही भेद है ।<sup>३०</sup>



स्वा०—देखिये राजाजी की मिथ्या आडम्बरयुक्त लड़कपन की बात को। जैसे कोई कहे कि जो पृथिवी और सूर्य ईश्वर के बनाये हैं, तो घड़ा और दीप भी ईश्वर ने रचे हैं।

रा०—और जो ब्राह्मणग्रन्थ सब ऋषि-मुनि-प्रणीत हैं, तो ५ संहिता भी ऋषि-मुनि-प्रणीत हैं।

स्वा०—यह भी ऐसी बात है कि जो कोई कहे कि 'ऋग्वेदादि-भाष्यभूमिका' स्वामी दयानन्द सरस्वती प्रणीत है, तो ऋग्यजुः साम और अथर्व चारों वेद भी उन्हीं के प्रणीत हैं।

रा०—वादी को आप अपना प्रतिध्वनि समझिये \*।

१० स्वा०—देखिये, राजाजी की अविद्या के प्रकाश को। क्या प्रतिवादी का प्रतिध्वनि वादी कभी हो सकता है? क्योंकि जैसा शब्द और उसमें जैसे पद अक्षर और मात्रा होती हैं, वैसा ही प्रतिध्वनि सुनने में आता है, विपरीत नहीं। कोई बालबुद्धि भी नहीं कह सकता कि वादी अपने मुख से प्रतिवादी ही के शब्दों को निकाले, १५ विरुद्ध नहीं। जबतक प्रतिवादो के पक्ष से विरुद्ध पक्ष प्रतिपादन नहीं करता, तबतक वह उसका वादी कभी नहीं हो सकता। जैसे कुआँ में से प्रतिध्वनि सुना जाता है, क्या वह वक्ता के शब्द से विरुद्ध होता है?

रा०—आपने लिखा वेदसंहिता स्वतःप्रमाण और ब्राह्मण परतः- २० प्रमाण है। वादी कहता है कि जो ऐसा है, तो ब्राह्मण ही स्वतः-प्रमाण हैं, आपका संहिता-भाग परतःप्रमाण होगा।

स्वा०—क्या यह उपहास की बात नहीं है। जैसे कोई कहे कि सूर्य और दीप स्वतः प्रकाशमान हैं, तो घटपदादि भी स्वतः प्रकाश-मान हैं।

२५ \* जो मैं राजाजी के सदृश होता, तो वादी को अपना प्रतिध्वनि समझता। क्योंकि प्रतिध्वनि ध्वनि से विरुद्ध कभी नहीं हो सकता, और वादी प्रतिवादी से अविरुद्ध कभी नहीं हो सकता ॥

१. सप्तम संस्करण के पश्चात् ध्वनि को स्त्रीलिङ्ग मानकर 'बैसी, आती, सुनी जाती, होती' ऐसे परिवर्तन किये गये हैं। ग्रन्थकार भाषा में भी ३० संस्कृत शब्दों के लिङ्ग संस्कृत के समान ही प्रयुक्त करते हैं। अतः ध्वनि के पुल्लिङ्ग होने से पूर्व संस्करणों के पाठ ही ठीक हैं।



रा०—आपने लिखा कि मेरी बनाई हुई ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के नव ९ पृष्ठ से लेके ८८ अष्टासी' के पृष्ठ तक वेदोत्पत्ति, वेदों का नित्यत्व और वेदसंज्ञा विचार विषयों को देख लीजिये, निश्चय होगा। सो महाराज ! निश्चय के पलटे में तो और भी आंति में पड़ गया। मुझे तो इतना ही प्रमाण चाहिये कि आपने संहिता ५ को माननीय मानकर ब्राह्मण का क्यों परित्याग किया ? और वादी तो संहिता जैसा ब्राह्मण को वेद मान, जो आपने वेद के अनुकूल लिखा अपने अनुकूल और जो ब्राह्मण के प्रतिकूल लिखा, उसे संहिता के भी प्रतिकूल समझता है।

स्वा०—यह सच है कि जो अविद्वान् होकर विद्वत्ता का अभि- १० मान करे, वह अपनी अयोग्यता से [मुख] छोड़कर दुःख क्यों न पावे ? मैंने वेदों को स्वतःप्रमाण मानने और ब्राह्मणों को परतःप्रमाण मानने में [कारण] इस अमोच्छेदन' के इसी पृष्ठ में आगे लिख दिये हैं। क्या [उन्हें] बांचते समय अकस्मात् बुद्धि और आंख अन्धकारवृत्त हो गये थे ? १५

‘परन्तु जो जो वेदानुकूल ब्राह्मणग्रन्थ हैं, उनको मैं मानता और विरुद्धार्थों को नहीं मानता हूँ। वेद स्वतःप्रमाण और ब्राह्मण परतः-

१. रा. ला. क. ट. संस्क० में पृष्ठ १०-१०१ तक।

२. प्रथम सं० में ‘इसी पृष्ठ’ के आगे ‘१४’ संख्या छपी है, वह मुद्रण काल में डाली गई हैं। कारण अमोच्छेदन ग्रन्थ के ही पृष्ठ के बांचते समय २० ‘अन्धकारावृत्त हो गये थे’ यह अगला भूतकाल का वर्णन सम्भव नहीं। शताब्दी सं० में १४ के स्थान पर २१ पाठ बनाया हैं, और टिप्पणी में ‘यह निर्देश हस्तलिखित कापी का है’ ऐसा लिखा है। यह भी पूर्ववत् असम्भव है। वस्तुतः यहां ‘अमोच्छेदन’ शब्द से यह पुस्तक अभिप्रेत नहीं है, अपितु ऋषि का वह पत्र है जिस की चर्चा चल रही है। वह राजाजी के २५ पत्र के उत्तर में उनके भ्रम का उच्छेदन करनेवाला होने से ‘अमोच्छेदन’ नाम से यहां लिखा गया है, उसमें आगे यह प्रकरण है। उसके पढ़ते समय ‘अन्धकारावृत्त हो गये थे’ यह भूतकाल का निर्देश ठीक बनता है। अगला पाठ उक्त पत्र का ही यहां लिखा है। इस से भी स्पष्ट है कि उक्त ‘अमोच्छेदन’ शब्द से इस पुस्तक का ग्रहण इष्ट नहीं है, अपितु उक्त पत्र की ओर ३० ही संकेत है।



प्रमाण हैं। इससे जैसे वेदविरुद्ध ब्राह्मणग्रन्थों का त्याग होता है, वैसे ब्राह्मणग्रन्थों से विरुद्धार्थ होने पर भी वेदों का परित्याग नहीं हो सकता, क्योंकि वेद सर्वथा सब को माननीय हैं।<sup>१</sup>

रा०—‘तस्माद्यज्ञात्’...‘अजायत’ अर्थात् उस यज्ञ से वेद उत्पन्न हुये। पृष्ठ १० पंक्ति २६<sup>१</sup> में आप शतपथ आदि ब्राह्मण का प्रमाण देकर यह सिद्ध करते हैं कि यज्ञ [विष्णु] और विष्णु परमेश्वर [है]।

स्वा०—जो राजाजी कुछ भी संस्कृत पढ़े होते, तो सन्निपाती के सदृश चेष्टा करके भ्रमजाल में न पड़ते। क्योंकि ‘तच्छब्द’ सर्वत्र पूर्वपरामर्शक होता है। इसी से मैंने ‘सहस्रशीर्षा पुरुषः’ यहां १० से लेके ‘ग्राम्याश्च’ यहां तक जो छः मन्त्रों से प्रतिपादित निमित्त कारण परमात्मा पूर्वोक्त है, उसका ग्रामर्ष अर्थात् अनुकर्षण करके अन्वित किया है।

देखो इसी के आगे भूमिका के पृष्ठ ६ पंक्ति ११—  
 “( तस्माद्यज्ञात्स० ) तस्माद्यज्ञात्सच्चिदानन्दादिलक्षणात् पूर्णात्  
 १५ पुरुषात् सर्वहुतात् सर्वपूज्यात् सर्वशक्तिमतः परब्रह्मणः (ऋचः)  
 ऋग्वेदः (यजुः) यजुर्वेदः (सामानि) सामवेदः (छन्दांसि) अथर्ववेदश्च  
 (जज्ञिरे) चत्वारो वेदास्तेनैव प्रकाशिता इति वेद्यम्।”

यह ‘सर्वहुत’ और ‘यज्ञ’ विशेषण पूर्णपुरुष के हैं। (तस्मात्) अर्थात् जो सब का पूज्य सर्वोपास्य सर्वशक्तिमान् पुरुष परमात्मा है, २० उससे चारों वेद प्रकाशित हुए हैं। इत्यादि से यहां वेदों ही के प्रमाण से चार वेदों को स्वतः प्रमाण से सिद्ध किया है। यद्यपि यहां ‘यज्ञ’ शब्द भी पूर्ण [पुरुष] परमात्मा का विशेषण है, तथापि जैसा मैंने अर्थ किया है वैसा ब्राह्मण में भी है। इस साक्षी के लिये ‘यज्ञो वै विष्णुः’<sup>२</sup> यह वचन लिखा है। और जो ब्राह्मण में मूल से विरुद्ध अर्थ होता, तो २५ मैं उसका वचन साक्षी के अर्थ कभी न लिखता।

१. यह इस भ्रमोच्छेदन के अन्त में आगे परिशिष्ट में मुद्रित प्रथम पत्र के अन्त का भाग यहां उद्धृत है।

२. रा. ला. क. द्र. सं० पृ० १०, पं० १५। मूल पाठ में पृष्ठ संख्या ६ होनी चाहिये। ३. ये यजु० अ० ३१ के मन्त्र हैं।

४. द्र०—रा. ला. क. द्र. सं० पृ. १०, पं० ६।

५. शत. १।१।२।१३ ॥



जो इस प्रकार से पद वाक्य प्रकरण और ग्रन्थ की साक्षी, आकांक्षा योग्यता आसक्ति और तात्पर्यार्थ को पक्षी राजाजी और स्वामी विशुद्धानन्दजी जानते, वा किसी पूर्ण विद्वान् की सेवा करके वाक्य और प्रकरण के शब्दार्थ-सम्बन्धों के जानने में तन-मन-धन लगाके अत्यन्त पुरुषार्थ से पढ़ते, तो यथावत् क्यों न जान लेते ? \* ५

रा०—पृष्ठों को कुछ उलट-पलट किया, तो विचित्र लीला दिखाई देती है। आप पृष्ठ ६१ पंक्ति ३ में लिखते हैं—‘कात्यायन ऋषि ने कहा है कि मन्त्र और ब्राह्मण ग्रन्थों का नाम वेद है। पृष्ठ ५२ में लिखते हैं—‘प्रमाण ८ हैं’, और फिर ५३ में लिखते हैं—‘चौथा शब्दप्रमाण आप्तों के उपदेश, पांचवां ऐतिह्य सत्यवादी विद्वानों के कहे वा लिखे उपदेश। तो आपके निकट कात्यायन ऋषि आप्त और सत्यवादी विद्वान् नहीं थे × ? १०

स्वा०—इसका प्रत्युत्तर मेरी बनाई ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के पृष्ठ ८० पंक्ति २४ से लेके पृष्ठ ८८ अट्ठासी तक में लिख रहा है, जों चाहे देख लेवें। और जो वहां ‘एवं तेनानुक्तत्वात्’<sup>१</sup> इस वचन का यही अभिप्राय है कि ‘मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्’ यह वचन कात्यायन ऋषि का नहीं है, किन्तु किसी धूर्तराट् ने कात्यायन ऋषि के नाम से बनाकर प्रसिद्ध कर दिया है<sup>२</sup>। जो कात्यायन ऋषि का १५

\* प्रसिद्ध है कि जो कोदों देके पढ़ते हैं, वे पदार्थों को यथावत् कभी नहीं जान सकते ॥ २०

× वे तो आप्त विद्वान् थे, परन्तु जिसने उनके नाम से वचन रचकर प्रसिद्ध किया, वह तो अनाप्त अविद्वान् ही था ॥

१. रा. ला. क. द्र. सं० पृ० ६२, पं. ३, ४।

२. रा. ला. क. द्र. सं० पृ० ६०।

३. रा. ला. क. द्र. सं० पृ० ६०, ६१।

४. रा. ला. क. द्र. सं० पृ० ६१—१०१ तक।

५. रा. ला. क. द्र. संस्क० पृ० १००, पं० ६।

६. इस वचन के विषय में जो विस्तार से जानना चाहें, वे हमारा ‘वेदसंज्ञामीमांसा’ ग्रन्थ देखें। २५

७. यह कात्यायन के नाम से प्रसिद्ध प्रतिज्ञा-परिशिष्ट में है। इस नाम ३०



कहा होता, तो सब ऋषियों की प्रतिज्ञा से विरुद्ध न होता ? क्या आप जैसा कात्यायन को आप्त मानते हैं, वैसा पाणिनि आदि ऋषियों को आप्त नहीं मानते ? जो कभी आप्त मानते हो, तो पाणिनि आदि आप्तों की प्रतिज्ञा से विरुद्ध कात्यायन ऋषि क्यों लिखते ?

और जो कहो कि हम इस वचन को कात्यायन का ही मानेंगे, तो ऐसा हो नहीं सकता । क्यों ? आप पाणिनि आदि अनेक ऋषियों के लेख का तिरस्कार कर एक को आप्त कैसे मान सकते हो ? और जो उन को भी आप्त मानते हो, तो 'मन्त्रसंहिता ही वेद हैं' उनके इस वचन को मानकर तद्विरुद्ध ब्राह्मण को वेद संज्ञा के प्रतिपादक वचन को क्यों नहीं छोड़ देते ? क्योंकि एक विषय में परस्पर विरोधी दो वचन सत्य कभी नहीं हो सकते । और जो संकड़ों आप्त ऋषियों को छोड़कर एक ही को आप्त मानकर सन्तुष्ट रहता है, वह कभी विद्वान् नहीं कहा जा सकता ।

रा०—आप लिखते हैं कि—'ब्राह्मण में जमदग्नि कश्यप इत्यादि जो लिखे हैं सो देहधारी हैं, अतएव वह वेद नहीं । और संहिता में शतपथ ब्राह्मण के अनुसार 'जमदग्नि' का अर्थ चक्षु और 'कश्यप' का अर्थ प्राण है, अतएव वह वेद है ।'

स्वा०—ब्राह्मणों में जमदग्नि आदि देहधारियों का नाम यों हैं कि जहां-जहां ब्राह्मणग्रन्थों में उनकी कथा लिखी है, वहां-वहां जैसे देहधारी मनुष्यों का परस्पर व्यवहार होता है, वैसा उनका भी लिखा है । इसलिये वहां देहधारी का ग्रहण करना योग्य है । और जहां मनुष्यों के इतिहास लिखने की योग्यता नहीं हो सकती, वहां इतिहास लिखने का भी सम्भव नहीं हो सकता । जो वेदों में इतिहास होते, तो वेद अनादि और सबसे प्राचीन नहीं हो सकते ?

९ हजारह आप्तों का एक अविरुद्ध मत होता है, दो मुखों का भी एकमत होना कठिन है ॥

के भी दो परिशिष्ट मिलते हैं । एक का सम्बन्ध श्रौतसूत्र से है, दूसरे का प्रातिशाख्य से । परिशिष्ट में होने से ही स्पष्ट है कि यह कात्यायन ऋषि का वचन नहीं है ।



क्योंकि जिसका इतिहास जिस ग्रन्थ में लिखा होता है, वह ग्रन्थ उस मनुष्य के पश्चात् होता है।

जब कि वेदों में “त्र्यायुषं जमदग्ने०” इत्यादि मन्त्रों की व्याख्या पदार्थविद्यायुक्त होनी ही उचित है, इससे उनमें इतिहास का होना सर्वथा असम्भव है। जिसलिये जंसा मूलार्थ प्रतीत होने के कारण ‘जमदग्नि’ आदि शब्दों से चक्षु आदि ही अर्थों का ग्रहण करना योग्य है, वैसा ही ब्राह्मणग्रन्थों और निरुक्त आदि में लिखा है। इसलिये यह मैंने अपने किये अर्थों के सत्य होने के लिये साक्ष्यार्थ-मात्र लिखा है। राजाजी जो इस बात को जानते और इन ग्रन्थों को पढ़े होते, तो अमजाल में फंसकर दुःखित न होते। १०

रा०—उसमें भी क्या उपनिषद् संज्ञी और इतिहासपुराणादि संज्ञा है? अथवा ऋग्वेदादि क्रमानुसार उसका संज्ञी वा संज्ञा है?

स्वा०—इसका उत्तर यह है कि—एक ‘ईशा वास्य’ उपनिषद् तो यजुर्वेद का चालीसवां अध्याय होने से वेद है। और ‘केन’ से लेके ‘बृहदारण्यक’ पर्यन्त १ नव उपनिषद् ब्राह्मणान्तर्गत होने से उनकी भी इतिहासादि संज्ञा ‘ब्राह्मणानीतिहासान्’<sup>१</sup> इस पूर्वोक्त वचन से है। इससे ‘एवं वा अरे०’<sup>२</sup> इस वचन में निमित्तकारण कार्यसम्बन्ध होने से संज्ञासंज्ञीसम्बन्ध नहीं घट सकता। परन्तु राजा-साहब के सदृश अविद्वान् तो ‘मुखमस्तीति वक्तव्यं दशहस्ता हरीतकी’ ऐसा लिखने वा कहने में कुछ भी भययुक्त वा लज्जावान् नहीं होते।\* २०

रा०—आप लिखते हैं कि ब्राह्मण वेदों के अनुकूल होने से प्रमाण के योग्य तो हैं। यदि आप इतना और मान लें कि सम्पूर्ण ब्राह्मणों का प्रमाण संहिता के प्रमाण के तुल्य है।

स्वा०—अविद्वान् को कभी विचारहस्य के समझने की योग्यता नहीं हो सकती। क्या ऐसा कोई विद्वान् भी सिद्ध कर सकता है कि २५

\* विद्यावृद्धों ही को अन्यथा कहने और लिखने में शर्म का भय होता है, अविद्यायुक्त बालकों को नहीं ॥

१. यजु० ३।६२॥ द्र० रा. ला. क. द्र. सं० पृ० ६२-६३॥

२. तै० आ० २।१॥ तुलना कार्या—आश्व० गृ० ३।३।१॥

३. शत० १४।५।१०॥ ४. वै० य० मुद्रित में ‘अम’ अपपाठ है। ३०



व्याख्या के अनुकूल होने से मूल का प्रमाण और प्रतिकूल [होने] से अप्रमाण, और व्याख्या के मूल से प्रतिकूल होने से प्रमाण और अनुकूल होने से अप्रमाण होवे।

इसलिये मन्त्रभाग मूल होने से ब्राह्मणग्रन्थों से अनुकूल वा  
 ५ प्रतिकूल हो, तथापि सर्वथा माननीय होने के कारण स्वतः प्रमाण, और ब्राह्मणग्रन्थ व्याख्या होने से मूलार्थ से विरुद्ध हो तो अप्रमाण, और अनुकूल हो तो प्रमाण होकर माननीय होने के कारण परतः-प्रमाण हैं। क्योंकि ब्राह्मणग्रन्थों में सर्वत्र संहिताओं के मन्त्रों की प्रतीक धर-धरके पद वाक्य और प्रकरणानुसार व्याख्या की है। इस-  
 १० लिये मन्त्रभाग मूल व्याख्येय और ब्राह्मणग्रन्थ व्याख्या है।

रा०—आप लिखते हैं—‘तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति। अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते।’<sup>१</sup> इसका अर्थ सीधा-सीधा यह मान लेवें कि आप के चारों वेद और उनके छानों अङ्ग अपरा हैं, जो परा  
 १५ उससे अक्षर में अधिगमन होता है। अपना फिरावट का अर्थ वा अर्थाभास छोड़ दें। किमधिकमित्यलम्।

स्वा०—यहां तक आप का जो ऊटपटाङ्ग लेख है, उसको कौन शुद्ध कर सकता है? क्योंकि इसी भूमिका के पृष्ठ ४२<sup>३</sup> पंक्ति ३ में ‘सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति’ इस उपनिषद् के वचन ने आप के सीधे-  
 २० सीधे अर्थ को टेढ़ा-टेढ़ा कर दिया। देखो यमराज कहते हैं कि हे-नचिकेता ! जिसका अभ्यास सब वेद करते हैं, उस ब्रह्म का उपदेश मैं तुझ से करता हूं। तू सुन कर धारण कर। जब ऐसा है, तो वेदों अर्थात् मन्त्रभाग में परा विद्या क्यों नहीं ?

देखो—‘तमीशानं०’<sup>४</sup> इत्यादि मन्त्र ऋग्वेद। ‘परीत्य भूतानि’<sup>५</sup>  
 २५ इत्यादि और ‘ईशावास्य’ इत्यारभ्य ‘ओं खं ब्रह्म’<sup>६</sup> पर्यन्त मन्त्रयुक्त ४० चालीसवां अध्यायस्थ मन्त्र यजुर्वेद। ‘दधन्वे वा यदीमनुवोचद्’

१. मुण्डकोप० १।५॥ रा. ला. क. द्र. सं० पृ० ४७।

२. रा. ला. क. द्र. सं० पृ० ४७, पं० ६।

३. कठोप० २।१५॥

४. ऋ० १।८६।५॥

५. यजु० ३२।११

६. यजु० ४०।१-१७॥



ब्रह्मोति वेरुत्तत् ।<sup>१</sup> इत्यादि मन्त्र सामवेद । 'महद्यक्ष'<sup>२</sup> इत्यादि मन्त्र अथर्ववेद में हैं । जब वेदों में हजारों मन्त्र ब्रह्म के प्रतिपादक हैं, जिनमें से थोड़े से मन्त्रों का अर्थ भी मैंने भूमिका पृष्ठ ४३ पंक्ति २६ से लेके ३० पंक्ति की समाप्ति तक लिख रक्खा है,<sup>३</sup> जिसको देखना हो देख लेवे ।

५

भला इतना भी राजाजी को बोध नहीं है कि वेदों में परा विद्या न होती, तो 'केन' आदि उपनिषदों में कहां से आती ? 'मूलं नास्ति कुतः शाखाः ?' क्या जो परमेश्वर अपने कहे वेदों में अपनी स्वरूपविद्या का प्रकाश न करता, तो किसी ऋषि-मुनि का सामर्थ्य ब्रह्मविद्या के कहने में कभी हो सकता था ? क्योंकि कारण के बिना १० कार्य [का] होना सर्वथा असम्भव है ।

जो 'केन' आदि नव उपनिषदों को परा विद्या में मानेंगे, तो उनसे भिन्न आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद अथर्ववेद और मीमांसादि छः शास्त्र आदि परा विद्या में क्यों नहीं ? जब न इस वचन में उपनिषद् और न किसी अन्य ग्रन्थ का नाम लिखा है, तो कोई उनका ग्रहण १५ कैसे कर सकता है ? भला कोई राजाजी से पूछेगा कि आपने 'यया तदक्षरमधिगम्यते सा परा विद्यास्ति'<sup>४</sup> इस वाक्य से कौनसे ग्रन्थों का नाम निश्चित किया है ? क्या 'यया' इस पद से कोई विशेष ग्रन्थ भी आ सकता है ? और जो मैंने वेदों में परा और अपरा विद्या लिखी है, उसको कोई विपरीत भी कर सकता है ? कभी २० नहीं ।

इसीलिये सब मनुष्यों को योग्य है कि जैसे राजाजी संस्कृत-विद्या के वेदादि ग्रन्थों को न पढ़कर उन्हीं में प्रश्नोत्तर किया चाहते, और जैसी स्वामी विशुद्धानन्दजी ने विना सोचे-समझे

१. साम पू० १।१।१०।४॥

२. अथर्व० १०।७।३८॥

२५

३. यहां प्रथम सं० और अगले संस्करणों में पृष्ठ पंक्ति संख्या अशुद्ध है । उक्त स्थल पर भूमिका (प्र० सं०) में इन मन्त्रों का अर्थ नहीं मिलता है । उक्त पृष्ठ पंक्ति में 'तत्रापरा' वचन का अर्थ है । यहां 'पृष्ठ ४३ पंक्ति ३१ से लेके पृष्ठ ४४ की ३० पंक्ति की' ऐसा पाठ होना चाहिये । यह रा. ला. क. द्र. सं० में पृष्ठ ५०, ५१, ५२ पर छपा है ।

३०

४. उपनिषत् का पाठ 'अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते' है । यहां उसका अर्थतः अनुवाद किया है, ऐसा जानना चाहिये ।



सम्मति कर दी है, वैसे साहस न करना चाहिये । किन्तु उस विद्या में योग्य होके किसी से विचारार्थ प्रवृत्त होना चाहिये ।

प्रश्न—आपने अपने दूसरे पत्र में राजाजी को लिख कर प्रश्न करने और उत्तर समझने में अयोग्य जानकर लिख के उत्तर देना ५ चाहा न था, फिर अब क्यों लिखके उत्तर देते हो ?

उत्तर—जो राजाजी स्वामी विशुद्धानन्दजी की सम्मति न लिखाते, तो मैं इस पत्र के उत्तर में एक अक्षर भी न लिखता । क्योंकि उनको तो जैसा अपने पत्र में लिख चुका हूं, वैसा ही निश्चित जानता हूं ।

प्रश्न—इस संवाद में आप प्रतिपक्षी राजाजी को समझते हो, १० वा स्वामी विशुद्धानन्दजी को ?

उत्तर—स्वामी विशुद्धानन्दजी को, क्योंकि राजाजी तो विचारे संस्कृतविद्या पढ़े ही नहीं । उनके सामने मेरा लेख ऐसा होवे कि जैसा बधिर के सामने अत्यन्त निपुण गानेवाले का वीणा आदि बजाना और षड्जादि स्वरों का यथायोग्य आलाप करना होता है ।

१५ प्र०—जो तुम पक्षी राजाजी को छोड़कर स्वामी विशुद्धानन्द-जी को आगे करते हो, सो यह न्याय की बात नहीं है ?

उ०—यह मुझ वा किसी को योग्य नहीं है कि संस्कृत में कुछ योग्य विद्वान् को छोड़कर अयोग्य के साथ संवाद चलावे । न राजा-जी को योग्य है कि अपने साक्षी को छोड़ें, और स्वामी विशुद्धानन्द- २० जी को भी योग्य है कि अपने शरणागत आये राजाजी की रक्षा से विमुख न हो बैठें ।\*

प्र०—स्वामी विशुद्धानन्दजी वा बालशास्त्रीजी आदि काशी के सब विद्वान् और बुद्धिमान् मिलकर राजाजी का पक्ष लेकर आपसे शास्त्रार्थ वा लेख करेंगे, तो आपको बड़ा कठिन पड़ेगा ।

२५ उ०—मैं परमेश्वर की साक्षी से सत्य कहता हूँ कि जो ऐसा वे करें, तो मैं अत्यन्त प्रसन्नता के साथ सब को विदित करता हूँ कि यह बात कल होती हो तो आज ही होवे । जो ऐसी इच्छा मेरी न होती, तो मैं काशी में विज्ञापनपत्र क्यों लगवाता, और स्वामी

\* यह धार्मिक विद्वानों का काम नहीं है कि जिसको शरणागत लेवें, ३० उसे छोड़ कर विश्वासघात कर बैठें ॥

१. यहां 'पत्र' शब्द से राजा जी द्वारा प्रकाशित 'निवेदन' अभिप्रेत ।  
द्र० पूर्व पृष्ठ २४७ पं० १ ।



विशुद्धानन्दजी तथा बालशास्त्रीजी को प्रतिपक्षी स्वीकार क्यों करता ?

प्र०—वे हैं बहुत, और आप अकेले हो, कैसे संवाद कर सकोगे ?

उ०—इसके होने में कुछ असम्भव नहीं। क्योंकि जब सब काशी और अन्यत्र के विद्वान् और बुद्धिमान् लोग अपना ५ अभिप्राय पत्रस्थ कर वा सन्मुख जाके स्वामी विशुद्धानन्दजी वा बालशास्त्रीजी को विदित कराते जायेंगे, और वे उन लेख वा वचनों को देख-सुन उनमें से इष्ट को ले, मुझसे सन्मुख वा पत्र द्वारा इन दो बातों में से जिसमें उनकी प्रसन्नता हो ग्रहण करके शास्त्रार्थ करें, उसी बात में मैं भी उनसे शास्त्रार्थ करने में उद्यत हूँ। परन्तु १० जैसे मैं इस पुस्तक पर अपना हस्ताक्षर प्रसिद्ध करता हूँ, वैसे वे भी करें तो ठीक है, अन्यथा नहीं।

प्र०—सन्मुख होकर शास्त्रार्थ करने में अच्छा होगा, वा पत्र द्वारा ?

उ०—सर्वोत्तम तो यह है कि जो मैं और वे सन्मुख होकर १५ शास्त्रार्थ करें, तो शीघ्र सत्य वा भूठ का सिद्धान्त<sup>१</sup> हो सकता है। अर्थात् एक महीने से लेके छः महीने तक सब बातों का निर्णय हो सकता है, और दूर-दूर रहकर पत्र द्वारा शास्त्रार्थ करने में ३६ छत्तीस वर्षों में भी पूरा होना कठिन है। परन्तु जिस पक्ष में वे प्रसन्न हों, उसी में मैं भी प्रसन्न हूँ।

२०

प्र०—इस शास्त्रार्थ के होने और न होने का क्या फल होगा ?

उ०—जो अविरध होने से एक मत होकर धर्म अर्थ काम और मोक्ष से सब को परमानन्द होना, और न होने पर जो परस्पर विरुद्ध मिथ्या मत में वर्तमान मनुष्यों के अधर्म अनर्थ कुकाम और बन्ध के न छूटने से उनके दुःखों का न छूटना फल है।

२५

प्र०—शास्त्रार्थ हुए पर भी हठ से आप वा वे विरुद्ध मत न छोड़ें, तो छुड़ाने का क्या उपाय है ?

उ०—शास्त्रार्थ से पूर्व मैं और वे जिसका पक्ष भूठा हो उसके छोड़ने, और जिसका सत्य हो उसके स्वीकार करने के लिये प्रतिज्ञा

१. अर्थात् निर्णय। आगे भी सिद्धान्त शब्द द्र०—पृष्ठ २६८, पं० २०। ३०



का पक्के<sup>१</sup> कागज पर लेख होकर रजिस्टरी कराकर एक दूसरे को अपने-अपने पत्र को देने से सम्भव है कि आप अपना-अपना हठ छोड़ दें। क्योंकि जो न छोड़ेगा, तो राजा अपनी व्यवस्था से हठ को छुड़ा सकता है।

- ५ प्र०—जब आप काशी में सब दिन निवास नहीं करते, और स्वामी विशुद्धानन्दजी तथा बालशास्त्रीजी वहीं बसते हैं, तो सन्मुख में शास्त्रार्थ कैसे हो सकता है ?

उ०—मैं यह प्रतिज्ञा करता हूँ कि जब वे सन्मुख होकर शास्त्रार्थ करना स्वीकार करेंगे, और [मैं] इसको सत्य समझ लूँगा, तब १० जहां हूँगा वहां से चलके काशी उचित समय पर पहुंचूँगा कि जिससे उनको परदेशयात्रा का क्लेश और धनव्यय भी न करना पड़ेगा। पुनः वहां यथावत् शास्त्रार्थ होकर सत्यासत्य निर्णय के पश्चात् सब का उपकार भी सिद्ध होगा, क्या यह छोटा लाभ है ?

- प्र०—जब आप उनसे शास्त्रार्थ करके अपना मत सिद्ध किया १५ चाहते, और वे नहीं किया चाहते हैं, इसका क्या कारण है ?

उ०—विदित होता है कि वे अपने मन में जानते हैं कि शास्त्रार्थ करने से हम अपने मत को सिद्ध न कर सकेंगे। वा संवत् १९२६ के शास्त्रार्थ को देख घबराहट [होती] होगी कि दूर ही दूर से ढोल बजाना अच्छा है। जो उनको यह निश्चय होता है कि हमारा २० [मत] वेदानुसार और स्वामीजी का मत वेदविरुद्ध है, तो शास्त्रार्थ किये बिना कभी नहीं रहते। अथवा जो और कुछ कारण हो, तो शास्त्रार्थ करने में क्यों विलम्ब करते हैं ?

आज से पीछे जो कोई पुराण वा तन्त्र आदि मतवाले मुझ से २५ विरुद्ध पक्ष को लेकर शास्त्रार्थ किया चाहें, वा लिखके प्रश्नोत्तर की इच्छा करें, वे स्वामी विशुद्धानन्दजी के और बालशास्त्रीजी के द्वारा ही करें। इससे अन्यथा जो करेंगे, तो मैं उनका मान्य कभी न करूँगा। हां, सन्मुख आके तो वे स्वयं भी पूछ सकते हैं।

इससे स्वामी विशुद्धानन्दजी और बालशास्त्रीजी ऐसा न समझें कि हम वेदों में विद्वान् वा सर्वोत्तम पण्डित हैं, और कोई अन्य



मनुष्य भी ऐसा निश्चय न कर लेवे कि इनसे अधिक पण्डित आर्या-  
वर्त्त में दूसरा कोई भी नहीं है। हां, ऐसा निश्चय करना ठीक है कि  
काशी में इस समय आधुनिक ग्रन्थाभ्यासकर्त्ता संन्यासियों में स्वामी  
विशुद्धानन्दजी, और गृहस्थों में बालशास्त्रीजी कुछ विशिष्ट विद्वान्  
हैं। मैंने तो संवाद में केवल अनवस्था दोष परिहारार्थ इन दोनों को  
सन्मुख<sup>१</sup> आर्यावर्त्तीय पण्डितों में माने हैं। अनुमान है कि उनको अन्य  
भी मनुष्य ऐसे मानते होंगे। इससे अन्य प्रयोजन भी कुछ नहीं।

सर्वशक्तिमान् सर्वान्तर्यामी परमेश्वर कृपा करके स्वामी  
विशुद्धानन्दजी और बालशास्त्रीजी को निर्भय निःशङ्क करे कि  
जिससे वे मुझसे सम्मुख वा पत्र द्वारा पाषाणादिमूर्त्तिपूजादिमण्डन<sup>१०</sup>  
विषयों में शास्त्रार्थ करने में दृढोत्साहित हों, जैसा कि मैं उनके  
खण्डन में दृढोत्साहित हूं।

मुनिरामाङ्कचन्द्रेऽब्दे शुक्ले मासेऽसिते दले<sup>२</sup>।

द्वितीयायाङ्गुरौ वारे भ्रमोच्छेदो ह्यलङ्कृतः॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमत्त्वामिदयानन्दसरस्वती-  
निर्मित आर्यभाषाविभूषितो भ्रमोच्छेदनोऽयं ग्रन्थः पूर्त्तिमगमत्॥<sup>१५</sup>



१. यहां 'प्रमुख' पद चाहिये।

२. अर्थात् वि० सं० १९३७ ज्येष्ठ मास कृष्णपक्ष द्वितीया २ गुरुवार।  
हमारे विचार में यहां शुक्ले के स्थान में 'शुक्लौ' (=आषाढ़) पाठ होना  
चाहिये। क्योंकि आषाढ़ कृष्ण २ गुरुवार १९३७ को यह प्रेस में भेजा गया<sup>२०</sup>  
है। द्र०—पत्रव्यवहार पृष्ठ १९१ (द्वि० सं०)। इसी पत्र के अन्त से यह भी  
प्रतीत होता है कि सम्भवतः यह ग्रन्थ आषाढ़ कृष्णा २को ही पूरा हुआ था।  
विशेष द्र०—हमारा ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों का इतिहास, पृष्ठ १२६-१३२।



# भ्रमोच्छेदन के परिशिष्ट

[१]

श्री राजा शिवप्रसाद सितारे-हिन्द (काशी) के प्रश्नों के  
ऋषि दयानन्द द्वारा प्रदत्त उत्तर

[प्रथम पत्र]'

ओम्

सं० १९३७ चैत्र सुदी १२ गुरुवार ।

राजा शिवप्रसाद जी, आनन्दित रहो ।

- आप का चैत्र शुक्ला ११ बुधवार का लिखा पत्र मेरे पास  
१० आया । देखके आप का अभिप्राय विदित हुआ । उस दिन आप से  
और मुझसे परस्पर जो-जो बातें हुई थीं, वे तब आपको अवकाश  
कम होने से मैं न पूरी बात कह सका और न आप पूरी बात सुन सके,  
क्योंकि आप उन साहबों से मिलने को आये थे । आप का वही मुख्य  
प्रयोजन था । पश्चात् मेरा और आप का कभी समागम न हुआ,  
१५ जो कि मेरी और आप की बातें उस विषय में परस्पर होतीं । अब  
मैं आठ-दस दिनों में पश्चिम को जानेवाला हूँ । इतने समय में जो  
आप को अवकाश हो सके, तो मुझसे मिलिये, फिर भी बात हो  
सकती है । और मैं भी आप को मिलता, परन्तु अब मुझको अवकाश  
कुछ भी नहीं है, इससे मैं आप से नहीं मिल सकूंगा । क्योंकि जैसा  
२० सम्मुख में परस्पर बातें होकर शीघ्र सिद्धान्त हो सकता है, वैसा  
लेख से नहीं । इसमें बहुत काल की अपेक्षा है ।

---

१. द्रष्टव्य ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन, पृष्ठ १८५ ( द्वि  
सं० ) । २. द्र०—पूर्व पृष्ठ २६५, पं० १६ ॥



आप का प्रश्न—

१. आप का मत क्या है ?
२. आप वेद किसको मानते हैं ?

३. क्या उपनिषदों को वेद नहीं मानते ?

४. क्या आप ब्राह्मण-पुस्तकों को वेद नहीं मानते ?

मेरा उत्तर—

१. वैदिक ।
२. संहिताओं को ।

३. मैं वेदों में एक ईशा- ५  
वास्य को छोड़के अन्य उप-  
निषदों को नहीं मानता<sup>१</sup> ।  
किन्तु अन्य सब उपनिषद्  
ब्राह्मणग्रन्थों में हैं । वे ईश्वरोक्त  
नहीं हैं ।

१०

४. नहीं । क्योंकि जो  
ईश्वरोक्त है, वही वेद होता है,  
जीवोक्त नहीं । जितने ब्राह्मण  
ग्रन्थ हैं वे सब ऋषि-मुनि-  
प्रणीत और संहिता ईश्वरप्रणीत १५  
है । जैसा ईश्वर के सर्वज्ञ होने  
से तदुक्त निश्चिन्त सत्य और मत  
के साथ स्वीकार करने योग्य  
होता है, वैसा जीवोक्त नहीं हो  
सकता, क्योंकि वे सर्वज्ञ नहीं । २०  
परन्तु जो वेदानुकूल ब्राह्मण  
ग्रन्थ हैं, उनको मैं मानता और  
विरुद्धार्थों को नहीं मानता हूँ ।  
वेद स्वतःप्रमाण और ब्राह्मण

२. अर्थात् ईशोपनिषद् को स्वामी जी महाराज यजुर्वेद के अन्तर्गत २५  
मानते हैं । इसी कारण पत्र-विज्ञापन पृष्ठ ३६ पंक्ति २-३ में गिनाई १० उपनि-  
षदों में ईश का उल्लेख नहीं है । दश संख्या की पूर्ति “मैत्रेयी” को गिनकर  
की है । यह भी ध्यान रहे कि स्वामी जी महाराज ईशोपनिषद् के माध्यन्दिन  
संहितानुसारी पाठ को ही वेदान्तगत मानते हैं । उसी का उन्होंने भाष्य किया  
है । काण्व संहिता को उसकी शाखा अर्थात् व्याख्यात्मक पाठ मानते हैं । इस ३०  
लिये उनके मत में काण्व शाखानुसारी ईशोपनिषद् माध्यन्दिन ईशोपनिषद् की  
व्याख्या रूप होने से उसकी भी पृथक् गणना की कोई आवश्यकता नहीं रहती ।  
सम्पा० ।



परतःप्रमाण हैं । इससे जैसे वेदविरुद्ध ब्राह्मणग्रन्थों का त्याग होता है, वैसे ब्राह्मणग्रन्थों से विरुद्धार्थ होने पर भी वेदों का परित्याग कभी नहीं हो सकता, क्योंकि वेद सर्वथा सब को माननीय ही हैं ।<sup>१</sup>

- अब रह गया यह विचार कि जैसा संहिता ही को ईश्वरोक्त निभ्रान्त सत्य वेद मानना होता है, वैसा ब्राह्मणग्रन्थों को [ क्यों ]  
१० नहीं ? इसका उत्तर मेरी बनाई ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के नववें ६ पृष्ठ से लेके ८८ पृष्ठ तक वेदोत्पत्ति, वेदों का नित्यत्व, और वेदसंज्ञा-विचार विषयों को देख लीजिये । वहां मैं जिसको जैसा मानता हूं, सब लिख रक्खा है । इसी को विचारपूर्वक देखने से सब निश्चय आपको होगा कि इन विषयों में जैसा मेरा सिद्धान्त है, वैसा ही जान लीजियेगा ।  
१५

(दयानन्द सरस्वती) काशी ।

### [द्वितीय पत्र]<sup>२</sup>

राजा शिवप्रसाद जी, आनन्दित रहो ।

- आप का पत्र मेरे पास आया । देखकर अभिप्राय जान लिया ।  
२० इससे मुझको निश्चय हुआ कि आपने वेदों से लेके पूर्वमीमांसा पर्यन्त विद्यापुस्तकों के मध्य में से किसी भी पुस्तक के शब्दार्थ-

१. प्रश्न और उत्तर का भाग एक दो शब्दों के अन्तर से अमोच्छेदन में भी छपा है । द्र०—पूर्व पृष्ठ २५४ पं० ३० से पृष्ठ २५५ पं० १८ तक ।  
सम्पा० ।

- २५ यह पत्र ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन पृष्ठ १८७ (द्वि० सं०.) पर छपा है ।

३. इस स्थल पर राजा जी ने अपने निवेदन में एक टिप्पण दिया है । उसमें उन्होंने इस बात पर हास्य किया है कि स्वामीजी महाराज पूर्वमीमांसा पर्यन्त ही पढ़े थे । उन्होंने उत्तरमीमांसा न देखी थी । राजा जी इस पर  
३० बड़े प्रसन्न दीखते हैं, परन्तु यह उनका अज्ञान है । उन्हें यह ज्ञान नहीं कि



सम्बन्धों को जाना नहीं है। इसलिये आपको मेरी बनाई भूमिका का अर्थ भी ठीक-ठीक विदित नहीं हुआ। जो आप मेरे पास आपके समझते, तो कुछ समझ सकते। परन्तु जो आपको अपने प्रश्नों के प्रत्युत्तर सुनने की इच्छा हो, तो स्वामी विशुद्धानन्द सरस्वती व वालशास्त्री जी को खड़ा करके सुनियेगा, तो भी आप कुछ-कुछ ५ समझ लेंगे, क्योंकि वे आपको समझावेंगे, तो कुछ आशा है समझ जायेंगे। भला विचार तो कीजिये कि आप उन पुस्तकों के पढ़ें विना वेद और ब्राह्मण पुस्तकों का कैसा आपस में सम्बन्ध, क्या-क्या उनमें हैं, और स्वतःप्रमाण तथा ईश्वरोक्त वेद, और परतःप्रमाण और ऋषिमुनिकृत ब्राह्मण-पुस्तक हैं, इन हेतुओं से क्या-क्या सिद्धान्त १० सिद्ध होते, और ऐसे हुए विना क्या-क्या हानि होती है, इन विचार-रहस्य की बातों को जाने विना आप कभी नहीं समझ सकते।

(दयानन्द सरस्वती)

सं० १९३७ मि०वै०व० सप्तमी शनिवार।



अन्तिम आर्ष ग्रन्थकार जैमिनि मुनि हुए हैं। उन्हीं का बनाया पूर्वमीमांसा १५ है। ग्रन्थ-गणना में चाहे वह पहले गिना जाये वा पीछे, परन्तु रचयिता की दृष्टि से जैमिनि ही अन्तिम व्यक्ति हैं। अत एव ऋषि का उपर्युक्त लेख सत्य ही है। सम्पा०।



[२]

## अनुभ्रमोच्छेदन-भूमिका

यस्या नरो बिभ्यति वेदबाह्यास्तया हि युक्तं जनसेनया यत् ।  
तन्नाम<sup>१</sup> यस्यास्ति महोत्सवं स त्वनुभ्रमोच्छेदनमातनोति ॥

- ५ मैंने विचारा था कि राजाजी और स्वामीजी ने एक-एक बार लिखा है, आगे इसका प्रपञ्च न बढ़ेगा, परन्तु वैसा न हुआ । और उनके अनुगामी लोगों ने समाचारपत्रों को भी गजिया, और बहुत योग्यायोग्य वाच्यावाच्य भी लिखना न छोड़ा । और मैंने यह भी जान लिया कि स्वामीजी अपने नाम से इस पर कुछ भी न लिखें और न छप-  
१० वावेंगे, क्योंकि इस पर<sup>२</sup> श्रीयुत स्वामी विशुद्धानन्द सरस्वती और बालशास्त्रीजी की सम्मति नहीं लिखी ।<sup>३</sup> तथा अन्य किसी आर्य्य ने भी इसके प्रत्युत्तर में न लिखा । यह बात ठीक है कि स्वामीजी को तो इस पर लिखना योग्य ही नहीं, क्योंकि वे अपनी पूर्व प्रतिज्ञा से विरुद्ध<sup>४</sup> क्यों करें ? जब ऐसा हुआ, तब मैं यथामति इस पर लिखने  
१५ में प्रवृत्त हुआ । यद्यपि इन महाशयों के सन्मुख मेरा लेख न्यूनास्पद है, तथापि अन्तःकरण से पक्षपात छोड़कर देखने से कुछ इससे भी तत्त्व निकलेगा । और जो कुछ इसमें भूल-चूक रहेगी उसको सज्जन महात्मा लोग सुधार लेंगे । अब जो राजा शिवप्रसादजी की यह प्रतिज्ञा है कि अब आगे इस विषय में कुछ न लिखा जायगा, तो  
२० मुझको भी आगे लिखना अवश्य न होगा । जो राजाजी ने भ्रमोच्छेदन पर दूसरा भाग छपवाया है, उसमें स्वामीजी के लेख पर निरर्थक आदि दोष दिये हैं । उन और इन दोनों पुस्तकों के लेख को जब बुद्धिमान् लोग पक्षपात रहित होकर देखेंगे, तब अवश्य निश्चय कर लेंगे कि कौन सत्य और कौन असत्य है । —इति भूमिका ॥

२५

१. अर्थात् 'भीमसेन' ।

२. अर्थात् राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्दू द्वारा प्रकाशित द्वितीय निवेदन पर । ३. श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती ने भ्रमोच्छेदन के अन्त में लिखा है कि जब तक स्वामी विशुद्धानन्दजी और पं० बालशास्त्री के हस्ताक्षर न होंगे, वे राजाजी के पत्रों आदि के उत्तर न देंगे । ४०—पृष्ठ २६६, पं० २२—२६ ।



## अनुभ्रमोच्छेदन

देखिये राजाजी के प्रिय और सुन्दर लेख को—

निवेदन पहिला, पृष्ठ १, पंक्ति ११—‘ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका’ मंगाके पृष्ठ ६ से ८८ तक देखा। विचित्र लीला दिखाई दी—आधे-आधे वचन, जो अपने अनुकूल पाये, ग्रहण किये हैं। और शेषार्द्ध ५ का, जो प्रतिकूल पाये परित्याग। उन आधे अनुकूल में भी जो कोई शब्द अपने भाव से विरुद्ध देखे, उन के अर्थ पलट दिये।

पृष्ठ ४, पंक्ति ७—ऐसा न हो कि ‘अन्धेनैव नीयमाना यथाऽन्धाः’ के सदृश केवल दयानन्दजी के भाष्य और भूमिका ही की लाठी थांभे किसी अथाह गढ़े वा घोर नरककुण्ड में जा गिरें। १०

निवेदन २, पृष्ठ २, पंक्ति २४—खेद की बात है, क्यों वृथा इतना कागज बिगाड़ा ?

पृष्ठ ५, पंक्ति २५—निदान जब मैंने गोतम और कणाद के तर्क और न्याय से न अपने प्रश्नों का प्रामाणिक उत्तर पाया, और न स्वामीजी महाराज की वाक्यरचना का उससे कुछ सम्बन्ध देखा, १५ डरा कि कहीं स्वामीजी महाराज ने किसी मेम अथवा साहब से कोई नया तर्क, और न्याय रूस अमरीका अथवा और किसी दूसरी विलायत का न सीख लिया हो।

इत्यादि वचन जो ये राजा शिवप्रसादजी ने अपने दोनों निवेदनों में लिखे हैं, क्या इनको सुवचन गालीप्रदान कागज बिगाड़ना आदि २० कोई भी मनुष्य न समझेगा ? मैंने राजा शिवप्रसादजी के दोनों निवेदनों, और स्वामीजी के ‘अभ्रमोच्छेदन’ को भी देखा। प्रथम निवेदन में जो-जो प्रश्न राजाजी के थे, उस-उस का उत्तर अभ्रमोच्छेदन में यथायोग्य है, ऐसा मैं अपनी छोटी विद्या और बुद्धि से निश्चित जानता हूं। राजाजी और उनके साक्षियों की विशाल- २५ बुद्धि है, इसलिये उनके योग्य ठीक-ठीक उत्तर न हुए होंगे। इसमें क्या अद्भुत है ? अब मैं अपनी अल्प विद्या और बुद्धि के अनुसार द्वितीय निवेदन के उत्तर में थोड़ासा लिखता हूं—



निवेदन दूसरा, पृष्ठ ४, पंक्ति १६—‘भला सूर्य और घड़े की उपमा संहिता और ब्राह्मण में क्यों कर घट सकेगी ? उधर सूर्य के सामने कोई आधा घण्टा भी आंख खोलके देखता रहे, अन्धा नहीं तो चक्षुरोग से अवश्य पीड़ित होवे’ ।

- ५ इस दृष्टान्त से राजाजी का यह अभिप्राय भलकता है कि वेद को दिन-भर भी आंख खोलके देखा करे, तो न अन्धा और न नेत्ररोग से युक्त होता है । यहां उनका ऐसा अभिप्राय विदित होता है कि यह दृष्टान्त स्वामीजी का यहां घट नहीं सकता । जहां तक विचारके देखते हैं, तो यही निश्चय होता कि दृष्टान्त का साधर्म्य गुण ही दार्ष्टान्त में
- १० घटता है, सब गुण कर्म स्वभाव कभी नहीं । जैसे—साध्यसाद्धर्म्यात्तद्धर्मभावी दृष्टान्त उदाहरणम् । न्या० अ० १ । आ० १ । सू० ३६ । तद्विपर्ययाद्वा विपरीतम् । न्या० अ० १ । आ० १ । सू० ३७ । शब्दोऽनित्य इति प्रतिज्ञा, उत्पत्तिधर्मकत्वादिति हेतुः, उत्पत्तिधर्मकस्थाल्यादिद्रव्यमनित्यमिति दृष्टान्त उदाहरणम् । यह शान्तवृत्ति से देखने की बात
- १५ है कि शब्द में अनित्यत्व धर्म साध्य है, क्योंकि उत्पत्ति धर्मवाला होने से । जो-जो पदार्थ उत्पन्न होते हैं, वे-वे सब अनित्य हैं । जैसे स्थाल्यादि द्रव्य उत्पत्ति धर्मवाले होने से अनित्य हैं, वैसे कार्य शब्द भी अनित्य हैं । यहां केवल स्थाल्यादि पदार्थों का उत्पत्ति धर्म ही कार्य शब्द में दृष्टान्त के लिये घटाके कार्य शब्दों को अनित्य
- २० ठहराया है । यह तो कोई भी नहीं कह सकता कि घट-पटादि पदार्थों में चक्षु से दीखना स्थूल कठोर और अन्धेरे में दीपक की अपेक्षा रहना आदि विरुद्ध धर्म हैं, इसलिये उनका दृष्टान्त शब्द में नहीं घटेगा । वा शब्द में भी वे धर्म हों कि दीपक जलाके शब्द देखा जावे । राजाजी को अन्धेरे में दीपक से शब्द देखना, उससे पानी
- २५ आदि लाना चाहिये । वा इस दृष्टान्त ही को न मानें, तो ऐसा दृष्टान्त कोई न मिलेगा कि जिसमें दार्ष्टान्त के सब धर्म बराबर मिल जावें । और जो कोई पदार्थ ऐसे भी हों कि जिनके सब धर्म बराबर मिलें, तो उनका परस्पर अभेदान्वय होने से उनमें दृष्टान्त-दार्ष्टान्त तथा उपमान-उपमेयभाव कुछ भी न बन सकेगा ।
- ३० अब यहां प्रकृत में यह आया कि वेद को सूर्य का दृष्टान्त दिया है, तो सूर्य अपने प्रकाश में किसी की अपेक्षा नहीं रखता, वैसे वेदों से भी जो अर्थ प्रकाशित होते हैं, उनमें ग्रन्थान्तर की अपेक्षा



नहीं है। स्वयंप्रकाशत्व धर्म दोनों का समान है। और जैसे उत्पत्ति धर्मवाले न होने से आत्मादि द्रव्य नित्य हैं, वैसा शब्द नहीं, क्योंकि उत्पत्ति धर्मवाला है। यहां केवल वैधर्म्य अर्थात् कार्य शब्द के अनित्यत्व धर्म से विरुद्ध आत्मा का नित्यत्व धर्म ही दृष्टान्त के लिये घटाया है। किन्तु जो आत्मा और शब्द के प्रमेयत्व आदि साधर्म्य ५ हैं, वे विवक्षित नहीं। जैसा राजाजी का दृष्टान्तविषयक मत है, वैसा किसी विद्वान् का नहीं कि दार्ष्टान्त के सब धर्म दृष्टान्त में घट सकते हों।

निवे० २, पृष्ठ ५, पं० १६—राजाजी स्वामीजी पूछते हैं कि स्वामीजी महाराज यह बतलावें कि पाणिनि आदि ऋषियों ने कहा १० ऐसा लिखा है कि मन्त्रसंहिता ही वेद हैं, ब्राह्मण वेद नहीं हैं ?

इसका उत्तर—अब यह ब्राह्मण शब्द लौकिक है वा वैदिक ? इसके वैदिक होने में तो कोई प्रमाण नहीं मिलता। लौकिक होने में प्रमाण देखो—

‘तत्र लौकिकास्तावत्—गौरवः पुरुषो हस्ती शकुनिर्मृगो ब्राह्मण १५ इति। वैदिकाः खल्वपि—शन्नो देवीरभिष्टये, इषे त्वोर्जं त्वा, अग्निमीळे पुरोहितम्, अग्न आयाहि वीतय इति। [महा १।१।१]

अब यहां अन्तःस्थ नेत्रों से देखना चाहिये कि वैदिक शब्दों में केवल ४ मन्त्र-संहिताओं के उदाहरण दिये हैं। जो ब्राह्मण भी वेद होते, तो वैदिक शब्दों में उनका उदाहरण क्यों न देते ? अब कोई २० यह कहे कि लौकिक शब्दों में जिस ‘ब्राह्मण’ शब्द का उदाहरण दिया है, वह नपुंसकलिङ्ग न होने से ग्रन्थवाची शब्द नहीं है, किन्तु पुल्लिङ्ग होने से मनुष्यों में ज्ञातिविशेष का नाम है, तो उससे पूछना चाहिये कि नपुंसकलिङ्ग ग्रन्थवाची ब्राह्मण शब्द का वैदिक शब्दों में पाठ क्यों न किया ? हां, प्रकरण से अर्थ की संगति होती है, सो यहां २५ किसी का प्रकरण नहीं है। यहां पतञ्जलिजी महाराज के प्रमाण से यह सिद्ध हो गया कि मन्त्रसंहिता ही वेद हैं, ब्राह्मण नहीं। अब स्वामीजी पर जो प्रश्न था, उसका तो यह उत्तर पतञ्जलि ऋषि के प्रमाण से हुआ। परन्तु वही प्रश्न राजाजी के ऊपर गिरता है कि राजाजी यह बतलावें कि पाणिनि आदि महर्षियों ने ऐसा कहा ३० लिखा है कि मन्त्र और ब्राह्मणभाग दोनों वेद हैं ? अस्तु तावत्।



निवे० २, पृष्ठ ५, पं० १८—पाणिनि ने तो जहां मन्त्र और ब्राह्मण दोनों के लेने का प्रयोजन देखा, स्पष्ट 'छन्दसि' कहा। अर्थात् वेद में अर्थात् मन्त्र और ब्राह्मण दोनों में। और जहां मन्त्र वा ब्राह्मण का प्रयोजन देखा 'मन्त्रे' वा 'ब्राह्मणे' कहा, और जहां मन्त्र ५ और ब्राह्मण अर्थात् वेद के सिवाय देखा वहां 'भाषायाम्' कहा।

राजाजी को यह लिखना तो सुगम हुआ, परन्तु निम्नलिखित प्रमाण पाणिनिसूत्र और वेदमन्त्र आदि का अर्थ करके अपने पक्ष में घटाना सुगम क्योंकर हो सकेगा? अब देखिये—छन्दोब्राह्मणानि च तद्विषयाणि (अ० ४। पा० २। सू० ६६) इस सूत्र में प्रोक्त प्रत्ययान्त १० छन्द और ब्राह्मण को अध्येतृ-वेदितृ-विषयता विधान की है। अर्थात् प्रोक्तप्रत्ययान्त छन्द और ब्राह्मण का अध्येतृ वेदितृ अभिधेय में ही प्रयोग हो, स्वतन्त्र न हो। अब राजाजी के इस लेखानुसार कि 'जहां मन्त्र और ब्राह्मण दोनों के लेने का प्रयोजन देखा स्पष्ट "छन्दसि" कहा', इससे पाणिनि के इस सूत्र में ब्राह्मण ग्रहण व्यर्थ होता है। १५ क्योंकि जो छन्द के कहने से मन्त्र और ब्राह्मण दोनों का ही ग्रहण हो जाता, तो फिर यहां ब्राह्मण का पृथक् ग्रहण क्यों किया? इससे स्पष्ट ज्ञापक होता है कि छन्द से ब्राह्मण पृथक् है।

निवे० २, पृष्ठ ५, पं० २२ से—भला जैमिनि महर्षि के पूर्व-मीमांसा को तो स्वामीजी महाराज मानते हैं, उसमें इन सूत्रों का २० अर्थ क्योंकर लगावेंगे—तच्चोदकेषु मन्त्राख्या (अ० १। पा० २। सू० ३२), शेषे ब्राह्मणशब्दः। (अ० २। पाद १। सू० ३३)? इसका अर्थ बहुत स्पष्ट है—वेद का मन्त्रों से अवशिष्ट जो भाग सो ब्राह्मण।

यह अनुभवार्थ राजाजी ने शबर स्वामी की टीका में से २५ सुना होगा, परन्तु यहां यह भी विचार करना उनको योग्य था कि इन सूत्रों के सम्बन्ध में कहीं वेदसंज्ञा-निर्वचनाधिकरण है वा नहीं? किन्तु यहां तो केवल मन्त्रनिर्वचनाधिकरण और ब्राह्मण-निर्वचनाधिकरण है। इससे फिर मन्त्र और ब्राह्मण दोनों की वेदसंज्ञा है, यह अभिप्राय कहां से सिद्ध हो सकता है? जो इस प्रकरण में ३० ऐसा होता कि 'अथ वेदनिर्वचनाधिकरणम्' तो राजाजी का अभि-प्राय अवश्य सिद्ध हो जाता। परमात्मा ने वेदस्थ वाक्यों से सर्व-विद्याभिधान कर दिया है। अब इनमें शेष अर्थात् वाकी पढ़ना-



पढ़ाना, सुनना-सुनाना, व्याख्या करनी-करानी आदि है, और थो भी । जो थो, सो ब्रह्मा से लेकर जैमिनिमुनिपर्यन्त महर्षि महाशय लोगों ने कर दी है । जिससे ये ऐतरेय आदि ग्रन्थ ब्रह्म अर्थात् वेदों का व्याख्यान हैं, इसी से इनका नाम ब्राह्मण रक्खा है । अर्थात् ब्रह्मणां वेदानामिमानि व्याख्यानानि ब्राह्मणानि, अर्थात् शेषसूत्रानि सन्तीति” ।

परन्तु जहां से इन सूत्रों के अर्थ में राजाजी आदि को भ्रम हुआ है, सो शबर स्वामीजी की इसी सूत्र पर यह व्याख्या है—‘अथ किल्लक्षणं ब्राह्मणम् ? मन्त्राश्च ब्राह्मणञ्च वेदः ।’ विचार योग्य बात है कि न जाने शबर स्वामी ने इन दो सूत्रों में वेद शब्द कहां से लिया ? और इनकी अद्भुत कथा को देखिये कि (प्रश्न) ब्राह्मण का क्या लक्षण है ? (उत्तर) मन्त्र और ब्राह्मण वेद है । विद्वान् लोग विचार लेंगे कि जैसा प्रश्न किया था, वैसा ही उत्तर शबर स्वामी ने दिया है वा नहीं ? यहां विशेष लिखने की आवश्यकता नहीं, किन्तु “आम्नान् पृष्ठः कोविदारानाच्छटे” इस न्याय के तुल्य यह व्याख्या है ।

ऐसा ही निवेदन २, पृष्ठ ५, पं० २५—निदान जब मैंने गोतम और कणाद के तर्क और न्याय सं न अपने प्रश्न का प्रामाणिक उत्तर पाया, और न स्वामीजी महाराज की वाक्यरचना का उससे कुछ सम्बन्ध देखा, डरा कि कहीं स्वामीजी महाराज ने किसी मेम वा साहब से कोई नया तर्क और न्याय रूस अमरीका अथवा और किसी दूसरी विलायत का न सीख लिया हो ।

स्वामीजी ने जो भूमिका में गोतम न्याय का प्रमाण वेद ब्राह्मण विषय में लिखा है<sup>१</sup>, उसको वही पुरुष समझ सकता है कि जिसने उन ग्रन्थों की शैली देखी हो । विना पढ़ सब विद्या किसी को नहीं आ जाती । और जिन्होंने उन शास्त्रों में अभ्यास ही नहीं किया, वे ही ऐसा अनर्गल लिख सकते हैं कि ‘गोतम और कणाद के तर्क न्याय से अपने प्रश्नों का प्रामाणिक उत्तर न पाया’, इत्यादि । अब राजाजी को शास्त्रों में अभ्यास करना अवश्य हुआ, क्योंकि उनके प्रश्नों का उत्तर कोई नहीं दे सकता । और स्वामीजी महाराज जो

१. द्र०—ऋ० भा० भू० रा. ला. क. द्र. सं० पृ० ६६-६६ ।



किसी दूसरी विलायत का तर्क न्याय सीख भी लेते, तो क्या आश्चर्य और कौनसा यह बुरा काम था ? और जो सीख लेते, तो अपने ग्रन्थों में भी प्रमाण के लिये अवश्य लिखते वा लिखवा लेते । इससे स्पष्ट विदित होता है कि राजाजी ने ही उन विलायतियों से तर्क  
 ५ न्याय कुछ पढ़ा, नहीं तो इसका प्रसङ्ग ही क्या था ? ठीक है, “यादृशी भावना यस्य बुद्धिर्भवति तादृशी” । इनके प्रश्नों का उत्तर जब ऋषि-मुनियों के ग्रन्थों से भी न हुआ, तो सब ऋषियों से बढ़के राजाजी हो गये । इससे स्पष्ट सब महात्मा ऋषि लोगों की निन्दा आ जाती है ।

- १० निवे० २, पृष्ठ ६, पं० ४—फरिज़्स्तान के विद्वज्जनमण्डली-भूषण काशीराजस्थापित पाठशालाध्यक्ष डाक्टर टीबो साहब बहादुर को दिखलाया । बहुत अचरज में आये, और कहने लगे कि हम तो स्वामीजी महाराज को बड़ा पण्डित जानते थे, पर अब उनके मनुष्य होने में भी सन्देह होता है । तब तो भ्रमोच्छेदन को भ्रमोत्पादन  
 १५ कहना चाहिये ।

वस, अब तो राजाजी का पक्ष दृढ़तर सिद्ध हो गया होगा । क्योंकि जब उक्त महाशय साहब ने स्वामीजी के मनुष्य होने में सन्देह और भ्रमोच्छेदन का भ्रमोत्पादन नाम होने की साक्षी दी है । फिर क्या चाहिये, क्योंकि [ विलायती ] महाशयों की साक्षी भी  
 २० गम्भीर आशययुक्त होती है !! क्या ऐसी साक्षी को कोई भी मनुष्य मानेगा कि स्वामीजी के मनुष्य होने में भी सन्देह है ?

निवे० २, पृष्ठ ७, पं० २०—डाक्टर टीबो साहब की साक्षी का परामर्श यह देखिये चित्त धरके—दयानन्द सरस्वती सिवाय एक उपनिषद् के ब्राह्मण और उपनिषद् ग्रन्थों को छोड़ देते हैं, और  
 २५ केवल संहिताओं को प्रमाण मानते हैं ।

इसका उत्तर तो ‘भ्रमोच्छेदन’ के पृष्ठ ११, पं० २०’ में यह स्पष्ट लिखा है (परन्तु जो-जो वेदानुकूल ब्राह्मणग्रन्थ हैं, उनको मैं मानता और विरुद्धार्थों को नहीं मानता हूँ) । जो उक्त साहब ध्यान देकर देखते, तो सिवाय एक उपनिषद् के इत्यादि विरुद्ध साक्षी

- ३० १. यह पृष्ठ संख्या प्रथम संस्करण की है । इस संग्रह में यह पाठ पृष्ठ २५५ पंक्ति १४ पर है ।



क्यों देते ? निवे० २, पृष्ठ ७ इसी उत्तर और इसी विषय के आगे जो-जो उक्त साहब ने लिखा है, उस-उस का उत्तर उसी-उसी उत्तर के आगे भ्रमोच्छेदन में लिखा है ।

निवे० २, पृष्ठ ८, पं० १८ — निःसन्देह दयानन्द सरस्वतीजी को अधिकार नहीं कि कात्यायन के उस वचन को प्रक्षिप्त बतावें, जिसके ५ अनुसार मन्त्र और ब्राह्मण का नाम वेद सिद्ध होता है । ऐसे तो जो जिस किसी वचन को चाहे अपने अविवेक-कल्पित मत से विरुद्ध पाकर प्रक्षिप्त कह दे ।

मुझको अपनी अल्पबुद्धि से आज तक यह निश्चय था कि सत्या-  
सत्य विचार करने का अधिकार सब विद्वानों को है । जो यह राजा- १०  
ज्ञावत् डाक्टर टीबो साहब की सम्मति सत्य हो, तो ऐसा हो जाय ।  
किन्तु जो केवल एक डाक्टर टीबो साहब ने ही ठेका लिया हो कि  
अन्य सब को अधिकार है, केवल स्वामीजी को नहीं कि कौन प्रक्षिप्त  
और कौन नहीं, ऐसा विचार करें । ऐसा हो तो डाक्टर टीबो साहब को  
सम्मति देने और खण्डन-मण्डन का अधिकार किसने दिया है, हम १५  
भी पूछ सकते हैं ? अहो आश्चर्य्य !! इस सृष्टि में कैसी-कैसी अद्भुत  
लीला देखने में आती है ।

निवे० २, पृ० ६ पं० ५ — सो मेरा तो अभिप्राय इतना ही है  
कि यदि ब्राह्मण ग्रन्थों के अनुसार जमदग्नि आदि का अर्थ यों ही  
माना जावे, तो संहिता के समान ब्राह्मणों को भी वेदभाग अथवा मान- २०  
नीय मानने में उन्हीं ब्राह्मणग्रन्थों की युक्तियां क्यों न मानी जावें ?

जो इस बात का प्रमाण किया जावे, तो यास्कमुनिकृत निघण्टु/  
निरुक्त, पाणिनिमुनिकृत अष्टाध्यायी, पतञ्जलि महामुनिकृत महा-  
भाष्य, और पिङ्गलाचार्य्यकृत पिङ्गलसूत्र वेदों के भाष्य वा टीका  
आदि को भी वेद क्यों न माना जावे ? क्योंकि जैसे शतपथादि ग्रन्थों २५  
से वेदस्थ जमदग्नि आदि शब्दों के अर्थ चक्षु आदि माने जाते हैं, वैसे  
ही निघण्टु और निरुक्त आदि से भी वैदिक शब्दों के संज्ञा और  
निर्वचन, व्याकरण से शब्द अर्थ और सम्बन्ध, और पिङ्गलसूत्रों से  
गायत्र्यादि छन्द, षड्जादि स्वर आदि की व्याख्या वेदों से अविरुद्ध  
मानी जाती है, तो इनकी वेदसंज्ञा कौन कर सकेगा ? ३०

निवे० २, पृष्ठ ६, पं० १० — सो यहां भी मेरा तो अभिप्राय  
इतना ही है कि वेद के नाम से मन्त्रभाग अर्थात् संहिता और



ब्राह्मणों को मानकर जहां वेदों को अपरा कहा जाय, वहां मन्त्र और ब्राह्मणों का कर्मकाण्ड, और जहां वेदों को परा कहा जाय, वहां मन्त्र और ब्राह्मणों का ज्ञानकाण्ड मानना चाहिये ।

निवे० १, पृष्ठ ११, पं० १०—इसका अर्थ सीधा-सीधा यह ५ मान लेवें कि आपके चारों वेद और उनके छत्रों अङ्ग “अपरा” हैं, जो “परा” उस से अक्षर में अधिगमन होता है, अपना फिरावट का अर्थ वा अर्थाभास छोड़ दें ।

निवे० १, पृष्ठ १२, पं० २०—नोट—कि चारों वेदसंहिता और उनके छत्रों अङ्ग अपरा हैं, परा उनके सिवाय अर्थात् उप- १० निषद् हैं ।

मुझको बड़ा आश्चर्य हुआ कि यहां क्यों राजाजी ने अपने पूर्व लेख से अपर लेख को विरुद्ध लिखा । देखो, पहिले निवेदन में चारों वेद और छत्रों अङ्गों को अपरा, और उपनिषदों को परा विद्या मानी थी । और दूसरे निवेदन में चारों वेदों के कर्मकाण्ड को अपरा १५ और उनके ज्ञानकाण्ड को परा विद्या मानी । और दोनों निवेदनों का अभिप्राय यही है कि मन्त्रभागसंहिता और ब्राह्मणभाग की वेद-संज्ञा माने । इसलिये इतना परिश्रम उठाया, और नोट में चारों वेद-संहिता अर्थात् मन्त्रसंहिताओं ही को वेद मानकर ब्राह्मणों को वेद-संज्ञा में लिखना भूल गये । दृष्टि कीजिये—तत्रापरा ऋग्वेदो यजु- २० वेदः सामवेदो अथर्ववेदः । राजा जी के इस लेख ने उन्हीं के अभि-प्राय का निराकरण कर दिया । इसको न लिखते तो अच्छा था । क्योंकि इस लेख में ऋग्यजुः साम और अथर्व चार शब्दवाच्य मन्त्र-भागसंहिताओं ही के साथ चार बार वेद शब्द का पाठ है । ऐतरेय शतपथ छान्दोग्य ताण्ड्य आदि और गोपथ ब्राह्मण ग्रन्थों की उस २५ वचन में न परा न अपरा में गणना, और न ऐतरेय आदि शब्दों के साथ वेद नाम का पाठ है । इसलिये यह पूर्वापरविरुद्ध लेख है ।

निवे० २, पृष्ठ ६, पंक्ति १४—ऐसा ही आज तक वैदिक हिन्दू परम्परा से मानते चले आये हैं ।

यहां भी मैं राजाजी से यह पूछता हूं कि परम्परा और आज ३० तक इस वाक्यावली का अभिप्राय सृष्ट्युत्पत्ति से लेकर आज तक का समय लिखा जाय, वा जैसा कि चार-पांच पीढ़ियों में परम्परा हो



जाती है, वैसी ग्रहण की जाय ? जो प्रथम पक्ष है, तो वैदिक के साथ आर्य शब्द लिखना उचित था, अर्थात् वैदिक आर्य । और जो चार-पांच पीढ़ी की परम्परा अभिप्रेत है, तो लोकाचार से भी वैदिक हिन्दू लिखना ठीक नहीं । क्योंकि भारतवर्षवासी मनुष्यों की 'हिन्दू' संज्ञा सिवाय यवनग्रन्थ और यवनाचार्यों की पाठशाला में पठन-पाठनसंसर्ग के बिना राजाजी को कहीं न मिलेगी । और ऋग्वेद से लेकर पूर्वमीमांसापर्यन्त संस्कृतग्रन्थों में तो एतद्देश का नाम 'आर्यावर्त्त', और इसमें रहनेवाले मनुष्यों का नाम 'आर्य' वा ब्राह्मण आदि संज्ञा ही मिलेगी । परन्तु यह राजाजी को स्वात्मानुभव वा इस देशियों पर द्वेष, अथवा आर्यावर्त्त देश से भिन्न देशस्थ विलायतियों से शिक्षा पाकर बोध हुआ होगा । यह साधारण बात नहीं, किन्तु जो यह वैदिक शब्दों के साथ हिन्दू शब्द का परम्परा में आज तक पढ़ देना, सो राजाजी को विदेशियों की विद्या और शिक्षा का अनुपम फल है ।

निवे० २, पृष्ठ १०, पं० ६—भला आपके ( शिवप्रसाद के ) एक सहज से प्रश्न का तो उत्तर श्रीस्वामी दयानन्द सरस्वतीजी से बना ही नहीं, उत्तर के बदले दुर्वचनों की वृष्टि की । यदि काशीजी के पण्डित उनसे शास्त्रार्थ करने को उद्यत भी हों, तो उत्तर के स्थान में उन्हें वैसे ही दुर्वचन-पुष्पाञ्जलि का लाभ होगा । इससे अतिरिक्त उसमें से कुछ भी सार नहीं निकलेगा ।

इस पर मैं अपनी बुद्धि के अनुसार इतना ही लिखता हूँ कि—जो श्रीयुत बालशास्त्रीजी को "श्रीमान् पण्डितवरधुरन्धर अज्ञानतिमिरनाशनैकभास्करविशेषणयुक्त" ऐसा कहते हैं और ऐसा निश्चय हो, तो स्वामीजी से उनके बड़े-बड़े गम्भीराशय प्रश्नों के उत्तर कभी न बन सकेंगे, फिर इससे मेरी और अन्य लाखों किंवा करोड़ों मनुष्यों की यह इच्छा है कि जो कोई विद्वान् स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी के पक्ष को वेदादिशास्त्रों द्वारा निरस्त कर दें, तो उनको क्या ही लाभ न हो ? पुनः उक्त महाशय इस में क्यों विलम्ब कर रहे हैं ? और दुर्वचन-पुष्पाञ्जलि के विषय में इतना ही मैं लिखता हूँ कि—काशीस्थ लोगों ने दूषणमालिका, दयानन्दपराभूति, चर्मकार भी स्वामीजी से उत्तम, गाली-सहस्रनाम आदि पुस्तक और दण्डनीय आदि विज्ञापन समाचारां में छपवाया । तथाताली शब्द आदि,



और जैसा असभ्य अनर्थ लेख स्वामीजी पर किया है, वैसा स्वामीजी ने संवत् १९२६ के शास्त्रार्थ में किसको गालीप्रदान वा दुर्वचन पुष्पाञ्जलि की थी ? और जैसे पक्षपातक्रोधरहित होने के लिये स्वामीजी को लिखते हैं, तो राजाजी ने पक्षपात और क्रोधयुक्त ५ स्वामीजी को कब देखा था ? भला क्या पूर्वोक्त तो सुवचन-पुष्पाञ्जलि है, और स्वामीजी का लेख दुर्वचन-पुष्पाञ्जलि कहा जा सकता है ?

डाक्टर टीबोसाहब बहादुर स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी के मनुष्य होने में भी सन्देह लिखते हैं। क्या डाक्टर टीबोसाहब को १० अपने सहीस आदि नौकरों के तो मनुष्य होने में कुछ भी सन्देह नहीं ? किन्तु केवल स्वामीजी के मनुष्य होने में सन्देह करते हैं। क्या यह बात अद्भुत गंभीराशय और असङ्गत नहीं है ? अहो !! क्या ऐसे-ऐसे लेख को भी बुद्धिमान लोग अच्छा समझेंगे ? धन्य हैं श्रीयुत शिवप्रसादजी वादी, और धन्य हैं उनके साक्षी अर्थात् श्रीमज्जगत्-पूज्य १५ स्वामी विशुद्धानन्दसरस्वतीजी, श्रीमत् पण्डितवरधुरन्धर अज्ञान-तिमिरनाशनैकभास्कर बालशास्त्रीजी महाराज, आर्यजन और विद्वज्जनमण्डलीभूषण काशीराजस्थापितपाठशालाध्यक्ष डाक्टर टोबोसाहब बहादुर यूरोपियन, कि जिन्होंने परस्पर मिलकर अपना अभीष्ट मत प्रकाशित किया है। क्या भला ऐसे-ऐसे महाशयों के २० सामने मेरा लेख हास्यास्पद न होगा ? और क्या ऐसे-ऐसे महात्माओं की साक्षी होने पर राजाजी के विजय होने में किसी को सन्देह भी रहा होगा ?

वाह ! वाह !! वाह !!! जो कोई परपक्षनिषेध और स्वपक्ष सिद्ध करे, तो ऐसे ही बुद्धिमत्ता से करे ? क्या सहायक अनुमतिदायक २५ भी ऐसे होने योग्य हैं ? जहां अर्थी ही साक्षी और न्यायाधीश हों, वहां जीत क्यों न होवे, क्यों न हो ? क्या यही सत्पुरुषों का काम है कि जहां तक बने दूसरे की निन्दा अपनी स्तुति करनी अपना सुकर्म समझना ? हां, मैं भी तो राजा शिवप्रसादजी और स्वामी विशुद्धानन्द सरस्वतीजी, वा बालशास्त्रीजी, और डाक्टर टीबोसाहब ३० बहादुर साक्षी आदि महाशयों के सामने स्वामीजी कीमनमानी निन्दा और अप्रतिष्ठा करने में तत्पर होता, जो उनके प्रशंसनीय गुणकर्मस्वभाव न जानता होता। उनकी निन्दा और अपमान करने



में कमती कभी करता ? परन्तु वाल्मीकि मुनि ने कहा है कि—‘सह-  
वासी विजानीयाच्चरित्रं सहवासिनाम्’ विना किसी के सङ्ग किये  
उसके गुण दोष विदित नहीं हो सकते ।

संवत् १६२८ से १६३७ के वर्ष पर्यन्त मेरा और स्वामीजी  
का समागम रहा है । जितने वर्ष वा महीने स्वामीजी का सत्सङ्ग ५  
मैंने किया है, और यथाबुद्धि थोड़े से वेद भी देखे हैं, उतने दिन और  
उतने मुहूर्त्त भी उनका समागम राजाजी आदि ने न किया होगा ।  
नहीं तो इतना अट्टाट्ट विरोध कभी न करते । देखिये, कई एक बड़े-  
बड़े सेठ-साहूकार रईस बुद्धिमान् पण्डित सज्जन लोग राजे महाराजे  
स्वामीजी को अत्यन्त मानते, श्रद्धा करते और उनके उपदेश को भी १०  
स्वीकार करते हैं । और बहुतेरे विरुद्ध भी हैं, तथापि कभी किसी का  
पक्षपात, किसी से लोभ, किसी का भय, किसी की खुशामद, किसी  
से छल वा किसी से धन हरने का उपाय, वा किसी से स्वप्रतिष्ठा  
की चेष्टा आदि अशिष्ट पुरुषों के कर्म करते इनको मैंने कभी नहीं  
देखा ।

१५

और क्या जैसी सब की सत्य बात माननी और असत्य न  
माननी स्वामीजी की रीति है, वैसी ही राजाजी आदि को मानने  
योग्य नहीं है ? परन्तु इतने पर भी मैं बड़े आश्चर्य में हूँ कि राजा-  
जी आदि महाशय निष्कारण ईर्ष्या और परोत्कर्षासहनरूप यानारूढ़  
होकर स्वामीजी की बुराई करने में बढ़ते ही चले जाते हैं । न जाने २०  
कब और कहां तक बढ़ेंगे ? क्या इसका फल आर्यावर्त्तादि देशों की  
अनुन्नति का कारण न होगा ? क्यों न यह घर की फूटरूपी रसा-  
स्वादन का प्रवाह दुर्योधनरूप, हलाहल सागर से बहता चला आता  
हुआ आर्यावर्त्तस्थ मनुष्यों के अभाग्योदयकारक प्रलय को प्राप्त  
अब तक न हुआ ? क्यों इसको परमेश्वर अपने कृपाकटाक्ष से अब २५  
भी नहीं रोक देता कि जिससे हम सब सर्वतन्त्र सिद्धान्तरूप प्रेम-  
सागरामृतोदधि में स्नान कर त्रिविध ताप से छूटकर परमानन्द को  
प्राप्त हों ।

जैसे द्वीपद्वीमान्तर के वासी मुसलमान, जैन ईसाई आदि मनुष्य  
अपने स्वदेशी और स्वमतस्थों को आनन्दित कर रहे हैं, क्या ऐसे ३०  
हम लोगों को न होना चाहिये ? प्रत्युत सब देशस्थ समग्र मनुष्यादि  
प्राणिमात्र के लिये परस्पर उपकार विद्या शुभाचरण और पुरुषार्थ



कर अपने पूर्वज कि जिन महाशय आर्यों के हम सन्तान हैं, उनका दृष्टान्त अर्थात् उपमेय न हों ? और जैसी उनकी कीर्ति और प्रताप-रूप मार्त्तण्ड भूगोल में प्रकाशित हो रहा था, उनका अनुकरण क्यों न करें ? और इसमें आश्चर्य कोई क्यों मानें कि राजाजी और ५ उनके अनुयायी साक्षी स्वामीजी को अविद्वान् पशु अन्धे आदि यथेष्ट शब्दों से निन्दा करते हैं ?

मैं निश्चित कहता हूं कि स्वामीजी की [ ऐसी ] निन्दा अप्रतिष्ठा और विरोधता किसने नहीं की ? काशी में संवत् १९२६ १० वें वर्ष में उन पर हल्ला किया, संख्या मिलाकर पानबीड़ा दिया, बुरी-बुरी निन्दा के पुस्तक और विज्ञापन दिये । कई ठिकाने मारने को आये, ऊपर पत्थर और धूल फेंकी । जिले बुलन्दशहर के करण-वास के समीप जहां स्वामीजी रहते थे, वहीं किसी ने रात के १ बजे के समय १० आदमी तलवार और लट्टु लेकर मारने को भेजे । कई नास्तिक कहते, कई क्रश्चीन बतलाते, कई क्रोधी और कई पशुवत् १५ नीच विशेषण देते । कई उनका मुख देखने में पाप बतलाते, और पास जाने को अच्छा नहीं कहते । कोई कलि का अवतार, कोई कल मरते आज ही मर जाय तो अच्छा [कहते] । कई मजिस्ट्रेटों के कान भर व्याख्यान बन्द करा देने में प्रयत्न कर चुके । और कोई इनके बनाये पुस्तक भी हाथ में न लेना न देखना [ऐसा कहते ।] कई २० अपने बाग-बगीचों में उनका रहना भी स्वीकार नहीं करते ।

कई वेश्या का मुख देखने सङ्ग करने और पुंसि मैथुनाचरण में भी अपना धन्य जन्म मानते, और औरों को उत्साहित करते हैं, और स्वामीजी के दर्शन और संग को उससे भी बुरा बतलाते हैं । कई स्वामीजी और स्वामीजी के उपदेश माननेवालों का महानरक २५ में गिरना चितलाते हैं । आप गौतम और कणादादि महाशयों से अपने को बुद्धिसागर ठहराते, और स्वामीजी को निर्बुद्धि और सहज प्रश्नों के उत्तर के अदाता कहते । और कई चमार चाण्डाल आदि में विद्वत्ता और मनुष्य होने की शङ्का नहीं करते, और स्वामीजी में विद्वत्ता के होने और मनुष्यपन में भी शङ्का बतलाते हैं । कोई रेल ३० का भाड़ा भी नहीं लगता, ऐसा कहते हैं ।

अब कहां तक इस लम्बी गाथा को कहूं । मैं ऐसी बातें सुनता और लिखता हुआ थकित हो गया । क्या ये पूर्वोक्त बातें आर्यावर्त



के दौर्भाग्य के कारण नहीं हो रही हैं ? तथापि धन्य है स्वामीजी को, इतने हुए पर भी सनातन वेदोक्त आर्योन्नति के यत्नों से विरुक्त न होकर परोपकार से अपना जन्म सफल कर रहे हैं । भला जो धर्म और परमात्मा की कृपा न होती, और परमतद्वेषी स्वमतानुरागी क्षुद्राशय लोगों का राज्य होता, तो स्वामीजी का आज तक शरीर ५ वचना भी दुस्तर न हो जाता ? क्या जो आर्य लोग भी मुसलमान आदि के तुल्य होते, तो अब तक स्वामीजी का मुख और हस्त वेदभाष्यादि पुस्तक लिखने के लिये आज तक कुशल रह सकते ? और जो स्वामीजी में पक्षपातराहित्य सत्यता विद्वत्ता शान्ति निन्दा-स्तुति में हर्ष-शोक-रहितता न होती, और विमलविद्याप्रगल्भता १० धार्मिकता आप्तत्वादि शुभ गुण न होते, तो ऐसे-ऐसे सनातन वेदोक्त सत्यधर्मोपदेशादि प्रशंसनीय आर्योन्नति के दृढ़ कारण प्रकाशित और सुस्थिर कभी न कर सकते । क्योंकि देखो आर्यावर्त में प्रशंसनीय महाशय विद्वानों के विद्यमान रहते भी आर्यावर्तीय मनुष्यों की वेदोक्त धर्माढ्यता प्राचीन अभ्युदयोदय प्रच्छन्न क्यों रह जाता ? १५

क्या प्रत्यक्ष में भी भ्रम है ? देखिये, जो हम आर्यों को विना आसमानी किताब<sup>१</sup> वाले, बुत्परस्त, नाज़ायक, इनके मत का कुछ भी ठिकाना नहीं आदि आक्षेपों से जैन मुसलमान और ईसाई लाखह कोड़ह बहकाके अपने मत में मिलाते, और कहते थे कि आओ हम से वादविवाद करो । हमारा मजहब सच्चा और तुम्हारा झूठा है । २० वे ही अब स्वामीजी के सामने वेदादिशास्त्रों और तदुक्त आर्यधर्म का खण्डन तो दूर रहा, परन्तु वाद करना भी असह्य समझते, और कहते हैं कि आप हम पर प्रश्न मत कीजिये, डरते हैं । स्वामीजी के सन्मुख तो ऐसा है, परन्तु जिन्होंने स्वामीजी के ग्रन्थ देखे, और उनका समागम यथावत् किया है, उनके भी सामने वे विजयवन्त नहीं २५ हो सकते, इत्यादि ।

जो राजाजी आदि स्वामीजी के स्तुत्य गुणकर्म स्वभाव जानते, तो उनके साथ ऐसा विरुद्ध वर्तमान कभी न करते । सर्वशक्तिमान् सर्वान्तर्यामी सर्वव्यापक सर्वनियन्ता जगदीश्वर सब आर्यों के आत्माओं में परस्पर प्रीति, गुण-स्वीकार दोषपरिहार वेदविद्योन्नति- ३० रूप कल्पवृक्ष और चिन्तामणि को सुस्थिर करे । जिससे सब आर्य

१. अर्थात् ईसाई-और मुसलमान ।



भाई उसको परस्पर प्रेम और उपकाररूप सुन्दर जल से सींचकर उसके आश्रय से प्राचीन आर्यपदत्रो को पाकर आनन्द में सदा रहें, और सबको रखें ।

[ अब कुछ 'इतिहासतिमिरनाशक' के सम्बन्ध में ]

- ५ राजाजी का बनाया इतिहास मैंने देखा, तो अद्भुत बातें दिखाती हैं । इनसे यह भी प्रसिद्ध है कि जो स्वश्लाघा और अभिमान करेगा, तो इतना ही करेगा । निम्न लिख से यह बात सबको विदित हो जायगी, क्योंकि इङ्गित चेष्टित से मनुष्य का अभिप्राय गुप्त नहीं रह सकता । राजाजी का कुछ अभी ऐसा वर्तमान है सो
- १० नहीं, किन्तु 'स्वभावो नान्यथा भवेत्' जैसा स्वभाव मनुष्य का होता है, वह छूटना दुस्तर है । जो उन्होंने 'इतिहासतिमिरनाशक' ग्रन्थ बनाया है, उसको कोई विद्वान् पक्षपातरहित सज्जन पुरुष ध्यान देकर देखे, तो राजाजी की मानसपरीक्षा और सौजन्य विदित अवश्य हो जावे कि इनका क्या अभीष्ट है ? उसमें अप्रमाण वेदादिशास्त्रा-
- १५ मिप्रायशून्य बहुत बातें हैं, और कुछ अच्छी भी हैं । जो अच्छी हैं उनका स्वीकार, और जो अन्यथा हैं उनके संक्षेप से दोष भी प्रकाशित करता हूं । जैसे मुझ को विदित होता है—

- इतिहासतिमिरनाशक पृष्ठ १, पंक्ति ११—बाप दादा और पुरुखा तो क्या, हम इस ग्रन्थ में उस समय से लेकर जिससे आगे
- २० किसी को कुछ मालूम नहीं, आज पर्यन्त अपने देश की अवस्था लिखने का मसूबा रखते हैं ।

- राजाजी थोड़ासा भी सोचते, तो इतना अपना गौरव अपने हाथ से लिखने में अवश्य कम्प जाकर रुकके यथार्थ बात को समझ सकते । क्या अपने पुरुषों से स्वयं उत्तम और सब आर्यावर्त्तिवासियों
- २५ को इतिहासज्ञानविषय में निकृष्ट अज्ञानी बताकर स्वश्लाघी स्वयं नहीं बने हैं ? क्या कोई भी पूर्ण विद्वान् स्वमुख से अपनी कीर्ति को कह सकता है ? यह सच है कि जितना-जितना विद्याविनय मनुष्य को अधिक होता है, उतना-उतना वह सुशील निरभिमानी महाशय होता । और जितना-जितना वह कम विद्वान् होता है, उतनी-उतनी
- ३० उसको कुशीलता अभिमान और स्वल्पाशयता होती है ।

इतिहास० पृष्ठ १, पं० १६—पुराना हाल जैसा इस देश का बेठौर-ठिकाने देखने में आता है, विरले किसी दूसरे देश का मिलेगा ।



वाह ! वाह !! वाह !!! न जाने किस देश की पाठशाला में इतिहासों को पढ़के राजाजी को अपूर्व विज्ञान हुआ ? क्या यूरोप अमेरीका एफ्रीका आदि देशों के पूर्व इतिहासों से भी आर्यावर्त्त देश का प्राचीन इतिहास बुरा है ? यह भी इनका लेख आर्य लोगों को ध्यान में रखना चाहिये ।

५

इतिहा० पृष्ठ ३, पंक्ति २—आगे संस्कृत श्लोक बनाते थे, अब भाषा में छन्द और कवित्त बनाते हैं । क्योंकि पद्य का कण्ठस्थ रखना सहज है । निदान ये भाट इसी में बड़ाई समझते हैं ।

क्या ही शोक की बात है कि मनु वाल्मीकि व्यास प्रभृति ऋषि महर्षि महात्मा महाशय ब्राह्मण लोगों को तो राजाजी भाट ठहराते १० हैं, और आप महात्माओं के निन्दक और उपहासकर्त्ता होकर नकली की पदवी को धारण करते हैं । विदित होता है कि आर्यावर्त्तीय धार्मिक आप्तपुरुषों की निन्दा और विदेशियों की अत्युक्ति सदृश स्तुति ही से राजाजी प्रसन्न बनते हैं ।

इतिहा० पृष्ठ ४, पृ० ३०—हाय हमारे देश में इतना भी कोई १५ समझनेवाला नहीं ।

सिवाय आप के ऐसी-ऐसी गूढ़ बातों के मर्म को कौन समझ सकता है ? तब ही तो आप सब से बड़ा मसूवा बांध कर इतिहास लिखने को प्रवृत्त हुए ।

इतिहा० पृ० १०—वहुतेरे हिन्दू यह भी कहेंगे कि—जो बात २० पोथी में लिखी गई, और परम्परा से सब हिन्दू मानते चले आये, भला अब वह क्योंकर झूठ ठहर सकती है ?

भला यहां तो हिन्दुओं की परम्परा का तिरस्कार राजाजी कर चुके, और दोनों निवेदनों में ब्राह्मण-पुस्तकों को वेद मानने के लिये स्वीकार किया है । ठीक है, मतलब-सिन्धु ऐसी हो चतुराई से पूरा २५ करना होता है !!

इतिहा० पृष्ठ १२, पं० १ से लेकर पृष्ठ १४, पं० ११ तक—बौद्ध जैन हिन्दुओं के मतविषयक बातें लिखी हैं । इससे विदित होता है कि राजाजा का मत बौद्ध जैनी ही है । इसलिये अपने मत की प्रशंसा और वैदिकमत की निन्दा मनमानी की है । यह इन को अच्छा ३० समय मिला कि कोई जाने नहीं, और वैदिक मत की जड़ उखाड़ने



पर सदा इनकी चेष्टा है। पुनः स्वामीजी जी सनातन रीति से वेदों का निर्दोष सत्य अर्थ ठीक-ठीक प्रकाशित कर रहे हैं, इनको अच्छा कब लग सकता है? इसीलिये निवेदनों में भी अपनी सदा की चाल पर राजाजी चलते हैं, इसमें क्या आश्चर्य है?

- ५ इतिहा० पृष्ठ १५, पं० १—हिन्दुओं की प्राचीन अवस्था ...  
यह बड़ा अनर्थ राजाजी का है कि आर्यों को हिन्दू और पारस देश से आये बताते हैं। पहिली बात तो इन की निर्मूल है, क्योंकि वेदों से लेके महाभारत तक किसी ग्रन्थ में आर्यों को हिन्दू नहीं लिखा। कौन जाने राजाजी के पुरुषे पारस देश से ही इस देश में १० आये हों? और उनका परम्परा से स्वदेश पारस का संस्कार अब तक चला आया हो? क्या यह बात असम्भव है कि इस आर्यावर्त्त ही से कोई मनुष्य पारस देश में जा रहे हों, क्योंकि पारस देश में उत्पन्न हुई माद्री पाण्डु राजा से विवाही थी। उसी समय वा आगे-पीछे वहां से यहां और यहां से वहां आ-जा रहने का सम्भव हो १५ सकता है। और क्या, जो पारस देश से आकर ही बसे होते, तो पारसी लोगों वा ईरानवालों के प्राचीन इतिहासों में स्पष्ट न लिखते?

- इतिहा० पृ० १५, पं० ५—असुर को अहुर। नोट—पं० १३—यहां भी ऋग्वेद के आरम्भ में असुरः=असुर का अर्थ सुर लिया है, २० और उसे सूरज का नाम माना है। प्राणदाता असुरः सर्वेषां प्राणदः। असुर राक्षस के लिये तभी से ठहराया गया, जब से सुर देव=देवता के लिये ठहरा, इत्यादि।

- धन्य है—‘मुखमस्तीति वक्तव्यं दशहस्ता हरीतकी’। इस में तो कुछ दोष नहीं कि असुर को वे पारसी लोग अहुर कहें। परन्तु जो २५ बातें ऋग्वेद के नाम से राजाजी ने लिखी हैं, सब निर्मूल हैं। क्योंकि ऋग्वेद के आरम्भ में तो ‘असुरः प्राणदाता, असुरः सर्वेषां प्राणदः’ ये नहीं हैं। और ऐसा पाठ ऋग्वेद भर में कहीं नहीं है। क्या आश्चर्य है कि ईरानवाले जिद्द से देव को राक्षस कहते हों।

- इतिहा० पृष्ठ १५, पं० ७—हिन्दू अपने तई दूसरी जाति के लोगों ३० से जुदा रहने के निमित्त ‘आर्य’ पुकारते थे। और इन्हीं के वसने से यह देश

१. निवेदन नाम की पुस्तकों में।



हिमालय से विन्ध्य तक 'आर्यावर्त' कहलाया। पारस देशवाले भी आर्य थे, वरन इसी कारण उसको अब भी ईरान कहते हैं।

क्या अद्भुत लीला है। ईरानवाले तो अब तक ईरानी, पारस वाले पारसी ही बने रहे, आर्य नामवाले क्यों न हुए? कैसा झूठ लिखा है कि अपने जुदा रहने के लिये 'आर्य' पुकारते थे। जो ऋग्वेद की कथा भी राजाजी ने सुनी होती—विजानीह्यार्यान् ये च दस्यवः, उत शूद्र उतार्य। इसका अर्थ यही है—'आर्य' श्रेष्ठ और 'दस्यु' दुष्ट, 'आर्य' द्विज और 'शूद्र' अनार्य को कहते हैं। इसको जानते, तो ऐसा अनर्थ क्यों लिख मारते? जो ईरान से आर्य हो जाता है, तो 'आरा' और 'अरि' आदि शब्दों से 'आर्य' सिद्ध करने में किसी को राजाजी न अटका सकेंगे। ऐसे बहुत पुरुष अपनी प्रशंसा के लिये विदेशियों को झूठी खुशामद किया ही करते हैं।

इतिहा० पृष्ठ १५, पं० २८—ईरान की पुरानी पारसी भाषा में एक प्रकार की संस्कृत थी, अर्थात् उसी जड़ से निकली थी, जिस से संस्कृत निकली है।

१५

भला पारसी पढ़े बिना ऐसी-ऐसी गुप्त जड़ों की खोज राजाजी न होते, तो कौन करता? जो थोड़ा-सा भी विचार करते, तो श्रेष्ठ गुणों से आर्य। और किसी एक मनुष्य का नाम है आर्य, उससे और इस देशवालों से क्या सम्बन्ध हो सकता है? जितने दृष्टान्त संस्कृत पुरानी पारसी के उदाहरण दिये हैं, ये सब संस्कृत से पुरानी पारसी बनी है, यह ठीक है। क्योंकि जब पारसदेश का नाम-निशान भी न था, तब से आर्य और आर्यावर्त देश है। जब पाण्डवों ने राजसूय यज्ञ किया, तब यवन देश के सब राजा आये थे। उसी ईरान का राजा शल्य भी महाभारतयुद्ध में आया था। इसलिये राजाजी का ऐसा अनुभव केवल पारसी भाषा पढ़ने से हुआ है, संस्कृत से नहीं।

२५

इतिहा० पृष्ठ १६, पं० २ से—ये आर्य उस समय सूर्य के उपासक थे, वेद में सूर्य की बड़ी महिमा गायी है। हिन्दुओं का मूलमन्त्र गायत्री इसी सूर्य की वन्दना है। विष्णु इसी सूर्य का नाम है।

३०

राजाजी का स्वभाव सब से विलक्षण है। कोई कहता हो दिन तो वे रात कहें। यद्यपि वेदों में सूर्य शब्द से परमेश्वर आदि कई



अर्थ प्रकरण से भिन्न-भिन्न कहे हैं, परन्तु उपासना में सूर्य शब्द से जिसको गायत्री मन्त्र कहता, और जो व्यापकता से विष्णु है, वहां परमेश्वर ही लिया है, अन्यत्र भौतिक ।

इतिहा० पृष्ठ १८, पं० १—आकाश को इन्द्र ठहराया ।

- ५ वेदों में इन्द्र शब्द से आकाश का ग्रहण कहीं नहीं किया है ।  
हां राजाजी ने अपनी कल्पना से समझा होगा ।

इतिहा० पृष्ठ १८, पं० ३—गाय बैल घोड़ा भेड़ और बकरी इत्यादि का बलि देते थे । और उनका मांस भून-भून और उबाल-उबाल कर खाते थे ।

- १० नोट—ऋग्वेद में एक अश्वमेध का हाल यों लिखा है—घोड़े के आगे रङ्ग-विरङ्ग की बकरियां रखकर उससे अग्नि की परिक्रमा दिलाई । और फिर खम्भे से बांधकर और फरसे से काट कर उसका गोस्त सींक पर भूना और उबाला, और गोले बना कर खा गये ।

- १५ हाय ! ऐसे अनर्थ-लेख से वेद और आर्यों की निन्दा कर राजाजी ने संतुष्टि क्यों की ? क्योंकि गाय आदि पशुओं का मारना वेदों में कहीं नहीं लिखा, न शराब का पीना । और अश्वमेध का ऐसा हाल कहीं भी नहीं लिखा । राजाजी ने वाममार्गियों के सङ्ग से ऐसी बात कि जिससे वेदों की निन्दा हंसी होती हो, लिखी होगी ।

- २० इतिहा० पृष्ठ १९, पं० १२—वर्णभेद शुरू में दो ही रहा होगा, अर्थात् गोरा और काला । वर्ण का अर्थ रङ्ग है ।

- वाह ! क्या चतुराई की छटा झलक रही है ? क्या गोरे और काले के बीच में कोई भी रंग नहीं होता ? और 'वर्ण वाहुः पूर्वसूत्रे' वर्ण नाम अक्षर, वर्ण नाम स्वीकार अर्थ क्या नहीं होते ? स्वार्थी दोषज्ञ पश्यति । हां, यह हो तो हो कि विना गोरों की प्रशंसा के स्वार्थ-सिद्ध क्योंकर होता ?

- इतिहा० पृष्ठ २० से लेके अङ्गरेज के पैर पकरने अर्थात् ग्रन्थ की समाप्ति-पर्यन्त राजाजी ऐसी चाल-चलन से चले हैं कि जिससे इस देश की बहुत बुराई, और कुछ अन्य देशों की भी, वेदादिशास्त्रों की निन्दा और जैनमत की इंगित से प्रशंसा, और अंग्रेजों की प्रशंसा में जानो सब भाटों के प्रपितामह ही बन रहे हैं ।



क्या ही शोक की बात है कि 'इतिहासतिमिरनाशक' के तीसरे खण्ड में कितने बड़े वेद आदि शास्त्रों और आर्य्य तथा आर्य्यावर्त्त देश की निन्दा लिखकर छपवाई है। तो भी राजाजी के चरित्र पर किसी आर्य्य विद्वान् ने विचारकर प्रत्युत्तर नहीं दिया। मैंने अपनी अल्पसामर्थ्य से "स्थालीपुलाकन्याय" के समान थोड़ा-सा नमूना राजाजी का दिखलाया है। इतने ही से सब बुद्धिमान् राजाजी के और मेरे गुण दोषों का विचार यथावत् कर ही लेंगे।

जिन्होंने वेद और आर्य्यावर्त्त को गहरा करनी ही अपनी बड़ाई समझ ली है, तो स्वामीजी की निन्दा करें, इसमें क्या आश्चर्य है? सर्व-शक्तिमान् परमात्मा परमदयालु सब पर कृपा रखे कि कोई किसी की निन्दा न करे। सत्य को माने और झूठ को छोड़ दे। मेरा यहां यह अभिप्राय नहीं है कि किसी की व्यर्थ निन्दा करूं, वा मिथ्या स्तुति। हां, इतना कहता हूं कि जितनी जिसकी समझ है उतना ही कह और लिख सकता है। मेरी धार्मिक विद्वानों से प्रार्थना है कि जो कुछ मुझसे अन्यथा लेख हुआ हो, तो क्षमा करें। और अपनी प्रशंसनीय विद्यायुक्त प्रज्ञा से उसको शुद्ध कर लें। इस पर सत्य-सत्य परामर्श का प्रकाश कर आर्यों को सुभूषित करें ॥

ऋषिकालाङ्गभूवर्षे तपस्यस्याऽसिते दले ।

दिक्त्तिथौ वाक्पतौ ग्रन्थो भ्रमञ्छेत्तु मकार्यलम् ॥

इति भीमसेनशर्मकृतोऽनुभ्रमोच्छेदनो

ग्रन्थः पूर्णः ॥







---

---

# पञ्च-महायज्ञ-विधिः

---

---



ॐ

---

---

दयाया आनन्दो विलसति परः स्वात्मविदितः,  
सरस्वत्यस्याग्रे निवसति मुदा सत्यनिलया ।  
इयं ख्यातिर्यस्य प्रकटसुगुणा वेदशरणास्त्य-  
नेनायं ग्रन्थो रचित इति बोद्धव्यमनघाः ॥१॥

---

---



❀ ओ३म् ❀

## अथ सन्ध्योपासनादिपञ्चमहायज्ञविधिः

यह पुस्तक 'नित्यकर्मविधि' का है। इसमें 'पञ्चमहायज्ञ' का विधान है। जिनके ये नाम हैं कि—ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ, भूतयज्ञ और नृयज्ञ। उनके मन्त्र, मन्त्रों के अर्थ, और जो-जो करने का ५ विधान लिखा है, सो-सो यथावत् करना चाहिये। एकान्त देश में अपने आत्मा मन और शरीर को शुद्ध और शान्त करके उस-उस कर्म में चित्त लगाके तत्पर होना चाहिये। इन नित्यकर्मों के फल ये हैं कि—ज्ञानप्राप्ति से आत्मा की उन्नति और आरोग्यता होने से शरीर के सुख से व्यवहार और परमार्थ-कार्यों की सिद्धि होना। १० उस से धर्म अर्थ काम और मोक्ष ये सिद्ध होते हैं। इनको प्राप्त होकर मनुष्यों को सुखी होना उचित है।

### [ १-अथ प्रथमो ब्रह्मयज्ञः सन्ध्योपासनम् ]

अथ तेषां प्रकारः। तत्रादौ ब्रह्मयज्ञान्तर्गतसन्ध्याविधानं प्रोच्यते। तत्र सन्ध्याशब्दार्थः—'सन्ध्यायन्ति सन्ध्यायते वा परब्रह्म १५ यस्यां सा सन्ध्या।' तत्र रात्रिन्दिवयोः संधिवेलायामुभयोस्संध्ययोः सर्वैर्मनुष्यैरवश्यं परमेश्वरस्यैव स्तुतिप्रार्थनोपासनाः कार्य्याः।

आदौ शरीरशुद्धिः कर्त्तव्या—सा बाह्या जलादिना, आभ्यन्तरा रागद्वेषाऽसत्यादित्यागेन। अत्र प्रमाणम्—

अद्भिर्गात्राणि शुध्यन्ति, मनः सत्येन शुध्यति। २०

विद्यातपोभ्यां भूतात्मा, बुद्धिज्ञानेन शुध्यति॥

इत्याह मनुः अ० ५। श्लोक १०६॥

शरीरशुद्धेस्सकाशादात्मान्तःकरणशुद्धिरवश्यं सर्वैस्सम्पादनीया, तस्यास्सर्वोत्कृष्टत्वात् परब्रह्मप्राप्त्येकसाधनत्वाच्च।

### [ मार्जनम् ]

२५

ततो मार्जनं कुर्यात्—नैवेश्वरध्यानादावालस्यं भवेद्, एतदर्थं शिरोनेत्राद्युपरि जलप्रक्षेपणं कर्त्तव्यम्। नो चेन्न।



**भाषार्थ—**अब [ पहिले ] 'सन्ध्योपासना ब्रह्मयज्ञविधि' लिखी जाती है, और उसमें के मन्त्रों का अर्थ भी लिखा जाता है। पहिले सन्ध्या शब्द का अर्थ यह है कि—(सन्ध्यायन्ति०) भली-भांति ध्यान करते हैं, वा ध्यान किया जाये परमेश्वर का जिसमें, वह ५ 'सन्ध्या'। सो रात और दिन के संयोग-समय दोनों सन्ध्याओं में सब मनुष्यों को परमेश्वर की स्तुति प्रार्थना और उपासना करनी चाहिये।

पहिले बाह्य जलादि से शरीर की शुद्धि, और रागद्वेष आदि के त्याग से भीतर की शुद्धि करनी चाहिये। क्योंकि मनु जी ने ५ अ० १० के १०६ श्लोक (अद्भिर्गार्वाणि इत्यादि) में यह लिखा है कि शरीर जल से, मन सत्य से, जीवात्मा विद्या और तप से, और बुद्धि ज्ञान से शुद्ध होती है।

परन्तु शरीर-शुद्धि की अपेक्षा अन्तःकरण की शुद्धि सब को अवश्य करनी चाहिये। क्योंकि वही सर्वोत्तम और परमेश्वर-प्राप्ति १५ का एक साधन है।

तब कुशा वा हाथ से मार्जन करे—अर्थात् परमेश्वर का ध्यान आदि करने के समय किसी प्रकार का आलस्य न आवे, इसलिये शिर और नेत्र आदि पर जल-प्रक्षेप करे। यदि आलस्य न हो, तो न करना।

२०

[ प्राणायामाः ]

पुनन्यूनान्यूनान्स्त्रीन् प्राणायामान् कुर्यात्—आभ्यन्तरस्थं वायुं नासिकापुटाभ्यां बलेन बहिर्निस्सार्य यथाशक्ति बहिरेव स्तम्भयेत्। पुनः शनैश्शनैर्गृहीत्वा किञ्चित्तमवसृज्य पुनस्तथैव बहिर्निस्सारयेदवरोधयेच्च। एवं त्रिवारं न्यूनान्यूनं कुर्यात्। अनेनात्म- २५ मनसोः स्थिति सम्पादयेत्।

[ शिखा-बन्धनम् ]

ततो गायत्रीमन्त्रेण शिखां बद्ध्वा रक्षाञ्च कुर्यात्—इतस्ततः केशा नपतेयुः एतदर्थं 'शिखाबन्धनम्'। प्रार्थितस्सन्नीश्वरस्सत्कर्मसु सर्वत्र सर्वदा रक्षेन्नः, एतदर्थं रक्षाकरणम्।

३०

**भाषार्थ—**फिर कम से कम तीन प्राणायाम करे—अर्थात् भीतर के वायु को बल से निकालकर यथाशक्ति बाहर ही रोक दे। फिर शनैः-शनैः ग्रहण करके कुछ चिर भीतर ही रोकके बाहर निकाल दे,



और वहां भी कुछ रोके । इस प्रकार कम से कम तीन बार करे । इससे आत्मा और मन की स्थिति सम्पादन करे ।

इसके अनन्तर 'गायत्री' मन्त्र से शिखा को बांधकर रक्षा करे । इसका प्रयोजन यह है कि केश इधर-उधर न गिरें । सो यदि केशादि-पतन न हो तो न करे । और रक्षा का प्रयोजन यह है कि परमेश्वर ५ प्रार्थित होकर सब भले कामों में सदा सब जगह में हमारी रक्षा करे ।

अथाचमनमन्त्रः

ओं शन्नो देवीरभिष्टयऽ आपो भवन्तु पीतये ।

शंयोरभि स्रवन्तु नः ॥ यजु० ३६ । मं० १२ ॥

भाष्यम्—'आप्लु व्याप्तौ' अस्माद्धातोः 'अप्'शब्दः' सिध्यति । १०  
'अप्'शब्दो नियतस्त्रीलिङ्गो बहुवचनान्तश्च । 'दिवु क्रीडाद्यर्थः' ।  
(शन्नो दे०) देव्य आपः सर्वप्रकाशकस्सर्वानन्दप्रदस्सर्वव्यापक ईश्वरः  
(अभिष्टये) इष्टानन्दप्राप्तये (पीतये) पूर्णानन्दभोगेन तृप्तये (नः)  
अस्मभ्यं (शं) कल्याणं (भवन्तु) अर्थात् भावयतु प्रयच्छतु । ता  
आपो देव्यः स एवेश्वरः (नः) अस्मभ्यं (शंयोः) शम् (अभिस्रवन्तु) १५  
अर्थात् सुखस्याभितः सर्वतो वृष्टिं करोतु ।

'अप्'शब्देनेश्वरस्य ग्रहणम् । अत्र प्रमाणम् —

यत्र लोकांश्च कोशांश्चापो ब्रह्म जनां विदुः ।

असंच यत्र संचान्तः स्रुग्मं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥

अथ० कां १० । सू० ७ । मं० १० ॥ २०

अनेन वेदमन्त्रप्रमाणेन 'अप्'शब्देन परमात्मनोऽत्र ग्रहणं क्रियते ।

एवमनेन मन्त्रेणेश्वरं प्रार्थयित्वा त्रिराचामेत् । जलाभावाच्चे-  
न्नैव कुर्यात् । आचमनमप्यालस्यस्य कण्ठस्थकफस्य [च] निवा-  
रणार्थम् ॥

भाषार्थ—अब 'आचमन' करने का मन्त्र लिखते हैं—(ओं शन्नो देवीरित्यादि) । इसका अर्थ यह है कि—'आप्लु व्याप्तौ' इस धातु

१. 'सिद्धं सर्वमाप्नोद् यदिदं किञ्च, यदाप्नोत्तस्मादापः ।' श० ६।१।  
१।१॥ तद्यदब्रवीद् (ब्रह्म) आभिर्वा अहमिदं सर्वमाप्स्यामि यदिदं किञ्चेति  
तस्मादापः' ॥ गोपथब्राह्मणे पू० १-२॥ (सम्पादकः)



से 'अप्' शब्द सिद्ध होता है। वह सदा स्त्रीलिङ्ग और बहुवचनान्त है। 'दिवु धातु' अर्थात् जिसके ऋढ़ा आदि अर्थ हैं, उससे 'देवी' शब्द सिद्ध होता है। (देवीः आपः) सब का प्रकाशक, सब को आनन्द देनेवाला और सर्वव्यापक ईश्वर (अभिष्टये) मनोवाञ्छित आनन्द के लिये, और (पीतये) पूर्णानन्द की प्राप्ति के लिये (नः) हमको (शम्) कल्याणकारी (भवन्तु) हो, अर्थात् हमारा कल्याण करे। वही परमेश्वर (नः) हम पर (शंयोः) सुख की (अभिस्तवन्तु) सर्वदा वृष्टि करे।

यहां 'अप्' शब्द से ईश्वर के ग्रहण करने में प्रमाण--(यत्र १० लोकांश्च०)। जिसमें सब लोक-लोकान्तर, (कोश) अर्थात् सब जगत् का कारणरूप खजाना, जिसमें असत् अदृश्यरूप आकाशादि और सत् स्थूल प्रकृत्यादि सब पदार्थ स्थित हैं, उसी का नाम 'अप्' है। और यह नाम ब्रह्म का है, तथा इसी को 'स्कम्भ' कहते हैं। यह कौनसा देव और कहां है, इसका यह उत्तर है कि [जो] १५ (अन्तः) सब के भीतर व्यापक होके परिपूर्ण हो रहा है, उसी को तुम उपास्य पूज्य और इष्टदेव जानो। इस वेदमन्त्र के प्रमाण से 'अप्' नाम ब्रह्म का है।

इस प्रकार इस मन्त्र से परमेश्वर की प्रार्थना करके तीन आचमन करे। यदि जल न हो तो न करे। आचमन से गले के कफादि २० की निवृत्ति होना प्रयोजन है।

अथेन्द्रियस्पर्शः

ओं वाक् वाक् । ओं प्राणः प्राणः । ओं चक्षुः चक्षुः ।  
ओं श्रोत्रं श्रोत्रम् । ओं नाभिः । ओं हृदयम् ।  
ओं कण्ठः । ओं शिरः । ओं बाहुभ्यां यशोबलम् ।  
२५ ओं करतलकरपृष्ठे ॥'

भाष्यम्—एभिः सर्वत्रेश्वरप्रार्थनया स्पर्शः कार्यः । सर्वदेश्वर-  
कृपयेन्द्रियाणि बलवन्ति तिष्ठन्तिवत्यभिप्रायः ।

१. इन्द्रिय-स्पर्श और मार्जन के मन्त्र 'त्रिकालसन्ध्या' तथा 'सन्ध्या-  
त्रयम्' (ये हस्तलेख विश्वेश्वरानन्द शोध-संस्थान, होशियारपुर में सुरक्षित हैं)  
३० में मिलते हैं। विशेष द्र०—वैदिक-नित्यकर्म-विधि, प्रकाशकीय पृष्ठ २१।



भाषार्थ—अथेन्द्रियस्पर्शः—(ओं वाक् वागित्यादि) । इस प्रकार से ईश्वर की प्रार्थनापूर्वक इन्द्रियों का स्पर्श करे । इसका अभिप्राय यह है कि ईश्वर की प्रार्थना से सब इन्द्रिय बलवान् रहें ।

अथेश्वरप्रार्थनापूर्वकमार्जनमन्त्राः

ओं भूः पुनातु शिरसि । ओं भुवः पुनातु नेत्रयोः । ५  
ओं स्वः पुनातु कण्ठे । ओं महः पुनातु हृदये ।  
ओं जनः पुनातु नाभ्याम् । ओं तपः पुनातु पादयोः ।  
ओं सत्यं पुनातु पुनश्शिरसि । ओं खं ब्रह्म पुनातु सर्वत्र ॥

भाष्यम्—ओमित्यस्य भूर्भुवः स्वरित्येतासां चार्था गायत्री-मन्त्रार्थे द्रष्टव्याः । 'महः' अर्थात् सर्वेभ्यो महान् सर्वैः पूज्यश्च । १० सर्वेषां जनकत्वात् 'जनः' परमेश्वरः । दुष्टानां सन्तापकारकत्वात् स्वयं ज्ञानस्वरूपत्वात्—'यस्य ज्ञानमयं तपः' (मुण्डकोप० १।१।६) इति वचनस्य प्रामाण्यात् 'तपः' ईश्वरः । यदविनाशि, यस्य कदाचिद् विनाशो न भवेत्, तत् 'सत्यम्' । 'ब्रह्म' व्यापकमिति बोध्यम् । इतीश्वरनामभिर्मार्जनं कुर्यात् । १५

भाषार्थ—अब ईश्वर की प्रार्थना पूर्वक मार्जन के मन्त्र लिखे जाते हैं—(ओं भूः पुनातु शिरसीत्यादि) । ओंकार भूः भुवः और स्वः इनके अर्थ 'गायत्रीमन्त्र' के अर्थ में देख लेना । (महः) सब से बड़ा, और सब का पूज्य होने से परमेश्वर को 'मह' कहते हैं । (जनः) सब जगत् का उत्पादक होने से परमेश्वर का 'जन' नाम है । २० (तपः) दुष्टों को सन्तापकारी, और ज्ञान-स्वरूप होने से ईश्वर को 'तप' कहते हैं । क्योंकि 'यस्येत्यादि' उपनिषद् का वाक्य इस में प्रमाण है । (सत्यम्) अविनाशी होने से परमेश्वर का 'सत्य' नाम है । और व्यापक होने से 'ब्रह्म' नाम परमेश्वर का है । अर्थात् पूर्व मन्त्रोक्त सब नाम परमेश्वर ही के हैं । इस प्रकार ईश्वर के नामों २५ के अर्थों का स्मरण करते हुये मार्जन करें ।

अथ प्राणायाममन्त्राः

ओं भूः । ओं भुवः । ओं स्वः । ओं महः । ओं जनः ।  
ओं तपः । ओं सत्यम् ॥ तैत्ति० आ० प्रपा० १० । अनु० २७ ॥

१. द्रष्टव्य पृष्ठ २६८ की टिप्पणी सं० १। २. मुण्डकोपनिषद् १।१।६॥ ३०



भाष्यम्— एतेषामुच्चारणमर्थविचारपुरस्सरं [कुर्वन्] पूर्वोक्त-  
प्रकारेण प्राणायामान् कुर्यात् ॥

भाषार्थ— अब प्राणायाम के मन्त्र लिखते हैं—(ओं भूरित्यादि) ।  
इन के उच्चारण और अर्थविचारपूर्वक उस (=पूर्वोक्त) प्रकार के  
५ अनुसार प्राणायामों को करे ।

‘इस प्रकार प्राणायाम करके अर्थात् भीतर के वायु को बल  
से नासिका के द्वारा बाहर फेंकके, यथाशक्ति बाहर ही रोकके, पुनः  
धीरे-धीरे भीतर लेके, पुनः बल से बाहर फेंकके रोकने से मन और  
आत्मा को स्थिर करके, आत्मा के बीच में जो अन्तर्यामीरूप से ज्ञान  
१० और आनन्दस्वरूप व्यापक परमेश्वर है, उसमें अपने आपको मग्न  
करके अत्यन्त आनन्दित होना चाहिये’ । जैसे गोताखोर जल में  
डुबकी मारके शुद्ध होके बाहर आता है, वैसे ही सब जीव लोग  
अपने आत्माओं को शुद्ध ज्ञान आनन्दस्वरूप व्यापक परमेश्वर में  
मग्न करके नित्य शुद्ध करें ।

१५

अथाघमर्षणमन्त्राः

अथेश्वरस्य जगदुत्पादनद्वारा स्तुत्याऽघमर्षणमन्त्रा अर्थात् पाप-  
दूरीकरणार्थाः—

ओम् ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत ।

ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रो अर्णवः ॥१॥

२०

समुद्रादर्णवादधि संवत्सरो अजायत ।

अहोरात्राणि विदधद्विश्वस्य मिषतो वशी ॥२॥

१. “इस प्रकार.....शुद्ध करें” यह पाठ अजमेर संस्करणों में ‘मनसा-  
परिक्रमा’ मन्त्रों से पूर्व छपा है । किन्तु वहां प्राणायाम का प्रकरण न होने के  
कारण तथा मूल संस्कृतानुसारी न होने से हमने इसे प्राणायाम के प्रकरण में  
२५ यहां रखना आवश्यक समझा है । (सम्पादक)

२. ‘इसी रीति से कम से कम ३ तीन और अधिक से अधिक २१  
इक्कीस प्राणायाम करे ।’ (संस्कारविधि पृष्ठ २२७, रालाकट्ट० आर्यसमाज-  
स्थापना शताब्दी सं०) ।



सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत् ।

दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः ॥३॥

ऋ० मण्ड० १० । सू० १६० । मं० १-३ ॥

भाष्यम्—(धाता) दधाति सकलं जगत् पोषयति वा स धाते-  
श्वरः (वशी) वशं कर्तुं शीलमस्य सः (यथापूर्वम्) यथा तस्य सर्वज्ञे १  
विज्ञाने जगद्रचनज्ञानमासीत्, पूर्वकल्पसृष्टौ यथा रचनं कृतमासीत्,  
तथैव जीवानां पुण्यपापानुसारतः प्राणिदेहानकल्पयत् । (सूर्या-  
चन्द्रमसौ) यौ प्रत्यक्षविषयौ सूर्य्यचन्द्रलोको (दिवम्) सर्वोत्तमं  
स्वप्रकाशमग्न्याख्यम् (पृथिवीम्) प्रत्यक्षविषयाम् (अन्तरिक्षम्)  
अर्थाद् द्वयोर्लोकयोर्मध्यमाकाशं तत्रस्थाँल्लोकाँश्च (स्वः) मध्यस्थं १०  
लोकम् (अकल्पयत्) यथापूर्वं रचितवान् । ईश्वरज्ञानस्यापरिणामि-  
त्वात्, पूर्णत्वादनन्तत्वात् सर्वदैकरसत्वाच्च नैव तस्य वृद्धिक्षयव्य-  
भिचाराश्च कदाचिद्भवान्त । अत एव 'यथापूर्वमकल्पयद्' इत्युक्तम् ।

स एव (वशी) ईश्वरः (विश्वस्य मिषतः) सहजस्वभावेन (अहो-  
रात्राणि) रात्रेर्दिवसस्य च विभागं यथापूर्वम् (विदधत्) विधानं कृत- १५  
वान् । तस्य धातुवंशिनः परमेश्वरस्यैव (अभीद्धात्) अभितः सर्वत  
इद्धात् दीप्तात् ज्ञानमयात् (तपसः) अर्थादनन्तसामर्थ्यात् (ऋतम्)  
यथार्थसर्वविद्याधिकरणं वेदशास्त्रं (सत्यम्) त्रिगुणमयं प्रकृत्यात्मक-  
मव्यक्तं स्थूलस्य सूक्ष्मस्य जगतः कारणं च (अध्यजायत) यथापूर्व-  
मुत्पन्नम् । (ततो रात्री०) या तस्मादेव सामर्थ्यात् प्रलयानन्तरं भवति, २०  
सा रात्रिरजायत यथापूर्वमुत्पन्नासीत् । तमं आसीत्तमंसा गूलुमग्रे ।  
ऋ० म० १० । सू० १२६ । मं० ३ । अग्रे सृष्टेः प्राक् तमोऽन्धकार  
एवासीत् । तेन तमसा सकलं जगदिदमुत्पत्तेः प्राग्गूढं सुप्तमथदिदृश्य-  
मासीत् । (ततः समु०) तस्मादेव सामर्थ्यात् पृथिवीस्थोऽन्तरिक्षश्च  
महान् समुद्रोऽजायत यथापूर्वमुत्पन्न आसीत् । (समुद्रादर्णवात्०) २५  
पश्चात् संवत्सरः क्षणादिलक्षणः कालोऽध्यजायत ।

यावज्जगत्तावत्सर्वं परमेश्वरस्य सामर्थ्यादेवोत्पन्नमित्यवधार्यम् ।  
एवमुक्तगुणं परमेश्वरं संस्मृत्य पापाद् भीत्वा ततो दूरे सर्वैर्जनैः  
स्थातव्यम् । नैव कदाचित् केनचित् स्वल्पमपि पापं कर्तव्यमितीश्व-  
राज्ञास्तीति निश्चेतव्यम् । अनेनाधमर्षणं कुर्यात्, अर्थात् पापानुष्ठानं ३०  
सर्वथा परित्यजेत् ॥



**भाषार्थ—**अब अघमर्षण अर्थात् 'हे ईश्वर ! तू जगदुत्पादक है' इत्यादि स्तुति करके पाप से दूर रहने के उपदेश के मन्त्र लिखते हैं— (ओं ऋतं च सत्यमित्यादि) ।

- इनका अर्थ यह है कि—(धाता) सब जगत् को धारण और पोषण
- ५ करनेवाला, और (वशी) सब को वश में करनेवाला परमेश्वर (यथा-पूर्वम्) जैसा कि उसके सर्वज्ञ विज्ञान में जगत् रचने का ज्ञान था, और जिस प्रकार पूर्वकल्प की सृष्टि में जगत् की रचना थी, और जैसे जीवों के पुण्य-पाप थे, उनके अनुसार ईश्वर ने मनुष्यादि प्राणियों के देह बनाये हैं । (सूर्याचन्द्रमसौ) जैसे पूर्वकल्प में सूर्य चन्द्र लोक रचे
  - १० थे, वैसे ही इस कल्प में भी रचे हैं । (दिवम्) जैसा पूर्व सृष्टि में सूर्यादि लोकों का प्रकाश रचा था, वैसा ही इस कल्प में भी रचा है । तथा (पृथिवीम्) जैसी [पृथिवी] प्रत्यक्ष दीखती है, (अन्तरिक्षम्) जैसा पृथिवी और सूर्यलोक के बीच में पोलापन है, (स्वः) जितने आकाश के बीच में लोक हैं, उन को (अकल्पयत्) ईश्वर ने रचा है । जैसे अनादि-
  - १५ काल से लोक-लोकान्तरों को जगदीश्वर बनाया करता है, वैसे ही अब भी बनाये हैं और आगे भी बनावेगा । क्योंकि ईश्वर का ज्ञान विपरीत कभी नहीं होता, किन्तु पूर्ण और अनन्त होने से सर्वदा एकरस ही रहता है । उसमें वृद्धि क्षय और उलटापन कभी नहीं होता । इसी कारण से 'यथापूर्वमकल्पयत्' इन पदों का ग्रहण
  - २० किया है ।

- (विश्वस्य मिषतः) उसी ईश्वर ने सहज स्वभाव से जगत् के [ (अहोरात्राणि) ] रात्रि दिवस घटिका पल और क्षण आदि जैसे पूर्व थे, वैसे ही (विदधत्) रचे हैं । इसमें कोई ऐसी शंका करे कि ईश्वर ने किस वस्तु से जगत् को रचा है, तो उसका उत्तर यह है
- २५ कि (अभीद्धात्तपसः) ईश्वर ने अपने अनन्त सामर्थ्य से सब जगत् को रचा है । जो कि ईश्वर के प्रकाश से जगत् का कारण प्रकाशित, और सब जगत् के बनाने की सामग्री ईश्वर के आधीन है । (ऋतम्) उसी अनन्त ज्ञानमय सामर्थ्य से सब विद्या का खजाना वेदशास्त्र को प्रकाशित किया, जैसा कि पूर्वसृष्टि में प्रकाशित था, और आगे के कल्पों में भी इसी प्रकार से वेदों का प्रकाश करेगा । (सत्यम्)
  - ३० जो त्रिगुणात्मक अर्थात् सत्त्व रज और तमोगुण से युक्त है, जिसके नाम अव्यक्त अव्याकृत सत् प्रधान [और] प्रकृति हैं, जो स्थूल और



सूक्ष्म जगत् का कारण है, सो भी (अध्यजायत) अर्थात् कार्यरूप होके पूर्व कल्प के समान उत्पन्न हुआ है। (ततो रात्र्यजायत) उसी ईश्वर के सामर्थ्य से, जो प्रलय के पीछे हजार चतुर्युगी के प्रमाण से रात्री कहाती है, सो भी पूर्व प्रलय के तुल्य ही होती है। इसमें ऋग्वेद का 'तम आसीदित्यादि' मन्त्र प्रमाण है, कि जब तक विद्यमान सृष्टि होती है, उसके पूर्व सब आकाश अन्धकाररूप रहता है। और उसी अन्धकार में सब जगत् के पदार्थ और सब जीव ढके हुये रहते हैं, उसी का नाम 'महारात्री' है। (ततः समुद्रो अर्णवः) तदनन्तर उसी सामर्थ्य से पृथिवी और मेघमण्डल में जो महासमुद्र है, सो भी पूर्वसृष्टि के सदृश ही उत्पन्न हुआ है। (समुद्रादणवादधि संवत्सरो अजायत) १० उसी समुद्र की उत्पत्ति के पश्चात् संवत्सर अर्थात् क्षण मुहूर्त प्रहर आदि काल भी पूर्वसृष्टि के समान उत्पन्न हुआ है। वेद से लेके पृथिवी-पर्यन्त जो यह जगत् है, सो सब ईश्वर के नित्य सामर्थ्य से ही प्रकाशित हुआ है।

और ईश्वर सब को उत्पन्न करके सब में व्यापक होके अन्तः- १५ यामीरूप से सब के पाप-पुण्यों को देखता हुआ पक्षपात छोड़के सत्य न्याय से सबको यथावत् फल दे रहा है। ऐसा निश्चित जानके ईश्वर से भय करके सब मनुष्यों को उचित है कि मन कर्म और वचन से पाप कर्मों को कभी न करें। इसी का नाम 'अघमर्षण' है। अर्थात् ईश्वर सब के अन्तःकरण के कर्मों को देख रहा है। इससे २० पापकर्मों का आचरण मनुष्य लोग सर्वथा छोड़ दें।

शन्नो देवीरिति पुनराचमेत् । ततो गायत्र्यादिमन्त्रार्थान् मनसा विचारयेत् । पुनः परमेश्वरेणैव सूर्यादिकं सकलं जगद्रचितमिति परमार्थस्वरूपं ब्रह्म चिन्तयित्वा परं ब्रह्म प्रार्थयेत् ॥

[भाषार्थ]—(शन्नो देवी०) इस मन्त्र से पुनः तीन आचमन करें। २५ तदनन्तर गायत्र्यादि मन्त्रों के अर्थ विचारपूर्वक परमेश्वर की स्तुति अर्थात् परमेश्वर के गुण और उपकार का ध्यान कर पश्चात् प्रार्थना करें। अर्थात् सब उत्तम कामों में ईश्वर का सहाय चाहें। और सदा पश्चात्ताप करें कि मनुष्य-शरीर धारण करके हम लोगों से जगत् का उपकार कुछ भी नहीं बनता। जैसा कि ईश्वर ने सब पदार्थों ३०



की उत्पत्ति करके सब जगत् का उपकार किया है, वैसे हम लोग भी सब का उपकार करें। इस काम में परमेश्वर हमको सहाय करे कि जिसमें हम लोग सब को सदा सुख देते रहें।

तदनन्तर ईश्वर की उपासना करें। सो दो प्रकार की है—

- ५ एक सगुण, और दूसरी निर्गुण। जैसे—ईश्वर सर्वशक्तिमान्, दयालु, न्यायकारी, चेतन, व्यापक अन्तर्यामी, सब का उत्पादक, धारण करने-हारा, मंगलमय, शुद्ध, सनातन, ज्ञान और आनन्दस्वरूप है। धर्म अर्थ काम और मोक्ष पदार्थों का देनेवाला, सब का पिता-माता, बन्धु-मित्र, राजा और न्यायाधीश है। इत्यादि ईश्वर के गुण
- १० विचारपूर्वक उपासना करने का नाम सगुणोपासना है। तथा निर्गुणोपासना इस प्रकार से करनी चाहिये कि - ईश्वर अनादि अनन्त है, जिसका आदि और अन्त नहीं। अजन्मा अमृत्यु, जिसका जन्म और मरण नहीं। निराकार निर्विकार, जिसका आकार और जिसमें कोई विकार नहीं। जिसमें रूप रस गन्ध स्पर्श शब्द,
- १५ अन्याय अधर्म रोग दोष अज्ञान और मलिनता नहीं है। जिसका परिमाण, छेदन, बन्धन, इन्द्रियों से दर्शन, ग्रहण और कम्पन नहीं होता। जो ह्रस्व दीर्घ और शोकातुर कभी नहीं होता। जिसको भूख प्यास शीतोष्ण हर्ष और शोक कभी नहीं होते। जो उलटा काम कभी न करता, इत्यादि जो जगत् के गुणों से ईश्वर को
- २० अलग जानके ध्यान करना, वह 'निर्गुणोपासना' कहाती है।

अथ मनसापरिक्रमामन्त्राः

- ओं प्राची दिगभिरधिपातिरासितो रक्षितादित्या  
 इषवः । तेभ्यो नमोऽधिपातिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम  
 इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु । योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं  
 २५ द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥१॥

दक्षिणा दिगिन्द्रोऽधिपतिस्तिरश्चिराजी रक्षिता पितर  
 इषवः । तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम  
 इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु । योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं  
 द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥२॥



प्रतीची दिग्ब्रह्मणोऽधिपतिः पृदाक् रक्षितान्नमिषवः ।  
 तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम  
 एभ्यो अस्तु । योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे  
 दध्मः ॥३॥

उदीची दिक् सोमोऽधिपतिः स्वजो रक्षिताशनिरिषवः । ५  
 तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम  
 एभ्यो अस्तु । योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं  
 वो जम्भे दध्मः ॥४॥

ध्रुवा दिग् विष्णुरधिपतिः कल्माषग्रीवो रक्षिता  
 वीरुध इषवः । तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो १०  
 नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु । योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं  
 द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥५॥

ऊर्ध्वा दिग् बृहस्पतिरधिपतिः श्वित्रो रक्षिता  
 वर्गमिषवः । तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम  
 इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु । योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं १५  
 द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥६॥

अथर्व० कां० ३ । सू० २७ । मं० १—६ ॥

भाष्यम्—(प्राची दि०) सर्वासु दिक्षु व्यापकमीश्वरं सन्ध्याया-  
 मग्न्यादिभिर्नामभिः प्रार्थयेत् । यत्र स्वस्य मुखं सा प्राची दिक्, तथा  
 यस्यां सूर्य उदेति सापि प्राची दिगस्ति । तस्या अधिपतिरग्निरर्था- २०  
 ज्ञानस्वरूपः परमेश्वरः (असितो०) बन्धनरहितोऽस्माकं सदा रक्षिता  
 भवतु । यस्यादित्याः प्राणाः किरणाश्चेषवो, यैः सर्वं जगद्रक्षति, तेभ्य  
 इन्द्रियाधिपतिभ्यश्शरीररक्षितृभ्य इषुरूपेभ्यः प्राणेभ्यो वारं-वारं



नमोऽस्तु । कस्मै प्रयोजनाय ? यः कश्चिदस्मान् द्वेष्टि, यं च वयं द्विषमस्तं (वः) तेषां प्राणानां जम्भे अर्थाद्विशे दध्मः । यतस्सोऽनर्थान्नि-  
वर्त्य स्वमित्रो भवेत्, वयं च तस्य मित्राणि भवेम ॥१॥

(दक्षिणा०) दक्षिणस्या दिश इन्द्रः परमैश्वर्य्ययुक्तः परमेश्वरोऽ-  
धिपतिरस्ति । स एव कृपयास्माकं रक्षिता भवतु । अग्रे पूर्ववदन्वयः  
कर्तव्यः ॥२॥

तथा (प्रतीची दिग्०) अस्या वरुणः सर्वोत्तमोऽधिपतिः परमे-  
श्वरोऽस्माकं रक्षिता भवेदिति पूर्ववत् ॥३॥

(उदीची०) सोमः सर्वजगदुत्पादकोऽधिपतिरीश्वरोऽस्माकं  
१० रक्षिता स्यादिति पूर्ववत् ॥४॥

(ध्रुवा दिक्०) अर्थादधोदिक्, अस्या विष्णुव्यापक ईश्वरोऽधि-  
पतिः । सोऽस्यामस्मान् रक्षेत् । अन्यत् पूर्ववत् ॥५॥

(ऊर्ध्वा दिग्०) अस्या बृहस्पतिरर्थाद् बृहत्या वाचो बृहतो  
वेदशास्त्रस्य बृहतामाकाशादीनां च पतिर्वृहस्पतिर्यः सर्वजगतोऽधिपतिः  
१५ स सर्वतोऽस्मान् रक्षेत् । अग्रे पूर्ववद् योजनीयम् ॥६॥

सर्वे मनुष्याः सर्वशक्तिमन्तं सर्वगुरुं न्यायकारिणं दयालुं  
पितृवत्पालकं सर्वासु दिक्षु सर्वत्र रक्षकं परमेश्वरमेव मन्येरन्तित्य-  
भिप्रायः ॥

भाषार्थ—(प्राची दिग्गिरधिपतिः) जो प्राची दिक्, अर्थात्  
२० जिस ओर अपना मुख हो [तथा जिधर सूर्य उदय होता हो], उस  
ओर 'अग्नि' जो ज्ञानस्वरूप, 'अधिपति' जो सब जगत् का स्वामी,  
(असितः) बन्धनरहित, (रक्षिता) सब प्रकार से रक्षा करनेवाला,  
(आदित्या इषव०) जिसके बाण आदित्य की किरणें हैं, उन सब गुणों  
के अधिपति ईश्वर के गुणों को हम लोग बारम्बार नमस्कार करते  
२५ हैं । (रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु) जो ईश्वर के गुणों  
और ईश्वर के रचे पदार्थ जगत् की रक्षा करनेवाले हैं, और पापियों  
को बाणों के समान पीड़ा देनेवाले हैं, उनको हमारा नमस्कार हो ।  
इसलिये कि जो प्राणी अज्ञान से हमारा द्वेष करता, और अज्ञान  
से जिस धार्मिक पुरुष का तथा पापी पुरुष का हम लोग द्वेष करते हैं,



उन सब की बुराई को उन बाणरूप किरण मुखरूप के बीच दग्ध कर देते हैं, कि जिससे किसी से हम लोग वैर न करें, और कोई भी प्राणी हमसे वैर न करे । किन्तु हम लोग परस्पर मित्रभाव से वर्ते ॥१॥

(दक्षिणा दिगिन्द्रोऽधिपतिः) जो हमारे दाहिनी ओर दक्षिण ५ दिशा है, उसका अधिपति 'इन्द्र' अर्थात् जो पूर्ण ऐश्वर्यवाला है । (तिरश्चिराजी रक्षिता) जो पदार्थ कीट पतङ्ग वृश्चिक आदि तिर्य्यक् कहाते हैं, उनकी राजि जो पङ्क्ति है, उससे रक्षा करनेवाला एक परमेश्वर है । (पितर इषवः) जिसकी सृष्टि में ज्ञानी लोग बाण के समान हैं । (तेभ्यो नमो०) आगे का अर्थ पूर्व के समान १० जान लेना ॥२॥

(प्रतीची दिग् वरुणोऽधिपतिः) जो पश्चिम दिशा अर्थात् अपने पृष्ठ भाग में है, उसमें 'वरुण' जो सब से उत्तम सब का राजा परमेश्वर है, (पृदाकू रक्षितान्मिषवः) जो बड़े-बड़े अजगर सर्पदि विषधारी प्राणियों से रक्षा करनेवाला है । जिसके अन्न अर्थात् पृथिव्यादि १५ पदार्थ बाणों के समान हैं, श्रेष्ठों की रक्षा और दुष्टों की ताड़ना के निमित्त हैं । (तेभ्यो नमो०) इसका अर्थ पूर्व मन्त्र के समान जान लेना ॥३॥

(उदीची दिक् सोमोऽधिपतिः) जो अपनी बाई ओर उत्तर दिशा है, उसमें 'सोम' नाम से अर्थात् शान्त्यादि गुणों से आनन्द २० देनेवाले जगदीश्वर का ध्यान करना चाहिये । (स्वजो रक्षिताऽ-शनिरिषवः) जो अच्छी प्रकार अजन्मा और रक्षा करनेवाला है । जिस के बाण विद्युत् हैं । (तेभ्यो नमो०) आगे पूर्ववत् जान लेना ॥४॥

(ध्रुवा दिग्विष्णुरधिपतिः) ध्रुवा दिशा अर्थात् जो अपने नीचे की ओर है, उसमें 'विष्णु' अर्थात् व्यापक नाम से परमात्मा का २५ ध्यान करना । (कल्माषग्रीवो रक्षिता नीरुध इषवः) जिसके हरित रङ्गवाले वृक्षादि ग्रीवा के समान हैं । जिसके बाण के समान सब वृक्ष हैं । उन से अधोदिशा में हमारी रक्षा करे । (तेभ्यो नमो०) आगे पूर्ववत् जान लेना ॥५॥

(ऊर्ध्वा दिग्वृहस्पतिरधिपतिः) जो अपने ऊपर दिशा है, उसमें ३० 'वृहस्पति' जो कि वाणी [महान् वेदशास्त्र तथा बड़े-बड़े आकाशादि]



का स्वामी परमेश्वर है, उसको अपना रक्षक जानें। जिसके वाण के समान वर्षा के बिन्दु हैं, उनसे हमारी रक्षा करे। (तेभ्यो०) पूर्ववत् जान लेना ॥६॥

[सब मनुष्य सर्वशक्तिमान्, सब के गुरु, न्यायकारी, दयालु और पिता के-सदृश पालक परमेश्वर को ही सब दिशाओं में रक्षक समझें, यही इन मन्त्रों का अभिप्राय है]।

अथोपस्थानमन्त्राः

ओम् उद्भयं तमसस्परि स्वः पश्यन्तः उत्तरम् ।

देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम् ॥१॥

१०

य० अ० ३५ । म० १४ ॥

भाष्यम्—हे परमात्मन् ! (सूर्यम्) चराचरात्मानं त्वां (पश्यन्तः) प्रेक्षमाणास्सन्तो वयम् (उदगन्म) अर्थाद् उत्कृष्टश्रद्धावन्तो भूत्वा वयं भवन्तं प्राप्नुयामः । कथंभूतं त्वाम् ? (ज्योतिः) स्वप्रकाशम्, (उत्तमम्) सर्वोत्कृष्टम्, (देवत्रा) सर्वेषु दिव्यगुणवत्सु पदार्थेषु १५ ह्यनन्तदिव्यगुणैर्युक्तम्, (देवम्) धर्मात्मनां मुमुक्षूणां मुक्तानां च सर्वानन्दस्य दातारं मोदयितारं च, (उत्तरम्) जगत्प्रलयानन्तरं नित्यस्वरूपत्वाद्विराजमानम्, (स्वः) सर्वानन्दस्वरूपम्, (तमसस्परि) अज्ञानान्धकारात् पृथग्भूतं भवन्तं प्राप्नुं वयं नित्यं प्रार्थयामहे । भवान् स्वकृपया सद्यः प्राप्नोतु नः, इति ॥१॥

२०

भाषार्थ—अब उपस्थान के मन्त्रों का अर्थ करते हैं, जिनसे परमेश्वर की स्तुति और प्रार्थना की जाती है। हे परमेश्वर ! (तमसस्परि स्वः) सब अन्धकार से अलग—प्रकाशस्वरूप, (उत्तरम्) प्रलय के पीछे सदा वर्त्तमान, (देवं देवत्रा) देवों में भी देव अर्थात् प्रकाश करनेवालों में प्रकाशक, (सूर्यम्) चराचर के आत्मा, २५ (ज्योतिरुत्तमम्) जो ज्ञानस्वरूप, और सब से उत्तम आपको जानके (वयमुदगन्म) हम लोग सत्य से प्राप्त हुए हैं। हमारी रक्षा करनी आप के हाथ है, क्योंकि हम लोग आपके शरण हैं ॥१॥

उदु त्यं जातवैदसं देवं वहन्ति केतवः ।

इशे विश्वायु सूर्यम् ॥२॥ यजु० अ० ३३ । मन्त्र ३१ ॥



**भाष्यम्—**(केतवः) किरणा विविधजगतः पृथक्-पृथक् रचनादि-  
नियामका ज्ञापका प्रकाशका ईश्वरस्य गुणाः (दृशे विश्वाय) विश्वं  
द्रष्टुं (त्यम्) तं पूर्वोक्तं (देवम् सूर्यम्) चराचरात्मानं परमेश्वरं  
(उद्बहन्ति) उत्कृष्टतया प्रापयन्ति ज्ञापयन्ति प्रकाशयन्ति वै । (उ)  
इति वितर्कं, नैव पृथक्-पृथक् विविधनियमान् दृष्ट्वा नास्तिका ५  
अपीश्वरं त्यक्तुं समर्था भवन्तीत्यभिप्रायः । कथंभूतं देवम् ? (जात-  
वेदसम्) जाता ऋग्वेदादयश्चत्वारो वेदाः सर्वज्ञानप्रदाः यस्मात्, तथा  
जातानि प्रकृत्यादीनि भूतान्यसंख्यातानि विन्दति, यद्वा जातं सकलं  
जगद्वेत्ति जानाति यः स जातवेदास्तं जातवेदसं सर्वे मनुष्यास्तमेवैकं  
प्राप्तुमुपासितुमिच्छन्तिवत्यभिप्रायः ॥२॥

१०

**भाषार्थ—**(उदुत्यं जातवेदसम्०) जिससे ऋग्वेदादि चार वेद  
प्रसिद्ध हुये हैं, और जो प्रकृत्यादि सब भूतों में व्याप्त हो रहा है,  
जो सब जगत् का उत्पादक है, सो परमेश्वर 'जातवेदा' नाम से  
प्रसिद्ध है । (देवम्) जो सब देवों का देव, और (सूर्यम्) सब  
जीवादि जगत् का प्रकाशक है, (त्यम्) उस परमात्मा की (दृशे १५  
विश्वाय) विश्वविद्या की प्राप्ति के लिये हम लोग उपासना करते  
हैं । (उद्बहन्ति केतवः) जिस परमेश्वर को 'केतवः' अर्थात् वेद की  
श्रुति, और जगत् के पृथक्-पृथक् रचनादि नियामक गुण जनाते और  
प्राप्त कराते हैं, उस विश्व के अन्तर्यामी परमेश्वर ही को हम उपा-  
सना करें, अन्य किसी की नहीं ॥२॥

२०

**चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः ।  
आप्रा द्यावापृथिवीऽ अन्तरिक्षं सूर्योऽ आत्मा जगत्स्तस्थुषश्च  
स्वाहा ॥३॥** य० अ० ७। मं० ४२ ॥

**भाष्यम्—**(चित्रं०) । स एव देवः (सूर्यः) (जगतः) जङ्गमस्य  
(तस्थुषः) स्थावरस्य च (आत्मा) अतति नैरन्तर्येण सर्वत्र व्याप्नो- २५  
तीत्यात्मा । तथा (आप्राः) द्यौः पृथिवी अन्तरिक्षं चैतदादि सर्वं  
जगद्रचयित्वा आ समन्ताद्धारयन् सन् रक्षति । (चक्षुः) एष एवैतेषां  
प्रकाशकत्वाद् ब्राह्माभ्यन्तरयोश्चक्षुः प्रकाशको विज्ञानमयो विज्ञाप-  
कश्चास्ति । अत एव (मित्रस्य) सर्वेषु द्रोहरहितस्य मनुष्यस्य सूर्य- ३०  
लोकस्य प्राणस्य वा (वरुणस्य) वरेषु श्रेष्ठेषु कर्मसु वर्तमानस्य च ३०



(अग्नेः) शिल्पविद्याहेतो रूपगुणदाहप्रकाशकस्य विद्युतो आजमान-  
स्यापि चक्षुः सर्वसत्योपदेष्टा प्रकाशकश्च (देवानाम्) स दिव्यगुण-  
वतां विदुषामेव हृदये (उदगात्) उत्कृष्टतया प्राप्तोऽस्ति, प्रकाशको  
वा । तदेव ब्रह्म (चित्रम्) अद्भुतस्वरूपम् । अत्र प्रमाणम् — 'आश्चर्यो  
५ वक्ता कुशलोऽस्य लब्धाश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः' । कठोपनि०  
बल्ली २ । आश्चर्यस्वरूपत्वाद् ब्रह्मणस्तदेव ब्रह्म सर्वेषां चास्माकं  
(अनीकम्) सर्वदुःखनाशार्थं कामक्रोधादिशत्रुविनाशार्थं बलमस्ति ।  
तद्विहाय मनुष्याणां सर्वसुखकरं शरणमन्यन्नास्त्येवेति वेद्यम् ।  
(स्वाहा) । अथात्र स्वाहाशब्दार्थं प्रमाणं निरुक्तकारा आहुः—

१० 'स्वाहाकृतयः स्वाहेत्येतत् सु आहेति वा, स्वा वागाहेति वा, स्वं  
प्राहेति वा, स्वाहुतं हविर्जुहोतीति वा, तासामेषा भवति ।' निरु०  
अ० ८ । खं० २० ॥

स्वाहाशब्दस्यायमर्थः—(सु आहेति वा) सु सुष्ठु कोमलं मधुरं  
कल्याणकरं प्रियं वचनं सर्वैर्मनुष्यैः सदा वक्तव्यम् । (स्वा वागाहेति  
१५ वा) या स्वकीया वाग् ज्ञानमध्ये वर्तते, सा यदाह तदेव वागिन्द्रियेण  
सर्वदा वाच्यम् । (स्वं प्राहेति वा) स्वं स्वकीयपदार्थं प्रत्येव स्वत्वं  
वाच्यम्, न परपदार्थं प्रति चेति । (स्वाहुतं ह०) सुष्ठुरीत्या संस्कृत्य  
संस्कृत्य हविः सदा होतव्यमिति स्वाहाशब्दार्थाः । स्वमेव पदार्थं  
प्रत्याह, वयं सर्वदा सत्यं वदाम इति, न कदाचित् परपदार्थं प्रति  
२० मिथ्या वदेमेति ॥३॥

भाषार्थ—(चित्रं देवाना०) । (सूर्य आत्मा) प्राणों और जड़  
जगत् का जो आत्मा है, उसको 'सूर्य' कहते हैं । (आंप्रा द्या०) जो  
सूर्य और अन्य सब लोकों को बनाके धारण और रक्षण करनेवाला  
है, (चक्षुमित्रस्य०) जो मित्र अर्थात् रागद्वेषरहित मनुष्य, तथा  
२५ सूर्यलोक और प्राण का चक्षु प्रकाश करनेवाला है, (वरुणस्या०)  
सब उत्तम कामों में जो वर्तमान मनुष्य प्राण अपान और अग्नि  
का प्रकाश करनेवाला है, (चित्रं देवानाम्) जो अद्भुतस्वरूप  
विद्वानों के हृदय में सदा प्रकाशित रहता है, (अनीकम्) जो सकल  
मनुष्यों के सब दुःख नाश करने के लिये परम उत्तम बल है, वह  
३० परमेश्वर (उदगात्) हमारे हृदयों में यथावत् प्रकाशित रहे ॥३॥

तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत् । पश्येम श्रुतं श्रुतं



जीवेम शरदः शतं शृणुयाम शरदः शतं प्र ब्रवाम शरदः शतम्-  
दीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात् ॥४॥

य० अ० ३६ । मं० २४ ॥

भाष्यम्—(तच्चक्षुः) यत्सर्वदृक्, (देवहितम्) देवेभ्यो हितं  
दिव्यगुणवतां धर्मात्मनां विदुषां स्वसेवकानां च हितकारी वर्त्तते, ५  
यत् (पुरस्तात्) पूर्वं सृष्टेः प्राक् (शुक्रम्) सर्वजगत्कृत् शुद्धमासीत्,  
इदानीमपि तादृशमेव चास्ति, तदेव (उच्चरत्) अर्थात् उत्कृष्टतया  
सर्वत्र व्याप्तं विज्ञानस्वरूपं प्रलयादूर्ध्वं सर्वसामर्थ्यं स्थास्यति । (तत्)  
ब्रह्म (पश्येम शरदः शतम्) वयं शतं वर्षाणि तस्यैव प्रेक्षणं कुर्महे ।  
तत्कृपया (जीवेम शरदः शतम्) शतं वर्षाणि प्राणान् धारयेमहि । १०  
(शृणुयाम शरदः शतम्) तस्य गुणेषु श्रद्धाविश्वासवन्तो वयं तमेव  
शृणुयाम । तथा च तद् ब्रह्म तद्गुणांश्च (प्रब्रवाम श०) अन्येभ्यो  
मनुष्येभ्यो नित्यमुपदिशेम । (अदीनाः स्याम श०) एवं च तदुपासनेन  
तद्विश्वासेन तत्कृपया च शतवर्षपर्यन्तमदीनाः स्याम भवेम । मा  
कदचित् कस्यापि समीपे दीनता कर्तव्या भवेन्नो दारिद्र्यं च । सर्वदा १५  
सर्वथा ब्रह्मकृपया स्वतन्त्रा वयं भवेम । तथा (भूयश्च श०) वयं  
तस्यैवानुग्रहेण भूयः शताच्छरदः शताद्वर्षेभ्योऽप्यधिकं पश्येम जीवेम  
शृणुयाम प्रब्रवाम अदीनाः स्याम चेत्यन्वयः । अर्थान्नैव मनुष्यास्त-  
मतिकृपालुं परमेश्वरं त्यक्त्वान्यमुपासीरन् याचेरन्तित्यभिप्रायः ।  
'योऽन्यां देवतामुपास्ते पशुरेव स देवानाम्' । श० का० १४।४। २०  
२।२२। सर्वे मनुष्याः परमेश्वरमेवोपासीरन् । यस्तस्मादन्यस्यो-  
पासनां करोति, स इन्द्रियारामो गर्दभवत् सर्वैश्शिष्टैर्विज्ञेय इति  
निश्चयः ॥४॥

कृताञ्जलिरत्यन्तश्रद्धालुर्भूत्वैतैर्मन्त्रैः स्तुवन् सर्वकालसिद्ध्यर्थं  
परमेश्वरं प्रार्थयेत् ॥

२५

भाषार्थ—(तच्चक्षुर्देवहितम्) जो ब्रह्म सब का द्रष्टा, धार्मिक  
विद्वानों का परम हितकारक, तथा (पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्) सृष्टि  
के पूर्व पश्चात् और मध्य में सत्यस्वरूप से वर्त्तमान रहा, और सब  
जगत् का करनेवाला है, (पश्येम शरदः शतम्) उसी ब्रह्म को  
हम लोग सौ वर्ष पर्यन्त देखें, (जीवेम शरदः शतम्) जीवें, ३०  
(शृणुयाम शरदः शतम्) सुनें । (प्रब्रवाम श०) उसी ब्रह्म



का उपदेश करें। (अदीनाः स्याम०) और उसकी कृपा से किसी के अधीन न रहें। (भूयश्च शरदः शतात्) उसी परमेश्वर की आज्ञा-पालन और कृपा से सौ वर्षों से उपरान्त भी हम लोग देखें, जीवें, सुनें-सुनावें, और स्वतन्त्र रहें। अर्थात् आरोग्य शरीर, ५ दृढ़ इन्द्रिय, शुद्ध मन और आनन्दमहित हमारा आत्मा सदा रहे। यही एक परमेश्वर सब मनुष्यों का उपास्य देव है। जो मनुष्य इसको छोड़के दूसरे की उपासना करता है, वह पशु के समान होके सब दिन दुःख भोगता रहता है ॥४॥

इसलिये प्रेम में अत्यन्त मग्न होके आत्मा और मन को परमेश्वर १० में जोड़के इन मन्त्रों से स्तुति और प्रार्थना सदा करते रहें ॥

अथ गुरुमन्त्रः

ओं भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि ।  
धियो यो नः प्रचोदयात् ॥ य० अ० ३६ । मं० ३॥<sup>१</sup>

भाष्यम्—अस्य सर्वोत्कृष्टस्य 'गायत्री'मन्त्रस्य संक्षेपेणार्थं १५ उच्यते—'अ उ म्' एतत् त्रयं मिलित्वा 'ओम्' इत्यक्षरं भवति । यथाह मनुः—

अकारं चाप्युकारं च मकारं च प्रजापतिः ।

वेदत्रयान्निरदुहद् भूर्भुवः स्वरितीति च ॥ मनु० २।७६॥

एतच्च सर्वोत्तमं प्रसिद्धतमं परब्रह्मणो नामास्ति । एतेनैकेनैव २० नाम्ना परमेश्वरस्यानेकानि नामान्यागच्छन्तीति वेद्यम् । तद्यथा—  
अकारेण विराडग्निविश्वादीनि । (विराट्) विविधं चराचरं जगद्रा-  
ज्यते प्रकाशयते स 'विराट्' सर्वात्मेश्वरः । (अग्निः) अच्यते प्राप्यते  
सत्क्रियते वा वेदादिभिः शास्त्रैर्विद्वद्भिश्चेति 'अग्निः' परमेश्वरः ।

१. वै० यं० मुद्रित संस्करणों में निम्नलिखित पाठ मिलता है—

२५

अथ गुरुमन्त्रः

ओ३म् । यजु० अ० ४० । मं० १७ । भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो  
देवस्य धीमहि । धियो यो नः प्रचोदयात् ॥ य० अ० ३६ । मं० ३ ॥ ऋ०  
मंड० ३। सू० ६२ । मं० १० ॥ एवं चतुर्षु वेदेषु समानो मन्त्रः ॥१॥



(विश्वः) विष्टानि सर्वाण्याकाशादीनि भूतानि यस्मिन् सं 'विश्वः', यद्वा विष्टोऽस्ति प्रकृत्यादिषु यः स 'विश्वः' । एतदाद्यर्था अकारेण विज्ञेयाः । उकारेण हिरण्यगर्भवायुतैजसादीनि । तद्यथा—(हिरण्यगर्भः) हिरण्यानि सूर्यादीनि तेजांसि गर्भे यस्य, तथा सूर्यादीनां तेजसां यो गर्भोऽधिष्ठानं स 'हिरण्यगर्भः' । अत्र प्रमाणम्—ज्योतिर्वै हिरण्यं, ५ ज्योतिरेषोऽमृतं<sup>१५</sup> हिरण्यम् ॥ श० का० ६ । अ० ७ । ब्रा० १ । कं० २ । यज्ञो वै हिरण्यम् । ऐ० पं० ७ । खं० १८ । (वायुः) यो वाति जानाति धारयत्यनन्तबलत्वात् सर्वं जगत् स 'वायुः' । स चेश्वर एव भवितुमर्हति, नान्यः । तद्वायुरिति (य० ३२।१) मन्त्रवर्णनाद् ब्रह्मणो 'वायुः' संज्ञास्ति । (तैजसः) सूर्यादीनां प्रकाशकत्वात् स्वयंप्रकाश- १० त्वात् 'तैजसः' ईश्वरः । एतदाद्यर्था उकारेण विज्ञातव्याः । मकारेणेश्वरादित्यप्राज्ञादीनि नामानि बोध्यानि । तद्यथा—(ईश्वरः) ईष्टेऽसौ सर्वशक्तिमान् न्यायकारी 'ईश्वरः' । (आदित्यः) अविनाशित्वाद् 'आदित्यः' परमात्मा । (प्राज्ञः) प्रजानाति सकलं जगदिति प्रज्ञः, प्रज्ञ एव 'प्राज्ञः' च परमात्मैवेति । एतदाद्यर्था मकारेण निश्चेतव्या ध्येयाश्चेति । १५

अथ महाव्याहृत्यर्थाः संक्षेपतः—भूरिति वै प्राणः, भुवरित्य-  
पानः, स्वरिति व्यानः । इति तैत्तिरीयोपनिषद्वचनम्, प्रपा० ७ ।  
अनु० ६ । (भूः) प्राणयति जीवयति सर्वान् प्राणिनः स 'प्राणः'  
प्राणादपि प्रियस्वरूपो वा, स चेश्वर एव । अयमर्थो 'भू'शब्दस्य  
ज्ञेयः । (भुवः) यो मुमुक्षूणां मुक्तानां स्वसेवकानां धर्मात्मनां सर्वं २०  
दुःखमपानयति दूरीकरोति, स 'अपानः' दयालुरीश्वरोऽस्ति । अयं 'भुवः'  
शब्दार्थोऽस्तीति बोध्यम् । (स्वः) यदभिव्याप्य व्यानयति चेष्टयति  
प्राणादिसकलं जगत् स 'व्यानः' सर्वाधिष्ठानं बृहद् ब्रह्मेति । खल्वयं 'स्वः'  
शब्दार्थोऽस्तीति मन्तव्यम् । एतदाद्यर्था महाव्याहृतीनां ज्ञातव्याः ।

अथ गायत्र्यर्थः - (सवितुः) सुनोति सूर्यते सुवति वोत्पादयति २५  
सृजति सकलं जगत्, स सर्वपिता सर्वेश्वरः 'सविता' परमात्मा ।  
'सवितुः प्रसवे०' (य० १।१०) इति मन्त्रपदार्थाद् उत्पत्तेः कर्त्ता  
योऽर्थोऽस्ति, स 'सविता' इत्युच्यते इति मन्तव्यम् । (वरेण्यम्) यद्वरं वक्तुं  
महंमतिश्रेष्ठं तद्वरेण्यम् । (भर्गः) यन्निरुपद्रवं निष्पापं निर्गुणं शुद्ध  
सकलदोषरहितं पक्वं परमार्थविज्ञानरूपं तद् भर्गः । (देवस्य) यो ३०  
दीव्यति प्रकाशयति खल्वानन्दयति सर्वं विश्वं स 'देवः', तस्य (देवस्य



धीमहि) तमेव परमात्मानं वयं नित्यमुपासीमहि । कस्मै प्रयोजनाय ? तस्य धारणेन विज्ञानादिबलेनैव वयं पुष्टा दृढाः सुखिनश्च भवेमेत्यस्मै प्रयोजनाय । तथा च (यः) परमेश्वरः (नः) अस्माकं (धियो) धारणावतीर्बुद्धीः (प्रचोदयात्) प्रेरयेत् ।

- ५ हे सच्चिदानन्दानन्तस्वरूप ! हे नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव ! हे अज ! हे निराकार सर्वशक्तिमन् न्यायकारिन् करुणामृतवारिधे ! सवितुर्देवस्य तव यद्वरेण्यं भगस्तद्वयं धीमहि । कस्मै प्रयोजनाय ? यः सविता देवः परमेश्वरः स नोऽस्माकं धियो बुद्धीः प्रचोदयात् । यो हि सम्यग् ध्यातः प्रार्थितः सर्वेष्टदेवः परमेश्वरः स्वकृपाकटाक्षेण
- १० स्वशक्त्या च ब्रह्मचर्यविद्याविज्ञानसद्धर्मजितेन्द्रियत्वपरब्रह्मानन्द-प्राप्तिमतीरस्माकं धीः कुर्यात्, अस्मै प्रयोजनाय तत्परमात्मस्वरूपं वयं धीमहि । इति संक्षेपतो गायत्र्यर्थो विज्ञेयः ॥

एवं प्रातःसायं द्वयोः सन्ध्ययोरेकान्तदेशं गत्वा शान्तो भूत्वा यतात्मा सन् परमेश्वरं प्रतिदिनं ध्यायेत् ॥

- १५ भाषार्थ-अथ गुरु-मन्त्रार्थः-(ओम् भूर्भुवः स्वः) जो अकार उकार और मकार के योग से 'ओम्' यह अक्षर सिद्ध है । सो यह परमेश्वर के सब नामों में उत्तम नाम है, जिसमें सब नामों के अर्थ आ जाते हैं । जैसे पिता पुत्र का प्रेम-सम्बन्ध है, वैसे ही ओंकार के साथ परमात्मा का सम्बन्ध है । इस एक नाम से ईश्वर के सब नामों का बोध होता है । जैसे--अकार से (विराट्) जो विविध जगत् का प्रकाश करनेवाला है । (अग्निः) जो ज्ञानरूप और सर्वत्र प्राप्त हो रहा है । (विश्वः) जिसमें सब जगत् प्रवेश कर रहा है, और जो सर्वत्र प्रविष्ट है । इत्यादि नामार्थ अकार से जानना चाहिये । उकार से (हिरण्यगर्भः) जिसके गर्भ में प्रकाश करनेवाले सूर्यादि लोक हैं,
- २५ और जो प्रकाश करनेवाले सूर्यादि लोकों का आधार है, इससे ईश्वर को 'हिरण्यगर्भ' कहते हैं । 'हिरण्य' के अर्थ ज्योति अमृत और कीर्ति हैं । (वायुः) जो अनन्त बलवान्ना, और सब जगत् का

१. देखो—मनुस्मृति अ० २ । श्लोक ७६॥

२. 'ज्योतिर्वै हिरण्यम्' ; 'अमृतं हिरण्यम्' । श० ७।६।१२॥ 'यशो

३० वै हिरण्यम् ।' ऐत० ७।१८ ॥



धारण करनेवाला है। (तैजसः) जो प्रकाशस्वरूप और सब जगत् का प्रकाशक है। इत्यादि अर्थ उकारमात्र से जानना चाहिये। तथा मकार से (ईश्वरः) जो सब जगत् का उत्पादक सर्वशक्तिमान् स्वामी और न्यायकारी है। (आदित्यः) जो नाशरहित है। (प्राज्ञः) जो ज्ञानस्वरूप और सर्वज्ञ है। इत्यादि अर्थ मकार से समझ लेना। ५ यह संक्षेप से ओंकार का अर्थ किया गया।

अब संक्षेप से महाव्याहृतियों का अर्थ लिखते हैं—(भूरिति वै प्राणः) जो सब जगत् के जीने का हेतु और प्राण से भी प्रिय है, इससे परमेश्वर का नाम 'भूः' है। (भुवरित्यपानः) जो मुक्ति की इच्छा करनेवालों, मुक्तों और अपने सेवक धर्मात्माओं को सब दुःखों १० से अलग करके सर्वदा सुख में रखता है, इसलिये परमेश्वर का नाम 'भुवः' है। (स्वरिति व्यानः) जो सब जगत् में व्यापक होके सब को नियम में रखता, और सब के ठहरने का स्थान, तथा सुखस्वरूप है, इससे परमेश्वर का नाम 'स्वः' है। यह [महा] व्याहृतियों का संक्षेप से अर्थ लिख दिया। १५

अब गायत्री मन्त्र का अर्थ लिखते हैं—(सवितुः) जो सब जगत् का उत्पन्न करनेहारा, और ऐश्वर्य का देनेवाला है, (देवस्य) जो सब के आत्माओं का प्रकाश करनेवाला, और सब सुखों का दाता है, (वरेण्यम्) जो अत्यन्त ग्रहण करने योग्य है, (भर्गः) जो शुद्ध विज्ञानस्वरूप है, (तत्) उसको (धीमहि) हम लोग सदा प्रेमभक्ति २० से निश्चय करके अपने आत्मा में धारण करें। किस प्रयोजन के लिये? कि (यः) जो पूर्वोक्त सविता देव परमेश्वर है, वह (नः) हमारी (धियः) बुद्धियों को (प्रचोदयात्) कृपा करके सब बुरे कामों से अलग करके सदा उत्तम कामों में प्रवृत्त करे।

इसलिये सब लोगों को चाहिये कि सत् चित् आनन्दस्वरूप, २५ नित्यज्ञानी, नित्यमुक्त, अजन्मा, निराकार, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी व्यापक, कृपालु, सब जगत् के जनक और धारण करनेहारे परमेश्वर ही की सदा उपासना करें। कि जिससे धर्म अर्थ काम और मोक्ष, जो मनुष्यदेहरूप वृक्ष के चार फल हैं, वे उसकी भक्ति और कृपा से सर्वथा सब मनुष्यों को प्राप्त हों। यह गायत्री मन्त्र का अर्थ ३० संक्षेप से हो चुका ॥



[इस प्रकार प्रतिदिन प्रातः सायं दोनों कालों में एकान्त देश में जाकर शान्त और एकाग्र होकर परमेश्वर का ध्यान करे ।]

### अथ समर्पणम्

‘हे ईश्वर दयानिधे ! भवत्कृपयाऽनेन जपोपासनादिकर्मणा  
५ धर्मार्थकाममोक्षाणां सद्यः सिद्धिर्भवेन्नः ॥’

भाषार्थ—इस प्रकार से सब मन्त्रों के अर्थों से परमेश्वर की सम्यक् उपासना करके आगे समर्पण करे—कि हे ईश्वर दयानिधे ! आपकी कृपा से जो-जो उत्तम काम हम लोग करते हैं, वे सब आपके समर्पण हैं । जिससे हम लोग आपको प्राप्त होके ‘धर्म’—जो सत्य  
१० न्याय का आचरण करना है, ‘अर्थ’—जो धर्म से पदार्थों की प्राप्ति करना है, ‘काम’—जो धर्म और अर्थ से इष्ट भोगों का सेवन करना है, और ‘मोक्ष’—जो सब दुःखों से छूटकर सदा आनन्द में रहना है, इन चार पदार्थों की सिद्धि हमको शीघ्र प्राप्त हो ।

### तत ईश्वरं नमस्कुर्यात्

१५ इसके पीछे ईश्वर को नमस्कार करे—

नमः शम्भवाय च मयोभवाय च नमः शङ्कराय च  
मयस्कराय च नमः शिवाय च शिवतराय च ॥

य० अ० १६ । मं० ४१ ॥

भाष्यम्—(नमः शंभवाय च) यः सुखस्वरूपः परमेश्वरोऽस्ति,  
२० तं वयं नमस्कुर्महे । (मयोभवाय च) यः संसारे सर्वोत्तमसौख्यप्रदाता-  
स्ति, तं वयं नमस्कुर्महे । (नमः शङ्कराय च) यः कल्याणकारकः  
सन् धर्मयुक्तानि कार्याण्येव करोति, तं वयं नमस्कुर्महे । (मयस्कराय  
च) यः स्वभक्तान् सुखकारकत्वाद्धर्मकार्येषु युनक्ति, तं वयं  
नमस्कुर्महे । (नमः शिवाय च शिवतराय च) योऽत्यन्तमङ्गलस्वरूपः  
२५ सन् धार्मिकमनुष्येभ्यो मोक्षसुखप्रदातास्ति, तस्मै परमेश्वरायास्माक-  
मनेकधा नमोऽस्तु ॥

भाषार्थ—(नमः शम्भवाय च) जो सुखस्वरूप, (मयोभवाय च)  
संसार के उत्तम सुखों का देनेवाला, (नमः शङ्कराय च) कल्याण  
का कर्ता, मोक्षस्वरूप, धर्मयुक्त कामों को ही करनेवाला, (मयस्क-  
३० राय च) अपने भक्तों को सुख का देनेवाला, और धर्म-कामों में



युक्त करनेवाला, (नमः शिवाय च शिवतराय च) अत्यन्त मङ्गल-  
स्वरूप और धार्मिक मनुष्यों को मोक्ष सुख देनेहारा है, उसको हमारा  
वारंवार नमस्कार हो ॥ इति सन्ध्योपासनविधिः ॥

अथाग्निहोत्रसन्ध्योपासनयोः प्रमाणाणि

सायंसायं गृहपतिर्नो अग्निः प्रातःप्रातः सौमनसस्य दाता । ५

वसोर्वसोर्वसुदान एधि वयं त्वेन्धानास्तन्वं पुषेम ॥ १ ॥

प्रातःप्रातःगृहपतिर्नो अग्निः सायंसायं सौमनसस्य दाता ।

वसोर्वसोर्वसुदान एन्धानास्त्वा शतंहिमा ऋधेम ॥ २ ॥

अथर्व कां १९। सू० ५५। मं० ३, ४॥

‘तस्माद् ब्राह्मणोऽहोरात्रस्य संयोगे सन्ध्यामुपास्ते, स ज्योति- १०  
ष्याज्योतिषो दर्शनात् सोऽस्याः कालः सा ‘सन्ध्या’, तत् सन्ध्यायाः  
सन्ध्यात्वम् ॥३॥ षड्विंश ब्रा० प्रपा० ४। खं० ५ ॥३॥

‘उद्यन्तमस्तं यन्तमादित्यमभिधायन् कुर्वन् ब्राह्मणो विद्वान्  
सकलं भद्रमश्नुते ॥४॥ तैत्तिरीय आ० प्रपा० २। अनु० २॥

[पूर्वा सन्ध्यां जपंस्तिष्ठेत् सावित्रीमार्कदर्शनात् ।

पश्चिमां तु समासीनः सम्यगृक्षविभावेनात् ॥५॥

मनु० २।१०।१॥]

न तिष्ठति तु यः पूर्वा नोपास्ते यश्च पश्चिमां ।

स शूद्रवद् बहिष्कार्यः सर्वस्माद् द्विजकर्मणः ॥ ६ ॥

मनु० अ० २। श्लोक १०३ ॥ २०

[भाष्यम्]—(सायंसायं०) । अयं (नः) अस्माकं (गृहपतिः)  
गृहात्मपालको[ऽग्निः] भौतिकः परमेश्वरश्च (प्रातःप्रातः) तथा  
(सायंसायं) च परिचरितस्सूपासितः सन् (सौमनसस्य दाता)  
आरोग्यस्यानन्दस्य च दाता भवति, तथा (वसोर्व०) उत्तमोत्तम-  
पदार्थस्य च । अत एव परमेश्वरः (वसुदानः) वसुप्रदातास्ति । हे २५  
परमेश्वर ! एवंभूतस्त्वमस्माकं राज्यादिव्यवहारे हृदये च (एधि)  
प्राप्तो भव । तथा भौतिकोऽप्यग्निरत्र ग्राह्यः(वयं त्वे०) हे परमेश्वर !  
एवं ( त्वा ) त्वाम्(इन्धानाः) प्रकाशयितारस्सन्तो वयं(तन्वं ) शरीरं



(पुषेम)पुष्टं कुर्यामि' । तथाऽग्निहोत्रादिकर्मणा भौतिकमग्निमिन्धानाः प्रदीपयितारः सन्तः सर्वे वयं पुष्येम ॥१॥'

(प्रातःप्रातर्गृहपतिर्नो०) - अस्यार्थः पूर्ववद् विज्ञेयः । परन्त्वयं विशेषः - वयमग्निहोत्रमीश्वरोपासनं च कुर्वन्तः सन्तः (शतंहिमाः) शतं हिमा हेमन्तर्तवो गच्छन्ति येषु संवत्सरेषु ते शतंहिमा यावत् स्युस्तावत् (ऋधेम) वद्धेमहि । एवं कृतेन कर्मणा (नः) अस्माकं नैव कदाचिद्धानिर्भवेदितिच्छामः ॥२॥

भाषार्थ — (सायंसायम्०) यह हमारा गृहपति अर्थात् घर और आत्मा का रक्षक भौतिक अग्नि और परमेश्वर प्रतिदिन प्रातःकाल १० और सायंकाल श्रेष्ठ उपासना को प्राप्त होके (सौमनसस्य दाता) जैसे आरोग्य और आनन्द का देनेवाला है, उसी प्रकार उत्तम से उत्तम वस्तु का देनेवाला है । उसी से परमेश्वर (वसुदानः) वसु अर्थात् धन का देनेवाला प्रसिद्ध है । हे परमेश्वर ! इस प्रकार आप हमारे राज्य आदि व्यवहार और चित्त में [(एधि)] प्रकाशित रहिये । तथा १५ इस मन्त्र में अग्निहोत्र आदि करने के लिये भौतिक अग्नि भी ग्रहण करने योग्य है । (वयं त्वेन्धानाः) हे परमेश्वर ! पूर्वोक्त प्रकार से हम आप को प्रकाशित करते हुए अपने शरीर को (पुषेम) पुष्ट करें । इसी [प्रकार आग्निहोत्रादि कर्म से] भौतिक अग्नि को

१. वयमुद्रितेषु १-१२ संस्करणेषु 'कुर्यामहि' पाठ उपलभ्यते । परन्तु २० यत एतौ मन्त्रौ तद्भाष्यं चात्र संगृहीतं, तत्र ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकायां 'कुर्याम' इत्येव पाठ उपलभ्यते । अतोऽस्माभिरत्र स एव पाठो धृतः । यथाऽत्र 'कुर्यामहि' प्रयोगस्तथा ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकायां (पृष्ठ २४१, पं० ११, १४ रालाकट्टसं०) द्विःकृत्वा 'कुर्याविहि' प्रयोग उपलभ्यते । यद्यप्याधुनिकानां वैयाकरणानां मते 'कुर्यामहि' इत्यस्य स्थाने 'कुर्याम' 'कुर्वीमहि' वा प्रयोगेण २५ भाव्यम्, तथैव 'कुर्याविहि' इत्यस्य स्थाने 'कुर्याव' 'कुर्वीविहि' वा प्रयोगेण । परन्तु वयं 'कुर्यामहि' 'कुर्याविहि' प्रयोगावपि साधू इति मन्यामहे । कथं चैतो प्रयोगी साधू इत्याकाङ्क्षायाम् ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकाया अस्मदीये संस्करणे द्वितीयं परिशिष्टं (पृष्ठ ४२८, ४२९) द्रष्टव्यम् ।

२. वयमुद्रितेषु १-१२ संस्करणेषु अत्र '॥३॥' संख्या, उत्तरमन्त्रव्याख्यानां ३० ख्यानान्ते च '॥४॥ संख्या दृश्यते । अस्या अशुद्धेः कारणम् अस्य ग्रन्थस्यैतिहासिकविवरणे (पुरस्तान्मुद्रिते) द्रष्टव्यम् ।



प्रज्वलित करते हुये [ हम ] सब संसार की पुष्टि करके पुष्ट हों ॥ १ ॥

(प्रातःप्रातर्गृहपतिर्नो०) इस मन्त्र का अर्थ पूर्व मन्त्र के तुल्य जानो । परन्तु यह विशेष है कि अग्निहोत्र और ईश्वर की उपासना करते हुए हम लोग (शतंहिमाः) सौ हेमन्त ऋतु बीत जायं जिन ५ वर्षों में अर्थात् सौ वर्ष पर्यन्त (ऋधेम) धनादि पदार्थों से वृद्धि को प्राप्त होते रहें । और पूर्वोक्त प्रकार से अग्निहोत्रादि कर्म करके हमारी हानि कभी न हो, ऐसी इच्छा करते हैं ॥२॥

(तस्माद् ब्राह्मणो०) ब्रह्म का उपासक मनुष्य रात्रि और दिवस के सन्धि-समय में नित्य उपासना करे । जो प्रकाश और अप्रकाश का १० संयोग है, वही सन्ध्या का काल जानना । और उस समय में सन्ध्योपासन की ध्यानक्रिया करनी होती है, वही 'सन्ध्या' है । और जो एक ईश्वर को छोड़के दूसरे की उपासना न करनी, तथा सन्ध्योपासन कभी न छोड़ देना, इसी को 'सन्ध्योपासन' कहते हैं ॥३॥

(उद्यन्तमस्तं यन्त०) जब सूर्य के उदय और अस्त का समय १५ आवे, उसमें नित्य प्रकाशस्वरूप आदित्य=परमेश्वर की उपासना करता हुआ ब्रह्मोपासक ही मनुष्य सम्पूर्ण सुख को प्राप्त होता है ।

१. (क) उप त्वाग्ने दिवेदिवे दोषावस्तत्रिया वयम् ।

नमो भरन्त एमसि ॥ ऋ० १ । १ । ७ ॥

अर्थ—हे (अग्ने) ईश्वर ! (दिवेदिवे) प्रतिदिन (दोषावस्तः) सायंप्रातः २० [वस्त इत्यहर्वाचीति स्वाभिदयानन्दः । सायणोऽपि—सम्पादकः] (धिया) भक्ति से (नमः) नमस्कार (भरन्तः) करते हुए, (वयम्) हम (उप त्वा) आपके समीप, आपकी शरण में (आ इमसि) आते हैं ॥

(ख) 'यत् सायं च प्रातश्च सन्ध्यामुपास्ते ।' षड्वि० ब्रा० ४ । ५ ॥

(ग) 'ब्रह्मवादिनो वदन्ति कस्माद् ब्राह्मणः सायमासीनः सन्ध्या- २५ मुपास्ते कस्मात् प्रातस्तिष्ठन्' ॥ षड्वि० ब्रा० ४।५॥

ऊपर के तथा इन प्रमाणों से स्पष्ट सिद्ध है कि सन्ध्या दो काल ही होती है । यदि कोई सज्जन अधिक करना चाहें, तो उनके लिये तो "शम्या-सनस्थोऽथ पथि व्रजन् वा" सोता-जागता उठता-बैठता चलता-फिरता प्रभु का चिन्तन करे, इससे अच्छा और क्या है ॥ (सम्पा०)



इससे सब मनुष्यों को उचित है कि दो समय परमेश्वर की नित्य उपासना किया करें ॥४॥

इसमें 'मनुस्मृति' की भी साक्ष्य है कि दो घड़ी रात्रि से लेके सूर्योदय पर्यन्त प्रातः सन्ध्या, और सूर्यास्त से लेकर तारों के दर्शन ५ पर्यन्त सायंकाल में सविता अर्थात् सब जगत् की उत्पत्ति करनेवाले परमेश्वर की उपासना गायत्र्यादि मन्त्रों के अर्थ विचारपूर्वक नित्य करें ॥५॥

(न तिष्ठति तु०) जो मनुष्य नित्य प्रातः और सायं सन्ध्यो-पासना को नहीं करता, उसको शूद्र के समान समझकर द्विजकुल १० से अलग करके शूद्रकुल<sup>१</sup> में रख देना चाहिये, वह सेवा-कर्म किया करे। और उसके विद्या का चिह्न यज्ञोपवीत भी न रखना चाहिये। इससे सब मनुष्यों को उचित है कि सब कामों से इस काम को मुख्य जानकर पूर्वोक्त दो समयों में जगदीश्वर की उपासना करते रहें ॥६॥ इत्यग्निहोत्रसन्ध्योपासनप्रमाणानि ॥

१५

इति प्रथमो ब्रह्मयज्ञः समाप्तः ॥

## २-अथ द्वितीयोऽग्निहोत्रो<sup>१</sup> देवयज्ञः प्रोच्यते

उसका आचरण इस प्रकार से करना चाहिये कि 'सन्ध्योपासन' करने के पश्चात् अग्निहोत्र का समय है। उसके लिये सोना चांदी तांबा लोहा वा मिट्टी का कुण्ड बनवा लेना चाहिये, जिसका परिमाण २० सोलह अङ्गुल चौड़ा, सोलह अङ्गुल गहिरा और उसका तला चार अङ्गुल का लम्बा-चौड़ा रहे। एक चमसा जिसकी डण्डी सोलह अङ्गुल और उसके अग्रभाग में अंगूठी की यवरेखा के प्रमाण से लम्बा-चौड़ा आचमनी के समान बनवा लेवे। सो भी सोना चांदी व पला-शादि लकड़ी का हो। एक आज्यस्थाली अर्थात् घृतादि सामग्री रखने

२५

१. सायं प्रातः सदा सन्ध्यां ये विप्रा नो उपासते ।

कामं तान् धार्मिको राजा शूद्रकर्मसु योजयेत् ॥

बौ० ध० सू० २।४।२० । (सं०)

२. अग्निहोत्रशब्दः प्रायेण नपुंसकलिङ्गः । क्वचित् पुल्लिङ्गेऽपि प्रयुज्यते । तथाहि—'एतेनाग्निहोत्रो व्याख्यातो ।' शा० श्रौत० १।४।३।१५॥



का पात्र सोना-चांदी वा पूर्वोक्त लकड़ी का बनवा लेवे । एक जल का पात्र तथा एक चिमटा और पलाशादि की लकड़ी समिधा के लिये रख लेवे ।

पुनः घृत को गर्मकर छान लेवे । और एक सेर घी में एक रस्ती कस्तूरी, एक माशा केशर पीसके मिलाकर उक्त पात्र के तुल्य ५ दूसरे पात्र में रख छोड़ें । जब अग्निहोत्र करे, तब शुद्ध स्थान में बैठकर पूर्वोक्त सामग्री पास रख लेवे । जल के पात्र में जल और घी के पात्र में एक छटांक वा अधिक जितना सामर्थ्य हो, उतने शोधे हुये घी को निकालकर अग्नि में तपाके सामने रख लेवे । तथा चमचे को भी रख लेवे ।

१०

पुनः उन्हीं पलाशादि वा चन्दनादि [की] लकड़ियों को वेदी में रखकर उन में आगी धरके पंखे से प्रदीप्त कर, नीचे लिखे मन्त्रों में से एक-एक मन्त्र से एक-एक आहुति देता जाये, प्रातःकाल वा सायंकाल में । अथवा एक समय में करे, तो सब मन्त्रों से सब आहुति किया करे ।

अथाग्निहोत्रहोमकरणार्थं मन्त्राः

१५

[ओं] सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः स्वाहा ॥१॥

[ओं] सूर्यो वचो ज्योतिर्वचः स्वाहा ॥२॥

[ओं] ज्योतिः सूर्यः सूर्यो ज्योतिः स्वाहा ॥३॥

[ओं] सृजूर्देवेन सवित्रा सृजूरुषसेन्द्रवत्या ।

जुषाणः सूर्यो वेतु स्वाहा ॥४॥

२०

एते चत्वारो मन्त्राः प्रातःकालस्य सन्तीति बोध्यम् ।

[ओम्] अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा ॥१॥

[ओम्] अग्निर्वचो ज्योतिर्वचः स्वाहा ॥२॥

[ओम्] अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा ॥३॥

‘अग्निर्ज्योतिरिति मन्त्रं मनसोच्चार्य तृतीयाहुतिर्देया ।

२५

[ओं] सृजूर्देवेन सवित्रा सृजू रात्र्येन्द्रवत्या ।

जुषाणोऽग्निर्वेतु स्वाहा ॥४॥ य० अ० ३ । मं० ६, १० ॥

एते [चत्वारः] सायंकालस्य मन्त्राः सन्तीति वेदितव्यम् ।



अथोभयोः कालयोरग्निहोत्रे होमकरणार्थास्समाना मन्त्राः

ओं भूर्गनये प्राणाय स्वाहा ॥ [इदमग्नये प्राणाय—इदं न मम] ॥१॥

ओं भुवर्वायवेऽपानाय स्वाहा ॥ [इदं वायवेऽपानाय—इदं ५ न मम] ॥२॥

ओं स्वरादित्याय व्यानाय स्वाहा ॥ [इदमादित्याय व्यानाय—इदं न मम] ॥३॥

ओं भूर्भुवः स्वरग्निवाय्वादित्येभ्यः प्राणापानव्यानेभ्यः स्वाहा ॥ [इदमग्निवाय्वादित्येभ्यः प्राणापानव्यानेभ्यः—इदं न १० मम] ॥४॥

ओं आपो ज्योती रसोऽमृतं ब्रह्म भूर्भुवः स्वरां स्वाहा ॥५॥

ओं सर्वं वै पूर्णं ५ स्वाहा ॥

भाष्यम्—(सूर्यो०) यश्चराचरात्मा ज्योतिषां प्रकाशकानामपि १५ ज्योतिः प्रकाशकः सर्वप्राणः परमेश्वरोऽस्ति, तस्मै स्वाहाऽर्थात् तदाज्ञापालनार्थं सर्वजगदुपकारायैकामाहुतिं ददम् ॥१॥

(सूर्यो व०) यो वर्चः सर्वविद् यो ज्योतिषां ज्ञानवतां जीवानामपि वर्चोऽन्तर्यामितया सत्योपदेष्टा सर्वात्मा सूर्यः परमेश्वरोऽस्ति, तस्मै० ॥२॥

१० (ज्योतिः सूर्यो०) यः स्वयंप्रकाशः सर्वजगत्प्रकाशकः सूर्यो जगदीश्वरोऽस्ति, तस्मै० ॥३॥

(सजू०) यो देवेन द्योतकेन सवित्रा सूर्यलोकेन जीवेन च सह, तथा (इन्द्रवत्या) सूर्यप्रकाशवत्योषसाऽथवा जीववत्या मानसवृत्या (सजू) यह वर्त्तमानः परमेश्वरोऽस्ति, सः (जुषाणः) संप्रीत्या २५ वर्त्तमानः सन् (सूर्यः) सर्वात्मा कृपाकटाक्षेणास्मान् (त्रेतु) विद्यादि-सद्गुणेषु ज्ञातविज्ञानान् करोतु । तस्मै० ॥४॥

इमाश्चतस्र आहुतीः प्रातरग्निहोत्रे कुर्वन्तु ।



अथ सायंकालाहुतयः—(अग्नि०) योऽग्निज्ञानस्वरूपो ज्ञान-  
प्रदश्च ज्योतिषां ज्योतिः परमेश्वरोऽस्ति, तस्मै० ॥१॥

(अग्निर्वर्चो०) यः पूर्वोक्तोऽग्निरनन्तविद्य आत्मप्रकाशकः सर्व-  
पदार्थप्रकाशकश्च सूर्यादिद्योतकोऽस्ति, तस्मै० ॥२॥

(अग्निर्ज्योति०) इत्यनेनैव तृतीयाहुतिर्देया । तदर्थश्च पूर्ववत् ॥३॥ ५

(सजूर्दे०) यः पूर्वोक्तेन देवेन सवित्रा सह परमेश्वरः सजूर्नस्ति,  
यश्चेन्द्रवत्या वायुचन्द्रवत्या रात्र्या सह सजूर्वर्त्तते, सोऽग्निः (जुषाणः)  
संप्रीतोऽस्मान् (वेतु) नित्यानन्दमोक्षसुखाय स्वकृपया कामयतु । तस्मै  
जगदीश्वराय स्वाहेति पूर्ववत् ॥४॥

एताभिः सायंकालेऽग्निहोत्रिणो जुह्वति । एकस्मिन् काले १०  
सर्वाभिर्वा ॥

(ओं भूर०) एतानि सर्वाणीश्वरनामान्येव वेद्यानि । एतेषामर्था  
गायत्र्यर्थे द्रष्टव्याः ॥१-४॥

(आपो०) यः प्राणः परमेश्वरस्तं ज्योतिः प्रकाशस्वरूपं, रसं  
नित्यानन्दं अमृतं मोक्षस्वरूपं ब्रह्म प्राप्य त्रिषु लोकेष्वानन्देन १५  
विचरेत् ॥५॥

(सर्वं वै०) हे जगदीश्वर ! यदिदमस्माभिः परोपकारार्थं कर्म  
क्रियते, [तद्] भवत्कृपया परोपकारायालं भवत्विति । एतदर्थमेतत्कर्म  
तुभ्यं समर्प्यते ॥

एवं प्रातःसायं सन्ध्योपासनकरणानन्तरमेतैर्मन्त्रैर्होमं कृत्वा अग्रे २०  
यावदिच्छा तावद् गायत्रीमन्त्रेण स्वाहान्तेन होमं कुर्यात् । अग्नये  
परमेश्वराय जलवायुशुद्धिकरणाय च [ईश्वराज्ञापालनार्थं वा] होत्रं  
हवनं यस्मिन् कर्मणि क्रियते तद् 'अग्निहोत्रम्' ।

सुगन्धिपुष्टिमिष्टबुद्धिवृद्धिशौर्यधैर्यबलरोगनाशकैर्गुणैर्युक्तानां  
द्रव्याणां होमकरणेन वायुवृष्टिजलयोः शुद्ध्या पृथिवीस्थपदार्थानां २५  
सर्वेषां शुद्धवायुजलयोगादत्यन्तोत्तमतया सर्वेषां जीवानां परमसुखं  
भवत्येव । अतस्तत्कर्मकर्तृणां जनानां तदुपकारतयाऽत्यन्तसुखलाभो  
भवतीश्वरप्रसन्नता चेत्येतदाद्यर्थमग्निहोत्रकरणम् ॥

भाषार्थ—(सूर्यो ज्यो०) जो चराचर का आत्मा, प्रकाशस्वरूप,  
और सूर्यादि का प्रकाशक, और अन्य लोकों का भी प्रकाशक है, ३०  
उसकी प्रसन्नता के लिये हम लोग होम करते हैं ॥१॥



(सूर्यो व०) जो सूर्य परमेश्वर हमको सब विद्याओं का देने-  
वाला, और हम लोगों से उनका प्रचार करानेवाला है, उनी के  
अनुग्रह से हम लोग अग्निहोत्र करते हैं ॥२॥

(ज्योतिः सूर्यः) जो आप प्रकाशमान और जगत् का प्रकाश  
करनेवाला सूर्य अर्थात् सब संसार का ईश्वर है, उसकी प्रसन्नता के  
अर्थ हम लोग होम करते हैं ॥३॥

(सज्जदेवेन०) जो परमेश्वर सूर्यादि लोकों में व्यापक, वायु  
और दिन के साथ परिपूर्ण, सब पर प्रीति करनेवाला, और सब के  
अङ्ग-अङ्ग में व्याप्त है, वह अग्नि=परमेश्वर हम को विदित हो,  
१० उसके अर्थ हम होम करते हैं ॥४॥

इन चार आहुतियों को प्रातःकाल अग्निहोत्र में करना चाहिये ।

(अग्निज्योति०) अग्नि जो परमेश्वर ज्योतिःस्वरूप है, उस  
की आज्ञा से हम परोपकार के लिये होम करते हैं । और उसका  
रचा हुआ जो यह भौतिक अग्नि है, जिस में द्रव्य डालते हैं, सो  
१५ इसलिये है कि उन द्रव्यों को परमाणु करके जल वायु और वृष्टि  
के साथ मिलाके उनको शुद्ध कर दे । जिससे सब संसार सुखी होके  
पुरुषार्थी हो ॥१॥

(अग्निर्वर्चो०) अग्नि जो परमेश्वर 'वर्चः' अर्थात् सब विद्याओं  
का देनेवाला, तथा भौतिक अग्नि आरोग्य और बुद्धि बढ़ाने का  
२० हेतु है । इसलिये हम लोग होम करके परमेश्वर को प्रार्थना करते  
हैं । यह दूसरी आहुति हुई ॥२॥

तासरा आहुति प्रथम मन्त्र से शौन करके करनी चाहिये ॥३॥

और चौथी (सज्जदेवेन०) जो परमेश्वर प्राणादि में व्यापक,  
वायु और रात्रि के साथ पूण, सब पर प्रीति करनेवाला, और सब  
२५ के अङ्ग-अङ्ग में व्याप्त है, वह अग्नि परमेश्वर हम को प्राप्त हो ।  
जिसके लिये हम होम करते हैं ॥४॥

[इन चार आहुतियों का सायंकाल अग्निहोत्र में करना  
चाहिये । अथवा एक समय में आठों से ।]



अब जिन मन्त्रों से दोनों समय में होम किया जाता है, उनको लिखते हैं—(आं भू०) इन मन्त्रों में जो-जो नाम हैं, वे सब ईश्वर के ही जानो। उनके अर्थ गायत्री मन्त्र के अर्थ में देखने योग्य हैं ॥१-४॥

और (आपो०) 'आपः' जो प्राण=परमेश्वर के प्रकाश को प्राप्त होकर रस अर्थात् नित्यानन्द मोक्षस्वरूप है, उस ब्रह्म को प्राप्त होकर तीनों लोकों में हम लोग आनन्द से विचरें ॥५॥

[ (सर्व वे) हे जगदीश्वर ! हम परोपकार के लिये जिस कर्म को करते हैं, वह कर्म आपकी कृपा से परोपकार के लिये समर्थ हो। इसलिये यह कर्म आपके समर्पण है ॥ ]

१०

इस प्रकार प्रातः और सायंकाल सन्ध्योपासना के पीछे इन पूर्वोक्त मन्त्रों से होम करके, अधिक होम करने की जहां तक इच्छा हो, वहां तक स्वाहा अन्त में पढ़कर 'गायत्री' मन्त्र से होम करें। अग्नि वा परमेश्वर के लिये, जल और पवन की शुद्धि, वा ईश्वर की आज्ञापालन के अर्थ होत्र जो हवन अर्थात् दान करते हैं, उसे 'अग्नि-होत्र' कहते हैं। १५

केशर कस्तूरी आदि सुगन्ध, घृत दुग्ध आदि पुष्ट, गुड, शर्करा आदि मिष्ट, तथा सोमलतादि ओषधी रोगनाशक, जो ये चार प्रकार के वृद्धि-वृद्धि शूरता धीरता बल और आरोग्य करने वाले गुणों से युक्त पदार्थ हैं, उनका होम करने से पवन और वर्षा जल की शुद्धि करके शुद्ध पवन और जल के योग से पृथिवी के सब पदार्थों की जो अत्यन्त उत्तमता होती है, उसमें सब जीवों को परम सुख होता है। इस कारण उस अग्निहोत्र कर्म करनेवाले मनुष्यों को भी जीवों के उपकार करने से अत्यन्त सुख का लाभ होता है। तथा ईश्वर भी उन मनुष्यों पर प्रसन्न होता है। ऐसे-ऐसे प्रयोजनों के अर्थ अग्निहोत्रादि का करना अत्यन्त उचित है ॥ २५

इत्यग्निहोत्रविधिः समाप्तः ॥



## ३-अथ तृतीयः पितृयज्ञः

तस्य द्वौ भेदौ स्तः । एकस्तर्पणाख्यो, द्वितीयः श्राद्धाख्यश्च । तत्र येन कर्मणा विदुषो देवानृषीन् पितॄंश्च तर्पयन्ति सुखयन्ति, तत् 'तर्पणम्' । तथा यत्तोषां श्रद्धया सेवनं क्रियते तत् 'श्राद्धम्' वेदित-  
५ व्यम् । तदेतत् कर्म विद्वत्सु विद्यमानेष्वेव घटते, नैव मृतकेषु । कुतः ? तेषां सन्निकर्षाभावेन सेवनाशक्यत्वात् । मृतकोद्देशेन यत् क्रियते, नैव तेभ्यस्तत् प्राप्तं भवतीति व्यर्थापत्तोश्च । तस्माद्विद्यमानाभिप्रायेण एतत् कर्मोपदिश्यते ।

सेव्यसेवकसन्निकर्षात् सर्वमेतत् कर्तुं शक्यत इति । तत्र  
१० सत्कर्तव्यास्त्रयः सन्ति—देवाः ऋषयः पितरश्च । तत्र देवेषु प्रमाणम्—

पुनन्तु मा देवजनाः पुनन्तु मनसा धियः ।

पुनन्तु विश्वा भूतानि जातवेदः पुनीहि मां ॥१॥

य० अ० १६ । मं० ३६ ॥

१५ द्वयं वाऽइदं, न तृतीयमस्ति, सत्यं चैवानृतं च । सत्यमेव देवा अनृतं मनुष्याः, इदमहमनृतात् सत्यमुपैमीति तन्मनुष्येभ्यो देवानुपैति ॥२॥

स वै सत्यमेव वदेत् । एतद्ध वै देवा व्रतं चरन्ति यत्सत्यं, तस्मात्तं यशो यशो ह भवति य एवं विद्वान्तसत्यं वदति ॥३॥

२० शत० कां १ । अ० १ । ब्रा० १ । कं० ४-५ ॥

विद्वांसो हि देवाः ॥४॥ श० कां ३ । अ० ७ । ब्रा० ६ ।

क० १० ॥

भाष्यम्—(पुनन्तु०) । हे (जातवेदः) परमेश्वर ! (मा) मां (पुनीहि) सर्वथा पवित्रं कुरु । भवन्निष्ठा भवदाज्ञापालिनो (देवजनाः) २५ विद्वांसः श्रेष्ठा ज्ञानिनो विद्यादानेन (मा) मां (पुनन्तु) पवित्रं कुर्वन्तु । तथा (पुनन्तु मनसा धियः) भवद्भक्तविज्ञानेन भवद्विषय-  
ध्यानेन वा नो बुद्धयः पुनन्तु पवित्रा भवन्तु । (पुनन्तु विश्वा भूतानि) विश्वानि सर्वाणि संसारस्थानि भूतानि पुनन्तु भवत्कृपया पवित्राणि सुखानन्दयुक्तानि भवन्तु ॥१॥



(द्वयं वा०) मनुष्याणां द्वाभ्यां लक्षणाभ्यां द्वे एव संज्ञे भवतः—  
 देवाः मनुष्याश्चेति । तत्र सत्यं चैवानृतं च कारणे स्तः ।  
 (सत्यमेव०) यत्सत्यवचनं सत्यमानं सत्यं कर्मेतद् देवानां लक्षणं भवति ।  
 तथैतदनृतं वचनमनृतं मानमनृतं कर्म चेति मनुष्याणाम् । योऽनृतात्  
 पृथग्भूत्वा सत्यमुपेयात्, स देवजातौ परिगण्यते । यश्च सत्यात् ५  
 पृथग्भूत्वाऽनृतमुपेयात्, स मनुष्यसंज्ञां लभते ॥२॥

तस्मात् सत्यमेव सर्वदा वदेन्मन्येत कुर्याच्च । यत् सत्यं व्रत-  
 मस्ति, तदेव देवा आचरन्ति । स यशस्विनां मध्ये यशस्वीति देवो  
 भवति, तद्विपरीतो मनुष्यश्च । तस्मादत्र विद्वांस एव देवाः  
 सन्तीति ॥३-४॥

१०

भाषार्थ अब तीसरा 'पितृयज्ञ' कहते हैं । उसके दो भेद हैं—  
 एक 'तर्पण' और दूसरा 'श्राद्ध' । 'तर्पण' उसे कहते हैं, जिस  
 कर्म से विद्वान् रूप देव ऋषि और पितरों को सुखयुक्त करते हैं ।  
 उसी प्रकार जो उन लोगों का श्रद्धा से सेवन करना है, सो 'श्राद्ध'  
 कहाता है । यह तर्पण आदि कर्म विद्यमान अर्थात् जो प्रत्यक्ष हैं १५  
 उन्हीं में घटता है, मृतकों में नहीं । क्योंकि उनकी प्राप्ति और  
 उनका प्रत्यक्ष होना दुर्लभ है । इसी से उनकी सेवा भी किसी प्रकार  
 से नहीं हो सकती । किन्तु जो उनका नाम लेकर देवे, वह पदार्थ  
 उनको कभी नहीं मिल सकता । इसलिये मृतकों को सुख पहुँचाना  
 सर्वथा असंभव है । इसी कारण विद्यमानों के अभिप्राय से 'तर्पण' २०  
 और 'श्राद्ध' वेद में कहा है ।

सेवा करने योग्य और सेवक अर्थात् सेवा करनेवाले इनके  
 प्रत्यक्ष होने पर यह सब काम हो सकता है । तर्पण आदि कर्म में  
 सत्कार करने योग्य तीन हैं—'देव ऋषि और पितर' । उनमें से  
 देवों में प्रमाण—(पुनन्तु०) ।

२५

[ ( जातवेदः पुनीहि मा ) ] हे जातवेद परमेश्वर ! आप सब  
 प्रकार मुझको पवित्र करें । [ (पुनन्तु मा देवजनाः) ] जिनका चित्त  
 आप में है, तथा जो आपकी आज्ञा पालते हैं, वे विद्वान् श्रेष्ठ ज्ञानी  
 पुरुष भी विद्यादान से मुझको पवित्र करें । [ (पुनन्तु मनसा धियः) ]  
 उसी प्रकार आप का दिया जो विशेष ज्ञान वा आपके विषय का ३०  
 ध्यान, उससे हमारी बुद्धि पवित्र हो । (पुनन्तु विश्वा भूतानि) और  
 संसार के सब जीव आपकी कृपा से पवित्र और आनन्दयुक्त हों ॥१॥



(द्वयं वा०) दो लक्षणों से मनुष्यों की दो संज्ञा होती हैं—  
अर्थात् देव और मनुष्य । वहां सत्य और भूठ दो कारण हैं ।  
(सत्यमेव०) जो सत्य बोलने, सत्य मानने, और सत्य कर्म करनेवाले  
हैं वे 'देव', और वैसे ही भूठ बोलने, भूठ मानने और भूठ कर्म  
५ करनेवाले 'मनुष्य' कहाते हैं । जो भूठ से अलग होके सत्य को प्राप्त  
होवें, वे देवजाति में गिने जाते हैं । और जो सत्य से अलग होके  
भूठ को प्राप्त हों, वे मनुष्य असुर और राक्षस कहे हैं ॥ २ ॥

[ (स वै सत्यं०) ] इससे सब काल में सत्य ही कहे माने और करे ।  
सत्यव्रत का आचरण करनेवाला मनुष्य यशस्विनों में यशस्वी होने से  
१० देव, और उससे उलटे कर्म करनेवाला 'असुर' होता है । [ (विद्वांसो०) ]  
इस कारण से यहां विद्वान् ही 'देव' हैं ॥ ३-४ ॥

### अर्थषिषु प्रमाणम्

तं यज्ञं वर्हिषि प्रौक्षन् पुरुषं ज्ञातमग्रतः ।

तेन देवा अयजन्त साध्या ऋषयश्च ये ॥ १ ॥

१५

य० अ० ३१ । मं० ६ ॥

'अथ यदेवानुब्रवीत् । तेन षिभ्य ऋणं जायते, तद्धयेभ्य एतत्  
करोत्यृषीणां निधिगोप इति ह्यनूचानमाहुः' ॥ २ ॥

शत० का० १ । अ० ७ । ब्रा० २ । कं० ३ ॥

'अथार्षेयं प्रवृणीते । ऋषिभ्यश्चैवैनमेतद् देवेभ्यश्च निवेदयत्ययं  
२० महावीर्यो यो यज्ञं प्रापदिति, तस्मादार्षेयं प्रवृणीते' ॥ ३ ॥

शत० कां० १ । अ० ४ । ब्रा० २ । कं० ३ ॥

भाष्यम्—(तं यज्ञम्) इति मन्त्रः सष्टिविद्याविषये व्याख्यातः ॥ १ ॥

(अथ यदेवा०) अथेत्यनन्तरं यत्सर्वविद्यां पठित्वानुवचनमध्या-  
पनं कर्मास्ति तदृषिकृत्यमस्ति । तेनाध्ययनाध्यापनकर्मण षिभ्यो  
२५ देयमृणं जायते । यत्तेषामृषीणां सेवनं करोति, तदेतेभ्य एव सुखकारी  
भवति । यः सर्वविद्याविद् भूत्वाध्यापयति तमनूचानमृषिमाहुः ॥ २ ॥

[ (अथार्षेयं प्रवृणीते०) ] यो मनुष्यः पठित्वा पाठनाख्यं कर्म  
प्रवृणीते, तदार्षेयं कर्मास्ति । य एवं कुर्वन्ति, तेभ्य ऋषिभ्यो देवेभ्य-

१. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकायामिति शेषः । पृष्ठ १३८-१३९ रा. ला.

३० क. ट. प्रथमसंस्करणम् ॥



श्चैतत्प्रियकरं वस्तुसेवनं च निवेदयति, सोऽयं विद्वान् महावीर्यो भूत्वा यज्ञं विज्ञानाख्यं (प्रापत्) प्राप्नोति । ते चैनं विद्यार्थिनं विद्वांसं कुट्युः । यश्च विद्वानस्ति यश्चापि विद्यां गृह्णाति, स ऋषिसंज्ञां लभते । तस्मादिदमार्षेयं कर्म सर्वे मनुष्यैः स्वीकार्यम् ॥३॥

भाषार्थ—(तं यज्ञं०) इस मन्त्र का अर्थ भूमिका के 'सृष्टि- विद्याविषय' में कह दिया है ॥१॥

[अथ यदेवा०] अब इसके अनन्तर सब विद्याओं को पढ़के जो पढ़ाना है, वह 'ऋषिकर्म' कहाता है । उस पढ़ने और पढ़ाने से ऋषियों का ऋण अर्थात् उनको उत्तम-उत्तम पदार्थ देने से निवृत्त होता है । और जो इन ऋषियों की सेवा करता है, वह उनको सुखी करनेवाला होता है । (निधिगोपः) वही व्यवहार [निधि] अर्थात् विद्याकोष की रक्षा करनेवाला होता है । जो सब विद्याओं की जान-कर सब को पढ़ाता है, उसको 'ऋषि' कहते हैं ॥२॥

(अथार्षेयं प्रवृणीते०) जो पढ़ने-पढ़ाने के लिये विद्यार्थियों को स्वीकार करना है, सो 'आर्षेय' अर्थात् ऋषियों का कर्म कहाता है । जो उस कर्म को करते हैं, [उन] ऋषियों और देवों के लिये प्रसन्न करने-वाले पदार्थों का [जो] निवेदन तथा सेवा करता है, वह विद्वान् अति-पराक्रमी होके विशेष ज्ञान को प्राप्त होता है । जो विद्वान् और विद्या को ग्रहण करनेवाला है, उसका 'ऋषि' नाम होता है । इस कारण से इस आर्षेय कर्म को सब मनुष्य स्वीकार करें ॥३॥

अथ पितृषु प्रमाणम्

ऊर्जे वहन्तीरमृतं घृतं पर्यः क्रीलालं परिस्रुतम् ।

स्वधा स्थं तर्पयत मे पितृन् ॥ यजु० अ० २ । मं० ३४ ॥

भाष्यम्—(ऊर्जे वहन्ती०) । [(तर्पयत मे पितृन्)] ईश्वरः सर्वान् प्रत्याज्ञां ददाति—सर्वे मनुष्या एवं जानीयुर्वदेयुश्चाज्ञापयेयुरिति । मे पितृन् मम पितृपितामहादीन् आचार्यादींश्च यूयं सर्वे मनुष्याः तर्पयत सेवया प्रसन्नान् कुरुत । तथा (स्वधा स्थं) सत्य-

१. यहां भूमिका शब्द से 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' (रा० ला० क० ६० प्रथमसंस्करण, पृ० १३६ समझना चाहिये । यह भाग भूमिका में आये 'पञ्चमहायज्ञ-विषय' अंश में ही कुछ न्यूनाधिक्य करके यहां रखा है ।



विद्याभक्तिस्वपदार्थधारिणो भवत । केन केन पदार्थेन ते सेवनीया  
इत्याह—(ऊर्जम्) पराक्रमं (वहन्ती) प्रापिकाः सुगन्धिता हृद्या  
अपस्तेभ्यो नित्यं दद्युः । (अमृतम्) अमृतात्मकमनेकविधं रसं (घृतम्)  
आज्यं (पयः) दुग्धं (कीलालम्) अनेकविधसंस्कारैः सम्पादितमन्नं  
५ माक्षिकं मधु च (परिस्तुतम्) कालपक्वं फलादिकं च दत्त्वा पितृन्  
प्रसन्नान् कुर्युः ॥

भाषार्थ—(ऊर्ज वहन्ती०) । पिता वा स्वामी अपने पुत्र-पौत्र  
स्त्री वा नौकरों को सब दिन के लिये आज्ञा देके कहे कि—(तर्पयत  
मे पितृन्) जो [ मेरे ] पिता पितामहादि, माता मातामहादि तथा  
१० आचार्य्य और इनसे भिन्न भी विद्वान् लोग अवस्था अथवा ज्ञान से  
वृद्ध मान करने योग्य हों, उन सब के आत्माओं को यथायोग्य सेवा से  
प्रसन्न किया करो । सेवा करने के पदार्थ ये हैं—(ऊर्ज वहन्तीः)  
जो उत्तम-उत्तम जल (अमृतम्) अनेकविध रस (घृतम्) घी (पयः)  
दूध (कीलालम्) अनेक संस्कारों से सिद्ध किये रोगनाश करनेवाले  
१५ उत्तम-उत्तम अन्न (परिस्तुतम्) सब प्रकार के उत्तम-उत्तम फल हैं,  
इन सब पदार्थों से उनकी सेवा सदा करते रहो । जिससे उनकी  
आत्मा प्रसन्न होके तुम लोगों को आशीर्वाद देती रहे कि उससे  
तुम लोग भी सदा प्रसन्न रहो । (स्वधा स्थ) हे पूर्वोक्त पितृलोगो !  
तुम सब हमारे अमृतरूप पदार्थों के भोगों से सदा सुखी रहो । और  
२० जिस-जिस पदार्थ की तुमको अपने लिये इच्छा हो, जो-जो हम लोग  
कर सकें, उस-उसकी आज्ञा सदा करते रहो । हम लोग मन-वचन-  
कर्म से तुम्हारे सुख करने में स्थित हैं । तुम लोग किसी प्रकार का  
दुःख मत पाओ । जैसे तुम लोगों ने बाल्यावस्था और ब्रह्मचर्याश्रम  
में हम लोगों को सुख दिया है, वैसे हमको भी आप लोगों का  
२५ प्रत्युपकार करना अवश्य चाहिये । जिससे हमको कृतघ्नता दोष  
प्राप्त न हो ॥

अथ पितृणां परिगणनम्

येषां पितृसंज्ञा ये सेवितुं योग्याश्च, ते क्रमशो लिख्यन्ते—

सोमसदः । अग्निष्वात्ताः । बर्हिषदः । सोमपाः ।

हविर्भुजः । आज्यपाः । सुकालिनः । यमराजाश्चेति ॥



**भाष्यम्—**(सो०) सोमे ईश्वरे सोमयागे वा सीदन्ति, ये सोमगुणाश्च ते 'सोमसदः' । (अ०) अग्निरीश्वरः सुष्ठुतया आत्तो गृहीतो यैस्ते 'अग्निष्वात्ताः' । यद्वा—अग्नेर्गुणज्ञानात् पृथिवी-जल-व्योमयानयन्त्ररचनादिका पदार्थविद्या सुष्ठुतया आत्ता गृहीता यैस्ते । (ब०) बर्हिषि सर्वोत्कृष्टे ब्रह्मणि शमदमादिषूतमेषु गुणेषु वा ५ सीदन्ति, ते 'बर्हिषदः' । (सो०) यज्ञेनोत्तममोषधिरसं पिबन्ति पाययन्ति वा, ते 'सोमपाः' । (ह०) हविर्हुतमेव यज्ञेन शोधितं वृष्टि-जलादिकं भोक्तुं भोजयितुं वा शीलमेषां, ते 'हविर्भुजः' । (आ०) आज्यं घृतम्, यद्वा—'अज गतिक्षेपणयोः' धात्वर्थादाज्यं विज्ञानम्, तद्दानेन पान्ति रक्षन्ति पालयन्ति ये विद्वांसस्ते 'आज्यपाः' । (सु०) १० ईश्वरविद्योपदेशकरणस्य ग्रहणस्य च शोभनः कालो येषां ते । यद्वा—ईश्वरज्ञानप्राप्त्या सुखरूपः सदैव कालो येषां, ते 'सुकालिनः' । (यो०) ये पक्षपातं विहाय न्यायव्यवस्थाकर्तारस्सन्ति, ते 'यमराजाः' ॥

**भाषार्थ—**(सो०) जो ईश्वर और सोमयज्ञ में निपुण, और जो शान्त्यादिगुण सहित हैं, वे 'सोमसद्' कहते हैं । १५

(अ०) अग्नि जो परमेश्वर वा भौतिक, उनके गुणज्ञान करके जिनने अच्छे प्रकार अग्निविद्या सिद्ध की है, उनको 'अग्निष्वात्त' कहते हैं ।

(ब०) जो सब से उत्तम परब्रह्म में स्थिर होके, शम दम सत्य विद्यादि उत्तम गुणों में वर्तमान हैं, उनको 'बर्हिषद्' कहते हैं । २०

(सो०) जो यज्ञ करके सोमलतादि उत्तम ओषधियों के रस के पान करने और करानेवाले हैं, तथा जो सोमविद्या को जानते हैं, उनको 'सोमपा' कहते हैं ।

(ह०) जो अग्निहोत्रादि यज्ञ करके वायु और वृष्टिजल क्री शुद्धि द्वारा सब जगत् का उपकार करते, और यज्ञ से अन्न- २५ जलादि को शुद्ध करके खाने-पीनेवाले हैं, उनको 'हविर्भुजः' कहते हैं ।

(आ०) आज्य कहते हैं घृत स्निग्धपदार्थ और विज्ञान को, जो उसके दान से रक्षा करनेवाले हैं, उनको 'आज्यपाः' कहते हैं ।

(सु०) मनुष्य-शरीर को प्राप्त होकर ईश्वर, और सत्यविद्या ३०



के उपदेश [ करने और ग्रहण ] का जिन का श्रेष्ठ समय और सदा उपदेश में ही वर्तमान हैं, उनको 'सुकालिनः' कहते हैं ।

(य०) जो पक्षपात को छोड़के सदा सत्यव्यवस्था न्याय हो करने में रहते हैं, उनको 'यमराज' कहते हैं ॥

५ पितृपितामहप्रपितामहाः । मातृपितामहीप्रपितामह्यः ।  
सगोत्राः । [आचार्यादि]सम्बन्धिनः ॥

भाष्यम्—(पितृ०) ये सुष्ठुतया श्रेष्ठान् विदुषो गुणान् वास-  
यन्तस्तत्र वसन्तश्च विज्ञानाद्यनन्तधनाः स्वान् जनान् धारयन्तः पोष-  
यन्तश्चतुर्विंशतिवर्षपर्यन्तेन ब्रह्मचर्य्येण विद्याभ्यासकारिणः स्वे  
१० जनकाश्च सन्ति, ते 'पितरः' 'वसवः' विज्ञेया, ईश्वरोऽपि । (पिता०)  
ये पक्षपातरहिता दुष्टान् रोदयन्तश्चतुश्चत्वारिंशद्वर्षपर्यन्तेन ब्रह्मचर्य्य  
सेवनेन कृतविद्याभ्यासास्ते 'रुद्राः', स्वे 'पितामहाः' च ग्राह्याः, तथा  
'रुद्रः' ईश्वरोऽपि । (प्रपि०) आदित्यवदुत्तमगुणप्रकाशका विद्वांसोऽष्ट-  
चत्वारिंशद्वर्षेण ब्रह्मचर्य्येण सर्वविद्यासम्पन्नाः सूर्यवद्विद्याप्रकाशकाः,  
१५ स्वे 'प्रपितामहाश्च' ग्राह्याः, तथाऽऽदित्योऽविनाशीश्वरो वात्र गृह्यते ।  
(मा०) पित्रादिसदृश्यो मात्रादयः सेव्याः । (स०) ये स्वसमीपं  
प्राप्ताः पुत्रादयस्ते श्रद्धया पालनीयाः । (आचा० सं०) ये गुर्वीदिसख्य-  
न्तास्सन्ति, ते हि सर्वदा सेवनीयाः ॥

भाषार्थ—(पिता) जो वीर्य के निषेकादिकर्मों को करके  
१० उत्पत्ति और पालन करे, और चौबीस वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचर्याश्रम से  
विद्या को पढ़े, उसका नाम 'पिता' और 'वसु' है । (पितामह) जो  
पिता का पिता हो, और चवालीस वर्ष पर्यन्त [ 'विद्याभ्यास कर  
दुष्टों को खलानेवाला हो, उसका नाम 'पितामह' और 'रुद्र' है ।  
( प्रपितामह ) जो पितामह का पिता, और आदित्य के समान  
१५ उत्तम गुणों का प्रकाशक, अड़तालीस वर्ष पर्यन्त ] ब्रह्मचर्याश्रम  
से विद्या पढ़के सब जगत् का उपकार करता हो, उसको 'प्रपितामह'  
और 'आदित्य' कहते हैं । तथा जो पित्रादिकों के तुल्य पुरुष हैं,  
उनकी भी पित्रादिकों के तुल्य सेवा करनी चाहिये । (मा०) पित्रा-

१. यह कोष्ठान्तर्गत पाठ भाषा में द्रुष्टि प्रतीत होता है, क्योंकि मूल  
३० संस्कृत में है, भाषा में नहीं ॥ सम्पादक



दिकों के समान विद्यास्वभाववाली स्त्रियों की भी अत्यन्त सेवा करनी चाहिये । (सगो०) जो समीपवर्त्ती ज्ञाति के योग्य पुरुष हैं, वे भी सेवा करने के योग्य हैं । (आचार्य्यादिसं०) जो पूर्णविद्या के पढ़ानेवाले और श्वशुरादि सम्बन्धी तथा उनकी स्त्री हैं, उनकी यथायोग्य सेवा करना चाहिये ॥

५

एतेषां विद्यमानानां सोमसदादीनां सुखार्थं प्रीत्या यत्सेवनं क्रियते तत्तर्पणम् । श्रद्धया यत्सेवनं क्रियते तच्छ्राद्धम् । सत्यविज्ञान-दानेन जनान् पान्ति रक्षन्ति, ते 'पितरः' विज्ञेया ।

अत्र प्रमाणानि—

'ये नः पूर्वं पितरः सोम्यासः' । [य० १६।५; ऋ० १०।१५।८] १०  
इत्यादीनि यजुर्वेदस्यैकोनविंशतितमेऽध्याये सप्तसु 'सोमसदादिषु'  
पितृषु द्रष्टव्यानि । तथा—'ये समानाः समनसः पितरो यमराज्ये'  
[य० १६।४६] इत्यादीनि 'यमराज्येषु' । 'पितृभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा  
नमः' [य० १६।३६] इत्यादीनि 'पितृपितामहप्रपितामहादिषु' ।  
एवं 'नमो वः पितरो रसाय' [य० २।३२] इत्यादीनि पितृणां १५  
सत्कारे च ऋग्यजुरादिवचनानि सन्तीति बोध्यम् ।

अन्यच्च—

बभूव वदन्ति वै पितृन् रुद्राश्चैत्र पितामहान् ।

प्रपितामहांश्चादित्यान् श्रुतिरेषा सनातनी ॥६॥

मनु० अ० ३ । श्लोक २८४ ॥ २०

भाषार्थ—जो सोमसदादि पितर विद्यमान अर्थात् जीवते हों, उनको प्रीति से सेवनादि से तृप्त करना 'तर्पण', और श्रद्धा से अत्यन्त प्रीतिपूर्वक सेवन करना है, सो 'श्राद्ध' कहाता है । जो सत्यविज्ञान-दान से जनों को पालन करते हैं, वे 'पितर' हैं ।

इस विषय में प्रमाण—

२५

'ये नः पूर्वं पितरः सोम्यासः' इत्यादि मन्त्र सोमसदादि सातों पितरों में प्रमाण हैं । 'ये समानाः समनसः पितरो यमराज्ये' इत्यादि मन्त्र [यमराज्यों, 'पितृभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः' इत्यादि मन्त्र पितृ, ] पितामह, प्रपितामहादिकों, तथा 'नमो वः पितरो रसाय'

१. यजु० १६।५॥

२. यजु० १६।४६॥

३०

३. यजु० १६।३६॥

४. यजु० २।३२॥



इत्यादि मन्त्र पितरों के सेवा और सत्कार में प्रमाण हैं । ये ऋग्यजुर्वेद आदि के वचन हैं ।

और मनु जी ने भी कहा है कि—पितरों को बसु, पितामहों को रुद्र और प्रपितामहों को आदित्य कहते हैं । यह सनातन श्रुति है ५ (मनु० अ० ३ । श्लोक २८५) ॥

इति पितृयज्ञविधिः समाप्तः ॥

## [४-अथ चतुर्थो बलिवैश्वदेवयज्ञः]

अथ बलिवैश्वदेवविधिर्लिख्यते<sup>१</sup>—यदन्नं<sup>२</sup> पक्वमक्षारलवणं भोजनार्थं भवेत्, तेनैव बलिवैश्वदेवकर्म कार्यम्—

१० वैश्वदेवस्य सिद्धस्य गृह्येऽग्नौ विधिपूर्वकम् ।

आभ्यः कुर्याद्देवताभ्यो ब्राह्मणो होममन्वहम् ॥

मनु० ६ । ७४ ॥

१. सत्यार्थप्रकाश के चौथे समुल्लास में इस यज्ञ की विधि अधिक स्पष्ट है, पाठक उसे भी देखें ॥ सम्पादक ।

१५ २. अत्र क्षारलवणाभ्यां कृतद्वन्द्वाभ्यां नमः सम्बन्धः । तेनाक्षारस्य मृत्तिकानिमित्तस्य लवणस्य, अकृत्रिमस्य सैन्धवादेश्च सामान्येन प्रतिषेध इति ध्येयम् । अत एव कौषितकिगृह्यसूत्रे ( १ । १० । १५ ) 'अक्षारलवणाशिनी' इत्युभयत्र नमः सम्बन्ध उपलभ्यते । अपरे पुनः 'न क्षारं अक्षारं अक्षारं च तल्लवणं च = अक्षारलवणम्' इति कृत्रिमस्यैव मृत्तिकानिमित्तस्य लवणस्य प्रतिषेधमाहुः । तद्यथा—

'गोक्षीरं गोघृतं चैव धान्यमुद्गास्तिला यवाः ।

सामुद्रं सैन्धवं चैवाक्षारलवणं स्मृतम्' ॥ वाचस्पत्यकोश ।

अन्ये तु 'क्षार'शब्दं पारिभाषिकमाहुः । तद्यथा—

'हैडिम्बका राजमाषा माषा मुद्गा मसूरिकाः ।

२५ लङ्काढक्याश्च निष्पावास्तिलाद्याः क्षारसंज्ञिताः ॥'

आश्वलायन गृह्यसूत्र (गार्ग्यनारायण) वृत्ति १ । ८ । १० ॥



भाषार्थ—<sup>१</sup>[अब चौथे बलिवैश्वदेवयज्ञ की विधि लिखी जाती है, अर्थात् जब भोजन सिद्ध हो, तब जो कुछ भोजनार्थ बने, उसमें से खट्टा लवणान्न और क्षार<sup>२</sup> को छोड़के घृत-मिष्ट-युक्त अन्न से बलिवैश्वदेव कर्म करें। (वैश्वदेवस्य सिद्धस्य०)<sup>३</sup> जो कुछ पाकशाला में भोजनार्थ सिद्ध हो, उसका दिव्य गुणों के अर्थ उसी पाकाग्नि में ५ विधिपूर्वक होम नित्य करें।]

अथ बलिवैश्वदेवकर्मणि प्रमाणम्

अहरहर्वलिमिते हरन्तोऽश्वायेव तिष्ठते घासमग्ने ।  
रायस्पोषेण समिषा मदन्तो मा ते अग्ने प्रतिवेशा रिषाम ॥१॥

अथर्व० कां० १६ । सू० ५५ । मं० ७ ॥<sup>१०</sup>

पुनन्तु मा दे॒ज॒नाः पुनन्तु मन॑मा धियः ।  
पुनन्तु विश्वा भू॒तानि जात॑वेदः पु॒नीहि मा ॥२॥

य० अ० १६ । मं० ३६ ॥

भाष्यम्—(अहरहर्वलि०) हे अग्ने परमेश्वर ! ये भवदाज्ञया बलिवैश्वदेवं नित्यं कुर्वन्तो मनुष्याः (रायस्पोषेण समिषा) चक्रवर्ति- १५ राज्यलक्ष्म्या घृतदुग्धादिपुष्टिकारकपदार्थप्राप्त्या सम्यक्शुद्धेच्छया च (मदन्तः) नित्यानन्दप्राप्ताः सन्तो मातुः पितुरार्चादीनां चोत्तम- पदार्थः प्रीतिपूर्विकां सेवां नित्यं कुर्युः । (अश्वायेव तिष्ठते घासम्) यथाऽश्वस्य सम्मुखे तद्भक्ष्यं तृणवीरुधादि वा तत्पानार्थं जलादि पुष्कलं स्थाप्यते, तथा सर्वेषां सेवनाय बहून्युत्तमानि वस्तूनि दद्युः, २० यतस्ते प्रसन्ना भवेयुः । (मा ते अग्ने प्रतिवेशा रिषाम) हे परमगुरो

१. मूल संस्कृत का भाषार्थ इस ग्रन्थ में न जाने कैसे रह गया । हमने ऊपर की संस्कृत का सर्वथा तद्रूप भाषार्थ दे दिया है ॥ सम्पादक ।

२. क्षार अर्थात् नमकीन मट्टी (ऊपर वा कल्लर) से बनाया हुआ नमक, और लवणशब्द स अकृत्रिम सैन्धवादि समझना चाहिये । इस सब को २५ छोड़कर होम करे ।

३. मनु० ३।७४

४. देखो—जर्मन संस्करण तथा सेवकलाल कृष्णलाल संस्करण बम्बई सन् १८८४ ।



अग्ने परमेश्वर ! भवदाज्ञातो ये विरुद्धव्यवहारास्तेषु वयं कदाचित् न प्रविशेम । अन्यायेन कदाचित्प्राणिभ्यः पीडां न दद्याम । किन्तु सर्वान् स्वमित्राणीव, स्वयं सर्वेषां मित्रमिवेति ज्ञात्वा परस्परमुपकारं कुर्यामितीश्वराज्ञास्ति ॥१॥

५ (पुनन्तु०) अस्यार्थो देव [तर्पण] प्रकरणे उक्तः<sup>१</sup> ॥२॥

भाषार्थ—(अहरहर्वलि०) हे अग्ने परमेश्वर ! आपकी आज्ञा से नित्यप्रति बलिवैश्वदैव कर्म करते हुये हम लोग (रायस्पोषेण समिषा) चक्रवर्त्तिराज्यलक्ष्मी, घृतदुग्धादि पुष्टिकारक पदार्थों की प्राप्ति, और सम्यक् शुद्ध इच्छा से (मदन्तः) नित्य आनन्द में रहें, १० तथा माता-पिता आचार्य आदि की उत्तम पदार्थों से नित्य प्रीति-पूर्वक सेवा करते रहें । (अश्वायेव तिष्ठते घासम्) जैसे घोड़े के सामने बहुत से खाने वा पीने के पदार्थ घर दिये जाते हैं, वैसे सब की सेवा के लिये बहुत से उत्तम-उत्तम पदार्थ दें । जिनसे वे प्रसन्न होके हम पर नित्य प्रसन्न रहें । (मा ते अग्ने प्रतिवेशा १५ रिषाम) हे परमगुरु अग्नि परमेश्वर ! आप और आपकी आज्ञा से विरुद्ध व्यवहारों में हम लोग कभी प्रवेश न करें, और अन्याय से किसी प्राणी को पीडा न पहुंचावें । किन्तु सब को अपना मित्र और अपने को सब का मित्र समझके परस्पर उपकार करते रहें ॥१॥

(पुनन्तु०) इसका अर्थ देवतर्पणविषय<sup>३</sup> में कर दिया है ॥२॥

२०

अथ होममन्त्राः

ओमग्नये स्वाहा ॥ ओं सोमाय स्वाहा ॥  
ओमग्नोषोमाभ्यां स्वाहा ॥ ओं विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा ॥  
ओं धन्वन्तरये स्वाहा ॥ ओं कुहूँ स्वाहा ॥  
ओमनुमत्यै स्वाहा ॥ ओं प्रजापतये स्वाहा ॥  
२५ ओं सह द्यावापृथिवीभ्यां स्वाहा ॥ ओं स्विष्टकृते स्वाहा ॥

भाष्यम्—(ओमग्न०) अग्न्यर्थ उक्तः<sup>१</sup> । (ओं सोमा०) सर्वा नन्दप्रदो यः सर्वजगदुत्पादक ईश्वरः, सोऽत्र ग्राह्यः । [(ओमग्नी०)

१. द्र०—पृष्ठ ३२६ ॥

२. द्र०—पृष्ठ ३२७ ॥

३. द्र०—पृष्ठ ३१२ ॥



प्राणापानाभ्याम्, अनयोरर्थो<sup>१</sup> गायत्रीमन्त्रार्थ उक्तः<sup>२</sup> ॥ (ओं विश्वे०) विश्वे देवा विश्वप्रकाशका ईश्वरगुणाः, सर्वे विद्वांसो वा । (ओं धन्व०) सर्वरोगनाशक ईश्वरोऽत्र गृह्यते । (ओं कुह्व०) दशोष्टच-  
र्थोऽग्रमारम्भः । अमावास्येष्टिप्रतिपादितायै चितिशक्तये वा । (ओमनुम०) पौर्णमासेष्ट्यर्थोऽग्रमारम्भः । विद्यापठनानन्तरं मति-  
मननं ज्ञानं यस्याश्चितिशक्तेः सा चितिरनुमतिर्वा । (ओं प्रजा०) सर्वजगतः स्वामी रक्षक ईश्वरः । (ओं सह०) ईश्वरेण प्रकृष्टगुणैः सहोत्पादितयोः पुष्टिकरणाय । (ओं स्विष्ट०) यः सुष्ठु शोभनमिष्टं सुखं करोति स चेश्वरः ॥

एतैर्मन्त्रैर्होमं कृत्वाऽथ बलिप्रदानं कुर्यात् ।

१०

भाषार्थ—(ओमग्न०) अग्निशब्दार्थं कहें आये हैं । (ओं सोमा०) जो सब पदार्थों को उत्पन्न और पुष्ट करने से सुख देनेहारा है, उसको 'सोम' कहते हैं । (ओमग्नी०) जो प्राण [अर्थात्] सब प्राणियों के जीवन का हेतु, और अपान अर्थात् दुःख के नाश का हेतु है, इन दोनों को 'अग्निषोम' कहते हैं । (ओं विश्वे०) यहां संसार को प्रकाश करनेवाले ईश्वर के गुण अथवा विद्वान् लोगों का 'विश्वेदेव' शब्द से ग्रहण होता है । (ओं धन्व०) जो जन्ममरणादि रोगों का नाश करनेहारा परमात्मा है, वह 'धन्वन्तरि' कहाता है । (ओं कुह्व०) जो अमावास्येष्टि का करना है । (ओमनुम०) जो पौर्णमासेष्टि वा सर्वशास्त्रप्रतिपादित परमेश्वर की चिति शक्ति है, यहां उसका ग्रहण है । (ओं प्रजा०) जो सब जगत् का स्वामी जगदीश्वर है, वह 'प्रजापति' कहाता है । (ओं सह०) यह प्रयोग [ ? ] पृथिवी का राज्य और सत्य विद्या से प्रकाश के लिये है । (ओं स्विष्ट०) जो इष्ट सुख करनेहारा परमेश्वर है, वही 'स्विष्टकृत्' कहाता है । ये दश अर्थ दश मन्त्रों के हैं [इन से होम करे] ॥

२५

१. अनयोः प्राणापानयोरित्यर्थः ॥

२. द्र०—पृष्ठ ३१३ ॥

३. यह कोष्ठान्तर्गत पाठ ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के इस प्रकरण से लेकर पूरा किया गया है । सम्पादक ।

४. द्र०—पृ० ३१४ ॥

५. संस्कृत के अनुसार आर्य-भाषा इस प्रकार होनी चाहिये—“ईश्वर के द्वारा उत्तम गुणों से युक्त उत्पन्न किये हुए द्युलोक और पृथिवीलोक की पुष्टि के लिये यह कर्म है ॥” सम्पादक ।



अब बलिदान के मन्त्रों को लिखते हैं—

ओं सानुगायेन्द्राय नमः ॥ [इससे पूर्व]

ओं सानुगाय यमाय नमः ॥ [इससे दक्षिण]

ओं सानुगाय वरुणाय नमः ॥ [इससे पश्चिम]

५ ओं सानुगाय सोमाय नमः ॥ [इससे उत्तर]

ओं मरुद्भ्यो नमः ॥ [इससे द्वार]

ओं ओमद्भ्यो नमः ॥ [इससे जल]

ओं वनस्पतिभ्यो नमः ॥ [इससे मूसल और ऊखन]

ओं अग्नये नमः ॥ [इससे ईशान<sup>३</sup> = उत्तर-पूर्व दिशा]

१० ओं भद्रं काल्यै नमः ॥ [इससे नैऋत्य = दक्षिण-पश्चिम दिशा]

ओं ब्रह्मपतये नमः ॥

ओं वास्तुपतये नमः ॥ [इनसे मध्य]

ओं विश्वेभ्यो देवेभ्यो नमः ॥

ओं दिवाचरेभ्यो भूतेभ्यो नमः ॥

१५ ओं नक्तं चारिभ्यो भूतेभ्यो नमः ॥ [इनसे ऊपर]

ओं सर्वात्मभूतये नमः ॥ [इससे पृष्ठ]

ओं पितृभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः ॥ [इससे दक्षिण]

भाष्यम्—(ओं सानुगायेन्द्राय०) 'णम प्रह्वत्वे शब्दे च' इत्यनेन

२० [नमः शब्दः सिध्यति ।] सत्क्रियापुरस्सरविचारेण मनुष्याणां यथार्थं विज्ञानं भवतीति वेद्यम् । नित्यैर्गुणैस्सह वर्त्तमानः परमैश्वर्य्यवान्-श्वरोऽत्र 'इन्द्र'शब्देन गृह्यते । (ओं सानुगाय यमाय०) पक्षपातरहितो न्यायकारित्वादिगुणयुक्तः परमात्माऽत्र 'यम'शब्दार्थेन वेद्यः । (ओं सानुगाय वरुणाय०) विद्याद्युत्तमगुणविशिष्टः सर्वोत्तमः परमेश्वरोऽत्र

२५ १. पूर्वादि दिशाओं तथा द्वारादि के निमित्त एक-एक भाग यथोक्त रीति से पत्तल पर रखना चाहिये ॥ सम्पादक ।

२. ये कोष्ठान्तर्गत सारे पाठ संस्कारविधि से दिये हैं ॥ सम्पादक ।

३. शेष आग्नेय = दक्षिण-पूर्व, तथा वायव्य = पश्चिम-उत्तर दिशा कहाती हैं । ये चारों उपदिशा कहलाती हैं ॥ सम्पादक ।



‘वरुण’शब्देन ग्रहीतव्यः । (ओं सानुगाय सोमाय०) अस्यार्थ उक्तः<sup>१</sup> ।  
 (ओं मरुद्भ्यो०) य ईश्वराधारेण सकलं विश्वं धारयन्ति चेष्टयन्ति,  
 तेऽत्र ‘मरुतः’ गृह्यन्ते । (ओमद्भ्यो०) अस्यार्थः शन्नो देवीरि-  
 त्यत्रोक्तः<sup>२</sup> । (ओं वन०) वनानां लोकानां पतयः ईश्वरगुणाः  
 परमेश्वरो वा । बहुवचनमत्रादरार्थम् । यद्वा—उत्तमगुणयोगेनेश्वरेणो- ५  
 त्पादितेभ्यो महावृक्षेभ्यश्चेति बोध्यम् । (ओं श्रियै०) श्रीयते सेव्यते  
 सर्वैर्जनैस्सः ‘श्रीः’ ईश्वरस्सर्वसुखशोभावहत्वाद् गृह्यते । यद्वा—  
 तेनोत्पादिता विश्वशोभा च । (ओं भद्र०) भद्रं कल्याणं सुखं  
 कालयितुं शीलमस्याः सा ‘भद्रकाली’ ईश्वरशक्तिः । (ओं ब्रह्मपतये०)  
 ब्रह्मणः सर्वशास्त्रविद्यायुक्तस्य वेदस्य ब्रह्माण्डस्य वा पतिरीश्वरः । १०  
 (ओं वास्तु०) वसन्ति सर्वाणि भूतानि यस्मिंस्तद्‘वास्तु’आकाशं,  
 तत्पतिरीश्वरः । (ओं विश्वे०) अस्यार्थः<sup>३</sup> उक्तः । (ओं दिवा०, ओं  
 नक्तं०) ईश्वरकृपयैवं भवेद्—दिवसे यानि भूतानि विचरन्ति रात्रौ  
 च, तान्यस्मासु विघ्नं मा कुर्वन्तु । तैः सहास्माकमविरोधोऽस्तु ।  
 एतदर्थोऽयमारम्भः (ओं सर्वा०) सर्वेषां जीवात्मनां भूतिर्भवनं १५  
 सत्तेश्वरो नान्यः । (ओं पितृभ्यः०) अस्यार्थः पितृतर्पणे प्रोक्तः<sup>४</sup> ।  
 ‘नमः’ इत्यस्य निर्भिमानद्योतनार्थं, परस्योत्कृष्टतया मान्यज्ञापनार्थ-  
 श्चारम्भः ॥

भाषार्थ—(ओ सानुगायेन्द्राय०) जो सर्वेश्वर्ययुक्त परमेश्वर,  
 और जो उसके गुण हैं, वे ‘सानुग इन्द्र’ शब्द से ग्रहण होते हैं । (ओं २०  
 सानुगाय यमाय०) जो सत्य न्याय करनेवाला ईश्वर, और उसकी  
 सृष्टि में सत्य न्याय के करनेवाले सभासद् हैं, वे ‘सानुग यम’ शब्दार्थ  
 से ग्रहण होते हैं । (ओं सानुगाय वरुणाय०) जो सब से उत्तम परमा-  
 त्मा और उसके धार्मिक भक्त हैं, वे ‘सानुग वरुण’ शब्दार्थ से जानने  
 चाहिये । (ओं सानुगाय सोमाय०) पुण्यात्माओं को आनन्दित करने- २५  
 वाला, और जो पुण्यात्मा लोग हैं, वे ‘सानुग सोम’ शब्द से  
 ग्रहण किये हैं । (ओं मरुद्०) जो ईश्वर के आधार से सकल  
 विश्व को धारण वा गतिशील करते हैं, वे यहां ‘मरुत्’ शब्द

१. द्र०—पृष्ठ ३३६ ॥

२. द्र०—पृष्ठ २६७ ॥

३. द्र०—पृष्ठ ३३७ ॥

४. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, पृष्ठ २८३, ३०



- से गृहीत होते हैं' । ( ओमद्भ्यो० ) इसका अर्थ 'ज्ञानो देवी०' इस मन्त्र के अर्थ में लिखा है<sup>१</sup> । (ओं वनस्पति०) जिनसे वर्षा अधिक होती, और जिनके फलादि से जगत् का उपकार होता है, उनकी भी रक्षा करनी योग्य है । (ओं श्रियै०) जो सब के सेवा करने योग्य परमात्मा है, उनकी सेवा से राज्यश्री प्राप्ति के लिये सदा उद्योग करना चाहिये । (ओं भद्रकाल्यै०) जो कल्याण करने-वाली परमात्मा की शक्ति अर्थात् सामर्थ्य है, उसका सदा आश्रय करना चाहिये । (ओं ब्रह्मपतये०) जो वेद का स्वामी ईश्वर है, उसकी प्रार्थना और उद्योग विद्या प्रचार के लिये अवश्य करना चाहिये । (ओं वास्तुपतये०) जो 'वास्तुपति' गृहसम्बन्धी पदार्थों का पालन करनेहारा मनुष्य अथवा ईश्वर है, इनका सहाय सर्वत्र होना चाहिये । (ओं विश्वेभ्यो०) इसका अर्थ कह दिया है<sup>३</sup> । (ओं दिवा०) जो दिन में विचरनेवाले प्राणियों से उपकार लेना और सुख देना है, सो मनुष्य जाति का ही काम है । (ओं नक्तं०) जो रात्रि में विचरनेवाले प्राणी हैं, उनसे भी उपकार लेना, और जो उनकी सुख देना है, इसलिये यह प्रयोग है । (ओं सर्वात्म०) सब में व्याप्त परमेश्वर की सत्ता को सदा ध्यान में रखना चाहिये । (ओं पितृभ्यः०) माता पिता आचार्य अतिथि पुत्र भृत्यादिकों को भोजन कराके पश्चात् गृहस्थ को भोजनादि करना चाहिये । 'स्वधा' शब्द का अर्थ पूर्व कर दिया है । और 'नमः' शब्द का अर्थ यह है कि आप अभिमान रहित होके दूसरे का मान करना ॥

इसके पीछे भागों को लिखते हैं —

शुनां च पतितानां च इवपचां पापरोणिणाम् ।

वायसानां कृमीणां च शनकैर्निर्वपेद् भुवि ॥

२५

मनु० ३ । ६२ ॥

अनेन षड् भागान् भूमौ दद्यात् । एवं सर्वप्राणिभ्यो भागान् विभज्य दत्त्वा च तेषां प्रसन्नतां सम्पादयेत् ॥

१. वैयाकरणों में—'जो प्राण अर्थात् जिनके रहने से जीवन और निकलने से मरण होता है, उनको 'मर्तु' कहते हैं, इनकी रक्षा अवश्य करनी चाहिये ।'  
३० यह अपपाठ है । यह मूल संस्कृत-पाठ से विपरीत है । सम्पादक ।

२. द्र०—पृष्ठ २६८ ॥ ३. द्र०—पृष्ठ ३३७ । ४. द्र०—पृष्ठ ३३० ।

५. इवभ्यो नमः । पतितेभ्यो नमः । इवपचेभ्यो नमः । पापरोणिभ्यो



भाषार्थ — कुत्तों कंगालों [भङ्गियों] कुण्डी आदि रोगियों काक आदि पक्षियों और चींटी आदि कृमियों के लिये छः भाग अलग-अलग बांटके दे देना, और उनकी प्रमत्तता सदा करना । यह वेद और मनुस्मृति की रीति से बलिवैश्वदेव की लिखी ॥

इति बलिवैश्वदेवविधिः समाप्तः ॥

५



## ५--अथ पञ्चमोऽतिथियज्ञः प्रोच्यते

यत्रातिथीनां सेवनं यथावत् क्रियते, तत्रैव कल्याणं भवति । ये पूर्णविद्यावन्तः परोपकारिणो जितेन्द्रिया धार्मिकाः सत्यवादिनश्छलादिदोषरहिता नित्यभ्रमणकारिणो मनुष्यास्सन्ति, तान् 'अतिथीन्' कथयन्ति ।

१०

अत्रानेके प्रमाणभूता वैदिकमन्त्रास्सन्ति, परन्त्वत्र संक्षेपतो द्वावेव लिखामः—

तद्यस्यैवं विद्वान् ब्राह्मोऽतिथिर्गृहानागच्छेत् ॥१॥

स्वयमेनमभ्युदेत्य् ब्रूयाद् ब्राह्म्यं क्वाऽत्सीर्ब्राह्म्योदकं  
ब्राह्म्यं तर्पयन्तु ब्राह्म्यं यथा ते प्रियं तथास्तु ब्राह्म्यं यथा ते १५  
वशस्तथास्तु ब्राह्म्यं यथा ते निक्रामस्तथास्त्विति ॥२॥

अथर्व० का० १५ । सू० ११ । मं० १—२ ॥

भाष्यम् (तद्य०) यस्य गृहे पूर्वोक्तविशेषणयुक्तो विद्वान् (ब्राह्म्यः०) महोत्तमगुणविशिष्टः सेवनोयोऽतिथिरथाद्यम्य गमनागमनयोरनियता तिथिः, न यस्य काचिन्नियता तिथिर्भवति, किन्तु २० स्वेच्छयाऽकस्मादागच्छेद् गच्छेच्च, स सदा गृहस्थातां गृहेषु प्राप्नुयात् ॥१॥

(स्वयमेन०) तदा गृहस्थोऽत्यन्तप्रेम्णोत्थाय नमस्कृत्य च तं महोत्तमासने निपादयेत् । तदनन्तरं पृच्छेद् भवतां जलादेरन्यस्य

नमः । वायसेभ्यो नमः । कृमिभ्यो नमः ॥ इति सत्यार्थप्रकाशे भागनिर्वापविधि- २५  
द्रष्टव्यः । पृष्ठ १४६ रा. ला. क. ट. प्रथम साधारण संस्करण । सम्पादक ।



- वा वस्तुन इच्छास्ति चेत्तद् ब्रूहि । सेवां कृत्वा तत्प्रसन्नतां सम्पाद्य स्वस्थचित्तस्सन्नेवं पृच्छेत्—(ब्रात्य क्वावात्सीः) हे ब्रात्य पुरुषोत्तम! त्वमितः पूर्वं क्वावात्सीः, कुत्र निवासं कृतवान् ? (ब्रात्योदकम्) हे अतिथे ! जलमेतद् गृहाण । (ब्रात्य तर्पयन्तु) भवान् स्वकीय-  
 ५ सत्योपदेशेनास्मांश्च तर्पयन्तु प्रीणयतु, तथा भवत्सत्योपदेशेन सर्वाणि मम मित्राणि भवन्तं तर्पयित्वा विज्ञानवन्तो भवन्तु । (ब्रात्य यथा०) हे विद्वन् ! यथा भवतः प्रसन्नता स्यात्तथा वयं कुर्यामि, यद्वस्तु भवत्प्रियमस्ति तस्याज्ञां कुरु । (ब्रात्य यथा ते०) हे अतिथे ! यथेच्छतु भवान् तदनुकूलानस्मान् भवत्सेवाकरणे निश्चिनोतु ।  
 १० (ब्रात्य यथा ते०) यथा भवदिच्छापूर्तिः स्यात् तथा भवत्सेवां वयं कुर्यामि । ततो भवान् वयं च सेवासत्सङ्गपूर्विकया विद्यावृद्ध्या सदानन्दे तिष्ठेम ॥२॥

भाषार्थ—अब जो पांचवां 'अतिथियज्ञ' कहाता है, उसको लिखते हैं । जिसमें अतिथियों की यथावत् सेवा करनी होती है ।  
 १५ जो पूर्ण विद्वान्, परोपकारी, जितेन्द्रिय, धार्मिक, सत्यवादी, छल-कपट रहित, नित्य भ्रमण करनेवाले मनुष्य होते हैं, उनको 'अतिथि' कहते हैं ।

इसमें अनेक वैदिक मन्त्र प्रमाण हैं । परन्तु यहां संक्षेप के लिये दो ही मन्त्र लिखते हैं—

- २० (तद्यस्यैवं विद्वान्०) जिसके घर में पूर्वोक्त गुणयुक्त विद्वान् (ब्रात्यः) उत्तम गुणविशिष्ट सेवा करने के योग्य अतिथि आवे, जिसके आने-जाने की कोई भी निश्चित तिथि न हो, अकस्मात् आवे और जावे । जब ऐसा मनुष्य गृहस्थों के घर में प्राप्त हो ॥ १ ॥

- २५ (स्वयमेनम०) तब उसको गृहस्थ अत्यन्त प्रेम से उठकर नमस्कार करके उत्तम आसन पर बैठके पश्चात् पूछे कि—आपको जल वा किसी वस्तु की इच्छा हो, सो कहिये । इस प्रकार उसको, प्रसन्न कर और स्वयं स्वस्थचित्त होके उससे पूछे—(ब्रात्य क्वा-वात्सीः) हे ब्रात्य=उत्तम पुरुष ! आपने यहां आने के पूर्व कहां  
 ३० वास किया था ? (ब्रात्योदकम्) हे अतिथि ! यह जल लीजिये । और (ब्रात्य तर्पयन्तु) अपने सत्य उपदेश से आप हमको तृप्त करें । और सब हमारे इष्ट मित्र लोग आपके सत्योपदेश से आपको



तृप्त कर विज्ञानयुवत हों' । ( ब्रात्य यथा० ) हे विद्वान् ब्रात्य ! जिस प्रकार से आपको प्रसन्नता हो, वैसा ही हम लोग काम करें । और जो पदार्थ आपको प्रिय हो, उसकी आज्ञा कीजिये । ( ब्रात्य यथा० ) जिस प्रकार से आपकी कामना पूर्ण हो, वैसी आपकी सेवा हम लोग करें । जिससे आप और हम लोग परस्पर सेवा और सत्संग ५ पूर्वक विद्यावृद्धि से सदा आनन्द में रहें ॥२॥

इति संक्षेपतोऽतिथियज्ञः ॥

इति पञ्चमहायज्ञविधिः समाप्तः ॥

श्रीयुतविक्रमादित्यमहाराजस्य चतुस्त्रिंशोत्तरे एकोनविंशे  
संवत्सरे भद्रपौर्णमास्यां समापितः ॥ १०



१. वैदिक यन्त्रालय में मुद्रित भाषार्थ संस्कृत से भिन्न था, उसे संस्कृत के अनुकूल किया है ।

२. यह पंक्ति वै० य० अजमेर में छपे २—१२ संस्करणों में नहीं मिलती है । प्रथम संस्करण में है ।



## परिशिष्टम्

१६३१ (३२) 'वैक्रमान्दे प्रकाशिते सभाष्यसन्ध्योपासनादि-  
पञ्चमहायज्ञविधौ विशिष्ट आवश्यकश्च योऽज्ञः स इह परिशिष्ट-  
रूपेण संगृह्यते । — सम्पादकः

५

अथ प्रार्थनामन्त्रः

ओम् सूर्यश्च मा मन्युश्च मन्युपतयश्च मन्युकृतेभ्यः पापेभ्यो  
रक्षन्ताम् । यद्रात्र्या पापमकार्षं मनसा वाचा हस्ताभ्यां पद्भ्यामुदरेण  
शिश्ना । रात्रिस्तदवलुम्पतु यत्किञ्चिद् दुरितम् मयि । इदमहम्मा-  
ममृतयोनौ सूर्ये ज्योतिषि जुहोमि स्वाहा ॥

- १० भाष्यम्—'सूर्यः' चराचरात्मेश्वरः, 'मन्युः' दुष्टान्मनुष्यान्प्रति  
क्रोधकृत्, 'मन्युपतयः' ईश्वरदत्ता विज्ञानशान्त्यादयो गुणाः, 'मन्यु-  
कृतेभ्यः' क्रोधकृतेभ्यः पापेभ्यः सूर्यश्च मन्युश्च मन्युपतयश्च सर्वे 'मा'  
नाम माम्, 'रक्षन्ताम्' अर्थात् तत्कृपया क्रोधादिकृतेभ्यः पापेभ्यो  
[ऽहं] निवर्तेय, कदाचित्पापकरणे मम रुचिरेव न स्यात् । तत्कृपया  
१५ तदुपासनेन च वयं पुण्यात्मानो भूयास्म । अग्रे कदाचिद्वयं पापं  
नैव करिष्याम इत्यभिप्रायः । यत् 'रात्र्या' नाम रात्रौ अज्ञानात्  
मनसा वाचा हस्ताभ्याम् पद्भ्याम् उदरेण शिश्ना नाम लिङ्गेन्द्रियेण  
'पापमकार्षम्' कृतवानहम्, 'रात्रिः' सर्वस्यादाता धारक आनन्द-  
प्रदश्चेश्वरः, तत्पापम् कृपया भवान् 'अवलुम्पतु' नाम दूरीकरोतु,  
२० नाशयतु क्षमताम् । 'यत्किञ्चित्' अज्ञानात्, 'दुरितम्' दुष्टम्, मयि  
वर्तते, तदिदमपि भवान् कृपया अवलुम्पतु । ये ये जगति मम समीपे

१. मुखपृष्ठे गुजरातीपञ्चाङ्गानुसारं संवत् १६३१ मुद्रितम् । उत्तर-  
भारतीय-पञ्चाङ्गानुसारं १६३२ वैक्रमवत्सरो ज्ञेयः ।

२. अग्रे व्याख्यायमानो मन्त्रोऽस्मिन् संस्करणे गायत्रीमन्त्रात् पूर्वं  
२५ प्रातः सन्ध्यायां प्रार्थनारूपेण पठितो व्याख्यः तश्च दृश्यते ।

३. द्र०—तैत्तिरीयारण्यक १०।१५।१५॥ तत्र 'रात्र्या' स्थाने 'रात्रिया',  
'यत्किञ्चिद्' स्थाने 'यत्किञ्च' पाठो दृश्यते ।



च पदार्थास्सन्ति, ते ते सर्वे भवद्रचिता भवत्पतिकाश्च, अतो वयं  
भवते किं दातुं समर्थाः ? किन्तु, कोऽपि पदार्थोऽस्माकं नास्त्येव,  
भवत एव च सर्वे पदार्थाः सन्तीति निश्चयः । परन्तु भवद्रचिता  
आत्मानो वयं विद्यामहे । तस्मादहं स्वात्मानं 'अमृतयोनौ' अमृतस्य  
मोक्षस्य कारणभूते, यं प्राप्य पुनर्जन्ममरणे कदाचित् नैव भवतः, ५  
'ज्योतिषि' स्वप्रकाशे, अविद्यान्धकारनाशके त्वयि सच्चिदानन्दस्वरूपे  
'जुहोमि' ददामि, भवदर्थं स्वात्मानं करोमि' निश्चयेनेत्यभिप्रायः ।  
'स्वाहा' स्वकीय आत्मा यत सत्यमाह, अन्तर्यामी यस्मिन् कर्मणि  
अनुमतिं ददाति, तत्सत्यमेव वक्तव्यं कर्तव्यं च । यद्वा स्वा वाक्  
अन्तर्याम्यनुकूलतया यदाह तत्कर्तव्यं वक्तव्यं चेत्ययमर्थः स्वाहा- १०  
शब्दस्योक्तो निरुक्ते\* ॥

हे जगदीश्वर ! हे सर्वान्तर्यामिन् ! अज्ञानादिप्रमादाद्यद्यत्पापं  
येन येनाङ्गेन कृतं मया, तत्तत्सर्वं विज्ञानादिदानेन कृपया क्षमस्व ।  
कदाचित्केनचित्पापं स्वल्पमपि नैव कर्तव्यमित्यभिप्रायः ॥

अथ सायंसन्ध्यायामीश्वरप्रार्थनाया अग्रमेको मन्त्रो भिन्नोऽस्ति १५

ओम् अग्निश्च मा मन्युश्च मन्युपतयश्च मन्युकृतेभ्यः पापेभ्यो  
रक्षन्ताम् । यदह्ना पापमकार्षं मनसा वाचा हस्ताभ्यां पद्भ्यामुदरेण  
शिश्ना, अहस्तदवलुम्पतु यत्किञ्चिद् दुरितम्मयि । इदमहं माममृत-  
योनौ सत्ये ज्योतिषि जुहोमि स्वाहा ॥

भाष्यम्—अञ्चु गतिपूजनयोः, अग्नि गत्यर्थः, अग्रोपपदाणीञ् २०  
प्रापणे इत्यादिभ्यो घातुभ्यः 'अग्निः' शब्दः सिध्यति । अग्रम् आनन्दं  
सुखम् अग्रचान् गुणान् वा नयति प्रापयति सोऽयमग्निरीश्वरः ।  
अन्योऽर्थः ओङ्कारार्थे\* द्रष्टव्यः । 'यदह्ना' दिवसे, 'अहः' स्वप्रकाश-  
स्वरूपः, 'सत्ये' त्रैकाल्याबाध्ये ॥ अन्यत्सर्वं 'सूर्यश्च मा०' इति  
मन्त्रार्थव्याख्यावद् विज्ञेयम् ॥ २५

१. सशरीरा प्राणिनो विद्यमानाः स्म इति भावः । २. यावन्मोक्षस्य  
कालस्तन्मध्ये । ३. समर्पयामीति भावः । ४. द्र०—निरुक्त ८।२०॥

५. द्र०—तैत्तिरीयारण्यक १०।२४। तत्र 'किञ्चिद्' स्थाने 'किं च'  
इति पाठः ।

६. द्र०—सत्यार्थप्रकाशे प्रथमसमुल्लासेऽग्निशब्दव्याख्यानम् (पृष्ठ १८, ३०  
रालाकट्टसं०) । ७. गायत्री-मन्त्रार्थे पृष्ठ ३१२ ।



### अथ तर्पणविधिलिख्यते

तृप्यन्ति तर्पयन्त्यनेन शिष्टान् धर्मात्मनो दिव्यगुणवतो  
 ज्ञानिनस्तत्तर्पणम् ॥

### अथ देवतर्पणम्

- ५ ओम् ब्रह्मादयो देवास्तृप्यन्ताम् ॥ १ ॥  
 ओम् ब्रह्मादिदेवपत्न्यस्तृप्यन्ताम् ॥ १ ॥  
 ओम् ब्रह्मादिदेवसुतास्तृप्यन्ताम् ॥ १ ॥  
 ओम् ब्रह्मादिदेवगणास्तृप्यन्ताम् ॥ १ ॥  
 भाष्यम्—चतुर्वेदविद्भ्यः दिव्यगुणवद्भ्यः तत्स्त्रीभ्यस्तादृशीभ्यः  
 १० तत्सुतेभ्यस्तत्तुल्येभ्यः तच्छिष्येभ्यो गणेभ्यश्च । ईदृशा जनाः देवा  
 भवन्तीति वेद्यम् ॥

### अथ ऋषितर्पणम्

- १५ ओम् मरीच्यादय ऋषयस्तृप्यन्ताम् ॥ २ ॥  
 ओम् मरीच्याद्यृषिपत्न्यस्तृप्यन्ताम् ॥ २ ॥  
 ओम् मरीच्याद्यृषिसुतास्तृप्यन्ताम् ॥ २ ॥  
 ओम् मरीच्याद्यृषिगणास्तृप्यन्ताम् ॥ २ ॥  
 भाष्यम्—वेदादिविद्याध्यापकास्तद्विद्याध्येतारश्चर्षयो वेद्याः ॥

### अथ पितृतर्पणम्

- २० ओं सोमसदः पितरस्तृप्यन्ताम् ॥ ३ ॥  
 भाष्यम्—सोमे ईश्वरे सोमयागे वा सीदन्ति, सोमगुणाश्च  
 जनैर्ग्राह्याः ॥  
 ओमग्निष्वात्ताः पितरस्तृप्यन्ताम् ॥ ३ ॥  
 भाष्यम्—अग्निरीश्वरः सुष्ठुतया आत्तो गृहीतो यैस्ते अग्नि-  
 ष्वात्ताः । यद्वा अग्नेर्गुणज्ञानात्पदार्थविद्या पृथिवी-जल-व्योमयान-  
 २५ यन्त्ररचनादिका सुष्ठुतया आत्ता गृहीता यैस्ते अग्निष्वात्ताः ॥  
 ओं बर्हिषदः पितरस्तृप्यन्ताम् ॥ ३ ॥

- 
१. वक्ष्यमाणा देवर्षिपितृतर्पणमन्त्रा यद्यपि १६३४ वैक्रमान्दे मुद्रिते  
 पञ्चमहायज्ञविधौ न दृश्यन्ते, तथापि सत्यार्थप्रकाश उपलभ्यन्ते । द्र०—पृष्ठ  
 १४५, १४६, रालाकट्टसं० ।  
 ३० २. अत्र निर्दिश्यमाना संख्या तत्तद्गणसम्बन्धान्निर्दिष्टा ज्ञेया ।



भाष्यम्—बर्हिषि सर्वोत्कृष्टे ब्रह्मणि शमदमादिपूतमेषु गुणेषु वा सीदन्ति ते बर्हिषदः ॥

ओं सोमपाः पितरस्तृप्यन्ताम् ॥ ३ ॥

भाष्यम्—यज्ञेनोत्तममोषधिरसम्पिबन्ति पाययन्ति वा ते सोमपाः ॥

ओं हविर्भुजः पितरस्तृप्यन्ताम् ॥ ३ ॥

भाष्यम्—हविर्हुतमेव यज्ञेन शोधितं वृष्टिजलादिकं भोक्तुं भोजयितुं वा शीलमेषां ते हविर्भुजः ॥

ओमाज्यपाः पितरस्तृप्यन्ताम् ॥ ३ ॥

भाष्यम्—आज्यं घृतं, अज गतिक्लेषणयोर्धात्वर्थादाज्यं विज्ञानम्, १० पान्ति रक्षन्ति पाययन्ति रक्षयन्ति विज्ञानेन ये विद्वांसस्ते आज्यपाः ॥

ओं सुकालिनः पितरस्तृप्यन्ताम् ॥ ३ ॥

भाष्यम्—सोमस्येश्वरविद्योपदेशकरणस्य ग्रहणस्य च कालो येषां ते । यद्वा—ईश्वरज्ञानप्राप्त्या सुखरूपः सदैव कालो येषां ते सुकालिनः ॥

ओं यमादिभ्यो नमः, यमादींस्तर्पयामि ॥ ३ ॥

भाष्यम्—पक्षपातं विहाय व्यवस्थाकर्तारो वा ॥

ओं पितृभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः, पितृंस्तर्पयामि ॥ ३ ॥

भाष्यम्—सुष्ठुतयां श्रेष्ठान् विदुषो गुणान् वासयद्भ्यस्तत्र वसद्भ्यश्च वसुभ्यः विज्ञानाद्यनन्तधनेभ्यः स्वान् जनान् धारयद्भ्यः २० पोषयद्भ्यश्च, यद्वा व्यापकायेश्वराय सर्वत्र वसवे ॥

ओं पितामेहभ्यः स्वाधायिभ्यः स्वधा नमः, पितामहांस्तर्पयामि ॥ ३ ॥

भाष्यम्—रुद्रेभ्यः पक्षपातरहितेभ्यः दुष्टान् रोदयद्भ्यः रुद्राये-  
श्वराय वा ॥

ओं प्रपितामहेभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः, प्रपितामहांस्तर्पयामि ॥ ३ ॥

भाष्यम्—आदित्यवदुत्तमान् गुणान्<sup>१</sup> प्रकाशकेभ्यः विद्वद्भ्यः  
आदित्यविनाशिन ईश्वराय वा ॥

१. शेषस्याविवक्षया नात्र कृद्योगे षष्ठी ।



ओं मात्रे स्वधा नमः, मातरं तर्पयामि ॥ ३ ॥

ओं पितामहं स्वधा नमः, पितामहीं तर्पयामि ॥ ३ ॥

ओं प्रपिताहं स्वधा नमः प्रपितामहीं तर्पयामि ॥ ३ ॥

भाष्यम्—पित्रादिसदृशीभ्यस्तत्स्त्रीभ्यः ॥

५ ओमस्मत्पत्न्यै स्वधा नमः, अस्मत्पत्नीं तर्पयामि ॥ ३ ॥

भाष्यम्—प्रीत्या सत्कारार्थोऽयमारम्भः ॥

ओं सगोत्रेभ्यः स्वधा नमः, सगोत्रांस्तर्पयामि ॥ ३ ॥

भाष्यम्—स्वसमीपं प्राप्तेभ्यः पुत्रादिभ्यः ॥

६ ओमाचार्यादिभ्यः सम्बन्धिभ्यः स्वधा नमः, आचार्यादीन् सम्बन्धि-  
१० नस्तर्पयामि ॥ ३ ॥

भाष्यम्—गुर्वादिसख्यन्तेभ्यः । एतेषां सोमसदादीनां श्रद्धया तर्पणं  
कार्यं विद्यमानानाम् । श्रद्धया यत्क्रियते तत् श्राद्धम् । तृप्त्यर्थं  
यत्क्रियते तत्तर्पणम् ॥

७ वसून् वदन्ति वै पितृन् रुद्रांश्चैव पितामहान् ।

१५ प्रपितामहांश्चादित्याञ्छ्रुतिरेषा सनातनी ॥ [मनु० ३।२८४]

भाष्यम्—यैश्चतुर्विंशतिवर्षपर्यन्तं ब्रह्मचर्यं कृतं ते वसवः पितृवत्  
सत्कर्तव्याः । यैश्चत्वारिंशद्वर्षपर्यन्तं ब्रह्मचर्यं कृतं ते रुद्राः पितामह-  
वत्सत्कर्तव्याः, पित्रपेक्षयाधिकविद्यावत्वात् । यैरष्टचत्वारिंशद्वर्ष-  
पर्यन्तं जितेन्द्रियैर्विद्याध्ययनार्थं ब्रह्मचर्यं व्रतं कृतं, ते आदित्याः प्रपिता-  
२० महवत्सत्कर्तव्याः । पितृपितामहादीनां सकाशात् पूर्णविद्यावत्वात्  
सर्वेभ्योऽधिकसत्कारः कर्तव्यः ॥

अक्रोधनाः शौचपराः सततं ब्रह्मचारिणः ।

न्यस्तशस्त्रा महाभागाः पितरः पूर्वदेवताः ॥

अक्रोधनन्सुप्रसादान्वदन्त्येतान् पुरातनान् ।

२५ लोकस्याप्यायने युक्तान् श्राद्धदेवान्द्विजोत्तमान् ॥

इति मनुस्मृतेस्तृतीयाध्यायस्थौ [मनु० ३।१६२, २१३] श्लोकौ  
स्तः ॥

भाष्यम्—अनेन प्रमाणेन युक्त्या च विद्यमानान्विदुषः श्रद्धया  
सत्कारेण तृप्तान् कुर्यादित्यभिप्रायः । श्राद्धदेवान्द्विजोत्तमानित्युक्त-  
३० त्वात् ॥



अज्ञो भवति वै बालः पिता भवति मन्त्रदः ।

अज्ञं हि बालमित्याहुः पितेत्येव तु मन्त्रदम् ॥

इत्यादिकं मनुस्मृतेर्द्वितीयाध्याये [मनु० २।१५३] उक्तम् ॥

भाष्यम्—ये ज्ञानिनो मनुष्यास्ते पितृवत्सत्कर्तव्याः । कस्मादज्ञं ज्ञानशून्यं मनुष्यं बालमित्याहुः, ज्ञानिनं पितरञ्चेति वेदादिषूक्तत्वात्, ५  
“त्वं नः पिता अविद्यायाः परं पारं तारयतु” इत्यादिश्रुतिभ्यः ॥

इति तर्पणाभिप्राय उक्तः संक्षेपतः ॥

अथ बलिवैश्वदेवविधिर्लिख्यते

वैश्वदेवस्य सिद्धस्य गृह्येऽग्नौ विधिपूर्वकम् ।

आभ्यः कुर्याद्देवताभ्यो ब्राह्मणो होममन्त्रहम् ॥ [मनु० ३।८४] १०

भाष्यम्—यदन्तं पक्वमक्षारलवणं भोजनार्थं भवेत्, तेनैव बलि-  
वैश्वदेवकर्म कार्यम् ॥

ओं पुनन्तु मा देवजनाः पुनन्तु मनसा धियः ।

पुनन्तु विश्वा भूतानि जातवेदः पुनीहि मा स्वाहा ॥

[यजुः १६।३६] १५

भाष्यम्—हे जातवेदः परमेश्वर ! मा नाम माम्, पुनीहि नाम सर्वथा पवित्रं कुरु । भवदुत्पादिता देवजनाः विद्वांसः श्रेष्ठा ज्ञानिनः विज्ञानविद्यादानेन मा माम् पुनन्तु नाम पवित्रं कुर्वन्तु । तथा मनसा नाम भवद्भूतविज्ञानेन भवद्विषयध्यानेन वा नो [धियः] बुद्ध्यः पुनन्तु नाम पवित्रा भवन्तु । तथा भवत्कृपया विश्वा सर्वाणि संसारस्थानि २० भूतानि पुनन्तु नाम पवित्राणि सुखानन्दयुक्तानि भवन्तु ॥

ओमग्नये स्वाहा ॥

भाष्यम्—अग्न्यर्थं<sup>१</sup> उक्तः ।

ओं सोमाय स्वाहा ॥

भाष्यम्—सर्वानन्दप्रदाय सर्वजगदुत्पादकाय च ॥

२५

ओम् अग्नीषोमाभ्यां स्वाहा ॥

भाष्यम्—प्राणापानाभ्याम् । 'अनयोरर्थो गायत्री-मन्त्रार्थ उक्तः ॥

१. अनुपलब्धमूला श्रुतिः ।

२. पूर्वत्र पृष्ठ ३४५ पं० २० ॥

३. प्राणापानशब्दयोरित्यर्थः । द्र०—पृष्ठ ३१३ पं० १८-२१ ॥



ओं विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा ॥

भाष्यम्—विश्वस्थेभ्यो विश्वप्रकाशकेभ्य ईश्वरगुणेभ्यः  
विद्वद्भ्यो वा ॥

ओं धन्वन्तरये स्वाहा ॥

५ भाष्यम्—सर्वरोगविनाशकायेश्वराय ॥

ओं कुहूँ स्वाहा ॥

भाष्यम्—अमावास्येष्टिप्रतिपादितायै चितिशक्तये ॥

ओम् अनुमत्यै स्वाहा ॥

भाष्यम्—विद्यापठनानन्तरं मतिर्मननं ज्ञानं यस्याश्चितिशक्तेः  
१० सा चितिशक्तिरनुमतिः ॥

ओं प्रजापतये स्वाहा ॥

भाष्यम्—सर्वजगतः स्वामी रक्षक ईश्वरः ॥

ओं सहस्रावापृथिवीभ्यां स्वाहा ॥

भाष्यम्—ईश्वरेण सहोत्पादिताभ्याम् । यद्वा—पृथु विस्तारे'  
१५ सर्वस्मिन् जगति विस्तृतो व्यापकः, द्यौः सर्वजगत्प्रकाशकः सुखस्वरूपो  
वेश्वरोऽत्र गृह्यते ॥

ओं स्विष्टकृते स्वाहा ॥

भाष्यम्—सुष्ठु शोभनमिष्टं सुखं करोति यस्स चेश्वरः ॥  
एतैर्मन्त्रैर्होमं कृत्वाग्नेः सजलेन हस्तेन परिक्रमणं कुर्यात् ॥

२० अथ बलिप्रदानम्

ओं सानुगायेन्द्राय नमः (पूर्वस्यां दिशि) ॥

भाष्यम्—नित्यैर्गुणैस्सह वर्तमानः परमैश्वर्यवानीश्वरोऽत्र  
गृह्यते ॥

ओं सानुगाय यमाय नमः (दक्षिणस्यां दिशि) ॥

२५ भाष्यम्—पक्षपातरहितो न्यायकारित्वादिगुणयुक्तः परमात्माऽत्र  
वेद्यः ॥

१. ग्रन्थकार ने सत्यार्थप्रकाश समु० १ में 'पृथिवी' शब्द के निर्वचन-  
प्रसङ्ग में पृथु विस्तारे धातु का निर्देश किया है (द्र०—प्रथम सं० पृष्ठ ११;  
द्वितीय सं० पृष्ठ १८; तृतीय सं० में 'प्रथ विस्तारे' पाठ बनाया गया) ।  
३० ग्रन्थकार स्वीकृत पाठ 'पृथु विस्तारे' ही है । यह इस तुलना से स्पष्ट है  
(विशेष द्र०—स० प्र०, रा० ला० क० द्र० संस्क०, पृष्ठ २७, टि० १) ।



ओं सानुगाय वरुणाय नमः (पश्चिमायां दिशि) ॥

भाष्यम्—विद्याद्युत्तमगुणविशिष्टः सर्वोत्तमः परमेश्वरोऽत्र  
गृहीतव्यः ॥

ओं सानुगाय सोमाय नमः (उत्तरस्यां दिशि) ॥

भाष्यम्—अस्यार्थ उक्तः ॥

५

ओं मरुद्भ्यो नमः (द्वारि) ॥

भाष्यम्—मरुतः प्राणाः, ईश्वराधारेण सकलं विश्वं धारयन्ति  
चेष्टयन्ति च ॥

ओं मद्भ्यो नमः (अप्सु, वायव्यां दिशि) ॥

भाष्यम्—अस्यार्थः शन्नो देवीरित्यत्रोक्तः<sup>१</sup> ॥

१०

ओं वनस्पतिभ्यो नमः (मुसलोलूखले, आग्नेय्यां दिशि) ॥

भाष्यम्—वनानां सर्वलोकानां पतय ईश्वरः । बहुवचनमत्रा-  
दरार्थम् ॥

ओं श्रियै नमः (ऐशान्यां दिशि) ॥

भाष्यम्—श्रीयते सेव्यते सर्वैर्जनैस्सा श्रीरीश्वरस्सर्वसुखशोभा-  
वत्त्वात् ॥

ओं भद्रकाल्यै नमः (नैऋत्यां दिशि) ॥

भाष्यम्—भद्रं कल्याणं सुखं कालयितुं शीलमस्याः सा भद्र-  
कालीश्वरः ॥

ओं ब्रह्मपतये नमः (वास्तुमध्ये) ॥

२०

भाष्यम्—ब्रह्माणस्सर्वशास्त्रविद्यायुक्तस्य वेदस्य पतिरीश्वरः ॥

ओं वास्तुपतये नमः (वास्तुमध्ये) ॥

भाष्यम्—वसन्ति सर्वाणि भूतानि तद्वास्तवाकाशः, तत्पति-  
रीश्वरः ॥

ओं विश्वेभ्यो देवेभ्यो नमः ॥

२५

भाष्यम्—अस्यार्थ उक्तः<sup>३</sup> ॥

१. अस्य 'सोमाय' पदस्येति भावः (द्र०—पृष्ठ ३४६, पं० २५)

२. द्रष्टव्यम्—पृष्ठ २६७ । सन्ध्याया ये मन्त्रा उभयोः संस्करणयोः  
समानाः सन्ति, तेषामर्था अप्यक्षरशः समाना एव विद्यन्ते ।

३. द०—पृष्ठ ३५०, पं० २ ॥

३०



ओं दिवाचरेभ्यो भूतेभ्यो नमः ॥

ओं नक्तञ्चारिभ्यो भूतेभ्यो नमः (आकाशे) ॥

भाष्यम्—दिवसे यानि भूतानि विचरन्ति रात्रौ च, तानि विघ्नं  
मा कुर्वन्तु, तैस्सहाविरोधोऽस्तु नः । एतदर्थोऽयमारम्भः । ईश्वरकृपयैवं  
५ भवेन्नः ॥

ओं सर्वात्मभूतये नमः (पृष्ठवास्तुनि) ॥

भाष्यम्—सर्वेषां जीवात्मनां भूतिर्भवनं सत्तेश्वरो, नान्यः ।  
(अपसव्यम्) ॥

ओं पितृभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः ॥ इति नित्यश्राद्धम् ॥

१० भाष्यम्—अस्यार्थ उक्तः पितृतर्पणे<sup>१</sup> । नम इत्यस्य निरभिमान-  
द्योतनार्थः परस्योत्कृष्टतामान्यज्ञापनार्थः आरम्भः ॥ (सव्यम्) ॥

शुनां च पतितानां च श्वपचां पापरोणिणाम् ।

वायसानां कृमीणां च शनकैर्निर्वपेद् भुवि ॥ [मनु० ३।६२]

भाष्यम्—अनेन षड् भागान् भूमौ कुर्यात् ॥

१५ एवं यस्सर्वभूतानि ब्राह्मणो नित्यमर्चति ।

स गच्छति परं स्थानं तेजोमूर्तिः पथर्जुना ॥ [मनु० ३।६३]

भाष्यम्—एवं सर्वेषां भूतानामर्हिसया सत्कारं करोति यः, स  
पथर्जुना सरलेन मार्गेण परं प्रकृष्टसुखस्वरूपं स्थानं प्राप्नोतीत्य-  
भिप्रायः ॥

२० इति बलिवैश्वदेवविधिः समाप्तः ॥

अथातिथि-पूजनम्

अत्राह मनुः—

कृत्वैतद्वलिकर्मैवमतिथिं पूर्वमाशयेत् ।

भिक्षाञ्च भिक्षवे दद्याद्विधिवद् ब्रह्मचारिणे । १॥ [मनु० ३।६४]

२५ भाष्यम्—गृहस्थः एवमनुनात्प्रकारेण बलिवैश्वदेवं कर्म कृत्वा  
अतिथिं पूर्वं प्रथमं विधिवत्सत्कृत्य भोजयेत् । तथैव ब्रह्मचारिणे  
विद्यार्थिने भिक्षां ग्रहीतुमागताय सत्कृत्य प्रीत्यान्नन्दद्यात् ॥ १॥

१. द्र०—पृष्ठ ३४७, पं० १६ ॥



यत्पुण्यफलमाप्नोति गां दत्त्वा विधिवद् गुरोः।

तत्पुण्यफलमाप्नोति भिक्षां दत्त्वा द्विजो गृही ॥ २॥

[मनु० ३।६५]

भाष्यम्—यादृशस्सत्कारो गुरोः कर्त्तव्यस्तादृश एवातिथेश्च ।  
अतिथेस्सेवया तस्य संगेन च गुरुवत् ज्ञानप्राप्तिर्भवति प्रश्नोत्तरकरणेन । ५  
अतोऽतिथिसेवा सर्वैः कार्येति ॥२॥

भिक्षां वाप्युदपात्रं वा सत्कृत्य विधिपूर्वकम् ।

वेदतत्त्वार्थविदुषे ब्राह्मणायोपपादयेत् ॥३॥ [मनु ३।६६]

भाष्यम्—ईदृग्लक्षणोऽतिथिर्ग्राह्यः—वेदतत्त्वार्थविद्वान् अर्थात्  
वेदशास्त्रवित् वेदस्य यस्तत्त्वार्थ ईश्वरबोधस्तमपि यथावद्वो १०  
जानाति । धर्मात्मा सन् तस्मै ब्रह्मविदे सत्कृत्य विधिपूर्वकं भिक्षां  
भोजनार्थमन्नम् उदपात्रं जलपात्रमन्यद्वस्त्रादिकं वा गृहस्थो  
दद्यादेव ॥३॥

नश्यन्ति हव्यकव्यानि नराणामविजानताम् ।

भस्मीभूतेषु विप्रेषु मोहादज्ञानात् दातृभिः ॥४॥ [मनु० ३।६७] १५

भाष्यम् - दातृभिर्गृहस्थैः भस्मीभूतेषु विद्याविज्ञानशून्येषु धर्मा-  
नुष्ठानरहितेषु प्रमादिष्वतिथिषु मोहादज्ञानात् हव्यकव्यानि देव-  
पित्रर्थसंस्कृतान्युत्तमान्यन्नानि यानि दत्तानि, तानि तेषामविजानतां  
विवेकशून्यानां नराणां गृहस्थानां नश्यन्ति नष्टानि निरर्थकानि  
भवन्तीति वेद्यम् । अतस्तादृशानां दुष्टानामतिथिनां सत्कारो नैव २०  
कार्य इत्यभिप्रायः ॥४॥

विद्यातपःसमृद्धेषु हुतं विप्रमुखाग्निषु ।

निस्तारयति दुर्गाच्च महतश्चैव किल्बिषात् ॥५॥

[मनु० ३।६८]

भाष्यम्—किन्त्वीदृशानामतिथिनां गृहस्थैस्सेवा कार्या । कीदृशा- २५  
नाम्? तद्यथा—“विद्यातपःसमृद्धेषु” विद्या पृथिवीमारभ्येश्वरपर्यन्तानां  
पदार्थानां यथावत्तत्त्वविज्ञानम्, तपश्च न्यायपक्षपातरहितो यो धर्म इन्द्रि-  
याणां विजयश्च, तयोरनुष्ठानेन प्राप्या च ताभ्यां सम्यग्गृह्णा वृद्धास्तेषु,  
कथम्भूतेषु ‘विप्रमुखाग्निषु’ विप्राणां विदुषां मुखानीव अग्निवत्  
प्रज्वलितानि विद्यया प्रकाशितानि येषां ते विप्रमुखाग्नेयस्तेषु ३०



विप्रमुखाग्निष्वनुत्तेषु' धर्मात्मसु सर्वोपरोपकारकेष्वतिथिषु यद्धुतं  
अर्थात् तेभ्यः श्रद्धया दत्तं तच्च 'महत्तः कित्विषात्' तान्दातृन् गृहस्थान्  
'निस्तारयति' उद्धरति तेषां प्रसंगेन नराणां यद्विज्ञानं भवति, अविद्या-  
न्धकार दुःखसागरादुद्धृत्य व्यावहारिकं पारमार्थिकं चानन्दं प्रापयती-  
५ त्यभिप्रायः ॥५॥

सम्प्राप्ताय त्वतिथये प्रदद्यादासनोदके ।

अन्नञ्चैव यथाशक्ते सत्कृत्य विधिपूर्वकम् ॥६॥

[ मनु० ३।६९ ]

भाष्यम्—गृहस्थः सम्यक् प्राप्ताय अतिथये प्रत्युत्थाननमस्का-  
१० रादिकं कृत्वा विधिपूर्वकं सत्कृत्य पुनरासनमुदकञ्च प्रदद्यात् । तथैव  
यथाशक्त्यन्नञ्च ॥६॥

तृणानि भूमिरुदकं वाक्चतुर्थो च सूनृता ।

एतान्यपि सतां गेहे नोच्छिद्यन्ते कदाचन ॥७॥

[ मनु० ३।१०१ ]

भाष्यम्—सतां सत्पुरुषाणां गृहस्थानां गेहे एतानि अपि शब्दाद-  
१५ न्यच्च कदाचन नोच्छिद्यन्ते नष्टानि न्यूनानि अदेयानि वा कदा-  
चिन्न भवन्ति । कानि तानीत्याह—तृणानि घासादीनि, भूमिः निवास-  
स्थानं, उदकं जलं, दुग्धादिकं, मधुरवाणी सूनृता, अन्नञ्चेति गृह-  
स्थास्सदैतान्यतिथिभ्यो ददतीत्यभिप्रायः ॥७॥

२० एकरात्रं तु निवसन्नतिथिर्ब्राह्मणः स्मृतः ।

अनित्यं हि स्थितो यस्मात्तस्मादतिथिरुच्यते ॥८॥

[ मनु० ३।१०२ ]

भाष्यम्—कीदृशो जनोऽतिथिर्भवतीत्याह—य 'एकरात्रम्' एक-  
रात्रिपर्यन्तम् निवासं कुर्यात् सोऽतिथिः स्मृतो भवति । कथम्भूतः  
२५ सः? शमदमादिगुणवान्विद्धेश्वरविच्च, नान्यः पूज्यो भवति । अन्यस्त्वा-  
पत्कालवान् प्राणात्ययसमये अन्नजलादिदातुं योग्यो भवति । अतिथेः किं  
लक्षणमित्याह—यस्मादेकत्र नित्यं स्थितो न भवति; तस्मात् कारणात्  
सोऽतिथिरुच्यते, अविद्यमाना ह्यनियतातिथिर्दिवसो यस्य सोऽतिथि-  
नित्यः ॥८॥



नैकग्रामीणमतिथिं विप्रं सांगतिकन्तथा ।  
उपस्थितं गृहे विद्याद्भार्या यत्राग्नयोऽपि वा ॥६॥

[ मनु० ३।१०३ ]

भाष्यम्—गृहस्थः गृहे यत्र भार्या यत्राग्नयः अग्निहोत्रस्थानं  
पाकशाला वा तत्रापि 'एकग्रामीणम्' एकस्मिन् ग्रामे निवासशीलं ५  
कृटीं मठं मन्दिरादिकं वा रचयित्वा तत्रैकत्र निवसन्तं तथा सांगतिकं  
संगत्या धनं प्रतिष्ठां सत्कारञ्चेच्छन्तं तत्राप्युपस्थितं अतिथिं न विद्यात्  
नैव जानीयात् । ईदृशोऽतिथिर्गृहस्थेन सत्कर्तव्यो नैव भवतीत्यभि-  
प्रायः । सांगतिकं सततं प्रियवागुच्यते । यश्च यथार्थान् गुणान्दोषांश्च  
सन्मुखे समक्षे कथयति, तस्यैव संगेन जनानां सुखलाभो भवति १०  
नान्था ॥

अत्राह विदुरो धृतराष्ट्रं प्रति महाभारते—

पुरुषा बहवो राजन् सततं प्रियवादिनः ।  
अप्रियस्य च पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः ॥

[ उद्योग० ३७।१५ ] १५

भाष्यम्—हे राजन् धृतराष्ट्र ! सततं प्रियवादिनः श्रेष्ठाश्रेष्ठा-  
चारिणामनुकूलवक्ताः पुरुषाः अस्मिन् लोके बहवस्सन्ति, किन्तु  
श्रवणे ह्यप्रियं वचनं भवेत्, परन्तु तद् भवेत्पथ्यं नाम कल्याणकारकं,  
तस्य वक्ता पुरुषः दुर्लभो दुःखेन महाभाग्येन लभ्यो भवति, तथैव  
श्रोता च । ईदृशा अतिथयो गुरव उपदेष्टारश्च श्रेष्ठा भवन्तीत्यभि- २०  
प्रायः ॥६॥

उपासते ये गृहस्थाः परपाकमबुद्धयः ।  
तेन ते प्रेत्य पशुतां व्रजन्त्यन्तादिदायिनाम् ॥ १० ॥

[ मनु० ३।१०४ ]

भाष्यम्—ये गृहस्था भूत्वा परगृहे पक्वमन्नं पुण्यार्थमतिथि- २५  
वद्भोक्तुमिच्छन्ति, तेऽबुद्धयस्सन्तीति वेद्यम् । किन्तु याजनाध्यापकाभ्यां  
मित्रतया च भोजनान्नग्रहणे दोषो नास्ति । यदि तेऽतिथिवत्परान्नं  
भोक्तुमिच्छन्तस्सन्तः परगृहमुपासते, तेन हेतुना दोषेण प्रेत्य मरणं  
प्राप्य अन्नादिदायिनामन्नदातृणां पशुतां व्रजन्ति प्राप्नुवन्त्यभिप्रायः ।



अर्थात् 'गृहस्थेनान्येभ्योऽतिथिभ्योऽन्नादिकं दातुमधिकारः, न चान्येभ्यो ग्रहीतुमिति ॥ १० ॥

अप्रणोद्योऽतिथिः सायं सूर्योढो गृहमेधना ।  
काले प्राप्तस्त्वकाले वा नास्यानश्नन् गृहे वसेत् ॥ ११ ॥

[ मनु० ३।१०५ ]

- ५ भाष्यम्—अस्य गृहस्थस्य अप्रणोद्योऽप्रेरितोऽतिथिः सूर्योढो दिवसे यत्र कुत्र निवसन् सायंकाले प्राप्तः अकाले रात्रौ वा अनश्नन् भोजनमकुर्वन्सन् गृहे न निवसेत् । अर्थात् अन्नजलादिदानेन गृहस्थेनावश्यं सोऽतिथिः सत्कर्तव्य इत्यभिप्रायः ॥ ११ ॥

नैव स्वयन्तदश्नीयादतिथिं यन्न भोजयेत् ।

- १० धन्यं यशस्यमायुष्यं स्वर्ग्यञ्चातिथिपूजनम् ॥ १२ ॥

- भाष्यम् गृहस्थो यदन्नमतिथिं न भोजयेत्, तदन्नं स्वयं नैवाश्नीयात् नैव भुञ्जीत । किन्तु यद्यत्स्वयम्भुञ्जीत, तत्तदतिथयेऽपि दद्यादेव । कुतः ? अतिथिपूजनं धन्यं यशस्यमायुष्यं स्वर्ग्यं भवत्यतः । तद्यथा पुरुषार्थोद्यमयुक्त्युपदेशेन व्यर्थव्ययप्रतिषेधेन च धनस्य लाभः १५ स्थिरता च भवत्यतो धन्यम् । विद्यादिश्रेष्ठगुणग्राहणेन अविद्यादिदुष्टदोषप्रतिषेधेन च यशस्करं भवति । शरीरेन्द्रियवीर्यबुद्धिरक्षोपदेशेन प्रमादव्यभिचारदुष्टाचारप्रतिषेधोपदेशेन चायुष्करं भवति । विद्याधर्मेश्वरोपदेशेनाऽविद्याऽधर्मनास्तिक्यप्रतिषेधयुक्त्युपदेशेनेन्द्रिय - सुखकरं मोक्षकरं चातिथिपूजनमतिथिसत्कारो भवति, अतः कारणाद् २० गृहस्थैरतिथिसत्कारोऽवश्यं कार्य एवेत्यभिप्रायः ॥ १२ ॥

आसनावसथौ शय्यामनुव्रज्यामुपासनम् ।

उत्तामेषूत्तामं कुर्याद्धीनं हीने समे समम् ॥ १३ ॥

[ मनु० ३।१०७ ]

- भाष्यम्—सर्वेषामतिथिनां तुल्या सेवा गृहस्थैर्नैव कार्या, तेषां २५ मयथार्थत्वादयोग्यत्वाच्च । का सेत्यत्राह—आसनं निवासार्थं स्थानं

१. 'गृहस्थस्य' इति सुगमः पाठः । उक्तपाठे तु शेषस्याविवक्षया कर्तरि तृतीया ज्ञेया ।

२. मनुस्मृतेर्मुद्रिते पाठे 'न वै' पाठो दृश्यते ।



गच्छतोऽनुगमनमुपासनाञ्च अर्थात् समीपे स्थित्वा प्रश्नोत्तरकरणम् ।  
एतदुत्तमगुणेषूत्तमं कुर्यात्, समगुणेषु समं, मध्यगुणेषु मध्यमं, न्यूनगुणेषु  
न्यूनञ्च । किन्तु यादृशी यस्य विद्या श्रेष्ठगुणाः शीलञ्च, तादृश एव  
सत्कारः कर्तव्यो नान्यथा ॥ १३ ॥

सुवासिनीं कुमारीञ्च रोगिणीं गर्भिणीं स्त्रियम् ।

५

अतिथिभ्योऽग्न एवैता भोजयेदविचारयन् ॥ १४ ॥

[ मनु० ३।११४ ]

भाष्यम्—सुवासिनी सद्योविवाहिता, कुमारी या ह्यविवाहिता,  
या रोगयुक्ता, या च गर्भवती, तथेदृशाः पुरुषाश्च अतिथिभ्योऽग्रे पूर्व-  
मेव भोजयेत्, नात्र कार्या विचारणा ॥ १४ ॥

१०

भुक्तवत्स्त्वथ विप्रेषु स्वेषु भृत्येषु चैव हि ।

भुञ्जीयातान्ततः पश्चादवशिष्टन्तु दम्पती ॥ १५ ॥

[ मनु० ३।११६ ]

भाष्यम्—विप्रेष्वतिथिषु भुक्तवत्सु कृतभोजनेषु स्वेषु भृत्येषु  
भरणीयेषु पुत्रादिषु कर्मकरेषु च भुक्तवत्सु अथेत्यनन्तरं तत्पश्चादव- १५  
शिष्टं शेषान्नं दम्पती मुख्यौ स्त्रीपुरुषौ भुञ्जीयाताम् भोजनं कुर्याताम् ।  
अयमेव गृहस्थस्य परमो धर्मः ॥ १५ ॥

अर्घं स केवलं भुङ्क्ते यः पचत्यात्मकारणात् ।

यज्ञशिष्टाशनं ह्येतत्सतामन्नं विधीयते ॥ १६ ॥

[ मनु० ३।११८ ] २०

भाष्यम्—यो गृहस्थः बलिवैश्वदेवमतिथिसेवां पुत्रभृत्यादि-  
सत्कारमकृत्वा स्वभोजनार्थमेव पचति पाकं करोति, स अन्नादिकं न  
भुङ्क्ते, किन्त्वर्घं पापमेव भुङ्क्ते । यत्तु यज्ञशिष्टाशनमर्थात् होम-  
करणातिथ्यादिभुक्तशेषमन्नं भवति, तत् सत्पुरुषाणामन्नं भवति । अतो  
विपरीतमन्नमसत्पुरुषाणां भवतीति वेदितव्यम् ॥ १६ ॥

२५

एते मनुस्मृतेस्तृतीयाध्यायस्थाः श्लोकाः सन्तीति वेद्यम् । एवं  
प्रकारेणैतल्लक्षणानतिथीनवश्यं सत्कुर्याद् गृहस्थः, नान्यान् घूतान्  
पाषण्डिनः ॥

इत्यतिथिपूजनविधिः समाप्तः ॥

३०



# अथ लक्ष्मीसूक्तमृगवेदपरिशिष्टस्थं लिख्यते तदर्थश्च

धनादिलक्षणालंकारेण श्रीदः <sup>१</sup>परमात्मा स्तुयते । लक्ष्म्यादिसुख-  
कामो जन एवं स्तुवीत—

५ ओं हिरण्यवर्णां हरिणीं सुवर्णरजतस्रजाम् ।  
चन्द्रां हिरण्मयीं लक्ष्मीं जातवेदो समावह ॥ १ ॥

भाष्यम्—जाता वेदाः सर्वज्ञं शास्त्रं यस्मात्, जातानि वस्तूनि  
सर्वाणि वेत्ति जानाति विन्दति प्राप्नोति प्राप्तोऽस्ति यः, तत्सम्बुद्धौ  
हे जातवेदः परमेश्वर ! लक्ष्मीम् मम समीपे आवह आसमन्तात्  
१० प्रापय देहीत्यर्थः । कथम्भूतां ताम् हिरण्यवर्णाम् हिरण्यस्य सुवर्णस्य  
वर्णं इव वर्णो यस्यास्ताम्, हरिणीम् दर्शनमात्रेणैव जनानां चित्तं  
हर्तुं शीलं यस्यास्ताम् प्रापय । सुवर्णरजतस्रजाम् सुवर्णस्य रजतस्य  
च स्रक् माला यस्यां ताम्, 'चन्द्राम्' आह्लादकर्त्रीम् 'हिरण्मयीं'  
हिरण्यं प्रकृतं प्रभूतमधिकं यस्यां ताम् । ईदृशीं लक्ष्मीं हे ईश्वर !  
१५ नो देहीत्येतदर्थो भवान् प्रार्थ्यतेऽस्माभिः ॥१॥

तां म आ वह जातवेदो <sup>२</sup>लक्ष्मीमलपगामिनीम् ।

यस्यां हिरण्यं विन्देयं गामश्च पुरुषानहम् ॥ २ ॥

भाष्यम्—हे जातवेदः परमात्मन् ! तां लक्ष्मीं मे माम् प्रापय

१. वेदपरिशिष्टानां प्रामाण्याप्रामाण्यविषये सम्पादकीये (पृष्ठ १७)  
२० लिखितम् । अत एतद्विषये तत्रैव द्रष्टव्यम् ।

२. लक्ष्मीशब्दः परमात्मनोऽपि नाम (द्र०—सत्यार्थप्रकाश, सम० १,  
पृष्ठ ३६, रालाकट्संस्क०) । इह तु लक्ष्मीहेतुत्वात् श्रीहेतुत्वात् लक्ष्मी-  
शब्देन श्रीशब्देन च परमात्मा स्तुयते । यथा 'अन्नं वै प्राणिनां प्राणः' इत्यत्र  
प्राणदत्त्वाद् अन्नं प्राणशब्देनोच्यते ।

२५ ३. लक्ष्मीमलपगामिनीम्' इत्यपपाठो मुद्रिते ।



मह्यं देहि । कथंभूताम् अनपगामिनीम्<sup>१</sup> अप दूरं गन्तुं शीलं यस्याः सा  
अपगामिनी, न अपगामिनी अनपगामिनी, तामनपगामिनीम् । [सा]  
भवत्कृपया मत्समीपे स्थिरा भवेत् । यस्यां भवदनुग्रहेण प्राप्तायां  
लक्ष्म्यामधिकं हिरण्यं काञ्चनं सुवर्णमहं विन्देयं प्राप्नुयाम । तथैव  
गां पृथिवीं दुग्धदात्रीं वा, श्रेष्ठमश्वमश्वान्, जात्यभिप्रायादेकवचनम् ।  
पुरुषांश्चोत्तमान् भवद्दत्तान् विन्देयम् । एतत्सर्वं सद्योजहम् प्राप्नुयाम् ।  
एतदर्थं भवत्प्रार्थना क्रियतेऽस्माभिः ॥२॥

अश्वपूर्णा<sup>३</sup> रथमध्यां हस्तिनादप्रमोदिनीम् ।

श्रियं देवीमुप ह्वये श्रीर्मा देवीर्जुषताम् ॥ ३ ॥

भाष्यम्—हे जातवेद ईश्वर ! मदर्थं भवत्प्रेरितां श्रियं मम १०  
समीपमागच्छन्तीमहमुप ह्वये । सा च भवदाज्ञया [मा मां] जुषतां  
सेवतां, मां विहाय इतस्ततः सा मा गच्छतु, किन्तु स्थिरा सती मम  
समीपे सदैव तिष्ठत्वित्यभिप्रायः । कथं भूतां तां श्रियम् ? अश्वपूर्णाम्  
अश्वैः पूर्णा अश्वपूर्णा तां, रथमध्याम् रथा रमणीया मध्ये यस्यां ताम्,  
हस्तिनादप्रमोदिनीम् हस्तिनां नादा हस्तिनादास्तैः प्रमोदयितुं १५  
शीलं यस्यास्ताम् राजश्रियं भवत्कृपाकटाक्षप्रापितामुपह्वये, सदैव  
समीपे रक्षयामीत्यर्थः ॥३॥

कांसोस्मितां हिरण्यप्राकारामाद्रां ज्वलन्तीं तृप्तां तर्पयन्तीम् ।

पद्मेस्थितां पद्मवर्णां तामिहोप ह्वये श्रियम् ॥ ४ ॥

भाष्यम्—हे जातवेद ईश्वर ! तां पूर्वोक्तां भवद्दत्तां श्रियमुपह्वये २०  
समीपे स्पृष्टयामि । पुनः कीदृशीम् कांसोस्मितां<sup>४</sup> कांसघातुरिव उ इति  
वितर्के स्मित किञ्चिद्वसनं शोभासम्पन्नं यस्यां ताम्, हिरण्यप्राकाराम्  
हिरण्यं सुवर्णं प्राकारे नगरावरणे यस्यां ताम्, आद्रां स्नेहयुक्तां, ज्व-  
लन्तीं देदीप्यमानां, तृप्तामानन्देन पूर्णकामां, प्रसन्नां तर्पयन्तीमानन्देन

१. मुद्रिते 'अलपगामिनीम्' इत्यपपाठः । पञ्चदशे मन्त्रे शुद्ध एव पाठ २५  
उपलभ्यते ।

२. मुद्रिते 'अलपगामिनी, तामलपगामिनीम्' इत्यपपाठः ।

३. 'अश्वपूर्वा' इति पाठान्तरम् ।

४. 'कांस्यस्मिताम्' इति पाठान्तरम् । अस्यार्थः—कांस्यघातुरिव स्मितं  
यस्यास्ताम् ।



नः सदा सुखयन्तीं, पद्मेस्थितां पद्मासने विराजमानां शोभारूपां पद्मवर्णां पद्मस्य इव वर्णो यस्याः दर्शनीयां दर्शनप्रियां चक्रवर्तिराज-श्रियं भवत्कृपयाऽहं प्राप्नुयामिहास्मिन्नेव समये चेत्यभिप्रायः॥४॥

चन्द्रां प्रभासां यशसा ज्वलन्तीं श्रियं लोके देवजुष्टामुदाराम् ।

५ तां पद्मनेमि शरणमहं प्रपद्येऽलक्ष्मीर्मे नश्यतां त्वां वृणोमि॥५॥

भाष्यम्—हे जातवेद ईश्वर ! भवदुत्पादितां श्रियमहं प्राप्नुयाम् । कथंभूताम् । 'चन्द्रां' विद्याविज्ञानेनाह्लादप्रदां [प्रभासाम् प्रकृष्टाभाः कान्तिर्यस्यास्ताम्], यशसा पुण्यकीर्त्या ज्वलन्तीं देदीप्यमानां सर्वलोकप्रसिद्धां अस्मिंल्लोके संसारे देवजुष्टां देवैर्ब्रह्मादिभिर्मरीच्याद्यृषिभिर्मनुष्यादिभिर्विद्वद्भिश्चक्रवर्तिमन्वादिभी राजभिश्च 'जुष्टाम्' प्रीत्या सेवितां उदारामुदारशीलाम् असंख्यातदानकर्त्रीम्, पद्मानीव रथानां नेमयश्चक्राणि शोभारूपाणि यस्यां तां पद्मनेमि त्वां हे लक्ष्म्यहं शरणमाश्रयं प्रपद्ये । त्वत्प्राप्त्या मे मम अलक्ष्मीर्दरिद्रा दुःखरूपा नश्यतां नष्टा अदृश्या भवतु, एतदर्थं त्वामहं वृणोमि । 'अचेतनेऽपि चेतनबहु-  
१० पचाराददोषः । यद्वा—हे जातवेद ईश्वर ! त्वामहं शरणं प्रपद्ये प्राप्नुयाम्, आश्रयं त्वामेव वृणोमि स्वीकरोमि । कस्मै प्रयोजनाय, पूर्वोक्तां श्रियं भवत्कृपयाहं प्रपद्ये । तथा भवदनुग्रहेण ममालक्ष्मीस्सद्यो नश्यतामित्यभिप्रायः ॥५॥

आदित्यवर्णे तपसोऽधि जातो वनस्पतिस्तद्य वृक्षोऽथ बिल्वः ।

२० तस्य फलानि तपसा नुदन्तु मा यान्तरा याश्च बाह्या अलक्ष्मीः॥६॥

भाष्यम्—हे आदित्यवर्णे चित्तिशक्ते ! आदित्यस्य वर्ण इव वर्णो यस्याः स्वयंप्रकाशा तत्सम्बुद्धौ । हे जातवेद ईश्वर ! तव तपसो विज्ञानमयादनन्तसामर्थ्याद्विल्ववृक्षः वनस्पतिसंज्ञकः अधिजातः पृथिव्या उपयुत्पन्नः संसारवृक्षो वा । तस्य फलानि तपसा आदित्यतापेन  
२५ यथा नुदन्ति, तस्माद्वृक्षाज्जीर्णानि भूत्वा भूमौ पतन्ति, यथा च संसारवृक्षस्य कालेन पदार्था जीर्णा भूत्वा नश्यन्ति, तथैव माया कपटछलरूपा अन्तराया विघ्नरूपाश्च बाह्या अपमानरूपा त्यक्तव्या वा, एत-

१. द्र० 'अचेतनेष्वपि चेतनबहुपचारो दृश्यते । तद्यथा—अस्तान्यस्य बन्धनानि, सस्यन्तेऽस्य बन्धनानीति ।' महाभाष्य ४।१।२७।

३० २. 'नुदन्तु या अन्तरा' इति पाठान्तरम् ।



दादिलक्षणा अलक्ष्मीः, हे ईश्वर ! भवत्कृपादयो गुणाः नुदन्तु नाम मत्तो दूरीकुर्वन्तु । तथैव च अविद्यालस्यासत्त्वादयो विरोधिनः संसार-स्यापि मत्तो नुदन्तु दूरं गच्छन्त्विति अभिप्रायः ॥६॥

उपैतु मां देवसखः कीर्तिश्च मणिना सह ।

प्रादुर्भूतोऽसि राष्ट्रेऽस्मिन् कीर्तिं वृद्धिं ददातु मे ॥ ७ ॥

५

भाष्यम्—[देवसखः] देवानां दिव्यगुणवतां विदुषां यो नित्यं सखा मित्र ईश्वरो विद्यानिधिर्वा मामुपैतु स्वकृपया प्राप्नोतु, हृदि अन्तरात्मनि प्रकाशितो भवतु । 'मणिना सह' ईश्वरकृपया कीर्तिश्च मामुपैतु । हे परमेश्वर ! अस्मिन् राष्ट्रे अखण्डे राज्ये जगति त्वं प्रादुर्भूतोऽसि, तथा ममापि हृदये प्रादुर्भूतः प्रकटः प्रकाशितो भव । १० यद्वा हे विद्यानिधे! पूर्वोक्ते राष्ट्रे यथा त्वं प्रकाशितोऽसि, तथेश्वरप्रेरितो ममापि हृदये गृहे च प्रकाशितो भव । अचेतनेऽपि चेतनवदुपचाराद-दोषः । भित्तिः पिपतिषतीति यथा लोके । हे जातवेद ईश्वर ! पुण्य-कीर्तिं विद्यादिगुणवृद्धिञ्च मे मह्यं स्वकृपया ददात्वित्यस्माकं भवन्तं प्रति प्रार्थनास्ति, इमां भवान्स्वीकरोतु ॥७॥

१५

क्षुत्पिपासामलाज्येष्ठा अलक्ष्मीर्नाशयाम्यहम् ।

अभूतिमसमृद्धिञ्च सर्वां निर्णुद मे गृहात् ॥८॥

भाष्यम्—हे जातवेद ईश्वर ! भवत्कृपया [क्षुत्पिपासामला] क्षुत् क्षुधारूपा पिपासारूपा मला मलिना, अज्येष्ठा अमान्या इमाश्च-तुविधा अलक्ष्मीः अहं नाशयामि । अभूतिमनैश्वर्यं असमृद्धिं अनृद्धिं २० सुखानामवृद्धिं मे नाम मम गृहात् हे जातवेद ईश्वर ! तां सर्वां त्वं निर्णुद दूरन्निस्सारय, सर्वमैश्वर्यं सर्वसुखवृद्धिञ्चास्मत्प्रार्थितो भवान् ददात्वित्यभिप्रायः ॥८॥

गन्धद्वारां दुराधर्षां नित्यपुष्टां करीषिणीम् ।

ईश्वरीं सर्वभूतानां तामिहोपह्वये श्रियम् ॥ ९ ॥

२५

भाष्यम्—गन्धस्सुगन्धो द्वारे यस्यास्तां गन्धद्वारां सर्वतः सुगन्धिव्याप्तां दुराधर्षाम् दुःखेन आधर्षोऽपमानं यस्यास्तां, किन्तु सर्वैस्सत्कृतां नित्यञ्च या पुष्टा तां नित्यपुष्टां पुष्टिकर्त्रीञ्च । करीषिणीम् पुरुषार्थं कर्तुं शीलं येषां तानीषितुं शीलं यस्यास्तां, सर्वभूतानामश्वरीं सुखदात्रीं तामेवं भूतां श्रियमहमुपह्वये समीपे सदैव ३०



रक्षयामि । हे जातवेद ईश्वर ! तादृशीं श्रियं मह्यं ददात्वित्यभि-  
प्रायः ॥६॥

मनसः काममाकूतिं वाचः सत्यमशीमहि ।

पशूनां रूपमन्नस्य मयि श्रीः श्रयतां यशः ॥१०॥

५ भाष्यम्—हे जातवेद ईश्वर ! मनसः आकूतिं पूर्णानन्दं कामं  
वाचः सत्यं सत्यभाषणाख्यं ज्ञानं भवत्कृपया वयमशीमहि प्राप्तुयाम ।  
पशूनामन्नस्य च रूपं प्रियरूपदर्शनात् पशून्नञ्च वयं अशीमहि ।  
तथा पशूनामन्नस्य श्रीः शोभारूपा पूर्वोक्ता वा मयि भवद्भक्ते श्रयतां  
सेवतां निवसतां यशः कीर्तिश्च सदेत्यभिप्रायः ॥१०॥

१० कर्द्दमेन प्रजा भूता मयि 'सम्भ्रम कर्द्दम' ।

श्रियं वासय मे कुले मातरं पद्ममालिनीम् ॥११॥

भाष्यम्—हे जातवेदः परमेश्वरः ! तव या श्रीः प्रजाभूता  
त्वद्योत्पादिता सा कर्द्दमेन पुरुषार्थेन भवत्कृपया च प्राप्यते । हे कर्द्दम  
पुरुषार्थयुक्तोद्यम मयि सम्भ्रम उद्युक्तः सम्यक् प्रवृत्तो भवेश्वरकृपया;  
१५ परन्तु मम केवलपुरुषार्थेनैव सा श्रीर्न प्राप्यते । तस्मात् हे ईश्वर !  
तां श्रियं कृपादृष्ट्या मे मम कुले कुटुम्बे वासय स्थिरीभूतां कुरु ।  
कथं भूतां [मातरम्] मातृवन्मान्यदात्रीम् तथा पद्ममालिनीम्  
पद्मानां माला विद्यते यस्यां तां पद्ममालिनीम् सर्वशोभायुक्तां मह्यं  
देहीत्यभिप्रायः ॥११॥

२० आपः सृजन्तु स्निग्धानि चिकलीत वस मे गृहे ।

नि च देवीं मातरं श्रियं वासय मे कुले ॥१२॥

भाष्यम्—हे चिकलीत परमेश्वरप्रेरितपुरुषार्थं सर्वद्रव्यविनि-  
मापक ! अचेतनेषु चेतनवदुपचाराददोषः, मे मम गृहे देवीं द्योतना-  
त्मिकां देदीप्यमानाम् मातरं मान्यकारिणीं श्रियं नित्यं निवासय ।  
२५ यद्वा हे चिकलीतेश्वर सर्वद्रव्यविनिमापक ! तां पूर्वोक्तां श्रियं मम  
गृहे नित्यं निवासयेत्यन्वयः । हे जातवेद ईश्वर ! मे मम आपः प्राणाः  
कर्माणि वा स्निग्धानि स्नेहयुक्तानि वस्तूनि भवत्कृपया सृजन्तु रचयन्तु  
चेति प्रार्थितोऽस्माभिर्भवान् ॥ १२ ॥

१. 'सम्भव कर्द्दम' इति पाठान्तरम् ।

३० २. अचेतनेष्वपि चेतनवदुपचाराददोषः पूर्ववत् ।



‘आर्द्रा पुष्करिणीं पुष्टीं सुवर्णां हेममालिनीम् ।

सूर्या हिरण्मयीं लक्ष्मीं जातवेदो ममावह ॥ १३ ॥

भाष्यम्—हे जातवेद ईश्वर ! आर्द्रा परस्परप्रीत्यादिस्नेहयुक्तां पुष्करिणीं पुष्करिण्या इव शोभायुक्तां पुष्टीं पुष्टिरूपां सुवर्णां शोभनो वर्णां यस्यास्ताम्, हेममालिनीम् हेमनः काञ्चनस्य माला विद्यते यस्यास्तां शोभायुक्तां, सूर्या सूर्यवद्गुणैः प्रकाशस्वरूपां हिरण्मयीम् हिरण्यप्रचुराम् लक्ष्मीं सुलक्षणयुक्तां यथोक्तां तां मम समीपे आवह आसमन्तात् प्रापय इत्यर्थः ॥ १३ ॥

आर्द्रा यः करिणीं यष्टीं पिङ्गलां पद्ममालिनीम् ।

चन्द्रां हिरण्मयीं लक्ष्मीं जातवेदो ममावह ॥ १४ ॥ १०

भाष्यम्—यः कारिणीं सुवर्णादिधातुकारिणीं यशस्वरीं वा यष्टीं रथस्य स्थानस्य वा सुवर्णास्तम्भशोभामयीं पिङ्गलां पीतादिशोभनवर्णयुक्तां यथोक्तां लक्ष्मीं हे जातवेदः परमेश्वर मम समीपे आवह आसमन्तात् प्रापय ॥ १४ ॥

तां म आवह जातवेदो लक्ष्मीमनपगामिनीम् ।

यस्यां हिरण्यं प्रभूतं गावो दास्योऽश्वान्विन्देयं पुरुषानहम् ॥ १५ ॥ १५

भाष्यम्—हे जातवेद ईश्वर ! तां पूर्वोक्तां लक्ष्मीं [मे] मम समीपे आवह प्रापय मह्यं देहि, पुनः कथं भूतां लक्ष्मीं सुलक्ष्यां सुलक्षणां अनपगामिनीं सर्वतः स्थिरां, यस्यां लक्ष्म्यां प्रभूतमत्यन्तमधिकं संख्यातोलरहितं सुवर्णं काञ्चनं भवत्कृपयाहं विन्देयं प्राप्नुयाम्, पुनश्च याः श्रेष्ठा गावः इन्द्रियाणि किरणाः कान्तयो वा तथानुत्तमा दास्योऽनुकूलसेवाकर्त्र्यः ताश्चाहं भवत्कृपया विन्देयं तथोत्तमानश्वान्पुरुषांश्च, भवत्कृपया एतत्सर्वं पुष्कलं वयं प्राप्नुयाम् । भवान्नः

१. ‘पक्वां’ इति पाठान्तरम् ।

२. ‘पुष्टि’ इति पाठान्तरम् ।

२५

३. ‘पिङ्गलां पद्ममालिनीम्’ इति पाठान्तरम् । अस्मिन् व्याख्याने त्वयं पाठ उत्तरमन्त्रे दृश्यते ।

४. ‘पुष्करिणीं’ इति पाठान्तरम् ।

५. ‘सुवर्णां हेममालिनीम्’ इति पाठान्तरम् । अस्मिन् व्याख्याने त्वयं पाठः पूर्वमन्त्रे श्रूयते ।



पिता माता बन्धुगुरुः स्वामी च, वयं पुत्रवत्सर्वे भवन्तं प्रति सर्वमेतत्  
प्राप्तुं 'प्रार्थयामः तदिदं सर्वं कृपया नो देहीत्यभिप्रायः ॥१५॥

यः शुचिः प्रयतो भूत्वा जुहुयादाज्यमन्वहम् ।

श्रियः पञ्चदशचर्चञ्च श्रीकामः सततञ्जपेत् ॥१६॥

- ५ भाष्यम्—यो मनुष्यः शुचिः बाह्याभ्यन्तरपवित्रः सम्प्रीत्या युक्तः  
परमेश्वरं प्रार्थयन् सन्नैतैर्मन्त्रैराज्यं घृतं जुहुयादग्नौ प्रतिदिनं परमेश्वरं  
च प्रार्थयेत् । तस्मै पूर्वोक्ता लक्ष्मीः प्राप्ता भवेदेव, यद्वा श्रियं लक्ष्म्याः  
पञ्चदशचर्चम् पञ्चदशमन्त्रात्मकं सूक्तं यः सम्यक् भक्त्या सततं  
जपेत् अनेनेश्वरं प्रतिदिनं प्रार्थयेत् सोऽपीश्वरानुग्रहेण लक्ष्मीं  
१० प्राप्नुयात् ॥१६॥

इति श्रीमद्भयानन्दसरस्वतीस्वामिविरचितं

सन्ध्योपासनादिपञ्चमहायज्ञभाष्यं समाप्तम् ॥

शशिरामाङ्कचन्द्रेण आश्विनस्य सिते दले ।

प्रतिपद्विवारे च भाष्यं वै पूर्तिमगमत् ॥

१५ १. मुद्रिते 'प्रार्थ्यते' इत्यपपाठः ।

२. अर्थात् १९३१ गैक्रमाशब्दे आश्विनमास्य शुक्लपक्षे प्रतिपदि रविवारे  
संध्योपासनादिपञ्चमहायज्ञस्य भाष्यं पूर्णतां प्रापत् ।

अत्र १९३१ गैक्रमाशब्दस्योल्लेखो उत्तरदेशीयपञ्चाङ्गानुसारेणैव ज्ञेयः ।  
गुर्जरपञ्चाङ्गानुसारेण १९३० गैक्रमाब्दो विज्ञेयः ।



---

---

# वेदान्ति-ध्वान्त-निवारणम्

---

---







ॐ ओ३म् ॐ

## अथ वेदान्ति-ध्वान्त-निवारणम्

नवीनतर वेदान्ती लोग कपोलकल्पित अर्थ अनर्थरूप करके जगत् की हानिमात्र कर लेते हैं। तथा मनुष्यों को हठ अभिमानादि दोषों में प्रवृत्त कराके दुःखसागर में डुबा देते हैं। सो केवल अल्प-ज्ञानी लोग इनके उपदेशजाल में फंसके मत्स्यवत् मरण-क्लेशयुक्त होके अधर्म अनैश्वर्य और पराधीनतादि दुःखस्वरूप कारागृह में सदा बद्ध रहते हैं।

एक बात इनकी यह है कि—जीव को ब्रह्म मानना। दूसरी यह है कि—स्वयं पाप करें, और कहें कि हम अकर्ता और अभोक्ता हैं। तीसरी बात यह है कि—जगत् को मिथ्या कल्पित मानते हैं। [चौथी बात यह है कि]—मोक्ष में जीव का लय मानते हैं। तथा न वास्तव मोक्ष और न बन्ध इत्यादि अनेक इनकी मिथ्या बातें हैं। परन्तु नमूने के लिये इन चार बातों का मिथ्यात्व संक्षेप से दिखलाते हैं—

(१) जीव को ब्रह्म मानने में प्रथम इस वाक्य का प्रमाण देते हैं कि—“प्रज्ञानमानन्दं ब्रह्म”। इसको ऋग्वेद का वाक्य कहते हैं, परन्तु ऋग्वेद के आठों अष्टकों में यह वाक्य कहीं नहीं है। किन्तु वेद का व्याख्यान जो “ऐतरेय ब्राह्मण” [है] उस में यह वाक्य है। सो ऐसा पाठ है कि—“प्रज्ञानं ब्रह्म” [ऐ० ब्रा० ५।३]। सो इस वाक्य में ब्रह्म का स्वरूप निरूपण किया है कि—

“प्रकृष्टं ज्ञानं यस्मिन् तत्प्रज्ञानं अर्थात् प्रकृष्टज्ञानस्वरूपम्”।

व्याख्या—जिस में प्रकृष्टज्ञानस्वरूप प्रज्ञान विशेषण से ऐसा

१. ऋषि दयानन्द ने इस पुस्तक से पूर्व सं० १९२७ में ‘अद्वैत मत-संखन’ नाम की एक पुस्तक लिखकर प्रकाशित कराई थी। यह उपलब्ध नहीं होती है। इस के विषय में आरम्भ में ‘लघुग्रन्थ संग्रह’ के अन्तर्गत छोटे ग्रन्थों के ऐतिहासिक विवरण में ‘वेदान्ति-ध्वान्त-निवारण’ के प्रकरण में पूरी जानकारी दी है।



निश्चित हुआ कि जिसको कभी अविद्यान्धकार अज्ञान के लेशमात्र का भी सम्बन्ध नहीं होता, न हुआ और न होगा ! 'ब्रह्म' जो सब से बृद्ध (=बड़ा), और सब जगत् का बढ़ानेवाला, स्वभक्तों को अनन्त मोक्षसुख से अनन्तानन्द में सुख बढ़ानेवाला, तथा व्यवहार में भी बृहत् (=बड़े) सुख का देनेवाला, ऐसा परमात्मा का स्वभाव और स्वरूप है ।

इस वाक्य का नाम "महावाक्य" नवीन वेदान्तियों ने रक्खा है, सो अप्रमाण है । क्योंकि किसी ऋषिकृत ग्रन्थ में इन का "महा-वाक्य" नाम नहीं लिखा है ।

१० [द्वितीय]—"अहं ब्रह्मास्मि" [बृ० उ० १।४।१०] इस वाक्य का वेदान्ती लोग ऐसा अर्थ करते हैं कि—मैं ब्रह्म हूँ, अर्थात् भ्रान्ति से मैं जीव बना था । सो अब मैंने जान लिया कि मैं साक्षात् ब्रह्म हूँ ।

यह अनर्थ इनका बिलकुल खोटा है, क्योंकि पूर्वापर ग्रन्थ का संबंध देखे बिना चोर की नाई बीच में से एक टुकड़ा लेके अपना मतलब सिन्धु का अर्थ करके स्वार्थसिद्धि करते हैं ।

देखा—इस वचन का पूर्वापर संबंध इस प्रकार है—(शतपथ ब्राह्मण काण्ड १४, प्रपाठक ३, ब्राह्मण २, कण्डिका १८)—

२० "आत्मेत्येवोपासीत, अत्र ह्येते सर्वेऽएकं भवन्ति" इत्युपक्रम्य—तदेतत् प्रयः पुत्रात्, प्रेयो वित्तात्, प्रेयोऽन्यस्मात् सर्वस्मादन्तरतरं यदयमात्मा । स योऽन्यमान्मनः प्रियं ब्रूवाणं ब्रूयात् प्रियं<sup>१</sup> रोत्स्य-तीतीश्वरो ह तथैव स्यादात्मानमेव प्रियमुपासीत । स य आत्मानमेव प्रियमुपास्ते न हास्य प्रियं प्रमायुकं भवति ॥१६॥

तदाहुः, यद् ब्रह्मविद्यया सर्वं भविष्यन्तो मनुष्या मन्यन्ते किमु तद् ब्रह्मावेद्यस्मात्तत् सर्वमभवदिति ॥२०॥

२१ ब्रह्म वाऽइदमग्रऽआसीत् । तदात्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मीति । तस्मात्तत् सर्वमभवत्तद्यो यी देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत्-अर्षीणां तथा मनुष्याणाम् ॥२१॥

तद्वं तत् पश्यन् नृषिर्वाग्मदेवः प्रतिपेदे—अहं मनुरभव<sup>२</sup> सूर्यश्चेति

१. अजमेर मुद्रित में 'प्रपाठक २' अपपाठ है । अध्याय क्रमानुसार ३० पता १४।४।२।१८ जानना चाहिये ।



तदिदमप्येतर्हि य एवं वेदाऽहं ब्रह्मास्मीति स इदं<sup>७</sup> सर्वं भवति ।  
 तस्य ह न देवाश्चनाभूत्या ईशतऽआत्मा ह्येषा<sup>७</sup> स भवति । अथ  
 योऽन्यां देवतामुपास्तेऽअन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद, यथा  
 पशुरेव<sup>७</sup> स देवानां यथा ह वै बहवः पशवो मनुष्यं भुञ्ज्युरेवमेकैकः  
 पुरुषो देवान् भुनक्त्येकस्मिन्नेव पशावादीयमानेऽप्रियं भवति किमु ५  
 बहुषु, तस्मादेषां तन्न प्रियं यदेतन्मनुष्या विद्युः ॥२२॥

[ (आत्मा०) ] 'अतुति सर्वत्र व्याप्नोतीत्यात्मा परमेश्वरः' ।  
 इस प्रकरण में यह है कि सब जीव परमेश्वर की उपासना करें,  
 और किसी की नहीं । क्योंकि सर्वव्यापी सर्वान्तर्यामी जो परब्रह्म  
 वह सब से प्रियस्वरूप है, उसी को जानना । पुत्र वित्त धन तथा १०  
 सब जगत् के सत्य पदार्थों से वही ब्रह्म प्रियतर है । तथा अन्तरतर  
 आत्मा का अन्तर्यामी परमात्मा है, जो कि अपने सबों का आत्मा  
 है । जो कोई इस आत्मा से अन्य को प्रिय कहता है, उसके प्रति  
 'बूयात्' कहे कि परमात्मा से तू अन्य को प्रिय बतलाता है, सो  
 तू दुःखसागर में गिरके सदा रोवेगा । और जो कोई परमात्मा को १५  
 छोड़के अन्य की उपासना वा प्रीति करेगा, सो सदा रोवेगा ।  
 जो पाषाणादि जड़ पदार्थों की उपासना करेगा, सो सदैव रोवेगा ।  
 ( आत्मानमेव प्रियमुपासीत, स य आत्मानमेव प्रियमुपास्ते न  
 हास्य प्रियं प्रमायुकं भवति ) और जो सर्वान्तर्यामी सर्वशक्तिमान्  
 न्यायकारी निराकार अज इत्यादि विशेषणयुक्त परमेश्वर की २०  
 उपासना करता है, वह इस लोक जन्म तथा परलोक परजन्म तथा  
 मोक्ष में सर्वानन्द को प्राप्त होता है । और उसी ईश्वर की कृपा से  
 ( ईश्वरो ह तथैव स्यात् ) मनुष्यों के बीच में परमेश्वर्य को प्राप्त  
 होके समर्थ सत्तावान् होता है, अन्य नहीं । तथा ( न हास्य प्रियं  
 प्रमायुकं भवति ) यह जो परब्रह्म का उपासक उसका आनन्द सुख २५  
 'प्रमायुक' नष्ट कभी नहीं होता, किन्तु उसको सदैव स्थिर सुख  
 रहता है । क्योंकि ( अत्र ह्येते सर्व एकं भवन्ति ) जिस ब्रह्मज्ञान में  
 सब परस्पर प्रीतिमान् होके जैसा अपने को सुख वा दुःख प्रिय  
 और अप्रिय जान पड़ता है, वैसा ही सब प्राणीमात्र का सुख और  
 दुःख तुल्य समझके न्यायकारित्वादिगुणयुक्त और सब मनुष्यमात्र ३०  
 के सुख में एकीभूत होके एकीरूप सुखोन्नति करने में प्रयत्न सब



करते हैं। क्योंकि जैसा अपना आत्मा है, वैसा सब के आत्माओं को वह जानता है ॥ १६ ॥

(तदाहुः०) जो मनुष्य ब्रह्मविद्यायुक्त हैं, वे ऐसा कहते हैं कि परमेश्वर के सामर्थ्य से सब जगत् उत्पन्न हुआ, और सब जगत् की उत्पत्ति करनेवाला वही है, ऐसा ब्रह्मविद्यावालों का निश्चय है। सब जगत् में (तद् ब्रह्मावेत्) [वह ब्रह्म] व्याप्त होके सब की रक्षा कर रहा है, (किमु) और कोई अन्य जगत् का कारण नहीं ॥ २० ॥

(ब्रह्म वा इदम्०) सृष्टि के आदि में एक सर्वशक्तिमान् ब्रह्म ही वर्तमान था। सो अपने आत्मा को (अहं ब्रह्मास्मीति तदेवावेत्) १० स्वस्वरूप का विस्मरण उसको कभी नहीं होता। उस परमात्मा के सामर्थ्य से जब जगत् उत्पन्न हुआ, ऐसा विद्वानों के बीच में से जो ब्रह्म को अविद्यानिद्रा से उठके जानता है, सो ही ब्रह्मानन्द सुख-युक्त होता है। तथा ऋषि और मनुष्य इनके बीच में जो अज्ञान-निद्रा से उठके ब्रह्मविद्यारूप प्रकाश को प्राप्त होता है, सो ब्रह्म के १५ नित्य सुख को प्राप्त होता है ॥ २१ ॥

(तद्वैतत्०) इस ब्रह्म को वामदेव ऋषि देखता हुआ प्राप्त हुआ-में मनु और सूर्य नामक ऋषि देहधारी अथवा सूर्यलोकस्थ जन्म-वाला हुआ था। ऐसा विज्ञान समाधिस्थ परमेश्वर के ध्यान में तत्पर जो वामदेव ऋषि उसको प्राप्त हुआ था। सो यह विज्ञान २० जिसको इस प्रकार से होगा, सो भी इस प्रकार जानेगा कि (य एवं वेदाहं ब्रह्मास्मीति) मैं ब्रह्म हूं, अर्थात् ब्रह्मस्थ कि मेरे बाहर और भीतर ब्रह्म ही व्यापक (=भर रहा) है। जो इस प्रकार ज्ञानवाला पुरुष होता है, सो इस सब सुख को प्राप्त होता है। उसके सामने अनैश्वर्यवाले जो देव इन्द्रिय वा अन्य २५ विद्वान् ऐश्वर्यवाले नहीं होते। किन्तु ऐसा जो ब्रह्म का उपासक, सो इन इन्द्रिय और अन्य विद्वानों का आत्मा अर्थात् प्रिय-स्वरूप होता है।

जैसे आकाश से घर भिन्न नहीं होता, तथा आकाश घर से भिन्न नहीं। और आकाश तथा घर एक भी नहीं, किन्तु पृथक्-पृथक् ३० दोनों हैं, एवं जीवात्मा और परमात्मा व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध से



भिन्न वा अभिन्न नहीं हो सकता। सो इसी बृहदारण्यक' के छठे प्रपाठक<sup>३</sup> में स्पष्ट लिखा है। सो यह वचन है:-

‘य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो<sup>३</sup> यमयति स त आत्मान्तर्याम्यमृतः’ ॥

व्याख्या-‘हे जीवात्मन् ! जो परमात्मा तेरा अन्तर्यामी अमृत- ५  
स्वरूप उपास्य है, तेरे में व्यापक होके भर रहा है, तेरे साथ है, और तेरे से अलग है, तथा मिल भी रहा है, जिसको तू नहीं जानता। क्योंकि जिसका तू शरीर है, जैसे यह स्थूल शरीर जीव का है, वैसे परमात्मा का तू भी शरीरवत् है। जो तेरे बीच में रहके तेरा नियन्ता है, उस अन्तर्यामी को छोड़के दूसरे पदार्थों की उपासना मत कर’ ॥ १०

जो अन्य देव अर्थात् ईश्वर से भिन्न श्रोत्रादि इन्द्रिय अथवा किसी देहधारी विद्वान् देव को ब्रह्म जाने, अथवा उपासना करे, वा ऐसा अभिमान करे कि मैं तो ईश्वर का उपासक नहीं, उससे मैं भिन्न हूं, तथा वह मेरे से भिन्न है, उससे मेरा कुछ प्रयोजन नहीं, किंवा ईश्वर नहीं है, अथवा ऐसा कहता है कि मैं १५  
ही ब्रह्म हूं, सो इन्द्रियों वा देहधारी विद्वानों का पशु है। जैसा कि बेल वा गर्दभ, वैसा वह मनुष्य है, जो परमेश्वर की उपासना नहीं करता ॥ २२ ॥

इत्यादि प्रकरण-विचार के बिना चार अक्षर को पकड़के चोरवत् कपोलकल्पित अर्थ का प्रमाण नहीं होता है। ग्रन्थ- २०

१. यह माध्यन्दिन् बृहदारण्यक जानना चाहिये। काण्वबृहदारण्यक, जो प्रायः प्रचलित है, उस में यह पाठ नहीं है।

२. यह प्रपाठक संख्या न शतपथ ब्रा० के अनुसार ठीक है न बृ० उप-निषद् के अनुसार। शतपथ के अनुसार का० १४, प्र० ५, ब्रा० ५ (=का० १४, अ० ६, ब्रा० ७) चाहिये। बृ० उ० के अनुसार प्र० ३ ब्रा० ५ (=अ० २५ ३, ब्रा० ७) होनी चाहिये।

३. स० प्र० समु० ७ (पृष्ठ २८४, रा. ला. क. ट्र. सं०) में ‘आत्मनो-ज्जन्तरो’ पाठ है। यह शतपथानुसारी है। यहां का पाठ बृ० उ० (द्र०-शत० सायणभाष्य भाग ५, पृष्ठ १२४, बम्बई सं०) के अनुसार है।

४. शत १४।६।७।३०; बृ० उ० ३।७।३०॥

३०



विस्तारभय से अधिक नहीं लिखते हैं। यह भी यजुर्वेद का वचन नहीं है, किन्तु शतपथ ब्राह्मण का यह पूर्वोक्त वचन है।

[तृतीय]—वैसे ही “तत्त्वमसि” यह भी सामवेद का वचन नहीं है, किन्तु सामब्राह्मणान्तर्गत ‘छान्दोग्य उपनिषद्’ [६।८।७] का है। इसका भी पूर्वापर प्रकरण छोड़के नवोन वेदान्तियों ने ग्रन्थ कर रक्खा है। उसमें ऐसा प्रकरण है कि:—

‘स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदं<sup>१</sup> सर्वं तत् सत्यं<sup>२</sup> स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति’ ॥ [छां० उ० ६।८।७]

उद्दालक अपने श्वेतकेतु पुत्र को उपदेश देते हैं कि—‘सो १० पूर्वोक्त परमात्मा सब जगत् का आत्मा है। सो कैसा है, कि जो ‘अणिमा’ अत्यन्त सूक्ष्म है कि प्रकृति आकाश और जीवात्मा से भी अत्यन्त सूक्ष्म, तथा वही सत्य है। हे श्वेतकेतो ! यही सब जगत् का अन्तर्यामी आधारभूत सर्वाधिष्ठान है। सो ब्रह्म सनातन निर्विकार सत्यस्वरूप अविनश्वर है।’

१५ (प्रश्न)—जैसे ईश्वर सब जीवादि जगत् का आत्मा है, वैसे ईश्वर का भी कोई अन्य आत्मा है वा नहीं ?

(उत्तर)—(स आत्मा०) परमेश्वर का आत्मान्तर कोई नहीं, किन्तु उस का आत्मा वही है। हे श्वेतकेतो ! जो सर्वात्मा है, सो तेरा भी अन्तर्यामी अधिष्ठान आत्मा वही है। अर्थात् “तदन्तर्यामी २० तदधिष्ठानस्तदात्मकस्त्वमसीति फलितोऽर्थः”। तत्सहचरण वा तत्सहचार उपाधि इस वाक्य में जानना। [यथा—]

‘यष्टिकां भोजय अर्थात् यष्टिकया सहचरितं ब्राह्मणं भोजयेति गम्यते, तथैव तद् ब्रह्मसहचरितंस्त्वमसीत्यवगन्तव्यम्। तथा अहं ब्रह्मास्मीत्यत्राहं ब्रह्मसहचरितो वा ब्रह्मस्थोऽस्मीति विज्ञेयोऽर्थः। २५ तात्स्थोपाधिना यथा मञ्चाः क्रोशन्तीत्यत्र मञ्चस्थाः क्रोशन्तीति विज्ञायते, एवं यत्र यत्रासम्भव आगच्छेत्तत्र तत्रोपाधिनाऽर्थो वेदितव्यः’।

१. अर्थात् ‘अहं ब्रह्माऽस्मि’ वचन।

२. शं० १४।४।२।२१, २२॥



अत्र न्यायदर्शनस्य द्वितीयाध्यायस्थं चतुष्पष्टितमं सूत्रं प्रमाण-  
मस्ति—

‘सहचरणस्थानतादर्थ्यवृत्तमानधारणसामीप्ययोगसाधनाधिपत्येभ्यो  
ब्राह्मणमञ्चकटराजसक्तुचन्दनगङ्गाशाटकान्नपुरुषेष्वतद्भावेऽपि तदु-  
पचारः’ ।

एषु दशविधासम्भवेषु वाक्यार्थेषु दशोपाधयो भवन्तीति  
वेद्यम् ॥

यहां भी सर्वशक्तिमत्त्व भ्रान्त्यादिदोषरहितत्वादिगुणवाले  
ब्रह्म का संभव जीव में कभी नहीं हो सकता है, क्योंकि अल्पशक्ति-  
मत्त्व भ्रान्त्यादिदोषसहितत्वादिगुणवाला जीव है । इससे ब्रह्म जीव १०  
की एकता मानना केवल भ्रान्ति है ।

चौथा—“अयमात्मा ब्रह्म” इसको अथर्ववेद का वाक्य बतलाते  
हैं । यह अथर्ववेद का तो वाक्य नहीं है, किन्तु माण्डूक्योपनिषद्  
[२] आदिकों का है । इसका तो स्पष्ट अर्थ है कि विचारशील  
पुरुष अपने अन्तर्यामी को प्रत्यक्ष ज्ञान से देखके कहता है कि यह १५  
जो मेरा अन्तर्यामी है, यही ब्रह्म है । अर्थात् मेरा भी यह आत्मा  
है । अपने उपास्य का प्रत्यक्षानुभवविधायक जीव के समझने के लिये  
यह वाक्य है ।

तथा—“योऽसावादित्ये पुरुषस्सोऽसावहम्”

यह यजुर्वेद के चालीसवें अध्याय [मन्त्र १७] का वाक्य २०  
है । जो आदित्य में अर्थात् प्राण में पुरुष है, वह मैं जीवात्मा हूं ।  
“आदित्यो वै प्राणः” शतपथब्राह्मणे । तथा—“आदित्यो ह वै प्राणो  
रयिरेव चन्द्रमाः” इति मुण्डकोपनिषदि । इस प्रमाण से जो प्राण  
में पूर्ण, प्राण में सोता, प्राण का प्रेरक, सो जीवात्मा पुरुष मैं हूं ।

“यद्वा परमेश्वरोऽभिवदति—हे जीवाः ! यः असौ आदित्ये २५  
बाह्ये सूर्ये किं वा अन्तर्गते प्राणे स असौ अहमेवास्मीति मां वित्ति” ।

१. यह वचन शतपथ में नहीं मिलता । जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण  
४।२।१ में इसी रूप में पाठ मिलता है ।

२. उक्त वचन मुण्डकोपनिषद् में नहीं है । प्रश्नोपनिषद् १।५ में  
मिलता है ।



‘हे जीवो ! मुझको बाहर और भीतर तुम लोग जानो कि सूर्यादि सब स्थूल जगत् तथा आकाश और जीवादि सूक्ष्म जगत् के बीच में मैं जो ईश्वर सो परिपूर्ण हं। ऐसा तुम लोग मुझको जानो। क्योंकि इस मन्त्र के आगे “अग्ने नय” इत्यादि मोक्षार्थ ईश्वर की प्रार्थना कथित है। तथा “ओं खं ब्रह्म” ओं जिमका सर्वोत्तम नाम है, खं=आकाश की नाई व्यापक सर्वाधिष्ठान जो है, सो सब से बड़ा सब जीवों का उपास्य ब्रह्म है।

“सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत” ।

यह छान्दोग्योपनिषद् [३।१४।१] का वचन है। इसका अर्थ १० भी तात्स्थ्योपाधि से करना—“इदं सर्वं जगत् ब्रह्म अर्थात् ब्रह्मस्थम्। यद्वा इदं यज्जगदधिष्ठानं तत्सर्वं ब्रह्म वा, नात्र किञ्चिद्वस्त्वन्तरं मिलितमिति विज्ञेयम्। यथेदं सर्वं घृतमेव, नेदं तैलादिभिर्मिश्रितमिति ॥”<sup>२</sup>

यह सब जगत् ब्रह्म नाम ब्रह्मस्थ ही है। अथवा यह प्रत्यक्षान्त- १५ यामी जो चेतन, सो केवल एकरस ब्रह्म वस्तु है। इसमें दूसरी कोई वस्तु मिली नहीं। जैसे किसी ने कहा कि यह सब घृत है, अर्थात् तैलादिक से मिश्रित नहीं है, वैसे उस ब्रह्म की उपासना शांत होके जीव अवश्य करे, और किसी की नहीं ॥

(२)—दूसरी यह बात है कि इस शरीर में कर्त्ता और भोक्ता २० जीव ही है, क्योंकि अन्य सब बुद्ध्यादि जड़ पदार्थ जीवाधीन हैं। सो पाप और पुण्य का कर्त्ता और भोक्ता जीव से भिन्न कोई नहीं। क्योंकि ‘बृहदारण्यकादि’ उपनिषद् तथा ‘व्याससूत्र’ और वेदादि-शास्त्रों में यही सिद्धान्त है—“ओत्रेण शृणोति, चक्षुषा पश्यति, बुद्ध्या निश्चिनोति, मनसा सङ्कल्पयति” इत्यादिक प्रतिपादन किये हैं।

२५ १. यजुर्वेद में ‘अग्ने नय’ मन्त्र पूर्व (संख्या १६ में) है। काण्वशाखा में आगे है। परन्तु वहां पूर्व उद्धृत ‘योऽसावादित्ये’ पाठ में कुछ भेद है।

२. ‘सर्वं खलु०’ वाक्य की समालोचना स० प्र० अष्टम समुल्लास में भी की गई है।

३. पूर्वोक्त ‘प्रज्ञानं ब्रह्म’ आदि चारों वाक्यों की समालोचना के लिये ३० सत्यार्थप्रकाश सप्तम समुल्लास का यह प्रकरण भी द्रष्टव्य है।



जैसे 'असिना छिनत्ति शिरः' तलवार को लेके किसी का शिर काटता है। इसमें काटने का कर्त्ता मनुष्य ही है, काटने का साधन तलवार है, तथा काटने का कर्म शिर है। इसमें पाप और दण्ड मनुष्य (=जो मारनेवाला है उस) को होता है, तलवार को नहीं। इसी प्रकार श्रोत्रादिकों से पाप-पुण्य का कर्त्ता भोक्ता जीव ही है, अन्य नहीं।

यह 'गोतम मुनि' तथा 'व्यासादिकों' ने सिद्ध किया है कि—  
'इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिङ्गमिति' [न्याय १।१।१०]।  
ये छः=इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख और ज्ञान आत्मनिष्ठ हैं।

"तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति" [ऋ० १।१६।१२०] इसमें भी १० जीव सुख-दुःख का भोक्ता और पाप पुण्य का कर्त्ता सिद्ध होता है। अनुभव से भी जीवात्मा ही कर्त्ता और भोक्ता है। इसमें कुछ संदेह नहीं कि केवल इन्द्रियाराम होके विषयभोगरूप स्वमतलव साधने के लिये यह बात बनाई है कि... जीव अकर्त्ता, अभोक्ता और पाप-पुण्य से रहित है। यह बात नवीन वेदान्ती लोगों को मिथ्या ही है ॥ १५

(३) — तीसरे इनकी यह बात है कि जगत् को मिथ्या कल्पित कहते और मानते हैं। सो इनका केवल अविद्याधकार का माहात्म्य है। अन्य अधिक न हो<sup>१</sup>, इसलिये जगत् सत्य होने में एक ही प्रमाण पुष्कल है<sup>२</sup> :—

'सन्मूलाः सोम्येमाः' प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः ।' २०

यह छान्दोग्य उपनिषद् [६।८।४] का वचन है।

(अर्थ) — जिसका मूल सत्य है, उसका वृक्ष मिथ्या कैसे होगा ? तथा जो परमात्मा का सामर्थ्य जगत् का कारण है, सो नित्य है। क्योंकि परमात्मा नित्य है, तो उसका सामर्थ्य भी नित्य है। उसी से यह जगत् हुआ। सो यह मिथ्या किसी प्रकार से नहीं होता। २५

१. अर्थात् ग्रन्थ का विस्तार न हो।

२. नवीन वेदान्तमत खण्डन के सम्बन्ध में सत्यार्थप्रकाश समु० ११, पृष्ठ ४३० से ४८४ रा. ला. क. ट. संस्करण द्रष्टव्य है।

३. यही पाठ सत्यार्थप्रकाश समु० ११, पृष्ठ ४३८, पं० २४ (रा. ला. क. ट. संस्करण) में है। छा० उ० में 'सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः' पाठ है। ३०



जो ऐसा कहो कि—“आदावन्ते च यन्नास्ति वर्त्तमानेऽपि तत्तथा” [माण्डूक्योपनिषद् गौडपादीय कारिका ३१] । सो यह बात अयुक्त है, क्योंकि जो पूर्व नहीं है, सो फिर नहीं आ सकता । जिस कप में जल नहीं है, उससे पात्र में जल नहीं आता । इसलिये ऐसा जानना चाहिये कि ईश्वर के सामर्थ्य में अथवा सामर्थ्यरूप जगत् पूर्व था, सो इस समय है और आगे भी रहेगा ।

कोई ऐसा कहे कि—संयोगजन्य पदार्थ संयोग से पूर्व नहीं हो सकता । वियोगान्त में नहीं रहता, सो वर्त्तमान में भी नहीं । सो जानना चाहिये ।

१० इसका यह उत्तर है कि—विद्यमान सत् पदार्थों का ही संयोग होता है । जो पदार्थ नहीं हैं, उनका संयोग भी नहीं होता । इससे वियोग के अन्त में भी पृथक्-पृथक् वे पदार्थ सदैव रहते हैं । कितना ही वियोग हो, तो भी अन्त में अत्यन्त सूक्ष्म पदार्थ रह ही जाता है, इसमें कुछ सन्देह नहीं ।

१५ इतना कोई कह सकता है कि संयोग और वियोग तो अनित्य हुआ । सो भी मान्य करने के योग्य नहीं । क्योंकि जैसे वर्त्तमान में संयुक्त पदार्थ होके पृथिव्यादि जगत् बना है, सो पदार्थों के मिलने के स्वभाव के बिना कभी नहीं मिल सकते । तथा वियोग होने के बिना वियुक्त नहीं हो सकते । सो ~~मिलना और पृथक् होना यह~~ पदार्थों का गुण ही है । जैसे मिट्टी में मिलने का गुण होने से घटादि पदार्थ बनते हैं, बालुका से नहीं । सो मिट्टी में मिलने और अलग होने का गुण ही है, सो गुण सहज स्वभाव से है । वैसे ईश्वर का सामर्थ्य जिससे यह जगत् बना है, उसमें संयोग और वियोगात्मक गुण सहज (=स्वाभाविक) ही है । इससे निश्चित हुआ कि जगत् का कारण जो ईश्वर का सामर्थ्य सो नित्य है, तो उसके वियोग आदि गुण भी नित्य हैं । इससे जो जगत् को मिथ्या कहते हैं, उनका कहना और सिद्धांत मिथ्याभूत है, ऐसा निश्चित जानना ॥

(४)—चौथी इनकी यह बात है कि जीव का लय ब्रह्म में मोक्षसमय में मानते हैं, जैसे समुद्र में बहुत बिन्दु का मिलना ।

३० १. 'मुक्ति में जीव का ब्रह्म में लय होता है' इस मत का खण्डन सत्यार्थ-प्रकाश नवम समु० पृ० ३५१-३५४ रा. ला. क.ट्ट. संस्करण पर भी द्रष्टव्य है ।



यह भी इनकी बात मिथ्या है। इसके मिथ्या होने में प्रमाण हैं। परन्तु ग्रन्थविस्तार न हो, इसीलिये संक्षेप से लिखते हैं।

‘कठवल्ली’ तथा ‘बृहदारण्यकादि’ उपनिषदों में मोक्ष का निरूपण किया है कि:—

‘यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।

बुद्धिश्च न विचेष्टते’ तस्मात्: परमां गतिम्’ ॥

५

[कठो० २।३।१०]

(अर्थ) — जब जीव का मोक्ष होता है, तब पांच ज्ञानेन्द्रियों का ज्ञान मन के साथ अर्थात् विज्ञान के साथ स्थिर हो जाता है। और बुद्धि जो निश्चयात्मक वृत्ति सो चेष्टा न करे, अर्थात् शुद्ध १० ज्ञानस्वरूप जीवात्मा परमात्मा में परमानन्दस्वरूपयुक्त होके सदा आनन्द में रहता है। उसी को परमगति अर्थात् मोक्ष कहते हैं ॥

सो अन्यत्र भी कहा है कि:—

‘परमज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते’ ॥

इति श्रुतिर्बृहदारण्यकस्य’ ॥ १५

[अर्थ—] (परमज्योतिः) जो परमात्मा उसको (उपसंपद्य) अर्थात् अत्यन्त समीपता को प्राप्त होके (स्वेन रूपेण) अर्थात् अविविधादि दोषों से पृथक् होके शुद्ध युक्त ज्ञानस्वरूप और स्वसामर्थ्यवाला जीव मुक्त हो जाता है ॥

वही स्वरूप ‘शारीरकसूत्रों’ के चतुर्थाध्याय के चतुर्थ पाद में २० निरूपण किया है कि—

अभावं वादरिराह ह्येवम् ॥ [वेदान्त ४।४।१०]

मोक्षसमय में मन को छोड़के अन्य इन्द्रिय वा शरीर जीव के साथ नहीं रहते, किन्तु मन तो रहता ही है, औरों का अभाव होता है। यह निश्चय वादरि आचार्य का है ॥

२५

१. यही पाठ सत्यार्थप्रकाश समु० ६, पृष्ठ ३५२ (रा. ला. क. द्र. सं०) में है। कठोपनिषद् में ‘विचेष्टति’ पाठ मिलता है।

२. उक्त पाठ छान्दोग्य उपनिषद् ८।३।४ का है। वहां ‘परं ज्योतिः’ पाठ है।



तथा—भावं जैमिनिविकल्पामनतात् ॥ [वेदान्त ४।४।११]

जैमिनि आचार्य का यह मत मोक्षविषयक है कि जैसे मोक्ष में मन जीव के साथ रहता है, वैसे इन्द्रियों तथा स्वशक्तिस्वरूप शरीर का सामर्थ्य भी मोक्ष में रहता है। अर्थात् शुद्ध स्वाभाविक सामर्थ्ययुक्त जीव मोक्ष में भी रहता है ॥

तथा बादरायण (=व्यासजी) का मत ऐसा है कि—

द्वादशाहबहुभयविधं बादरायणोऽतः ॥ [वेदान्त ४।४।१२]

जैसे मृत-शौच की निवृत्ति के पश्चात् द्वादशवां जो दिन सो सत्रयागरूप माना है, और भिन्न भी माना जाता है। उस दिन में १० यज्ञ के भाव और अभाव दोनों हैं। तद्वत् मोक्ष में भी भाव और अभाव रहता है। अर्थात् स्थूल शरीर तथा अविद्यादि क्लेशों का अत्यन्त अभाव, और ज्ञान तथा शुद्ध स्वशक्ति का भाव सदा मोक्ष में बना रहता है। सच्चिदानन्दस्वरूप परमात्मा के साथ सब जन्म-मरणादि दुःखों से छूटके सदा आनन्द में मुक्त जीव रहता है। यह १५ बादरायण जो व्यासजी उनका मत है ॥

और 'गोतम ऋषि' का भी ऐसा ही मत है। न्यायदर्शन अ० १।आ० १—

दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तराप्राप्ये तदनन्तरा-  
पायादपवर्गः ॥ २ ॥

२० बाधनालक्षणं दुःखम् ॥ २१ ॥

तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः ॥ २२ ॥

मिथ्या ज्ञान ऐसा है कि जड़ में चेतनबुद्धि और चेतन में जड़-बुद्धि इत्यादि अनेक प्रकार का मिथ्या ज्ञान है। उस की निवृत्ति होने से अविद्यादि जीव के दोष निवृत्त हो जाते हैं। दोष की २५ निवृत्ति होने से प्रवृत्ति जो कि विषयासक्ति और अन्याय में आसक्ति है, वह निवृत्त हो जाती है। प्रवृत्ति के छूटने से जन्म छूट जाता है, जन्म के छूटने से दुःख छूट जाता है। सब दुःखों के छूटने से अपवर्ग जो मोक्ष वह यथावत् होता है ॥२॥

बाधना=विविध प्रकार की पीड़ा अर्थात् जो दुःख हैं, उनकी ३० अत्यन्त निवृत्ति के होने से जीव को अपवर्ग जो मोक्ष ईश्वर के



आधार में अत्यन्तानन्द वह सदा के लिये प्राप्त होता है। इस का नाम अपवर्ग अर्थात् मोक्ष है ॥ २१-२२ ॥

इत्यादि अनेक प्रमाण हैं कि मोक्ष में जीव का लय नहीं होता, किन्तु अत्यन्तानन्दरूप जीव रहता है।

एक अन्य भी प्रमाण देते हैं कि:-

‘सत्यां ज्ञानमनन्तं ब्रह्म यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन् ।

सोऽश्नुते सर्वान् कामान् ब्रह्मणा सह विपश्चितेति ॥

तैत्तिरीयोपनिषद्ब्रह्मचनम् [आनन्दवल्ली १।१] ॥

जो जीव सत्य ज्ञान और अनन्तस्वरूप ब्रह्म स्वान्तर्यामी को स्वबुद्धि = ज्ञान में निहित (=स्थित) जानता वा प्राप्त होता है, १० वह परम व्योम = व्यापकस्वरूप जो परमात्मा उस में मोक्षसमय में स्थिर होता है। पश्चात् सर्वविद्यायुक्त सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् जो ब्रह्म उस के साथ सब कामों को प्राप्त होता है। अर्थात् सब दुःखों से छूटके परमेश्वर के साथ सदानन्द में रहता है ॥

जो लोग जीव का लय मानते हैं, उनके मत में अनिमोक्षप्रसङ्ग १५ दोष आता है, तथा मोक्ष के साधन भी निष्फल हो जाते हैं। क्योंकि जैसे सृष्टि के पूर्व ब्रह्म मुक्त था, वही अविद्याभ्रम-अज्ञानोपाधि के साथ होने से बढ़ हो गया है। वैसे ही प्राप्तमोक्ष चेतन को फिर भी अविद्योपाधि का सङ्ग हो जायगा, इससे मोक्ष की नित्यता नहीं रही। तथा जिस मोक्ष के लिये विवेकादि साधन किये जाते २० हैं, उस मोक्ष को प्राप्त होनेवाले जीव का लय ही होना है, [तो] फिर सब साधन निष्फल हो जायेंगे। क्योंकि मुक्तिमुख का आनन्द भोगनेवाले जीव का नामनिशान भी नहीं रहता।

तथा जीव-ब्रह्म की एकता माननेवालों के मत में ब्रह्म ही, २५ भ्रान्त = अज्ञानी हो जाता है। क्योंकि जब सृष्टि की उत्पत्ति नहीं हुई थी, तब ज्ञानस्वरूप शुद्ध ब्रह्म था, वही ब्रह्म अविद्यादि दोषयुक्त होके दोषी हो गया। सो यह वेद उपनिषद् तथा वेदान्तशास्त्रों से अत्यन्त विरुद्ध मत है। “शुद्धमपापविद्धं कविः” इत्यादि यजुर्वेद संहिता [अ० ४०।८] आदि के वचन हैं कि—ब्रह्म सदा शुद्ध पापरहित और सर्वज्ञादि विशेषणयुक्त है। उस में अज्ञानादि दोष कभी नहीं आ ३०



सकते । क्योंकि देश काल वस्तु का परिच्छेद ईश्वर में नहीं ।  
भ्रान्त्यादि दोष अल्पज्ञ जीव में होते हैं, नान्यत्र ॥

(प्रश्न) — तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् ॥

[तै० उ० ब्रह्मानन्द वल्ली ६]

५ अनेनात्मना जीवेनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि ॥

[छा० उ० ६।३।२]

ये तैत्तिरीयोपनिषदादि' के वचन हैं । 'वही ब्रह्म जगत् को उत्पन्न करके फिर प्रविष्ट हुआ । इस में जीवात्मारूप अन्तःकरण में प्रविष्ट होके नामरूप का व्याकरण करूँ । इससे यह सिद्ध होता है

१० कि वही ब्रह्म जीवरूप बना है ॥

(उत्तर) यह आप लोगों का अनर्थकरण है । क्योंकि परिपूर्ण एकरस सब में जो भरा है, वह प्रवेश वा निकलना नहीं कर सकता ।

किन्तु जीव बुद्धि से जब तक अज्ञानी रहता है, और उसी बुद्धि से जीव को जब ज्ञान होता है, तब उसी में परमात्मा प्राप्त होता है, अन्यत्र नहीं । इससे जीव को ऐसा मालूम पड़ता है कि ब्रह्म मेरे में प्रविष्ट हुआ था । वा जब-जब जिस-जिस जीव को ईश्वर का ज्ञान होता है, तब-तब उस-उस को अपने आत्मा में ही होता है । इस से यह भी निश्चित होता है कि प्रवेश का करनेवाला तथा जिस में प्रवेश करता है, उन दोनों का अलग ही होना निश्चित है ।

२० तथा एक प्रवेश का करनेवाला, और दूसरा अनुप्रवेश करने-वाला होता है । क्योंकि—“शरीरं प्रविष्टो जीवः, जीवमनुप्रविष्ट ईश्वरोऽस्तीति गम्यते” । इस प्रकार अर्थ करने से ही यथार्थ अभिप्राय इन वचनों का विदित होता है । किंवा सहार्थ में तृतीया विभक्ति है—“अनेन जीवात्मना शरीरं प्रविष्टेन सह तं जीवमनुप्रविश्याहमी-

२५ श्वरो नामरूपे व्याकरवाणीत्यन्वयः” ।

अत्र प्रमाणम्—

‘द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते’ ॥

[ऋ० १।१६।२०]

[यहां] एक शरीर में जीवात्मा और परमात्मा का विधान, और

३० १. आदि शब्द से छान्दोग्य उपनिषद् का ग्रहण जानना चाहिये । द्वितीया वाक्य छान्दोग्योपनिषद् का है ।



सङ्ग प्रतिपादन है। इस से जीव और ईश्वर का एक मानना केवल जङ्गली पुरुषों की कथा है, ऋषि-मुनि विद्वानों की यह कथा नहीं॥

ईश्वर ने अपने सामर्थ्य से जगत् को बनाया है। इस में प्रमाणः—

त्वमस्य पारे रजसो व्योमनः स्वभूत्योजा अबसे धृषन्मनः ।

चकृषे भूमिं प्रतिमानमोजसोऽपः स्वः परिभूरेष्या दिवम् ॥१॥

ऋ० सं० अ० १ । अ० ४ । व० १४ । मन्त्र २ ॥<sup>१</sup>

(अर्थ) — हे परमेश्वर ! आपने (स्वभूत्या) स्वसामर्थ्य तथा (ओजा) अनन्त पराक्रम से भूमि जल स्वर्ग तथा दिव अर्थात् भूमि से लेके सूर्यपर्यन्त सब जगत् को बनाया है। रक्षण और धारण तथा १० प्रलय आप ही करते हो ॥ १ ॥

न यस्य द्यावापृथिवी अनु व्यचो न सिन्धवो रजसो अन्तमानशुः ।

नोत स्ववृष्टिं मदे अस्य युध्यत एको अन्यच्चकृषे विद्वमानुषक् ॥२॥

ऋ० सं० अ० १ । अ० ४ । व० १४ । मन्त्र ४ ॥<sup>२</sup>

(अर्थ) — हे परमेश्वर ! एक असहाय विश्व सब जगत्, जो १५ कि आप का अनुसङ्गी आपके रचन और धारण से विद्यमान हो रहा है, सो आपसे अलग ही है, आप का स्वरूपभूत नहीं। क्योंकि— “अन्यद्विश्वं स्वस्माद्भिन्नं त्वं चकृषे कृतवानसि” = इस सब जगत् को आपने [अपने] स्वरूप से अन्यत् = भिन्न वस्तुभूत रचा है, आप जगत् रूप नहीं बने ॥ २ ॥ २०

तथा—

अणोरणीयान्महतो महीयानात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम् ।

तमक्रतुः पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादान्महिमानमात्मनः ॥ ३ ॥

[कठो० २।२०]

जो सूक्ष्म से सूक्ष्म, बड़े से बड़ा परमात्मा इस जीव के ज्ञान २५ अर्थात् जीव के बीच में निहित (=स्थित) है। परन्तु उस सर्वात्मा

१. अजमेरमुद्रित में ‘वर्ग १३ मन्त्र १२ अपपाठ है। यह चौदहवें वर्ग का दूसरा मन्त्र है। मण्डलक्रमानुसार १।५२।१२ पता जानना चाहिये।

२. अजमेरमुद्रित में ‘मन्त्र १४’ अपपाठ है। यह चौदहवें वर्ग का चौथा मन्त्र है। मण्डलक्रमानुसार १।५२।१४ पता जानना चाहिये। ३०



को अभिमानशून्य शोकादिदोषरहित परमात्मा का कृपापात्र जीव ज्ञान से देखता है। और उस आत्मा अन्तर्यामी परमात्मा की महिमा सर्वशक्तिमत्त्व और व्यापकत्वादि गुण को भी वही देखता है, अन्य नहीं ॥ ३ ॥

५ इसमें भी जीव-ईश्वर का भेद निरूपित है।

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्।  
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम् ॥४॥  
[कठोप० ३।१५]

और जो परमात्मा [नित्य] प्रकृति और जीवादि के बीच में नित्य  
१० है, तथा चेतन जो जीव उनके बीच में चेतन है, बहुत = असङ्ख्यात जीवादि पदार्थों के बीच में जो एक है, तथा जो पृथिव्यादि स्वर्ग पर्यन्त पदार्थों का रचन किंवा ज्ञान से सब कामों का विधान प्राप्त करता है, उस परमात्मा को जो जीव अपने आत्मा में ध्यान से देखते हैं, उन जीवों को ही निरन्तर शान्ति = सुख प्राप्त होता है, अन्य १५ को नहीं ॥ ४ ॥

इससे भी 'आत्मस्थ' शब्द प्रत्यक्ष होने से ईश्वर और जीव का व्यापक-व्याप्य, तथा अन्तर्यामी-अन्तर्याम्य सम्बन्ध होने से जीव और ब्रह्म एक कभी नहीं होते।

व्याससूत्र—

२० नेतरोऽनुपपत्तेः ॥ [वेदान्त १।१।१६]

इतर जीव से जगत्-रचना की चेष्टा नहीं हो सकती ॥

भेदव्यपदेशाच्च ॥ [वेदान्त १।१।१७]

ब्रह्म और जीव दोनों भिन्न ही हैं ॥

मुक्तोपसृत्य<sup>१</sup> व्यपदेशात् ॥ [वेदान्त १।३।२]

२५ मुक्त पुरुष ब्रह्म के समीप को प्राप्त होके आनन्दी होते हैं ॥

प्राणभृच्च ॥ [वेदान्त १।३।४]

प्राणधारी जीव जगत् का कारण नहीं ॥

विशेषणभेदव्यपदेशाभ्यां नेतरो ॥ [वेदान्त १।२।२२]

१. वेदान्त शाङ्करभाष्य में 'मुक्तोपसृत्य' पाठ है।



विशेषण दिव्य और सर्वज्ञादि भेदव्यपदेश [से] जीव और प्रकृत्यादि से परमात्मा परे है ॥

इससे जीव और प्रकृति जगत् के कारण नहीं हैं। जो जीव और ब्रह्म पृथक् न होते, तो जगत् के कारण होने में विषेध न करते। और जो जीव-ब्रह्म एक होते, तो निषेध का संभव नहीं हो सकता। ५  
इत्यादि व्यास के शारीरिक सूत्रों से भी स्पष्ट सिद्ध होता है कि जीव और ब्रह्म एक नहीं, किन्तु अलग-अलग हैं ॥

तथा नवीन वेदान्ती लोगों ने [ एक ] पंचीकरण की कल्पना निकाली है, सो भी अयुक्त है। त्रिवृत्करण छान्दोग्योपनिषद् में लिखा है, क्योंकि आकाश का पंचीकरण विभाग वा संयोग करना असम्भव है। १०

नवीन वेदान्ती लोगों के प्रचार से मनुष्य के सुखादि की अत्यन्त हानि होती है। क्योंकि इन लोगों में दो बड़े दोष हैं—एक जगत् को मिथ्या मानना, और दूसरा जीव-ब्रह्म को एक मानना ॥

जगत् मिथ्या मानने में ऐसा कहते हैं कि यह जगत् स्वप्न के तुल्य है। सो यह उनका कहना मिथ्या है। जिसकी उपलब्धि होती है, और जिसका कारण सत्य है, उसको मिथ्या कहनेवाले का कहना मिथ्या है। स्वप्न भी दृष्ट और श्रुत संस्कार से होता है। दृष्ट और श्रुत संस्कार प्रत्यक्षानुभव के बिना स्वप्न ही नहीं होता। सर्वज्ञ और अवस्थादि रहित होने से परमात्मा को तो स्वप्न ही नहीं होता। २०

जो जीव ब्रह्म हो, तो जैसी ब्रह्म ने यह असंख्यात सृष्टि की है, वैसे एक मक्खी वा मच्छर को भी जीव क्यों नहीं कर सकता? इससे जगत् को मिथ्या और [जीव-] ब्रह्म की एकता मानना ही मिथ्या है। जगत् को मिथ्या मानने में जगत् की उन्नति, परस्पर प्रीति, और विद्यादि गुणों की प्राप्ति करने में पुरुषार्थ और श्रद्धा अत्यन्त नष्ट होने से जगत् के जितने उत्तम कार्य हैं, वे सब नष्ट-भ्रष्ट हो जाते हैं। २५

जीव और ब्रह्म को एक मानने से परमार्थ सब नष्ट हो जाता है। क्योंकि परमेश्वर की आज्ञा का पालन स्तुति प्रार्थना उपासना करने की प्रीति बिलकुल छूटने से केवल मिथ्याभिमान, स्वार्थसाधन-तत्परता, अन्याय का करना, पाप में प्रवृत्ति, इन्द्रियों से विषयों के



भोग में फंसने से अत्यन्त पामरता, और पतितादिक दोषयुक्त होके अपने मनुष्यजन्म धारण करने के जो कर्तव्य धर्म अर्थ काम और मोक्ष चारों फल नहीं होने से मूर्तिपूजनादि व्यवहारों के करने से उस जीव का जन्म निष्फल हो जाता है ।

- ५ इससे मनुष्यों को उचित है कि सद्बिद्यादिक उत्तम गुणों का जगत् में प्रचार करना, व्यवहार परमार्थ की शुद्धि, और उन्नति करना, तथा वेदविद्यादि सनातन ग्रन्थों का पठनपाठन, और नाना भाषाओं में वेदादि सत्यशास्त्रों का सत्यार्थ प्रकाश करना, एक निराकार परमात्मा की उपासनादि का विधान करना, कलाकौशलादि से
- १० स्वदेशादि मनुष्यों का सुखविधान, परस्पर प्रीति का करना, हठ-दुराग्रह दुष्टों के संगति को छोड़ना, उत्तम-उत्तम पुरुष तथा स्त्री लोगों की सभाओं से सब मनुष्यों का हिताहित विचारना, और सत्य व्यवहारों की उन्नति करना, इत्यादि मनुष्यों को अवश्य कर्त्तव्य है । इन को सब विरोध छोड़के सिद्ध करना, यही सब सज्जनों से हमारा
- १५ विज्ञापन है । इसको सज्जन लोग अवश्य स्वीकार करेंगे, ऐसी मुझ को पूर्ण आशा है ।

सो इसकी सिद्धि के लिये सर्वशक्तिमान्, सब जगत् के पिता-माता राजा बन्धु जो परमात्मा, उनसे मैं अत्यन्त तन्त्र होके प्रार्थना करता हूँ कि सब मनुष्यों पर कृपा करके असन्मार्ग से हटाके

२० सन्मार्ग में चलावें । यही हमारा परम गुरु है ॥

[ इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यदयानन्दसरस्वती-  
स्वामिनिर्मितं श्रौतमार्गानुकूलवादानुवादसहितं  
वेदान्ति-ध्वान्त-निवारणम् पूर्तिमगमत् ॥ ]





---

---

# वेदविरुद्धमत-खण्डनम्

---

---







❀ ओ३म् ❀

## [ वेदविरुद्धमत-खण्डनम् ]

अथ वल्लभादिमतस्थान् प्रति प्रश्नाः खण्डनञ्च

- १—(प्र०) कोऽयं वल्लभो नाम, कश्चात्स्यार्थः ?
- २—(उ०) वल्लभोऽस्मदाचार्यः । प्रियत्वगुणविशिष्टोऽस्यार्थः । ५
- ३—(प्र०) किमाचार्यत्वं नाम, भवन्तश्च के ?
- ४—(उ०) गुरुराचार्यः, वयं वर्णाश्रमस्थाः ।
- ५—(प्र०) किं गुरुत्वमस्ति ?
- ६—(उ०) उपदेष्टृत्वमिति वदामः ।
- ७—(प्र०) स वल्लभो धर्मात्मनां विदुषां प्रियः, उताधर्मात्मनां १०  
मूर्खाणां च ?
- ८—(उ०) नाद्यः, कुतो भवतां सर्वेषान्तु धर्माचरणविद्यावत्त्वा-

## [ आर्यभाषानुवाद ]

- १—(प्र०) वल्लभनामक पुरुष कौन है, और इस शब्द का अर्थ क्या है ? १५
- २—(उ०) वल्लभ हमारा आचार्य्य है । इस 'वल्लभ' शब्द का अर्थ प्रीतिगुणयुक्त प्यारा है ।
- ३—(प्र०) आचार्यपन क्या है, और आप लोग कौन हैं ?
- ४—(उ०) गुरु को 'आचार्य' कहते हैं, और हम लोग वर्णाश्रमधर्मस्थ हैं । २०
- ५—(प्र०) गुरूपन क्या वस्तु है ?
- ६—(उ०) उपदेश करना, इसको हम गुरूपन कहते हैं ।
- ७—(प्र०) वह वल्लभनामी पुरुष धर्मात्मा विद्वानों को प्रिय है, अथवा अधर्मी और मूर्खों को प्रिय है ?
- ८—(उ०) आद्यपक्ष अर्थात् धर्मात्मा विद्वानों को वह प्रिय है, २५  
नहीं हो सकता । क्योंकि आप सब लोगों का तो धर्माचरण और विद्या-



भावात्, किन्तु कश्चित्तादृशोऽस्ति । न चरमः, अधर्मात्मनां मूर्खाणां तत्र प्रीत्या स एवाश्रेष्ठः स्यात्, स्वजातिपरत्वप्रवाहस्य विद्यमानत्वात् ।

अन्यच्च—सजीवान्प्रति सर्वेषां प्रीतेः सत्त्वान्मृतांश्च प्रति प्रीते-  
रभावात्नैष्फल्याच्च तत्र वल्लभत्वमेव दुर्घटम् । मृतस्याचार्यत्वकरणा-  
संभवात् । “समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठं गुरुं समुपगच्छेद्” इति  
श्रुतेर्वर्त्तमानाभिप्रायत्वात् ।

“उपनीय तु यश्शिष्यं वेदमध्यापयेद् द्विजः ।

सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते” ॥ [मनु० २।१४०]

इति मनुमतविरोधात् ।

१० मरणानन्तरमध्ययनाऽध्यापनयोरशक्यत्वात्, शरीरमात्रसंबन्धा-  
भावाच्चेति युक्त्या तस्मिन्नाचार्यत्वमेवासङ्गतम् । तथा च मृतम्प्रति

वान् होना सम्भव नहीं, किन्तु कोई वैसा है । द्वितीयपक्ष इसलिये ठीक  
नहीं कि वल्लभ मूर्खों को प्रिय हो, तो उसमें मूर्खों की प्रीति होने से  
वह ही अश्रेष्ठ समझा जावे । क्योंकि अपने-अपने सजातीय में प्रीति  
१५ होने का प्रवाह प्रसिद्ध है । अर्थात् विद्वानों की विद्वानों में और मूर्खों  
की मूर्खों में प्रीति विशेष होती है ।

और भी देखो—जीवितों में सब की प्रीति होने, मरे  
हुओं में न होने, और मरों में प्रीति करना निष्फल होने से उस  
पुरुष में वल्लभत्व अर्थात् प्रियपन होना ही नहीं घट सकता । और  
२० मरे हुये को गुरु करना भी असम्भव है । वेद में लिखा है कि—“वेद-  
वेत्ता ब्रह्मज्ञानी पुरुष के पास हाथ में समिध लेके जावे” । इससे  
सिद्ध है कि मरे हुये के पास में समिध लेके जाना असम्भव है ।  
और—“जो द्विज यज्ञोपवीत कराके कल्पसूत्र और वेदान्तसहित शिष्य  
को वेद पढ़ावे, उसको ‘आचार्य’ कहते हैं” । इस मानवधर्मशास्त्र  
२५ की सम्मति से भी वल्लभ का आचार्यत्व होना विरुद्ध है ।

मरने के पश्चात् पढ़ना-पढ़ाना आदि जो आत्मधर्म हैं, वे नहीं हो  
सकते । क्योंकि इन धर्मों का शरीरमात्र से सम्बन्ध नहीं है । इस प्रकार  
की युक्तियों से वल्लभ को आचार्य मानना ही असङ्गत है । इसी

१. मुण्डकोपनिषदि (२।१२)—‘तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्  
३० समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्’ इत्येवं श्रुतेः पाठः । इहास्या श्रुतेर्भावि उक्तः ।



प्रीतिरशक्या निष्फला च । तत्र प्रियत्वगुणविशिष्टवचनत्वमध्यसङ्गतम्, तस्य भ्रान्तिनिष्ठत्वात् ।

६—(प्र०)। किङ्गुरुत्वम् ? सत्योपदेष्टृत्वम् आहोस्विदंसत्योपदेष्टृत्वञ्च ?

१०—(उ०) नादिमः, कुतो भवत्सु श्रोत्रियब्रह्मनिष्ठत्वासत्वात् । ५ अस्ति चेन्न सङ्गच्छते, विषयसेवायां प्रीतेर्दर्शनात् । “अर्थकामेष्वसक्तानां धर्मज्ञानं विधीयते” इति मनुसाक्ष्यविरोधाद् भवतामर्थकामेष्वेवासक्तेः प्रत्यक्षत्वात् स्त्रीषु धनेषु चात्यन्तप्रीतेर्विद्यमानत्वात्, मरणसमयेऽपि स्वशिष्याणां वक्षस्थलस्योपरि पादं स्थापयित्वा धनादीनां पदार्थानां संग्राहकत्वाद्यथा मृतकस्य शरीरस्य वस्त्राऽऽभूषणादीन् १० पदार्थान् कश्चिद् गृह्णाति, भवतान्तेन तुल्यत्वाच्च ।

नान्त्यः, [असत्योपदेष्टृत्वात् ।] असत्योपदेशस्यानभिधानाद् द्वयो-

कारण मरे से प्रीति करना अशक्य और निष्फल है । और वल्लभ के भ्रान्तिग्रस्त होने से उसको प्रियत्वगुणयुक्त कहना भी असङ्गत है ।

६—(प्र०) गुरुपन क्या वस्तु है ? क्या सत्योपदेश करना, १५ वा असत्य उपदेश करना गुरुपन कहाता है ?

१०—(उ०) प्रथम पक्ष अर्थात् सत्योपदेश करनारूप गुरुत्व नहीं घटता । क्योंकि सत्योपदेष्टा गुरु तुम में इससे नहीं हो सकते, कि आप लोगों में वेदवेत्ता और ब्रह्मज्ञानी जन नहीं हैं । यदि कहो कि हैं, तो तुम्हारा कहना असङ्गत है, क्योंकि तुम लोगों की प्रीति २० विषयों की सेवा में प्रसिद्ध दीखती है । धर्मशास्त्र में कहा है कि — “अर्थ और काम में जो आसक्त नहीं उनके लिये धर्मज्ञान का विधान है ।” इससे विरुद्ध आप लोगों की आसक्ति द्रव्य और कामचेष्टा ही में प्रसिद्ध है । स्त्रियों और धनों में तुम्हारी अत्यन्त प्रीति प्रत्यक्ष विद्यमान है । और मरण-समय में भी अपने शिष्यों की छाती पर पैर २५ रखकर धनादि पदार्थों का संग्रह करते हो, और महाब्रह्मण वा चाण्डालादि के तुल्य मृतक के वस्त्र-आभूषणादि पदार्थों को लेते हो, इससे महाब्राह्मण के तुल्य हुये ।

और द्वितीय पक्ष, असत्योपदेश करने से भी वल्लभ गुरु नहीं हो सकते । क्योंकि असत्योपदेश से गुरु मानना शास्त्रविरुद्ध है, और ३०



दुःखफलस्य प्रापकत्वाच्च । स्वपुत्रादीन्प्रति पिनुर्गुस्त्वाऽधिकारादन्यान्  
प्रति गुस्त्वाभिमानानभिधानाद्भवत्सु गुस्त्वस्य विरह एवेत्यवगन्त-  
व्यम् ।

“निषेकादीनि कर्माणि यः करोति यथाविधि ।

५ सम्भावयति चान्तेन स विप्रो गुरुरुच्यते” ॥ [मनु० २।१४२]

इति मनुसाक्ष्यविरोधात्, अविवाहितस्त्रियां वीर्यनिषेकस्य पाप-  
फलत्वाच्चेति ।

भवन्तो वर्णाश्रमस्थाश्चेत्तर्हि वेदोक्तानि वर्णाश्रमस्थकर्तव्यानि  
कर्माणि कुतो न क्रियन्ते ? क्रियन्ते चेन्मूर्तिपूजनं कण्ठीधारणन्तिलकं

१० समर्पणं वेदानुक्तमन्त्रोपदेशञ्च त्यजन्तु । नो चेद्वेदोक्तधर्माचरण-  
विरोधाद् भवन्तो वर्णाश्रमस्था एव नेति मन्तव्यम् ।

११—(प्र०) भवन्तो गुरुवः शिष्या मध्यस्था वा ?

१२—(उ०) गुरुवश्चेदर्थज्ञानपूर्वकान् वेदान् पाठशालाङ् कृत्वा  
कुतो नाध्यापयन्ति ? शिष्याश्चेत् कथं न पठन्ति ? मध्यस्थाश्चेद्

१५ दोनों गुरु-शिष्य दुःखफलभागी होते हैं । अपने पुत्रों के प्रति गुरु होने  
का मुख्य अधिकार पिता को है । अन्य किसी का स्वयमेव गुरु बन  
बैठने का धर्मशास्त्र में विधान न होने से आप लोगों में गुस्त्व कदापि  
संघटित नहीं हो सकता । धर्मशास्त्र में कहा भी है—“जो विधिपूर्वक  
गर्भाधानादि कर्मों को करता, और अन्नादि से पालन करता है, वह

२० ब्राह्मण‘गुरु’कहाता है” । इससे अन्य को गुरु मानना[शास्त्र]विरुद्ध है ।  
और अविवाहित स्त्री में गर्भाधान करना पाप है, इससे मुख्य कर पिता  
ही गुरु हो सकता है ।

यदि आप लोग वर्णाश्रमधर्मस्थ अपने को मानते हैं, तो वर्णा-  
श्रम के कर्तव्य वेदोक्त कर्म क्यों नहीं करते ? यदि करते हो, तो  
२५ पाषाणादि मूर्तिपूजन, कण्ठी बांधना, तिलक लगाना, समर्पण करना,  
और वेद में न कहे हुये मन्त्रों का उपदेश करना छोड़ देओ । यदि  
ऐसा नहीं करते, तो वेदाक्त वर्णाश्रमधर्म के आचरण से विरुद्ध  
होने से आप लोग वर्णाश्रमधर्मस्थ नहीं हो सकते, यह निश्चय  
जानना चाहिये ।

३० ११—(प्र०) आप लोग गुरु शिष्य वा मध्यस्थ हो ?

१२—(उ०) यदि गुरु हो, तो पाठशाला कर अर्थज्ञानपूर्वक  
वेदों को क्यों नहीं पढ़ाते ? यदि शिष्य हो, तो क्यों नहीं पढ़ते ?



ब्राह्मणाचार्याभिमानो भवत्सु व्यर्थोऽस्तीत्यवगन्तव्यम् ।

१३—(प्र०) भवन्तो वेदमतानुयायिनः, तद्विरोधिनी वा ?

१४—(उ०) यदि वेदमतानुयायिनस्तर्हि वेदोक्तविरुद्धं स्वकपोल-  
कल्पितं वल्लभसंप्रदायमन्यं वा किमर्थं मन्यन्ते ? वेदविरोधिनश्चे-  
न्नास्तिकत्वं शूद्रत्वञ्च किमर्थं न स्वीक्रियते ?

“नास्तिको वेदनिन्दकः” [मनु० ५।१।१॥]

“योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम् ।

स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः” ॥ [मनु० २।१।६८]

इति मनुसाक्ष्यविरोधात् ।

पुनर्हि जन्ममरणवतो देहधारिणः कृष्णादीञ्जीवानीश्वरत्वेन १०  
किमर्थं व्यवहरन्ति ? नो चेन्मन्दिरे जडमूर्तिस्थापनञ्च कृत्वा  
घण्टादिनादञ्चाज्ञानिनां मिथ्योपदेशव्याजेन घनादीन् पदार्थान्किमर्थ-  
माहरन्ति ?

यदि मध्यस्थ हो, तो आप में ब्राह्मण और आचार्य होने का अभिमान  
व्यर्थ है, यह निश्चय जानना चाहिये ।

१५

१३—(प्र०) आप लोग वेदमतानुयायी हो, वा वेदमत के  
विरोधी हो ?

१४—(उ०) यदि वेदमतानुयायी हो, तो वेदविरुद्ध अपने  
कपोलकल्पित वल्लभ वा अन्य सम्प्रदाय को क्यों मानते हो ?  
यदि वेदविरोधी हो, तो अपने को नास्तिक और शूद्रकक्षा में क्यों २०  
नहीं मानते ? धर्मशास्त्र में लिखा है कि—“वेदनिन्दक ही  
नास्तिक होता है” । और “जो वेद को न पढ़के अन्य ग्रन्थों में  
परिश्रम करता है, वह अपने कुटुम्बसहित जीवते ही शूद्र हो जाता  
है” । इससे नास्तिक और शूद्रकक्षा के योग्य हो ।

फिर जन्मने-मरनेवाले श्री कृष्णजी आदि देहधारी जीवों में २५  
ईश्वर के भाव का व्यवहार क्यों करते हो ? यदि कहो कि  
हम श्रीकृष्णादि को ईश्वर नहीं मानते, तो मन्दिरों में उनकी  
जडमूर्ति स्थापन और घण्टादि बजाकर उपदेश के छल से अज्ञानियों  
के घनादि पदार्थ क्यों हरते हो?

॥



१५—(प्र०) भवन्तः स्वस्मिन् कृष्णत्वं मन्यन्ते, उत मनुष्यत्वम् ?

१६—(उ०) कृष्णत्वं मन्यन्ते चेद्यादवक्षत्रियाभिमानित्वं कुतो न स्वीक्रियते ? तादृशः पराक्रमो भवत्सु कुतो न दृश्यते ? कृष्णस्तु परमपदं प्राप्तो, भवन्तः कथञ्जीवनवन्तश्च ? मनुष्यत्वं चेत्तहि ५ स्वोत्तमाभिमानस्त्यज्यताम् ।

१७—(प्र०) भवन्तो वैष्णवा उतान्ये ? वैष्णवाश्चेत् कीदृगर्थो वैष्णवशब्दस्य स्वीक्रियते ?

१८—(उ०) विष्णोरयं भक्तो 'वैष्णवः' इति वदामः, इति चेन्नैवं शक्यम् । तस्येदम् [अ० ४।३।१२०] इति सूत्रस्य सामान्यार्थे वर्त्तमान-  
१० त्वाद्विष्णोरयमित्येतावानर्थो ग्रहीतुं शक्यो, विशेषार्थग्रहणस्य नियमा-  
भावात् । यथा भवद्भिर्भक्तशब्दो गृहीतस्तथा विष्णोरयं शत्रुः पुत्रः  
पिता प्रभावशिष्यो गुरुश्चेत्यादयोऽर्था अन्येनापि ग्रहीतुं शक्याः ।  
अतो भवत्कृतोऽर्थोऽनुचितः ।

१५—(प्र०) आप लोग अपने में कृष्णपन की भावना करते हैं,  
१५ वा मनुष्यपन की ?

१६--(उ०) यदि अपने को कृष्ण मानते हो, तो यादव क्षत्रियों के युद्धादि सब कामों को क्यों नहीं ग्रहण करते ? श्रीकृष्णजी के सदृश पराक्रम आप लोगों में क्यों नहीं देख पड़ता ? श्रीकृष्णजी तो परमपद को प्राप्त हो गये, आप लोग कैसे जीवते बने हो ? और  
२० यदि अपने को मनुष्य मानते हो, तो अपने को उत्तम मानने का अभिमान छोड़ देओ ।

१७—(प्र०) आप लोग वैष्णव हो, वा अन्य ? यदि वैष्णव हो, तो वैष्णव शब्द का अर्थ कैसा स्वीकार करते हो ?

१८—(उ०) यदि कहते हो कि विष्णु का भक्त 'वैष्णव' है, तो  
२५ ठीक नहीं । क्योंकि व्याकरण के 'तस्येदम्' [अ० ४।३।१२०] इस सूत्र से विष्णु का सम्बन्धीरूप सामान्य अर्थ ग्रहण होता है । भक्ति विशेषरूप अर्थ लेने में कोई नियम नहीं । जैसे आप लोगों ने विष्णु का सम्बन्धी भक्तरूप अर्थ का ग्रहण किया, वैसे कोई विष्णु [का सम्बन्धी यह] शत्रु पुत्र पिता प्रभाव शिष्य गुरु आदि अर्थों का  
३० ग्रहण कर [विष्णु-] शत्रु आदि को भी वैष्णव कह सकता है । इसलिये आप लोगों का कल्पित अर्थ ठीक अर्थ नहीं हो सकता ।



१६—(प्र०) भवद्भिर्विष्णुः कीदृशो गृहीतः ?

२०—(उ०) गोलोकवैकुण्ठवासी चतुर्भुजो द्विभुजो लक्ष्मीपति-  
देहधारीत्यादिवर्ति वदामः, इति चेद् व्यापकत्वं त्यज्यताम् । चतुर्भुजा-  
दिकं मन्यते चेत्, सावयवत्वमनित्यत्वञ्च स्वीक्रियताम्, ईश्वरत्वञ्च  
त्यज्यताम् । कुतः, संयोगमन्तरा सावयवत्वमेव न सिद्धयति । ५  
संयोगश्चानित्यस्तस्माद्भिन्न एवेश्वर इति स्वीकारे मङ्गलन्नान्यथा ।  
ईश्वरस्य सावयवत्वग्रहणं वेदविरुद्धमेव । “स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रण-  
मस्नाविर७ शुद्धमपापविद्धम्०” [यजु० ४०।८] इत्यादिश्रुतिविरो-  
धात् ।

२१—(प्र०) कण्ठीतिलकधारणे मूर्तिपूजने च पुण्यं भवत्युता- १०  
पुण्यम् ?

२२—(उ०) पुण्यं भवति, न च पापमिति ब्रूमः । स्वल्पकण्ठीतिलक-  
धारणे मूर्तिपूजने च पुण्यं भवति चेत्, तर्हि कण्ठीभारधारणे [चन्दनेन]

१६—( प्र० ) आप लोगों ने विष्णु को किस प्रकार का समझा  
है ?

१५

२०—(उ०) यदि गोलोक वैकुण्ठ का निवासी चतुर्भुज द्विभुज  
लक्ष्मी का पति देहधारी कहते हो, तो व्यापक होना छोड़ो । यदि  
चतुर्भुजादि आकृतिवाला मानते हो, तो सावयव [और] उत्पत्तिधर्मवाला  
अनित्य मानो, और उसमें ईश्वरत्व छोड़ो । क्योंकि संयोग के बिना  
सावयव होना नहीं सिद्ध होता । और संयोग अनित्य है । इससे संयोग- २०  
वियोगवाले से भिन्न को ईश्वर मानने में ही कल्याण है, अन्यथा नहीं ।  
और ईश्वर को सावयव मानना वेदविरुद्ध ही है । वेद [यजु० ४०।८]  
में कहा है कि—“ईश्वर शरीर छेदन और नाड़ी आदि के बन्धन  
से रहित शुद्ध निष्पाप सर्वत्र व्यापक है ।” इससे तुम्हारा कहना  
विरुद्ध है ।

२५

२१—(प्र०) कण्ठी तथा तिलक के धारण और मूर्ति के पूजने में  
पुण्य होता है, वा अपुण्य ?

२२—(उ०) ‘पुण्य होता है पाप नहीं’ ऐसा कहते हो, सो  
ठीक नहीं । क्योंकि यदि थोड़े कण्ठी तथा तिलक के धारण और  
मूर्तिपूजन में पुण्य होता है, तो बहुत कंठियों का भार लादने, चन्दन ३०



सर्वमुखशरीरलेपने पृथिवीपर्वतपूजने च महत्पुण्यं भवतीति मन्यताम् क्रियताञ्च । तत्र वेदविधिप्रतिष्ठाया अभावान्न क्रियते, इति जल्पामः । वेदेषु तु खलु कण्ठीतिलकधारणस्य पाषाणमूर्तिपूजनस्य च लेशमात्रोऽपि विधिः प्रतिष्ठा च न दृश्यते । अतो भवत्कथनं व्यर्थ-  
५ मेव ।

२३—(प्र०) किं प्रतिष्ठात्वन्नाम ?

२४—(उ०) पाषाणादिमूर्तिषु प्राणादीनाहूय तत्र स्थापनमिति ब्रूम इति । नैवं शक्यं वक्तुम् । कथं, प्राणादीनान्तर्कर्मणान्तर्वादश-  
नात् । यदि तत्र प्राणादयो वसेयुः, तर्हि गमनभाषणभोजनमलविसर्जना-  
१० दिक्कर्माणि कुतो न दृश्यन्ते ? ताश्च कथं न कुर्वन्ति ? यदि प्राणा-  
दीनां यत्र कुत्र स्थापने शक्तिरस्ति चेत्, तर्हि मृतकशरीराणां मध्ये प्राणादीन स्थापयित्वा कुतो न जीवयन्ति ? भवतामनेनैव महान् धन-  
लाभः प्रतिष्ठा च भाव्यति ।

१५ से सब मुख और शरीर के लेपन करने, तथा सम्पूर्ण पृथिवी और पर्वतों के पूजने में बड़ा पुण्य होता है, ऐसा मानो और करो । यदि कहो कि पृथिवी और पहाड़ के पूजने के लिये वेद में प्रतिष्ठा का विधान न होने से नहीं करते, तो वेदों में कंठी तिलकधारण और पाषाणमूर्तिपूजन का लेशमात्र भी विधान नहीं, और न प्रतिष्ठा का कहीं नाम है । इसलिये आपका कथन व्यर्थ है ।

२० २३—प्रतिष्ठा करना क्या वस्तु है ?

२४—(उ०) यदि कहते हो कि पाषाण आदि की मूर्तियों में वेदमन्त्रद्वारा प्राण आदि का आह्वान कर स्थापन करना 'प्रतिष्ठा' है, तो यह कहना ठीक नहीं । क्योंकि प्राण आदि और उनकी क्रिया मूर्तियों में नहीं दीख पड़ती । जो उन मूर्तियों में प्राण वा इन्द्रिय  
२५ रहते, तो चलना बोलना खाना मलमूत्र त्याग करना आदि क्यों नहीं दीख पड़ते ? और वे मूर्तियाँ उन कामों को क्यों नहीं करतीं ? यदि प्राणादिकों को जहाँ-कहीं स्थापन करने की शक्ति तुम लोगों में है, तो मृतक शरीरों के बीच प्राणादि को स्थापन कर क्यों नहीं जिला देते ? केवल इसी एक कर्म से तुमको बहुत धन की प्राप्ति और  
३० प्रतिष्ठा होगी ।



किञ्च, पाषाणादिमूर्तीनाम्मध्ये प्राणादीनाङ्गमनागमनयोरव-  
काश एव नास्ति, न नाड्यच्छिद्राणि च । मृतकशरीराणां मध्ये तु  
यथावत्सामग्री वर्तत एव । प्राणादिभिर्विना दाहादिकाः क्रियाः जनैः  
क्रियन्ते । यदा भवन्तः प्राणादो नान्तत्र स्थापनं कुर्युः, तदा कस्यापि  
मरणमेव न भवेद्, अनेन महत्पुण्यम्भविष्यति । तस्माच्छीघ्रमेवेदङ्कर्म- ५  
कर्त्तव्यमिति निश्चेतव्यम् ।

यदि कश्चिन्मृतं शरीरञ्जीवयेत्तादृशो मनुष्यो न भूतो न  
भविष्यतीति वयं जानीमः । कुतः, ईश्वरस्य नियमस्याऽन्यथाकरणे  
कस्यापि सामर्थ्यन्न जातन्न भविष्यतीत्यवगन्तव्यम् । तद्यथा जिह्वयैव  
रसज्ञानम्भवति नान्यथेतीश्वरनियमोऽस्ति, एतस्यान्यथाकरणे कस्यापि १०  
सामर्थ्यन्नास्ति, तथा सर्वेण्वोश्वरकृतेषु नियमेष्विति बोध्यम् ।  
ईश्वरेण ये जडाः पदार्था रचितास्ते कदाचिच्चेतना न भवन्ति । तथा  
चेतना जडाः कदाचिन्नैव भवन्तीति निश्चयः ।

ईश्वरः सर्वव्याप्यस्त्यतः पाषाणादिमूर्त्तिमध्येऽप्यस्ति, पुन-

और यह भी विचारो कि पाषाणादि मूर्त्तियों में तो प्राणादि १५  
के जाने-आने का अवकाश ही नहीं, न नाड़ी और इन्द्रियछिद्र हैं ।  
और मृतक शरीरों में तो सब—अवकाश, नाड़ी और इन्द्रियों के  
छिद्र आदि सामग्री विद्यमान ही रहती है । केवल प्राणादि के न  
रहने से वे शरीर जला दिये जाते हैं । सो जब आप लोग उन शरीरों  
में आत्मान कर प्राणादि को स्थिर कर देओ, तब तो किसी का मरण २०  
ही न होवे, इससे बड़ा पुण्य होगा । इसलिये शीघ्र ही निश्चय कर  
यह कर्म करना चाहिये ।

हम जानते हैं कि यदि कोई मरे हुये को जिला देवे, ऐसा  
मनुष्य न हुआ न होगा । क्योंकि ईश्वर के नियम के अन्यथा करने  
में किसी का सामर्थ्य न हुआ न होगा, यह निश्चय जानना चाहिये । २५  
जैसे जीभ से ही रस का ज्ञान हो सकता है, अन्य इन्द्रिय से नहीं,  
यह ईश्वरकृत नियम है, इसके अन्यथा करने में जैसे किसी का  
सामर्थ्य नहीं है, वैसे ही ईश्वर के किये सब नियमों में जानना  
चाहिये । ईश्वर ने जो पदार्थ जड़ बनाये हैं, वे कभी चेतन नहीं होते ।  
वैसे ही चेतन कभी जड़ नहीं होते, यह निश्चय है । ३०

यदि कहो कि ईश्वर सर्वत्र व्याप्त है, इससे पाषाणादि मूर्त्तियों



- स्तत्पूजने को दोषः ? खण्डनञ्च किमर्थं क्रियते ? एवञ्जानन्ति चेत्, तर्हि पुष्पत्रोटनञ्चन्दनघर्षणनमस्कारञ्च किमर्थं कुर्वन्ति ? कुतः सर्वत्रेश्वरस्य व्यापकत्वात् । नो चेदन्यघृणितपदार्थानाञ्च पूजनञ्च किमर्थं न कुर्वन्ति ? सर्वव्यापिनीश्वरे सिद्धे खल्वेकस्मिन्वस्तुनि स्वीकृते महत्पापं भवति ।
- ५ तद्यथा चक्रवर्तिनं राजानम्प्रति कश्चिद् ब्रूयाद्भवान्दशहस्तमिताया भूमे राजास्तीति । तम्प्रति राज्ञो महान्कोपो यथा भवति, तथेश्वरस्यैवं स्वीकारे चेति वेदिव्यम् ।

२५—(प्र०) किञ्चिन्मात्राणाम्पाषाणपित्तलादिमूर्तीनां पूजने पुण्यं भवत्युत पापम् ?

- १० २६—(उ०) नाद्यः, कुतः किञ्चिन्मात्रस्य पित्तलादेर्मूर्तिपूजने पुण्यम्भवति चेत्, तर्हि महत्याः पित्तलादिमूर्तेर्दण्डप्रहारेण महत्पापं

- में भी है, तो पाषाणादि मूर्तियों के पूजने में क्या दोष है ? और क्यों खण्डन करते हो । तो उत्तर यह है कि - यदि ऐसी भावना रख पूजा करते हो, तो पुष्प तोड़ना चंदन घिसना और हाथ जोड़कर नमस्कार आदि कर्म क्यों करते हो ? क्योंकि ईश्वर पुष्प चन्दन हाथ और मुख आदि में भी व्यापक है । जैसे पाषाणादि में व्यापक होने से ईश्वर पूजित होगा, वैसे पुष्पादि के साथ टूटना घिस जाना भी सम्भव है । यदि नहीं मानते, तो अन्य घृणित पदार्थों का पूजन क्यों नहीं करते ? जब ईश्वर सर्वव्यापक सिद्ध है, तो एक छोटीसी
- २० किसी मूर्ति आदि वस्तु में उसको मानना बड़ा पाप है । तद्यथा - जैसे चक्रवर्ति राजा से कोई कहे कि आप दश हाथ भूमि के राजा हैं । उसके प्रति जैसे राजा का बड़ा कोप होता है, वैसे ईश्वर के इस प्रकार स्वीकार करने में ईश्वर बड़ा कोप करेगा, यह जानना चाहिये ।

- २५ २५—(प्र०) छोटी-छोटी बनी हुई पाषाण-पित्तलादि की मूर्तियों के पूजन में पुण्य होता है, वा पाप ?

२६—(उ०) पहिला पक्ष पुण्य होना ठीक नहीं ? क्योंकि यदि छोटी-छोटी पीतल आदि की मूर्तियों के पूजने में पुण्य होता है, तो बड़ी-बड़ी पीतल आदि की घण्टादिरूप मूर्तियों में दण्डा मारने से



भवतीति बुध्यताम् । अन्यच्च, वेदानभिहितपाषाणादिमूर्तिपूजने महत्पापमेव भवतीति स्वीक्रियताम्, नो चेन्नास्तिकत्वं स्वीकार्यम् । न चरमः, कुतः पापाचरणस्य वेदेऽभिधानात् । मनुष्यजन्मानेन व्यर्थमेव गच्छतीत्यतः । तत्पूजनमुक्तिसाधनञ्चेन्न, तस्या मूर्तेरपि शिल्पिना पूजारिणा वैकत्र बद्धत्वात्, स्वयञ्जडत्वाच्चेति । ५

२७—(प्र०) ईदृक्कण्ठीतिलकधारणे किं मानम्, का वा युक्तिः ?

२८ (उ०) हरिपदाकृतित्वम् । कृष्णललाटे राधया कुङ्कुम-युक्तेन चरणेन कृतं ताडनं, ललाटस्य शोभायञ्चेति ब्रूमः । हरिशब्देन कस्य ग्रहणम् ? विष्णोरेवेति वदामः । नैतदेकान्ततः शक्यं ग्रहीतुम् । अश्वसिंहसूर्यवानरमनुष्यादीनामपि ग्रहणाद्, वेदानुक्तत्वादत एव पाप- १० जनकन्तिलकमिति वैद्यम् ।

किञ्च तिलकत्वमिति ? त्रिपुण्ड्रोर्ध्वपुण्ड्ररचनत्वमिति वदामः ।

बड़ा पाप होता है, ऐसा जानो । और भी देखो, कि वेद में नहीं कहे पाषाणादि मूर्ति के पूजन में महापाप ही होता है, ऐसा मानो । यदि न मानो तो वेदविरोधी होने से नास्तिक बनो । और पाप होना रूप १५ द्वितीय पक्ष भी ठीक नहीं । क्योंकि पाप करना भी वेद में नहीं कहा । क्योंकि मनुष्यजन्म इससे व्यर्थ जाता है । यदि कहो कि मूर्तियों का पूजना मुक्ति का साधन है, तो ठीक नहीं । क्योंकि उस मूर्ति को भी कारीगर वा पूजारी ने एक स्थान में स्थिरबद्ध किया, और स्वयं जड़ है, तो अन्य को क्या मुक्ति दे सकेगी ? २०

२७—(प्र०) ऐसे विशेष चिह्नरूप कण्ठी और तिलक के धारण में क्या प्रमाण वा युक्ति है ?

२८—(उ०) श्रीकृष्ण के पग के आकार तिलक इसलिये धारण करते हैं कि कृष्ण के मस्तक पर राधाजी ने लालचन्दन युक्त लात मारी थी । और वैसी लात मारने से शोभा भी समझते हैं । हरि शब्द से २५ किसको लेते हो ? हरि शब्द से विष्णु का ही ग्रहण करते हैं । यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि घोड़ा सिंह सूर्य वानर और मनुष्यादि का नाम भी 'हरि' है । उनका ग्रहण क्यों नहीं होता ? वेदोक्त न होने से तिलक लगाना अयुक्त है, इसी से पापकारी है, यह जानना चाहिये । ३०

तिलक क्या वस्तु है ? यदि त्रिपुण्ड्र और ऊर्ध्वपुण्ड्र रचना



नैवं वक्तुमुचितम् । तिलस्य प्रतिकृतिस्तिलकमल्पस्तिलस्तिलक  
वेत्यर्थस्य जागरूकत्वादेतावतो दीर्घस्य ललाटे लिप्तस्य तिलकसंज्ञायां  
मतायां भवत्सु प्रमत्तत्वापत्तिर्भवतीति वेद्यम् ।

२६—(प्र०) मूर्त्तिपूजनादिषु पुण्यं भवत्युत पापम् ?

५ ३०—(उ०) मूर्त्तिपूजने कण्ठीतिलकधारणे च दोषो नास्ति ।  
 कुतः, 'यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी' इत्यतः ।

३१—(प्र०) भावना सत्यास्त्युत मिथ्या ?

३२—(उ०) न प्रथमः, कुतो दुःखस्य भावनां कोपि न करोति,  
 सदैव सुखस्यैव च । पुनः सुखं न भवति, दुःखञ्च भवति, अतो भावना न  
 १० सत्या । न द्वितीयः, कथं, विद्याधर्मार्थकाममोक्षाणां भावनया विना  
 सिद्धिरेव न भवतीत्यतः । यदि भावना सत्यास्ति चेत्, तर्हि भवच्छरीरे  
 रेलाख्यानभावनाङ्क कृत्वोपर्यसीमहि, यावता कालेन यावदेशान्तरन्त-

को तिलक कहते हो, तो यह कहना ठीक नहीं । क्योंकि व्याकरण-  
 रोति से तिल के प्रतिविम्ब को 'तिलक' वा छोटे तिल को 'तिलक'  
 १५ कहना चाहिये, यह प्रसिद्ध है । तो इस प्रकार के लम्बीभूत चन्दनादि  
 के ललाट पर लेपन की तिलक संज्ञा मानने में आप लोगों में प्रमाद  
 प्राप्त होता है, यह निश्चय जानना चाहिये ।

२६—(प्र०) मूर्त्तिपूजनादि में पुण्य होता है, वा पाप ?

३०—(उ०) मूर्त्तिपूजन और कण्ठी तिलक धारण करने में  
 २० कुछ दोष नहीं है । क्योंकि 'जिसकी भावना जैसी होती है उसकी वैसी  
 ही सिद्धि हो जाती है' ।

३१—(प्र०) भावना सत्य है, वा मिथ्या ?

३२—(उ०) पहिला पक्ष=भावना का सत्य मानना ठीक नहीं ।  
 क्योंकि दुःख की भावना कोई नहीं करता, किन्तु सदैव सुख की  
 २५ भावना करते हैं । फिर भी सब को सुख नहीं मिलता, किन्तु दुःख  
 ही होता है । इससे भावना सत्य नहीं । दूसरा पक्ष भावना का  
 मिथ्या मानना भी ठीक नहीं । क्योंकि भावना के विना विद्या धर्म  
 अर्थ काम और मोक्ष की सिद्धि ही नहीं हो सकती । इससे यथायोग्य  
 भावना करना ठीक है । यदि अन्य में अन्य की भावना करना सत्य  
 ३० है, तो आपके शरीर में रेल की भावना करके हम बैठें, तो जितने



द्यानङ्गच्छति, तावता कालेनैव भवच्छरीरन्तावद्देशान्तरमस्मान् गमयेच्चेत्तादा तु भावना सत्या, नान्यथा ।

पुनः पाषाणादिषु हीरकादिरत्नभावनाञ्जले दधिघृतदुग्ध-भावनानां धूल्याङ्गोष्मपिष्टशर्कराभावनां शर्करायान्तन्दुलभावनां तथा जडे चेतनभावनां चेतने जडभावनां दरिद्रः स्वस्मिन्चक्रवर्तिभावनां ५ चक्रवर्ती स्वस्मिन्दरिद्रभावनाञ्च कुर्यात्, सा तथैव सिद्धा भवेच्चेत् तदा तु सत्याऽन्यथा मिथ्येति बोद्धव्यम् ।

तर्हि भावना का नाम ? भावना तु पाषाणे पाषाणभावना रोटिकायां रोटिकाभावनेति यथार्थं ज्ञानमिति ब्रूमः, तस्मिन्स्तद्बुद्धिरिति । तथा रोटिकायां पाषाणभावना पाषाणे रोटिकाभावनाऽयथार्थः १० ज्ञानम्, अतस्मिन्स्तद्बुद्धिर्भ्रमो ह्यभावना चेति ।

३३—(प्र०) प्रतिमाशब्देन किङ्कृह्यते ?

३४—(उ०) पूजनार्था चतुर्भुजादिमूर्तिरिति वदामः ।

३५—(प्र०) प्रतिमाशब्दस्य कोऽर्थः क्रियते ?

समय में जितनी दूर रेल पहुँचती है, उतने समय में उतनी दूर आप १५ का शरीर हमको पहुँचा देवे, तब तो भावना ठीक, नहीं तो मिथ्या ।

फिर पत्थर आदि में हीरे आदि रत्नों की भावना, जल में दूध दही घी की भावना, धूलि में आटा और शक्कर की, शक्कर में तण्डुल की, जड़ में चेतन, चेतन में जड़, निर्धननी दरिद्र अपने में चक्रवर्ती राजा की, और चक्रवर्ती राजा अपने में दरिद्र की भावना २० करे, और वह वैसी ही ठीक-ठीक सिद्ध हो जावे तब तो सत्य, अन्यथा मिथ्या जाननी चाहिये ।

तो फिर भावना किस का नाम है ? पत्थर में पत्थर, रोटी में रोटी की भावना करना यथार्थ ज्ञान कहाता है । अर्थात् जैसे को तैसा जानना भावना है । रोटी में पत्थर और पत्थर में रोटी की भावना २५ करना मिथ्या ज्ञान, अन्य में अन्य बुद्धि भ्रमरूप अभावना कहाती है ।

३३—(प्र०) प्रतिमा शब्द से क्या लेते हो ?

३४—(उ०) पूजने योग्य चतुर्भुज आदि की मूर्ति को लेते हैं ।

३५—(प्र०) प्रतिमा शब्द का क्या प्रर्थ करते हो ?



३६—(उ०) प्रतिमीयते यया सा 'प्रतिमा' । किञ्चाऽनया प्रतिमीयते ? ईश्वरशिवनारायणादयश्चेति वदामः । किञ्च भोः ! अनया पाषाणादिमूर्त्येश्वरस्य शिवादिशरीराणाञ्च प्रत्यक्षतया भवद्भिस्तोलङ्कृतङ्किमतोऽयमर्थः क्रियते ?

५ "तुलमानं प्रतीमानं सर्वञ्च स्यात्सुलक्षितम् ।  
षट्सु षट्सु च मासेषु पुनरेव परीक्षयेद्" ॥ [मनु० ८।४०३]

इति मनुसाक्ष्यं बोध्यम् । प्रतिमाशब्देन गुडघृतादीनान्तोलनसाधनानाम्पलसेटकादीनां मासादीनां च ग्रहणमिति निश्चयः । "न तस्य प्रतिमाऽस्ति यस्य नाम महद्यज्ञः" [यजु० ३२।३] इति यजुस्सहिनाया  
१० द्वात्रिंशेऽध्याये । ईश्वरस्य प्रतिमानोलनसाधनमेव न भवति, तस्याऽतुलत्वात् । अतएव भवत्कृतोऽर्थो व्यर्थ एवेति बोध्यम् ।

३७—(प्र०) पुराणशब्देन किङ्गृह्यते ?

३८—(उ०) ब्रह्मवैवर्त्तादीन्यष्टादशपुराणोपपुराणानि चेति ब्रूमः । नैवं शक्यम्, पुराणशब्दस्य विशेषणवाचकत्वेन व्यावर्त्तकार्थत्वात् ।

१५ ३६—(उ०) जिससे पदार्थ का स्वरूप वा अवधि जानी जावे, वह 'प्रतिमा' है । ऐसा करते हो, तो किस का स्वरूप इससे जाना जाता है ? यदि कहो कि ईश्वर शिव और नारायण आदि का बोध प्रतिमा से होता है, तो हम पूछते हैं कि क्या इस पाषाणादि मूर्ति से ईश्वर और शिवादि के शरीरों को आपने प्रत्यक्ष तोल लिया है कि  
२० जिससे ऐसा अर्थ करते हैं ?

धर्मशास्त्रस्थ राजधर्म में लिखा है कि —"तराजू और प्रतिमान = वाट सब ठीक-ठीक रखने चाहियें, और छः छः महीने में इनकी परीक्षा राजा करावे ।" इस प्रमाण के अनुकूल प्रतिमा शब्द से गुड घृत आदि के तोलने के साधन सेर आदि वा मासा आदि बटखरों का  
२५ ग्रहण होना निश्चय है । और यजुर्वेद वत्तीसवें अध्याय के तीसरे मन्त्र में—'ईश्वर की प्रतिमा अर्थात् तोल-साधन का निषेध किया है, क्योंकि ईश्वर अतुल है' । इसीसे आपका किया अर्थ व्यर्थ ही जानना चाहिये ।

३७—(प्र०) पुराण शब्द से क्या लेते हो ?

३८—(उ०) ब्रह्मवैवर्त्तादि अठारह पुराण और उपपुराण लेते  
३० हो, सो ठीक नहीं । क्योंकि 'पुराण' शब्द विशेषणवाचक होने से



यथा पुरातनप्राचीनादयश्शब्दा नवीनार्वाचीनादीञ्छब्दार्थान् व्यावर्त्तयन्ति, तथा पुराणादयश्शब्दा नवीनाद्यर्थैश्चेति । तद्यथा केनचिदुक्तम्—पुराणं घृतं पुराणो गुडः पुराणी शाटी चेत्यर्थान्न नवीनं घृतञ्चेत्यादि व्यावर्त्तते । तस्मात्पुराणशब्देन वेदानान्तद्व्याख्यान-ब्राह्मणादीनाञ्च ग्रहणं भवति, न ब्रह्मवैवर्त्तादीनाञ्चेति । ५

“ब्राह्मणानीतिहासः पुराणानीति” [तै० आ० २।६]; “दशमेऽहनि किञ्चित्पुराणमाचक्षीत” [तुलना करो—श० १३।४।३।१३]; “पुराणविद्यावेदो दशमेऽहनि श्रोतव्यः” । इत्याद्यश्वमेधस्य पूत्यनन्तर-न्नवदिनपर्यन्तमृगवेदादिकं श्रुत्वाऽऽख्याय च दशमेऽहनि ब्रह्मज्ञान-प्रतिपादकमुपनिषत्पुराणं शास्त्रं यजमानादय आचक्षीरञ्छृणुयुश्चेति, १० ब्राह्मणवेदानामवग्रहणन्नान्यस्येति । साक्षात्सर्वेभ्यो वेदानामेव पुरातनत्वाच्चेति ।

परन्तु मतमस्माकं खलु वेदा नान्यदिति सिद्धान्तः । ब्रह्मवैवर्त्तादीनि व्यासनामव्याजेन सम्प्रदायस्थैर्जीविकार्थिभिर्मनुष्याणां भ्रान्तिकरणार्थानि रचितानीति जानामः । यथा शिवादिनामव्याजेन १५

व्यावर्तक अर्थवाची होता है । जैसे पुराने प्राचीन आदि शब्द नवीन और अर्वाचीन आदि शब्दार्थों को निवृत्त करते, वैसे पुराणादि शब्द नवीन आदि के वाच्य अर्थों को निवृत्त करते हैं । जैसे किसी ने कहा कि पुराना घृत, पुराना गुड़, पुरानी साड़ी, इससे घृत आदि में नवीनपन की निवृत्ति हो गई । इस कारण पुराण शब्द से वेद और वेद के व्याख्यान ब्राह्मण ग्रन्थों का ग्रहण होता है, किन्तु ब्रह्मवैवर्त्तादि का नहीं । २०

कल्पसूत्रकारों ने लिखा है कि—“ब्राह्मण ग्रन्थ ही इतिहास पुराण नामक हैं ।” ; “अश्वमेध यज्ञ में दशमे दिन कुछ थोड़ी पुराण की कथा कहे सुने” ; “पुराणविद्यावेद का व्याख्यान दशमे दिन सुने ।” अर्थात् नव दिन तक यज्ञ में ऋग्वेदादि कहके दशमे दिन ब्रह्मज्ञान का प्रतिपादक ब्राह्मणान्तर्गत उपनिषद्भाग यजमान आदि कहें और सुनें । इस प्रकार ‘पुराण’ शब्द से ब्राह्मण और वेद का ही ग्रहण करना, अन्य का नहीं, ऐसी साक्षी है । और वेद ही सब से पुराने हैं । २५

परन्तु हमारा मत वेद है अन्य नहीं, यही सिद्धान्त है । ब्रह्मवैवर्त्तादि पुराण व्यासजी के नाम के छल से मतवादी जीविकार्थी लोगों ने मनुष्यों को भ्रान्ति करानेवाले बनाये हैं । जैसे शिव आदि ३०



तन्त्राणि याज्ञवल्क्यादिनामव्याजेन च याज्ञवल्क्यादिस्मृतयश्च रचिताः,  
तथैव ब्रह्मवैवर्त्तादीनीति विज्ञायताम् ।

३६—(प्र०) देवालयशब्देन भवद्भिः किं गृह्यते ?

४०—(उ०) मूर्तिस्थापनपूजनस्थानानि घण्टादिनादकरणार्थानि  
५ मन्दिराणीति प्रतिजानीमः । नैव शक्यम्, कुतोऽत्र वेदविधेरभावाद्  
भ्रान्तियुक्तत्वान्चेति । यत्र होमः क्रियते, तदेव देवालयशब्देनोच्यते ।  
कथं होमस्य देवपूजाशब्देन गृहीतत्वात् ।

“अध्यापनम्ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम् ।

होमो दैवो बलिभौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम् ॥१॥

१०

[मनु० ३।७०]

स्वाध्यायेनार्चयेत्तर्षीन् होमैर्देवान्यथाविधि ।

पितृञ्छ्राद्धं नृनन्नेश्च भूतानि बलिकर्मणा” ॥ २ ॥

[मनु० ३।८१]

होमेनैव देवपूजनं भवतीति मनुनोक्तत्वाद्भवत्कृतोऽर्थोऽसंगत एवेति

१५ के नाम के छल से तन्त्र, और याज्ञवल्क्यादि के नाम के छल से याज्ञ-  
वल्क्यादि स्मृति रची हैं, वैसे ही ब्रह्मवैवर्त्तादि पुराण जानो ।

३६—(प्र०) देवालय शब्द से आप क्या लेते हो ?

४०—(उ०) मूर्ति को स्थापन करने तथा पूजने के स्थान, जिनमें  
कि घण्टानाद आर्त्ति आदि करते हैं, उनको देवालय कहते हो, तो  
२० ठीक नहीं । क्योंकि यह कर्त्तव्य वेद से विरुद्ध और भ्रान्तियुक्त होने  
से । इससे जिसमें होम किया जाता, वही स्थान ‘देवालय’ शब्दवाच्य  
हो सकता है । क्योंकि ‘देवपूजा’ शब्द से होम का ग्रहण है ।

धर्मशास्त्र में लिखा है कि “पढ़ाना=ब्रह्मयज्ञ, तर्पण=पितृयज्ञ,  
होम=देवयज्ञ, वैश्वदेव=भूतयज्ञ, और अतिथिपूजन से मनुष्ययज्ञ  
२५ कहाता है । तथा स्वाध्याय से ऋषिपूजन, यथाविधि होम से देव-  
पूजन, श्राद्धों से पितृपूजन, अन्तों से मनुष्यपूजन, और वैश्वदेव से  
प्राणिमात्र का सत्कार करना चाहिये ।” इससे सिद्ध हो गया कि  
होम ही से देवपूजा होती है । यह मनु की साक्षी है । इससे आपका  
किया अर्थ असंगत है, यही निश्चय जानो । इसलिये होम का स्थान



निश्चयः । अतो होमस्थानं यज्ञशालैव देवालयशब्देन ग्राह्येति निश्चयः ।

४१—(प्र०) देवशब्देन किं गृह्यते ?

४२—(उ०) ब्रह्माविष्णुमहादेवादीनत्र पूजनार्थास्तन्मूर्त्तीश्चेति गृह्णीमः । नैवं योग्यम्—

“यत्र देवतोच्यते तत्र तल्लिङ्गो मन्त्रः” इति निरुक्ते । “मन्त्र- ५  
मयी देवतेति” पूर्वमीमांसायाम् । तथा “मन्त्रमयी देवतेति” ब्राह्मणे ।  
“आत्मेव देवतास्सर्वास्सर्वमात्मन्यवस्थितमिति” मनुस्मृतौ । [अ०  
१२।११६] “मातृदेवो भव पितृदेवो भव आचार्यदेवो भव अतिथि-  
देवो भव” इति तैत्तिरीयोपनिषदि [तै० आ० प्रपा० ७ अनु० ११] ।  
इत्यादिसाक्ष्यविरोधात् कर्मकाण्डमन्त्राणां मात्रादीनां विदुषाञ्च देव- १०  
देवताशब्दाभ्यां सङ्ग्रहादुपासनाज्ञानकाण्डयोरीश्वरस्यैव देवता-

यज्ञशाला ही ‘देवालय’ शब्द से लेनी चाहिये ।

४१—(प्र०) देवशब्द से क्या लेते हो ?

४२—(उ०) पूजने के लिये ब्रह्मा विष्णु और महादेवादि देवताओं को, और उनकी मूर्त्तियों को देव शब्द से लेते हो, सो ठीक १५ नहीं । क्योंकि—

“वेद में जहां-जहां देवता कहा है, वहां-वहां उस देवता नाम-  
वाचक शब्दयुक्त मन्त्र का ही नाम देवता है” यह निरुक्तकार का  
सिद्धान्त है । और पूर्वमीमांसा और ब्राह्मणभाग में—“मन्त्रस्वरूप ही  
देवता माना है ।” मनुस्मृति में—“आत्मा के बीच सब जगत् अव- २०  
स्थित है, इसलिये आत्मा ही सब देवता है ।” तैत्तिरीय आरण्यक  
में—“माता-पिता आचार्य अतिथि को ही देवता माना है” । इत्यादि  
प्रमाणों से तुम्हारा कथन विरुद्ध होने से कर्मकाण्ड मन्त्रस्वरूप  
माता आदि और विद्वानों का ‘देव’ और ‘देवता’ शब्द से ग्रहण,  
तथा उपासना और ज्ञानकाण्ड में सर्वत्र ‘देवता’ शब्द से ईश्वर का २५

१. अयं ‘कर्मसम्पत्तिर्मन्त्रो वेदे’ (निरुक्त १।२) इत्यस्य निरुक्त ७।१  
इत्यस्य च सामान्येनाधिकोऽनुवादः । द्र०—ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका पृष्ठ ६८,  
३८६ (रा. ला. क. द्र.) ।

२. अयमपि मीमांसाया देवताधिकरणस्य (६।१।४-१०) भावानुवादः ।  
अत्र शावरभाष्यमपि द्रष्टव्यम् । ३०



शब्देन सर्वत्र स्वीकाराद्भवत्कृतोऽर्थो मिथ्यैवेति निश्चयः ।

एवं सति पाषाणादिमूर्त्तिः देवताशब्देन यो गृह्णाति, स न मनुष्योऽस्ति, किन्तु पशुरेव च ।

“योऽन्यां देवतामुपास्ते स पशुरेव देवानाम्” ।

५

[श० १४।४।२।२२]

“उत्तिष्ठत जाग्रत तज्जानथ अन्या वाचो विमुञ्चथ” ।<sup>१</sup>

चेत्याद्युक्तत्वान्मूर्त्तयस्तु कदाचिद्देवता न भवन्तीति निश्चीयताम् ।

४३—(प्र०) देवलदेवलकशब्दाभ्यां किं गृह्यते ?

४४—(उ०) मूर्तिपूजारीस्तदधीनजीविकावतश्चेति ब्रूमः ।

१० नैवमुचितं वक्तुम् । कथं—

“यद्वित्तं यज्ञशीलानान्देवस्वन्तद्विदुर्बुधाः ।

अयज्वनान्तु यद्वित्तमासुरं तत्प्रचक्षते” ॥ [मनु० ११।२०]

ही स्वीकार है । इससे आपका किया अर्थ मिथ्या ही निश्चित होता है ।

- १५ जब ऐसा है, तो जो देवता शब्द से पाषाणादि मूर्त्तियों का ग्रहण करता है, वह मनुष्य नहीं, किन्तु पशु ही है । और उपनिषद् में यही कहा है कि—“जो एक ईश्वर को छोड़के अन्य देवता की उपासना करता है, वह देवताओं में पशु ही है ।” “इसलिये हे मनुष्यों ! उठो जागो, उस आत्मा को जानो, अन्य की उपासना-  
२० रूप वाणियों को छोड़ो ।” इत्यादि प्रमाणों से मूर्त्तियां कदापि देवता नहीं हो सकतीं, यह निश्चय जानो ।

४३—(प्र०) देवल और देवलक शब्दों से किसका ग्रहण करते हो ?

- ४४—(उ०) यदि कहते हो कि मूर्ति पूजने और मूर्तिपूजा से  
२५ जीविका करनेवाले ‘देवल’ और देवलक कहाते हैं, तो ठीक नहीं । क्योंकि धर्मशास्त्र में लिखा है कि—“जो यज्ञ करनेवालों का घन है वह देवस्व, और यज्ञ न करनेवालों का घन है वह आसुर कहाता

१. द्वयोरुपनिषद्वचनयोरेकीभावोऽत्र दृश्यते । ‘उत्तिष्ठत जाग्रत’ इति कठोपनिषदः (१।३।१४) वचनम् । ‘तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमु-  
३० ञ्चथ’ इति मुण्डकोपनिषदः (२।२।५) वचनम् ।



इति मनुसाक्ष्यविरोधात् । यज्ञशीलानां यज्ञार्थं यद्विस्तृतं तद्देवशब्देनोच्यते । तल्लाति गृह्णाति स्वभोजनाद्यर्थं सोऽयन्देवलो निन्द्यः । यो यज्ञार्थं यद्धनं तच्चोरयति स देवलकः । कुत्सितो देवलो देवलकः, 'कुत्सिते' [अ० ५।३।७४] इति सूत्रेण कप्रत्ययविधानाद्भवत्कृतोऽर्थोऽन्यथेति वेदितव्यम् । ५

४५—(प्र०) ईश्वरस्य जन्ममरणे भवतः, आहोस्विन्न ?

४६—(उ०) अप्राकृते दिव्ये जन्ममरणे भवतो, नान्यथेति स्वीक्रियते । भक्तानामुद्धारार्थं दुष्टानां विनाशार्थन्तथा धर्मस्थापनार्थमधर्मनिर्मूलार्थञ्च, नैव न्याय्यम् । कस्मात्सर्वशक्तिमत्त्वात्सर्वान्तर्यामित्वादखण्डत्वात्सर्वव्यापकत्वादनन्तत्वान्निष्कम्पत्वाच्चेश्वरस्येति । सर्वशक्तिमान् १०  
हीश्वरोऽस्ति, स सर्वं न्याय्यङ्कार्यङ्कृत् समर्थोऽस्त्यसहायेन । यश्च शरीरधारणादिसहायेन कार्यङ्कृत् समर्थो भवेन्न चान्यथेति नेत्थं चेत्तर्हि सर्वशक्तिमत्त्वमेव तस्य नश्येत् ।

है ।" देव नाम [यज्ञिकों के] यज्ञ के घन को अपने भोजनादि के लिये लेनेवाला 'देवल' निन्दित कहाता है । यहां व्याकरण-रीति से मध्यम १५ पद स्वशब्द का लोप हो जाता है । और जो यज्ञ के घन की चोरी करता है, वह 'देवलक' अति निन्दित कहाता है । क्योंकि व्याकरण के 'कुत्सिते' [अ० ५।३।७४] सूत्र से निन्दित अर्थ में 'क' प्रत्यय होता है । इससे आप का किया अर्थ मिथ्या है, यह जानना चाहिये ।

४५—(प्र०) ईश्वर के जन्म-मरण होते हैं, वा नहीं ? २०

४६—(उ०) यदि यह कहते हो कि अप्राकृत मनुष्यादि के जन्म-मरण से विलक्षण दिव्य जन्म-मरण होते हैं, अन्यथा नहीं, यह स्वीकार है । क्योंकि भक्तों के [उद्धार, दुष्टों के विनाश, धर्म की स्थापना और अधर्म को निर्मूल करने के लिये अस्वाभाविक जन्म ईश्वर धारण करता है, तो ठीक नहीं । क्योंकि ईश्वर सर्वशक्तिमान् २५ सर्वान्तर्यामी अखण्ड सर्वव्यापक अनन्त और निश्चल निष्कम्प है । जबकि ईश्वर सर्वशक्तिमान् है, तो वह सब न्याययुक्त कार्य विना सहाय के करने को समर्थ है । फिर जो शरीरधारणादि सहाय से कार्य कर सके, अन्यथा न कर सके, तो ऐसा मानने में वह सर्वशक्तिमान् ही नहीं ठहर सकता । ३०



यथा खल्वसहायेन सर्वमिदञ्जगद्रचयित्वा धारयति, तथैव हिरण्याक्षरावणकंसादीनां क्षणमात्रेण हननं कर्तुं समर्थः, असहायेनोपदेशम्भक्तोद्धारन्धर्मस्थापनमधर्मदुष्टविनाशञ्च । यथा सर्वं शाकिन-मत्वमीश्वरे स्वीक्रियते, तथा न्यायकारित्वादयोपि स्वभावा ईश्वरे ५ स्वीकार्याः । अन्यथा स्वनाशाद्यधर्ममपि कर्तुं समर्थो भवेत् । अत ईश्वरोऽनन्तोऽजोऽविकारी च ।

प्रकृत्याकाशादिकं सर्वञ्जगदीश्वरस्यापेक्षया स्वल्पन्तुच्छ-सान्तञ्चास्ति । पुनस्तस्य का शरीरसामग्री, यतो निवासार्थमधिकरण-म्भवेत् ? तस्माद् बृहत्किमपि न विद्यते, इति सर्ववेदसिद्धान्तः ।

१० “स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्” ।

[यजु० ४०।८]

“तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः” । [यजु० ४०।५]

“सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म” । [तै० उ० आन० १।१]

जैसे विना सहायता के इस सर्व जगत् को रचके धारण करता है, वैसे ही हिरण्याक्ष रावण और कंसादि को मारने को विना शरीरादि सहाय के समर्थ है । तथा स्वतन्त्र असहाय ही उपदेश, भक्तों का उद्धार, धर्म की स्थापन, अधर्म तथा दुष्टों का विनाश कर सकता है । जैसे ईश्वर में सब शक्तियों का होना मानते हो, वैसे न्यायकारीपन आदि स्वभाव भी ईश्वर में स्वीकार करने योग्य २० है । यदि ऐसा न मानोगे, तो सर्वशक्तिमान् होने से ही अपना नाश अन्याय अधर्म करने को भी समर्थ हो जावे, तो ईश्वरता ही न रहे । इससे ईश्वर अनन्त अजन्मा और अविकारी है ।

प्रकृति और आकाशादि सब जगत् ईश्वर की अपेक्षा छोटा तुच्छ और अन्तवाला है । फिर उसके शरीर बनने को कौन सामग्री २५ है, जिसमें वह समाय जावे ? उससे बड़ा कोई भी नहीं, यह सब वेद-शास्त्र से सिद्ध है, तो कैसे एक शरीर में समाय सकता है ?

वेद और उपनिषदों के प्रमाणः—“वह सब में व्याप्त, प्रकाशमय, सब प्रकार के शरीर से रहित, अच्छेद्य अमेद्य, नाड़ी आदि के बन्धन से रहित, शुद्ध-निर्मल निष्पाप है ।” “वह सब के भीतर और बाहर ३० परिपूर्ण है ।” “वह सत्यस्वरूप ज्ञानस्वरूप और सबसे बड़ा अनन्त



“दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषस्स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः” ।

[मुण्डकोप० २।१।२]

“अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययन्तथाऽरसन्नित्यमगन्धवच्च यत् ।

अनाद्यनन्तम्महतः परन्ध्रुवन्निचाय्य तं मृत्युमुखात्प्रमुच्यते” ॥

[कठो० ३।१५] ५

“अणोरणीयान्महतो महीयानात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्” ॥

[कठो० २।२०]

“वेदाहमेतम्पुरुषम्महान्तमादित्यवर्णन्तमसः परस्तात् ।

तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय” ॥

[यजु० ३१।१८] १०

इति यजुर्वेदादिश्रुतिभ्यः ईश्वरस्याऽवतारोऽर्थाज्जन्ममरणे नैव भवत,

इति सर्वेषां वेदानां सिद्धान्तो वेदितव्यः ।

४७—(प्र०) ईश्वरस्साकारः, उत निराकारः ?

४८—(उ ) निराकारश्चेति वदामः । निराकारश्चेत्तर्हि तस्मात्साकारं तत्कथञ्जयेत् ? तथा हस्तादिभिर्विना कथञ्जगद्रचयेदिति ? १५

है ।” “वह पुरुष पूर्ण परमात्मा दिव्यरूप, सब प्रकार की मूर्ति से रहित, सबके बाहर-भीतर वर्तमान और अजन्मा है ।” “वह शब्द स्पर्श रूप रस गन्ध और नाशरहित, नित्य अनादि अनन्त महत्त्व से परे निश्चल है । उसी को ठीक-ठीक जानके मृत्युरूप ग्राह के मुख से छूटता है” । “वह सूक्ष्म से सूक्ष्म और बड़े से बड़ा है । इस जीव के २० अन्तःकरण में व्याप्त, उपलब्ध होनेवाला है ।” “मनुष्य को ऐसा विचार रचना उचित है कि मैं उस परमात्मा को जानूँ कि जो सब से बड़ा, पूर्ण सूर्य के तुल्य प्रकाशवाला, अन्धकार से परे है । क्योंकि उसी को जानकर मनुष्य मृत्यु से बच सकता है, अन्य कोई मार्ग मुक्ति के लिये नहीं है ।” इत्यादि मन्त्रों के प्रमाण से ईश्वर का २५ अवतार अर्थात् जन्म-मरण नहीं होते, यही सब वेदों का सिद्धान्त जानना चाहिये ।

४७—(प्र०) ईश्वर साकार है, वा निराकार ?

४८—(उ०) यदि कहो कि निराकार है, तो ठीक है । और जो निराकार होने में तुम को शङ्का है, कि जो निराकार हो तो ३० उससे साकार जगत् उत्पन्न कैसे हो सके ? और हाथ आदि साधन



मेवं वाच्यम्, कुतः सर्वासां शक्तीनां सामर्थ्यानामीश्वरे नित्यं विद्यमानत्वात् । निराकारादेव साकारस्योत्पन्नत्वाच्चेति । तद्यथा—

“तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशस्सम्भूतः, आकाशाद्वायुः, वायोरग्निः, अग्नेरापः, अद्भ्यः पृथिवी, पृथिव्या ओषधयः, ओषधिम्योऽन्नम्, अन्नाद्देतः, रेतसः पुरुषः, स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः” ॥  
[तै० आ० ब्र० अनु० १]

आत्माऽऽकाशी निराकारी, तस्माद्वायुर्द्विगुणः स्थूलोऽजायत, ततस्त्रिगुणः स्थूलोऽग्निर्जलं पृथिवी चेत्यादि निराकारात् सूक्ष्मात् स्थूलमिदञ्च जगज्जायते । तथा च स्थूलमयस्कांतपाषाणादिकं १० पिष्ट्वा चूर्णीभूतङ्कृत्वा प्रत्यक्षतया दर्शयितुं द्रष्टुं सर्वे मनुष्याः समर्थाः । इत्यतो निराकारादेव साकारज्जगज्जायत इति निश्चयः ।

“अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यक्षुः स शृणोत्यकर्णः । स वेत्ति विश्वं न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं पुराणम्” ॥  
[श्वेताश्व० ३।१६]

१५ इत्यादिश्रुतिभ्यः हस्तपादाद्यङ्गैर्विनाप्यनन्तानां सर्वेषां साम-

के विना कैसे जगत् को रच सके ? सो यह ठीक नहीं । क्योंकि सब प्रकार के सामर्थ्य निराकार ईश्वर में नित्य ही विद्यमान हैं । इससे निराकार से ही साकार की उत्पत्ति हो सकती है । जैसे प्रमाण—

“उस ही इस आत्मा से आकाश, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, २० अग्नि से जल, जल से पृथिवी, पृथिवी से ओषधि, ओषधियों से अन्न, अन्न से वीर्य, वीर्य से शरीर उत्पन्न होता है, सो ही यह शरीर अन्नरसमय कहाता है ।” इस उत्पत्ति की प्रक्रिया में आत्मा और आकाश निराकार है । आकाश से द्विगुणा स्थूल वायु, और तिगुणा स्थूल अग्नि, जल और पृथिवी है । इत्यादि प्रकार निराकार सूक्ष्म से २५ यह स्थूल जगत् उत्पन्न होता है । और स्थूल चुम्बक पत्थर आदि का चूर्णरूप पीसके प्रत्यक्षता से सब मनुष्य देख दिखा सकते हैं । इस कारण निराकार से ही जगत् उत्पन्न होता है, [यह निश्चय है] ।

और—“विना हाथ पग के शीघ्र ग्रहण करता [ तथा व्यापक होने सब से अधिक वेगवान् ], विना चक्षु के देखता, विना ३० कान के सुनता, वह सब को जानता, उसका जाननेवाला कोई



ध्यानामीश्वरे वर्त्तमानत्वात् । साकार ईश्वरस्साकारात्साकारो-  
त्पत्तिर्हस्तपाद्वादिभिर्विना जगदुत्पादयितुमसमर्थ ईश्वरः, इत्यादि-  
वाग्जालं मनुष्याणाम्प्रमादेनैवेत्यवगन्तव्यम् ।

४६—(प्र०) ईश्वरो मायावी न वेति ? मायाशब्दस्य कोऽर्थः  
क्रियते ?

५०—(उ०) मायेश्वरशक्तिरित्युच्यते, नैवं योग्यम्भवितुम् ।  
कथं, छलकपटयोरर्थयोर्मायाशब्दस्थापातात् । कश्चिद्देवदयम्मायावीति,  
अनेन किं ज्ञम्यते ? अयं छली कपटी चेति । ईश्वरस्य मायाऽविद्यादि-  
दोषरहितत्वान्निर्मलो निरञ्जनो नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव एवेति ।  
ईश्वरो नैव कदाचिन्मायावीति निश्चेतव्यम् । “क्लेशकर्मविपाका- १०  
शयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः” [योग० समाधि० २४] इति पत-  
ञ्जलिसाक्ष्यस्य विद्यमानत्वात् ।

५१—(प्र०) ईश्वरस्सगुणोऽस्ति, निर्गुणो वा ?

नहीं, उसको सनातन पूर्णब्रह्म कहते हैं ।” इत्यादि श्रुति-प्रमाणों  
से हस्तपादादि अङ्गों के बिना भी सब अनन्त सामर्थ्य ईश्वर में है । १५  
ऐसा होने पर जो मनुष्य कहते हैं कि ईश्वर साकार है, साकार से  
साकार की उत्पत्ति होती है, हस्तपादादि के बिना ईश्वर जगत् को  
उत्पन्न नहीं कर सकता, इत्यादि वाग्जल मनुष्यों का प्रमाद से ही है,  
ऐसा निश्चय होता है ।

४६—(प्र०) ईश्वर मायावी है, वा नहीं ? और माया शब्द २०  
का क्या अर्थ करते हो ?

५०—(उ०) यदि कहते हो कि माया ईश्वर की शक्ति है, तो यह  
ठीक नहीं हो सकता । क्योंकि छल-कपट अर्थ में ‘माया’ शब्द प्रसिद्ध  
प्राप्त है । कोई कहे कि यह मायावी है, इससे क्या ज्ञात होता है ?  
यही कि यह छली-कपटी है । ईश्वर माया और अविद्यादि दोषों से रहित २५  
है, इसी से निर्मल निरञ्जन नित्य शुद्ध बुद्ध और मुक्तस्वभाव ही है ।  
ऐसा कभी न निश्चय करना चाहिये कि ईश्वर मायावी है । क्योंकि  
इसमें श्रीपतञ्जलि मुनि की साक्षी भी विद्यमान है — “अविद्या आदि  
क्लेशों और शुभाऽशुभ कर्मों के फलों से पृथक् मनुष्यादि की तुल्यता  
से रहित पुरुष ‘परमेश्वर’ कहाता है” । ३०

५१—(प्र०) ईश्वर सगुण है, वा निर्गुण ?



५२—(उ०) उभयमिति प्रतिजानीमः । तद्यथा घटः स्पर्शादि-  
भिस्स्वकीयैर्गुणैस्सगुणः, तथा चेतनस्य ज्ञानादिभिर्गुणैः पृथक्त्वान्नि-  
गुणोऽपि स एव । एवमीश्वरोऽपि सर्वज्ञादिभिः स्वकीयगुणैः 'सगुणः'  
एवञ्जडत्वजन्ममरणाज्ञानादिभिर्गुणैः पृथक्त्वात्स एव 'निर्गुणः' चेति  
५ निश्चयः ।

“एको देवस्सर्वभूतेषु गूढरसर्वध्यापी सर्वभूतान्तरात्मा ।  
सर्वाध्यक्षस्सर्वभूताधिवाससाक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च” ॥  
[श्वेता० ६।११]

इति साक्ष्याद् ब्रह्मादयो देवा रामकृष्णनृसिंहादयस्सर्वे जीवा  
१० एवेति निश्चयः । किञ्च, सर्वेषां ब्रह्मादीनां यः स्रष्टा धारयिताऽन्त-  
र्यामी सर्वशक्तिमान्नायकारी स्वामी चास्ति, तैः सेव्यस्तेभ्यो भिन्न  
एक एवेश्वर इति वेदितव्यम् ।

५३—(प्र०) भवद्भिर्मुक्तिर्मन्यते न वा ?

५२—(उ०) ईश्वर सगुण निर्गुण दोनों प्रकार से है, यह निश्चित  
१५ है । जैसे घट स्पर्श आदि अपने गुणों से 'सगुण' तथा चेतन के ज्ञानादि  
गुणों से पृथक् होने से 'निर्गुण' भी वही है । ऐसे ही ईश्वर भी सर्वज्ञ  
आदि अपने गुणों से 'सगुण', और जन्ममरण जड़पन अज्ञान आदि  
गुणों से पृथक् होने से 'निर्गुण' भी वही है ।

उपनिषद् में कहा है कि—एक ही देव ईश्वर सब भूतों में  
२० अदृष्टता से व्याप्त है । सब का अन्तर्यामी, सब का अध्यक्ष, सब  
प्राणि अप्राणि जगत् का निवासस्थान, सब का साक्षी चेतन केवल  
एक और निर्गुण है” ।

इस प्रमाण से ब्रह्मादि देवता और श्रीरामचन्द्र श्रीकृष्णचन्द्र  
तथा नृसिंह आदि सब जीव ही निश्चित होते हैं । क्योंकि एक  
२५ वही ईश्वर देव है, ऐसा कहा है । किन्तु सब ब्रह्मादि का जो स्रष्टा  
और धारणकर्त्ता अन्तर्यामी सर्वशक्तिमान् नायकारी और स्वामी,  
ब्रह्मादि को सेवन योग्य, उनसे भिन्न एक ही ईश्वर है, ऐसा जानना  
चाहिये ।

५३—(प्र०) आप लोग मुक्ति मानते हो, वा नहीं ?



५४—(उ०) सालोक्यसामीप्यसानुज्यसायुज्यलक्षणा चतुर्धा मुक्तिर्मन्यतेऽस्माभिः । चतुर्विधाया मुक्तेः कीदृशोऽर्थो विज्ञायते ? ईश्वरजीवयोस्समाने लोके निवासस्सा सालोक्यमुक्तिरित्यादयोऽर्था गृह्यन्ते । नैवं शक्यं विज्ञातुम्, कुतः सर्वेषाञ्जीवानामीश्वररचिताऽधिष्ठिते लोके निवासात्स्वतो गर्दभादोनामपि सा मुक्तिः सिद्धेति । ५ सामीप्यमुक्तिरपि सिद्धा, सर्वेषु पदार्थेष्वन्तर्यामित्वेन ईश्वरस्य सामीप्ये वर्त्तमानत्वात् । सानुज्यमुक्तिरपि सर्वेषाञ्जीवानां स्वतस्सिद्धा । कस्मादनन्तचेतनेश्वरस्याऽपेक्षया जीवानां सान्तत्वचेतनापत्तेरल्पज्ञत्वादिगुणानां सत्त्वात् । सायुज्यमुक्तिरपि सर्वेषाञ्जीवानां साधारणाऽस्ति । कुतः, ईश्वरस्य सर्वत्र व्यापकत्वात्सर्वेषाञ्जीवानां १० तत्र व्याप्यसम्बन्धाच्चेति । सा चतुर्धा मुक्तिर्व्यर्थेति मन्तव्यम् ।

का तर्हि मुक्तिरिति ? वैकुण्ठगोलोककैलासादिषु निवास इत्युच्यते । मैवं वाच्यम्, तत्र पराधीनत्वादतएव दुःखापत्तेश्चेति ।

५४—(उ०) सालोक्य सामीप्य सानुज्य और सायुज्य यह चार प्रकार की मुक्ति हम मानते हैं । चार प्रकार की मुक्ति का क्या अर्थ १५ करते हो ? एक लोक में जीव-ईश्वर का निवास होना 'सालोक्य मुक्ति' इत्यादि अर्थ लेते हैं । यह मानना तुम्हारा ठीक नहीं, क्योंकि ईश्वर के रचे और नियत किये लोक में सब जीवों का निवास होने से स्वयमेव गदहे आदि की भी वह (=सालोक्य) मुक्ति सिद्ध है । और सब पदार्थों में अन्तर्यामी व्यापक होने से ईश्वर सब के समीप में २० वर्त्तमान है, इससे 'सामीप्य' मुक्ति भी स्वतःसिद्ध है । और 'सानुज्य' मुक्ति भी सब जीवों को स्वतःसिद्ध ही है । क्योंकि अनन्त चेतन ईश्वर की अपेक्षा जीवों में अन्तवाली चेतनता होने से जीव अल्पज्ञादि गुणवाले हैं । और 'सायुज्य' मुक्ति भी सब जीवों की साधारण सिद्ध ही है । क्योंकि ईश्वर के सर्वत्र व्यापक होने से, और सब जीवों के २५ उस में व्याप्य होने से व्याप्यव्यापक सम्बन्ध स्वतःसिद्ध ही है । इसलिये यह चार प्रकार की मुक्ति मानना व्यर्थ ही है ।

जब यह मुक्ति मानना व्यर्थ हुआ, तो अब कैसी मुक्ति मानोगे ? यदि कहो कि वैकुण्ठ गोलोक और कैलासादि के निवास को मुक्ति मानते हैं । तो यह भी तुम्हारा कहना ठीक नहीं । क्योंकि वहां ३० पराधीन होने से ही दुःख प्राप्त होगा, तो दुःख को मुक्ति नहीं कहा



वेदयुक्तिसिद्धान्तः—खलु मुक्तिरेकैवास्ति, नान्येति । तद्यथा, यथाव-  
द्विद्याविज्ञानधर्मानुष्ठानानन्तरं यन्निर्भ्रमब्रह्मतत्त्वविज्ञानं, तेन सर्वज्ञ-  
स्येश्वरस्य सर्वानन्दस्य प्राप्त्या जन्ममरणादिसर्वदुःखनिवृत्तिः, ईश्वरा-  
नन्देन सह सदैवावस्थितिर्मुक्तिरिति । अतो भवन्मता मुक्तिमिथ्येति  
५ निश्चयः । “सर्वम्परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम्” [मनु० ४।१६०]  
इति मनुसाक्ष्यात् ।

५५—(प्र०) विष्णुस्वामिवल्लभसम्प्रदायादयो वेदसम्मत, अहो-  
स्वित्तद्विरोधिनः ?

५६—(उ०) न पूर्वः, चतुर्षु वेदेषु तेषामनभिधानात् । वेद-  
१० विरोधात्पाखण्डिन एव ते त्विति वेद्यम् ।

“पाखण्डिनो विकर्मस्थान्वं डालव्रतिकाञ्छठान् ।

हेतुकान्वकवृत्तींश्च बाङ्मात्रेणापि नार्चयेत्” ॥ [मनु० ४।३०]

इति मनूक्तत्वात् ।

एते सम्प्रदायशब्दार्थाहं नैव सन्ति, किन्तु सम्प्रदाहशब्दार्थाहं

१५ जाता । वेद और युक्ति से सिद्धान्त है कि—मुक्ति एक ही है, अन्य  
नहीं । जैसे यथावत् जो विद्या विज्ञान और धर्म का यथावत् अनुष्ठान  
करने के पश्चात् निर्भ्रान्त ब्रह्म को जानना, उससे सर्वज्ञ ईश्वर के  
सब आनन्द की प्राप्ति से जन्ममरणादि सब दुःखों की निवृत्ति, और  
ईश्वर के आनन्द के साथ सदैव अवस्थिति ‘मुक्ति’ कहाती है । इससे  
२० आप की मानी मुक्ति मिथ्या ही है, यह निश्चय जानो । [धर्मशास्त्र में  
कहा है] कि—“परवश होना सब दुःख और स्वाधीन होना [सब] सुख  
है ।” तुम्हारी मुक्ति में सदा पराधीन रहना है ।

५५—(प्र०) विष्णुस्वामी और वल्लभसम्प्रदायी आदि वेदानु-  
कूल हैं, वा उसके विरोधी ?

२५ ५६—(उ०) इसमें वेदानुकूल होना प्रथम पक्ष ठीक नहीं ।  
क्योंकि चारों वेदों में उनका कहीं नाम ही नहीं है । वेदविरोधी होने  
से वे पाखण्डी ही हैं, यह जानना चाहिये । धर्मशास्त्र में कहा है कि—  
“पाखण्डी, वेदविरुद्ध कर्म करनेहारे, विडाल के स्वभाव से युक्त,  
शठ स्वार्थी, बगुला के तुल्य पर पदार्थ पर ध्यान रखनेवालों का  
३० वाणी से भी सत्कार न करे ।”

ये विष्णुस्वामी आदि ‘सम्प्रदाय’ शब्द से कहे जाने योग्य नहीं



एवेति । 'सम्यक् प्रकृष्टतया हि दग्धधर्मज्ञाना जना भवन्ति येषु ते सम्प्रदाहाः' इति विवेकः । कदाचित्केनचित्तेषां विश्वास एव न कर्तव्यः ।

५७—(प्र०) 'श्रीकृष्णः शरणं मम' । अयमक्षरसमुदायः सत्योऽस्ति, मिथ्या वेति ? ५

५८—(उ०) वेदानुक्तत्वात्कपोलकल्पितत्वान्मिथ्यैवेति । वेदोक्तगायत्रीमन्त्रोपदेशत्यागेन मिथ्याकल्पिताऽक्षरसमुदायोपदेशेन नास्तिकत्वं नरकप्राप्तिश्च भविष्यति भवताम् ।

५९—(प्र०) कीदृगर्थोऽस्य क्रियते ?

६०—(उ०) यः श्रिया सहितः कृष्णः स मम शरणमस्तिवति । १०  
नैवं शक्यं, कुतः श्रीकृष्णो मम शरणम्प्राप्नोतु हिनस्तिवत्याद्यर्थस्य सम्भवादशुद्धानर्थकोऽयमक्षरसमुदायः । अस्मात् कारणादस्योपदेश-

हैं, किन्तु 'सम्प्रदाह' अर्थात् सम्यक् नाशक ही हैं । 'अच्छे प्रकार सम्यक् रीति से धर्म और ज्ञान जिसका नष्ट हो गया, ऐसे जन जिनमें हों, वे 'सम्प्रदाह' कहाते हैं । कभी किसी को उनका विश्वास १५ ही न करना चाहिये ।

५७ -- (प्र०) 'श्रीकृष्णः शरणं मम' यह अक्षरों का समुदायरूप मन्त्र सत्य है, वा मिथ्या ?

५८—(उ०) वेदोक्त न होने और कपोलकल्पित होने से मिथ्या ही है । वेदोक्त गायत्री मन्त्र के उपदेश को छोड़कर मिथ्या कल्पना २० किये अक्षरों के समुदायरूप मन्त्र के उपदेश से आप को नास्तिकता और नरक-प्राप्ति होगी ।

५९—(प्र०) उक्त मन्त्र का अर्थ कैसा करते हो ?

६०—(उ०) श्री=लक्ष्मी के सहित जो कृष्ण हैं, सो मेरे शरण हों । यह अर्थ कहना ठीक नहीं हो सकता, क्योंकि श्रीकृष्ण मेरे शरण को २५ प्राप्त हों, वा मेरे शरण को नष्ट करें, इत्यादि अर्थ भी सम्भव है । अर्थात् तुम्हारे मन्त्र में "प्राप्नोतु" पद नहीं है, किन्तु ऊपर से कल्पनामात्र करते हो । वैसे कोई "हिनस्तु" आदि क्रिया की भी कल्पना कर सकता है । उसको तुम कैसे रोक सकोगे ? इस कारण तुम्हारा यह अक्षरसमुदायरूप मन्त्र निरर्थक, अशुद्ध है । इसी से इस ३०



करणं ग्रहणं विश्वासश्च केनचिन्नैव कर्तव्य इत्यर्थः ।

एवमेव 'नमो नारायणाय'; 'नमश्शिवाय'; 'नमो भगवते वासुदेवाय'; 'ऐं ह्रीं क्लीं चामुण्डायै विच्चे' इत्यादयोऽप्यक्षरसमुदायोपदेशा मिथ्यैव सज्जनैर्मन्तव्याः ।

५ अथ वल्लभसम्प्रदायस्योपदेशोऽयं ब्रह्मसम्बन्धोऽर्थाद् भ्रष्टसम्बन्धोऽक्षरसमुदायः सज्जनैर्वैदितव्यः—

“श्रीकृष्णः शरणम्मम । सहस्रपरिवत्सरमितकालजातकृष्णवियोगजनिततापक्लेशाऽनन्ततिरोभावोऽहं भगवते कृष्णाय देहेन्द्रियप्राणान्तःकरणतद्धर्माश्च दारागारपुत्राप्तवित्तोहपराण्यात्मना सह  
१० समर्पयामि । दासोऽहं कृष्ण तवास्मि ।”

सहस्रपरिवत्सरेत्यादि सहस्रपरिगणनं व्यर्थम् । कुतः, वल्लभस्य युष्माकञ्च सर्वज्ञताया अभावात्, प्रत्यक्षता च न विद्यते । सहस्रं

मन्त्र का उपदेश करना वा दूसरे से उपदेश लेना, और इस पर किसी को कदापि विश्वास न करना चाहिये ।

१५ इसी प्रकार 'नमो नारायणाय'; 'नमः शिवाय'; 'नमो भगवते वासुदेवाय'; 'ऐं ह्रीं क्लीं चामुण्डायै विच्चे' इत्यादि अक्षरसमुदायरूप वनावटी मन्त्रों के उपदेश भी सज्जनों को मिथ्या ही जानने चाहियें ।

और वल्लभसम्प्रदायियों के ब्रह्मसम्बन्धनामक मन्त्र का उपदेश  
२० वस्तुतः भ्रष्टसम्बन्धरूप ही सज्जनों को समझना चाहिये । जैसे कि ब्रह्मसम्बन्ध का मन्त्र “श्रीकृष्णः शरणं०” इत्यादि है । इसका अर्थ यह है कि—“श्रीकृष्ण मेरे शरण हों । सहस्रों वर्षकाल से हुआ जो कृष्ण का वियोग, उससे हुआ जो दुःख और क्लेश, उनसे घेरा हुआ मैं श्रीकृष्ण भगवान् के लिये अपने देह इन्द्रिय प्राण अन्तःकरण, और  
२५ स्त्री पुत्र घर, प्राप्त-धन क्रियासहित देहादि के धर्मों को अपने आत्मा के सहित समर्पण करता हूँ । और हे कृष्ण ! मैं तुम्हारा दास हूँ ।”

सहस्र वर्ष की गणना करना व्यर्थ है । क्योंकि तुम्हारा वल्लभ और तुम सर्वज्ञ नहीं कि सहस्र वर्ष से ही वियोग हुआ, ऐसा निश्चय कर सको । और न प्रत्यक्ष ही सहस्र वर्षों को जान सकते हो कि इतने



वत्सरा व्यतीता इत्यपि कृष्णवियोगे परिगणनमयुक्तं सन्दिग्धत्वात् ।

६१—(प्र०) कृष्णशब्देन किङ्गृह्यते ?

६२—(उ०) परब्रह्म गोलोकवासी वेति वदामः । नेतत्सत्यमस्ति । कस्माज्जन्ममरणवतो जीवस्य कृष्णस्य परब्रह्मत्वाभावात् । गवां पशूनां यो लोकस्स तु दुःखरूपो दुर्गन्धरूपत्वात्तत्र ये वसन्ति तेऽप्यसम्भ्या विद्याहीना आभीरवन्मूर्खा विज्ञेयाः । किञ्च अस्मात्प्रत्यक्षभूता-दाभीरपल्लेर्गोलोकात् पृथक्कश्चिद् गोलोक एव नास्तीत्यवगन्तव्यम् । तदुपासकास्तत्र ये गमिष्यन्ति, तेपि तादृशा भवन्तीति विज्ञेयम् ।

‘कृष्णवियोगजनिततापक्लेशानन्ततिरोभावोऽहम्’ इत्यादि, इदमशुद्धम् । कुतस्तापक्लेशयोः पुनरुक्तत्वादेकार्थत्वाच्च । पुनरनन्तस्य क्लेशस्य तिरोभावविरहाद्देशकालवस्तुपरिच्छेद एवा-सम्भावनीयः । कृष्णस्तु कृष्णगुणविशिष्टदेहवत्त्वाज्जन्ममरणादियुक्त-

ही वर्षे व्यतीत हुए । इसलिये कृष्ण-वियोग में निश्चय न हो सकने से वर्षगणना अयुक्त है ।

६१—(प्र०) कृष्ण शब्द से क्या लेते हो ?

१५

६२—(उ०) यदि कहते हो कि गोलोकनिवासी परब्रह्म ‘कृष्ण’ शब्द से लेते हैं, तो यह ठीक सत्य नहीं । क्योंकि जन्म-मरणवाले कृष्ण जीवात्मा परब्रह्म नहीं हो सकते । गौ आदि पशुओं का लोक दुर्गन्ध के बढ़ने से दुःखरूप होगा । उसमें जो वसते हैं, वे अहीरों के तुल्य मूर्ख विद्याहीन असभ्य जानने चाहियें । और विचारके देखें तो इस प्रत्यक्ष अहीरों के ग्रामरूप गोलोक से पृथक् अन्य कोई गोलोक ही नहीं, ऐसा जानना चाहिये । उस गोलोक-निवासी के उपासक जो वहां जावेंगे, वे भी वैसे ही होते हैं । यह जानना चाहिये ।

और जो कहा था कि ‘अनन्त काल से कृष्ण के वियोग से हुए दुःख-क्लेश से ढपा हुआ मैं हूँ’ इत्यादि, यह अशुद्ध है । क्योंकि ताप और क्लेश दोनों के एकार्थ होने से दोनों का कहना पुनरुक्तदोष है । फिर अनन्त क्लेश की निवृत्ति न हो सकने से प्रत्येक देशकाल और वस्तु से क्लेश का पृथक् होना सम्भव नहीं । काले गुण से युक्त शरीरधारी जन्ममरणवाले श्रीकृष्ण को भगवान् कहना भी योग्य नहीं हो सकता । और उन कृष्ण के अर्थ शरीर इन्द्रिय प्राण अन्तःकरण



त्वाद्भगवानेव भवितुमयोग्यः । तस्मै देहेन्द्रियप्राणान्तःकरणतद्धर्माणां समर्पणमेवाशक्यं, सदैव तन्निष्ठत्वात्स्वाभाविकत्वाच्च ।

समर्पणम्भवति चेत्, मलमूत्रादिपीडारागद्वेषाधर्माणामपि तस्मा एव समर्पणं स्यात् । तत्फलभोगो नरकादिप्राप्तिः कृष्णायैव भवेदिति न्यायस्य विद्यमानत्वात् । दारागारपुत्राप्तवित्तेहानामपि समर्पणम्पापफलकमेव । कुतः, परदाराणां परपुरुषार्पणस्य पापात्मकत्वात् । तद्धर्माश्चेतिपुल्लिङ्गेन निर्देशाद्वित्तेहपराणीति नपुंसकलिङ्गेन निर्देशाच्चाशुद्धमेव वाक्यम् । कुतो लिङ्गवैषम्यनिर्देशात्परशब्दस्य त्रिषु लिङ्गेषु वर्तमानत्वाच्च ।

१० 'आत्मना सह समर्पयामि, दासोऽहं कृष्ण तवास्मि' इत्यन्तो-  
ऽनर्थोऽक्षरसमुदायः । एकैवात्मा जीवो न द्वौ, पुनरात्मना सहात्माहं  
देहेन्द्रियादीनि समर्पयामीत्यशुद्धमेव । दासोऽर्थाच्छूद्र एवेति ।  
'शूद्रस्य तु जुगुप्सितम्' इति मनुसाक्ष्यदर्शनात् । अस्याभिप्रायो

और इनके धर्मों का समर्पण करना अशक्य है । क्योंकि शरीर इन्द्रि-  
१५ यादि अपने-अपने साथ स्वाभाविक स्थित हैं । अर्थात् एक शरीर के  
नेत्रादि छुटाकर दूसरे को नहीं दिये जा सकते ।

यदि कहो कि नहीं, समर्पण होता ही है, तो मलमूत्रादि और  
पीड़ा राग द्वेष तथा अधर्मों का भी समर्पण श्रीकृष्ण के लिये ही  
होवे । और मलादि का फल दुःख-नरकादि की प्राप्ति भी श्रीकृष्ण  
२० के लिये ही होवे, यही प्रकट न्याय है । और स्त्री घर पुत्र प्राप्त  
घन और क्रियाओं का समर्पण भी पापफलवाला ही है । क्योंकि पर-  
स्त्री का परपुरुष को समर्पण करना पापरूप ही है । तथा 'तद्धर्मान्'  
इसका पुल्लिङ्गनिर्देश और 'वित्तेहपराणि' इस विशेषण के नपुंसक  
होने से वाक्यमंबन्ध भी अशुद्ध ही है, क्योंकि पर शब्द तीनों लिङ्ग  
२५ का वाचक होसकता है ।

'हे कृष्ण ! मैं तुम्हारा दास हूँ, आत्मा के साथ समर्पण  
करता हूँ' यहां पर्यन्त अक्षरसमुदायरूप वल्लभ का मन्त्र अनर्थक है ।  
जब जीवात्मा एक ही वस्तु है, दो नहीं है, तो फिर आत्मा के साथ  
देह और इन्द्रियादिकों का समर्पण करता हूँ, यह कथन अशुद्ध अस-  
३० म्बद्ध ही है । और दास अर्थात् शूद्र हूँ, 'शूद्र का नाम दासान्त



वल्लभेन 'सिद्धान्तरहस्यादि' ग्रन्थेष्वनेकबालबुद्धिमनुष्यभ्रमर्थः पाप-  
वृद्धचर्चश्च निरूपितः । तद्यथा—

“श्रावणस्याऽमले पक्ष एकादश्यां महानिशि ।

साक्षाद्भगवता प्रोक्तन्तदक्षरश उच्यते ॥१॥

ब्रह्मसम्बन्धकरणात् सर्वेष्वान्देहजीवयोः ।

सर्वदोषनिवृत्तिर्हि दोषाः पञ्चविधाः स्मृताः ॥२॥

सहजा देशकालोत्था लोकवेदनिरूपिताः ।

संयोगजाः स्पर्शजाश्च न मन्तव्याः कदाचन ॥ ३ ॥

अन्यथा सर्वदोषाणां न निवृत्तिः कथञ्चन ।

असमर्पितवस्तूनान्तस्माद् वर्जनमाचरेत् ॥४॥

५

१०

निन्दित रखना चाहिये,' यह मनुस्मृति की साक्षी है । सो धर्मशास्त्र के अनुसार तुम शूद्रवत् हो । इस उक्त 'ब्रह्मसम्बन्ध' नामक मन्त्र का अभिप्राय वल्लभ ने 'सिद्धान्तरहस्यादि' ग्रन्थों में अनेक बालबुद्धि मनुष्यों को भ्रम और पाप के बढ़ाने के लिये निरूपण किया है । जो कि इस प्रकार है—

१५

“( श्रावणस्या० ) श्रावण महीने के शुक्लपक्ष की एकादशी की आधी रात्रि के समय में साक्षात् भगवान् ने जो कहा है, उस को ज्यों-का-त्यों कहते हैं ।

ब्रह्मसम्बन्धरूप मन्त्र के लेने से सब के जीव और शरीर के सब दोषों की निवृत्ति हो जाती है । वे दोष पांच प्रकार के हैं ।

२०

१—सहज स्वाभाविक, २—देश से हुए, ३—कालभेद से हुए, ४—लोक वा धर्मशास्त्र में कहे, और ५—वेद में कहे । ये पांच प्रकार के दोष लग सकते हैं । इनकी निवृत्ति ब्रह्मसम्बन्धकरणरूप मन्त्र से हो सकती है । परन्तु स्त्री आदि के संयोग से और स्पर्श से होनेवाले दोषों को न मानना चाहिये ।

२५

अन्यथा सब दोषों की निवृत्ति कभी नहीं हो सकती । किन्तु समर्पण करने से ही दोषों की निवृत्ति हो सकती है । इसलिये समर्पण अवश्य करना चाहिये ।

३०



निवेदिभिः समर्प्यैव सर्वं कुर्यादिति स्थितिः ।  
 न मतं देवदेवस्य स्वामिभुवत्समर्पणम् ॥ ५ ॥  
 तस्मादादौ सर्वकार्ये सर्ववस्तुसमर्पणम् ।  
 दत्तापहारवचनन्तथा च सकलं हरेः ॥ ६ ॥  
 न ग्राह्यमिति वाक्यं हि भिन्नमार्गपरं मतम् ।  
 सेवकानां यथा लोके व्यवहारः प्रसिध्यति ॥ ७ ॥  
 तथा कार्यं समर्प्यैव सर्वेषां ब्रह्मता ततः ।  
 गङ्गात्वे सर्वदोषाणां गुणदोषादिवर्णनम् ॥ ८ ॥  
 गङ्गात्वेन निरूप्यं स्यात्तद्वदत्रापि चैव हि ।”

- १० प्रथमतस्त्वसकृदुक्तं कृष्णः भगवानेव नेति । कृष्णस्य मरणे जात  
 ईपन्न्यूनानि पञ्चसहस्राणि वर्षाणि व्यतीतानि । स इदानीं वल्लभस्य

इससे गुसांईयों के चले निवेदन करने के वस्तुओं सहित समर्पण करके हो सब कार्य करें, यही नियम है । देवों के देव विष्णु का यह मत नहीं कि बिना समर्पण किये गुसांई के चले किसी वस्तु को भोगें ।

और समर्पण यही है कि स्वामी गुसांईजी चेलों के सब पदार्थों का भोग प्रथम कर लें । इससे सब कामों के आरम्भ में सब वस्तुओं का समर्पण करना ही ठीक है । वैसे ही सब पदार्थ हरि को समर्पण करके ही पीछे ग्रहण करें ।

- २० गुमांईजी के मत से भिन्न मार्ग के वाक्यमात्र को भी गुसांईजी के चेला-चेली कभी न सुनें । जैसा सेवकों का व्यवहार प्रसिद्ध है, वैसा होना चाहिये ।

वैसे ही सब वस्तुओं का समर्पण करके सब के बीच में ब्रह्मबुद्धि करे । वैसे ही अपने मत में गुणों का, और दूसरे के मत में दोषों का वर्णन किया करे । जैसा गङ्गा में अन्य घृणित वस्तु पड़कर पवित्र गङ्गारूप हो जाते हैं, वैसे अपने मत के दोष भी गुणरूप समझने चाहिये ।”

हमने पहले भी कई बार कहा है कि कृष्ण भगवान् ही नहीं हो सकते । जिन कृष्णजी को शरीर त्यागे कुछ न्यून पांच हजार वर्ष व्यतीत हुए, सो उन्होंने अब वल्लभ के समीप आकर कैसे यह कहा? किन्तु



समीपे कथमिदमुक्तवान् ? किन्तु कदाचिन्नैवोक्तवानिति । किञ्च वल्लभेनायं पाखण्डजालोऽधर्मकरणार्थो रचित इति जानीमः । 'साक्षाद्भगवता प्रोक्तम्' इति केवलं छलमेव तस्य वल्लभस्य विज्ञेयमिति । तस्मात्तदक्षरसमुदायोपदेशस्य पापजनकत्वादसम्बद्धप्रलापत्वाच्च । ५

'सर्वदोषनिवृत्तिरिति'—दोषा निवृत्ता भूत्वा क्व गमिष्यन्तीति वाच्यम् ? नष्टा भविष्यन्तीति ब्रूयुश्चेत्, कदाचिन्नैव नश्येयुः । अन्यकृताः पापदोषा अन्यमनुष्यन्नैव गच्छन्ति, किन्तु कर्त्तव्यं कृतं शुभाशुभफलं भुङ्क्ते, नान्यः कश्चिदिति । हरिं कृष्णं समर्पणेनान्यकृताः पापदोषा गच्छेयुश्चेत्, तर्हि तत्फलभोगार्थं नरकं दुःखं १० हरिरेव प्राप्नुयादिति निश्चयः । कुतः, 'स्वयं कृतानाम्पापपुण्यकर्मफलानां स्वभोगेनैव क्षयात्' इति न्यायाद्वल्लभकृता कल्पना व्यर्थेवेति निश्चयः ।

'सहजा इत्यादि'—सहजानां दोषाणां निवृत्त्या स्वयमेव निवर्त्तते, कुतस्तेषां सहजत्वादग्निदाहवत् । सर्वसमर्पणे कृतेऽपि देहस्थानां कुष्ठा- १५

कदापि नहीं कहा, केवल बनावट ही है । किन्तु वल्लभने यह पाखण्ड-जाल स्वार्थ और अधर्म करने के लिये रचा है, यह जान पड़ता है । 'साक्षात् भगवान् ने कहा' यह वल्लभ का केवल छल ही जानना चाहिये । इसलिये उस 'ब्रह्मसम्बन्ध' नामक अक्षरसमुदायरूप मन्त्र का उपदेश पाप का उत्पादक होने से असम्बद्ध और अनर्थक है । २०

और जो सब दोषों की निवृत्ति मानते हो, तो निवृत्त होकर दोष कहां जावेंगे ? यदि कहो कि नष्ट हो जावेंगे, तो कदापि नष्ट नहीं हो सकते । क्योंकि अन्य मनुष्य के किये पाप दोष अन्य को नहीं प्राप्त हो सकते, किन्तु कर्त्ता ही अपने शुभाशुभ कर्मफल को भोगता है, अन्य कोई नहीं । यदि कहो कि समर्पण करने से अन्य के २५ किये पाप दोष हरि कृष्ण को प्राप्त हों, तो उसके दुःखरूप नरकफल को भोगनेवाले हरि ही हों, यह निश्चय है । क्योंकि 'स्वयं किये हुए पाप पुण्यरूप कर्म के फलों की अपने भोग से ही निवृत्ति हो सकती है' इस न्याय से वल्लभकृत कल्पना व्यर्थ ही समझनी चाहिये ।

सहज स्वाभाविक दोषों की यदि निवृत्ति होवे, तो स्वयं ३० आत्मा की ही निवृत्ति हो जावे । क्योंकि जैसे अग्नि के स्वाभाविक



दिदोषाणां क्षुत्पिपासाशीतोष्णसुखदुःखाऽज्ञानानां भवताम्भवच्छिष्या-  
णाञ्च निवृत्तोरदर्शनात् । तथा देशकालोत्था अपि वातपित्तकफज्वरा-  
दयो दोषा भवदादीनां कथञ्च निवर्तन्ते ?

लोकवेदयोर्मिथ्याभाषणचौर्यकरणमातृदुहितृभगिनीस्नुषापरस्त्री-  
५ गमनविश्वासघातादयो दोषाः, तथा मातृदुहितृभगिनीस्नुषागुरुपत्न्यादि-  
संयोगजास्तासां स्पर्शजाश्च दोषा वल्लभाद्यैरिदानीन्तनैर्भवद्भि-  
र्वल्लभसम्प्रदायस्थैर्भगवदुपदेशेन वल्लभोपदेशेन वा कदाचन नैव  
मन्तव्याः किम् ?

इति भगवद्वल्लभोपदेशेनानेन किञ्जम्यते—भगवद्वल्लभो वेद-  
१० विरुद्धोपदेशान्नास्तिकावधर्मकारिणौ विद्याहीनौ विषयिणावधर्म-  
प्रवर्त्तिकौ धर्मनाशकौ च विज्ञायेते ।

दाहगुण की निवृत्ति में अग्नि भी नहीं रहता, वैसे आत्मा भी न  
रहेगा । सब के समर्पण करने में भी आप तथा आप के शिष्यों के  
शरीरस्थ कुष्ठादि रोग और क्षुधा प्यास शीत-उष्ण सुख-दुःख तथा  
१५ अज्ञान आदि की निवृत्ति नहीं दीख पड़ती । इससे तुम्हारा समर्पण  
ठीक नहीं । और ब्रह्मसंबन्ध से देश काल के परिवर्तन से हुए वात  
पित्त कफ और ज्वर आदि दोष आप लोगों के क्यों नहीं निवृत्त  
होते ?

और लौकिक धर्मशास्त्र तथा वेद में निरूपण किये मिथ्या  
२० बोलना, चोरी करना, माता कन्या बहिन पुत्रवधू आदि अन्य स्त्रियों  
से समागम, और विश्वासघात आदि दोष, तथा माता कन्या बहिन  
पुत्रवधू और गुरुपत्नी आदि के संयोग और स्पर्श से उत्पन्न हुए दोष  
वल्लभ-सम्प्रदाय के माननेवाले वल्लभ से लेके अब तक हुए आप  
लोगों को, तथा भगवान् के वा वल्लभ के उपदेश से अन्य लोगों को  
२५ क्या नहीं मानने चाहियें ?

इस प्रकार भगवान् और वल्लभ के उपदेश से प्रतीत होता है  
कि भगवान् और वल्लभ दोनों वेदविरुद्ध उपदेश से नास्तिक, अधर्म  
करनेहारे, विद्याहीन, विषयी, अधर्म के प्रवर्त्तिक और धर्म के नाशक  
जाने जाते हैं ।



“योऽवमन्येत ते मूले हेतुशास्त्राश्रयाद् द्विजः ।  
स साधुभिर्बहिष्कार्यो नास्तिको वेदनिन्दकः” ॥

[मनु० २।१०]

इति मनुसाक्ष्यस्य विद्यमानत्वात् । ‘अन्यथा सर्वदोषाणां न निवृत्तिः कथञ्चन’, इत्यादि रचनम्भङ्गापानङ्कृतत्वं कृतमिति विज्ञेयम् । कुतः, ५  
ईदृगुपदेशेन सत्यधर्मगुणानां नाश एव भवति । अतः ईदृशस्य अष्टी-  
करणार्थस्य पापात्मकस्योपदेशस्योपरि केनचिदपि कदाचिद्वश्वासो नैव  
कर्त्तव्यम् इति निश्चयः ।

अधर्मोपदेशोऽयमन्योऽपि वल्लभसंप्रदायस्थानां श्रोतव्यः—  
‘तस्मादादौ’ । स्वोपभोगात्पूर्वमेव सर्ववस्तुपदेन भार्यापुत्रादीनामपि १०  
समर्पणं कर्त्तव्यम्, विवाहानन्तरं स्वोपभोगे सर्वकार्ये सर्वकार्यनिमित्तं

नास्तिक का लक्षण धर्मशास्त्र में यही किया है कि—“जो तर्क-  
शास्त्र के आश्रय से वेद और धर्मशास्त्र का अपमान करता, अर्थात्  
वेद से विरुद्ध स्वार्थ का आचरण करता है, श्रेष्ठ पुरुषों को योग्य  
है कि उसको अपनी मण्डली से निकालके बाहर कर दें । क्योंकि १५  
वह वेदनिन्दक होने से ‘नास्तिक’ है ।” इससे आप लोगों में नास्ति-  
कता प्रतीत होती है ।

और यह जो कहना है कि—“हमारे मत को ग्रहण किये बिना  
दोषों की निवृत्ति अन्य किसी प्रकार से नहीं हो सकती”, यह रचना  
भांग पी करके ही की है, यह जानना चाहिये । क्योंकि ऐसे मत के २०  
उपदेश से सत्यधर्म और गुणों का नाश ही होता है । इससे ऐसे भ्रष्ट  
करने के अर्थ प्रवृत्त हुए पापरूप उपदेश के ऊपर किसी को कदापि  
विश्वास नहीं करना चाहिये, यह निश्चय है ।

और भी थोड़ा सा यह वल्लभसंप्रदायियों का अधर्मोपदेश सुनना  
चाहिये—“जिस कारण सर्वस्व समर्पण के बिना सब दोषों की २५  
निवृत्ति नहीं हो सकती, इसलिये गुसाईंजी के चेलों को उचित है  
कि अपने भोग करने से पहले ही सब वस्तुओं का समर्पण अर्थात्  
स्त्री पुत्र आदि का भी समर्पण करें । विवाह होने के पश्चात् अपने  
भोगके सब काम में सब कार्यों का निमित्त उस कार्य के उपयोगी



तत्कार्योपयोगि वस्तु समर्पणं कार्यम् । समर्पणं कृत्वा पश्चात्तानि तानि कार्याणि कर्त्तव्यानीत्यर्थः ।

अथाऽस्य खण्डनम्—विवाहानन्तरं स्वोपभोगात्पूर्वमेव भार्या-पुत्रादीनामपि पवित्रीकरणार्थमाचार्याय गोस्वामिने समर्पणं कृत्वैव  
५ पश्चात् तानि कार्याणि कर्त्तव्यानीति भवद्भिरुपदिश्यते चेत्, तर्हि स्वस्त्रीदुहितृभगिनीपुत्रादीनामपि पवित्रीकरणार्थं समर्पणं किमर्थं न क्रियते ?

अस्माकमिच्छाऽन्येभ्यः स्वभार्यादीनां समर्पणार्था नास्ति; अतो न क्रियते इति ब्रूयुश्चेत्, तर्ह्यन्येषां भार्यादीनां समर्पणं स्वार्थम्पाप-  
१० रूपं किमर्थं कारयन्ति ? तत्पुण्यात्मकञ्चेत्तर्हि स्वभार्यादीनामप्यन्येभ्यः पुण्यात्मकं समर्पणं किमर्थं न क्रियते ?

सिद्धान्तस्तु येन यथा सह यस्य यस्याश्च विवाहो जातः, तयोः परस्परं समर्पणञ्जातमेव, नान्यथेति वेदितव्यम् । तस्मादस्य व्यभिचारमयोपदेशस्य बल्लभसंप्रदायस्य केनचित्पुरुषेण कयाचित्स्त्रिया च

१५ वस्तु का समर्पण करना चाहिये । समर्पण करके उन-उन वस्तुओं से भोग कार्य करने चाहिये ।”

इसका खण्डन—यदि आप लोग यह उपदेश करते हो कि विवाह होने के पश्चात् अपने भोगने से पहिले ही पवित्र करने के अर्थ स्त्री-पुत्रादि का भी आचार्य गोस्वामी के लिये समर्पण करके ही  
२० पश्चात् अपने भोगसम्बन्धी काम करने चाहिये । तो अपनी स्त्री कन्या भगिनी और पुत्रादि को भी पवित्र करने के अर्थ समर्पण क्यों नहीं करते ?

यदि कहो कि अपनी स्त्री आदि को औरों के लिये समर्पण करने की हमारी इच्छा नहीं, इससे नहीं करते, तो अन्यो की स्त्री  
२५ आदि का पापरूप समर्पण अपने लिये क्यों कराते हो ? यदि कहो कि उनका हमारे लिये समर्पण करना पुण्यरूप होता है; तो अपनी स्त्री आदि का पुण्यरूप समर्पण अन्यो के लिये क्यों नहीं करते ?

सिद्धान्त वस्तुतः यही है कि जिसका जिसके साथ विवाह हुआ, उनका परस्पर समर्पण हो ही गया । अन्यथा नहीं हो सकता, यह  
३० जानो । इससे व्यभिचारमय उपदेशोवाले इस बल्लभ सम्प्रदाय का



विश्वासः कदाचिन्नैव कर्त्तव्य इति निश्चयः । विश्वासं कुर्वन्ति करिष्यन्ति वा तेषां नरकप्राप्तिरेव फलम्, कुतः पापाचरणोपदेशस्य दुःखफलत्वात् ।

किञ्च पुष्टिप्रवाहमार्गोऽपि तादृश एव मिथ्या । पुष्टिप्रवाह-मर्यादा धर्माचरणार्था, उताऽधर्माचरणार्था ? नाद्यः, कुतो वल्लभादीना- ५ मिदान्तिन्तनान्तानां परस्त्रीगमनाद्यधर्माचरणस्य प्रत्यक्षानुमानाभ्यां दर्शनात् । अश्ववृषभवानरगर्दभादयो यथा अश्वेत्यादिस्त्रियो दृष्ट्वा पुष्टिप्रवाहान्मेथुनमाचरन्ति, तथा भवतामपि पुष्टिप्रवाहत्वं दृश्यते, नान्यथा । भवतामियमेव मर्यादा वेदविद्याधर्माचरणत्यागः परस्त्रीगमनं परधनहरणमधर्माचरणं वेदोक्तधर्मविनाशकरणञ्चेत्यत्रैव १० पुष्टिप्रवाहौ चेति निश्चीयते ।

अस्मिन्नर्थे 'वल्लभः' आह—“वैदिकत्वं लौकिकत्वं कापट्यात्तेषु नान्यथा। वैष्णवत्वं हि सहजन्ततोऽन्यत्र विपर्ययः” इति । अतएव

किसी पुरुष वा स्त्री को कदापि विश्वास न करना चाहिये, यही निश्चय है । जो विश्वास करते हैं, वा करेंगे, उनको नरक की प्राप्ति १५ ही फल होना संभव है । क्योंकि पापाचरण के उपदेश का फल दुःख ही है ।

और हमारे मत में शरीरादि की पुष्टि परम्परा से चली आती है, यह भी वैसा ही मिथ्या है । पुष्टिप्रवाह की मर्यादा धर्माचरण के लिये है, वा अधर्माचरण के अर्थ ? इसमें प्रथम पक्ष ठीक नहीं । २० क्योंकि वल्लभ से लेके अब पर्यन्त हुए गुसाइयों का परस्त्रीगमनादि अधर्माचरण प्रत्यक्ष और अनुमान से प्रसिद्ध दीख पड़ता है । घोड़े बैल, वानर और गर्दभ आदि जैसे घोड़ी आदि अपनी सजातीय स्त्रियों को देखके पुष्टि की उन्मत्तता के प्रवाह से मेथुन को प्रवृत्त होते हैं, वैसे ही आप लोगों का भी पुष्टिप्रवाह दीख पड़ता है, अन्यथा २५ नहीं । आप लोगों की यही मर्यादा है कि वेदविद्या और धर्माचरण का त्याग, परस्त्रीगमन, पराया धन हरना, अधर्म का आचरण, और वेदोक्त धर्म का नाश करना, इसी में पुष्टि और प्रवाह निश्चित होते हैं ।

इस विषय में 'वल्लभ' कहता है कि—“लौकिक और वैदिक धर्म विषय कपटरूप होने से यथार्थ नहीं, इसमें सन्देह नहीं । किन्तु ३० एक वैष्णव मत ही सहज है, इससे अन्य सब विपरीत हैं ।” इसी से



वल्लभे हि नास्तिकत्वं सिद्धम्भवति । कुतः, लौकिकवैदिकत्वस्य कपट-  
मध्ये गणितत्वात् । तस्य संप्रदायस्था अपि नास्तिका गणनीया  
वेदविरुद्धाचरणात् ।

यज्ञो वै विष्णुव्यापको वा । तदनुष्ठानत्यागान्मूर्तिपूजनासक्त-  
५ त्वाद् व्यापकभक्तिवियोगाद्भवन्तो वैष्णवा एव नेति निश्चेतव्यम् ।  
'पूजा' नाम सत्कारस्सज्जनानां, तस्या 'अरि'नाम शत्रुरयम् 'पूजारि'  
शब्दार्थो वेद्यः । 'आर्ति'नाम दुःखन्ताङ्करोतीति 'आर्तिकारः' । 'गो'  
शब्देन पशुगुणवान्, 'साई' शब्देन यवनाऽऽचार्यः । अयं 'गोसांझ्याख्य'-  
शब्दार्थोऽर्थार्थस्य गम्यागम्ययोर्विवेको न भवेत् त्यागञ्च न कुर्यात्,  
१० धर्मन्यायविरुद्धपक्षपातत्यागञ्च वेदोक्तधर्मम्परित्यजेत्तादृशा भवन्तो  
दृश्यन्त इति ।

वाजिशब्देनाश्वो वा गर्दभो मध्यस्थो वेति 'वाजि'शब्दार्थः ।  
रागोऽस्यास्तीति 'रागी', 'वै' इति निश्चयेन रागीति 'वैरागी'शब्दार्थः ।

वल्लभ में नास्तिकता सिद्ध हो गई । क्योंकि वल्लभ ने लौकिक  
१५ वैदिक विषय कपट में गिना है । वल्लभ के सम्प्रदायवाले सभी  
विरोधी होने से नास्तिक समझने चाहियें ।

'विष्णु' शब्द का अर्थ यज्ञ व व्यापक होता है । यज्ञ वा व्या-  
पक विष्णु परमेश्वर की भक्ति का अनुष्ठान छोड़के मूर्तिपूजन में  
आसक्त होने से आप लोग 'वैष्णव' ही नहीं हो सकते, यह निश्चय  
२० जानना चाहिये । 'पूजा' नाम सत्पुरुषों का सत्कार, उसका जो 'अरि'  
नाम शत्रु, यह 'पूजारि' शब्द का अर्थ है । 'आर्ति' नाम दुःख, उस को जो  
करे वह 'आर्तिकार' कहाता है । 'गो' नाम पशुगुणयुक्त, 'साई'  
शब्द से मुसलमानों का आचार्य, अर्थात् जिसको अगम्यागमन का  
विवेक न हो, और त्याग भी न करे, धर्मन्याय से विरुद्ध पक्षपात को  
२५ भी न छोड़े, और वेदोक्त धर्म का त्याग कर देवे, वह 'गोसांई' कहाता  
है । वैसे ही आप लोग दीख पड़ते हैं, इसी से गोसांई कहाते हो ।

वाजी नाम घोड़ा, दूसरे 'वा' शब्द से घोड़े का विकल्प करने से  
गदहा वा मध्यस्थ खिचचर, यह "वावाजी" शब्द का अर्थ है । राग  
जिसमें हो वह 'रागी', 'वै' नाम निश्चय कर जो रागी हो उसको  
३० "वैरागी" कहते हैं । यही वैरागी शब्द का अर्थ है । दण्ड नाम काष्ठ



दण्डेन तुल्यो 'दण्डवत्', दण्डवन्नम काण्डवत् । 'हिन्दु' शब्दस्यार्थः कृष्णवर्णो दस्युः पाषाणादिमूर्तिपूजको दास ईश्वरोपासनाविरहश्चेत्यादयोऽर्थाः । इत्यादि शब्दार्थानामन्धपरम्पराऽविद्याप्रचारेण विद्यात्यागेनार्यशब्दाभिधानार्थज्ञानेन च विनाऽवप्रयन्तमागता बल्लभादिसम्प्रदायरूपेणात्यन्तं परिणता सा सद्यस्सज्जनैस्त्यज्यतामिति निश्चयः ।

अथ शुद्धाद्वैतमार्तण्डखण्डनं लिख्यते

शुद्धाद्वैतशब्दस्य कोऽर्थः क्रियते ? द्विधा इतं द्वीतं, द्वीतमेव द्वैतं, न द्वैतमद्वैतं कार्यकारणरूपमेकीभूतमेव । यद्वा—तदेव ब्रह्म स्त्रीपुरुषरूपेण द्विधा जातं, क्रीडाकरणार्थमिति च । नैवच्छक्यं वक्तुम् । कुतः, १. अविद्यादिदोषरहितत्वात् सदैव विज्ञानस्वरूपत्वाद् ब्रह्मणो जगद्रूपापन्नत्वमयोग्यमेव ।

यदि जीवादिकार्यरूपं यज्जगद् तद् ब्रह्म वास्ति, तह्यनन्तविज्ञान-

के तुल्य, अर्थात् जो जड़ हो उसको "दण्डवत्" कहते हैं, यह 'दण्डवत्' शब्द का अर्थ है । काले वर्णवाला, डाकू, पाषाणादि मूर्तियों का पूजक, सेवक गुलाम और ईश्वर की उपासना से रहित इत्यादि हिन्दु शब्द का अर्थ है । इत्यादि शब्दों के अर्थों को अन्धपरम्परा, अविद्या के प्रचार विद्या के त्याग और आर्य शब्द के वाच्य अर्थ के न जाने विना अब तक चलो आई, और बल्लभादि सम्प्रदायों के साथ अत्यन्त परिणाम को प्राप्त हुई । यह अन्धपरम्परा सज्जनों को भीष्ट ही त्यागने योग्य है, यह निश्चित है ।

अब शुद्धाद्वैतमार्तण्ड का खण्डन लिखते हैं

शुद्ध और अद्वैत शब्द का क्या अर्थ करते हो ? "जो दो प्रकार से प्राप्त हो वह 'द्वीत' कहाता है, जो द्वात है वही 'द्वैत' । और जो द्वैत न हो वह 'अद्वैत' = कार्यकारण का एकरूप होना है" । अथवा "वही एक ब्रह्म स्त्री-पुरुष रूप से दो प्रकार की क्रीडा करने के लिये प्रकट हुआ । यह कहना ठीक नहीं । क्योंकि अविद्यादि दोषों से रहित होने, और सदैव विज्ञानस्वरूप होने से ब्रह्म का जगत् रूप होना अयोग्य ही है ।

यदि जीव आदि कार्यरूप जो जगत् है, वह ब्रह्म ही है, तो



रचनधारणसर्वज्ञतासत्यसङ्कल्पादयो गुणा अस्मिञ्जगति कथन्न दृश्यन्ते ? तथा च जन्ममरणहर्षशोकक्षुधातृषावृद्धिक्षयमूढत्वादयो दोषा जगत्स्था, एवं सति ब्रह्मण्येव भवेयुर्वन्धनरकदुःखविषयभोगादयश्च । तस्माद्वल्लभकृतोऽर्थो मिथ्यैवेति वेदितव्यम् ।

- ५ 'द्वीतमिति'—“द्वीतं तदेव द्वैतं स्यादद्वैतन्तु ततोऽन्यथा । सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति पठ्यते ।” इति वल्लभप्रबुक्कनं द्रष्टव्यम् । द्विधा कारणकार्यरूपेण परिणतञ्च, तर्ह्यज्ञानदुःखबन्धनरकप्राप्त्यादयो दोषा ब्रह्मण्येव स्युः । पूर्वावस्थितस्य द्रव्यस्यावस्थान्तरप्राप्तिः ‘परिणामः’ । तथैव भवन्मते ब्रह्मैव जगदाकारञ्जातम् । अनेन १० किमागतमिति श्रूयताम्—ये जगत्स्था अविद्याज्वरपीडादयो दोषा त अपि वल्लभेन ब्रह्मण्येव स्वीकृताः । अतएव भवन्मतं वेदयुक्तिविरुद्धमेवेति विज्ञेयम् ।

वल्लभेन सर्वं खल्विदं ब्रह्म [ छा० ३।१।४।१ ] नेह नानास्ति किञ्चन [ कठोप० २।४।११ ] तज्जलानिति शान्त उपासीत [ छा० ३।१।४।४ ]

- १५ अनन्त विज्ञान, रचना धारण सर्वज्ञता सत्यसंकल्प आदि गुण इस जगत् में क्यों नहीं दीख पड़ते ? और ब्रह्म को कार्यरूप मानें, तो जन्म-मरण हर्ष-शोक भूख-प्यास बढ़ना-घटना और मूढ़पन आदि जगत् के प्राणियों के दोष ब्रह्म में प्राप्त होवें । इससे बन्धन नरक दुःख और विषयभोग भी ईश्वर को ही होवें । इससे वल्लभ २० का किया अर्थ मिथ्या ही जानना चाहिये ।

- और “द्वीत-द्वैत एक ही बात है । द्वैत का निषेध ‘अद्वैत’ कहाता है । इसका प्रत्यक्ष उदाहरण ‘सर्वं खल्विदं’ [ छा० ३।१।४।१ ] यह श्रुति है” । यह वल्लभ का भूकना है । कार्यकारणरूप ब्रह्म दो प्रकार से परिणत है, तो दुःख बन्धन और नरक-प्राप्ति होना आदि २५ दोष ब्रह्म में ही होवें । पूर्व अवस्थित द्रव्य की अवस्थान्तरप्राप्ति ‘परिणाम’ कहाता है । वैसे ही आप के मत में ब्रह्म ही जगत् रूप बन गया । इससे क्या आया यह सुनो—जो जगत् में अविद्या ज्वर पीड़ा आदि दोष [ हैं उन्हें ] भी वल्लभ ने ब्रह्म में ही मान लिये । इसी से आप का मत वेद और युक्ति से विरुद्ध है, यह जानना चाहिये ।

- ३० वल्लभ ने ‘सर्वं खल्विदं ब्रह्म’ [ छा० ३।१।४।१ ] इत्यादि



इत्यादिश्रुतीनामर्थो नैव विज्ञातः । कुतः, विदुषां समाधिसंयमे विज्ञा-  
नेन यादृशं ब्रह्म विज्ञायते तत्रत्योऽयमनुभवः । यथा केनचिदुक्तं सर्वं  
खल्विदं सुवर्णमिह नाना पित्तादिधातुवन्तरं मिलितं नास्ति, तथैव  
सच्चिदानन्दैकरसब्रह्मणि नाना वस्तु मिलितं नास्ति । किन्तु सर्वं  
खल्विदं ब्रह्मैकरसमिति विज्ञेयम्, अखण्डैकरसत्वाद् अमेद्यत्वाद् ५  
ब्राह्मणश्चेति ।

यथा 'अयमात्मा ब्रह्म' [ माण्डू० २ ] शब्देनात्मनो ब्रह्मण एव  
ग्रहणमिति निश्चेतव्यं, न कस्यचिज्जगद्वस्तुनः संबन्धग्रहणञ्च, तथा  
'तज्जलानिति' [ छां० ३।१।४ ] ब्रह्म शान्तः सन्नुपासीत । तस्माद्  
ब्रह्मानन्तसामर्थ्यादेवास्य जगतो जननधारणप्राणादीनि भवन्तीत्ये- १०  
वम्ब्रह्मोपासनीयमेव नान्यदित्यर्थो बल्लभेनापि नैव विज्ञातम्, तत्सं-  
प्रदायस्थानाम्भवतान्तु का कथा ?

श्रुतियों का अर्थ नहीं जाना । क्योंकि समाधि में संयम करने से विज्ञान  
के प्रकाश से जैसा ब्रह्म स्वरूप जाना जाता है, उस समय का किया  
विद्वानों का अनुभव ही श्रुति का तात्पर्य है । जैसे किसी ने कहा कि १५  
सब यह सुवर्ण है, इस में अनेक पीतल आदि धातु मिले नहीं हैं,  
वैसे सच्चिदानन्दस्वरूप एकरस ब्रह्म के बीच में नाना वस्तु मिली  
नहीं, किन्तु यह सब ब्रह्म एकरस ही है, ऐसा जानना चाहिये ।  
क्योंकि ब्रह्म एकरस अखण्ड और अमेद्य है ।

जैसे 'अयमात्मा ब्रह्म' यह आत्मा ब्रह्म है, इस वाक्य में 'इदम्' २०  
शब्द से ब्रह्मात्मा का ही ग्रहण होता है, किन्तु किसी जगत् के वस्तु  
का सम्बन्ध ग्रहण नहीं होता । 'तज्जलान् इति ब्रह्म',— "तज्ज" नाम  
उसी से यह सब जगत् उत्पन्न हुआ, "तल्ल" नाम उसी में सब लय  
होता, "तदन" नाम उसी में सब जगत् चेष्टा कर रहा है । इस प्रकार  
शान्त हुआ पुरुष ब्रह्म की उपासना करे । अर्थात् उस ब्रह्म के अनन्त २५  
सामर्थ्य से ही इस जगत् के जन्म-मरण और चेष्टादि कर्म होते हैं ।  
इस प्रकार से ब्रह्म ही की उपासना करनी चाहिये, अन्य की नहीं ।  
यह अर्थ बल्लभ ने भी नहीं जाना, तो बल्लभ के सम्प्रदायी आप  
लोगों की तो कथा ही क्या है ?



“सर्वं ब्रह्मात्मकं विश्वमिदमाबोध्यते पुरः ।

सर्वशब्देन यावद्धि दृष्टश्रुतमदो जगत् ॥ १ ॥

बोध्यते तेन सर्वं हि ब्रह्मरूपं सनातनम् ।

कार्यस्य ब्रह्मरूपस्य ब्रह्मैव स्याद्धि कारणम् ॥ २ ॥

साकारं सर्वशक्त्येकं सर्वज्ञं सर्वकर्तृ च ।

सच्चिदानन्दस्वरूपं हि ब्रह्म तस्मादिदञ्जगत् ॥ ३ ॥

शुद्धाद्वैतपदे ज्ञेयः समासः कर्मधारयः ।

अद्वैतशुद्धयोः प्राहुः षष्ठीतत्पुरुषं बुधाः ॥ ४ ॥

इत्यादयः श्लोकाः शुद्धाद्वैतमार्तण्डे अर्थतोऽशुद्धा एवेति निश्चयः ।

१०। कर्मधारयसमासोऽसंगतः । कुतः कार्यकारणयोस्तादात्म्यगुणा-  
दर्शनात् । षष्ठीतत्पुरुषोऽप्यसङ्गतः, द्वौ चेत्कार्यकारणकथनं व्यर्थम् ।  
शुद्धश्च शुद्धा च शुद्धे, तयोः स्त्रीपुंसयोरद्वैतमर्थान्मैथुनसमये द्वैतं,  
स्त्रीषु राधाभावना स्वस्मिन् कृष्णभावना च क्रियते । ‘अहं कृष्णस्त्वं

“यह सब जगत् ब्रह्मस्वरूप है, यह पहले ही जताया है । ‘सर्वं’  
१५ शब्द से जितना देखा सुना यह जगत् है, वह सब जानना । इससे  
वह सब जगत् ब्रह्मरूप सनातन है । क्योंकि ब्रह्मरूप कार्य जगत्  
का कारण ब्रह्म ही हो सकता है । वह ब्रह्म साकार, सर्वशक्तियुक्त,  
एक सर्वज्ञ और सब का रचनेहारा सच्चिदानन्दस्वरूप है, उसी से  
यह जगत् हुआ है ।” इत्यादि वल्लभ के श्लोक शुद्धाद्वैतमार्तण्ड  
२० नामक ग्रन्थ में वस्तुतः अशुद्ध ही हैं, यह निश्चय जानो ।

‘शुद्ध नाम कार्य और अद्वैत नाम कारण, जो शुद्ध है वही अद्वैत’,  
यह ‘कर्मधारय समास’ कार्यकरण के एकस्वरूप एकात्मक गुणवाले  
न होने से असङ्गत है । ‘षष्ठीतत्पुरुष’ समास भी ठीक नहीं । क्योंकि  
वस्तुतः जो दो पदार्थ हैं, उनकी एकता क्योंकर हो सकती है ? और  
२५ यदि वस्तुतः दो नहीं हैं, तो कार्यकारणरूप कहना व्यर्थ है । इससे  
शुद्धपुरुष और शुद्ध स्त्री दोनों का एकशेष समास भी असङ्गत है ।  
अर्थात् मैथुन समय में द्वैत, स्त्रियों में राधा भावना, और अपने में  
कृष्ण की भावना करते हैं । ‘मैं कृष्ण तू राधा मेरा तेरा सङ्गम



राधा ह्यावधोरस्तु संगमः' इत्यादि पतितकारकं वल्लभादीनां मत-  
मिति निश्चयः ।

कुतः, लक्ष्मणभट्टेन संन्यासं पूर्वङ्गृहीत्वा पुनर्गृहाश्रमः कृतः, स  
एव प्रथमतः श्ववद्वान्ताशी जातः । तत्पुत्रो वल्लभोऽपि पूर्वं विष्णु-  
स्वामिसम्प्रदाये विरक्ताश्रमङ्गृहीत्वा पुनरभूद् गृही । तथानेकविधो  
व्यभिचारो गोकुलनाथेन विट्ठलेन च कृतस्तत्सम्प्रदायग्रन्थेषु प्रसिद्धः ।

लक्ष्मणभट्टं मूलपुरुषमारभ्याद्यपर्यन्तं व्यभिचारादिदुष्टद्वर्गं  
यथावद्वल्लभसम्प्रदाये दृश्यते । येऽस्य सम्प्रदायस्योपरि विश्वासं  
कुर्वन्तीमान् गुरुंश्च मन्यन्ते, तेऽपि तादृशा एवेति विज्ञातव्यम् ।  
एतादृशस्य पापकर्मकर्तृरधर्मात्मनो गुरोस्त्यागे हनते च पुण्यमेव १०  
भवति, नैव पापञ्च इत्यत्राह मनुः—

“गुरुं वा बालवृद्धौ वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम् ।

आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन् ॥ १ ॥

होवे' इत्यादि कुकर्म से वल्लभादि का मत पतित करनेवाला जानना  
चाहिये ।

क्योंकि इनका पूर्व आचार्य लक्ष्मणभट्ट हुआ । उसने पहिले  
संन्यास ग्रहण करके पीछे गृहाश्रम धारण किया । इसलिये लक्ष्मण-  
भट्ट ही पहिले कुत्ते के तुल्य 'वान्ताशी' अर्थात् उगले हुए को खाने-  
वाला हुआ । पहिले गृहाश्रम को छोड़के संन्यास किया । पीछे उसी  
वान्त के तुल्य त्यागे हुये गृहाश्रम का ग्रहण और संन्यास का त्याग २०  
किया । इसी लक्ष्मणभट्ट का पुत्र वल्लभ हुआ । इसने भी पहिले  
विष्णुस्वामी के सम्प्रदाय में विरक्त (=संन्यास) आश्रम ग्रहण कर  
फिर गृहाश्रम धारण किया । और गोकुलनाथ, विट्ठल ने अनेक प्रकार  
का व्यभिचार किया, इत्यादि बातें इनके मत के ग्रन्थों में प्रसिद्ध हैं ।

इनके आदिपुरुष लक्ष्मणभट्ट से लेकर अब तक वल्लभसम्प्रदाय २५  
में व्यभिचारादि दुष्टकर्म यथावत् दीख पड़ता है । तथा जो लोग  
इनके मत पर विश्वास करते, और इन वल्लभादि मतस्थ लोगों को  
गुरु मानते हैं, वे भी वैसे ही जानने चाहियें । ऐसे पापकर्मकर्त्ता, अधर्मी  
गुरु के त्यागने और मार डालने में पुण्य ही होता है, पाप नहीं ।  
इस विषय में धर्मशास्त्र का प्रमाण हैः—“गुरु, बालक, वृद्ध ३०  
वा बहुश्रुत ब्राह्मण ये सब आततायी धर्मनाशक अधर्म के प्रवर्त्तक



नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन ।

प्रकाशं वाऽप्रकाशं वा मन्युस्तं मन्युमृच्छति" ॥२॥

[मनु० ८।३५, ३५१]

इति धर्मं त्यक्त्वा ह्यधर्मं प्रवर्तेत, स आततायी विज्ञेयः ।

५ (प्र०)—शुद्धाद्वैतम्प्रकाशरूपं स्वभावत उताऽन्धकाररूपम् ?

(उ०)—नाद्यः, कुतः स्वभावतः प्रकाशस्वरूपस्य मार्त्तण्डार्थ-सूर्यपिक्षाभावात् । न चरमः, स्वभावतोऽन्धकारस्वरूपञ्चेत् सूर्येणापि तस्य प्रकाशासंभवात् । एवमेव तत्सिद्धान्तमार्त्तण्डस्यापि खण्डनं विज्ञेयम् । अतएव शुद्धाद्वैतमार्त्तण्डसत्सिद्धान्तमार्त्तण्डयोर्नाममात्रमपि

१० शुद्धं नास्ति । पुनर्ग्रन्थाशुद्धेस्तु का कथा ?

एवमेव विद्वन्मण्डनस्यापि खण्डनं विज्ञेयम् । विट्ठल एव यदा विद्वान्नासीत् पुनर्विदुषां मण्डनङ्कतुं कथं समर्थः स्यात् ? किन्तु पर-

हों, तो राजा विना विचारे मार डाले । क्योंकि आततायी के मारने में मारनेवाले को दोष नहीं लगता । चाहे प्रसिद्धि में मारे वा १५ अप्रसिद्धि में, सर्वथा क्रोध को क्रोध मारता है, किन्तु वह हिंसा नहीं कहाती" । धर्म को छोड़के सर्वथा जो अधर्म में प्रवृत्त हो, वह 'आततायी' कहाता है ।

(प्र०)—शुद्धाद्वैत प्रकाशरूप है, वा स्वभाव से अन्धकार रूप है ?

२० (उ०)—प्रकाशरूप होना, यह पहिला पक्ष इसलिये ठीक नहीं, कि यदि स्वभाव से प्रकाशस्वरूप हो तो सूर्य के तुल्य स्वयं प्रकाश-रूप होने से मार्त्तण्ड नामक पुस्तक देखने के अर्थ सूर्य की अपेक्षा न होवे । सूर्यप्रकाश की अपेक्षा विना ही कार्य सिद्ध कर सके, सो संभव नहीं । स्वभाव से अन्धकारस्वरूप होना, यह द्वितीय पक्ष भी ठीक २५ नहीं । क्योंकि स्वभाव से ही अन्धकारस्वरूप हो, तो सूर्य से भी उसका प्रकाशित होना असंभव हो जावे । इस प्रकार सत्सिद्धान्त-मार्त्तण्ड का भी खण्डन जानो । इस पूर्वोक्त प्रकार 'शुद्धाद्वैत-मार्त्तण्ड' और 'सत्सिद्धान्तमार्त्तण्ड' इन दोनों पुस्तकों का नाममात्र भी शुद्ध नहीं है । ग्रन्थ के अशुद्ध होने का तो कहना ही क्या है ?

३० इसी प्रकार विद्वन्मण्डन नामक ग्रन्थ का भी खण्डन जानो । जब तुम्हारा आचार्य विट्ठल ही विद्वान् नहीं था, तो फिर विद्वानों



स्त्रीगमन-परधनहरण-व्यभिचारमण्डने च सामर्थ्यन्तस्याभूत्, नान्यत्रेति विज्ञेयम् । तत्र दिङ्मात्रनिदर्शनं वर्ण्यते—‘निजमुरलिकेति’ मुरलिकानादेन तेनागता गोकुलस्य सम्बन्धिन्यः सुन्दर्यः परस्त्रियः कृष्णेन स्नेहाद्भोगार्थं स्वीकृता इत्युक्तम् । प्रतिर्जगते, युवति युवति लक्ष्यकृत्य य. सम्भेदः सङ्गम कृत्वा तावन्तमात्मानं यावतीगोपयोषित इत्यादि भ्रष्टवचनस्योक्तत्वाद्विद्वन्मण्डनमित्यस्य नामायोग्यमेव । कुतः, मूर्खव्यभिचाराधर्माणामत्र मण्डनत्वात् ।

एवमेवाणुभाष्यमप्यसङ्गतमेवेति वेद्यम् । तथा च शतशो भाषाग्रन्था रसभावनादयोऽपि भ्रष्टतरा एव । तत्रत्यैकदेशनिदर्शनं लिख्यते—राधायाः कुचाद्यङ्गेषु मोदकादिभावना कर्तव्या । तथा गोलोक एक एव पुरुषः कृष्णः, अन्यास्सर्वाः स्त्रियः सन्ति । अहर्निशन्ताभिः सह कृष्णः क्रीडति । पुनः सूर्योदयसमये यावत्यः स्त्रियस्तावन्तः पुरुषाः १०

का मण्डन कैसे कर सकता है ? किन्तु परस्त्रीगमन, पराया धन हरना, और व्यभिचार के मण्डन करने में तो अवश्य उसका सामर्थ्य था, अन्य किसी कार्य में नहीं । सो उदाहरणमात्र दिखाते हैं—विद्वलकृत विद्वन्मण्डन नामक ग्रन्थ में ‘निजमुरलिका०’ इत्यादि लिखा है । अभिप्राय यह है कि मुरली का शब्द सुनके गोकुल की सुन्दर सुन्दर स्त्रियाँ आईं । कृष्ण ने उनके साथ क्रीड़ा करने के लिये प्रीति से उनका ग्रहण किया, अर्थात् युवति युवति स्त्रियों को देखकर, जितनी गोपों की स्त्रियाँ थीं, उतने ही अपने एक ही प्रकार के शरीर धारण कर [ कृष्ण ने ] उनसे समागम किया, इत्यादि भ्रष्ट वचनों के कहने से ‘विद्वन्मण्डन’ नाम अयोग्य ही है । क्योंकि इस पुस्तक में मूर्ख व्यभिचार और अधर्मों का मण्डन है । २०

इसी प्रकार ‘अणुभाष्य’ भी असङ्गत ही है । और ऐसे ही ‘रस-भावना’ आदि सैकड़ों भाषा के ग्रन्थ भी अत्यन्त भ्रष्ट हैं । इसमें एक बात उदाहरण के लिये लिखते हैं—‘राधा के कुच आदि अङ्गों में मोदक आदि की भावना करनी चाहिये । तथा गोलोक में एक कृष्ण ही पुरुष अन्य सब स्त्रियाँ हैं । कृष्ण उन स्त्रियों के साथ दिन-रात क्रीड़ा करते हैं । सूर्य उदय होते समय जितनी स्त्रियाँ हैं, उतने ही पुरुष कृष्ण के शरीर से निकलके एक-एक स्त्री को एक-एक ३०



कृष्णशरीरान्निसृत्यैकैकामेकैको गृहीत्वा पुष्कलं मैथुनमाचरन्ति सर्वे ।

तथा वल्लभस्य महाप्रभुरिति संज्ञा कृता । प्रभुरितोऽश्वरस्य नामा-  
स्ति 'प्रभुगोत्राणि पर्येषि विश्वतः' [ ऋ० १।८३।१ ] इत्यादिश्रुतिपु-  
वर्णितम् । तेनेश्वरेणाद्यपर्यन्तं तुल्यः कोऽपि न भूतो न भविष्यति,  
५ अत्यधिकस्य तु का कथा ? पुनर्महाप्रभुशब्देन वल्लभविषये  
किं ज्ञम्यते ? यथा महाब्राह्मणस्तथैव महाप्रभुशब्दार्थोऽत्र गन्तव्यः ।  
यथा वेदयुक्तिविरुद्धो वल्लभसंप्रदायोऽस्ति, तथैव शैवशाक्तगाणपत्य-  
सौरवैष्णवादयस्सम्प्रदाया अपि वेदयुक्तिविरुद्धा एव सन्तीति दिक् ॥

शशिरामाङ्गचन्द्रेऽब्दे कार्तिकस्यासिते दने ।

१० अमायां भौमवारे च ग्रन्थोऽयम्पूर्तिमागतः ॥

पुरुष ग्रहण कर सब अच्छे प्रकार मैथुन करते हैं ।”

और वल्लभ का महाप्रभु नाम रक्खा है । प्रभु नाम ईश्वर का  
है । 'प्रभु सत्र शरीरों में व्याप्त है' यह वेद में कहा है । जब उस  
ईश्वर के तुल्य अब तक न कोई हुआ न होगा, तो उसमें अधिक  
१५ कौन हो सकता है । फिर महाप्रभु कहने से यही प्रतीत होता है कि  
जैसे ब्राह्मण के साथ महत् शब्द लगाने से नीच का नाम महाब्राह्मण  
होता है, वैसे ही महाप्रभु भी जानना चाहिये । जैसे वेद और युक्ति  
से विरुद्ध वल्लभ का सम्प्रदाय है, वैसे ही शैव, शाक्त, गाणपत्य, सौर  
और वैष्णवादि सम्प्रदाय भी वेद और युक्ति से विरुद्ध ही हैं । 'इति  
२० शुभम्' ॥

इति श्रीपरमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमहयानन्दसरस्वतीस्वामि-  
निर्मितस्तच्छिष्यभीमसेनशर्मकृतभाषानुवादसहितश्च  
वेदविरुद्धमतखण्डननामा ग्रन्थः समाप्तः ॥





---

---

# शिद्धापत्री-ध्वान्त-निवारणम्

---

---







ॐ श्रीम् ॐ

## अथ सहजानन्दादिमतस्थान् प्रति प्रश्नाः खण्डनं च

प्रश्नः—कोऽयं सहजानन्दो नाम ?

उत्तरम्—नारायणावतारः स्वामीनारायणाख्याचार्य इति ब्रूमः । ५

प्रश्नः—कश्च नारायणः ?

उत्तरम्—वैकुण्ठगोलोकवासी चतुर्भुजो द्विभुजो लक्ष्मीपति-  
रीश्वर इत्युच्यते ।

प्रश्नः—स इदानीमस्ति न वा ?

उत्तरम्—वर्तत एव, तस्येश्वराख्यस्य नित्यत्वात् । १०

[ खण्डनम् ]—नैवं शक्यम् । “स पर्यागाच्छुक्रमकायमव्रणमस्ता-

सहजानन्दादि मतों के प्रति प्रश्न, और  
उन मतों का खण्डन'

प्रश्न—सहजानन्द नामक पुरुष कौन है ?

उत्तर—सहजानन्द नारायण का अवतार, और स्वामिनारायण १५  
नामक पन्थ का आचार्य है ।

प्रश्न—नारायण कौन है ?

उत्तर—गोलोक और वैकुण्ठ में रहनेवाला, चतुर्भुज द्विभुज  
और लक्ष्मीपति ईश्वर है ।

प्रश्न—वह अब भी है कि नहीं ? २०

उत्तर—ईश्वर नित्य है, इससे वह अब भी है ।

खण्डन—ऐसा होना अशक्य है । क्योंकि वेद [ यजु० ४०।८ ]

१. यह भाषानुवाद गुजराती भाषा से किया हुआ है । वैदिक यन्त्रालय  
मुद्रित संस्करणों में 'गुजराती का भाषानुवाद' ऐसा निर्देश आरम्भ में  
मिलता है । २५



विरञ्जुद्धमपापविद्धम्०" इत्यादिश्रुतिविरोधात् । ईश्वरस्यानन्तान्तर्यामिसर्वव्यापकस्य जन्ममरणदेहधारणादेरसम्भवात् । सावयव-देहधारिणः संयोगजन्यादिमतो नित्यत्वे ईश्वरत्वयोरसम्भवाच्च । यो जन्ममरणशरीरधारणादिव्यवहारवान् स ईश्वर एव न भवति ।  
५ तर्हीदानीन्तनस्य सहजानन्दस्य तु का कथा ?

तस्य सहजानन्दस्याचार्यत्वमेवासङ्गतम् । कुतः मृतस्याध्यापने सामर्थ्याभावात्—

१० { ‘स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्’ ॥  
‘उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद् द्विजः ।  
सहस्यं सकल्पञ्च तमाचार्यं प्रचक्षते’ ॥  
इति ब्राह्मणमनुसाक्ष्यस्य वर्तमानाभिप्रायस्य विद्यमानत्वात् ।

में कहा है कि—“ईश्वर सर्वव्यापक, वीर्यरूप, शरीर छिद्र और नाड़ी से रहित, शुद्ध और पापरहित है” । सर्वान्तर्यामी और सर्वव्यापक ईश्वर का जन्म-मरण और देहधारण है ही नहीं । जिसका जन्म-मरण और  
१५ शरीर-धारण हो, उसको ईश्वर कभी कह ही नहीं सकते । फिर आजकल के सहजानन्द का तो क्या कहना है ?

प्रथम तो मुरदा के वास्ते आचार्य का नाम बिल्कुल नहीं घटता । क्योंकि सहजानन्द मर गया, और इसी से वह अभ्यास कराने को असमर्थ है ।

२० ब्राह्मणभाग में कहा है कि—

“अपना गुरु जो कि वेद पढ़ा हुआ और केवल ईश्वर की ही भक्ति करता हो, उसके पास शिष्य को अपने हाथ में समिध् नाम लकड़ियों को लेकर जाना चाहिये ॥” [मुण्डको० १।२।१२]

और वही मनु [२।१४०] भी साक्षी देता है कि—

२५ “जो ब्राह्मण क्षत्रिय अथवा वैश्य गुरु अपने शिष्य को यज्ञोपवीत आदि धर्मक्रिया कराने के बाद वेद को अर्थ और कल्पसहित पढ़ावे, तो ही उसको ‘आचार्य’ कहना चाहिये ॥”

१. यजुः अ० ४० । मं० ८ ॥

३. मनु० २ । १४० ॥

२. मुण्डकोप० १।२।१२ ॥



तद्वचितस्य शिक्षा [ पत्री ] ग्रन्थस्य दर्शनेन सहजानन्दे शिष्ट-  
शिक्षाविद्याविरहत्वापाखण्डाचारा विज्ञायन्ते । तस्याः शिक्षापत्र्याः  
सहजानन्दरचिताया आदिमोऽयं श्लोकः —

वामे यस्य स्थिता राधा श्रीश्च यस्यास्ति वक्षसि ।

वृन्दावनविहारन्तं श्रीकृष्णं हृदि चिन्तये ॥ १ ॥ ५

राधा वामे दक्षिणे पश्चिमे पुरतोऽथ उपरि वा क्व स्थितेति  
प्रत्यक्षानुमानाप्तशब्दः कस्यापि निश्चयो नास्ति । अत एव सहजा-  
नन्दस्य मिथ्यैव कल्पनास्तीति वेद्यम् । वक्षस्येव श्रीर्वर्त्तत इत्युच्यते  
चेत्, तर्हि मुखाद्यङ्गेषु दरिद्रतास्तीति स्वीक्रियताम् ।

कृष्णस्तु द्वारिकसन्निधौ मरणं प्राप्तवानित्युक्तं महाभारते । १०  
इदानीं कृष्णस्य जीवो न जाने क्वास्ति । वृन्दावने विहरन् कृष्णः  
केनापि न दृश्यते । किन्तु बहवः पाखण्डिनः पाषाणादिमूर्त्तयश्च तत्र  
दृश्यन्ते, नैव कृष्णः । पुनः परमेश्वरं निराकारं जन्ममरणादिदोष-

सहजानन्द की वनाई हुई शिक्षा-पत्री, जिससे सिद्ध होता है  
कि सहजानन्द ने उस पुस्तक में बहुत कुछ पाखण्ड वर्णन किया है । १५  
सहजानन्द की शिक्षापत्री के प्रथम श्लोक का अर्थ निम्न-  
लिखित है:—

[ शिक्षा० ]—“श्रीकृष्ण जिनकी वाई” ओर राधाजी खड़ी हैं, और जिनकी  
छाती पर लक्ष्मीजी बैठी हैं, और जो वृन्दावन में क्रीड़ा करते हैं, उनका  
मैं हृदय से ध्यान धरता हूँ” ॥ १ ॥ २०

राधा वाम और दक्षिण, पश्चिम, आसपास और ऊपर नीचे  
कहां खड़ी है ? सो प्रत्यक्ष अनुमान और शब्द द्वारा किसी को भी  
निश्चय होता नहीं । इसलिये सहजानन्द ने जो कल्पना करी, सो  
व्यर्थ है । जबकि छाती के ऊपर लक्ष्मी बैठी हैं, तो कृष्ण के मुख में  
दरिद्रता बैठी है, ऐसा मानना पड़ेगा । २५

महाभारत में कहा है कि—“कृष्ण द्वारिका की पड़ोस में मर  
गये” । अब कौन जाने कि कृष्ण का जीव इस समय कहां है ? कृष्ण  
तो वृन्दावन में क्रीड़ा करते हुए किसी को नहीं दीख पड़ते, किन्तु वृन्दा-  
वन में बहुपाखण्डरूप पाषाणादि की मूर्त्तियां तो दीखती हैं । निराकार



रहितं विहाय 'कृष्णं हृदि चिन्तय' इत्युक्तिर्व्यर्थेवेति ॥ १ ॥

मुकुन्दानन्दमुख्याश्च नैष्ठिका ब्रह्मचारिणः ।

गृहस्थाश्च मयारामभट्टाद्या ये मदाश्रयाः ॥ ४ ॥

मुकुन्दानन्दादीनां वेदेश्वरयोनिष्ठाध्ययनाभावान्नैष्ठिकब्रह्म-  
५ चारित्वमेवासङ्गतम् ॥ ४ ॥

एवमेवाग्रस्थाः श्लोकाः प्रायशोऽशुद्धाः सन्त्यत उपेक्ष्यन्ते ।

दृष्ट्वा शिवालयादीनि देवागाराणि वर्त्मनि ।

प्रणम्य तानि तद्देवदर्शनं कार्यमादरात् ॥ १३ ॥

पाषाणादिमूर्त्यागाराणां देवालयसंज्ञावचनात् 'तद्देवदर्शनं'  
१० कार्यमादरादिति' प्रलापात् सहजानन्दे पदार्थविद्याया अभाव एव  
दृश्यते ॥ १३ ॥

स्ववर्णाश्रमधर्मो यः स हातव्यो न केनचित् ।

परधर्मो न चाचर्यो न च पाखण्डकल्पितः ॥ १४ ॥

जन्म-मरणरहित ईश्वर को छोड़के 'कृष्ण का मैं हृदय में ध्यान'  
१५ धरता हूँ' ऐसा कहना मिथ्या है ॥ १ ॥

"मुकुन्दानन्द आदि नैष्ठिक ब्रह्मचारी और भट्ट मयाराम आदि गृहस्थ  
मेरे आश्रित हैं" ॥ ४ ॥

मुकुन्दानन्द आदिकों ने वेद और ईश्वर पर आस्था रक्खी नहीं,  
इससे उनका नैष्ठिक ब्रह्मचारी नाम घटता ही नहीं है ॥ ४ ॥

२० इसी प्रकार से इनके बहुतसे आगे के श्लोक भी भ्रष्ट और  
अशुद्ध हैं ।

"रास्ता चलते हुए शिवालय आदि जो देवमन्दिर आँ, उनको नमना  
और प्रेम से उनका दर्शन करना चाहिये" ॥ १३ ॥

पाषाण आदि मूर्ति के घर को देवालय नाम दिया, इससे और  
२५ 'उनका दर्शन करना' इस प्रकार अनर्थ वचन कहने से मालूम  
पड़ता है कि सहजानन्द पदार्थविद्या बिल्कुल नहीं जानता  
था ॥ १३ ॥

"अपने वर्ण आश्रम का जो धर्म उसका कोई पुरुष त्याग न करे ।  
उसी प्रकार पाखण्डकल्पित परधर्म का आचरण भी नहीं करना  
३० चाहिये" ॥ १४ ॥



वेदोक्तः स्ववर्णाश्रमधर्मः सहजानन्देन किमर्थं त्यक्तः ? कुतः,  
वेदविरुद्धानां स्वकपोलकल्पितानां पाषाणादिमूर्त्तिपूजनकण्ठी-  
तिलकधारणादिपाखण्डानां प्रचारकरणात् सहजानन्दे वदतोव्याघात-  
दोषस्समागतो वेदितव्यः ॥ १४ ॥

कृष्णभक्तेः स्वधर्माद् वा पतनं यस्य वाक्यतः । ५

स्यात्तन्मुखान्न वै श्रव्याः कथा वार्त्ताश्च वा प्रभोः ॥१५॥

कृष्णभक्तिरेव स्वधर्मोऽस्तीति कथनं व्यर्थमेव । कुतः, वेदे  
वर्णाश्रमधर्मप्रतिपादनप्रकरणे कृष्णभक्तिः स्वधर्म इति प्रतिपादनस्या-  
भावात् । अतः किं समागतम् ? सहजानन्दस्य तत्सम्प्रदायस्थानाञ्च  
मुखात् कदाचित् केनचिदपि कथा नैव श्रोतव्येति सिद्धान्तः । स १०  
कृष्णः प्रभुरेव न, तस्य जन्ममरणादिस्वभाववत्त्वात् ॥ १५ ॥

ज्ञानवार्त्ताश्रुतिर्नार्या मुखात् कार्या न पूरुषैः ।

न विवादः स्त्रिया कार्यो न राज्ञा न च तज्जनैः ॥३४॥

प्रथम सहजानन्द ने वेदोक्त अपने वर्णाश्रम धर्म का त्याग किस-  
लिये किया ? जो कहो कि त्याग नहीं किया, तो वेदविरुद्ध मूर्त्ति- १५  
पूजन, कण्ठी तिलक धारणादि पाखण्डों का आचरण क्यों किया  
कराया ? यह तो ऊपर से सिद्ध होता है कि सहजानन्द ने अपने  
पैर में अपने आप ही कुठार मारा है । यहां तक कि अपने कथन को  
अपने आप ही धो डाला है ॥ १४ ॥

“जिसके कहने से कृष्ण-भक्ति में भंग पड़े, उस पुरुष के मुख से कभी २०  
भगवान् की कथा-वार्त्ता सुननी नहीं चाहिये” ॥१५॥

‘केवल कृष्ण की ही भक्ति करने में अपना धर्म रहता है’, इस  
प्रकार सहजानन्द का कहना व्यर्थ है । क्योंकि वेद में जहां वर्णाश्रम-  
धर्म प्रतिपादन प्रकरण चला है, वहां पर ‘कृष्ण की भक्ति करनी  
यही स्वधर्म है’, ऐसा नहीं कहा । यह ऊपर से समझना चाहिये कि २५  
सहजानन्द और उसके सम्प्रदायवालों के मुख से कभी किसी को  
कथावार्त्ता नहीं सुननी चाहिये । कृष्ण को (मुरदा को) प्रभु नाम  
देना ही नहीं बन सकता । क्योंकि इनके जन्म-मरण आदि दोष  
हुये हैं ॥ १५ ॥

‘स्त्री से श्रुति अथवा ज्ञानवार्त्ता मनुष्यों को सुननी नहीं चाहिये । ३०  
इसी प्रकार स्त्री राजा और राजपुरुषों के साथ वाद-विवाद नहीं करना  
चाहिये” ॥३४॥



गार्ग्यादिस्त्रीमुखाद् याज्ञवल्क्यादिमहर्षिभिः कथायाः श्रुतत्वात्  
सहजानन्दकल्पना त्वग्राह्या ॥ ३४ ॥

कृष्णदीक्षा गुरोः प्राप्ते तुलसीमालिका गले ।  
धार्यो नित्यञ्चोर्ध्वपुण्ड्रो ललाटादौ द्विजातिभिः ॥४१॥

५ कृष्णदीक्षातुलसीमालाधारणोर्ध्वपुण्ड्रधारणमित्युक्तिः सहजा-  
नन्दस्य व्यर्थैव । कुतः, वेदयुक्तिभ्यां विरोधात् । स्वल्पकण्ठीतिलक-  
धारणे पुण्यं भवति चेत्, तर्हि कण्ठीभारधारणे सर्वमुखशरीरलेपने  
च महत्पुण्यं भविष्यतीत्येवं क्रियताम् ॥ ४१ ॥

इत्यादिश्लोकाः सहजानन्दस्य मिथ्या एव वेदितव्याः ।

१० त्रिपुण्ड्ररुद्राक्षधृतियेषां स्यात् स्वकुलागता ।  
तैस्तु विप्रादिभिः क्वापि न त्याज्या सा सदाश्रितैः ॥४६॥  
ऐकात्म्यमेव विज्ञेयं नारायणमहेशयोः ।  
उभयोर्ब्रह्मरूपेण वेदेषु प्रतिपादनात् ॥४७॥

याज्ञवल्क्यादि महान् ऋषियों ने गार्गी आदि स्त्रियों के साथ  
१५ धर्मविषय पर विचार किया था । इससे सहजानन्द की कल्पना  
मान्य करने योग्य नहीं ॥३४॥

“कृष्णदीक्षा की प्राप्ति के लिये तुलसी की बनी हुई माला पहरनी,  
और ललाट आदि भागों पर ऊर्ध्वत्रिपुण्ड्र करना चाहिये” ॥४१॥

कृष्णदीक्षा, तुलसी-माला-धारण और ऊर्ध्वपुण्ड्र आदि जो  
२० कहा, सो सहजानन्द का कहना मिथ्या है । क्योंकि ऐसा करना  
वेदविरुद्ध और युक्तिरहित है । जो कण्ठी थोड़ा सा तिलक धारण  
करने से पुण्य होता है, तो कण्ठी का भार बांधने से और समस्त  
मुख तथा शरीर लीप देने से अत्यन्त पुण्य होता है, ऐसा मानना  
पड़ेगा । और जो ऐसा मानते हो, तो यह काम जल्दी करो ॥४१॥

२५ सहजानन्द के ऐसे-ऐसे कितने ही श्लोक भ्रष्ट हैं ।

“वंशपरम्परा से जो ब्राह्मण रुद्राक्ष धारण करता होय, तो उसको  
मेरा आश्रित होने पर उसका त्याग नहीं करना चाहिये” ॥४६॥

“नारायण और कौशव की एकात्मता (=अभिन्नता) ही है । क्योंकि  
वेद में इन दोनों को ब्रह्मरूप गिना है” ॥४७॥



एवञ्चेत् सहजानन्दस्य कुलस्थैः कदाचित् त्रिपुण्ड्ररुद्राक्षधारणं कृतमेवासीत्, पुनस्तेन किमर्थं त्यक्तं त्याजितञ्च ? मदाश्रितैरिति बहुशो लिखति, तद्व्यर्थमेव । कुतः, तस्याविदुषो जन्ममरणादिदोषवतो जीवस्याश्रयो निष्फलोऽतः ॥ ४६ ॥

नारायणमहेशयोरैक्यमसङ्गतम्, तयोर्ब्रह्मरूपेण वेदे प्रतिपादनाभावात् । अतः सहजानन्दस्य कथनं व्यर्थमेव ॥ ४७ ॥

प्रणम्य राधाकृष्णस्य लेख्यार्चां तत आदरात् ।

शक्त्या जपित्वा तन्मन्त्रं कर्त्तव्यं व्यावहारिकम् ॥ ५४ ॥

राधाकृष्णौ सहजानन्देनान्यैश्च प्रत्यक्षतया नैव दृष्टौ, पुनश्च तयोर्लेख्यां मूर्त्तिं कर्तुं सामर्थ्यन्नैव भवेत् । अतस्तत्पूजाकर्त्तव्योक्तिः । सहजानन्दस्यान्यथैव वेद्या ॥ ५४ ॥

शैली वा धातुजा मूर्त्तिः शालिग्रामोऽर्घ्य एव तैः ।

द्रव्यैर्यथाप्तैः कृष्णस्य जप्योऽथाष्टाक्षरो मनुः ॥ ५६ ॥

त्रिपुण्ड्र रुद्राक्ष का धारण करना, ऐसा जो सहजानन्द ने माना, सो प्रथम सहजानन्द ने अपनी ही रुद्राक्ष किसलिये त्यागी ? और अपने सम्प्रदायवालों की किसलिये छुड़ाई ? “मेरे आश्रितों को” ऐसा वचन सहजानन्द ने बार-बार लिखा है, सो मिथ्या है । क्योंकि जिसको जन्म-मरणादि दोष प्राप्त हुए, ऐसे अविद्वान् जीव का आश्रय निष्फल है ॥ ४६ ॥

“नारायण और शिव दोनों एक ही हैं” ऐसा सहजानन्द ने ऊपर कहा है, सो मिथ्या है । क्योंकि वेद में शिव और नारायण को ब्रह्मरूप माना नहीं ॥ ४७ ॥

“इस प्रकार प्रणाम करने के बाद राधाकृष्ण की छवि अथवा मूर्त्ति का प्रेम से दर्शन करके यथाशक्ति उनका मन्त्र जप करना । उसके पीछे संसार का व्यवहार चलाना चाहिये” ॥ ५४ ॥

२५

राधाकृष्ण को सहजानन्द ने या दूसरे किसी ने प्रत्यक्ष देखा नहीं, फिर उनकी छवि अथवा मूर्त्ति कैसे हो ? यह ऊपर से सिद्ध होता है कि सहजानन्द जो कुछ कहता है, वह बिलकुल असत्य है ॥ ५४ ॥

“पाषाण अथवा घातु आदि की बनाई हुई मूर्त्ति की यथाशक्ति फल फूल ३०



अस्माच्छ्लोकाद् विज्ञायते—सहजानन्दस्यापि जडबुद्धिरासी-  
दिति । कुतः, वेदयुक्तिविरुद्धस्य पाषाणादिमूर्त्तिपूजनस्य विधानात् ।  
कृष्णमन्त्रजपेन वेदोक्तविरुद्धेन नास्तिकत्वसिद्धे इच ॥५६॥

हरेर्विधाय नैवेद्यं भोज्यं प्रासादिकं ततः ।  
५ कृष्णसेवापरैः प्रीत्या भवितव्यं च तैः सदा ॥५८॥

हरेरप्रत्यक्षत्वात्, पाषाणादिजडमूर्त्तर्भोजनकरणाभावात्, तन्नै-  
वेद्यकरणं व्यर्थमेव । इदन्तु खलु छलमेवास्ति । कुतः, अङ्गुष्ठदर्शनेन  
घण्टानादं कृत्वा स्वभोजनाभिप्रायस्य विद्यमानत्वात् ॥५८॥

आचार्येणैव दत्तं यद् यच्च तेन प्रतिष्ठितम् ।  
१० कृष्णस्वरूपं तत्सेव्यं बन्धमेवेतरत् तु यत् ॥६२॥  
भगवन्मन्दिरं सर्वैः सायं गन्तव्यमन्वहम् ।  
नामसंकीर्त्तनं कार्यं तत्रोच्चै राधिकापतेः ॥६३॥

आदि पदार्थों से पूजा करनी, और पीछे कृष्ण का अष्टाक्षर मन्त्र जपना” ॥५६॥

इस श्लोक से सिद्ध होता है कि सहजानन्द की बुद्धि जड़ थी ।  
१५ क्योंकि वेदविरुद्ध पाषाणादि मूर्त्तिपूजन का इसने प्रतिपादन किया  
है । वेदविरुद्ध कृष्ण-मन्त्र जपने से सहजानन्द को नास्तिक नाम  
दिया जा सकता है ॥५६॥

“हरि को नैवेद्य दिये पीछे बाकी बची प्रसादी आप खानी चाहिये । और  
कृष्णसेवा में जिस प्रकार बन सके, उसी प्रकार सदा तत्पर रहना” ॥५८॥

२० हरि प्रत्यक्ष दीखता नहीं, और मूर्त्तियों में भोजन करने की  
शक्ति नहीं, इस कारण से मूर्त्ति को नैवेद्य धरना व्यर्थ है, यह  
विलकुल छल-कपट है । क्योंकि जब ऐसा होता है, तभी अपने  
अंगूठे के दर्शन और टन्-टन्-पुं-पुं करके भोजन करने में थोड़ा  
श्रम करना होता है ॥ ५८ ॥

२५ “अपने आचार्य ने जो कृष्णरूप दिया हो, और जिस में प्राणप्रतिष्ठा  
करदी होय, उस ही की सिर्फ सेवा करनी । और की सेवा नहीं करनी” ॥६२॥

“हर रोज शाम को भगवत्-मन्दिर में जाना, और वहां राधापति कृष्ण  
का ऊंची आवाज से कीर्त्तन करना” ॥६३॥



पाषाणादिमूर्तिस्वरूपं यो ददाति तत्प्रतिष्ठापयति च, तत् कृष्णरूपमेव न, किन्तु तत् पाषाणादिस्वरूपमेव । तच्च कदाचित् केनचिदपि न सेव्यं, न चैव वन्द्यम् । किन्तु यस्सर्वशक्तिमानजो न्यायकारी दयालुस्सर्वान्तर्यामी सर्वव्यापी निराकारो भगवान् परमात्मा, स एव सर्वेस्सेव्यो वन्द्यश्च, अतोऽन्यो नैव वन्द्यस्सेव्यश्चेति ५ निश्चयः ॥६२॥

अत एवाभगवत्पाषाणादिमूर्तिमन्दिरं भगवन्मन्दिरं मन्यमानस्य, तच्च सायं सर्वैरन्वहं गन्तव्यमनीश्वरस्य मरणजन्मवतो राधिकापतेर्मृतस्य कृष्णस्योच्चैर्नामसंकीर्तनं [च] कार्यमिति मिथ्योपदेशं प्रवृत्ततस्सहजानन्दस्य वेदविद्या किञ्चिन्मात्रापि तस्य नासीत् । १० असदुपदेशाच्च सद्गतिरपि तस्य नाभूदित्यनुमीयते । अस्य मिथ्योपदेशस्य ये स्वीकारञ्चक्रुः कुर्वन्ति करिष्यन्ति च, तेषामपि सद्गतिर्न भूता न भवति न भविष्यति च । किन्तु वेदसद्विद्यां तत्रोपदिष्टं न्यायं पक्षपातरहितं वैरबुद्धित्यागादिलक्षणं धर्मञ्च यथावद् ये

पाषाण आदि मूर्तिस्वरूप, जिसकी प्रतिष्ठा होती है, वह १५ कृष्णस्वरूप नहीं हो सकता । क्योंकि वह तो केवल पत्थर ही है । ऐसा पत्थर किसी को कभी सेवनीय नहीं । इसी प्रकार उसको नमना भी नहीं । जो सर्वशक्तिमान्, अवतार-रहित, न्यायकारी, दयालु, सर्वान्तर्यामी, सर्वव्यापक, निराकार और श्रेष्ठ परमात्मा है, उसकी सब मनुष्यों को पूजा करनी और उसी को नमना चाहिये ॥६२॥ २०

‘शाम को सब मनुष्यों को भगवद्मन्दिर में जाकर पाषाणादि मूर्तियों की, और जिसका जन्ममरण हुआ ऐसे राधापति कृष्ण नामक मुर्दा की पूजा करनी, और उसका ऊंची आवाज से कीर्तन करना’ ऐसा जो ऊपर कहा, सो सब मिथ्या उपदेश है । यह ऊपर से जान पड़ता है कि सहजानन्द कुत्ते की तरह भौंका है । वह २५ वेदविद्या बिलकुल नहीं जानता था । असत्य उपदेश से सहजानन्द की सद्गति भी नहीं हुई होगी, ऐसा अनुमान किया जा सकता है । इस मिथ्या उपदेश को जो स्वीकार करता और जो दूसरों को कराता है, उसकी सद्गति न तो हुई और न होती है, और न होगी भी । जो मनुष्य वेदादि सद्विद्या, पक्षपात-रहित न्याय, और ३० वैरबुद्धि त्यागादि स्वरूप धर्म का बोध करता है उसको, और जो



स्वीकरिष्यन्ति, सर्वशक्तिमन्यायकारिदयालुत्वादिलक्षणस्य निराकार-  
परमेश्वरस्य स्तुतिप्रार्थनोपासनाश्च यथावद्ये च करिष्यन्ति, तेषामेव  
सद्गतिरभूद् भवति भविष्यति चेति सर्वैर्वेदितव्यम् ॥ ६३ ॥

एवमेव अग्रस्थाः श्लोकाः प्रायोऽशुद्धास्सन्तीत्यत उपेक्ष्यन्ते ।

- ५ एकादशीनां सर्वासाम् कर्त्तव्यं व्रतमादरात् ।  
कृष्णजन्मदिनानाञ्च शिवरात्रेश्च सोत्सवम् ॥ ७६ ॥

एकादश्यादीनि व्रतादीनि वेदे क्वापि न विहितानि । किन्तु  
ब्रह्मचर्यसत्यभाषणादीन्येव व्रतानि कर्तुं विहितानि । अत एवैका-  
दश्यादीनां व्रतानामाचरणं व्यर्थमेवेति परामर्शः ॥ ७६ ॥

- १० सर्ववैष्णवराजश्री—वल्लभाचार्य नन्दनः ।  
श्रीविठ्ठलेशः कृतवान् यं व्रतोत्सवनिर्णयम् ॥ ८१ ॥  
कार्यास्तमनुसृत्यैव सर्व एव व्रतोत्सवाः ।  
सेवारीतिश्च कृष्णस्य ग्राह्या तदुदितैव हि ॥ ८२ ॥  
कर्त्तव्या द्वारिकामुख्यतीर्थयात्रा यथाविधि ।  
१५ सर्वैरपि यथाशक्ति भाव्यं दीनेषु वत्सलैः ॥ ८३ ॥

मनुष्य यथावत् ऐसे बोध को स्वीकार करता, और न्यायकारी  
दयालु निराकार परमेश्वर की प्रार्थना उपासना तथा स्तुति बराबर  
करेगा, केवल उसी को सद्गति प्राप्त होगी । इसी प्रकार आगे के  
श्लोक अशुद्ध हैं ॥ ६३ ॥

- २० “एकादशी आदि सम्पूर्ण व्रतों को रखना, और कृष्ण के जन्म-दिवस  
और शिवरात्रि को बड़ा उत्सव करना चाहिये” ॥ ७६ ॥

एकादशी आदि व्रत वेद में कहीं लिखे नहीं, किन्तु वेद में तो  
ब्रह्मचर्य सत्यभाषण आदि व्रत करना लिखा है । अतः सिद्ध हुआ कि  
एकादशी आदि व्रतों को रखना व्यर्थ है ॥ ७६ ॥

- २५ “सम्पूर्ण वैष्णवों के अधिपति जो वल्लभाचार्य, उनके पुत्र विठ्ठल ने  
जो-जो उत्सव निर्माण किये हैं, उन सब उत्सवों को विठ्ठल के अनुसार  
करना चाहिये । जिस प्रकार से विठ्ठल ने कृष्ण की सेवा करी है । उसी  
प्रकार ग्रहण करनी” ॥ ८१-८२ ॥

- “द्वारिका आदि मुख्य यात्रायें शक्तिपूर्वक यथाविधि करनी, और कंगाल  
३० मनुष्यों पर दया रखनी” ॥ ८३ ॥



सर्ववैष्णवराजश्रीवल्लभाचार्यनन्दनो विट्ठलेशः परधनहरणं धर्मनाशनं व्रतं परस्त्रीगमनादिव्यभिचारोत्सवमपि च कृतवान्, तत् कार्यत्वेनातिदिशतः सहजानन्दस्यापि दोषापत्तिरेव मन्तव्येति ॥ ८१-८२ ॥

द्वारिकायास्तीर्थयात्रामुपदिशतः सहजानन्दस्य भ्रान्त्यापत्तिरेव विज्ञायते । कुतः, जडे पाषाणजलादौ तीर्थोपदेशाभावात् । तद्यात्रा-करणोपदेशो दुःखफलक एवास्ति । किञ्च—‘आहिसन् सर्वभूतान्य-न्यत्र तीर्थेभ्यः’ इति छान्दोग्योपनिषदि । ‘सतीर्थ्यस्सब्रह्मचारी च’, इत्यादिप्रमाणार्थव्यवहारस्य विद्यमानत्वाद् वेदेश्वरविज्ञानामेव तीर्थ-संज्ञा मन्तव्येत्युपदेशः । यैरविद्याजन्ममरणहर्षशोकादिदुःखानि तरन्ति, तानि ‘तीर्थानि’ इति निरुक्तेश्च ॥ ८३ ॥

विष्णुः शिवो गणपतिः पार्वती च दिवाकरः ।

एता पूज्यतया मान्या देवताः पञ्च मामकैः ॥ ८४ ॥

भूताद्युपद्रवे क्वापि वर्म नारायणात्मकम् ।

जप्यञ्च हनुमन्मन्त्रो जप्यो न क्षुद्रदैवतः ॥ ८५ ॥

१५

सर्ववैष्णवराज श्री वल्लभाचार्य के पुत्र विट्ठल ने परधन-हरण, धर्मनाश, परस्त्रीगमनादि व्यभिचारों को स्वतः करके उपदेश किया है । इस प्रकार कर्म करनेवाले पुरुष के मत के विषय में सहजा-नन्द ने अपनी सम्मति देकर उपदेश किया है, इससे सहजानन्द भी दुष्ट था, यह सिद्ध हुआ ॥ ८१-८२ ॥

२०

‘द्वारिका आदि तीर्थयात्रायें करनी’ ऐसा जो सहजानन्द ने उपदेश किया, वह केवल भ्रान्ति से ही किया है, यह निश्चय कर जानना । जड़ पत्थर पानी आदि पदार्थों में तीर्थोपदेश का सम्भव दीखता नहीं । इसलिये यह उपदेश अत्यन्त दुःखदायक है । छान्दोग्य उपनिषद् में ‘तीर्थ’ शब्द का अर्थ वेद अथवा ईश्वर का ज्ञान होता है । जिससे अविद्या जन्म-मरण हर्ष-शोकादि दुःखों से तरे, उसी का नाम ‘तीर्थ’ होता है ॥ ८३ ॥

“मेरे आश्रितों को विष्णु शिव गणपति पार्वती और सूर्य इन पांच देवताओं को पूज्य मानना चाहिये” ॥ ८४ ॥

“भूतप्रेतादि कहीं भी उपद्रव करें, तो नारायण-कवच अथवा हनुमान-मन्त्र का जप करना । परन्तु किसी क्षुद्र देव का जप करना नहीं” ॥ ८५ ॥

१. छा० उप० ८ । १५ । १ ॥



शिवविष्णुगणपतिपार्वत्यादीनां देहधारिणां मृतानां वेदेषु पूजानभिधानाद्, रवेर्जडत्वाच्च पूजा निष्फला । परमेश्वर एक एव पूज्यस्तत्र पञ्चत्वाभावाद् । 'एताः पूज्यतया मान्याः' इति सहजानन्दस्योपदेशोऽसङ्गत एवास्तीति बोध्यम् ॥ ८४ ॥

५ भूताद्युपद्रवनिवारणार्थं नारायणकवचपाठं हनुमन्मन्त्रजपञ्चोपदिशति सहजानन्दे भ्रान्तिरेव सिध्यति । अतस्तदुपदेशप्रमाणं व्यर्थमेव ॥ ८५ ॥

वेदाश्च व्याससूत्राणि श्रीमद्भागवताभिधम् ।  
पुराणं भारते तु श्रीविष्णोर्नामसहस्रकम् ॥ ८३ ॥

१० तथा श्रीभगवद्गीता नीतिश्च विदुरोदिता ।  
श्रीवासुदेवमाहात्म्यं स्कान्दवैष्णवखण्डगम् ॥ ८४ ॥

धर्मशास्त्रान्तर्गता च याज्ञवल्क्यऋषेः स्मृतिः ।  
एतान्यष्ट ममेष्टानि सच्छास्त्राणि भवन्ति हि ॥ ८५ ॥

स्वहितेच्छुभिरेतानि मच्छिष्यैः सकलैरपि ।  
१५ श्रोतव्यान्यथ पाठ्यानि कथनीयानि च द्विजैः ॥ ८६ ॥

तत्राचारव्यवहृतिनिष्कृतानाञ्च निर्णये ।  
ग्राह्या मिताक्षरोपेता याज्ञवल्क्यस्य तु स्मृतिः ॥ ८७ ॥

शिव विष्णु गणपति पार्वती आदि देहधारी मुर्दाओं की पूजा, और सूर्य स्वतः जड़ है, इससे उसकी पूजा के विषय में वेद में कहा २० नहीं । इसलिये एक परब्रह्म की पूजा करनी चाहिये । और इन पांचों की पूजा करनी, यह जो सहजानन्द ने कहा है, वह मिथ्या है ॥ ८४ ॥

‘भूत-प्रेतों के निवारण के लिये नारायण-कवच अथवा हनुमान-मन्त्र का जप करना’, ऐसा उपदेश करने से मालूम पड़ता है कि सहजानन्द को भ्रम उत्पन्न हुआ होगा ॥ ८५ ॥

२५ “वेद, व्याससूत्र, भागवत, भारत में कहा हुआ विष्णुसहस्रनाम, भगवद्-गीता, विदुरनीति, स्कन्धपुराण और वैष्णव खण्ड में कहा हुआ वासुदेव माहात्म्य, और याज्ञवल्क्यस्मृति आदि आठ सच्छास्त्रों का प्रमाण मुझे इष्ट है । ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य जो अपने कल्याण के इच्छुक और मेरे शिष्य हैं, उनको इन शास्त्रों को सुनना और पाठ करना और कराना चाहिये । इन आठ ३० शास्त्रों में आचार-व्यवहार और प्रायश्चित्त के निर्णय के लिये याज्ञवल्क्य



श्रीमद्भागवतस्यैव तु स्कन्धौ दशमपञ्चमौ ।

सर्वाधिकतया ज्ञेयौ कृष्णमाहात्म्यबुद्धये ॥ ६८ ॥

वेदाश्चेत्यादयः श्लोकाः प्रायोऽशुद्धाः सन्ति । श्रीमद्भागवतादि-  
पुराणानां, भारते विष्णोः सहस्रनाम्नां भगवद्गीतायाश्च स्वीका-  
रादन्येषां तत्रस्थानां श्रेष्ठानामपि त्यागाद्, वासुदेवमाहात्म्यस्यैव ५  
ग्रहणादन्यस्याग्रहणात्, मिताक्षराटीकान्विताया याज्ञवल्क्यस्मृतेरेव  
ग्रहणात्, पूर्वमीमांसादिशास्त्राणां मनुस्मृतेश्चाग्रहणादविद्वत्तैव दृश्यते  
सहजानन्दे । सर्वेभ्यश्चैव स्कन्धेभ्योऽतीवाशुद्धस्य मिथ्याभूताधर्म-  
कथाप्रतिपादकस्य दशमस्कन्धस्य सर्वाधिकतया स्वीकाराद् विषया-  
सक्तो वेदनिन्दकोऽपि सहजानन्दोऽस्तीति विज्ञायते ॥ ६३-६८ ॥ १०

दशमः पञ्चमः स्कन्धो याज्ञवल्क्यस्य च स्मृतिः ।

भक्तिशास्त्रं योगशास्त्रं धर्मशास्त्रं क्रमेण मे ॥ ६९ ॥

शारीरकाणां भगवद्गीतायाश्चावगम्यताम् ।

रामानुजाचार्यकृतं भाष्यमाध्यात्मिकं मम ॥ १०० ॥

स्मृति की मिताक्षरा नामक टीका का भी मैं ग्रहण करता हूँ । भागवत के १५  
पाँचवें और दशमस्कन्ध में कृष्णलीला लिखी है, इससे वे दो स्कन्ध अवश्य  
जानना” ॥ ६३-६८ ॥

ऊपर के सब श्लोक प्रायः अशुद्ध हैं । भागवत आदि पुराण,  
और भारत में विष्णुसहस्रनाम भगवद्गीता आदि का ही केवल  
स्वीकार, दूसरे ग्रन्थों का त्याग, याज्ञवल्क्यस्मृति की मिताक्षरा २०  
टीका का ग्रहण, पूर्वमीमांसा तथा मनुस्मृति का त्याग करने से,  
और वासुदेव के माहात्म्य गिनने से सिद्ध होता है कि सहजानन्द  
अविद्वान् था । सहजानन्द भागवत के अष्ट मिथ्या भूत-प्रेत अधर्म-  
कथा प्रतिपादक दशमस्कन्ध को सर्वशास्त्रों की अपेक्षा श्रेष्ठ मानता  
है, अतएव जान पड़ता है कि सहजानन्द वेदनिन्दक(=नास्तिक) २५  
था ॥ ६३-६८ ॥

“भागवत के दशमस्कन्ध में भक्तिशास्त्र, पाँचवें में योगशास्त्र, और  
याज्ञवल्क्यस्मृति में हमारा धर्मशास्त्र वर्णन किया है” ॥ ६९ ॥

“शारीरक और भगवद्गीता का भाष्य जो रामानुज आचार्य ने बनाया  
है, वह हमारा अध्यात्मशास्त्र है” ॥ १०० ॥ ३०



एतेषु यानि वाक्यानि श्रीकृष्णस्य वृषस्य च ।

अत्युत्कर्षपराणि स्युस्तथा भक्तिविरागयोः ॥ १०१ ॥

मन्तव्यानि प्रधानानि तान्येवेतरवाक्यतः ।

धर्मेण सहिता कृष्णभक्तिः कार्येति तद्वहः ॥ १०२ ॥

- ५ दशमस्कन्धे भक्तिशास्त्रस्य लेशोऽपि नास्ति । किन्तु, व्यभि-  
चाराद्यधर्मप्रतिपादनं तत्रास्त्येव प्रसिद्धम् । पञ्चमस्कन्धे योगशास्त्र-  
प्रतिपादनं नास्ति । किन्तु, योगाभासप्रतिपादनं तु तत्रास्त्येव ।  
श्रौतसूत्रमीमांसादर्धमशास्त्रस्य तिरस्कारात् पिष्टपेषणवद् दूषिताया  
याज्ञवल्क्यस्मृतेः स्वीकारात् सहजानन्दस्य वेदोक्तानां कर्मोपासनाज्ञान-  
१० काण्डानां बोध एव नास्तीति विज्ञायते ॥ १६६ ॥

रामानुजकृतस्य शारीरकसूत्रभाष्यस्यात्यशुद्धस्य, स्वीकाराद-  
विवेकसहजानन्देऽस्त्येवेति विज्ञायते ॥ १०० ॥

श्रीकृष्णेन वेदस्यैव खल्वत्युत्कर्षो मतः, न च स्ववाक्यानाम् ।

अत एव सहजानन्देन 'अत्युत्कर्षपराणि तद्वाक्यानि स्युः' इत्युक्तत्वाद्

- १५ भ्रान्त एव स मन्तव्यः ॥ १०१ ॥

वेदवाक्यान्त्येव सर्वोत्कृष्टानि सन्तीति ब्रह्मादीनामिदानीन्त-

"इन शास्त्रों के जिन-जिन वाक्यों में कृष्ण धर्म भक्ति और वैराग्य  
का वर्णन किया होय, उन वाक्यों को दूसरे वाक्यों की अपेक्षा श्रेष्ठ मानना,  
और कृष्णभक्ति धर्म के साथ ही रखनी चाहिये" ॥ १०१-१०२ ॥

- २० दशमस्कन्ध में भक्ति लेशमात्र नहीं है, किन्तु व्यभिचार आदि  
अधर्म का प्रतिपादन प्रसिद्ध है । पांचवें स्कन्ध में योगशास्त्र का  
प्रतिपादन तो किया नहीं, किन्तु योगाभास का प्रतिपादन  
किया है । श्रौतसूत्र और मीमांसा आदि धर्मशास्त्रों का तिरस्कार  
करने से, और दले हुये पदार्थ को फिर से दलने के समान याज्ञवल्क्य  
२५ स्मृति का स्वीकार करने से ऐसा मालूम पड़ता है कि सहजानन्द  
वेद के कर्मकाण्ड उपासनाकाण्ड और ज्ञानकाण्ड के विषय में कुछ  
नहीं जानता था ॥ १६६ ॥

शारीरक सूत्र का रामानुज से किया हुआ अति अशुद्ध भाष्य का  
प्रमाण मानने से सहजानन्द अविवेकी था, यह सिद्ध होता है ॥ १०० ॥

- ३० श्रीकृष्ण ने खुद ही वेदवाक्यों को सर्वोत्कृष्ट माना है, फिर  
सहजानन्द ने ऊपर जो दशमस्कन्ध आदि को श्रेष्ठ गिना है, सो



नान्तानां तु विदुषां सिद्धान्ते विद्यमाने, वेदेभ्योऽपि कृष्णवाक्यान्येव प्रधानान्येवं प्रबुक्कन् सहजानन्दो लज्जामपि न प्राप्तवानिति ॥१०२॥

हृदये जीववज्जीवे योऽन्तर्यामितया स्थितः ।

ज्ञेयः स्वतन्त्र ईशोऽसौ सर्वकर्मफलप्रदः ॥१०७॥

स श्रीकृष्णः परब्रह्मा भगवान् पुरुषोत्तमः ।

उपास्य इष्टदेवो नः सर्वाविर्भावकारणम् ॥१०८॥

स राधया युतो ज्ञेयो राधाकृष्ण इति प्रभुः ।

रुक्मिण्या रमयोपेतो लक्ष्मीनारायणः स हि ॥१०९॥

ज्ञेयोऽर्जुनेन युक्तोऽसौ नरनारायणाभिधः ।

बलभद्रादियोगेन तत्तन्नामोच्यते स च ॥११०॥

जीववन्न कदाचिदीशो भवति, सर्वज्ञसर्वशक्त्यनन्तनिर्विकार-  
त्वादस्वभावत्वात् ॥१०७॥

जन्ममरणहर्षशोकाल्पशक्त्यादिवत्त्वात् कृष्णः परब्रह्मा भगवान्  
पुरुषोत्तमः कदाचिन्नैव संभवति । पुनः सर्वशक्तिमन्तं न्यायकारिणं

सहजानन्द को भ्रम हुआ होगा, ऐसा जान पड़ता है । वेदवाक्य  
सर्वोत्तम हैं, यह ब्रह्मादि विद्वानों का सिद्धान्त है । परन्तु सहजा-  
नन्द भौकता है कि कृष्ण के वाक्य वेद की अपेक्षा श्रेष्ठ हैं । यह  
सहजानन्द का शरमाके डूब मरना जैसा कार्य है ॥१०१-१०२॥

“जिस प्रकार हृदय में जीव रहता है, उसी प्रकार ईश्वर अन्तर्यामीपने  
से जीव में रहता है । वह स्वतन्त्र और सब को उन-उन के कर्मों का फल-  
दाता है” ॥१०७॥

“वह पूर्ण पुरुषोत्तम परब्रह्मा श्रीकृष्ण भगवान् उपासना करने के योग्य,  
इष्टदेव सर्व पदार्थों के आविर्भाव का कारण (=प्रसिद्धकर्ता) है” ॥१०८॥

“जब वह राधा के साथ हो तब वह राधाकृष्ण, रुक्मिणी के साथ हो तब  
लक्ष्मीनारायण, जब अर्जुन के साथ होय तो तब नरनारायण, और जब बलभद्रा-  
दिकों से युक्त होय तब उनको वही नाम देना चाहिये” ॥१०९-११०॥

जीववत् कभी ईश्वर बनता नहीं । क्योंकि सर्वशक्ति सर्वज्ञता  
निर्विकार आदि गुणयुक्त स्वभाव ईश्वर का है ॥१०७॥

जन्म-मरण हर्ष-शोक अल्पशक्ति आदि गुणयुक्त कृष्ण को परब्रह्मा  
भगवान् पूर्ण पुरुषोत्तम आदि नाम देना बिलकुल सम्भव नहीं है । एक ३०



दयालुं सर्वान्तर्यामिणं सच्चिदानन्दादिस्वरूपं निर्दोषं निराकारमजं  
विभुं वेदयुक्तिसिद्धं परमात्मानं विहाय जन्ममरणादिव्यवहारवन्तं  
जीवं कृष्णमुपास्येष्टदेवत्वेन यः सहजानन्दः कथयति, स वेदपदार्थ-  
विद्याविहीन एव विज्ञेयः ॥१०८॥

१ राधा त्वनयाख्यगोपस्य स्त्र्यासीन्न कृष्णस्य । कृष्णस्य  
रुक्मिण्येव स्त्री । पुनस्तस्य लक्ष्मीनारायणसंज्ञेवायोग्येति वेदित-  
व्यम् ॥१०९॥

‘तत्तन्नामोच्यते स च’ इति सहजानन्दस्योक्तिरन्यथैव ।  
कुतः, सर्वज्ञज्ञानमन्तरा सहजानन्दस्येदं कथनमयुक्तञ्जातमिति  
१० बोध्यम् ॥११०॥

तस्यैव सर्वथा भक्तिः कर्त्तव्या मनुजैर्भुवि ।

निःश्रेयसकरं किञ्चित्ततोऽन्यन्नेति दृश्यताम् ॥११३॥

कृष्णस्यापि कल्याणं जातन्न वेति विदुषां सन्देहः । स च  
परमेश्वरस्यैव भक्तिं कृतवानुपदिष्टवांश्च । पुनस्तस्यैव सर्वमनुष्ये-

१२ सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, दयालु, सर्वान्तर्यामी, सच्चिदानन्दस्वरूप,  
निर्दोष, निराकार, अवताररहित और वेदयुक्तिसिद्ध परमात्मा को  
छोड़के जन्ममरणयुक्त कृष्ण की उपासना करनी, यह जो सहजानन्द  
ने कहा है, इससे मालूम पड़ता है कि सहजानन्द को पदार्थज्ञान  
बिलकुल नहीं था ॥१०८॥

२० राधा तो ‘अनय’ नामक ग्वाले की स्त्री थी । कृष्ण का उससे  
कोई सम्बन्ध नहीं था । कृष्ण की स्त्री का नाम रुक्मिणी था । इससे  
उसको लक्ष्मीनारायण नाम देना अयोग्य है । इस प्रकार कथन कर  
सहजानन्द ने अपनी मूर्खता बतलाई है । क्योंकि सर्वज्ञता के बिना  
सहजानन्द का कथन युक्तिरहित दिखाई पड़ता है ॥१०९-११०॥

२५ “उन्हीं की ही (=सिर्फ कृष्ण की ही) सब मनुष्यों को भक्ति करनी  
चाहिये । उनकी भक्ति करने के बिना सुख का दूसरा साधन कुछ भी  
नहीं है” ॥ ११३ ॥

कृष्ण का खुद का ही कल्याण हुआ कि नहीं, इस विषय में  
विद्वानों को संशय उत्पन्न होता है । कृष्ण ने स्वयं ही एक ईश्वर की  
३० भक्ति की है, और वैसा ही करने का उपदेश किया है । फिर सहजा-



भक्तिः कार्या, ततोऽन्यत्कल्याणकरं किञ्चिन्नास्त्येवेति वदन् सहजानन्दो विद्याहीन एवासीत् ॥११३॥

गुणिनां गुणवत्ताया ज्ञेयं ह्येतत् परं फलम् ।

कृष्णे भक्तिश्च तत्संगोऽन्यथा यान्ति विदोऽप्यधः ॥११४॥

‘गुणिनां गुणवत्तायाः’ इत्येवं छन्दोविरुद्धा अशुद्धाः श्लोका- ५  
स्सन्ति बहवः शिक्षापत्र्याम् । अतो विज्ञायते सहजानन्दस्य छन्दोज्ञान-  
मपि यथावन्नासीदिति । कृष्णे मृते भक्तिरेवाशक्या निष्फला वेद-  
विरुद्धा चास्ति । विद्वांसस्तु सदैव सद्गतिं प्राप्नुवन्ति, विद्यायाः  
प्रकाशस्वरूपत्वात् । किञ्च, अविद्वांस एव सहजानन्दसदृशा असद्गतिं  
गता इति विज्ञायते । कुतः, अविद्याया अधर्माचरणान्धकार- १०  
वत्त्वात् ॥११४॥

निजात्मानं ब्रह्मरूपं देहत्रयविलक्षणम् ।

विभाव्य तेन कर्त्ताव्या भक्तिः कृष्णस्य सर्वदा ॥११५॥

निजात्मा जीवो ब्रह्मरूपश्चेद्, ब्रह्मणा तुल्यत्वं तस्मिन् कुतो

नन्द ने जो ऊपर कहा है कि ‘सब मनुष्यों को केवल कृष्ण की ही १५  
भक्ति करनी चाहिये । उनकी भक्ति करने के बिना सुख का दूसरा  
साधन कुछ भी नहीं है’ । यह कहकर उसने अपनी अविद्या  
बताई है ॥ ११३ ॥

‘गुणवान् पुरुषों के विद्यादि गुणों का उत्तम फल तो यही है कि कृष्ण-  
भक्ति और सत्संग करना । उसको छोड़के जो कोई दूसरा कुछ करेगा, वह २०  
विद्वान् होकर भी अधोगति अर्थात् नरक पावेगा’ ॥ ११४ ॥

इस श्लोक में छन्दोभङ्ग दोष होने से मालूम पड़ता है कि  
सहजानन्द को छन्दोज्ञान विषय में कुछ भी समझ नहीं थी । कृष्ण  
मर गया, इसलिये अब उसकी भक्ति करनी अयोग्य और निष्फल  
है । विद्वान् लोग अपनी विद्या के प्रकाश से सर्वदा सद्गति पाते हैं । २५  
किन्तु अविद्या अधर्माचरण और अज्ञान से सहजानन्द जैसे अविद्वान्  
पुरुषों को असद्गति प्राप्त होती है, ऐसा दीख पड़ता है ॥ ११४ ॥

‘तीन प्रकार के शरीरों से जो विलक्षण जीव उसमें ब्रह्मरूप की भावना  
करके श्रीकृष्ण की ही भक्ति सर्वदा करती’ ॥ ११५ ॥

जो जीव ब्रह्मरूप होय, तो ब्रह्म की तुल्यता जीव में क्यों नहीं ३०



न दृश्यते? तुल्यत्वं चेत्, तर्हि ब्रह्मणा सकलञ्जगद्रचितं, जीवेन नवीनं जगत् किञ्चिन्मात्रमपि कुतो न रच्यते? जीवब्रह्मणोरैक्यं चेत्, तर्हि ब्रह्मवाविद्याजन्ममरणहर्षशोकशीतोष्णसुखदुःखज्वरपीडाबन्धादिदोष-युक्तं जातमेवेति स्वीक्रियताम्। जीवाद् ब्रह्म भिन्नञ्चेत् प्रतिज्ञा-  
५ हानिः। कृष्णोऽपि ब्रह्मभक्तः, एवं सर्वे जीवैरपि ब्रह्मभक्तैरेव भवित-  
व्यम्, नैवान्यस्य कस्यचित् कृष्णादेर्जीवस्य चेति। एवं 'कृष्णस्य भक्तिः सर्वदा कार्या', इति सहजानन्दे महती दोषापत्तिरिति विज्ञात-  
व्यम् ॥ ११५ ॥

मतं विशिष्टाद्वैतं मे गोलोको धाम चेप्सितम्।

१० तत्र ब्रह्मात्मना कृष्णसेवा मुक्तिश्च गम्यताम् ॥ १२१ ॥

चक्राङ्कितवत् सहजानन्दस्य मतमस्तीति विज्ञातव्यम्। विशि-  
ष्टाद्वैतशब्दस्यैवमर्थः क्रियते—अविद्याविशिष्टो जीवो मायया विशिष्ट ईश्वरः। विशिष्टो नाम मिलितः। केचिदेकां मायामीश्वरस्यैव स्वी-  
कुर्वन्ति। एवं चतुर्णां त्रयाणां वा पदार्थानां वर्तमानत्वादद्वैतमेव

१५ दीखती? जो जीव ब्रह्मतुल्य होय, तो जिस प्रकार ब्रह्म ने यह सब जगत् रचा, इसी प्रकार जीव थोड़ा सा ही नवीन जगत् क्योंकर नहीं रच लेता? जो जीव-ब्रह्म एक होय, तो अविद्या, जन्म-मरण, हर्ष-शोक, ठंडी-ताप, सुख-दुःख, ताप-पीड़ा और बन्ध आदि दोष ब्रह्म में मानने पड़ेंगे। जो जीव से ब्रह्म भिन्न होय, तो सहजानन्द का कहना  
२० व्यर्थ हुआ। कृष्ण स्वयं ही ब्रह्मभक्त थे, इसलिये सब जीवों को एक ब्रह्म की ही भक्ति करनी, और कृष्णादि जीवों की भक्ति नहीं करनी चाहिये। 'एक कृष्ण की ही भक्ति करनी', यह जो सहजानन्द ने ऊपर कहा, उससे सिद्ध होता है कि इस प्रकार कहने में इसने महान् पाप किया है ॥ ११५ ॥

२५ "मेरा मत विशिष्टाद्वैत, और मेरा प्रिय स्थान गोलोक है। वहां ब्रह्मरूप कृष्ण की सेवा करनी, यह मेरी मुक्ति जाननी" ॥ १२१ ॥

सहजानन्द का मत चक्राङ्कित के समान है, ऐसा दीख पड़ता है। 'विशिष्टाद्वैत' शब्द का अर्थ सब मनुष्य इसी प्रकार करते हैं कि—'अविद्यायुक्त जीव और मायायुक्त ईश्वर है'। कुछ मनुष्य  
३० ईश्वर की माया एक मानते हैं। इस प्रकार तीन-चार पदार्थों से



दुर्लभम् । द्वितीयेन विना विशिष्ट एव न भवति । 'विशिष्टश्च विशिष्टश्च विशिष्टौ मायाऽविद्याभ्यां युक्तौ जीवेशौ, तयोरद्वैतं विशिष्टाद्वैतम्' । द्वयोरद्वैतं कदाचन सम्भवति । किन्तु खल्वद्वैतं केवलमेकं ब्रह्मैवास्ति । तद्वत् सजातीयं विजातीयं च द्वितीयं ब्रह्मैव नास्ति, एव स्वगतभेदोऽपि ब्रह्मणि नास्त्येव, संयोगवियोगाभावात् । ५ अत एव एकमेकरसमद्वितीयं ब्रह्मैवास्तीति वेदयुक्तिसंमतो ह्यद्वैत-शब्दार्थो वेदितव्यः । एवं सति रामानुजसहजानन्दयोर्मतमशुद्धमेव वेदितव्यम् । गवां पशूनां लोको धाम मम चेति स्वीकारात् सहजानन्दे पशुप्रियत्वमेव समागच्छति, स्वजातिपरत्वप्रवाहस्य विद्यमानत्वात् । गोलोक एव निवासत्वात् कृष्णसेवानिवन्धनत्वाच्च सैव मुक्तिरिति १० सहजानन्दादिप्रलापो मिथ्यैवेति विज्ञायताम् ॥१२१॥

मया प्रतिष्ठापितानां मन्दिरेषु महत्सु च ।

लक्ष्मीनारायणादीनां सेवा कार्या यथाविधि ॥१३०॥

सहजानन्देनान्यैर्वा प्रतिष्ठापिता विद्याधर्मविरुद्धेषु मिथ्याधन-  
गतव्ययेषु महत्सु मन्दिरेषु पाषाणामूर्तयो लक्ष्मीनारायणादयः कदा- १५

अद्वैत सिद्ध नहीं होता । दूसरे पदार्थ के विना विशिष्ट शब्द बन ही नहीं सकता । दो पदार्थ अद्वैत नहीं हो सकते । किन्तु ब्रह्म तो अवश्य अद्वैत है, सजातीय विजातीय दूसरा ब्रह्म है ही नहीं । इसलिये यह भेद ब्रह्म में संयोग के विना सिद्ध नहीं हो सकता । वेद और युक्ति-सिद्ध एकरसमात्र एक ही ब्रह्म है, यह अद्वैत शब्द का अर्थ जानना । २० अतः दीख पड़ता है कि रामानुज और सहजानन्द के मत भ्रष्ट हैं । 'गौ आदि पशुओं का लोक मेरा स्थान है' इस प्रकार जो सहजानन्द ने कहा, सो अपनी जाति के नियम से सहजानन्द खुद ही पशु बनता है । 'गोलोक में निवास करने से और एक कृष्णसेवा से ही मुक्ति प्राप्त होती है' ऐसा जो सहजानन्द ने बका है, सो मिथ्या २५ है ॥ १२१ ॥

"मैंने बड़े-बड़े मन्दिरों में जो लक्ष्मीनारायणादि मूर्तियों की प्राणप्रतिष्ठा करी है, उनकी यथाविधि सेवा करनी" ॥१३०॥

सहजानन्द अथवा और कोई भी बिल्कुल विद्याधर्मविरुद्ध और द्रव्यनाशक बड़े मन्दिरों में रहनेवाली पाषाणादि मूर्तियों को लक्ष्मी- ३० नारायण का नाम नहीं दे सकता । क्योंकि वेद में मूर्तिपूजाविषय



चिन्तैव भवन्ति । वेदानभिहितानां पाषाणादिमूर्त्तीनां जडत्वात्लक्ष्मी-  
नारायणादीनां तदानीञ्चेतनत्वात् पाषाणादिमूर्त्तीनां यथाविधि  
खण्डनमेव कर्त्तव्यं, नैव च पूजनमिति ॥१३०॥

अथैतयोस्तु भार्याभ्यामाज्ञया पत्युरात्मनः ।

५ कृष्णमन्त्रोपदेशश्च कर्त्तव्यः स्त्रीभ्य एव हि ॥१३३॥

सहजानन्देन विदितमुपदेशमन्तरा स्त्रीभ्योऽपि धनलाभ एव  
न भविष्यत्यत एवं कपटं प्रसारितम् । तदपि परमात्ममन्त्रोपदेशं  
विहाय मृतस्य कृष्णस्य मन्त्रोपदेशं चोक्तवान् । अतः सहजानन्दो  
धनलोभ्यज्ञानी चेति विज्ञायते ॥१३३॥

१० निजवृत्त्युद्यमप्राप्तधनधान्यादितश्च तैः ।

अर्प्यो दशांशः कृष्णाय विंशांशस्त्विह दुर्बलैः ॥१४७॥

परधनहरणार्थं निजसुखार्थञ्च सहजानन्दस्य प्रसिद्धं कापट्य-  
मेव दृश्यते । विना परिश्रमेण दशांशं धनं गृहीत्वा पुष्कलं संसारस्थं  
विषयभोगं वयं कुर्म इत्यभिप्रायस्तस्यास्तीति निश्चयः । पुनरन्यथा

१५ में कुछ कहा नहीं, इसलिये । और मूर्त्ति स्वतः जड़ है इस कारण से ।  
तथा लक्ष्मीनारायण आदि तो चेतन थे, इस हेतु से मूर्त्ति का यथा-  
विधि खण्डन करना चाहिये । न कि पूजन करना ॥१३०॥

“दो अमुक पुरुषों की स्त्रियों को अपने-अपने पति की आज्ञा लेकर  
केवल स्त्रियों को ही कृष्णमन्त्र का उपदेश करना चाहिये” ॥१३३॥

२० सहजानन्द ने जाना कि उपदेश के सिवाय स्त्रियों से धन-  
प्राप्ति कभी होय नहीं । अतः स्पष्ट रीति से दीख पड़ता है कि सहजा-  
नन्द ने एक दम छलकपट फैला दिया है । परब्रह्म का मन्त्र छोड़कर  
कृष्ण का अर्थात् मुर्दामन्त्र का उपदेश करने से सहजानन्द लोभी और  
अज्ञानी ठहरता है ॥१३३॥

२५ “अपने परिश्रम से कमाये हुये धन धान्य का दशवां भाग कृष्ण के अर्पण  
करें । और जो मनुष्य दुर्बल होवें, वे बीसवां भाग कृष्ण को दें” ॥१४७॥

परधन हरने में और अपने को सुख देने में सहजानन्द का छल-  
भेद खुल्लमखुल्ले दीखता है । इस प्रकार करने में सहजानन्द का  
अभिप्राय यह था कि यत्-किञ्चित् मेहनत कार्य के बिना ही दसवां  
३० बीसवां भाग लेकर अपने संसार का विषयसुख खूब भोगेंगे । ऊपर



वदति -- कृष्णाय समर्प्यमिति । कृष्णस्तु मृतः स दशांशं विंशांशं घनं ग्रहीतुं नैवागच्छति । कदाचिन्नैतादृशं तस्य दारिद्र्यमासीत् । तस्मात् सहजानन्दस्य महती धूर्त्तता वेदितव्या, तथा गोकुलस्थानां वल्लभभृती-नाञ्च ।

ईदृशानां धूर्त्तानां सम्प्रदायप्रसृत्यार्यावर्त्तदेशस्य महती हानिर्जाता । अतः सर्वैः सज्जनैरिदानीं दृढप्रयत्नेन सद्य इमे सर्वे सम्प्रदाया निवर्त्तनीया । अन्यथा स्वदेशस्य भद्रन्नैव भविष्यतीति निश्चेतव्यम् ॥१४७॥

एकादशीमुखानाञ्च व्रतानां निजशक्तितः ।

उद्यापनं यथाशास्त्रं कर्त्तव्यं चिन्तितार्थदम् ॥१४८॥ १०

कर्त्तव्यं कारणीयं वा श्रावणे मासि सर्वदा ।

बिल्वपत्रादिभिः प्रीत्या श्रीमहादेवपूजनम् ॥१४९॥

इयमपि सहजानन्दस्य धूर्त्ततास्ति । यद्येकादश्यादिव्रतानि न करिष्यन्ति, तर्ह्युद्यापनेन विना घनलाभोऽपि शिष्येभ्यो नैव भविष्यति । पुनश्च श्रावणे मासि महादेवपूजनमर्थात् पाषाणादिमूर्त्ति- १३

कहा है कि 'कृष्ण को अर्पण करना', तो कृष्ण खुद तो दसवां अथवा बीसवां भाग लेने को आ ही नहीं सकता, और कृष्ण कुछ ऐसा दरिद्री नहीं था । अतः सिद्ध होता है कि सहजानन्द ने गोकुल के वल्लभ सम्प्रदायवालों की तरह खूब धूर्त्तता चलाई है ।

ऐसे-ऐसे धूर्त्त सम्प्रदायों के फैल जाने से अपने आर्यावर्त्त देश को बहुत हानि उठानी पड़ी । इसलिये सब सज्जनों को श्रम उठाकर इन सम्प्रदायों को जड़-मूल से उखाड़ डालना चाहिये । जो कभी उखाड़ डालने में न आवें, तो अपने देश का कल्याण कभी होने का ही नहीं ॥१४७॥ २०

"एकादशी आदि व्रतों का यथाशक्ति और शास्त्र-प्रमाण से उद्यापन करना । उद्यापन मन की इच्छा को पूर्ण करता है । श्रावण मास में बिल्व आदि के पत्रों से महादेव की पूजा करें-करावें" ॥१४८-१४९॥ २५

इससे भी सहजानन्द की धूर्त्तता दीखती है । जो कभी एकादशी आदि व्रतों को नहीं करें, तो शिष्यों से उद्यापन विना घनलाभ नहीं होय । श्रावण महीने में महादेव का पूजन अर्थात् पाषाण ३०



पूजनेन विनापि धनप्रतिष्ठे शिष्येभ्यो नैव लप्स्यामहे । एतदर्थं सहजानन्दस्य कापट्यं वेदितव्यम् ॥१४८-१४९॥

देवताप्रतिमां हित्वा लेख्या काष्ठादिजापि वा ।

न योषितप्रतिमा स्पृश्या न वीक्ष्या बुद्धिपूर्वकम् ॥१७७॥

- ५ स्वमन्दिरेषु सहजानन्देन राधाया मूर्तिः किमर्था स्थापिता ? सा स्त्री नासीत् किम् ? पुनश्च 'वामे यस्य स्थिता राधा श्रीश्च यस्यास्ति वक्षसि' इति स्त्रीकथा सहजानन्देन किमर्था कथितो-पदिष्टा च ? ताश्च साध्वादिभिस्तच्छिष्यैर्बुद्धिपूर्वकं किमर्था वीक्ष्यन्ते ? तासां राधादीनां च कथा किमर्था क्रियते ? अत एव
- १० प्रमत्तगीतवत् प्रलापात् सहजानन्दादिषु वदतोव्याघातदोषो बहुश आगच्छतीति वेद्यम् ॥१७७॥

सर्वेन्द्रियाणि जेयानि रसना तु विशेषतः ।

न द्रव्यसंग्रहः कार्यः कारणीयो न केनचित् ॥१८८॥

- आदि मूर्तिपूजा विना अपने को शिष्यों से धन-प्रतिष्ठा मिलेगी
- १५ नहीं । ऐसे-ऐसे विचारों से सहजानन्द ने अपना कपट दिखाया है ॥ १४८-१४९॥

“देव की मूर्ति के सिवाय लिखी हुई, अथवा लकड़ी आदि की स्त्रियों की मूर्तियों का कभी स्पर्श न करें । और उनकी तरफ बुद्धिपूर्वक दृष्टि से देखें भी नहीं” ॥१७७॥

- २० प्रथम तो सहजानन्द ने अपने मन्दिरों में राधा की मूर्ति की स्थापना क्यों करी ? और ‘जिनकी बाईं तरफ राधा है’ इत्यादि वाक्यों का सहजानन्द ने किसलिये मनुष्यों को उपदेश किया ? सहजानन्द के शिष्य बुद्धिपूर्वक राधा का दर्शन किसलिये करते हैं ? इस प्रकार के प्रमत्त गीत और वकबाद से सहजानन्द पर अनेक
- २५ प्रकार के दोष लगते हैं ॥१७७॥

“सब इन्द्रियों को जीत लेना, उनमें से विशेष करके रसना इन्द्रिय को जीतना । किसी को द्रव्य का संग्रह करना नहीं । उसी प्रकार किसी को करने भी नहीं देना” ॥१८८॥



साधुभिरेवेन्द्रियजयादिकं कर्तव्यमित्युपदिश्यते भवता । तर्हि भवानसाधुरस्ति किम् ? गृहस्थेन जितेन्द्रियत्वादिकं नैव कर्तव्यं किम् ? ॥१८८॥

न्यासो रक्ष्यो न कस्यापि धैर्यं त्याज्यं न कर्हिचित् ।

न प्रवेशयितव्या च स्ववासे स्त्री कदाचन ॥१९०॥ ५

कस्यचिन्न्यासस्थापनं नैव रक्षणीयञ्चेद्, विद्याधर्मेश्वरप्रार्थना-स्तुत्युपासना नैव स्थाप्याः किम्? वेदयुक्तिधर्मविरुद्धस्य स्वसम्प्रदायस्य-स्थापनं किमर्थं क्रियते? सहजानन्देन च किमर्थं कृतम् ? किन्त्वीदृशस्य पाखण्डस्य खण्डनमेव सर्वैः कर्तव्यं, सद्धर्ममण्डनञ्चेति ॥१९०॥

इति संक्षेपतो धर्माः सर्वेषां लिखिता मया । १०

सांप्रदायिकग्रन्थेभ्यो ज्ञेय एषां तु विस्तरः ॥२०३॥

‘इति संक्षेपतः’ इति, धर्मस्य तु लेशमात्रमपि प्रतिपादनं नैवात्र कृतम् । किन्तु स्वकपोलकल्पनेन स्वभ्रान्तिः प्रकाशिता दृश्यते । वेदादिषु धर्मो यथावल्लिखितोऽस्तीति, तज्ज्ञानमेव सहजानन्दस्य

सिर्फ साधु ही जितेन्द्रिय होवे, ऐसा जो तुम उपदेश देते हो, १५ तो तुम क्या असाधु हो ? तुम्हारे विचार से क्या गृहस्थ जितेन्द्रिय न होवें ? ॥१८८॥

“किसी की स्थापना करनी नहीं । धैर्य का त्याग करना नहीं । और अपने रहने की जगह में परस्त्री को आने देना नहीं चाहिये” ॥१९०॥

ऊपर कहा कि किसी को स्थापन न करें । तो क्या विद्या धर्म २० ईश्वर-प्रार्थना स्तुति और उपासना का स्थापन नहीं करना चाहिये ? वेद-धर्म-युक्तिविरुद्ध सम्प्रदायों का स्थापन किसलिये करना चाहिये ? और सहजानन्द ने इस प्रकार के सम्प्रदायों का किसलिये स्थापन किया ? सब मनुष्यों को इस प्रकार के पाखण्डों का खण्डन और सत्यधर्म का मण्डन अवश्य करना चाहिये ॥१९०॥ २५

“इस प्रकार मैंने सब मनुष्यों का धर्म संक्षेप से लिखा है । और इन धर्मों का विस्तारपूर्वक वर्णन सम्प्रदाय के ग्रन्थों में से समझ लेना” ॥२०३॥

धर्म का तो लेशमात्र भी प्रतिपादन किया नहीं । किन्तु अपनी कपोलकल्पना से अपनी भ्रान्ति का प्रकाश किया दीखता है । वेदादि-शास्त्रों में जो यथावत् धर्म लिखा है, उसका ज्ञान सहजानन्द को ३०



- नास्ति । लिखितस्य धर्मस्य पुनर्लेखनं व्यर्थमेव पिष्टपेषणवद्दोषात् । सर्वेषां मनुष्याणां सनातनः साम्प्रदायिको ग्रन्थो वेद एवास्ति । पुनः शिक्षापत्र्यादिग्रन्थरचनं व्यर्थमेव विज्ञेयम् । विस्तर इत्यशुद्धं किन्त्वत्र विस्तार इति भवितव्यम् । 'प्रथमे चावशब्दे' इति व्याकरणनियमात् ।
- ५ कथनश्रवणोपाधावेव विस्तरेति भवितव्यं, नान्यत्रेति निश्चयः ॥२०३॥

सच्छास्त्राणां समुद्धृत्य सर्वेषां सारमात्मना ।

पत्रोयं लिखिता नृणामभीष्टफलदायिनी ॥२०४॥

- सहजानन्दस्य सच्छास्त्राणां बोधोऽध्ययनञ्चापि नासीदिति विज्ञायते । वेदविरुद्धपाषाणादिमूर्तिपूजनं कण्ठीतिलकधारणञ्चेत्यादि-
- १० मिथ्याप्रतिपादनादसारभूतेयम्पत्री लिखितेति विज्ञायते । 'अभीष्ट-फलदायिनी' इति प्रलोभनमात्रम् । सर्वेषामभीष्टं सुखमेव भवति, न च दुःखम् । तत्तु शिक्षापत्रीपाठादिना सर्वदा सुखङ्कृतुं मनुभव-विरुद्धमेव । ईदृक्कथनेन सहजानन्दे लोभादयो दोषा विज्ञायन्ते । प्रलोभनेन विना सम्प्रदायस्य वृद्धिर्न भवति । तद्वृद्ध्या विना प्रतिष्ठा

- १५ बिलकुल नहीं था । लिखे हुये धर्म का फिर से लिखना व्यर्थ है । क्योंकि ऐसा करने से दले हुये को दलने के समान है । मनुष्यमात्र का सनातन साम्प्रदायिक ग्रन्थ वेद ही है । और शिक्षापत्री आदि ग्रन्थ सब मिथ्या हैं । 'विस्तर' शब्द व्याकरणनियम से अशुद्ध है । 'विस्तार' की जगह 'विस्तार' शब्द लिखना चाहिये । कथन श्रवण
- २० आदि अर्थों में ही 'विस्तर' शब्द का प्रयोग होता है ॥२०३॥
- "मैंने सब सत्यशास्त्रों का सार निकालके मनुष्यों को इष्ट फल की देनेवाली यह शिक्षापत्री लिखी है" ॥२०४॥

- सहजानन्द को सत्यशास्त्रों का बोध तो था ही नहीं, तथा इसने कुछ अध्ययन भी नहीं किया था । क्योंकि इसने वेद और युक्ति-
- २५ विरुद्ध पाषाण आदि मूर्तिपूजन, कण्ठी-तिलक-धारण आदि भ्रष्ट कर्मों का प्रतिपादन किया है । शिक्षापत्री में सार की जगह असार वर्णन किया है । शिक्षापत्री लोभ-विषय में तो इष्ट फलदायक है, परन्तु शिक्षापत्री का पाठ करने से सर्वदा सुखप्राप्ति होती है, यह अनुभवरहित बात है । सहजानन्द के ऐसे-ऐसे वचनों से सहजानन्द
- ३० लोभी ठहरता है । लोभ के विना सम्प्रदाय की वृद्धि होती नहीं, और वृद्धि न होय, तो प्रतिष्ठा और धनप्राप्ति भी न होय । और जो



धनप्राप्तिश्च न भवति । पुनर्यथेष्टं विषयसुखं न लभ्यते हीति सहजा-  
नन्दस्य बुद्धौ कपटमासीदिति विज्ञेयम् ॥२०४॥

वर्त्तिष्यन्ते य इत्थं हि पुरुषा योषितस्तथा ।

ते धर्मादिचतुर्वर्गसिद्धिं प्राप्स्यन्ति निश्चितम् ॥२०६॥

पाषाणादिमूर्त्तिपूजनादिपाखण्डेन सह ये पुरुषाः स्त्रियश्च ५  
वर्त्तिष्यन्ते, ते धर्मार्थकाममोक्षसिद्ध्यन्तु न प्राप्स्यन्ति, किन्त्वधर्मा-  
नर्थकुकामदृढबन्धसिद्धिमेव प्राप्स्यन्तीति निश्चयः ॥२०६॥

नेत्थं य आचरिष्यन्ति ते त्वस्मत्संप्रदायतः ।

बहिर्भूता इति ज्ञेयं स्त्रीपुंसैः सांप्रदायिकैः ॥२०७॥

पाषाणादिमूर्त्तिपूजनं, कण्ठीतिलकादिपाखण्डचिह्नधारणं कदा- १०  
चित्केनचिदपि नैव कर्त्तव्यम् । इतीत्थं ये वर्त्तन्ते, ते धर्मार्थकाम-  
मोक्षाणां सिद्धिं प्राप्नुवन्त्येव । वेदादिसत्यशास्त्रोक्तं सनातनं  
सत्यं पक्षपातरहितं न्यायं धर्मं हित्वा शिक्षापत्र्यादिकपोलकल्पितान्,  
पक्षपातपिष्टपेषणदोषवद्दूषितान्, सहजानन्दादिरचितान्, वेदपठनमार्ग-

उसकी प्राप्ति न होय, तो इष्ट विषयसुख नहीं मिले । अतः समझना १५  
चाहिये कि सहजानन्द की बुद्धि कपटरूप थी ॥२०४॥

“जो पुरुष अथवा स्त्री इस शिक्षापत्री में कहे धर्मपूर्वक वर्ताव करेंगे,  
उनको अवश्य धर्म अर्थ काम और मोक्ष प्राप्त होंगे” ॥२०६॥

जो मनुष्य पाषाणादि मूर्त्तिपूजनादि पाखण्डों का आचरण करेगा,  
उसको धर्म अर्थ काम और मोक्ष तो प्राप्त नहीं होगा, बल्कि अधर्म २०  
अनर्थ दुष्टइच्छा बन्ध नरक आदि दोष अवश्य प्राप्त होंगे ॥२०६॥

“शिक्षापत्री के अनुकूल जो मनुष्य आचरण नहीं करें, वे अपने सम्प्रदाय  
से बाहर हैं । इस प्रकार मेरे साम्प्रदायिक स्त्री-पुरुषों को समझना  
चाहिये” ॥२०७॥

पाषाण आदि मूर्त्तिपूजन, कण्ठी तिलक आदि पाखण्डरूप चिह्न २५  
कभी कोई धारण न करें । और जो पुरुष इन चिह्नों को धारण नहीं  
करें, सिर्फ उन्हीं पुरुषों को धर्म अर्थ काम और मोक्ष की प्राप्ति होगी ।  
वेदादि सत्यशास्त्रोक्त सनातन सत्य पक्षपातरहित न्यायधर्म का  
त्याग करके सहजानन्द आदिकों के बनाये हुये शिक्षापत्री आदि  
अष्ट और वेदयुक्तिविरुद्ध ग्रन्थों का जिन मनुष्यों ने स्वीकार किया, ३०



विरोधिनो ग्रन्थान् ये स्वीचक्रुः कुर्वन्ति करिष्यन्ति च, तानेव नास्तिकत्व-  
दोषयुक्तान् सत्यधर्मबहिर्भूताञ्छिष्टा विजानीयुरिति सिद्धम् ॥२०७॥

शिक्षापत्र्याः प्रतिदिनं पाठोऽस्या मनुपाश्रितैः ।

कर्त्ता व्योजनक्षरज्ञस्तु श्रवणं कार्यमादरात् ॥२०८॥

- ५ वेदानां पठनं श्रवणञ्च विहाय शिक्षापत्र्यादीनां सहजानन्दादि-  
कपोलकल्पितानां ग्रन्थानां पठनश्रवणे व्यर्थं एवेति वेदितव्यम् ॥२०८॥

वक्रभावे तु पूजैव कार्यास्याः प्रतिवासरम् ।

मद् रूपमिति मद्वाणी मान्येयं परमादरात् ॥२०९॥

- ईदृशस्य जडस्य व्यर्थं पुस्तकस्य पूजाकरणोपदेशोऽयुक्त एव ।  
१० वाणी जीवस्य रूपमेव न भवति कदाचित् । पुनः परमादरात्मान्या  
तु न, किन्तु परमप्रयत्नात्खण्डनीयाऽशुद्धत्वादिति । एतत्कथनेन  
सहजानन्दस्याज्ञानिनो बालान्ध्रामयित्वा कपटेन धनादिकं तेभ्यो  
हर्त्तव्यमित्यभिप्रायः ॥२०९॥

- करते हैं और करेंगे, श्रेष्ठ पुरुष उन सबको सद्धर्मरहित और 'नास्तिक'  
१५ नाम देवें ॥२०७॥

“मेरे आश्रित पुरुष शिक्षापत्री का हररोज पाठ करें । और जो विद्याहीन  
हों, वे प्रीति से उसका श्रवण करें” ॥२०८॥

- वेदों का पढ़ना-लिखना छोड़कर सहजानन्द आदि के बनाये हुये  
शिक्षापत्री आदि कपोलकल्पित पुस्तकों को पढ़ने और सुनने से  
२० अधिक पाप लगता है ॥२०८॥

“और जो श्रवण करना न बने, तो इस शिक्षापत्री की अत्यन्त प्रीति से  
पूजा करें । और इसको मेरी वाणी तथा मेरा रूप जानें” ॥२०९॥

- इस जड़ व्यर्थ पुस्तक की पूजा करने का उपदेश देने में  
अयोग्यता मालूम पड़ती है । वाणी कभी जीवरूप बनती नहीं ।  
२५ ‘परम प्रीति से शिक्षापत्री का सत्कार करें’ ऐसा जो सहजानन्द ने  
कहा, सो सत्कार करने के बदले परम प्रयत्न से इस अशुद्ध पत्रिका  
का खण्डन करें । इस प्रकार कथन में सहजानन्द का मूल मतलब  
अज्ञानी और बालकों को भ्रमाकर उनसे धनादि पदार्थों का छीन  
लेना है ॥२०९॥



युक्ताय सम्पदा दैव्या दातव्येयं तु पत्रिका ।

आसुर्या सम्पदाद्विधाय पुंसे देया न कर्हिचित् ॥२१०॥

यो दैव्या सम्पदा युक्तो जनस्स त्विमां शिक्षापत्रीं कदाचिन्नेव ग्रहीष्यति, तस्मिन्विद्याप्रकाशस्य विद्यमानत्वात् । यस्त्वविद्याद्य-सुरसम्पदयुक्तः स एतां स्वीकरोति । तस्मिन् 'सम्प्रदाह'शब्दवाच्यस्य ५ सम्प्रदायाग्रहान्धकारस्य विद्यमानत्वात् । सम्यक् प्रकृष्टतया दग्धज्ञाना भवन्ति यस्मिन् सोऽयं 'सम्प्रदाहः' । इदानीन्तनास्सम्प्रदाया वेदविरुद्धाः सर्वे सम्प्रदाहशब्दवाच्या एव वेदितव्या इति परामर्शः ॥२१०॥

(प्र०) मरणसमये स्वशिष्याणां हस्तं गृहीत्वा विमानस्योपरि स्थापयित्वा वैकुण्ठं नयति सहजानन्दः, परमसुखञ्च ददातीति मिथ्या- १० प्रलापः सहजानन्दशिष्यादिमुखाच्छ्रूयते, स सत्यो वा मिथ्या ?

(उ०) मिथ्यैवेति निश्चयः । कथं, यो मृतः स आगन्तुं पूर्वदेहकार्यं कर्तुं च नैव समर्थो भवति । यदि समर्थः स्यात्, तर्हि तत्सम्प्रदाय-स्थैश्छलादिव्यवहारेण धनादिपदार्थाः पुष्कलाः स्वाधीनाः कृताः,

“इस शिक्षापत्री को दैवी मार्गी पुरुष को देवें, किन्तु किसी असुर को १५ न देवें” ॥२१०॥

जो दैवी मार्गी होगा, वह तो शिक्षापत्री को हाथ में पकड़ेगा भी नहीं । जो मनुष्य विद्यारहित असुर सम्प्रदाय का है, वह स्वीकार करता है । उन मनुष्यों के सम्प्रदाय को 'सम्प्रदाह' नाम देना चाहिये । क्योंकि सम्प्रदाय अन्धकाररूप है । जिसमें विद्या और विज्ञान का २० सत्यानाश हो जाय, उस का नाम 'सम्प्रदाह' पड़ता है । वर्त्तमान में जितने वेद-विरुद्ध सम्प्रदाय हैं, उन सब को 'सम्प्रदाह' नाम देना चाहिये ॥२१०॥

प्रश्न - मरण-समय में सहजानन्द अपने शिष्यों का हाथ पकड़ विमान पर चढ़ाके वैकुण्ठ ले जाता है, और परम सुख देता है, २५ इत्यादि गपोड़ा सहजानन्द के शिष्यों के द्वारा सुना जाता है, वह सत्य है कि मिथ्या ?

उत्तर—बिलकुल मिथ्या दीखता है । क्योंकि जो पुरुष मर गया, वह फिर से आकर प्रथम शरीर धारण कर ही नहीं सकता । जो कभी वैसा करने में समर्थ होय, तो सम्प्रदायवालों ने छल-कपट से ३० जो पुष्कल द्रव्य इकट्ठा किया है, उसको भोगने के लिये भी अवश्य



तद्भोगं कर्तुं मप्यवश्यमागच्छेत् । भोगार्थञ्च न चैवागच्छति, किमतो विज्ञायते ? छिन्ननासिकसम्प्रदायवदज्ञानजनमोहार्थं तादृशं कथनं ते कुर्वन्ति । नैतत्सज्जनैर्मन्तव्यमिति ।

- स्वशिष्या लोहादिभिश्चक्रादीनाञ्चिह्नानि रचयित्वाग्नी  
५ प्रतप्य बाहूमूले च सजीवान् देहान् दग्धयन्ति सहजानन्दसम्प्रदाया-  
दिस्थाः अहो महत्पापमिति वेद्यम् । केचित्तु वक्वृत्तिवत् साधवो  
जाताः, ते स्त्रीदर्शनादिकं न कुर्वन्ति धातुस्पर्शञ्च । तदाचार्यो  
गृहस्थोऽस्ति च । स प्रलोभनाद्यनेकमन्दिरादिमिथ्याव्यवहारैर्धनादिकं  
हरति । ते च साधवो हरन्ति, द्वौ विवाहावप्येकः कृतवान् । इदृगन्यथा  
१० व्यवहारो यस्मिन् सम्प्रदाये वर्तते, तस्मिन् सम्प्रदाये कल्याणस्य  
प्रत्याशा केनापि नैव कर्तव्या, इति सज्जनैर्वेदितव्यम् ।

इति सहजानन्दसम्प्रदायस्य दोषदर्शनं दिङ्मात्रमिह वर्णितम् ।  
अधिकञ्च स्वबुद्ध्योहनीयमिति ॥

- सर्वात्मा सच्चिदानन्दोऽजोऽनन्तस्सर्वशक्तिमान् ।  
१५ भूयात्तमां सहायो नो न्यायकारी शुचिः प्रभुः ॥ १ ॥  
भूमिरामाङ्कुचन्द्रेऽब्दे सहस्यस्याऽसिते दले ।  
एकादश्यामर्कवारे ग्रन्थोऽयम्पूर्तिमागम् ॥ २ ॥

- आना चाहिये । अतः समझना चाहिये कि सहजानन्दादि धूर्त अज्ञानी  
मनुष्यों को मोह में डालने के अर्थ ऐसे-ऐसे कथन करते हैं ।  
२० अपने शिष्यों के हाथ पर लोह का खण्ड दागकर चक्र आदि  
चिह्नों के करने से सहजानन्द के सम्प्रदायवालों को अत्यन्त पाप  
लगेगा । जो बगुलाभक्त हैं, वे स्त्रीदर्शन और धातुस्पर्श नहीं करते ।  
गृहस्थ आचार्य लोभ के हेतु से मन्दिर बांध कपट से द्रव्य आदि  
पदार्थों को छीन लेते हैं । दो-दो विवाह करना आदि धर्म जिस  
२५ सम्प्रदाय में होते हों, उसमें कल्याण की आशा किसी सज्जन पुरुष  
को कभी नहीं रखनी चाहिये । [ इस प्रकार हमने सहजानन्द के सम्प्र-  
दाय के दोषों का वर्णन संक्षेप से यहां कर दिया है । और अधिक  
अपनी बुद्धि द्वारा कल्पना कर लेनी चाहिये । ]

- [ वह सर्वव्यापक, सच्चिदानन्दस्वरूप, अज अनन्त, सर्वशक्तिमान्,  
३० न्यायकारी, पवित्र प्रभु सदा हमारा सहायक हो ॥ ]

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य श्रीमद्दयानन्दसरस्वती-  
स्वामिनिर्मितं शिक्षापत्री-ध्वान्त-निवारणं समाप्तम् ॥



---

---

# भा ग व त-ख ण्ड न म्

---

---







ॐ ओ३म् ॐ

## भागवत-खण्डनम्

श्रीमद्भागवतं पुराणं नाम किमस्ति ? कुतः सन्देहः ? द्वे भागवते श्रूयेते—एकं देवीभागवतं, द्वितीयं कृष्णभागवतं चेति । अतो जायते सन्देहः—अनयोः किमस्ति व्यासकृतमिति ? देवीभागवतं श्रीमद्भागवतमस्ति व्यासकृतं च, नान्यत् । कुत एतत् ? शुद्धत्वाद् वेदादिभ्योऽविरुद्धत्वाच्च । अत एव देवीभागवतस्य श्रीमद्भागवतसंज्ञा, नान्यस्य च भागवतस्य । कुत एतत् ? अशुद्धत्वात् प्रमत्तगीतत्वाच्च ।

किञ्च तत्—

“जन्माद्यस्य यतोऽन्वयाद् इतरश्चार्थेष्वभिज्ञः स्वराट्” । १०

इत्यादि निर्मितं यत् । कुत एतदशुद्धम् ? वेदादिभ्यो विरोधात् । कोऽस्ति विरोधः ? सर्वमेव विरुद्धम् । कथम् ?

भाषार्थः—श्रीमद्भागवत नाम का पुराण कौन-सा है ? यह सन्देह क्यों हुआ ? दो भागवत नाम के पुराण सुनाई देते हैं (=उपलब्ध होते हैं) — एक देवीभागवत, और दूसरा कृष्णभागवत । इसलिये सन्देह होता है कि इनमें कौन-सा व्यासकृत है ? देवीभागवत ही श्रीमद्भागवत है, और वही व्यासकृत है, अन्य नहीं । यह क्यों ? शुद्ध होने से, और वेदादि से अविरुद्ध होने से । इसीलिये देवीभागवत की ही श्रीमद्भागवत संज्ञा है, अन्य भागवत की नहीं । यह क्यों ? अशुद्ध होने से, और प्रमत्तगीत (=प्रमादी पुरुष का कहा) होने से । २०

वह (=अशुद्ध और प्रमत्तगीत) क्या है ? जन्माद्यस्य० — इत्यादि निर्मित जो [कुछ है, वह सभी अशुद्ध] है । यह अशुद्ध क्यों है ? वेदादि से विरोध होने के कारण । कौन-सा विरोध है ? सब

१. भागवत स्कन्ध १, अध्याय १, श्लोक १ । अग्रे सर्वत्र संख्यानिर्देश एव करिष्यते । तत्र यथाक्रमं स्कन्धाध्यायश्लोकसंख्या विज्ञेया । २५

२. पुराणों की संख्या अठारह मानी जाती है । दोनों भागवतों की गणना करने पर १६ पुराण-संख्या हो जाती है । इसलिये गणना में एक ही



- “न नानार्थं न भिन्नार्थं नासंहतं न चाधिकम् ।  
न न्यूनं कष्टशब्दं च व्युत्क्रमाभिहितं न च ॥  
नासत्यमतिसत्यं वा सूक्ष्मं सत्यप्रयोजनम् ।  
एतद् दशदोषरहितं वाक्यमुच्चायं लेखनीयं च” ॥’
- ५ इत्युक्तं मार्कण्डेयपुराणे<sup>१</sup> । एतद्दोषवदस्ति प्रमत्तगीतं भागवतम् ।  
अतोऽकथनीयमश्वघणीयं च ।

कथं तर्हि—शुक उक्तवान् इदं भागवतं परीक्षितं प्रति<sup>३</sup> इति ?

- कुछ ही विरुद्ध है । कैसे? ‘अनेक अर्थोंवाला, भिन्न अर्थवाला, संक्षिप्त, अधिक, न्यून, क्लिष्ट शब्द, उलटे क्रम से कथित, असत्य, अतिसत्य, सूक्ष्म सत्य प्रयोजनवाला, इन दश दोषों से रहित वाक्य ही उच्चारण करना और लिखना चाहिये’ ऐसा मार्कण्डेय पुराण में कहा है । इन दोषों से युक्त है प्रमादी पुरुष का कहा हुआ भागवत । इसलिये यह कथा करने और सुनने योग्य नहीं है ।

- [यदि इन दोषों से युक्त भागवत है] तो कैसे ‘शुक (=व्यास-  
१५ पुत्र) ने इस भागवत को परीक्षित के प्रति कहा’ ऐसा कहा जाता है?

भागवत का समावेश हो सकता है । चाहे वह देवीभागवत हो, चाहे कृष्ण-भागवत ।

१. तुलना कार्या—महाभारत शान्ति० ३२० । ८७-८९—अभिन्नार्थम्,  
न चाधिकम्, नाश्लक्ष्णम्, न सन्दिग्धम्, न गुर्वक्षरसंयुक्तम्, न पराङ्मुखसुखम्,  
२० नानृतम्, न त्रिवर्गेण विरुद्धम्, नाप्यसंस्कृतम्, न न्यूनम्, न कष्टशब्दम्, न  
विक्रमाभिहितम्, न शेषम्, न अनुकल्पेन युक्तम्, न निष्कारणम्, न अहेतुकम् ।

२. अत्र मार्कण्डेयपुराणनाम्नोद्धृती दशदोषनिर्देशकौ श्लोकौ मार्कण्डेय-  
पुराणे नोपलब्धावस्माभिः । मार्कण्डेयपुराणे (१।१८)—‘मार्कण्डेयः दशाष्ट-  
दोषरहितो वक्तुम्’ निर्देश उपलभ्यते । स्कन्दपुराणे कुमारिकाखण्डे पञ्च-  
२५ चत्वारिंशत्तमेऽध्याये (बाङ्गसंस्करणे) ‘नवभिर्नवभिश्चैव विमुक्तं वाग्विदूषणैः ।  
नवभिर्बुद्धिदोषैश्च वाक्यं वक्ष्याम्यदोषमत् ॥’ इत्युक्त्वा अष्टादश वाक्यदोषा  
नवबुद्धिदोषाश्च विवृताः । अस्मिन्नेव पुराणे प्रभासखण्डे “दशदोषविवर्जितं  
कथाम्” इति वाक्यं दृश्यते, परन्तु दशवाक्यदोषास्तत्र नोपसंख्यायन्ते ।

३. द्र०—भागवत १।३।४१-४२; तथा भागवत-माहात्म्य अ० १,  
३० श्लोक ११-१३॥



नोक्तवान् । कुतो नोक्तवान् ? शुकस्तु युद्धात् पुरा मोक्षं प्राप्तवान्  
इति महाभारते शान्तिपर्वणि लिखितम् । अतोऽशुद्धमेव—‘शुकः  
परीक्षितं प्रत्युक्तवान्’ इति । तर्हि छायाशुकेन प्रोक्तमिति ? स तु  
गृहस्थो, न नग्नः । व्यासप्रोक्तमस्ति न वा, नैवाम्बरीषशुकप्रोक्तम् ।

“नित्यं भागवतं शृणु ह्यग्रीवशुकप्रोक्तम्” १५

५

‘नित्यं भागवतं शृणु’ इति सर्वं कथनमशुद्धमेव ।

[शुक ने परीक्षित के लिये] नहीं कहा । क्यों नहीं कहा ? शुक  
तो [भारत] युद्ध से पूर्व ही मोक्ष को प्राप्त हो गया था, ऐसा महा-  
भारत के शान्तिपर्व में लिखा है । इसलिये अशुद्ध ही है कि—‘शुक ने  
परीक्षित के लिये [भागवत] कहा’ । तो छायाशुक ने कहा [होगा]? १०  
वह तो गृहस्थ था, संन्यासी नहीं । व्यासप्रोक्त है नहीं, नहीं अम्बरीष-  
शुक का कहा है ।

नित्यं भागवतं शृणु०—इत्यादि श्लोक में ‘नित्य भागवत को  
सुनो’ कहना सारा ही अशुद्ध है ।

१. अध्याय ३३३ ॥ शन्तिपर्वणि शुकस्य मोक्षप्राप्तिकथा निरुक्ता । १५  
शन्तिपर्वस्था सर्वा एव कथा भारतयुद्धानन्तरं युधिष्ठिरं प्रत्युक्ताः । अतो  
भारतयुद्धात् प्रागेव शुको मोक्षं प्राप्तवानिति स्पष्टमेव ।

२. संन्यासीत्यर्थः ।

३. अस्यानेज्यं पाठः प्रतिभाति ।

४. भागवतटीकारम्भे श्रीघरेणोक्तम्—‘पद्मपुराणे च अम्बरीषं प्रति  
पुराणवचनम्—अम्बरीष शुकप्रोक्तं नित्यं भागवतं शृणु’ इति । मुद्रिते पद्म- २०  
पुराणे गौतमाम्बरीषसंवादो नोपलभ्यते, तत्त्वसन्दर्भे श्रीजीवगोस्वामिनाज्यं  
श्लोक उद्धृतः ।

५. नोपलब्धमस्माभिः ।

६. दूषितस्य भागवतस्य नित्यं श्रवणं कार्यमित्येकम्, ह्यग्रीवशुकप्रोक्तं  
शुकप्रोक्तं वा इत्यपरम् । उभे अपि वचने अशुद्धे इति तात्पर्यम् ।

७. इस श्लोक में ‘भागवत को नित्य सुनो’ यह लिखना उसके अशुद्ध  
होने से ठीक नहीं है । और ‘ह्यग्रीवशुक से अथवा शुक से कहा गया’ कथन २५  
भी इतिहास-विरुद्ध होने से अशुद्ध है । इन दो अशुद्धियों की दृष्टि से ‘सर्वम्’  
(सारा) पद का निर्देश किया है ।



अन्येऽपि दोषा सन्ति न वा ? सन्ति बहवो दोषाः । एकदोष-  
वत्तोऽपि ग्रन्थस्य प्रामाण्यं न भवति, कुतो बहुदोषवत्तश्च । तस्मात्  
स्थालीपोलाकन्यायवत् 'प्रमादस्तावद् द्रष्टव्यः—

“ज्ञानं परमं गुह्यं मे यद् विज्ञानसमन्वितम् ।  
स रहस्यं तदङ्गं च गूहाण गदितं मया” ॥<sup>१</sup>

परमं गुह्यं यदस्ति ज्ञानं तद्विज्ञानमेव भवति, पुनर्विज्ञानसम-  
न्वितमितीदं [विशेषणं] व्यर्थमेव । एवं च 'चतुःश्लोक्यशुद्धाऽस्ति ।

“जन्माद्यस्य यतोऽन्वयादि०” ।

यतः कुत इति प्रष्टव्यः? कर्मणो वा कालाद्, आहोस्विद् ईश्व-  
राद् वा कामाद्, आहोस्वित्प्रकृतेर्वा ब्रह्माणः । किञ्चिदपि पूर्वं प्रकृतं  
न दृश्यते । अत एव सर्वमशुद्धं कथनम् ।

अन्य भी दोष हैं वा नहीं ? बहुत से दोष हैं । एक दोष से युक्त  
ग्रन्थ का भी प्रामाण्य नहीं होता, बहुत दोषवाले का कहां से होगा ?  
इसलिये स्थालीपुलाक न्याय से [कतिपय] प्रमाद देखने योग्य हैं—

ज्ञानं परमं गुह्यं मे यद्विज्ञानसमन्वितम्०—यहां जो परम गुह्य  
ज्ञान होता है, वह विज्ञान ही होता है । अतः पुनः 'विज्ञानसमन्वितम्'  
(=विज्ञान से युक्त) यह कथन व्यर्थ है । इसी प्रकार चतुःश्लोकी  
(=चारों श्लोक) अशुद्ध हैं ।

जन्माद्यस्य यतोऽन्वयात्०—यहां 'यतः' (= जिससे) पद का  
अभिप्राय प्रष्टव्य है—कर्म से अथवा काल से, अथवा ईश्वर से वा  
काम से, अथवा प्रकृति से वा ब्रह्म से ? इससे पूर्व कुछ भी प्रकृत  
(=प्रकरण निर्दिष्ट) नहीं है । इसलिये यह सब कथन अशुद्ध है ।<sup>२</sup>

१. 'प्रसादः' इति पूर्वमुद्रितोऽपपाठः ।

२. भाग० २।१।३०॥

३. भाग० २।१।३१-३४॥

४. भाग० १।१।११॥

५. सर्वनाम-संज्ञक पद का निर्देश पूर्व-निर्दिष्ट पद के स्थान पर ही  
होता है । यहां इस श्लोक से पूर्व कुछ भी प्रकृत नहीं है । अतः 'यतः'  
सर्वनामपद का प्रयोग अशुद्ध है ।



“भिक्षुभिर्विप्रवसिते विज्ञानादेष्टुमिस्तव” ।<sup>१</sup>

वसिस्सम्प्रसारणी इति महाभाष्यम् । संवत्सरोषितो भिक्षुः<sup>१</sup> ; प्राप्य पुण्य-कृताँल्लोकान् उषित्वा शाश्वतीः समाः<sup>२</sup> इत्युदाहरणाद् ‘विप्रवसित’ इत्यशुद्धमेव ।

“कथितो वंशविस्तारो भवता सोमसूर्ययोः” ।<sup>३</sup>

५

‘प्रथने वावशब्दे’ [इति] शब्दोपाधौ विस्तरः, अन्यत्र विस्तार एव । कोऽस्ति शब्दोपाधिः ? कथनश्रवणे । विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन, भूयः कथय<sup>०</sup> ; विभूतेर्विस्तरो मया<sup>१</sup> ; नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे<sup>२</sup> ; दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु<sup>३</sup> ; निशामय तदुत्पत्तिं विस्तराद् गदतो मम<sup>४</sup> । एवं सति ‘कथितो वंश- १० विस्तारो भवता’ इत्यशुद्धमेव ।

भिक्षुभिर्विप्रवसिते०—‘वस’ [निवासे] धातु सम्प्रसारण कार्य वाली है, ऐसा महाभाष्य में कहा है । संवत्सरोषितः० ; प्राप्य... --- उषित्वा० आदि उदाहरणों [में ‘उषित’ पद का प्रयोग होने] से ‘विप्रवसितः’ पद अशुद्ध ही है [‘विप्रोषितः’ प्रयोग होना चाहिये] । १५

कथितो वंशविस्तारो०—‘प्रथने वावशब्दे’ इस [पाणिनीय नियम से] शब्द अभिधेय होने पर “विस्तर”, और अन्यत्र “विस्तार” [शब्द ही साधु होता है] । यहां कौनसी शब्दोपाधि है ? कथन और श्रवण [यहां सोम-सूर्यवंश का कथन और श्रवण इष्ट है, अतः विस्तार शब्द का प्रयोग अशुद्ध है] । विस्तरेणात्मनो० ; विभूतेर्विस्तरो मया ; २० नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे ; दैवो विस्तरशः प्रोक्त० ; निशामय तदुत्पत्तिं विस्तराद्० [आदि गीता के श्लोकों में “विस्तर” शब्द ही प्रयुक्त हुआ है। इसलिये] ऐसा प्रयोग होने से ‘कथितो वंशविस्तारो’ [में ‘विस्तार’ शब्द का प्रयोग] अशुद्ध ही है ।

१. भाग० १।६।५॥ ममेति पाठः ।

२५

२. ‘वसिः प्रसारिणी’ इति महाभाष्ये (७।२।१०) पाठः ।

३. अनुपलब्धमूलम् ।

४. गीता ६।४१॥

५. भाग० १०।१।१॥

६. अष्टा० ३।३।३३॥

७. गीता १०।१६॥

८. गीता १०।६०॥

९. गीता १०।१६॥

१०. गीता १६।६॥

३०

११. अनुपलब्धमूलमिदम् ।



“निगमकल्पतरोर्गलितम्” इत्यादि ।

अत्र वेदनिन्दा कृता हि । ‘पतितम्’ इति वक्तव्ये ‘गलितम्’ इत्यशुद्धम्<sup>१</sup> । एका षष्ठी, द्वे पञ्चम्यौ वाऽत्राशुद्धमेव<sup>२</sup> । ‘शृणुत’ इति वक्तव्ये ‘पिबत’ इत्यप्यशुद्धमेव<sup>३</sup> ।

५. “नेमं विरञ्चिर्न भवो न श्रीरप्यङ्गसंश्रया ।  
प्रसादं लेभिरे गोपी यत्तत् प्राप मुक्तिदात्” ॥<sup>४</sup>

निगमकल्पतरो० - इस श्लोक में वेद की निन्दा की है<sup>१</sup> । पतितम् (=गिरा हुआ) ऐसा कहने के स्थान में गलितम् (=गला हुआ) कहना अशुद्ध है<sup>२</sup> । एक षष्ठी [=निगमकल्पतरोः में] अथवा १० दो पञ्चमी [=निगमकल्पतरोः, शुक्मुखात्] का प्रयोग अशुद्ध है<sup>३</sup> । ‘शृणुत’ (=सुनो) ऐसा कहने के स्थान में ‘पिबत’ (=पियो) का प्रयोग भी अशुद्ध है<sup>४</sup> ।

१. भाग० १।१।३॥

२. तरोः फलं पतति, न तु गलति । अतः ‘पतितं फलम्’ इत्येव वाच्यम् ।

- १५ ३. एका षष्ठी - निगमकल्पतरोः । द्वे पञ्चम्यौ वा, एका - (पक्षान्तरे) निगमकल्पतरोः, द्वितीया - शुक्मुखात् । षष्ठीपञ्चम्योरुभयोर्वा पञ्चम्योः परस्परमन्वयाभावाद् अशुद्धत्वं ज्ञेयम् ।

४. अस्मिन्नेव श्लोके (भाग० १।१।३) उत्तरार्धे ‘पिबत’ इत्यस्य स्थाने ‘शृणुत’ इति वक्तव्यम्, भागवतग्रन्थस्य शब्दात्मकत्वात् । नहि शब्दात्मकं २० केनचित् पातुं शक्यते ।

५. भाग० १०।१।२०॥ भागवते ‘नेमं विरञ्ची न भवो’ इति पाठः ।

६. इस श्लोक में भागवत को वेदरूपी वृक्ष का फल = सार कहा है । अर्थात् वेद से भागवत की श्रेष्ठता कही है ।

७. फल के वृक्ष से पृथक् होने में ‘गिरना’ क्रिया का प्रयोग होता है । २५ अतः ‘गलना’ क्रिया का प्रयोग करना अनुचित है ।

८. ‘निगमकल्पतरोः’ में षष्ठी, तथा ‘शुक्मुखात्’ में पञ्चमी का परस्पर कोई अन्वय नहीं होता । यदि ‘निगमकल्पतरोः’ में पञ्चमी मानें, तब भी दोनों पञ्चमियों का परस्पर अन्वय नहीं बनता ।

९. भागवत ग्रन्थ शब्दरूप है । अतः उसके लिये ‘सुनो’ क्रिया का ही प्रयोग ३० होना चाहिये, न कि ‘पियो’ क्रिया का । क्योंकि वह जलवत् द्रव द्रव्य नहीं है ।



अत्रैको नकारो सार्थकः, द्वावनर्थकौ स्तः । निन्दा च कृता  
ब्रह्मादीनां देवक्यादीनां च ।

विप्राद् द्विषड्गुणयुतादरविन्दनाभपादारविन्दमुखाच्छ्वापदं वरिष्ठम् ।

अत्र ब्राह्मणनिन्दा कृता । 'अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते माम-  
बुद्धयः' अस्माद् विरुद्धत्वाद् अशुद्धोऽपि<sup>१</sup> ।

५

“क उत्तमश्लोकगुणानुवादात् पुमान् विरज्येत विना पशुघ्नात् ।”

अत्र वेदविहितकर्मकर्तृणां निन्दा कृता, अर्थाद् वेदानामपि ।

नेमं विरञ्चिर्न० — इसमें एक नकार सार्थक है, और दो अनर्थक  
हैं। तथा इस में ब्रह्मादि देवों और देवकी आदि की निन्दा की है ।

विप्राद् द्विषड्गुणयुताद्० — इस में ब्राह्मणों की निन्दा की है ।<sup>१०</sup>  
तथा 'मूर्ख लोग मुझ अव्यक्त को व्यक्त (=प्रकट) हुआ मानते हैं,'  
इस [गीता के वचन से विरुद्ध<sup>२</sup> होने से अशुद्ध भी है ।

क उत्तमश्लोक० — इस श्लोक में वेदविहित कर्मों के करनेवालों

१. भाग० ७।१।१०॥

२. गीता ७।२४॥

३. गीतायां परब्रह्मणः शरीरग्रहणप्रतिषेध उक्तः । भागवतस्योक्तश्लोके १५  
नाभिपादाद्यङ्गनिर्देशः कृतः ।

४. भाग १०।१।४॥

५. 'पशुघ्न' शब्दो याज्ञिकानां वाचकः, यथा 'गोघ्न'शब्दोऽतिथीनाम् ।  
यथा गोघ्नपदे गवां हिंसा नाभिप्रेता, अपितु तत्प्राप्तिरेवाभिप्रेता । यद्वा—  
तद्वित-प्रयोगाभावेऽपि गोपदेन गोविकाराणां प्राप्तिरुच्यते । आगतायातिथये  
मधुपर्कं उपाह्रियते, मधुपर्कं च गव्यमेव भवति । एवमेव पशुघ्नशब्देनापि २०  
पशुप्राप्तिरेवोच्यते । नहि गवादिपश्वभावे किमपि यज्ञकर्म कर्तुं शक्यते । तत्र  
घृतदुग्धदधीनां प्रयोगविधानात् । अतः पशुघ्नानां याज्ञिकानां निन्दाविधानाद्  
अर्थापत्त्या वेदनिन्दाऽपि क्रियते ।

६. इस श्लोक में निषेधार्थक तीन 'न' हैं । एक 'न' से ही निषेध अर्थ  
की प्रतीति हो जाने से अगले दो 'न' पदों को प्रयोग चिन्त्य है ।

२५

७. इस श्लोक में 'कभलनाम (=विष्णु) के पौरुषी कमलों से विमुख  
अनेक गुणोंवाले विप्र से चाण्डाल को श्रेष्ठ' कहा है । इस प्रकार अर्थापत्ति  
से ब्राह्मणों की निन्दा की है ।

८. परमात्मा के अव्यक्त-स्वरूप होने से उसके पौर आदि की कल्पना  
नहीं हो सकती ।

३०



नास्तिको वेदनिन्दकः' इत्युक्तं मनुना । अत एवायं भागवतस्यास्य कर्ता नास्तिकः ।

“यद्वाग्विसर्गो जनताघविप्लवो यस्मिन् प्रतिश्लोकमबद्धवत्यपि” ।<sup>१</sup>

असम्बद्धोऽयं श्लोकः ।<sup>२</sup>

५ व्यासनारदसंवादे व्यासस्यापि निन्दा कृता—व्यासः शोका-

की निन्दा की है ।<sup>५</sup> अर्थापत्ति से वेद की भी निन्दा है । ‘वेदनिन्दक नास्तिक होता है,’ यह मनु ने कहा है । इसलिये यह इस भागवत का कर्ता नास्तिक है ।

यद्वाग्विसर्गो—यह श्लोक असम्बद्ध है ।<sup>६</sup>

१० व्यास और नारद के संवाद में व्यास की भी निन्दा की है कि—

१. मनु० २।११॥

२. भाग० १।५।११॥ तत्र प्रथमचरणे ‘तद् वाग्विसर्गो’ इति पाठः ।

३. उत्तरार्धे—‘नामान्यनन्तस्य यशोन्वितानि यच्छृण्वन्ति’ इत्युच्यते, पूर्वार्धे च ‘वाग्विसर्गः’ उच्यते । वाग्विसर्गो श्रवणक्रिया न कथमपि सम्भवति,

१५ श्रवणक्रियायां च वाग्विसर्गो न भवितुं शक्नोतीत्यसंबद्धताऽत्र ज्ञेया ।

४. द्र०—भाग० १।४, ५ अ० ।

५. उक्त श्लोक में कहा है कि—‘परम यशस्वी [कृष्ण] के गुणानुवाद से पशुघ्न (=याज्ञिक=यज्ञ करनेवाले) के अतिरिक्त और कौन विमुख हो सकता है’ ? ‘पशुघ्न’ शब्द का मूल अर्थ ‘याज्ञिक’ है, जैसे ‘गोघ्न’ का

२० ‘अतिथि’ । यथा ‘गोघ्न’ में गाय की हिंसा अभिप्रेत नहीं है, अपितु उसकी प्राप्ति अभिप्रेत है (घर आये श्रेष्ठ अतिथि को गोदान का विधान है) । अथवा—गो शब्द से गौ से निष्पन्न दूध दही आदि पदार्थ अभिप्रेत होते हैं, क्योंकि अतिथि को मधुपर्क देने का वैदिक विधान है । मधुपर्क गौ के दही

२५ आदि से ही बनता है । उसी प्रकार याज्ञिक को भी ‘पशुघ्न’ इसलिये कहा जाता है, कि वह अपने घर पशुओं का पालन करता है, और उनके घी दूध दही से यज्ञ करता है । बिना घी-दूध के यज्ञ सम्भव ही नहीं । अतः पशुघ्न=याज्ञिक की निन्दा करने से अर्थापत्ति से वेद की भी निन्दा की है ।

६. इस श्लोक के उत्तरार्ध में ‘यशःसम्पन्नानां नामो यो श्रवणं करोति’ का विधान है । और पूर्वार्ध में ‘वाणी का विसर्ग’ अर्थात् अव्यापार कहा है । वाणी

३० का अव्यापार होने तर श्रवण क्रिया नहीं हो सकती । और श्रवण क्रिया होने पर

वाणी का व्यापाराभाव नहीं माना जा सकता । अतः यह श्लोक असम्बद्ध है ।



तुरोऽभूत्<sup>१</sup>, तत्र नारद आगतः<sup>२</sup>, पुनर्नारदेन बोधित<sup>३</sup> इति । व्यासस्तु नारायणावतार<sup>४</sup> स्तस्य कथं शोकः सम्भवेत् ?

**भस्मासुरकथायां<sup>५</sup> शिवस्यापि निन्दा कृता**—‘भस्मासुरभया-  
च्छिवः कैलासं विहाय वनं गतवान् । पुनर्विष्णुना रक्षितः’ इति । कस्मा-  
दपि त्रैलोक्ये भयं न भवति शिवस्य । यदि कश्चिद् ब्रूयाद्-दत्तवराय ५  
भस्मासुराय दण्डं न दत्तवान् । तर्हि रावणाय दत्तावराय शिवेन  
दण्डः कथं दत्तः ? यस्य क्रोधलेशेन सर्वं पञ्चभूतात्मकं जगद् भस्मी-  
भूतं भवति, तस्य भयं कर्तुं कः समर्थः पुमान् भवेत् ?

**बाणासुरकथायामपि<sup>६</sup> शङ्करस्य निन्दा कृता**—‘कृष्णेन शङ्करः  
पराजितः’<sup>७</sup> इति । कोऽपि शङ्करं पराजितुं समर्थो नास्ति । १०

‘व्यासजी शोकातुर हो गये थे । वहां नारद मुनि पहुँचे, और उन्होंने  
व्यासजी का शोक दूर किया’ । व्यासजी नारायण के अवतार [कहे  
गये हैं, तब] उन्हें शोक कैसे हो सकता है ?

भस्मासुर कथा में शिव को भी निन्दा की है कि—‘भस्मासुर के  
भय से शिव कैलाश छोड़कर वन चले गये । फिर विष्णु ने उनकी १५  
रक्षा की’ । शिव को किसी से भी तीनों लोकों में भय नहीं हो सकता ।  
यदि कोई कहे कि भस्मासुर को वर देने के कारण शिव ने दण्ड नहीं  
दिया । तो वर दिये हुये रावण को शिव ने क्यों दण्ड दिया ? जिस  
शिव के तनिक क्रोध से सारा पञ्चभूतात्मक जगद् भस्म (=प्रलय  
को प्राप्त) हो जाता है, उसको भयभीत करने में कौन मनुष्य समर्थ २०  
हो सकता है ?

बाणासुर की कथा में भी शङ्कर की निन्दा की है कि—‘कृष्ण  
ने शङ्कर को हरा दिया’ । कोई भी शङ्कर को पराजित करने में  
समर्थ नहीं है ।

१. भाग० १।४।३०॥

२. भाग० १। अ० ५, ६॥ २५

३. भाग० १।३।२०—‘ततः सप्तदशो जातः सत्यवत्यां पराशरात्’  
इत्यादिश्लोके विष्णोः सप्तदशोऽवतारो व्यास इति वर्ण्यते ।

४. द्र०—भाग० १०।८८ अ० । भस्मासुरस्य वास्तविकं नाम वृकासुर  
आसीत् । स च शकुनेरसुरस्य पुत्रः । ५. द्र०—भाग० १०।६३ अ० ॥

६. मोहयित्वा तु गिरीशं जूम्भास्त्रेण जूम्भितम् । भाग० १०।६३।१४॥ ३०

७. व्यासजी को नारायण का १७वां अवतार माना है (भा० १।३।२०) ।



गृहस्थानामपि निन्दा कृता कपोतगुरुकरणकथाम्—<sup>२५</sup> गृहस्था-  
श्वसोऽश्रुष्टः इति ।

यथा नदीनदाः सर्वे सागरे यान्ति संस्थितिम् ।

तथैवाश्रमिणः सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम् ॥<sup>१</sup>

श्रेष्ठ एव गृहाश्रमो व्यवहारे । अतोऽश्रुष्ट इति कथनं यत्  
तत्प्रमत्तगीतमेव ।

कृष्णस्यापि निन्दा कृता रासमण्डलचौरलीलाकथायाम्—  
‘परस्त्रीभिर्लीलां कृतवान्, नग्नदारा दृष्ट्वाश्चेति’ ।

गृहस्थियों की भी कपोत-गुरुकरण (= कबूतर की गुसे बनाना)  
१५ कथा में निन्दा की है कि—‘गृहस्थाश्रम बुरा है।’ किन्तु—

‘जैसे छोटी-बड़ी नदियां समुद्र में पहुँच कर स्थिर हो जाती हैं,  
वैसे ही सब आश्रमी (= ब्रह्मचारी, वानप्रस्थी, संन्यासी) गृहस्थ में  
ही आश्रम को प्राप्त होते हैं (अर्थात् इन सब के योगक्षेम का आधार  
गृहाश्रम ही होता है) । [मनु के इस वचन के अनुसार] व्यवहार में  
१५ गृहाश्रम श्रेष्ठ है । उसे बुरा बताना प्रमादी पुरुष का कथन है ।

कृष्ण की भी रासमण्डल और चौरहरण लीला में निन्दा  
की है कि—‘पराई स्त्रियों के साथ लीला की, और नङ्गी स्त्रियों को  
देखा ।’

१ नद्र०—भाग० १०।७।३३ तथा ५२—७४॥

२० २. द०—पुष्पन् कुटुम्बे कृपणः सानुबन्धोऽवसीदति । भाग० १०।७।७३॥

३. मनु० ६।६०॥

४. रासमण्डलकथा—भाग० १० । २६—३३ अ०॥ चौरलीला=चौर-  
हरणलीला—भाग० १०।३२ अ० ॥

५. भाग० १० । अ० ३३—तत्रारभत गोविन्दो रासक्रीडामनुव्रतैः ।

२५ स्त्रीरत्नैरन्वितः प्रीतैरन्योन्याबद्धबाहुभिः ॥२॥ इत आरभ्य २६ श्लोकपर्यन्तं  
रासक्रीडा-द्रष्टव्यम् ।

६. ततो जलाशयात् सर्वा दारिकाः शीतवैपिताः । पाणिभ्यां योनिमा-  
च्छाद्य प्रोत्तेभः शीतकपिताः ॥ भाग० १०।२२।१७ इत्यारभ्य विशालोक-  
पर्यन्तं द्रष्टव्यम् ।



अदक्षमन्ममुपादानं हिंसा चैवाविधानतः ।

परदारोपसेवा च शारीरं त्रिविधं स्मृतम् ॥

पापमिति शेषः ।

नागिनं मुखेनोपघमेन्तृणां नेक्षेत च स्त्रियम् ।

इत्याह भगवान् मनुः । अस्माद्विरोधाल्लोकविरोधाच्च प्रमत्त- ५  
गीतमेतत् ।

आप्तकामो यदुपतिः कृतवान् वै जुगुप्सितम् ।

किमभिप्राय एतन्नः संशयं छिन्धि सुव्रत ॥

अत्रापि कृष्णस्य निन्दा कृता । सर्वज्ञः कृष्णः कदाचिज्जु-  
गुप्सितं कर्म न कुर्यात् ।

सुभद्राहरणकथायां कृष्णार्जुनसुभद्राणां निन्दैव कृता—‘कृष्णः  
कमटरूपिणमर्जुनं महात्मास्तीति केथितवान्’ इति । अर्जुनः कपट-  
रूपं कृतवान् ; सुभद्रापि निन्दितं कर्म कृतवन्ती’ इति ।

किन्तु ‘विना विषे पदार्थो को ग्रहण करना, विधान के बिना  
हिंसा करना, पराई स्त्रियों का सेवन करना, तीन प्रकार का १५  
शारीरिक पाप कहा गया है ।’ और—‘मुख से अग्नि को न फूँके,  
नङ्गी स्त्रियों को न देखे’ ऐसा मनु ने कहा है [मनुस्मृति के साथ]  
विरोध होने से तथा लोक से विरुद्ध होने से [उक्त कथायें] प्रसादी  
पुरुष की कही हुई हैं ।

आप्तकामो यदुपतिः—इस श्लोक में भी कृष्ण की निन्दा की २०  
है । सर्वज्ञ कृष्ण कभी निन्दित कर्म नहीं कर सकता ।

सुभद्राहरण कथा में कृष्ण अर्जुन और सुभद्रा की निन्दा की है  
कि—‘कृष्ण ने कपट रूपधारी अर्जुन को महात्मा बताया, अर्जुन ने

१. मनु० १७।७। २. मनु० ४।५३। ३. भाग० १०।२३।२६।

४. द्र० भाग० १०।८६ अ० ॥

५. एकदा गृहमानीय आतिथ्येन निमन्त्र्य तम् । भाग० १०।८६।५।

६. तल्लिप्सुः संयतिर्भूत्वा त्रिदण्डी द्वारकामगात् । भाग० १०।८६।३।

७. सापि तं चक्रे वीक्ष्य नारीणां हृदयंगमम् । हसन्ती व्रीडितापाङ्गी  
तन्मयस्तहृदयेक्षणा ॥ भाग० १०।८६।७।

८. इस श्लोक में कहा है—‘सब कामनाओं से पूर्ण कृष्ण ने रासक्रीड़ा ३०  
जैसे निन्दित कर्म क्यों किये—’ अर्थात् कृष्ण को  
निन्दित कर्म करनेवाला बताया है ।

९. पौराणिकों के मतानुसार कृष्ण को सर्वज्ञ मानकर यह पंक्ति लिखी है ।



इन्द्रस्यापि गोवर्धनोद्धरणकथायां' निन्दा कृता—'इन्द्रो लज्जितो बभूव' इति ।

अष्टाशीतिसहस्राणामृषीणां महात्मनां निन्दैव कृता सप्ताहोत्थान-  
कथायाम्—'तेषां मध्ये एकोऽपि परीक्षितं समाधातुं समर्थो नेति ।'

५ ब्रह्मणोऽपि वत्सहरणहंसावतरणकथायां' निन्दैव कृता—'अज्ञानी ब्रह्मा' इति ।

ततः पुष्करतः सृष्टस्सर्वज्ञो मूर्तिमान् प्रभुः ।

ब्रह्मा वेदमयः साक्षात् प्रजापतिरनुत्तमः ॥<sup>१</sup>

१० कपट रूप धारण किया, और सुभद्रा ने भी निन्दित कर्म किया ।<sup>१८</sup>  
गोवर्धन-उद्धरण कथा में इन्द्र की भी निन्दा की है—'इन्द्र लज्जित हो गया ।'

सप्ताहोत्थान कथा में अस्सी सहस्र ऋषि-महात्माओं की निन्दा की है कि—'उनमें से एक भी परीक्षित की शङ्का का समाधान करने में समर्थ नहीं हुआ' ।

१५ वत्सहरण और हंसावतरण कथा में ब्रह्मा की भी निन्दा की—'अज्ञानी ब्रह्मा' ऐसा कहा । [किन्तु यह महाभारत के] 'पश्चात् कमल

१. भाग० १०।२५॥

२. कृष्णयोगानुभावं तं निशम्येन्द्रोऽतिविस्मितः । निस्तब्धो भ्रष्ट-  
संकल्पः स्वान् मेघान् स न्यवारयत् ॥ भाग० १०।२५।२४॥

२० ३. भागवत-महात्म्य ५।४१॥

४. अन्वेषणीयम् ।

५. वत्सहरणकथा भाग० १०।१३, १४ अ० ॥ हंसावतरणकथा—भाग०  
११।१३।१६, तथात्रे ।

६. अतः क्षमस्वाच्युत मे रजोभुवो ह्यजानतस्त्वत्पृथगीशमानिनः । अजा-  
वले पान्थतमसोऽन्धचक्षुष एषोऽनुकम्प्यो मयि नाथवानिति ॥ भाग०  
१० । १४।१०॥ एवमेव 'ब्रह्माणमग्रतः कृत्वा पप्रच्छः को भवानिति' ।  
भाग० ११।१३।२०॥

२५

७. अनुपलब्धमूलमिदम् ।

८. भागवत में कहा है कि—'अर्जुन ने सुना कि बलराम सुभद्रा का  
विवाह दुर्योधन से करना चाहते हैं । तो अर्जुन भिक्षु का रूप बनाकर  
द्वारका पहुंचा, और वहां उससे आसन जमाया । कृष्ण ने पहचान  
कर उसे अतिथि (=महात्मा) के रूप में भिक्षा के लिये आमन्त्रित  
किया । सुभद्रा उस भिक्षु के कान्त शरीर को देखकर उस पर  
आसक्त हो गई, इत्यादि ।

३०



इति महाभारतविरोधात् प्रमत्तगीतमेतत् ।

धर्मं चार्थं च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ ।

यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न कुत्रचित् ॥'

महाभारताद् विरुद्धं यत्तन्न व्यासप्रोक्तमिति महाभारते । इदं तु भागवतं महाभारताद् विरुद्धमेवास्ति, तस्मात् प्रमत्तगीतमेव । ५

‘वन्दे महापुरुषचरणारविन्दम्’<sup>३</sup> [इति]

रूपा पृथिवी के निष्पादन के अनन्तर उत्पन्न किया सर्वज्ञ शरीरधारी प्रभु ब्रह्मा को, जो साक्षात् वेदमय और श्रेष्ठतम प्रजापति था' । इस वचन से विरुद्ध होने से [भागवत का ब्रह्मा को अज्ञानी कहना] प्रमादी पुरुष का कथन है । १०

‘धर्मं अर्थं काम और मोक्ष के विषय में हे भरतर्षभ ! जो यहां (=महाभारत में कहा गया) है, वही अन्यत्र (=अन्य ग्रन्थों में) है । जो यहां नहीं है, वह कहीं नहीं है’ । [इस वचन के अनुसार] महाभारत से जो विरुद्ध है, वह व्यासजी का कहा नहीं है, ऐसा महाभारत में [कहा है] । यह भागवत महाभारत से विरुद्ध ही है, १५ इसलिये प्रमत्तगीत है ।

‘वन्दे महापुरुषं’—‘प्रणाम करता हूँ हे महापुरुष ! तुम्हारे चरणारविन्दों को’ यह कथन भी—

१. महाभारत आदि० ६२।५३। चित्रशाला-पूना-संस्करणे—‘न तत् क्वचित्’ इति चतुर्थचरणे पाठः । २०

२. महाभारते कृष्णस्य यच्चरितं व्यासेनोक्तम्, तदत्यन्तं श्रेष्ठं वर्तते । तत्र कृष्णस्य किञ्चिदपि गर्हितं कर्म न निदिष्टम् । द्र०—महाभारते सभापर्वणि अष्टात्रिंशत्तमेऽध्याये भीष्मकृतं कृष्णवर्णनम्, एकचत्वारिंशे चाध्याये शिशुपालकृतं कृष्णदोषवर्णनम् ।

३. भाग० ११।५।३३, ३४ उत्तरार्ध ॥ २५

४. महाभारत में कृष्ण का चरित अत्यन्त श्रेष्ठ कहा है । शिशुपाल जैसे विरोधी को भी कृष्ण के चरित में कहीं भी कोई वास्तविक दोष दिखाने को नहीं मिला । देखिए—महाभारत सभापर्व अ० ३८ में भीष्म द्वारा कृष्णचरितवर्णन । तथा अ० ४० में शिशुपाल द्वारा कृष्णदोषवर्णन । ३०



द्यां मूर्धानं यस्य विप्रा वदन्ति

खं वै नाभिं सोमसूर्यौ च नेत्रे ।

दिशः श्रोत्रे यस्य पादौ क्षितिश्च

ध्यातव्योऽसौ सर्वभूतान्तरात्मा ॥१॥

५ यद्वाचाऽनभ्युदितं यिन वागभ्युद्यते ।

तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥२॥

यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम् ।

तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥३॥

इत्यादिभ्यः श्रुतिभ्यो विरुद्धं चरणारविन्दवन्दनादिकमेव ।

१० अतोऽकथनीयम् अश्रवणीयं चेदं प्रमत्तगीतं भागवतम् ।

पूर्वापरविरुद्धमप्यस्ति—

✓ नृसिंहेन प्रह्लादाय वरः दत्तः—‘एकविंशतिपित्राद्यास्तव मोक्षं गच्छन्तु ।’ पुनश्च प्रसूतेन—‘तावेव रावणकुम्भकर्णौ बभूवतुः’

द्यां मूर्धानं०—द्युलोक को जिसका शिर विप्र लोग कहते हैं, १५ आकाश को नाभि, चन्द्रसूर्य को दोनों नेत्र, दिशाओं को श्रोत्र और जिसके पैर पृथिवी [कहे जाते हैं], जो ध्यान करने योग्य है, वह सब भूलों का अन्तरात्मा [है] ।

यद्वाचा०—जो वाणी से कहा नहीं जा सकता, जिसकी शक्ति से वाणी बोलती है, उसी को ब्रह्म तू जान । नहीं है यह जिसकी तू २० उपासना करता है ।

यन्मनसा०—जो मन से विचारा नहीं जा सकता, जिससे मन शक्ति को प्राप्त कर मन विचारता है, उसी को ब्रह्म तू जान । नहीं है यह जिसकी तू उपासना करता है ।

२५ इत्यादि-श्रुतिओं से विरुद्ध ही है, चरणारविन्द का वन्दन । इसलिये कहने और सुनने योग्य नहीं है, यह प्रमत्तगीत [है] भागवत ।

पूर्वपर विरुद्ध भी है—

नृसिंह ने प्रह्लाद को वर दिया—‘तेरे २१ इक्कीस पितादि मोक्ष

१. वायुपुराण ६।१२०॥ २. केन ७. १।४॥ ३. केन उ० १।१॥

४. त्रिः सप्तभिः पिता-पूतः पितृभिः सह तेऽनघ । भाग० ७।१०।१८॥

३० ५. पुनश्च विप्रशपेन राक्षसौ तौ बभूवतुः । कुम्भकर्णदशग्रीवौ ॥

भा० ७।१०।३६॥



पुनस्तावेव शिशुपालदन्तवक्रौ बभूवतुः" इति च विरुद्धमेव ।

भवान् कल्पविकल्पेषु न विमुह्यति कहिन्नित् ।<sup>१</sup>

इति ब्रह्मणे वरी दत्तो नारायणेन त्वपुनरुक्तम्—'ब्रह्मा मोहितो भूत्वा वत्सहरणं कृतवान्'<sup>२</sup> इति विरुद्धमेव ।

'कृष्णो नग्नो बाणासुरमातरं न दृष्टवान्' । पुनरुक्तं प्रमत्तो—'चीरलीलां कृतवान्' इति विरुद्धमेव ।

भस्मासुरकथायां शिवस्य निन्दां कृत्वा पुनर्विषपानकथायां भवानेव विष्णवादीनामीश्वरः<sup>३</sup> इति विरुद्धमेव ।

को प्राप्त हों । फिर कहा प्रमादी ने—'वे' [हिरण्याक्ष-हिरण्यकश्यप] ही रावण और कुम्भकर्ण हुये । और पुनः वे ही शिशुपाल और दन्त-वक्र हुये । यह कथन परस्पर विरुद्ध ही है ।

भवान् कल्पं—'आप कल्प=सृष्टि और विकल्प=प्रलय में कभी मोह को प्राप्त नहीं होते' । ऐसा ब्रह्मा को वर दिया नारायण ने । पुनः कहा—'ब्रह्मा ने मोहित होकर [गोमों की गोमों के] बछड़ों का हरण किया' यह कथन परस्पर विरुद्ध ही है ।

'कृष्ण ने बाणासुर को नङ्गी माता को नहीं देखा' । पुनः कहा प्रमादी ने—'चीरहरण लीला की' (=उसमें स्नान कर ली हुई स्त्रियों के वस्त्र उठा लिये और वस्त्र लेने के लिये उनको झुङ्गी बाहर आने पर बाध्य किया) । यह कथन परस्पर विरुद्ध ही है ।

भस्मासुर की कथा में शिव की निन्दा करके पुनः विषपान कथा में—'आप ही विष्णु आदि के ईश्वर हैं' [ऐसा कहा] । यह कथन परस्पर विरुद्ध ही है ।

१. ताविहाय पुनर्जाती- शिशुपालकरुण्जौ । भाग ७।१७।३८॥ करुण्जस्यैवापरं नाम दन्तवक्रं आसीत् । ३०—भाग १।२४—श्रुतदेवां तु करुणो वृद्धशर्मा समग्रहीत् । अस्यामभूद् दन्तवक्रः । अविशप्तो दितेः २५ सुतः । कोशीसंस्करण—'करुणो', 'दन्तवक्रः', 'अविशप्तो' पाठा अशुद्धाः सन्ति । २. भाग २।१।३६॥

३०—भागवत १०।१४।६०; पूर्व पृष्ठ ४७६, टि० ५ निर्दिष्टौ श्लोको ।

४. तन्माता कोटरा नाम नग्नो मुक्तशिरोरुहा । ततस्तिर्यङ्मुखो ३० नग्नमनिरीक्षन् गदग्रजः १०।१३।२०, २१॥

५. ३०—भाग १०।२२।१७—२०॥

६. ३०—भाग १०।८८ अ० ॥ ७. भाग ८।७।२०—४५॥

८. भाग ८।७, २१—३७ श्लोकानां आरोप्यम् ।



ऋते ज्ञानान् मुक्तिः' इति श्रुतेः; नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते' इति स्मृतेश्च । एवं सति 'भक्तिरेव मोक्षदात्री' इति वेदादिभ्यो विरुद्धमेव ।

अतः कुग्रन्थस्य भागवताख्यस्यास्य कर्ता मूर्ख एव । अस्मात् कारणात् सुखेऽसुभिः कदाचिद्विदं प्रमत्तगीतं न कथनीयं न श्रोतव्यं चेति सिद्धान्तः । ये तु लोभाच्छ्रावयन्ति मूर्खत्वाच्छृण्वन्ति [च], ते वै नरके पतिष्यन्ति । ये प्रमत्तागीतमिदं भागवतं श्रावयन्ति शृण्वन्ति च, ते सर्वे पाषण्डिनः, अत एक महापातकिनः सन्ति । यश्च कथितवान् वोपदेवः, सोऽपि पाषण्डी, महापातकी चास्ति । अत एव प्रमत्तगीतस्यास्य भागवतस्याध्ययनमध्यापनं श्रवणं च नरकगमनमेव । किं बहुना लेखेन, एतावतैव वेदितव्यं युष्माभिः । एवमेव—

जन्माद्यस्य यतोऽन्वयादितरश्च

‘विना ज्ञान के मुक्ति नहीं होती’ यह श्रुति का [वचन है] । और ‘नहीं ज्ञान के सदृश पवित्र इस संसार में है’ यह स्मृति (=गीता) का [वचन है] । ऐसा होने पर ‘भक्ति ही मोक्षदायिनी है’ यह कथन वेदादि शास्त्रों से विरुद्ध ही है ।

इसलिये भागवत नाम के इस कुग्रन्थ का कर्ता मूर्ख ही है । इस कारण सुख चाहनेवालों को कभी इस प्रमत्तगीत भागवत का कथन और श्रवण नहीं करना चाहिये, यही सिद्धान्त है । जो लोग लोभ से सुनाते हैं, और जो मूर्ख होने से सुनते हैं, वे निश्चय ही नरक में पड़ेंगे । जो इस प्रमत्तगीत भागवत को सुनाते और सुनते हैं, वे सब पाषण्डी हैं, इसलिये वे महापातकी हैं । जिस वोपदेव ने इस भागवत को कहा (=रचा), वह भी पाषण्डी और महापातकी है । इसलिये प्रमत्तगीत इस भागवत का अध्ययन-अध्यापन कथन-श्रवण करना नरक-गमन का कारण है । बहुत लिखने से क्या, इतने से आप लोगों को जान लेना चाहिये । इसी प्रकार ‘जन्माद्यस्य’ आदि श्लोकों से बनाया गया यह भागवत सारा ही अशुद्ध है ।

१. अनुपलब्धमूलम् ।

२. गीता ४।३८।

३. द्र०—भाग०माहात्म्य अ० ६, श्लोक ८३—भक्त्या विमुच्यन्तः ।

३०

भाग० ११।१४।१८—२५ द्रष्टव्य ।

४. भाग० १।१।११।



इत्यादिश्लोकैर्निमित्तमिदं भागवतं सर्वमशुद्धमिति ।

कथं तर्हि श्रीधरादिभिरशुद्धस्योपरि टीका कृता ? अज्ञानात् । कुत एतदज्ञानत्वं तेषु श्रीधरादिषु ? न ज्ञातमशुद्धं तैः, अतोऽज्ञानत्वमेव ।

‘सत्यं परं धीमहि’ इत्यत्र शिष्याभिप्रायं बहुवचनम्<sup>१</sup>, इत्युक्तवान् प्रमत्तः श्रीधर इति । शिष्यास्तु युष्मद्भि वृत्तन्ते, कुतोऽभिप्राय-<sup>५</sup> स्तत्रायातः ? एकोऽपि ब्रूयादेव ‘अहं ब्रवीमि,’ ‘वयं ब्रूमो’ वा, अस्मदो द्वयोश्च<sup>२</sup> इति व्याकरणसूत्रात् । अतोऽशुद्धमेतत्—‘शिष्याभिप्रायं बहुवचनम्’ इति ।

‘अन्यकृतमिति न शङ्कनीयम्’ इत्युक्तं श्रीधरेण । ‘प्राप्तौ सत्यां निषेधः’<sup>३</sup>, अतोऽन्यकृतमेव ।

नायं श्रीधरनामा । कस्तर्हि ? दरिद्राधरनामेवास्ति । कुतः ?

तो श्रीधर ने इस अशुद्ध [भागवत] पर कैसे टीका लिखी ? अज्ञान से । उन श्रीधरादि में यह अज्ञान कैसे [जाना जाये ?] यह अशुद्ध है, ऐसा उन्होंने नहीं जाना, इससे अज्ञान हो है ।

‘सत्यं परं धीमहि’—इसमें ‘शिष्यों के अभिप्राय से बहुवचन है’<sup>१५</sup> ऐसा प्रमादी श्रीधर ने कहा है । शिष्यों का निर्देश ‘युष्मद्’ से होता है, [इसलिये] उनका अभिप्राय कहां से आया ? [अर्थात् उनके अभिप्राय से ‘धीमहि’ में बहुवचन कैसे हो सकता है ?] एक व्यक्ति भी कह सकता है—‘मैं कहता हूं’, अथवा ‘हम कहते हैं’ । अस्मदो द्वयोश्च (=अस्मद् शब्द से दो और एक में बहुवचन का प्रयोग<sup>२०</sup> होता है), इस व्याकरण-सूत्र के नियम से । इसलिये ‘शिष्यों के अभिप्राय से बहुवचन है’ यह कहना अशुद्ध ही है ।

‘यह भागवत अन्यकृत है (=व्यासकृत नहीं है), ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिये’ ऐसा श्रीधर ने लिखा है । ‘प्राप्ति होने पर ही निषेध किया जाता है’ इस न्याय से अन्यकृत ही है [भागवत, ऐसा<sup>२५</sup> जानना चाहिये] ।

यह [भागवत का टीकाकार] श्रीधर (=लक्ष्मी=विद्या का धारण करनेवाला) नामवाला नहीं है, अपितु दरिद्राधर

१. भाग० १।१।१॥ २. भाग० १।१।१ टीकायाम् ।
३. शिष्यान् प्रति, भागवतस्य प्रवचनात्—‘हे शिष्याः ..... वयं सत्यं परं ३० धीमहि, तद्युयं शृणत’ इत्यभिप्रायात् ।
४. ‘धीमहि’ क्रियांशे शिष्याणामन्वयाभावात् । ५. अष्टा० १।२।५६॥
६. लौकिकोऽयं न्यायः ।



मूर्खत्वात् । किं बहुना लेखेन । श्रीधरादीनां ज्ञानमेव नास्ति वेदा-  
दिषु, इति स्थालीपोलाकन्यायवत्लेखनं कृतमस्माभिः । तद् युष्माभि-  
र्वेदितव्यम्—सर्वं भागवतम् शुद्धमिति ।<sup>१</sup>

ब्राह्मणक्षत्रियविदूशूद्रा वर्णाः, ब्रह्मचारिगृहिवनिसंन्यासिन  
५ आश्रमाश्च ज्ञातव्याः । एषां वेदेषु मनुस्मृतौ च धर्मा उक्ताः । एभ्यो  
ये विरोधिनस्ते पाषण्डिन एव । किलक्षणस्ते ? चक्राद्यङ्कन-  
केवलोर्ध्वपुण्ड्रकाष्ठमालाधारिणः । तप्तमुद्रोर्ध्वपुण्ड्रे द्वे नरकवास-  
साधने । तस्मात् त्याज्यमनर्घद्विजैर्नरकभीरुभिरिति जाबालिः—

विभूतिधारणं त्यक्त्वा त्यक्त्वा रुद्राक्षधारणम् ।  
१० मां मा पूजय विश्वेशं शिवलिङ्गरूपिणम् ॥<sup>२</sup>  
इत्याह विष्णुपुराणे ।

‘यज्ञो वै विष्णुः’ इति श्रुतेर्यज्ञकर्ता वैष्णवो नान्यः ।

(=दारिद्र्य—मौख्य का धारण करनेवाला) नामवाला ही है ।  
क्यों ? मूर्ख होने से । बहुत लिखने से क्या ? श्रीधरादि को वेदादि के  
१५ विषय में ज्ञान ही नहीं है, यह हमने स्थाली-पुलाक न्याय से लिखा  
है । इसलिये आप लोगों को जानना चाहिये कि—सारा भागवत ही  
अशुद्ध है ।

ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और शूद्र ये चार वर्ण, तथा ब्रह्मचारी  
गृहस्थ वानप्रस्थ और संन्यासी ये चार आश्रम जानने चाहियें ।  
२० इनके धर्म वेदों तथा मनुस्मृति में कहे हैं । उनसे जो विपरीत हैं,  
वे पाषण्डी ही हैं । उनके क्या लक्षण हैं ? चक्र आदि से शरीर के  
दागने, ऊर्ध्वपुण्ड्र तिलक और काठ (=तुलसी आदि) की माला  
का धारण करनेवाले । गरम चक्र आदि से मुद्रा करना (=दागना)  
और ऊर्ध्वपुण्ड्र तिलक लगाना नरक-गमन के साधन हैं । इसलिये  
२५ ये त्याज्य हैं, नरक से डरनेवाले श्रेष्ठ जनों द्वारा । ऐसा जाबालि  
ने—‘विभूति का धारण छोड़कर मुझ शिवलिङ्गरूपी विश्वेश की  
पूजा मत कर’ । विष्णु पुराण में कहा है ।

‘यज्ञ ही विष्णु है’ ऐसा श्रुति का कथन होने से यज्ञ का करने-  
वाला ही वैष्णव (=विष्णुभक्त) है, अन्य नहीं ।

- ३० १. भागवतं तट्टीका चेत्यभिप्रायः । २. अनुपलब्धमूलमिदम् ।  
३. शत० १३।१।८।८; कौ० ब्रा० ४।२; १।८।८; १४ इत्येवं बहुत्र ।



बृहन्नारदीये पुराणे धर्मभगीरथसंवादे भगीरथं प्रति धर्मराज-  
वाक्यम्—

यस्तु संतप्तप्रशङ्गादिलिङ्गाङ्किततनुर्नरः ।

स सर्वयातनाभागी चाण्डालः कोटिजन्मसु ॥<sup>१</sup>

एतल्लक्षणाः पाषण्डिनः । ये तु पाषण्डिमतविश्वासिनस्तेऽपि ५  
पाषण्डिनः ।

पाषण्डिनो विकर्मस्थान् वैडालव्रतिकान् शठान् ।

हेतुकान् वकवृत्तींश्च वाङ्मात्रेणापि नार्चयेत् ॥<sup>२</sup>

इत्याह मनुः । अत एव वाङ्मात्रेणापि पाषण्डिभिस्सह व्यव-  
हारो न कर्तव्यः । १०

पाषाणादिभूतिपूजनं पाषण्डिमतमेव । कुत एतत् ? वेदादिभ्यो  
विरोधात्—

यद् वाचाऽनभ्युदितं येन वागभ्युद्यते ।

तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥ [१]<sup>३</sup>

यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम् । तदेव ० ॥२॥<sup>४</sup>

११

बृहन्नारदीय पुराण में धर्म-भगीरथ के संवाद में भगीरथ के  
प्रति धर्मराज का वाक्य है—‘जो अत्यन्त तपाये हुए शंख आदि से  
अङ्कित शरीरवाला मनुष्य है, वह सर्व दुःखों का भागी करोड़ों  
जन्म तक चाण्डाल होता है’ । इसलिये इस प्रकार के चिह्नोंवाले  
पाखण्डी हैं । और जो पाखण्डियों के मत के विश्वासी हैं, वे भी २०  
पाखण्डी हैं ।

‘पाखण्डियों, बुरे कर्म करनेवालों, वैडालव्रतवालों, शठों,  
कुतर्कियों और बगुलाभक्तों का वाणीमात्र से भी सत्कार न करे’ ।  
ऐसा मनु ने कहा है । इसलिये वाणीमात्र से भी पाखण्डियों के साथ  
व्यवहार नहीं रखना चाहिये । २५

पाषाणादि भूतियों का पूजन पाखण्डी मत ही है । क्यों ?  
वेदादि से विरुद्ध होने से—

‘जो वाणी से नहीं कहा जाता, जिससे वाणी बोलने में समर्थ  
होती है, उसे ही ब्रह्म तू जान । नहीं है यह, जिसकी उपासना  
करता है’ । ३०

‘जो मन से नहीं विचारा जाता, जिससे मन विचारने में

१. अनुपलब्धमूलमिदम् । २. मनु० ४।३०॥ ३. केन उ० १।४-५॥



यत्प्राणेन न प्राणते येन प्राणः प्रणीयते । तदेव० ॥३॥'

इत्यादिश्रुतिभ्यः । अत एव पाषाणादिकृत्रिम<sup>१</sup> मूर्तिपूजनं वृथैव ।

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः ।<sup>३</sup>

इति भगवद्गीतावचनात् ।

५ किं बहुना लेखेन । एतावतैव सज्जनैर्वेदितव्यम्, विदित्वाऽऽचरणीयमेव ।

दयानन्दसरस्वत्याख्येन स्वामिना निर्मितमिदं पत्रं वेदितव्यं विद्वद्भिरिति । शुभं भवतु वक्तृभ्यश्चोक्तृभ्यश्च ।

१५ वेदोपवेदवेदाङ्गमनुस्मृतिमहाभारतहरिवंशपुराणानां वाल्मीकि-निर्मितस्य रामायणस्य चाध्यापनमध्ययनं कर्तव्यं कारयितव्यं च । एतेषामेव श्रवणं कर्तव्यमिति ॥

समर्थ होता है, उसे ही०' ।

'जो प्राणवायु से जीवित नहीं होता, जिससे प्राण गति करता है, उसे ही० ।'

१५ इत्यादि श्रुतियों से [विरुद्ध है] । इसलिये पाषाण आदि की कृत्रिम मूर्तियों की पूजा व्यर्थ है ।

'मूर्ख लोग अव्यक्त (=अप्रकट रहनेवाले) मुझको व्यक्त (=प्रकट हुआ=शरीर-धारण किया हुआ)मानते हैं' । इस भगवद्गीता के वचन [के विरोध] से भी ।

२० बहुत लिखने से क्या ? इतने से ही सज्जनों को जान लेना चाहिये, और जानकर [उसके अनुसार] आचरण करना चाहिये ।

दयानन्द सरस्वती नाम के स्वामी ने यह [विज्ञापन] पत्र बनाया है, ऐसा विद्वानों को जानना चाहिये । कल्याण हो वक्ताओं और श्रोताओं के लिये ।

२५ वेद उपवेद वेदाङ्ग मनुस्मृति महाभारत हरिवंश पुराण आदि और वाल्मीकि-निर्मित रामायण का पठन-पाठन करना-कराना चाहिये । और इन्हीं का श्रवण करना चाहिये ॥

इति श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीस्वामिना निर्मितस्य भागवतखण्डनस्य युधिष्ठिरमीमांसकविहित आर्यभाषानुवादः समाप्तः ॥

३० १. केन उ० १।१॥

२. 'कृत्रिम' इति पूर्वमुद्रितोऽपपाठः ।

३. गीता ७।२४॥



## परिशिष्ट

### ‘भागवत-खण्डन’ और ‘सत्यार्थ-प्रकाश’ की तुलना

ऋषि दयानन्द ने ‘भागवत-खण्डन’ पुस्तक लिखने के लगभग ८ वर्ष पश्चात् ‘सत्यार्थ-प्रकाश’ नामक ग्रन्थ लिखा। यह संवत् १९३२ (सन् १८७५) में प्रकाशित हुआ। इसके लगभग ७-८ वर्ष पश्चात् ५ संवत् १९३९ में ‘सत्यार्थ-प्रकाश’ का संशोधित संस्करण तैयार किया, जो संवत् १९४० में प्रकाशित हुआ। ग्रन्थकार द्वारा स्वयं संशोधित होने के कारण यद्यपि द्वितीय संस्करण ही प्रामाणिक है, तथापि तुलना के लिये हम यहां दोनों संस्करणों के पाठ उद्धृत करते हैं। ‘सत्यार्थ-प्रकाश’ के दोनों संस्करणों में ‘भागवत पुराण’ के खण्डन में १० जो कुछ लिखा है, उसके कई अंश प्रस्तुत ‘भागवत-खण्डन’ पुस्तक के साथ प्रायः मिलते हैं। यथा—

१. भागवत-खण्डन—शुक तो भारतयुद्ध से पूर्व ही मोक्ष को प्राप्त हो गया था, ऐसा महाभारत के शान्तिपर्व में लिखा है। इसलिये अशुद्ध ही है कि—‘शुक ने परीक्षित के लिये भागवत कहा’। १५

—(पृष्ठ ४६७)

सत्यार्थ-प्रकाश प्र० सं०—शुकाचार्य व्यास जी का पुत्र परीक्षित के जन्म से १०० वर्ष पहले ही मर गया था, परीक्षित का जन्म पीछे भया। सो मोक्षधर्म में महाभारत के लिखा है। फिर जो मनुष्य कहते हैं कि शुकाचार्य ने सप्ताह सुनाया, सो केवल मिथ्या है। २० क्योंकि उस समय शुकाचार्य का शरीर नहीं था। (पृष्ठ ३६५)

२. भागवत-खण्डन—“ज्ञानं परमं गुह्यं मे यद्विज्ञानसमन्वितम्”  
—जो परम गुह्य ज्ञान होता है, वह विज्ञान ही होता है। अतः पुनः

१. यद्यपि ‘भागवत-खण्डन’ मूल रूप से संस्कृत में है, तथापि तुलना के लिये हम उसका आर्यभाषानुवाद ही दे रहे हैं। २५
२. महाभारत शान्तिपर्व के अन्तर्गत मोक्ष-धर्म प्रकरण (अ० ३३३) में भीष्म ने शुकदेव की मोक्ष-प्राप्ति कथा कही है। शान्तिपर्व की समस्त कथायें भारतयुद्ध के पश्चात् भीष्म ने महाराज युधिष्ठिर के प्रति कही हैं।



‘विज्ञान-समन्वितम्’ (=विज्ञान से युक्त कहना) व्यर्थ है। इसी प्रकार चतुःश्लोकी अशुद्ध है। (पृष्ठ ४६८)

सत्यार्थ-प्रकाश प्र० सं०—चतुःश्लोकी सब भागवत का मूल मानते हैं—

५ ज्ञानं परमं गुह्यं मे यद्विज्ञानसमन्वितम् ।

सरहस्यं तदङ्गं च गृहाण गदितं मया ॥

इत्यादिक चार श्लोक बना लिये हैं। क्योंकि परम और गुह्य ये दोनों ज्ञान के विशेषण होने से वही विज्ञान हो जाता है, फिर ‘यद्विज्ञानसमन्वितम्’ यह जो उसका कहना, सो मिथ्या हो जाता है।

१० क्योंकि रहस्य नाम एकान्त और गुह्य का ही है। परमज्ञान के कहने से तदङ्ग अर्थात् मुक्ति का अङ्ग है; यह उसका कहना मिथ्या ही है। क्योंकि परमज्ञान जो होता है, सो मुक्ति का अङ्ग ही होता है। जैसा यह श्लोक मिथ्या है, वैसा भागवत भी मिथ्या है .....। (पृष्ठ ३६५)

१५ सत्यार्थ-प्रकाश द्वि० सं०—अब जिसको ‘श्रीमद्भागवत’ कहते हैं, उसकी लीला सुनो। ब्रह्माजी को नारायण ने चतुःश्लोकी भागवत का उपदेश किया—

ज्ञानं परमं गुह्यं मे यद्विज्ञानसमन्वितम् ।

सरहस्यं तदङ्गं च गृहाण गदितं मया ॥

२० भा० स्कं० २, अ० ९, श्लो० ३०॥  
हे ब्रह्माजी! तू मेरा परम गुह्य ज्ञान, जो विज्ञान और रहस्य युक्त, और धर्म अर्थ काम मोक्ष का अङ्ग है, उसी को मुझसे ग्रहण कर।

जब विज्ञानयुक्त कहा, तो परम अर्थात् [श्रेष्ठ] ज्ञान का विशेषण रखना व्यर्थ है। और गुह्य विशेषण से रहस्य भी पुनरुक्त है।

२५ जब मूल श्लोक अनर्थक है, तो ग्रन्थ अनर्थक क्यों नहीं? (पृष्ठ ३३२; रामलाल कपूर ट्रस्ट संस्क० पृष्ठ ५०२-५०३)

३. भागवत-खण्डन—‘निगमकल्पतरोः’ इस श्लोक में वेद की निन्दा की है। (पृष्ठ ४७०)

सत्यार्थ-प्रकाश प्र० सं०—फिर भी निगमकल्पतरोर्गलितं फलम्

३० इत्यादिक श्लोकों से केवल वेदों की निन्दा की है .....। (पृष्ठ ३६८)

४. भागवत-खण्डन—व्यास और नारद के संवाद में व्यास की

१. भाग० २।१।३१-३४ तक मूल भागवत चतुःश्लोकी। आगे उद्भिध्रयमाण श्लोक चतुःश्लोकी की भूमिकारूप है।



भी निन्द की है कि—‘व्यासजी शोकातुर हो गये थे। वहां नारदमुनि पहुंचे और उन्होंने व्यासजी का शोक दूर किया’। व्यासजी नारायण के अवतार कहे गये हैं, तब उन्हें शोक कैसे हो सकता है ?  
(पृष्ठ ४७२-४७३)

सत्यार्थ-प्रकाश प्र० सं०—व्यासजी ने वेद-वेदाङ्ग विद्याओं को ५ पढ़ लिया ..... फिर भी सरस्वती नदी के तट में एक वृक्ष के नीचे शोकातुर होके जैसे रोते होते वैसे बैठे थे। उस समय में वहां नारद आये.....। नारदजी बोले—‘तुमने भागवत कथा नहीं किई, और ऐसा ग्रन्थ भी कोई नहीं बनाया, जिसमें भागवत कथा हो। सो आप भागवत बनावें कृष्णजी के गुणयुक्त, तब आपका चित्त शान्त होगा’। १० इसमें विचार करना चाहिये कि व्यासजी जो नारायण के अवतार होते, तो उनको अज्ञान शोक और मोह क्यों होता ? और उनको अज्ञानादिक थे। सो अज्ञानी का बनाया जो भागवत, उसका प्रमाण नहीं हो सकता। फिर इस कथा में वेदादिकों की केवल निन्दा आती है, क्योंकि वेदादिकों के पढ़ने से व्यासजी को ज्ञान नहीं १५ भया, तो हम लोगों को कैसे होगा ? (पृष्ठ ३६७-३६८)

५. भागवत-खण्डन—कृष्ण की भी रासमण्डल और चीरहरण लीला में निन्दा की है। पराई स्त्रियों के साथ लीला की, और नंगी स्त्रियों की देखा। (पृष्ठ ४७४)

सत्यार्थ-प्रकाश प्र० सं०—श्रीकृष्ण विद्वान् धर्मात्मा और जिते- २०न्द्रिय थे, ऐसा महाभारत की कथा से यथावत् निश्चित होता है। इस से श्रीकृष्ण की जैसी निन्दा इसने कराई, ऐसी किसी की न होगी। क्योंकि उसने रासमण्डल की कथा लिखी। उसमें ऐसी-ऐसी बात लिखी जिसे यथावत् श्रीकृष्ण की निन्दा होय<sup>१</sup>। इसमें विचारना चाहिये कि श्रीकृष्ण धर्मात्मा थे, ऐसा काम कभी नहीं करेंगे। और २५ जो श्रीकृष्ण ऐसा कर्त्ते, तो कुम्भीपाक से कभी न निकलते। इससे श्रीकृष्ण ने कभी ऐसा काम नहीं किया। क्योंकि वे बड़े धर्मात्मा थे।  
(पृष्ठ ३७०-३७१)

सत्यार्थ-प्रकाश द्वि० सं०—देखो श्रीकृष्णजी का इतिहास महा- ३०भारत में अत्युत्तम है। उनका गुण कर्म स्वभाव और चरित्र आप्त

१. भाग० १।३।२० में व्यास को नारायण का १७वां अवतार कहा है।

२. आगे भागवत में वर्णित रासलीला का संक्षेप से वर्णन किया है।



पुरुषों के सदृश है। जिसमें कोई अधर्म का आचरण श्रीकृष्णजी ने जन्म से मरण-पर्यन्त बुरा काम कुछ भी किया हो, ऐसा नहीं लिखा। और इस भागवतवाले ने अनुचित मनमाने दोष लगाये हैं। दूध दही मक्खन की चोरी लगाई। कुञ्जा दासो से समागम, परस्त्रियों से ५ रासमण्डल में क्रीड़ा आदि मिथ्या दोष श्रीकृष्ण जी में लगाये।

(पृष्ठ ३३६; रामलाल कपूर ट्रस्ट संस्क० पृष्ठ ५०८, ५०९)

६. भागवत-खण्डन—नृसिंह ने प्रह्लाद को वर दिया—तेरे २१ इक्कीस पितादि मोक्ष को प्राप्त हों। फिर कहा प्रमादी ने—वे [हिरण्याक्ष-हिरण्यकश्यप] ही रावण और कुम्भकर्ण हुये, और पुनः १० वे ही शिशुपाल और दन्तवक्र हुये। वह परस्पर विरुद्ध ही है।

(पृष्ठ ४७८-४७९)

सत्यार्थ-प्रकाश प्र० सं०—प्रह्लाद ने कहा कि मेरे पिता का मोक्ष होय। तब नृसिंह बोले कि मेरे वर से २१ पुरुषों का मोक्ष हो गया तेरे पितादिकों का...। फिर उसने लिखा कि हिरण्याक्ष हिरण्यकश्यप ही रावण कुम्भकर्ण, शिशुपाल और दन्तवक्र होते भये। १५ फिर सद्गति किन की भई? यह बड़ी मिथ्या बात है। (पृ० ३६७)

सत्यार्थ-प्रकाश द्वि० सं०—नृसिंह ने [प्रह्लाद को] वर दिया—तेरे इक्कीस पुरुष सद्गति को गये।...और फिर वे ही हिरण्याक्ष हिरण्यकश्यप ही रावण कुम्भकर्ण, पुनः शिशुपाल दन्तवक्र उत्पन्न हुये, तो नृसिंह का वर कहाँ उड़ गया? ऐसी प्रमाद की बातें प्रमादी २० करते-सुनते और मानते हैं, विद्वान् नहीं। (पृष्ठ ३३३-३३४; रामलाल कपूर ट्रस्ट संस्क० पृष्ठ ५०५, ५०६)

७. भागवत-खण्डन—भवान् कल्प०—‘आप कल्प=सृष्टि और विकल्प=प्रलय में कभी मोह को प्राप्त नहीं होते’ ऐसा ब्रह्मा को

१. महाभारत में श्रीकृष्ण का चरित्र विभिन्न स्थानों पर बिखरा हुआ २५ है। पुनरपि ऋषि दयानन्द के उक्त कथन की सत्यता जांचने के लिये हम समापर्व के शिशुपालवध प्रकरण में अ० ३८ के श्लोक ६-२२ तक भीष्म द्वारा वर्णित कृष्ण-चरित्र, तथा अ० ४१ में शिशुपाल द्वारा कथित कृष्णदोष वर्णन की ओर पाठकों का ध्यान आकृष्ट करते हैं। यदि श्रीकृष्ण ने अपने जीवन में कुछ भी बुरा कार्य किया होता (जैसे कि भागवत में बताये हैं), तो ३० शिशुपाल उन्हें गिनाने से कभी न चूकता। परन्तु वह कृष्ण के किसी दुराचरण का निर्देश न कर सका। इससे स्पष्ट है कि श्रीकृष्ण का चरित्र स्फटिक के समान निमल था।



वर दिया नारायण ने। पुनः कहा—‘ब्रह्मा ने मोहित होकर वछड़ों का हरण किया है’ यह विरुद्ध ही है। (पृष्ठ ४७६)

सत्यार्थ-प्रकाश प्र० सं०—ब्रह्माजी को नारायण जी ने वर दिया कि—

भवान् कल्पविकल्पे न विमुष्यति कर्हिचित्।

जब तक सृष्टि है उसका नाम कल्प और जब तक प्रलय बना रहे उसका नाम विकल्प। तो नारायणजी ने ब्रह्माजी से कहा कि तुमको कभी मोह न होगा। फिर वत्सहरण कथा में लिखा कि ब्रह्मा मोहित हो गये और वछड़े को हर लिया। और उनी ब्रह्मा ने तो कहा था कि आप वसुदेव और देवकी के घर में जन्म लीजिए। १० फिर कैसी गाढ़ी भांग पी लिये कि भट भूल गये कि यह गोप है वा विष्णु का अवतार है। और भागवत बनाने वाले ने ऐसा नशा किया कि बड़ा अन्धकार इसके हृदय में है कि ऐसा बड़ा पूर्वापर विरुद्ध लिखता है। (पृष्ठ ३६६-३७०)

सत्यार्थ-प्रकाश द्वि० सं०—ब्रह्माजी को वर दिया था कि— १५

भवान् कल्पविकल्पेषु न विमुह्यति कर्हिचित्। भाग० स्क० २। अ० ६। श्लोक ३६॥

आप कल्प=सृष्टि और विकल्प=प्रलय में भी मोह को कभी न प्राप्त होंगे। ऐसा लिखकर पुनः दशम स्कन्ध में ‘मोहित होके वत्सहरण किया’। इन दोनों में से एक बात सच्ची और दूसरी २० झूठी होकर दोनों झूठी। (पृष्ठ ३३२, रामलाल कपूर ट्रस्ट संस्क० पृष्ठ ५०३)

८. भागवतखण्डन—यह हमने स्थालीपुलाक न्याय से लिखा है। इसलिये आप लोगों को जानना चाहिये कि सारा भागवत ही अशुद्ध है। (पृष्ठ ४८२) २५

सत्यार्थ-प्रकाश प्र० सं०—ऐसी-ऐसी बातें लोगों ने मिथ्या बना लई हैं। और भागवत के विषय में हमने थोड़े से दोष देखाये हैं, परन्तु भागवत सब दोष रूप ही है। (पृष्ठ ३७२)

यहां सत्यार्थ-प्रकाश के प्रथम और द्वितीय संस्करण में भागवत पुराण के खण्डन में से वे अंश उद्धृत किये हैं, जो प्रस्तुत ‘भागवत- ३० खण्डन’ के साथ समानता रखते हैं।



## भागवत की विशेष समीक्षा

भागवत पुराण की विशेष समीक्षा के लिये सत्यार्थ-प्रकाश के संशोधित (द्वितीय) संस्करण देखना चाहिये। यह समीक्षा रामलाल कपूर ट्रस्ट से मुद्रित सत्यार्थ-प्रकाश के पृष्ठ ४६६ पंक्ति २० से ५ पृष्ठ ५०६ पं० ५ तक है। इसमें—

पृष्ठ ५६६, पंक्ति २० से पृष्ठ ५०२ पंक्ति ४ तक भागवत पुराण में लिखी गई सृष्टि-उत्पत्ति की समीक्षा है।

पृष्ठ ५०२ पंक्ति १६ से पृष्ठ ५०३ पंक्ति ४ तक भागवत के ज्ञान परमं गुह्यं श्लोक की समीक्षा है।

१० पृष्ठ ५०३ पंक्ति ५-१० ब्रह्मा के वर मोह को कभी प्राप्त न होंगे की समीक्षा है।

पृष्ठ ५०३ पंक्ति ६ से पृष्ठ ५०४ पंक्ति ७ तक सनकादि ऋषियों द्वारा स्वर्ग के द्वारपाल जय विजय के शाप की विवेचना की की है।

१५ पृष्ठ ५०४ पंक्ति ८ से पृष्ठ ५०६ पंक्ति ५ तक हिरण्यक्ष और हिरण्यकश्यप की तथा प्रह्लाद की कथा की समीक्षा की गई है।

पृष्ठ ५०६ पंक्ति ६-१६ तक पूतना और अक्रूरजी के विषय में भागवत के वर्णन की विवेचना लिखी है।

पृष्ठ ५०६ पंक्ति १७-२४ तक अजामेल और उसके पुत्र २० नारायण की कथा का संकेत किया है।

पृष्ठ ५०७ पंक्ति १-४ तक भागवत में प्रदिशत सुमेरु पर्वत का परिमाण, समुद्र की उत्पत्ति और पृथिवी के परिमाण की असंभवता का उल्लेख है।

पृष्ठ ५०७ पंक्ति ५ से पृष्ठ ५०६ पंक्ति ५ तक भागवत पुराण २५ व्यासकृत नहीं है, किन्तु इसे वोपदेव पण्डित ने बनाया है, यह प्रमाणित किया है।





---

---

# व्यवहारभानुः

---

---



ॐ नमो भगवते वासुदेवाय



# भूमिका



मैंने इस संसार में परीक्षा करके निश्चय किया है कि जो धर्म-युक्त व्यवहार में ठीक-ठीक वर्तता है उसको सर्वत्र सुखलाभ, और जो विपरीत वर्तता है वह सदा दुःखी होकर अपनी हानि कर लेता है। देखिये जब कोई सभ्य मनुष्य विद्वानों की सभा में, वा किसी के पाम जाकर अपनी योग्यता के अनुसार नम्रतापूर्वक नमस्ते आदि करके बैठके दूसरे को वात ध्यान दे सुन, उसका सिद्धान्त जान, निरभिमानी होकर युक्त [उत्तर] प्रत्युत्तर करता है, तब सज्जन लोग प्रसन्न होकर उसका सत्कार, और जो अण्डबण्ड वकता है उसका तिरस्कार करते हैं।

१०

जब मनुष्य धार्मिक होता है, तब उसका विश्वास और मान्य शत्रु भी करते हैं। और जब अधर्मी होता है, तब उसका विश्वास और मान्य मित्र भी नहीं करते। इस से जो थोड़ी विद्या वाला भी मनुष्य श्रेष्ठ शिक्षा पाकर सुशील होता है, उसका कोई भी कार्य नहीं विगड़ता।

१५

इसलिये मैं मनुष्यों को उत्तम शिक्षा के अर्थ सब वेदादिशास्त्र और सत्याचारी विद्वानों की रीति [से] युक्त इस व्यवहारभानु ग्रन्थ को बनाकर प्रकट करता हूँ कि जिस को देख-दिखा पढ़-पढ़ाकर मनुष्य अपने और अपने-अपने सन्तान तथा विद्यार्थियों का आचार अत्युत्तम करें, कि जिस से आप और वे सब दिन सुखी रहें।

इस ग्रन्थ में कहीं-कहीं प्रमाण के लिये संस्कृत और सुगम भाषा लिखी, और अनेक उपयुक्त दृष्टान्त देकर सुधार का अभिप्राय प्रकाशित किया है, कि जिसको सब कोई सुख से समझके अपना-अपना स्वभाव सुधारके सब उत्तम व्यवहारों को सिद्ध किया करें ॥

२५

संवत् १९३६

दयानन्द सरस्वती,

फाल्गुन शुक्ला १५

काशी







❀ ओ३म् ❀

## व्यवहारभानुः

ऐसा किस मनुष्य का आत्मा होगा कि जो सुखों को सिद्ध करनेवाले व्यवहारों को छोड़कर उलटा आचरण करने में प्रसन्न होता हो? क्या यथायोग्य व्यवहार किये बिना किसी को सर्व सुख हो सकता है? क्या मनुष्य अच्छी शिक्षा से धर्म अर्थ काम और मोक्ष फलों को सिद्ध नहीं कर सकता? और इसके बिना पशु के समान होकर दुःखी नहीं रहता है? जिस लिये सब मनुष्यों को सुशिक्षा से युक्त होना अवश्य है, इसलिये यह बालक से लेकर वृद्धपर्यन्त मनुष्यों के सुधार के अर्थ व्यवहार-सम्बन्धी शिक्षा का विधान किया जाता है। १०

[पण्डित के लक्षण]

(प्रश्न)—कैसे पुरुष पढ़ाने और शिक्षा करनेवाले होने चाहियें ?

(उत्तर)—पढ़ानेवालों के लक्षण—

आत्मज्ञानं समारम्भस्तितिक्षा धर्मेनित्यता ।

यमर्था नापकर्षन्ति स वै पण्डित उच्यते ॥१॥

१३

[महाभारत उद्योगपर्व विदुरप्रजागर अ० ३३ । श्लोक १५।]

जिस को परमात्मा और जीव आत्मा का यथार्थ ज्ञान, जो आलस्य को छोड़कर सदा उद्योगी, सुख-दुःखादि का सहन, धर्म का नित्य सेवन करनेवाला हो, जिसको कोई पदार्थ धर्म से छुड़ा कर अधर्म को ओर न खींच सके, वह 'पण्डित' कहाता है ॥१॥ २०

निषेवते प्रशस्तानि निन्दितानि न सेवते ।

अनास्तिकः श्रद्धधान एतत् पण्डितलक्षणम् ॥२॥

[महा० उद्यो० विदुरप्रजागर अ० ३३ । श्लोक १६।]

जो सदा प्रशस्त धर्मयुक्त कर्मों को करने, और निन्दित अधर्म-

१. पण्डित के लक्षणवाले श्लोक 'सत्यार्थ-प्रकाश' समु० ४ पृ० १५८ २५ में व्याख्यात हैं। पण्डित का लक्षण आर्योद्देश्य० नं० ७१ ।

सूचना—यहां तथा आगे सर्वत्र टिप्पणी में 'सत्यार्थ-प्रकाश' की पृष्ठ संख्या रामलाल कपूर ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित आर्यसमाज शताब्दी सं० से दी हैं।



युक्त कर्मों को कभी न सेवनेहारा, जो न कदापि ईश्वर वेद और धर्म का विरोधी, और परमात्मा सत्यविद्या और धर्म में दृढ़ विश्वासी है, वही मनुष्य 'पण्डित' के लक्षणयुक्त होता है ॥२॥

५ क्षिप्रं विजानाति चिरं शृणोति विज्ञाय चार्थं भजते न कामात् ।  
नासंपृष्टो ह्युपयुङ्क्ते परार्थे, तत् प्रज्ञानं प्रथमं पण्डितस्य ॥३॥  
[महा० उद्यो० विदु० अ० ३३ । श्लोक २२]

जो वेदादिशास्त्र और दूसरे के कहे अभिप्राय को शीघ्र ही जानने, दीर्घकाल-पर्यन्त वेदादिशास्त्र और धार्मिक विद्वानों के वचनों को ध्यान देकर सुनकर ठोक-ठीक समझ, तिरभिमानी शान्त होकर दूसरों से प्रत्युत्तर करने, परमेश्वर से लेकर पृथिवीपर्यन्त पदार्थों को जानकर उनसे उपकार लेने में तन मन धन से प्रवृत्त होकर काम क्रोध लोभ मोह भय शोकादि दुष्ट गुणों से पृथक् वर्तमान, किसी के पूछने वा दोनों के संवाद में बिना प्रसङ्ग के अयुक्त भाषणादि व्यवहार न करनेवाला मनुष्य है, यही 'पण्डित' की बुद्धिमत्ता का प्रथम लक्षण है ॥ ३॥

नाप्राप्यमभिवाञ्छन्ति नष्टं नेच्छन्ति शोचिनुम् ।

आपत्सु च न मुह्यन्ति नराः पण्डितबुद्धयः ॥४॥

[महा० उद्यो० विदु० अ० ३३ । श्लोक २३]

जो मनुष्य प्राप्ति होने के अयोग्य पदार्थों की कभी इच्छा नहीं करते, अदृष्ट वा किसी पदार्थ के नष्ट-भ्रष्ट हो जाने पर शोक करने की अभिलाषा नहीं करते, और बड़े-बड़े दुःखों से युक्त व्यवहारों की प्राप्ति में भी मूढ़ होकर नहीं घबराते हैं, वे मनुष्य 'पण्डितों' की बुद्धि से युक्त कहाते हैं ॥४॥

प्रवृत्तवाक् चित्रकथ ऊहवान् प्रतिभानवान् ।

२५ आशु ग्रन्थस्य वक्ता च यः स पण्डित उच्यते ॥५॥

[महा० उद्यो० विदु० अ० ३३ । श्लोक २४]

जिसकी वाणी सब विद्याओं में चलनेवाली, अत्यन्त अद्भुत विद्याओं की कथा को करने, बिना जाने पदार्थों को तर्क से शीघ्र जानने-जानाने सुनी-विचारी विद्याओं को सदा उपस्थित रखने, और जो सब विद्याओं के ग्रन्थों को अन्य मनुष्यों को शीघ्र पढ़ानेवाला मनुष्य है, वही 'पण्डित' कहाता है ॥५॥



श्रुतं प्रज्ञानुगं यस्य प्रज्ञा चैव श्रुतानुगा ।

असंभिन्नार्यमर्यादः पण्डिताख्यां लभेत सः ॥६॥

[महा० उद्यो० विदु० अ० ३३।श्लोक २६]

जिसकी सुनी हुई और पठित विद्या अपनी बुद्धि के सदा अनुकूल, और बुद्धि और क्रिया सुनी-पढ़ी हुई विद्याओं के अनुसार, जो धार्मिक श्रेष्ठ पुरुषों की मर्यादा का रक्षक, और दुष्ट डाकुओं की रीति को विदीर्ण करनेहारा मनुष्य है, वही 'पण्डित' नाम धराने के योग्य होता है ॥६॥

जहां ऐसे-ऐसे सत्पुरुष पढ़ाने और बुद्धिमान् पढ़नेवाले होते हैं, वहां विद्या और धर्म की वृद्धि होकर सदा आनन्द ही बढ़ता जाता है। और जहां निम्नलिखित मूढ़ पढ़ने-पढ़ानेहारे होते हैं, वहां अविद्या और अधर्म की उन्नति होकर दुःख ही बढ़ता जाता है।

(प्र०)—कैसे मनुष्य पढ़ाने और उपदेश करनेवाले न होने चाहियें ?

### मूर्ख के लक्षण

१५

(उ०)—अश्रुतश्च समुन्नद्धो दरिद्रश्च महामनाः ।

अर्थाश्चाकर्मणा प्रेप्सुर्मूढ इत्युच्यते बुधैः ॥१॥<sup>१</sup>

[महा० उद्यो० विदु० अ० ३३।श्लोक ३०]

जो किसी विद्या को न पढ़, और किसी विद्वान् का उपदेश न सुनकर बड़ा घमण्डी, दरिद्र होकर [धन-सम्बन्धी] बड़े-बड़े कामों की इच्छावाला, और बिना [कर्म] किये बड़े-बड़े फलों की इच्छा करनेहारा है ॥१॥

दृष्टान्त—जैसे एक कोई दरिद्र शेखचिल्ली नामक किसी ग्राम में था। वहां किसी नगर का बनिया दश रुपये उधार लेके घी लेने आया था। वह घी लेकर घड़े में भरकर किसी मजूर के खोज में था। वहां शेखचिल्ली आ निकला। उससे पूछा कि इस घड़े को तीन कोस पर ले जाने की क्या मजूरी लेगा? उसने कहा कि—'आठ आने'। बनिया ने कहा कि चार आने लेना हो तो ले। उसने कहा अच्छा।

१. मूर्ख के लक्षणवाले श्लोक 'सत्यार्थ-प्रकाश' समु० ४ पृ० १५६ में व्याख्यात हैं। मूर्ख का लक्षण आर्योद्देश्य० नं० ७२।

३०



शेखचिल्ली घड़ा उठा आगे चला। और बनिया पीछे-पीछे चलता हुआ मन में मनोरथ करने लगा कि दश रुपयों के घी के ग्यारह रुपये आवेंगे। दश रुपये सेठ को दूंगा, और एक रुपया घर की पूंजी रहेगी। वैसे ही दश फरे में दश रुपये हो जायेंगे। इसी प्रकार दश से सौ, सौ से सहस्र, सहस्र से लक्ष, लक्ष से करोड़। फिर सब जगह कोठियां करूंगा, और सब राजा लोग मेरे कर्जदार हो जायेंगे। इत्यादि बड़े-बड़े मनोरथ करने लगा।

और शेखचिल्ली ने विचारा कि चार आने की रई ले सूत कातकर बेचूंगा, आठ आने मिलेंगे। फिर आठ आने से एक रुपया हो जायेगा। फिर वैसे ही एक से दो रुपये होंगे। उससे एक बकरी लूंगा। जब उसके बच्चे-बच्चे होंगे, तब उनको बेच एक गाय लूंगा। उसके बच्चे-बच्चे बेच भैंस लूंगा। उनके बच्चे-बच्चे बेच एक घोड़ी लूंगा। उसके बच्चे-बच्चे बेच एक हथिनी लूंगा। और उसके बच्चे-बच्चे बेच दो बीवियां व्याहूंगा। एक का नाम प्यारी, और दूसरी का नाम बेप्यारी रखूंगा। जब प्यारी के लड़के गोद में बैठने आवेंगे, तब कहूंगा बच्चो ! आओ बैठो। जब बेप्यारी के लड़के आकर कहेंगे कि हम भी बैठें, तब कहूंगा—‘नहीं-नहीं’। ऐसा कहकर शिर हिला दिया। घड़ा गिर पड़ा, फूट गया, और घी भूमि पर फैलके धूली में मिल गया।

बनिया रोने लगा, और शेखचिल्ली भी रोने लगा। बनिये ने शेखचिल्ली को धमकाया कि घी क्यों गिरा दिया, और रोता क्यों है ? तेरा क्या नुकसान हुआ ? (शेखचिल्ली) तेरा क्या बिगाड़ हुआ, तू क्यों रोता है ? (बनिया) मैंने दश रुपये उधार लेकर प्रथम ही घी खरीदा था। उस पर बड़े-बड़े लाभ का विचार किया था। वह मेरा सब बिगड़ गया। मैं क्यों न रोऊं ? (शेखचिल्ली) तेरी तो दश रुपये आदि की ही हानि हुई, मेरा तो घर ही बना-बनाया बिगड़ गया। मैं क्यों न रोऊं ? (बनिया) क्या तेरे रोने से मेरा घी आ जायगा ? (शेखचिल्ली) अच्छा तो तेरे रोने से मेरा घर भी न बन जायगा। तू बड़ा मूर्ख है। (बनिया) तू मूर्ख, तेरा बाप। दोनों आपस में एक-दूसरे को मारने लगे। फिर मार-पीटकर शेखचिल्ली अपने घर की ओर भाग गया। और बनिये ने धूली मिले हुये घी को ठीकरे में उठाकर अपने घर की राह ली।



ऐसे ही स्वसामर्थ्य के बिना अशक्य मनोरथ किया करना मूर्खों का काम है। और जो बिना परिश्रम के पदार्थों की प्राप्ति में उत्साही होता है, उसी मनुष्य को विद्वान् लोग 'मूर्ख' कहते हैं।

अनाहृतः प्रविशति अपृष्टो बहु भाषते।

अविश्वस्ते विश्वसति मूढचेता नराधमः ॥२॥

[महाभारत उद्योगपर्व विदुरप्रजागर अ० ३३। श्लोक ३६]

जो बिना बुलाये जहां-तहां सभादि स्थानों में प्रवेशकर सत्कार और उच्चासन को चाहे, वा ऐसी रीति से बैठे कि सब सत्पुरुषों को उसका आचरण अप्रिय विदित हो, बिना पूछे बहुत अण्डवण्ड बके, अविश्वासियों में विश्वासी होकर सुखों की हानि कर लेवे, वही १० मनुष्य 'मूढबुद्धि' और मनुष्यों में नीच कहाता है ॥२॥

जहां ऐसे-ऐसे मूढ़ मनुष्य पठन-पाठन आदि व्यवहारों को करनेहारे होते हैं, वहां सुखों का तो दर्शन कहां, किन्तु दुःखों की भरमार तो हुआ ही करती है। इसलिये बुद्धिमान् लोग ऐसे-ऐसे मूढ़ों का प्रसंग, वा इनके साथ पठन-पाठनक्रिया को व्यर्थ समझकर, १५ पूर्वोक्त धार्मिक विद्वानों का प्रसंग, और उन ही से विद्या का अभ्यास, और सुशील बुद्धिमान् विद्यार्थियों ही को पढ़ाया करें।

ये विद्वान् और मूर्ख के लक्षण-विधायक श्लोक [महाभारत] विदुरप्रजागर के ३३ अध्याय में एक ही ठिकाने लिखे हैं।

जो विद्या पढ़ें और पढ़ावें, वे निम्नलिखित दोष-युक्त न हों— २०

### विद्यार्थियों के दोष

आलस्यं मदमोहौ च चापल्यं गोष्ठिरेव च ।

स्तब्धता चाभिमानित्वं तथाऽत्यागित्वमेव च ॥

एते वै सप्त दोषाः स्युः सदा विद्यार्थिनां मताः ।

सुखार्थिनः कुतो विद्या नास्ति विद्यार्थिनः सुखम् ।

सुखार्थी वा त्यजेद्विद्यां विद्यार्थी वा त्यजेत् सुखम् ॥

[महा० उद्यो० विदु० अ० ४०। श्लोक ५-७]

आलस्य, अभिमान, नशा करना [वा] मूढ़ता, चपलता, व्यर्थ

१. ये श्लोक सत्यार्थ-प्रकाश समु० ४ पृ० १६० पर व्याख्यात है।



इधर-उधर की अण्ड-बण्ड बातें करना, जड़ता कभी पढ़ना कभी न पढ़ना, अभिमान और लोभ-लालच ये सात ७ विद्यार्थियों के लिये विद्या के विरोधी दोष हैं । क्योंकि जिसको सुख-चैन करने की इच्छा है, उसको विद्या कहां ? और जिसका चित्त विद्या-ग्रहण करने-कराने में लगा है, उसको विषय-सम्बन्धी सुख-चैन कहां ? इसलिये विषय-सुखार्थी विद्या को छोड़े, और विद्यार्थी विषयसुख से अवश्य अलग रहे, नहीं तो परमधर्मरूप विद्या का पढ़ना-पढ़ाना कभी नहीं हो सकेगा ।

ये श्लोक भी महाभारत विदुरप्रजागर अ० ४० में लिखे हैं ।

१०

### ब्रह्मचर्य के गुण

(प्र०) कैसे-कैसे मनुष्य सब विद्याओं की प्राप्ति कर और करा सकते हैं ?

(उ०) ब्रह्मचर्यस्य च गुणं शृणु त्वं वसुधाधिप ।

आजन्ममरणाद्यस्तु ब्रह्मचारी भवेद्विह ॥१॥

१५

न तस्य किञ्चिदप्राप्यमिति विद्धि नराधिप ।

बह्व्यः कोट्यस्त्वृषीणां च ब्रह्मलोके वसन्त्युत ॥२॥

सत्ये रतानां सततं दान्तानामूर्ध्वरेतसाम् ।

ब्रह्मचर्यं दहेद् राजन् सर्वपापान्युपासितम् । ॥३॥

भीष्मजी युधिष्ठिर से कहते हैं कि—हे राजन् ! तू ब्रह्मचर्य के गुण सुन । जो मनुष्य इस संसार में जन्म से लेकर मरण-पर्यन्त ब्रह्मचारी होता है ॥१॥

उसको कोई शुभगुण अप्राप्त नहीं रहता, ऐसा तू जान । जिस के प्रताप से अनेक करोड़ ऋषि ब्रह्मलोक अर्थात् सर्वानन्द-स्वरूप परमात्मा में वास करते, और इस लोक में भी अनेक सुखों को प्राप्त होते हैं ॥२॥

जो निरन्तर सत्य में रमण, जितेन्द्रिय, शान्तात्मा, उत्कृष्ट शुभगुण स्वभावयुक्त, और रोगरहित पराक्रमसहित शरीर, ब्रह्मचर्य अर्थात् वेदादिसत्यशास्त्र और परमात्मा की उपासना का अभ्यास

१. द्र०—महाभारत अनु० पर्व अ० ७५ श्लोक ३४ उत्त० से ३७ पूर्वा० ३० तक । अन्तिम श्लोक सत्यार्थ-प्रकाश समु० ४ पृ० १६१ पर व्याख्यात है ।



कर्मादि करते हैं, उनके वे सत्र उत्तमगुण बुरे काम और दुःखों को नष्ट कर सर्वोत्तम धर्मयुक्त कर्म और सब सुखों की प्राप्ति करानेहारे होते हैं। और इन्हीं के सेवन से मनुष्य उत्तम अध्यापक और उत्तम विद्यार्थी हो सकते हैं ॥३॥

### शूरवीर के लक्षण

५

(प्र०) 'शूरवीर' किन को कहते हैं ?

(उ०) वेदाध्ययनशूराश्च शूराश्चाध्ययने रताः ।

गुरुशुश्रूषया शूराः पितृशुश्रूषयाऽपरे ॥१॥

मातृशुश्रूषया शूरा भैक्ष्यशूरास्तथाऽपरे ।

अरण्यगृहवासे च शूराश्चाऽतिथिपूजने ॥२॥<sup>१</sup>

१०

जो मनुष्य वेदादिशास्त्रों के पढ़ने-पढ़ाने में शूरवीर, जो दुष्टों के दलन और श्रेष्ठों के पालन में शूरवीर, अर्थात् दृढ़ोत्साही उद्योगी, जो निष्कपट परोपकारक अध्यापकों की सेवा करके शूरवीर, जो अपने जनक (=पिता) की सेवा करके शूरवीर ॥१॥

जो माता की परिचर्या से शूर, जो संन्यासाश्रम से युक्त अतिथि-  
रूप होकर सर्वत्र भ्रमण करके परोपकार करने में शूर, जो वान-  
प्रस्थाश्रम के कर्म और जो गृहस्थाश्रम के व्यवहार में शूर होते हैं,  
वे ही सब सुखों के लाभ करने-कराने में अत्युत्तम होके धन्यवाद के  
पात्र होते हैं, कि जो अपना तन मन धन विद्या और धर्मादि  
शुभगुण ग्रहण करने में सदा उपयुक्त करते हैं ॥२॥

२०

(प्र०) 'शिक्षा' किसको कहते हैं ?

(उ०) जिससे मनुष्य विद्या आदि शुभगुणों की प्राप्ति, और  
अविद्यादि दोषों को छोड़के सदा आनन्दित हो सकें, वह 'शिक्षा'<sup>२</sup>  
कहाती है ।

(प्र०) 'विद्या' और 'अविद्या' किसको कहते हैं ?

२५

(उ०) जिससे पदार्थ का स्वरूप यथावत् जानकर उससे उपकार  
लेके अपने और दूसरों के लिये सब सुखों को सिद्ध कर सकें, वह  
'विद्या'। और जिससे पदार्थों के स्वरूप को उलटा जानकर अपना

१. द्र - महाभारत अनु०पर्व अ०७५, श्लोक २५ उत्त० से २७ पूर्वा० तक ।

२. सत्यार्थ-प्रकाश स्वमन्तव्या० पृ० ६२४ ॥ ३. आर्योद्देश्य० नं० १६ ॥ ३०



और पराया अनुपकार कर लेवें, वह 'अविद्या' कहाती है' ।

(प्र०) मनुष्यों को विद्या की प्राप्ति और अविद्या के नाश के लिये क्या-क्या कर्म करना चाहिये ?

(उ०) वर्णोच्चारण से लेकर वेदार्थज्ञान के लिये ब्रह्मचर्य  
५ आदि कर्म करना योग्य है ।

(प्र०) 'ब्रह्मचारी' किसको कहते हैं ?

(उ०) जो जितेन्द्रिय होके ब्रह्म अर्थात् वेदविद्या के लिये, तथा  
आचार्य-कुल में जाकर विद्या-ग्रहण करने के लिये प्रयत्न करे, वह  
'ब्रह्मचारी' कहाता है ।<sup>१</sup>

१० (प्र०) 'आचार्य' किसको कहते हैं ?

(उ०) जो विद्यार्थियों को अत्यन्त प्रेम से धर्मयुक्त व्यवहार  
की शिक्षापूर्वक विद्या होने के लिये तन मन और धन से प्रयत्न  
करे, उसको 'आचार्य'<sup>२</sup> कहते हैं ।

[बालकों को कैसी शिक्षा करें ?]

१५ (प्र०) अपने सन्तानों के लिये मातापिता और आचार्य क्या-  
क्या शिक्षा करें ?

(उ०) मातृमान् पितृमानाचार्यवान् पुरुषो वेद । शतपथब्राह्मण।

अहोभाग्य उस मनुष्य का है कि जिसका जन्म धार्मिक विद्वान्  
माता-पिता और आचार्य के सम्बन्ध में हो । क्योंकि इन तीनों  
२० ही की शिक्षा से मनुष्य उत्तम होता है । ये अपने सन्तान और  
विद्यार्थियों को अच्छी भाषा बोलने, खाने-पीने, बैठने-उठने, वस्त्र  
धारण करने, माता-पिता आदि का मान्य करने, उनके सामने  
यथेष्टाचारी न होने, विरुद्ध चेष्टा न करने आदि के लिये प्रयत्न  
से नित्यप्रति उपदेश किया करें । और जैसा-जैसा उसका सामर्थ्य  
१५ बढ़ता जाय, वैसी-वैसी उत्तम बातें सिखलाते जायें ।

इसी प्रकार लड़के और लड़कियों को पांच वा आठ वर्ष की

१. आर्योद्देश्य० नं० १७ ॥

२. आर्योद्देश्य० नं० ४६ ॥

३. सत्यार्थप्रकाश स्वमन्तव्या० पृ० ६२५; आर्योद्देश्य० नं० ६१;  
संस्कारविधि रालाकट्ट० संस्करण उपनयन प्रकरण टिप्पणी ॥



अवस्थापर्यन्त माता-पिता, और इसके उपरान्त आचार्य की शिक्षा होनी चाहिये।

(प्र०) क्या जैसी चाहें वैसी शिक्षा करें ?

(उ०) नहीं, जो अपने पुत्र-पुत्री और विद्यार्थियों को सुनावें कि सुन मेरे बेटे-बिटिया और विद्यार्थी ! तेरा शीघ्र विवाह करेंगे । ५  
तू इसकी दाढ़ी मूँछ पकड़ ले । इसकी जटा पकड़के ओढ़नी फेंक दे । धौल मार, गाली दे । इसका कपड़ा छीन ले, पगड़ी वा टोपी फेंक दे । खेल कूद, हँस रो । तुम्हारे विवाह में फुलवारी निकालेंगे, इत्यादि कुशिक्षा करते हैं, उनको माता-पिता और आचार्य न समझना चाहिये । किन्तु सन्तान और शिष्यों के पक्के शत्रु और १०  
दुःखदायक हैं । क्योंकि जो बुरी चेष्टा देखकर लड़कों को न घुड़कते और न दण्ड देते हैं, वे क्योंकर माता-पिता और आचार्य्य हो सकते हैं ? क्योंकि जो अपने सामने यथा-तथा बकने, निर्लज्ज होने, व्यर्थ चेष्टा करने आदि बुरे कर्मों से हटाकर विद्या आदि शुभ गुणों के लिये उपदेश नहीं करते, न तन मन धन लगाके उत्तमविद्या व्यवहार १५  
का सेवन कराकर अपने सन्तानों को सदा श्रेष्ठ करते जाते हैं, वे माता-पिता और आचार्य्य कहा कर धन्यवाद के पात्र कभी नहीं हो सकते ।

और जो अपने-अपने सन्तान और शिष्यों को ईश्वर की उपासना, धर्म-अधर्म, प्रमाण-प्रमेय, सत्य मिथ्या पाखण्ड, वेदशास्त्र २०  
आदि के लक्षण और उनके स्वरूप का यथावत् बोध करा, और सामर्थ्य के अनुकूल उनको वेदशास्त्रों के वचन भी कण्ठस्थ करा कर विद्या पढ़ने, आचार्य्य के अनुकूल रहने की रीति भी जना दें, कि जिससे विद्या-प्राप्ति आदि प्रयोजन निर्विघ्न सिद्ध हों, वे ही माता-पिता और आचार्य्य कहाते हैं । २५

### [ विद्या-प्राप्ति के उपाय ]

(प्र०) विद्या किस-किस प्रकार और किन कर्मों से होती है ?

(उ०) 'चतुर्भिः प्रकारैर्विद्योपयुक्ता भवति । आगमकालेन स्वाध्यायकालेन प्रवचनकालेन व्यवहारकालेनेति' ॥

महाभाष्य अ० १।१।१। आ० १॥ ३०

विद्या चार प्रकार से आती है—आगम, स्वाध्याय, प्रवचन

१. सत्यार्थप्रकाश समु० २ ॥



- और व्यवहारकाल । 'आगमकाल' उसको कहते हैं कि जिस से मनुष्य पढ़ानेवाले से सावधान होकर ध्यान देके विद्यादि पदार्थ कर सकें । 'स्वाध्यायकाल' उसको कहते हैं कि जो पठनसमय में आचार्य के मुख से शब्द अर्थ और सम्बन्धों की बातें प्रकाशित हों,
५. उनको एकान्त में स्वस्थचित्त होकर पूर्वापर विचारके ठीक-ठीक हृदय में दृढ़ कर सकें । 'प्रवचनकाल' उसको कहते हैं कि जिससे दूसरे को प्रीति से विद्याओं को पढ़ा सकना । 'व्यवहारकाल' उसको कहते हैं कि जब अपने आत्मा में सत्यविद्या होती है, तब यह करना यह न करना, वही ठीक-ठीक सिद्ध होके वैसा ही
१०. आचरण करना हो सके, ये चार प्रकार हैं ।

- तथा अन्य भी चार कर्म विद्याप्राप्ति के लिये हैं—श्रवण मन निदिध्यासन और साक्षात्कार । 'श्रवण' उसको कहते हैं कि आत्मा मन के और मन श्रोत्र इन्द्रिय के साथ यथावत् युक्त करके अध्यापक के मुख से जो-जो अर्थ और सम्बन्ध के प्रकाश करनेहारे
१५. शब्द निकलें, उनको श्रोत्र से मन और मन से आत्मा में एकत्र करते जाना । 'मनन' उसको कहते हैं कि जो-जो शब्द अर्थ और सम्बन्ध आत्मा में एकत्र हुए हैं, उनका एकान्त में स्वस्थचित्त होकर विचार करना कि कौन शब्द किस अर्थ के साथ, कौन अर्थ किस शब्द के साथ और कौन सम्बन्ध किस-किस शब्द और अर्थ के
२०. साथ सम्बन्ध अर्थात् मेल रखता, और इनके मेल में किस प्रयोजन की सिद्धि, और उलटे होने में क्या-क्या हानि होनी है, इत्यादि । 'निदिध्यासन' उसको कहते हैं कि जो-जो शब्द अर्थ और सम्बन्ध सुने-विचारे हैं, वे ठीक-ठीक हैं वा नहीं, इस बात की विशेष परीक्षा करके दृढ़ निश्चय करना । और 'साक्षात्कार' उसको कहते हैं
२५. कि जिन अर्थों के शब्द और सम्बन्ध सुने-विचारे और निश्चय किये हैं, उनको यथावत् ज्ञान और क्रिया से प्रत्यक्ष करके व्यवहारों की सिद्धि से अपना और पराया उपकार करना आदि विद्या की प्राप्ति के साधन हैं ।

- (प्र०) आचार्य के साथ विद्यार्थी कैसा-कैसा वर्तव करें, और
३०. कैसा-कैसा न करें ?

(उ०) मिथ्या को छोड़के सत्य बोलें । सरल रहें, अभिमान न करें । आज्ञा पालन करें । स्तुति करें, निन्दा न करें । नीचे आसन



पर बैठें, ऊंचे न बैठें। शांत रहें, चपलता न करें। आचार्य की ताड़ना पर प्रसन्न रहें, क्रोध कभी न करें। जब कुछ वे पूछें, तो हाथ जोड़के नम्र होकर उत्तर दें, घमण्ड से न बोलें। जब वे शिक्षा करें, चित्त देकर सुनें, ठट्टे में न उड़ावें। शरीर और वस्त्र शुद्ध रखें, मैले कभी न रखें। जो कुछ प्रतिज्ञा करें, उसको पूरी करें। ५ जितेन्द्रिय हों, लम्पटपन व्यभिचार कभी न करें।

उत्तमों का सदा मान करें, अपमान कभी न करें। उपकार मानके कृतज्ञ हों। किसी के अनुपकारी होकर कृतघ्न न हों। पुरुषार्थी रहें, आलसी कभी न हों। जिस-जिस कर्म से विद्याप्राप्ति हो, उस-उस को करते जायें। जो-जो बुरे काम क्रोध लोभ १० मोह भय शोक आदि विद्याविरोधी हों, उनको छोड़कर सदा उत्तम गुणों की कामना करें। बुरे कर्मों पर क्रोध, विद्याग्रहण में लोभ, सज्जनों में मोह, बुरे कर्मों से भय, अच्छे काम न होने में शोक करके विद्यादि शुभगुणों से आत्मा और वीर्य आदि धातुओं की रक्षा से जितेन्द्रिय हो शरीर का बल सदा बढ़ाते जायें। १५

(प्र०) आचार्य विद्यार्थियों के साथ कैसे वर्तें ?

(उ०) जिस प्रकार से विद्यार्थी विद्वान्, सुशील, निरभिमान, सत्यवादी, धर्मात्मा, आस्तिक, निरालस्य, उद्योगी, परोपकारी, वीर, धीर, गम्भीर, पवित्राचरण, शान्तियुक्त, दमनशील, जितेन्द्रिय, ऋजु, प्रसन्नवदन होकर माता पिता आचार्य अतिथि बन्धु २० मित्र राजा प्रजा आदि के प्रियकारी हों। जब किसी से बातचीत करें, तब जो-जो उसके मुख से अक्षर पद वाक्य निकलें, उनको शान्त होकर सुनके प्रत्युत्तर दें।

जब कभी कोई बुरी चेष्टा, मलिनता, मैले वस्त्रधारण, बैठने-उठने में विपरीताचरण, निन्दा, ईर्ष्या, द्रोह, विवाद, लड़ाई-बखेड़ा, २५ चुगली, किसी पर मिथ्या दोष लगाना, चोरी-जारी, अनभ्यास, आलस्य, अतिनिद्रा, अतिभोजन, अतिजागरण, व्यर्थ खेलना, इधर-उधर अट्ट-सट्ट मारना, विषयसेवन, बुरे व्यवहारों की कथा करना वा सुनना, दुष्टों के सङ्ग बैठना आदि दुष्ट व्यवहार करें, तो उन को यथापराध कठिन दण्ड दें। ३०



इसमें प्रमाण—

सामृतैः पाणिभिर्घ्नन्ति गुरवो न विषोक्षितैः ।

लालनाश्रयिणो दोषास्ताडनाश्रयिणो गुणाः ॥

महाभाष्य अ० ८। पा० १। सू० ८॥

- ५ आचार्य लोग अपने विद्यार्थियों को विद्या और सुशिक्षा होने के लिये प्रेमभाव से अपने हाथों से ताड़ना करते हैं । क्योंकि सन्तान और विद्यार्थियों का जितना लालन करना है, उतना ही उनके लिये विगाड़, और जितनी ताड़ना करनी है उतना ही उनके लिये सुधार है । परन्तु ऐसी ताड़ना न करे कि जिससे अङ्ग-भङ्ग
- १० वा मर्म में लगने से विद्यार्थी वा लड़के-लड़की लोग व्यथा को प्राप्त हो जायं

[हुड़दङ्गा और सज्जन का संवाद]

(प्र०) पठितव्यं तदपि मर्त्तव्यं न पठितव्यं तदपि मर्त्तव्यं दन्तकटाकटेति किं कर्त्तव्यम् ?

- १५ हुड़दङ्गोवाच—हुड़दङ्गा कहता है कि जो पढ़ता है वह भी मरता है, और जो नहीं पढ़ता वह भी मरता है, फिर पढ़ने-पढ़ाने में दांत कटाकट क्यों करना ?

(उ०) न विद्यया विना सौख्यं नराणां जायते ध्रुवम् ।

अतो धर्मार्थमोक्षेभ्यो विद्याभ्यासं समाचरेत् ॥

- २० सज्जन उवाच—सज्जन कहता है कि सुन भाई हुड़दङ्गे ! जो तू जानता है, सो विद्या का फल नहीं कि विद्या के पढ़ने से जन्म-मरण, आंख से देखना, कान से सुनना आदि ये ईश्वरीय नियम अन्यथा हो जायं । किन्तु विद्या से यथार्थ ज्ञान होकर यथायोग्य व्यवहार करने-कराने से आप और दूसरों को आनन्दयुक्त करना
- २५ विद्या का फल है । क्योंकि विना विद्या के किसी मनुष्य को निश्चल सुख नहीं हो सकता । क्या भया किसी को क्षणभर सुख हुआ न हुआ सा है । किसी का सामर्थ्य नहीं है कि जो अविद्वान् होकर धर्म अर्थ

१. यह श्लोक सत्यार्थप्रकाश समु० २ पृ० ५३ पर भी व्याख्यात है ।

२. यह वाक्य सत्यार्थप्रकाश समु० ११, पृ० ५३७ पर भी व्याख्यात है ।



काम और मोक्ष के स्वरूप को यथावत् जानकर सिद्ध कर सके। इस-  
लिये सब को उचित है कि इनकी सिद्धि के लिये विद्या का अभ्यास  
तन मन धन से किया और कराया करें।

(हुड़दङ्गा) — हम देखते हैं कि बहुत से मनुष्य विद्या पढ़े हुए  
दरिद्र और भीख मांगते, तथा बिना पढ़े हुए राज्य धन का आनन्द ५  
भोगते हैं।

(सज्जन) — सुनो प्रिय ! सुख-दुःख का योग आत्मा में हुआ  
करता है। जहां विद्यारूप सूर्य का अभाव और अविद्यान्धकार का  
भाव है, वहां दुःखों की तो भरमार, सुख की क्या ही कथा कहना  
है ? और जहां विद्यार्क प्रकाशित होकर अविद्यान्धकार को नष्ट कर १०  
देता है, उस आत्मा में सदा आनन्द का योग और दुःख को ठिकाना  
भी नहीं मिलता है। हुड़दङ्गा शिर धुनकर चुप हो गया।

(प्र०) आचार्य किस रीति से विद्या और सुशिक्षा का ग्रहण  
करावें, और विद्यार्थी लोग करें ?

(उ०) आचार्य समाहित होकर ऐसी रीति से विद्या और सुशिक्षा १५  
करें कि जिससे उसके आत्मा के भीतर सुनिश्चित अर्थ होकर उत्साह  
ही बढ़ता जाये। ऐसी चेष्टा वा कर्म कभी न करें कि जिसको देख  
वा करके विद्यार्थी अधर्मयुक्त हो जावें। दृष्टान्त, हस्तक्रिया, यन्त्र,  
कलाकौशल, विचार आदि से विद्यार्थियों के आत्मा में पदार्थ इस  
प्रकार साक्षात् करावें कि एक के जानने से हजारों पदार्थ यथावत् २०  
जानते जायें।

अपने आत्मा में इस बात का ध्यान रखें कि जिस-जिस प्रकार  
से संसार में विद्या धर्माचरण की बढ़ती, और मेरे पढ़ाये मनुष्य  
अविद्वान् और कुशिक्षित होकर मेरी निन्दा के कारण न हो जायें,  
कि मैं ही विद्या के रोकने और अविद्या की वृद्धि का निमित्त गिना २५  
जाऊं। ऐसा न हो कि सर्वात्मा परमेश्वर के गुण कर्म स्वभाव से मेरे  
गुण कर्म स्वभाव विरुद्ध होने से मुझको महादुःख भोगना पड़े।  
धन्य वे मनुष्य हैं कि जो अपने आत्मा के समान सुख में सुख और  
दुःख में दुःख अन्य मनुष्यों का जानकर धार्मिकता को कदापि नहीं  
छोड़ते। इत्यादि उत्तम व्यवहार आचार्य लोग नित्य करते जायें। ३०

विद्यार्थी लोग भी जिन कर्मों से आचार्य की प्रसन्नता होती



जाये, वैसे कर्म करें। जिससे उसका आत्मा सन्तुष्ट होकर चाहे कि ये लोग विद्या से युक्त होकर सदा प्रसन्न रहें। रात-दिन विद्या ही के विचार में लगकर एक-दूसरे के साथ प्रेम से परस्पर विद्या को पढ़ते-पढ़ाते जावें। जहां विषय वा अधर्म की चर्चा भी होती हो, ५ वहां कभी खड़े भी न रहें। जहां-जहां विद्यादि-व्यवहार, और धर्म का व्याख्यान होता हो, वहां से अलग कभी न रहें।

भोजन-छादन ऐसी रीति से करें कि जिससे कभी रोग, वीर्य-हानि वा प्रमाद न बढ़े। जो बुद्धि के नाश करनेवाले नशा के पदार्थ ह, उन को ग्रहण कभी न करें। किन्तु जो-जो ज्ञान बढ़ाने और रोग-  
१० नाश करनेवाले पदार्थ हों, उन्हीं का सेवन सदा किया करें। नित्य-प्रति परमेश्वर का ध्यान, योगाभ्यास, बुद्धि का बढ़ाना, सत्यधर्म की निष्ठा, और अधर्म का सर्वथा त्याग करते रहें। जो-जो पढ़ने में विघ्नरूप कर्म हों, उनको छोड़कर पूर्ण विद्या को प्राप्त करें। इत्यादि दोनों के गुण कर्म हैं।

### १५ [सत्य-असत्य की परीक्षा के उपाय]

(प्र०) सत्य और असत्य का निश्चय किस प्रकार से होता है ? क्योंकि जिसको एक सत्य कहता है, दूसरा उसी को मिथ्या बतलाता है। उसका निर्णय करने में क्या-क्या निश्चित साधन हैं ?

(उ०) पांच हैं। उनमें से प्रथम—ईश्वर, उसके गुण कर्म  
२० स्वभाव, और वेद-विद्या। दूसरा—सृष्टिक्रम। तीसरा—प्रत्यक्षादि आठ प्रमाण। चौथा—आप्तों का आचार, उपदेश, ग्रन्थ और सिद्धान्त। और पांचवां—अपने आत्मा की साक्षी, अनुकूलता, जिज्ञासुता, पवित्रता और विज्ञान।

ईश्वरादि से परीक्षा करना उसको कहते हैं कि जो-जो ईश्वर,  
२५ ईश्वर के न्याय आदि गुण, पक्षपातरहित सृष्टि बनाने का कर्म, और सत्य न्याय दयालुता परोपकारता आदि स्वभाव, और वेदोपदेश से सत्य और धर्म ठहरे वही सत्य और धर्म। और जो-जो असत्य और अधर्म ठहरे, वही असत्य और अधर्म है। जैसे कोई कहे कि

१. ये पांच साधन सत्यार्थ-प्रकाश समु० ३ पृ० ८०-८१; स्वमन्तव्या०  
३० स० ३६ पृ० ६२६; आर्योद्देश्य सं० ८२ में भी लिखे हैं।



बिना कारण और कर्ता के कार्य होता है, सो सर्वथा मिथ्या जानना । इससे यह सिद्ध होता है कि जो सृष्टि की रचना करनेहारा पदार्थ है वही ईश्वर, और उसके गुण कर्म स्वभाव, वेद और सृष्टिक्रम से ही निश्चित जाने जाते हैं ।

दूसरा सृष्टिक्रम उसको कहते हैं कि जो-जो सृष्टिक्रम अर्थात् ५ सृष्टि के गुण कर्म और स्वभाव से विरुद्ध हो वह मिथ्या, और अनुकूल हो वह सत्य कहाता है । जैसे कोई कहे कि बिना मां-बाप के लड़का,<sup>१</sup> कान से देखना, आंख से बोलना आदि होता वा हुआ है, ऐसी-ऐसी बातें सृष्टिक्रम के विरुद्ध होने से मिथ्या, और माता-पिता से सन्तान, कान से सुनना और आंख से देखना आदि सृष्टिक्रम १० के अनुकूल होने से सत्य ही है ।

तीसरा प्रत्यक्ष आदि आठ प्रमाणों से परीक्षा करना उसको कहते हैं कि जो-जो प्रत्यक्षादि प्रमाणों से ठीक-ठीक ठहरे वह सत्य, और जो-जो विरुद्ध ठहरे वह मिथ्या समझना चाहिये । जैसे किसी ने किसी से कहा कि यह क्या है ? दूसरे ने कहा कि पृथिवी, यह 'प्रत्यक्ष' । १५ इसको देखकर इसके कारण का निश्चय करना यह 'अनुमान' । जैसे बिना बनानेहारे के घर नहीं बन सकता, वैसे ही सृष्टि का बनानेहारा ईश्वर भी बड़ा कारीगर है, यह दृष्टान्त 'उपमान' । और सत्योपदेष्टाओं का उपदेश वह 'शब्द' । भूतकालस्थ पुरुषों की चेष्टा, सृष्टि आदि पदार्थों की कथा आदि को 'ऐतिह्य' । एक २० बात को सुनकर बिना सुने-कहे प्रसङ्ग से दूसरी बात को जान लेना, यह 'अर्थपत्ति' । कारण से कार्य होना आदि को 'सम्भव' । और आठवां 'अभाव' अर्थात् किसी ने किसी से कहा कि जल ले आ । उसने वहां जल के अभाव को जानकर तर्क से जाना कि जहां जल है वहां से लाकर देना चाहिये, यह अभाव प्रमाण कहाता है । इन २५ इन आठ प्रमाणों से जो-जो विपरीत न हो वह-वह सत्य, और जो-जो उलटा हो वह-वह मिथ्या है ।

आप्तों के आचार और सिद्धान्त से परीक्षा करना उसको

१. यह नियम मैथुनी सृष्टि का है ।

२. इन ८ प्रमाणों के लक्षण सत्यार्थप्रकाश समु० ३, पृ० ८१-८४; ३० आर्योद्देश्य सं० ८३-८६ में भी हैं ।



कहते हैं कि जो-जो सत्यवादी सत्यकारी सत्यमानी पक्षपातरहित सब के हितैषी विद्वान् सब के सुख के लिये प्रयत्न करें, वे धार्मिक लोग 'आप्त' कहाते हैं। उनके उपदेश आचार ग्रन्थ और सिद्धान्त से जो युक्त हो वह सत्य, और जो विपरीत हो वह मिथ्या है।

५ आत्मा से परीक्षा उसको कहते हैं कि जो-जो अपना आत्मा अपने लिये चाहे, सो-सो सब के लिये चाहना। और जो-जो न चाहे सो-सो किसी के लिये न चाहना। जैसा आत्मा में वैसा मन में, जैसा मन में वैसा क्रिया में होने को जानने-जनाने की इच्छा, शुद्धभाव और विद्या के नेत्र से देखकर सत्य और असत्य का निश्चय करना चाहिये।

१० इन पांच प्रकार की परीक्षाओं से पढ़ने और पढ़नेहारे तथा सब मनुष्य सत्यासत्य का निर्णय करके धर्म का ग्रहण और अधर्म का परित्याग करें और करावें।

(प्र०) 'धर्म' और 'अधर्म' किसको कहते हैं ?

(उ०) जो पक्षपातरहित न्याय सत्य का ग्रहण, असत्य का परि-  
१५ त्याग, पांचों परीक्षाओं के अनुकूल आचरण, ईश्वराज्ञा का पालन, परोपकार करना रूप 'धर्म', और जो इससे विपरीत वह 'अधर्म' कहाता है। क्योंकि जो सब के अविरोध वह 'धर्म', और जो परस्पर विरुद्धाचरण है सो 'अधर्म' क्योंकर न कहायेगा ?

देखो किसी न किसी से पूछा कि सत्य क्या है ? उस को उस  
२० ने उत्तर दिया—जो मैं मानता हूँ। फिर उसने पूछा—और जो वह मानता है, वा जो मैं मानता हूँ, वह क्या है ? उसने कहा कि अधर्म है। यही पक्षपात से मिथ्या और विरुद्धाचार 'अधर्म'। और जब तीसरे ने दोनों से पूछा कि 'सत्य बोलना धर्म अथवा असत्य' ? तब दोनों ने उत्तर दिया कि सत्य बोलना 'धर्म', और असत्य बोलना  
२५ 'अधर्म' है। इसी का नाम 'धर्म' जानो। परन्तु यहां पांच परीक्षा की युक्ति से सत्य और असत्य का निश्चय करना योग्य है।

(प्र०) जब-जब सभा आदि व्यवहारों में जावे, तब कैसे-कैसे वर्तें ?



(उ०) जब सभा में जावे, तब दृढ़ निश्चय कर लेवे कि मैं सत्य को जिताऊँ, और असत्य को हराऊँगा। अभिमान न रखे, अपने को बड़ा न माने। अपनी बात का कोई खण्डन करे, उस पर क्रुद्ध वा अप्रसन्न न हो। जो कोई कहे, उसके वचन को ध्यान देकर सुनके जो उसमें कुछ असत्य भान हो, तो उस अंश का खण्डन अवश्य करे। और जो ५ सत्य हो तो प्रसन्नतापूर्वक ग्रहण करे, बढ़ाई-छोटाई न गिने। व्यर्थ वक्तावद न करे। कभी मिथ्या का पक्ष न करे, और सत्य को कदापि न छोड़े।

ऐसी रीति से बैठे वा उठे कि जिससे किसी को बुरा विदित न हो। सर्वहित पर दृष्टि रखे। जिससे सत्य की बढ़ती और असत्य १० का नाश हो, उसको करे। सज्जनों का संग करे, और दुष्टों से अलग रहे। जो-जो प्रतिज्ञा करे, वह-वह सत्य से विरुद्ध न हो, और उसको सर्वदा यथावत् पूरी करे। इत्यादि कर्म सब सभा आदि व्यवहारों में करे।

(प्र०) 'जड़बुद्धि' और 'तीव्रबुद्धि' किसको कहते हैं ? १५

(उ०) जो आप तो समझ ही न सके, परन्तु दूसरे के समझाने से भी न समझे, वह 'जड़बुद्धि'। और जो समझाने से झटपट समझे, और थोड़े ही समझाने से बहुत समझ जावे, वह 'तीव्रबुद्धि' कहाता है। यहां महाजड़ और विद्वान् का दृष्टान्त सुनो—

दृष्टान्त—कहीं एक रामदास वैरागी का चेला गोपालदास पाठ २० करता-करता कुएं पर पानी भरने को गया। वहां एक पण्डित बैठा था। उसने अशुद्ध पाठ सुनकर कहा कि—तू "स्त्री गनेसाय नमः" ऐसा घोकता है, सो शुद्ध नहीं है। किन्तु "श्रीगणेशाय नमः" ऐसा शुद्ध पाठ कर। तब वह बोला कि—'मेरे महन्त जी बड़े पण्डित हैं। उन्होंने जैसा मुझको सुनाया है, वैसा ही घोखूंगा'। उसने पानी भरकर अपने गुरु २५ के पास जाके कहा कि—'महाराज जी ! एक बम्मन मेरे पाठ को अशुद्ध बतलाता है'। तब खाकी जी ने चेलों से कहा कि—'उस बम्मन को यहां बुला लाओ। वह गुरु का फटकारा मेरे चेलों को क्यों बहकाता, और शुद्ध का अशुद्ध क्यों बतलाता है ?' चेला गया, पण्डित जी को बुला लाया। ३०

१. यह दृष्टान्त कुछ भेद से स० प्र० समु० ११, पृ० ५३७-५३८ में भी है।



पण्डित से महन्त बोले कि—‘तू इसके कितने प्रकार के पाठ जानता है ?’ पण्डित ने कहा कि—‘एक प्रकार का’। महन्त जी ने कहा कि—‘तू कुछ भी नहीं जानता है। देख, मैं तीन प्रकार का पाठ जानता हूँ। एक—स्त्री गनेसाजनम । दूसरा—स्त्री गनेसापनम । ५ तीसरा—स्त्री गनेसायनम ।’ (पण्डित) महन्त जी ! तुम्हारे पाठ में पांच दोष हैं। प्रथम—श का स, दूसरा—ण का न, तीसरा—शा का सा, चौथा—य का ज प बोलना, और [पांचवां] विसर्जनीय का न बोलना, ये पांच अशुद्धियाँ हैं। महन्त जी बोले—‘चलबे, गुरु के बड़े घर में सब सुद्ध हैं’।

१० पण्डित चुपकर चले आये। क्योंकि—

“सर्वस्यौषधमस्ति शास्त्रकथितं मूर्खस्य नहि कुत्रचित्”

[नीतिशतक श्लोक ११]

सब का औषध [शास्त्रों में कहा] है, परन्तु शठ मनुष्यों का औषध कोई भी नहीं। ऐसे हठी मनुष्यों से अलग रहे। जो वे सुधरा १५ चाहें, तो विद्वान् उपदेश करके उनको अवश्य सुधारें।

[कैसी आज्ञा नहीं माननी चाहिये ?]

(प्र०) जो माता पिता आचार्य्य और अतिथि अधर्म करें और कराने का उपदेश करें, तो मानना चाहिये वा नहीं ?

(उ०) कदापि नहीं। कुमाता कुपिता सन्तानों को बुरे उपदेश २० करते हैं कि बेटा ! बिटिया ! तेरा विवाह शीघ्र कर देगे। किसी की चीज पावे, तो उठा लाना। कोई एक गाली दे, तो उसको तू पचास गाली दे। लड़ाई-झगड़ा, खेल, चोरी-जारी, मिथ्याभाषण, भांग मद्य गाँजा चरस अफीम खाना-पीना आदि कर्म करने में कुछ दोष नहीं, क्योंकि अपनी कुलपरम्परा है। सुनो प्रमाण—‘कुलधर्मः २५ सनातनः’। जो कुल में धर्म पहिले से चला आता है, उसके करने में कुछ भी दोष नहीं।

(सुसन्तान ग्राह) — जो तुमने शीघ्र विवाह करना, किसी की चीज उठा लाना आदि कर्म कहे, वे दुष्ट मनुष्यों के काम हैं, श्रेष्ठों के नहीं। किन्तु श्रेष्ठ तो ब्रह्मचर्य से पूर्ण विद्या पढ़कर स्वयंवर अर्थात् ३० पूर्ण युवावस्था में दोनों की प्रसन्नतापूर्वक विवाह करना। किसी की करोड़ों की चीज जंगल में भी पड़ी देखकर कभी ग्रहण करने की



मन में भी इच्छा न करना, आदि कर्म किया करते हैं। जो-जो तुम्हारे उत्तम कर्म और उपदेश हैं, उन-उन को तो हम ग्रहण करते हैं, अन्य को नहीं। परन्तु तुम कैसे ही हो, हमको तन मन धन से तुम्हारी सेवा करना परमधर्म है। क्योंकि जैसी तुमने बाल्यावस्था में हमारी सेवा की है, वैसी तुम्हारी सेवा हम क्यों न करें ? ५

(कुसन्तान ग्राह) — श्रेष्ठ माता पिता आचार्य अतिथियों से अभागे सन्तान कहते हैं कि—‘हम को खूब खिलाओ-पिलाओ। खेलने दो, हमारे लिये कमाया करो। जब तुम मर जाओगे, तब हम ही को सब काम करना पड़ेगा। शीघ्र विवाह कर दो, नहीं तो हम इधर-उधर लीला करेंगे ही। बाग में जाके नाच तमाशा करेंगे, १० वा वैरागी हो जायेंगे। पढ़ने में बड़ा कष्ट होता है, हमको पढ़के क्या करना है ? क्योंकि हमारी सेवा करनेवाले तुम तो बने ही हो। हमको सैल-सपट्टा, सवारी-शिकारी, नाच, खाने-पीने, ओढ़ने-पहरने के लिये खूब दिया करो। नहीं तो हम जब जवान होंगे, तब तुमको समझ लेंगे। ‘दण्डादण्डि, नखानखि, केशाकेशि, मुष्टामुष्टि, १५ युद्धमेव भविष्यत्यन्यत् किम्’ ? ऐसे-ऐसे सन्तान दुष्ट कहाते हैं।

उत्तम माता-पिता आदि उन से कहते हैं कि—‘सुनो लड़को ! अभी तुम्हारी पढ़ने-गुनने, सत्सङ्ग करने, अच्छी-अच्छी बात-सोखने, वीर्यनिग्रह, आचार्य आदि की सेवा करके विद्वान् होने, शरीर और आत्मा की पूर्ण युवावस्था आदि उत्तम कर्म करने की २० अवस्था है। जो चूकोगे तो फिर पछतावोगे। पुनः ऐसा समय तुमको मिलना अति कठिन है। क्योंकि जब तक हम घर का, और तुम्हारे खाने-पीने आदि का प्रवन्ध करनेवाले हैं, तब तक तुम सुशिक्षाग्रहण-पूर्वक सर्वोत्कृष्ट विद्यारूपी धन को मंचित करो। यही अक्षय धन है कि जिसको चोर आदि न ले सकते, न भार होता, और जितना २५ दान करो उतना ही अधिक-अधिक बढ़ता जाता है’। इसके होने से जहां रहोगे, वहां सुखी और प्रतिष्ठा पाओगे। धर्म अर्थ काम और मोक्ष के सम्बन्धी कर्मों को जानकर सिद्ध कर सकोगे।

हम जब तुमको विद्यारूप श्रेष्ठ गुणों से अलङ्कृत देखेंगे, तभी हमको परम सन्तोष होगा। और जो तुम कोई दुष्ट काम ३० करोगे, तो हम अपना भी अभाग्य समझेंगे। क्योंकि हमारे कौनसे पापों के फल से हम को दुष्ट सन्तान मिले। क्या तुम नहीं देखते



कि जिन मनुष्यों को राज्य-धन प्राप्त भी है, परन्तु विद्या और उत्तम शिक्षा के बिना नष्ट-भ्रष्ट हो जाते। और श्रेष्ठ विद्या सुशिक्षा से युक्त दरिद्र भी राज्य और ऐश्वर्य को प्राप्त होते हैं।

तुमको चाहिये कि—

५॥ 'यान्यस्माकं<sup>७</sup> सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि' ॥  
तैत्तिरीय आरण्यके प्रपाठके ७। अनुवाकः ११ ॥

'जो-जो हमारे उत्तम चरित्र हैं, सो-सो करो। और जो कभी हम भी बुरे काम करें, उनको कभी मत करो।' इत्यादि उत्तम उपदेश और कर्म करने और करानेहारे माता-पिता और आचार्य आदि १० श्रेष्ठ कहते हैं।

[राजा-प्रजा और इष्ट-मित्रों के साथ वर्ताव]

(प्र०) राजा-प्रजा और इष्ट-मित्रादि के साथ कैसा-कैसा व्यवहार करें ?

- (उ०) राजपुरुष प्रजा के लिये सुमाता और सुपिता के १५ समान, और प्रजापुरुष राजसम्बन्ध में सुसन्तान के सदृश वर्त्तकर परस्पर आनन्द बढ़ावें। मित्र-मित्र के साथ सत्य व्यवहारों के लिये आत्मा के समान प्रीति से वर्त्ते, परन्तु अधर्म के लिये नहीं। पड़ौसी के साथ ऐसा वर्त्तमान करें कि जैसा अपने शरीर के लिये करते हैं। वैसे ही मित्रादि के लिये भी कर्म किया करें। स्वामी सेवक के २० साथ ऐसा वर्त्ते कि जैसा अपने हस्तपादादि अङ्गों की रक्षा के लिये वर्त्तते हैं। सेवक स्वामियों के लिये ऐसे वर्त्ते कि जैसे अन्न जल वस्त्र और घर आदि शरीर की रक्षा के लिये होते हैं।

[कन्याओं के विद्याध्ययन और ब्रह्मचर्य का विधान]

(प्र०) ब्रह्मचर्य के क्या-वया नियम हैं ?

- २५ (उ०) कम-सेकम २५ वर्ष पर्यन्त पुरुष और सोलह वर्ष पर्यन्त कन्या को ब्रह्मचर्य सेवन अवश्य करना चाहिये। और अड़तालीसवें

१. यह वाक्य सत्यार्थप्रकाश समु० २, पृ० ५५; समु ३, पृ० ७६ में भी है।



वर्ष से अधिक पुरुष और चौबीसवें से अधिक कन्या ब्रह्मचर्य का सेवन न करें। किन्तु इसके उपरान्त गृहाश्रम का समय है<sup>१</sup>।

(प्र०) प्रमादी ब्रूते—पागल मनुष्य कहता है कि—‘सुनो जी ! कन्याओं का पढ़ना शास्त्रोक्त नहीं। क्योंकि जब वे पढ़ जावेंगी, तो मूर्ख पति का अपमान कर इधर-उधर पत्र भेजकर अन्य पुरुषों से प्रीति जमाके व्यभिचार किया करेंगी’।

(उ०) सज्जनः समाधत्ते—श्रेष्ठ मनुष्य उसको उत्तर देता है—‘सुनो जी ! तुम्हारे कहने से यह आया कि किसी पुरुष को भी न पढ़ना चाहिये। क्योंकि वह भी पढ़कर मूर्ख स्त्री का अपमान और डाकगाड़ी चलाकर इधर-उधर अन्य स्त्रियों के साथ सैल- १० सपाटा किया करेगा।

(प्र०)—प्रमादी—हां पुरुष भी न पढ़े, तो अच्छी बात है। क्योंकि पढ़े हुये मनुष्य चतुराई से दूसरों को धोखा देकर अपमान करके अपना मतलब सिद्ध कर लेते हैं।

(उ०) सज्जन—सुनो जी ! यह विद्या पढ़ने का दोष नहीं, १५ किन्तु आप जैसे मनुष्यों के सज्ज का दोष है। और जो पढ़ना-पढ़ाना धर्म और ईश्वर की विद्या से विरुद्ध है, सो तो प्रायः बुरे काम का कारण देखने में आता है। और जो पढ़ना-पढ़ाना उक्त विद्या से सहित है, वह तो सब के सुख और उपकार ही के लिये होता है।

(प्र०) कन्याओं के पढ़ने में वैदिक प्रमाण कहां है ? २०

(उ०) सुनो प्रमाण—

‘ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्’ ॥<sup>२</sup>

अथर्व कां० ११। सू० ५। मन्त्र १८॥

अर्थ—जैसे लड़के लोग ब्रह्मचर्य करते हैं, वैसे कन्या लोग ब्रह्मचर्य करके वर्णोच्चारण से लेकर वेदपर्यन्त शास्त्रों को पढ़- २५

१. तुलना करो सत्यार्थप्रकाश समु० ३, पृ० ७०; संस्कारविधि वेदारम्भ संस्कार पृ० १२२-१२३ आर्यसमाज-शताब्दी-संस्करण।

२. इस मन्त्र की व्याख्या सत्यार्थप्रकाश समु० ३, पृ० १११; संस्कार-विधि वेदारम्भ संस्कार पृ० ११७ में भी है।



कर प्रसन्न करके स्वेच्छा से पूर्ण युवावस्थावाले विद्वान् पति को वेदोक्त रीति से ग्रहण करें।

क्या अधर्मी से भिन्न कोई ऐसा भी मनुष्य होगा कि किसी पुरुष वा स्त्री को विद्या के पढ़ने से रोककर मूर्ख रक्खा जाहे। और ५ वेदोक्त प्रमाण का अपमान करके अपना कल्याण किया जाहे?

### [विद्या-प्राप्ति का क्रम]

(प्र०) विद्या को किस-किस क्रम से प्राप्त हो सकते हैं?

(उ०) शुद्ध वर्णोच्चारण, व्यवहार की शुद्धि, पुरुषार्थ, धार्मिक विद्वानों का सङ्ग, विषयकथाप्रसङ्ग का त्याग, सुविचार से व्याकरण १० आदि [द्वारा] शब्द अर्थ और सम्बन्धों को यथावत् जानकर, उत्तम क्रिया करके सर्वथा साक्षात् करता जाय। जिस-जिस विद्या के लिये जो-जो साधनरूप सत्य ग्रन्थ हैं, उन-उन को पढ़कर वेदादि पढ़ने के योग्य ग्रन्थों के अर्थों को जानना आदि कर्म शीघ्र विद्वान् होने के साधन हैं।

१५ [विना पढ़े मनुष्यों की दो प्रकार की गति]

(प्र०) विना पढ़े हुए मनुष्यों की क्या गति होगी?

(उ०) दो, एक अच्छी और दूसरी बुरी। अच्छी उसको कहते हैं कि जो मनुष्य विद्या पढ़ने का सामर्थ्य तो नहीं रखे, और वह धर्माचरण किया जाहे, तो विद्वानों के सङ्ग और अपने २० आत्मा की पवित्रता [और] अविरोधता से धर्मात्मा अवश्य हो सकता है। क्योंकि सब मनुष्यों को विद्वान् होने का तो सम्भव ही नहीं, परन्तु धार्मिक होने का सम्भव सब के लिये है। कि जैसे अपने लिये सुख की प्राप्ति और दुःख के त्याग, मान्य होने अपमान के न होने आदि की अभिलाषा करते हैं, तो दूसरों के लिये क्यों न २५ करनी चाहिये?

जब किसी की कोई चोरी, वा किसी पर झूठा जाल लगाता है, तो क्या उसको अच्छा लगता? और क्या जिस-जिस कर्म के करने में अपने आत्मा को शङ्का लज्जा और भय नहीं होता, वह-वह धर्म किसी को विदित नहीं होता? क्या जो कोई आत्मविरोध, अर्थात्



आत्मा में कुछ और वाणी में कुछ भिन्न, और क्रिया में विलक्षणता करता है वह अधर्मी; और जिसके जैसा आत्मा में वैसा वाणी, और जैसा वाणी में वैसा ही क्रिया में आचरण है, वह धर्मात्मा नहीं है ?

प्रमाण—

असुर्य्या नाम ते लोका अन्धेन तमसा वृताः ।

तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥

य० अ० ४० । मं० ३ ॥

अर्थ—(ये) जो (आत्महनः) आत्महत्यारे अर्थात् आत्मस्थ ज्ञान से विरुद्ध कहने मानने और करनेहारे हैं, (ते) वे ही (लोकाः) लोग (असुर्य्या नाम) असुर अर्थात् दैत्य राक्षस नामवाले मनुष्य १० हैं । और वे ही (अन्धेन तमसा वृताः) बड़े अधर्मरूप अन्धकार से युक्त होके जीते हुये और मरण को प्राप्त होकर (तान्) दुःख-दायक देहादि पदार्थों को (अभिगच्छन्ति) सर्वथा प्राप्त होते हैं । और जो आत्मरक्षक अर्थात् आत्मा के अनुकूल ही कहते मानते और आचरण करते हैं, वे मनुष्य विद्यारूप शुद्ध प्रकाश से युक्त १५ होकर देव अर्थात् विद्वान् नाम से प्रख्यात हैं । वे ही सर्वदा सुख को प्राप्त होकर मरने के पीछे भी आनन्दयुक्त देहादि पदार्थों को प्राप्त होते हैं ।

(प्र०) 'विद्या' और 'अविद्या' किस को कहते हैं ?

(उ०) जिस से पदार्थ यथावत् जानकर न्याययुक्त कर्म २० किये जावें वह 'विद्या', और जिससे किसी पदार्थ का यथावत् ज्ञान न होकर अन्यायरूप कर्म किये जायें वह 'अविद्या' कहाती है ।

(प्र०) 'न्याय' और 'अन्याय' किसको कहते हैं ?

(उ०) जो पक्षपातरहित सत्याचरण करना है वह 'न्याय' । २५ और जो पक्षपात से मिथ्याचरण करना है वह 'अन्याय' कहाता है ।

(प्र०) 'धर्म' [और 'अधर्म'] किसको कहते हैं ?

(उ०) जो न्यायाचरण, सब के हित का करना आदि कर्म हैं उनको 'धर्म' । और अन्यायाचरण, सब के अहित के काम करने हैं उनको 'अधर्म' जानो ३ ।

३०



## महामूर्ख का दृष्टान्त

एक प्रियदास का चेला भगवानदास अपने गुरु से बारह वर्ष पर्यन्त पढ़ा। एक दिन [उसने] उनसे पूछा कि महाराज ! मुझको संस्कृत बोलना नहीं आया।

५. गुरु बोले—‘सुन बे ! पढ़ने-पढ़ाने से विद्या नहीं आती, किन्तु गुरु की कृपा से आ जाती है। जब गुरु सेवा से प्रसन्न होता है, तब जैसे कुञ्जियों से ताला खोलकर मकान के सब पदार्थ भट देखने में आते हैं। वे ऐसी युक्ति बतला देते हैं कि हृदय के कपाट खुल जाकर सब पदार्थ-विद्या तत्क्षण आ जाती है। सुन, संस्कृत बोलने की तो सहज युक्ति है।

- [भगवानदास] महाराज जी ! वह क्या है ? [गुरु] संसार में जितने शब्द संस्कृत वा देशभाषा में हों, उन पर एक-एक बिन्दु धरने से सब शुद्ध संस्कृत हो जाते हैं। [भग०] अच्छा तो महाराज जी ! लोटा, जल, रोटी, दाल, शाक आदि शब्दों पर बिन्दु धरके कैसे संस्कृत हो जाते हैं ? [गुरु] देखो—लोंटां। जलं। रोटिं। दालं। शाकं। चेला बोला—वाह वाह!! गुरु के बिना क्षणमात्र में पूरी विद्या कौन बतला सकता है ?

भगवानदास ने अपने आसन पर जाकर विचारके यह श्लोक बनाया—

२०. बापं आजां नमस्कृत्यं परं पांजं तथैवं च ।  
मयां भगवानंदासेनं गीतां टीकां करोंम्यहंम् ॥

- जब उसने प्रातःकाल उठकर हर्षित होके गुरु के पास जाकर श्लोक सुनाया, तब तो प्रियदास जी बहुत प्रसन्न हुए कि चेले हों तो तेरे ही समान गुरु के वचन पर विश्वासी, और जो गुरु हो तो मेरे सदृश हो।

ऐसे मनुष्यों का क्या औषध है, बिना अलग रहने के ?

(प्र०) विद्या पढ़ते समय वा पढ़के किसी दूसरे को पढ़ावे वा नहीं ?

- (उ०) बराबर पढ़ाता जाय। क्योंकि पढ़ने से पढ़ाने में विद्या की वृद्धि अधिक होती है। पढ़के आप अकेला विद्वान् रहता, और



पढ़ाने से दूसरा भी हो जाता है। उत्तरोत्तर काल में विद्या की वृद्धि होती ही है। जो विद्या को प्राप्त होता है, वह मनुष्य परोपकारी धार्मिक अवश्य होता है। क्योंकि जैसे अन्धा कुएं में गिर पड़ता है, वैसे देखनेहारा कभी नहीं गिरता। और अविद्या की हानि होने आदि प्रयोजन पढ़ाने से ही सिद्ध होते हैं। ५

### [क्षुद्रबुद्धि और शूद्र का संवाद]

क्षुद्रबुद्धिस्वाच—सभी विद्वान् हो जावेंगे, तो हमको कौन पूछेंगे ? और आप ही आप सब पुस्तकों को बांचकर अर्थ समझ लेंगे। पूजापाठ में भी न बुलावेंगे। विशेष विघ्न घनादय और राजाओं के पढ़ाने में है। क्योंकि उनसे हम लोगों की बड़ी जीविका १० होती है।

जब किसी शूद्र ने उनके पास पढ़ने की इच्छा से जाके कहा कि मुझको आप कुछ पढ़ाइये। तो—

अल्पबुद्धि—तू कौन है ? क्या काम करता है ? और तेरे घर में क्या व्यवहार होता है ? १५

दास—मैं तो महाराज ! आपका दास शूद्र हूं। कुछ जिम्मीदारी खेतीबाड़ी भी होती है, और घर में कुछ लेन-देन का भी व्यवहार है।

(नष्टमति) छी छी छो!!! तुझ को सुनने और हमको सुनाने का भी अधिकार नहीं है। जो तू अपना धर्म छोड़कर हमारा धर्म करेगा, तो क्या नरक में न पड़ेगा ? हां, तुझको वेदों से भिन्न २० ग्रन्थों की कथा सुनने का तो अधिकार है। जब तेरी सुनने की इच्छा हो, तब हम को बुला लेना, सुना देंगे। परन्तु आप से आप मत बांच लेना, नहीं तो अधर्मी हो जावेगा। जो कुछ भेंट-पूजा लाया हो, सो धरके चला जा। और सुन, हमारे वचन को मान ले, नहीं तो तेरी मुक्ति कभी नहीं होगी। खूब कमा और हमारी सेवा किया २५ कर। इसी में तेरा कल्याण, और तुझ पर ईश्वर प्रसन्न होगा।

(दास) महाराज ! मुझ को तो पढ़ने की बहुत इच्छा है। क्या विद्या का पढ़ना बुरी चीज है कि दोष लग जाय ? (बकवृत्ति) बस-बस, तुझ को किसी ने बहका दिया है, जो हमारे सामने उत्तर-



प्रत्युत्तर करता है। हाय क्या करें ? कलियुग आगया। विद्या को पढ़कर हमारा उपदेश नहीं मानते, बिगड़ गये।

(दास) क्या महाराज ! हमारे ही ऊपर कलियुग ने चढ़ाई करदी कि जो हम ही को पढ़ने और मुक्ति से रोकता है ? (स्वार्थी)  
५ हां हां। जो सतयुग होता, तो तू हमारे सामने ऐसा बक-बक कर सकता ?

(दास) अच्छा तो महाराज जी ! आप नहीं पढ़ाते, तो हमको जो कोई पढ़ावेगा उसके चेले हो जावेंगे। (अन्धकारी) सुन सुन। कलियुग में और क्या होना है ? (दास) आपकी हम सेवा करें,  
१० उसके बदले आप हमको क्या देंगे ? (मार्जारलिङ्गी) आशीर्वाद। (दास) उस आशीर्वाद से क्या होगा ? (धूर्त) तुम्हारा कल्याण। (दास) जब आप हमारा कल्याण चाहते हैं, तो क्या विद्या के पढ़ने से अकल्याण होता है ? (पोप उवाच) अब क्या तू हम से शास्त्रार्थ करता है ?

१५ (प्र०) 'पोप' का क्या अर्थ है ?

(उ०) यह शब्द अन्य देश की भाषा का है। वहां तो इसका अर्थ पिता और बड़े का है, परन्तु यहां जो केवल धूर्तता करके अपना मतलब सिद्ध करनेहारा हो, उसी का नाम है।

(प्र०) जो विद्या पढ़ा हो, और उसमें धार्मिकता न हो, तो  
२० उसको विद्या का फल होगा वा नहीं ?

(उ०) कभी नहीं। क्योंकि विद्या का यही फल है कि जो मनुष्य को धार्मिक होना अवश्य है। जिसने विद्या के प्रकाश से अच्छा जानकर न किया, और बुरा जानकर न छोड़ा, तो क्या वह चोर के समान नहीं है ? क्योंकि जैसे चोर भी चोरी को बुरी जानता हुआ  
२५ करता है, और साहूकारी को अच्छी जानके भी नहीं करता, वैसे ही जो पढ़के भी अधर्म को नहीं छोड़ता और धर्म को नहीं करनेहारा मनुष्य है।

(प्र०) जब कोई मनुष्य मन से बुरा जानता है, परन्तु किसी विशेष भय आदि निमित्तों से नहीं छोड़ सकता, और अच्छे काम



को नहीं कर सकता, तब भी क्या उसको दोष वा गुण होता है, अथवा नहीं ?

(उ०) दोष ही होता है। क्योंकि जो उसने अधर्म कर लिया, उसका फल अवश्य होगा। और जानकर भी धर्म को न किया, उसको सुखरूप फल कुछ भी नहीं होगा। जैसे कोई मनुष्य कुए में ५ गिरना बुरा जानके भी गिरे, क्या उसको दुःख न होगा ? और अच्छे मार्ग में चलना उत्तम जानकर भी न चले, उसको सुख कभी होगा ? इसलिये—

यथा मतिस्तथोक्तिर्यथोक्तिस्तथा मतिः ।

सत्पुरुषस्य लक्षणमतो विपरीतमसत्पुरुषस्येति ॥

१०

[सत्पुरुष और असत्पुरुष का लक्षण]

वही 'सत्पुरुष' का लक्षण है कि जैसा आत्मा का ज्ञान वैसा वचन, और जैसा वचन वैसा ही कर्म करना। और जिसका आत्मा से मन, उससे वचन और वचन से विरुद्ध कर्म करना है, वही 'असत्पुरुष' का लक्षण है। इसलिये मनुष्यों को उचित है कि सब प्रकार का १५ पुरुषार्थ करके अवश्य धार्मिक हों।

(प्रश्न) 'पुरुषार्थ' किसको कहते, और उसके कितने भेद हैं ?

(उत्तर) उद्योग का नाम 'पुरुषार्थ', और उसके चार भेद हैं। एक—अप्राप्त की इच्छा। दूसरा—प्राप्त की यथावत् रक्षा। तीसरा—रक्षित की वृद्धि। और चौथा—बढ़ाये हुये पदार्थों का धर्म २० में खर्च करना पुरुषार्थ के भेद हैं<sup>३</sup>। जो-जो न्याय धर्म से युक्त क्रिया से अप्राप्त पदार्थों की अभिलाषा करके उद्योग करना। उसी प्रकार उसकी सब प्रकार से रक्षा करनी कि वह पदार्थ किसी प्रकार से नष्ट-भ्रष्ट न हो जाय। उसको धर्मयुक्त व्यवहार से बढ़ाते जाना। और बढ़े हुये पदार्थ को उत्तम व्यवहारों में खर्च करना, ये २५ चार भेद हैं।

१. आयोद्देश्य० सं० १८ ॥

२. आयोद्देश्य० सं० ५५, ५६ ॥

३. अलब्धं चैव लिप्सेत, लब्धं रक्षेत् प्रयत्नतः ।

रक्षितं वर्धयेच्चैव, वृद्धं पात्रेषु निक्षिपेत् ॥ मनु० ७।१६॥



### [तन-मन-धन का सदुपयोग]

(प्र०) किस-किस प्रकार से किस-किस व्यवहार में तन मन धन लगाना चाहिये ?

(उ०) निम्नलिखित चारों में—विद्या की वृद्धि, परोपकार, अनाथों का पालन, और अपने सम्बन्धियों की रक्षा । विद्या [की वृद्धि] के लिये शरीर को आरोग्य और उससे यथायोग्य क्रिया करनी । मन में अत्यन्त विचार करना-कराना । और धन से अपने सन्तान और अन्य मनुष्यों को विद्या-दान करना कराना चाहिये ।

परोपकार के लिये शरीर और मन से अत्यन्त उद्योग, और  
१० धन से नाना प्रकार के व्यवहार तथा कारखाने खड़े करने कि जिनमें अनेक मनुष्य कर्म करके अपना-अपना जीवन सुख से व्यतीत किया करें ।

‘अनाथ’ उनको कहते हैं कि जिनका सामर्थ्य अपने पालन करने का भी न हो । जैसे कि बालक वृद्ध रोगी अङ्गभङ्ग आदि  
१५ है । उनको भी तन मन धन लगाकर सुखी रखके जिस-जिस से जो-जो काम बन सके, उस-उस से वह-वह कार्य सिद्ध कराना चाहिये, कि जिससे कोई आलसी होके नष्टबुद्धि न हो ।

और अपने सन्तान आदि मनुष्यों के खान-पान अथवा विद्या की प्राप्ति के लिये जितना तन-मन-धन लगाया जाय उतना थोड़ा  
२० है । परन्तु किसी को निकम्मा कभी न रहना और न रखना चाहिये ।

### [विवाहित स्त्री-पुरुष का पारस्परिक वर्तवि]

(प्र०) विवाह करके स्त्री-पुरुष आपस में कैसे वर्तें ?

(उ०) कभी कोई किसी का अप्रियाचरण, अर्थात् जिस-जिस व्यवहार से एक-दूसरे को कष्ट होवे, सो काम कभी न करें, जैसे  
२५ कि व्यभिचार आदि । एक-दूसरे को देखकर प्रसन्न हों, एक-दूसरे की सेवा करें । पुरुष भोजन वस्त्र आभूषण और प्रियवचन आदि व्यवहारों से स्त्री को सदा प्रसन्न रखे, और घर के सब कृत्य उसके आधीन करे । स्त्री भी अपने पति से प्रसन्नवदन, खान-पान प्रेमभाव आदि से

१. अर्घ्योद्देश्य० सं० ५७ ।

३०

२. तस्मादेताः सदा पूज्या भूषणाच्छादनाशनैः । मनु० ३।५६॥



उसको सदा हर्षित रखे कि जिससे उत्तम सन्तान हों, और सदा दोनों में आनन्द बढ़ता जाय।

(प्र०) ऐसा न करें, तो क्या बिगाड़ है ?

(उ०) सर्वस्व-नाश। क्योंकि परस्पर प्रीति के बिना न गृहा-श्रम का किञ्चित् सुख, न उत्तम सन्तान, और न प्रतिष्ठा वा लक्ष्मी आदि श्रेष्ठ पदार्थों की प्राप्ति कभी होती है।

सुनो मनु जी क्या कहते हैं—

सन्तुष्टो भार्यया भर्ता भर्ता भार्या तथैव च ।

यस्मिन्नेव कुले नित्यं कल्याणं तत्र वै ध्रुवम् ॥

मनु० अ० ३।६० ॥ १०

जिस कुल में स्त्री से पुरुष और पुरुष से स्त्री आनन्दित रहती है, उसी में निश्चित कल्याण स्थित रहता है। परन्तु यह बात कब होगी कि जब ब्रह्मचर्य से विद्या शिक्षा ग्रहण करके युवावस्था में परस्पर परीक्षा करके प्रसन्नतापूर्वक स्वयंवर ही विवाह करेंगे। क्योंकि जितनी सुख विद्या और उत्तम प्रजा की हानि आल्यावस्था में विवाह से होती है, उतना ही सुख-लाभ ब्रह्मचर्य से शरीर और आत्मा की पूर्ण युवावस्था में परस्पर प्रीति से विवाह करने से होता है।

जो मनुष्य परस्पर प्रीति से स्वयंवर विवाह करके सन्तानों को उत्पन्न करते हैं, उनके सन्तान भी ऐसे योग्य होते हैं कि लाखों में एक ही होते हैं। कि जिनमें बुद्धि बल पराक्रम धर्म और सुशीलतादि शुभगुण पूर्ण होके महाभाग्यशाली कहाकर अपने कुल को अति प्रशंसित कर देते हैं।

### [मनुष्यपन का लक्षण]

(प्र०) 'मनुष्यपन' किसको कहते हैं ?

२५

(उ०) इस मनुष्य जाति में एक ऐसा गुण है कि वैसा किसी दूसरी जाति में नहीं पाया जाता।

(प्र०) वह कौनसा ?

(उ०) जितने मनुष्य से भिन्न जातिस्थ प्राणी हैं, उनमें दो



प्रकार का स्वभाव है—बलवान् से डरना, निर्बल को डराना और पीड़ा देकर अर्थात् दूसरे का प्राण तक निकालके अपना मतलब साध लेना देखने में आता है। जो मनुष्य ऐसा ही स्वभावं रखता है, उसको भी इन्हीं जातियों में गिनना उचित है। परन्तु जो निर्बलां ५ पर दया, उनका उपकार, और निर्बलों को पीड़ा देनेवाले अधर्मी बलवानों से किञ्चिन्मात्र भी भय-शङ्का न करके इनको परपीड़ा से हटाके निर्बलों की रक्षा तन मन और धन से सदा करना है, वही मनुष्य-जाति का निज गुण है।<sup>१</sup> क्योंकि जो बुरे कामों के करने में भय, और सत्य कामों के करने में किञ्चित् भी भय-शङ्का नहीं १० करते, वे ही मनुष्य धन्यवाद के पात्र कहते हैं।

[सदा सत्यव्यवहार करना चाहिये]

(प्र०) क्यों जी ! सर्वथा सत्य से तो कोई व्यवहार सिद्ध नहीं हो सकता। देखो, व्यापार में सत्य बात कह दें, तो किसी पदार्थ का विक्रय न हो। हार-जीत के व्यवहारों में मिथ्या साक्षी न खड़े १५ करें, तो हार हो जाय। इत्यादि हेतुओं से सब ठिकानों में सत्य-भाषणादि कैसे कर सकते हैं ?

(उ०) यह बात महामूर्खता की है।

[लालबुभ्रुकड़ का दृष्टान्त]

जैसे किसी ग्राम में लालबुभ्रुकड़ रहता था, कि जिसको २० पांच सौ ग्रामवाले महापण्डित और एक गुरु मानते थे। एक रात में किसी राजा का हाथी उसी ग्राम के समीप होकर कहीं स्थानान्तर को चला गया था। उसके पग के चिह्न जहां-तहां मार्ग में बन रहे थे। उनको देखके खेती करनेवाले ग्रामीण लोगों ने परस्पर पूछा कि भाइयो ! यह किसका खोज<sup>३</sup> है ? सब ने कहा कि हम नहीं जानते। २५ फिर सब की सम्मति से लालबुभ्रुकड़ को बुलाके पूछा कि—‘तुम्हारे बिना कोई भी मनुष्य इसका समाधान नहीं कर सकता। कहो यह किसके पग का चिह्न है’ ? जब वह रोया और रोकर हंसा, तब सब ने पूछा कि तुम क्यों रोये और क्यों हंसे ? तब वह बोला कि जब मैं मर जाऊंगा, तब ऐसी-ऐसी बातों का उत्तर मेरे बिना



कौन दे सकेगा ? और हँसा इसलिये कि इसका उत्तर तो सहज है ।  
सुनो—

“लालबुभुक्कड़ बूझिया और न बूझा कोय ।

पग में चक्की बांधके हिरना कूदा होय ॥”

जो जङ्गल में हिरन होता है, वह किसी जङ्गली मनुष्य को ५ चक्की के पाटों को अपने पगों में बांधके कूदता चला गया है । तब सुनकर सब लोगों ने वाह-वाह बोलकर उसको धन्यवाद दिया कि—‘तुम्हारे सदृश पृथिवी में कोई पण्डित नहीं है कि ऐसी-ऐसी बातों का उत्तर दे सके’ ।

जब वह लालबुभुक्कड़ ग्राम की ओर आता ही था, इतने में एक १० ग्रामीण की स्त्री ने जङ्गल से बेर लाके, जो अपना लड़का छप्पर के खम्भे को पकड़के खड़ा था, उसको कहा कि—‘बेटा ! बेर ले’ । तब उसने हाथों की अञ्जलि बांधके बेरों को ले लिया । परन्तु जब छप्पर की थूनी हाथों के बीच में रहने से उसका मुख बेर तक न पहुँचा, तब लड़का रोने लगा । उसको रोते देखकर उसकी मां और बाप १५ भी रोने लगे कि हाय हमारे लड़के को खम्भे ने पकड़ लिया रे रे रे ! तब उसको सुनके अड़ौसी-पड़ौसी भी रोने लगे कि हाय रे दय्या ! इन के लड़के को खम्भे ने कैसा पकड़ लिया है कि छोड़ता ही नहीं ।

तब किसी ने कहा कि लालबुभुक्कड़ को बुलाओ । उसके बिना २० कोई भी लड़के को नहीं छोड़ा सकेगा । तब एक मनुष्य उसको शीघ्र बुला लाया । फिर उसको पूछा कि यह लड़का कैसे छूट सकता है ? तब वह बोला कि—‘सुनो लोगो ! दो प्रकार से यह लड़का छूट सकता है । एक तो यह है कि कुल्हाड़ा लाके लड़के का एक हाथ काट डालो, अभी छूट जाय । और दूसरा उपाय यह है कि प्रथम छप्पर को २५ उठाके नीचे धरो । फिर लड़के को थूनी के ऊपर से उतार ले आओ । तब लड़के का बाप बोला कि ‘हम दरिद्र मनुष्य हैं । हमारा छप्पर टूट जायेगा, तो फिर छाना कठिन है’ । तब लालबुभुक्कड़ बोला कि—‘लाओ कुल्हाड़ा, फिर क्या देख रहो हो’ ?

कुल्हाड़ा लाके जब तक हाथ काटने को तैयार हुये, तब तक ३० दूसरे ग्राम से एक बुद्धिमती स्त्री भी हल्ला सुनकर वहाँ पहुँचकर



देखके बोली कि इसका हाथ मन काटो । मैं इस लड़के को छोड़ा देती हूँ । जब वह खम्भे के पास जाके लड़के की अञ्जलि के नीचे अपनी अञ्जलि करके बोली कि—‘बेटा ! मेरे हाथ में बेर छोड़ दे’ । तब वह बेर छोड़के अलग हो गया । फिर उसको बेर दे दिये ।

- ५ वह खाने लगा । तब तो बहुत क्रुद्ध होकर लालबुभुक्कड़ बोला कि—‘यह लड़का छः महीने के बीच मर जायेगा । क्योंकि जैसा मैंने कहा था, वैसा ही करते तो न मरता’ । तब तो उसके मां-बाप घबराके बोले—‘अब क्या करना चाहिये’ ? तब उस स्त्री ने समझाया कि यह बात झूठ है । और जो हाथ के काटने से अभी यह मर जाता, तो तुम
- १० क्या करते ? मरण से बचने का कोई औषध नहीं । तब उनका घबराहट छूट गया ।

- वैसे जो मनुष्य महामूर्ख हैं, वे ऐसा समझते हैं कि सत्य से व्यवहार का नाश, और झूठ से ही व्यवहार को सिद्धि होती है । परन्तु जब किसी को कोई एक व्यवहार में झूठा समझ ले, तो
- १५ उसकी प्रतिष्ठा और विश्वास सब नष्ट होकर उसके सब व्यवहार नष्ट होते जाते । और जो सब व्यवहारों में झूठ को छोड़कर सत्य ही कहते हैं, उनको लाभ ही लाभ होते हैं, हानि कभी नहीं । क्योंकि सत्य व्यवहार करने का नाम ‘धर्म’, और विपरीत का नाम ‘अधर्म’ है । क्या धर्म का सुखलाभरूपी और अधर्म का दुःखरूपी फल
- २० नहीं होता ?

[इसमें] प्रमाण—

इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि ॥१॥ यजु० अ० १। मं० ५॥

सत्यमेव जयति नाऽनृतं सत्येन पन्था विततो देवयानः ।

येनाक्रमन्त्यृषयो ह्याप्तकामा यत्र तत्सत्यस्य परमं निधानम् ॥२॥

२५

मुण्ड० ३। खं० १। मं० ६॥

नहि सत्यात् परो धर्मो नाऽनृतात् पातकं परम् ॥३॥ इत्यादि ।

अर्थः—मनुष्य में मनुष्यपन यही है कि सर्वथा झूठ व्यवहारों को छोड़कर सत्य व्यवहारों को सदा ग्रहण करे ॥१॥

- क्योंकि सर्वदा सत्य ही का विजय, और झूठ का पराजय
- ३० होता है । इसलिये जिस सत्य से चलके धार्मिक ऋषि लोग जहां



सत्य की निधि परमात्मा है, उसको प्राप्त होकर आनन्दित हुये थे, और अब भी होते हैं, उसका सेवन मनुष्य लोग क्यों न करें ? ॥२॥

यह निश्चित है कि न सत्य से परे कोई धर्म, और न असत्य से परे कोई अधर्म है। इससे धन्य वे मनुष्य हैं, जो सब व्यवहारों को सत्य से ही करते, और झूठ से युक्त कर्म किञ्चिन्मात्र भी नहीं करते हैं ॥३॥

[ झूठे ग्राहक और झूठे बजाज का दृष्टान्त ]

दृष्टान्त — एक किसी अधर्मी मनुष्य ने किसी अधर्मी बजाज की दुकान पर जाकर कहा कि यह वस्त्र कितने आने गज देगा ? वह बोला कि सोलह आने, तुम भी कुछ कहो। बजाज और ग्राहक १० दोनों जानते ही थे कि यह दश आने गज का कपड़ा है। परन्तु अधर्मी झूठ बोलने में कभी नहीं डरते।

(ग्राहक) छः आने गज दो, और सच-सच लेने-देने की बात करो। (बजाज) अच्छा तो तुमको दो आने छोड़ देते हैं, चौदह आने दो। (ग्राहक) है तो टोटा, परन्तु सात आने ले लो। (बजाज) १५ अच्छा तो सच-सच कहूँ ? (ग्राहक) हाँ। (बजाज) चलो एक आना टोटा ही सही, तेरह आने दो। तुमको लेना हो तो लो। (ग्राहक) मैं सत्य-सत्य कहता हूँ कि इसका आठ आने से अधिक कोई भी तुमको न देगा। (बजाज) तुमको लेना हो तो लो, न लेना हो तो मत लो। परमेश्वर की सौगन्द, बारह आने गज तो २० मुझको पड़ा है, तुमको भला मनुष्य जानकर मैं दे देता हूँ। (ग्राहक) धर्म की सौगन्द, मैं सच कहता हूँ। तुमको देना हो तो दे, पीछे पछतावेगा। मैं तो दूसरे की दुकान से ले लूँगा। क्या तुम्हारी एक ही दुकान है ? नव आने गज दे दो, नहीं तो मैं जाता हूँ। (बजाज) तुमने कभी ऐसा खरीदा भी है ? नव आने गज लाओ, २५ मैं सौ रुपया का लेता हूँ।

ग्राहक धीरे-धीरे चला कि मुझको बुलाता है वा नहीं। बजाज तिरछी नजर से देखता रहा कि देखें यह लौटता है, वा नहीं। जब वह न लौटा तब बोला—‘सुनो, इधर आओ’। (ग्राहक) क्या कहते हो, नव आने पर दोगे ? (बजाज) ए लो धर्म से कहता ३० हूँ कि ग्यारह आने भी दोगे ? (ग्राहक) साढ़े नव आने लो। कहकर



कुछ आगे चला । बजाज ने समझा कि हाथ से गया । अजी ! घर आओ-आओ । (ग्राहक) क्यों तुम देर लगाते हो ? व्यर्थ काल जाता है । (बजाज) मेरे बेटे की सौगन्द । तुम इसको न लोगे, तो पछताओगे । अब मैं सत्य ही कहता हूँ—साढ़े दश आने दे दो, ५ नहीं तो तुम्हारी राजी ।

(ग्राहक) मेरी सौगन्द । तुमने दो आने अधिक लिये हैं । अच्छा दश आने देता हूँ, इतने का है तो नहीं । (बजाज) अच्छा सवा दश आने भी दोगे ? (ग्राहक) नहीं-नहीं । (बजाज) अच्छा, आओ बैठो । कितने गज लोगे ? (ग्राहक) सवा गज । (बजाज) अजी कुछ अधिक १० लो । (ग्राहक) अच्छा, नमूना ले जाते हैं । अब तुम्हारी दुकान देखली । फिर कभी आवेंगे, तो बहुत लेंगे । बजाज ने नापने में कुछ सरकाया । (ग्राहक) अजी देखें तो, तुमने कैसा नापा ? (बजाज) क्या विश्वास नहीं करते हो ? हम साहूकार हैं वा ठट्ठा है ? हम कभी झूठ कहते और करते हैं ? (ग्राहक) हां जी, तुम बड़े सच्चे १५ हो । एक रुपया कहकर दश आने तक आये । छः आने घट गये, अनेक सौगन्धें खाईं । (बजाज) वाह जो वाह ! तुम भी बड़े सच्चे हो ? छः आने कहकर दश आने तक देने को तैयार हो । अनेक सौगन्धें खा-खाकर आये । सौदा झूठ के बिना कभी नहीं हो सकता ।

२० (ग्राहक) तू तो बड़ा झूठा है । (बजाज) क्या तू नहीं है ? क्योंकि एक गज कपड़े के लिये कोई भी भला मनुष्य इतना झगड़ा करता है ? (ग्राहक) तू झूठा, तेरा बाप । हमारी सात पीढ़ी में कोई झूठा भी हुआ है ? (बजाज) तू झूठा, तेरी सात पीढ़ी भी झूठी । ग्राहक ने ले जूता एक मार दिया । बजाज ने चट गज मारा । २५ अड़ोसी-पड़ोसी दुकानदारों ने जैसे-तैसे छुड़ाया । (बजाज) चल-चल, जा तेरे जैसे लाखों देखे हैं । (ग्राहक) चलवे ! तेरे जैसे जुवा चोर टटपूँजिये दुकानदार मैंने करोड़ों देखे हैं । (अड़ोसी-पड़ोसी) अजी झूठ के बिना कभी सौदा भी होता है ? जाओ जी, तुम अपनी दुकान पर बैठो । और जाओ तुम अपने घर को । (बजाज) यह ३० बड़ा दुष्ट मनुष्य है । (ग्राहक) अबे मुख सम्हाल के बोल । (बजाज) तू क्या कर लेगा ? (ग्राहक) जो मैंने किया, सो तैने देख लिया । और कुछ देखना हो, तो दिखला दूँ ? (बजाज) क्या तू गज से न



पीटा जायगा ? फिर दोनों लड़ने को दौड़े । जैसे तैसे लोगों ने अलग-अलग कर दिये । ऐसे ही सर्वत्र भूटे लोगों की दुर्दशा होती है ।

### धार्मिकों का दृष्टान्त

(ग्राहक) इस दुशाले का क्या मूल्य है ? (बज़ाज़) पांच सौ ५ रुपये । (ग्राहक) अच्छा लीजिये । (बज़ाज़) लो दुशाला ।

#### [सच्चे बज़ाज़ और भूटे ग्राहक का दृष्टान्त]

सच्चे दुकानवाले के पास कोई भूटा ग्राहक गया, [और पूछा —] इस दुशाले का क्या लोге ? (बज़ाज़) अढ़ाई सौ रुपये । (ग्राहक) दो सौ लो । (सेठ) जाओ, यहां तुम्हारे लिये सौदा नहीं है । (ग्राहक) १० अजी कुछ तो कम लो । (साहूकार) यहां भूठ का व्यवहार नहीं है । बहुत मत बोलो । लेना हो तो लो, नहीं चले जाओ । ग्राहक दूसरी बहुत सी दुकानों में माल देख मूल्य करके फिर वहीं आके अढ़ाई सौ रुपये देकर दुशाला ले गया ।

#### [सच्चे ग्राहक और भूटे बज़ाज़ का दृष्टान्त]

२५

सच्चा ग्राहक भूटे दुकानदार के पास जाकर बोला कि—‘इस पीताम्बर का क्या लोगे’ ? (बज़ाज़) पच्चीस रुपये । (ग्राहक) बारह रुपये का है, देना हो तो दो । कहकर चलने लगा । (बज़ाज़) अजी अठारह दो । (ग्राहक) नहीं । (बज़ाज़) चौदह दो । (ग्राहक) नहीं । (बज़ाज़) तेरह दो । (ग्राहक) नहीं । (बज़ाज़) अच्छा तो २० तो साढ़े बारह ही दो । (ग्राहक) नहीं । (बज़ाज़) सवा बारह दो । (ग्राहक) नहीं । (बज़ाज़) अच्छा बारह ही का ले जाओ । (ग्राहक) लाओ, लो रुपये ।

ऐसे धार्मिकों को सदा लाभ होता है, और भूठों की दुर्दशा होकर दिवाले ही निकल जाते हैं । इसलिये सब मनुष्यों को अत्यन्त उचित है कि सर्वथा भूठ को छोड़कर सत्य ही से सब व्यवहार करें । जिससे धर्म अर्थ काम और मोक्ष को प्राप्त होकर सदा आनन्द में रहें ।

(प्र०) मनुष्य का आत्मा सदा धर्म और अधर्मयुक्त किस-किस कर्म से होता है ?

३०



(७०) जब तक मनुष्य सर्वान्तर्यामी सर्वद्रष्टा सर्वव्यापक सर्व कर्मों के साक्षी परमात्मा से नहीं डरते, अर्थात् कोई कर्म ऐसा नहीं है कि जिसको वह न जानता हो। सत्य विद्या सुशिक्षा सत्पुरुषों का सङ्ग उद्योग जितेन्द्रियता ब्रह्मचर्य आदि शुभ गुणों के होने, ५ और लाभ के अनुसार व्यय करने से धर्मात्मा होता है। और जो इससे विपरीत है, वह धर्मात्मा कभी नहीं हो सकता।

क्योंकि जो राजा आदि अल्पज्ञ मनुष्यों से डरता, और परमेश्वर से भय नहीं करता, वह क्योंकर धर्मात्मा हो सकता है? क्योंकि राजा आदि के सामने बाहर की अधर्मयुक्त चेष्टा करने में तो भय होता १० है, परन्तु आत्मा और मन में बुरी चेष्टा करने में कुछ भी भय नहीं होता। क्योंकि ये भीतर का कर्म नहीं जान सकते। इसमें आत्मा और मन का नियम करनेहारा राजा एक आत्मा और दूसरा परमेश्वर ही है, मनुष्य नहीं। और वे जहां एकान्त में राजादि मनुष्यों को नहीं देखते, वहां तो बाहर से भी चोरी आदि दुष्ट कर्म १५ करने में कुछ भी शंका नहीं करते।

दृष्टान्त—जैसे एक धार्मिक विद्वान् के पास पढ़ने के लिये दो नवीन विद्यार्थियों ने आके कहा कि आप हम को पढ़ाइये। (विद्वान्) अच्छा हम तुमको पढ़ावेंगे। परन्तु जो हम कहें, सो एक काम तुम दोनों जने कर लाओ। इस एक एक लड़के को एकान्त में लेजाके, जहां २० कोई भी न देखना हो, वहां इसका कान पकड़कर दो-चार बार शीघ्र उठा-बैठाके धीरे से एक चपेटिका मार देना। दोनों दोनों को लेके चले। एक ने तो चारों ओर देखा कि यहां कोई नहीं देखता। उक्त काम करके झट चला आया। दूसरा पण्डित के वचन के अभिप्राय को विचारने लगा कि—‘मुझको लड़का और मैं लड़के २५ को भी देखता ही हूं, फिर वह काम कैसे कर सकता हूं’? पण्डित के पास आया।

तब जो प्रथम आया था, उससे पण्डित ने पूछा कि—‘जो हमने कहा था, सो तू कर आया’? उसने कहा हां। दूसरे को पूछा कि—‘तू भी कर आया वा नहीं’? उसने कहा—‘नहीं, क्योंकि आपने ३० मुझको ऐसा कहा था कि जहां कोई न देखता हो, वहां यह काम करना। सो ऐसा स्थान मुझको कहीं भी नहीं मिल सकता। प्रथम तो मैं इस लड़के को और लड़का मुझको देखता ही था’। पण्डित ने



कहा कि— 'तू बुद्धिमान् और धार्मिक है, मुझसे पढ़'। दूसरे से कहा कि— 'तू पढ़ने के योग्य नहीं है, यहां से चला जा'।

वैसे ही क्या कोई भी स्थान वा कर्म है कि जिसको आत्मा और परमात्मा न देखता हो ? जो मनुष्य इस प्रकार आत्मा और परमात्मा की साक्षी से अनुकूल कर्म करते हैं, वे ही 'धर्मात्मा' ५ कहाते हैं।

(प्र०) सब मनुष्यों को विद्वान् वा धर्मात्मा होने का सम्भव है, वा नहीं ?

(उ०) विद्वान् होने का तो सम्भव नहीं, परन्तु जो धर्मात्मा हुआ चाहें, तो सभी हो सकते हैं। अविद्वान् लोग दूसरों को धर्म में १० निश्चय नहीं करा सकते। और विद्वान् लोग धार्मिक होकर अनेक मनुष्यों को भी धार्मिक कर सकते हैं ? और कोई धूर्त मनुष्य अविद्वान् को बहकाके अधर्म में प्रवृत्त कर सकता है, परन्तु विद्वान् को अधर्म में कभी नहीं चला सकता। क्योंकि जैसे देखता हुआ मनुष्य कुएं में कभी नहीं गिरता, परन्तु अन्धे को तो गिरने का सम्भव है, वैसे १५ विद्वान् सत्यासत्य को जानके उसमें निश्चल रह सकते, और अविद्वान् ठीक-ठीक स्थिर नहीं रह सकते हैं।

### [मूर्ख राजा का दृष्टान्त]

दृष्टान्त— जैसे एक कोई अविद्वान् राजा था। उसके राज्य में किसी ग्राम में कोई मूर्ख भिक्षु ब्राह्मण था। उसकी स्त्री ने कहा कि २० आजकल भोजन भी नहीं मिलता, बहुत कष्ट है। तुम पहिले दानाध्यक्ष के पास जाना। वह राजा के पास लेजाके कुछ जप-अनुष्ठान लगवा देगा। उसने वैसा ही किया। जब उसने दानाध्यक्ष के पास जाके अपना हाल कहा कि आप मेरी कुछ जीविका करा दीजिये। (दानाध्यक्ष) मुझ को क्या देगा ? (अर्थी) जो तुम कहो। २५ (दानाध्यक्ष) "अर्धमर्ध स्वाहा"। [(अर्थी)] महाराज ! मैं नहीं समझ, तुमने क्या कहा ? (दानाध्यक्ष) जो तू आधा हमको दे और आधा तू ले, तो तेरी जीविका लगा दें। (स्वार्थी) जैसे तुम्हारी इच्छा हो, वैसा करो। (दानाध्यक्ष) अच्छा चल राजा के पास। (स्वार्थी) चलो। ३०



खुशामदियों से सभा भरी थी। वहां दोनों पहुंचे। दानाध्यक्ष ने कहा कि यह गो-ब्राह्मण है। इसकी कुछ जीविका कर दीजिये। यह आपका जप-अनुष्ठान किया करेगा। (राजा) अच्छा जो आप कहें। (दानाध्यक्ष) दश रुपये मासिक होने चाहियें। (राजा) बहुत ५. अच्छा। (दानाध्यक्ष) छः महीने का प्रथम मिलना चाहिये। (राजा) अच्छा कोषाध्यक्ष ! इसको छः महीने का जोड़कर देदो। (कोषाध्यक्ष) जो आज्ञा।

जब स्वार्थी रुपये लेने को गया, तब कोषाध्यक्ष बोले— मुझको क्या देगा ? (स्वार्थी) आप भी एक दो ले लीजिये। १०. (कोषाध्यक्ष) छी-छी ! दश रुपये से कम हम नहीं लेंगे, नहीं तो आज रुपये न मिलेंगे, फिर आना। जब तक दानाध्यक्ष ने एक नौकर भेज दिया कि उसको हमारे पास लें आओ, तब तक कोषाध्यक्ष जी ने भी दश रुपये उड़ा लिये।

पचास रुपये लेके चला। मार्ग में (नौकर) कुछ मुझ को भी १५ दे। (स्वार्थी) अच्छा भाई तू भी एक रुपया लेले। (नौकर) लाओ। जब दरवाजे पर आया, तब सिपाहियों ने रोका। कौन ? तुम क्या ले जाते हो ? (नौकर) मैं दानाध्यक्ष का नौकर हूं। (सिपाही) यह कौन है ? (नौकर) जपानुष्ठानी। (सिपाही) कुछ मिला ? (नौकर) यही जाने। (सिपाही) कहो भाई क्या मिला ? (स्वार्थी) जितना २०. तुम लोगों से बचकर घर पहुंचे, सो ही मिला। (सिपाही) हम को भी कुछ देता जा। (स्वार्थी) लो आठ आने। (सिपाही) लाओ।

जब तक दानाध्यक्ष घबराया कि वह भाग तो नहीं गया। दूसरे नौकर से बोला कि देखो वह कहां गया ? तब तक वह स्वार्थी आदि आ पहुंचे। (दानाध्यक्ष) लाओ, रुपये कहां हैं ? (स्वार्थी) २५ ये हैं अड़तालीस। (दानाध्यक्ष) वाह-वाह बारह रुपये कहां गये ? स्वार्थी ने जैसा हुआ था, वंसा कह दिया। (दानाध्यक्ष) अच्छा तो चार मेरे गये और आठ तेरे। (स्वार्थी) अच्छा, जैसी आप की इच्छा हो। तब छब्बीस लिये दानाध्यक्ष ने। और बाईस स्वार्थी ने लेके कहा कि— 'मैं घर हो आऊं, कल आ जाऊंगा।'।

३०. वह दूसरे दिन आया। उससे दानाध्यक्ष ने कहा कि—तू गङ्गाजी पर जाकर राजा का जप कर। और ले यह धोती अंगोछा पञ्च-पात्र माला और गोमुखी। वह लेके गङ्गा पर गया। वहां स्नान



कर माला लेके जप करने बैठा। विचारा कि जो दानाध्यक्ष ने कहा था वही मन्त्र है। ऐसा वह मूर्ख समझ गया। “सरक माला खटक मणका, मैं राजा का जप करूँ, मैं राजा का जप करूँ, मैं राजा का जप करूँ” जपने लगा।

तब किसी दूसरे मूर्ख ने विचारा कि जब उसका लग गया है, तो मेरा भी लग जायगा, चलो। वह गया, वैसा ही हुआ। चलते समय दानाध्यक्ष बोले कि तू जा, जैसा वह करता है वैसा करना। वह गया, वैसे ही आसन पर बैठकर पढ़नेवाले का मन्त्र सुनकर जपने लगा कि—“तू करे सो मैं करूँ, तू करे सो मैं करूँ”।

वैसे ही तीसरा कोई धूर्त जाके सब कुछ कर-करा लाया । १०  
चलते समय दानाध्यक्ष ने कहा कि—‘जब तक निर्वाह होता देखे,  
तब तक करना’ । वह भी इसी अभिप्राय को मन्त्र समझके वहां  
जाकर जप करने को बैठके जपने लगा कि—“ऐसा निभेगा कब तक,  
ऐसा निभेगा कब तक” ।

वैसे ही चौथा कोई मूर्ख सब प्रबन्ध कर-कराके गङ्गा पर जाने लगा । तब दानाध्यक्ष ने कहा कि—‘जब तक निभे तब तक निर्वाह करना’ । वह भी इसको मन्त्र ही समझके गङ्गा पर जाके जप करने को बैठके उन तीनों का मन्त्र सुना । तो एक कहता है—‘मैं राजा का जप करूँ, मैं राजा का जप करूँ, मैं राजा का जप करूँ’ । दूसरा—‘तू करे सो मैं करूँ, तू करे सो मैं करूँ, तू करे सो मैं करूँ’ । तीसरा—‘ऐसा निभेगा कब तक, ऐसा निभेगा कब तक, ऐसा निभेगा कब तक’ । और चौथा जपने लगा कि—‘जब तक निभे तब तक, जब तक निभे तब तक, जब तक निभे तब तक’ ।

ध्यान रखो कि सब अधर्मी और स्वार्थी लोगों की लीला ऐसी ही हुआ करती है कि अपने मतलब के लिये अनेक अन्यायरूप कर्म करके अन्य मनुष्यों को ठग लेते हैं। अभाग्य है ऐसे मनुष्यों का कि जिनके आत्मा अविद्या और अधर्मान्धकार में गिरके कदापि सुख को प्राप्त नहीं होते ।

[धार्मिक विद्वान् राजा का दृष्टान्त]

यहां किसी एक धार्मिक राजा का दृष्टान्त सुनो। कोई एक ३०



विद्वान् धर्मात्मा राजा था। उसके दानाध्यक्ष के पास किसी धूर्त ने जाकर कहा कि मेरी जीविका करादो। (दानाध्यक्ष) तुमने कौन-कौन शास्त्र पढ़ा, और क्या-क्या काम करते हो? (अर्थी) मैं कुछ भी न पढ़ा। और बीस वर्ष तक खेलता-कूदता, गाय-भैंस चराता, खेतों में डोलता, और माता-पिता के सामने आनन्द करता था। अब सब घर का बोझ [मुझ पर] पड़ गया है। आपके पास आया हूँ, कुछ करा दीजिये।

(दानाध्यक्ष) नौकरी-चाकरी करो, तो करा देंगे। (अर्थी) मैं ब्राह्मण साधु जहां-तहां बाजारों में उपदेश करनेवाला हूँ। मुझ से १० ऐसा परिश्रम कहां बन सकता है? (दानाध्यक्ष) तू विद्या के बिना ब्राह्मण, परोपकार के बिना साधु, और विज्ञान के बिना उपदेश कैसे कर सकता होगा? इसलिये नौकरी-चाकरी करना हो तो कर, नहीं तो चला जा।

वह मूर्ख वहां से निराश होकर चला कि यहां मेरी दाल न १५ गलेगी, चलो राजा से कहें। जब राजा के पास आके वैसे ही कहा, तब राजा ने वैसे ही जवाब दिया कि जैसा दानाध्यक्ष जी ने कहा है, वैसे करना हो तो कर, नहीं तो चला जा। वह वहां से चला गया।

इसके पश्चात् एक योग्य विद्वान् ने आके दानाध्यक्ष से मिलके बातचीत की, तो दानाध्यक्ष ने समझ लिया कि यह बहुत अच्छा सुपात्र २० विद्वान् है। जाके राजा से मिलके कहा—‘पण्डित जी से आप भी कुछ बातचीत कीजिये। वैसे ही किया। तब राजा ने परीक्षा करके जाना कि यह अतिश्रेष्ठ विद्वान् है। ऐसा जानकर उनसे कहा कि आपको हजार रुपये मासिक मिलेगा। आप सदा हमारी पाठशाला में विद्यार्थियों को पढ़ाया और धर्मोपदेश किया कीजिये। वैसे २५ ही हुआ।

धन्य ऐसे राजा और दानाध्यक्षादि हैं कि जिनके हृदय में विद्या परमात्मा और धर्मरूप सूर्य प्रकाशित होता है।

(प्र०) ‘दानाभक्ष’ और ‘दानाध्यक्ष’ किसको कहते हैं?

(उ०) जो दाता के दान का भक्षण करके अपना स्वार्थ सिद्ध ३० करता जाय, वह ‘दानाभक्ष’। और जो दाता के दान को सुपात्र विद्वानों को देकर उनसे विद्या और धर्म की उन्नति कराता जाय, वह ‘दानाध्यक्ष’ कहाता है।



(प्र०) 'राजा' किसको कहते हैं ?

(उ०) जो विद्या न्याय जितेन्द्रियता शौर्य धैर्य आदि गुणों से युक्त होकर, अपने पुत्र के समान प्रजा के पालन में श्रेष्ठों की यथायोग्य रक्षा और दुष्टों को दण्ड देकर, धर्म अर्थ काम और मोक्ष की प्राप्ति से युक्त होकर, अपनी प्रजा को कराकर आनन्दित रहता, और सब को सुख से युक्त कराता है, वह 'राजा' कहाता है ।

(प्र०) 'प्रजा' किसको कहते हैं ?

(उ०) जैसे पुत्रादि तन मन धन से अपने माता-पितादि की सेवा करके उनको सर्वदा प्रसन्न रखते हैं, वैसे प्रजा अनेक प्रकार के धर्मयुक्त व्यवहारों से पदार्थों को सिद्ध करके राजसभा को कर देकर उनको सदा प्रसन्न रखे, वह 'प्रजा' कहाती है ।

और जो अपना हित और प्रजा का अहित करना चाहे वह न राजा, और जो अपना हित और राजा का अहित चाहे, वह प्रजा भी नहीं है । किन्तु उनको एक-दूसरे का शत्रु डाकू चोर समझना चाहिये । क्योंकि दोनों धार्मिक होके एक-दूसरे का हित करने में नित्य प्रवर्तमान हों, तभी उनकी राजा और प्रजा संज्ञा होती है, विपरीत की नहीं । जैसे -

[अन्धेर नगरी और गवर्गण्ड राजा का दृष्टान्त]

अन्धेर नगरी गवर्गण्ड राजा ।

टके सेर भाजी टके सेर खाजा ॥

२०

एक बड़ा धार्मिक विद्वान् सभाध्यक्ष राजा यथावत् राजनीति से युक्त होकर प्रजापालनादि उचित समय में ठीक-ठीक करता था । उसकी नगरी का नाम "प्रकाशवती", राजा का नाम "धर्मपाल", और व्यवस्था का नाम "यथायोग्य करनेहारी" था । वह तो मर गया । पश्चात् उसका लड़का, जो महा अधर्मी मूर्ख था, उसने गद्दी पर बैठके सभा से कहा कि—'जो मेरी आज्ञा माने, वह मेरे पास रहे । और जो न माने, वह यहां से निकल जाये' । तब बड़े-बड़े धार्मिक सभासद् बोले कि—'जैसे आपके पिता सभा की सम्मति के अनुकूल वर्तते थे, वैसा आप को भी वर्तना चाहिये' ।

(राजा) उनका काम उनके साथ गया । अब मेरी जैसी इच्छा होगी, वैसा करूंगा । (सभा) जो आप सभा का कहा न करेंगे, तो

३०



राज्य का नाश, अथवा आपका ही नाश हो जावेगा। (राजा) मेरा तो जब होगा तब होगा, परन्तु तुम यहां से चले जाओ। नहीं तो तुम्हारा नाश तो मैं अभी कर दूंगा। सभासदों ने कहा कि—“बिनाश-काले विपरीतबुद्धिः”। जिसका शीघ्र नाश होना होता है, उसकी बुद्धि पहले ही से विपरीत हो जाती है। चलिये, यहां अपना निर्वाह न होगा। वे चले गये, और महामूर्ख धूर्त खुशामदी लोगों की मण्डली उसके साथ हो गई।

राजा ने कहा कि—“आज से मेरा नाम “गवर्गण्ड”, नगरी का नाम “अन्धेर”। और जो-जो मेरे पिता और सभा करती थी, उससे सब काम मैं उल्टा ही करूंगा। जैसे मेरे पिता और सभासद रात में सोते और दिन में राज्यकार्य करते थे, वैसे ही उससे विपरीत हम लोग दिन में सोवेंगे, और रात में राज्यकार्य करेंगे। उनके सामने उनके राज्य में सब चीजें अपने-अपने भाव पर बिकती थीं। हमारे राज्य में केशर कस्तूरी से लेकर मिट्टी पर्यन्त सब चीज एक टके सेर बिकेगी।

जब ऐसी प्रसिद्धि देश-देशान्तरों में हुई, तब किसी स्थान में दो गुरु-शिष्य बैरागी अखाड़ों में मल्लविद्या करते, पांच-पांच सेर खाते, और बड़े मोटे थे। चले ने गुरु से कहा कि—“चलिये अन्धेर नगरी में। वहां दश (१०) टकों में दश सेर मलाई आदि माल चाबके खूब तैयार होंगे”। गुरु ने कहा कि—“वहां गवर्गण्ड के राज्य में कभी न जाना चाहिये। क्योंकि किसी दिन खाया-पिया सब निकल जावेगा, वरन प्राण भी बचना कठिन होगा”। फिर जब चले ने हठ किया, तब गुरु भी मोह से साथ चला गया। वहां जाके अन्धेर नगरी के समीप वगीचे में निवास किया, और खूब माल चाबते और कुश्ती किया करते थे।

इतने में कभी एक आधी रात में किसी साहूकार का नौकर एक हजार रुपयों की थैली लेके किसी साहूकार की दूकान पर जमा करने को जाता था। बीच में उचक्कों ने आकर रुपयों की थैली छीन कर भागे। उसने जब पुकारा, तब थाने के सिपाहियों ने आकर पूछा कि क्या है? उसने कहा कि—“अभी उचक्के मुझ से रुपयों को छीनकर लिये जाते हैं”। सिपाही धीरे-धीरे चलके किसी भले आदमी को पकड़ लाये कि तू ही चोर है। उसने उनसे कहा कि—“मैं फलाने साहूकार का नौकर हूँ, चलो पूछ लो”। (सिपाही) हम नहीं



पूछते, चल राजा के पास । पकड़कर राजा के पास ले जाकर कहा कि—‘इसने हजार रुपयों की थैली चोरली है’ । गवर्गण्ड और आस-पासवालों में से किसी ने कुछ भी न पूछा न गाछा । वह विचारा पुकारता ही रहा कि मैं उस साहूकार का नौकर हूँ, परन्तु किसी ने न सुना । भट्ट हुक्म चढ़ा दिया कि इसको शूली पर ५ चढ़ा दो ।

शूली लोहे की बरछी और सरों के वृक्ष के समान अणीदार होती है । उस पर मनुष्य को चढ़ा उलटा कर नाभि में उस की अणी लगा देने पार निकल जाने पर वह कुछ विलम्ब से मर जाता है । गवर्गण्ड के नौकर भी उसके सदृश क्यों न हों ? क्योंकि १० “समान[शील]व्यसनेषु मैत्री” जिन का स्वभाव एक सा होता है, उन्हीं की परस्पर मित्रता भी होती है । जैसे धर्मात्माओं की धर्मात्माओं, पण्डितों की पण्डितों, दुष्टों और व्यभिचारियों की [दुष्टों और] व्यभिचारियों के साथ मित्रता होती है । न कभी धर्मात्मादि का अधर्मात्मादि, और न अधर्मात्माओं का धर्मात्माओं के साथ मेल १५ हो सकता है ।

गवर्गण्ड के सिपाहियों ने विचारा कि—‘शूली तो [है] मोटी, और मनुष्य है दुबला, अब क्या करना चाहिये ?’ तब राजा के पास जाके सब बात कही । उस पर गवर्गण्ड ने हुक्म दिया कि—‘अच्छा तो इसको छोड़ दो, और जो कोई शूली के सदृश, मोटा हो २० उसको पकड़के इस के बदले चढ़ा दो । तब गवर्गण्ड के सिपाहियों ने विचारा कि शूली के सदृश खोजो । तब किसी ने कहा कि इस शूली के सदृश तो बगीचेवाले गुरु-चेला दोनों वैरागी ही हैं । सब बोले कि—ठीक-ठीक तो उसका चेला ही है ।

जब बहुत से सिपाहियों ने बगीचे में जाके उसके चेले से कहा २५ कि तुझको महाराज का हुक्म है कि शूली पर चढ़ने के लिये चल । तब तो वह घबराके बोला कि—‘हमने तो कोई अपराध नहीं किया’ । (सिपाही) अपराध तो नहीं किया, परन्तु तू ही शूली के समतुल्य है, हम क्या करें ? (साधु) क्या दूसरा कोई नहीं है ? (सिपाही) नहीं । बहुत बर-बर मत कर, चल महाराज का हुक्म ३० है ।

तब चेला गुरु से बोला कि—‘महाराज! अब क्या करना



- चाहिये' ? (गुरु) हमने तुझ से प्रथम ही कहा था कि अन्धेर नगरी गवर्गण्ड के राज्य में मुफ्त के माल चाबने को मत चलो । तूने नहीं माना, अब हम क्या करें, जैसा हो वैसा भोग । देख अब सब खाया-पिया निकल जावेगा । (चेला) अब किसी प्रकार बचाओ, १. तो यहां से दूसरे राज्य में चले जावें । (गुरु) एक युक्ति है बचने की, सो करो तो बचने का सम्भव है । शूली पर चढ़ते समय तू मुझको हटाना, मैं तुझको हटाऊँ । इस प्रकार परस्पर लड़ने से कुछ बचने का उपाय निकल आवेगा । (चेला) अच्छा तो चलिये । सब बातें दूसरे देश की भाषा में कीं, इससे सिपाही कुछ भी न १० समझे । सिपाहियों ने कहा कि—'चलो देर मत लगाओ, नहीं तो बांधके ले जायेंगे' । साधुओं ने कहा कि हम प्रसन्नतापूर्वक चलते हैं, तुम क्यों बांधो ? (सिपाही) अच्छा तो चलो ।

- जब शूली के पास पहुँचे, तब दोनों लंगोट बांधके मिट्टी लगा-के खूब लड़ने लगे । गुरु ने कहा कि शूली पर मैं ही चढ़ूँगा । (चेला) १५ चेला का धर्म नहीं कि मेरे होते गुरु शूली पर चढ़े । (गुरु) मेरा भी धर्म नहीं कि मेरे सामने चेला शूली पर चढ़ जाये । हां, मुझको मारकर पीछे भले ही शूली पर चढ़ जाना । क्यों बकंता है, चुप रह । समय चला जाता है । ऐसा कहकर शूली पर चढ़ने लगा । तब चेले ने गुरु को पकड़कर धक्का देकर अलग किया [और] आप चढ़ने लगा । २० फिर गुरु ने भी वैसा ही किया । तब तो गवर्गण्ड के सिपाही कामदार सब तमाशा देखते थे । उन्होंने कहा कि तुम शूली पर चढ़ने के लिये क्यों लड़ते हो ? तब दोनों साधु बोले कि—'हमसे इस बात को मत पूछो, चढ़ने दो । क्योंकि हमको ऐसा समय मिलना दुर्लभ है'

- २५ यह बात तो यहां ऐसे ही होती रही, और गवर्गण्ड के पास खुशामदियों की सभा भरी हुई थी । आप वहां से उठ और भोजन करके सिंहासन पर बैठकर सबसे बोला कि—'बैंगन का शाक अत्युत्तम होता है' । सुनकर खुशामदी लोग बोले कि—'धन्य है महाराज की बुद्धि को, बैंगन के शाक को चाखते ही शीघ्र उसकी परीक्षा ३० करली । सुनिये महाराज ! जब बैंगन अच्छा है, तभी तो परमेश्वर ने उसके ऊपर मुकुट, चारों ओर कलगी, ऊपर का वर्ण घनश्याम,



भीतर का वर्ण मक्खन के समान बनाया है'। ऐसा सुनकर गवर्गण्ड और सब सभा के लोग अति प्रसन्न होकर हँसे ।

जब गवर्गण्ड अपने महलों में सोने को गया, डौढ़ी बन्द हुई, तब खुशामदी लोगों ने चौकी पहरवालों से कहा कि—'जब तक प्रातः काल हम न आवें, तब तक किसी का मिलाप महाराज के साथ मत होने देना' । उनने कहा कि अच्छा । आज के दिन कुछ गहरी प्राप्ति नहीं हुई । (खुशामदी) आज न हुई कल हो जावेगी, हमारा और तुम्हारा तो साझा ही है । जो कुछ खजाने और प्रजा से निकालकर अपने घर में पहुँचे, वही अपना है । जब राजा को नशा और रण्डी-बाजी आदि खेल में सब लोग मिलकर लगा देंगे, तभी अपना गहरा होगा । खजाना अपना ही है । और सब आपस में मिने रहो, फूटना न चाहिये । सब ने कहा—'हां जी हां, यही ठीक है' ।

वे तो चले गये । जब गवर्गण्ड सोने को गया, तब गर्म मणाले पड़े हुये बैंगन के शाक ने गर्मी की, और जंगल की हाजत हुई । ले लोटा जाजरूर में गया, रातभर खूब जुलाब लगा । रात्रि में कोई ३० तीस दस्त हुये । रात्रिभर नींद न आई, बड़ा व्याकुल रहा । उसी समय वैद्यों को बुलाया । वे भी गवर्गण्ड के सदृश ही थे । ऊटपटांग ओषधियां दीं, उनने और भी बिगाड़ किया । क्योंकि गवर्गण्ड के पास बुद्धिमान् क्योंकर ठहर सकते हैं ? जब प्रातःकाल हुआ, तब खुशामदियों की मंडली ने सभा का स्थान घेरके दासियों में पूछा कि—'महाराज क्या करते हैं' ? (दासी) आज रातभर जुलाब लगा, और व्याकुल रहे । (खुशामदी) क्या कोई रात्रि में महाराज के पास आया भी था ? (दासी) दस-बारह जने आये थे । (खुशामदी) कौन-कौन आये थे, उनके नाम भी जानती हो ? (दासी) हां, तीन के नाम जानती हूं, अन्य के नहीं ।

तब तो खुशामदी लोग विचारने लगे कि किसी ने अपनी निन्दा तो न करदी हो । इसलिये आज से हममें से एक-दो पुरुषों को रात में भी डौढ़ी में अवश्य रहना चाहिये । सब ने कहा—बहुत ठीक है । इतने में आठ बजे के समय मुखमलीन गवर्गण्ड आकर गद्दी पर बैठा । तब खुशामदियों ने भी उससे सौगुणा मुख बिगाड़कर शोकाकृति- मुख होकर ऊपर से झूठमूठ अपनी चेष्टा जनाई । (गवर्गण्ड) बैंगन का शाक खाने में तो स्वादु होता है, परन्तु बादी करता है ।



उससे हमको बहुत दस्त लगने से रात्रि भर दुःख हुआ। (खुशामदी) वाह जी वाह महाराज ! आपके सदृश न कोई राजा हुआ और न होगा, और न कोई इस समय है। क्योंकि महाराज ने खाते समय तो उसके गुणों की परीक्षा की, और रात्रिभर में दोष भी जान ५ लिये। देखिये महाराज ! जब बैंगन दुष्ट है, तभी तो परमेश्वर ने उसके ऊपर खूँटी, चारों ओर कांटे लगा दिये। ऊपर का वर्ण कोयलों के समान, और भीतर का रंग कोढ़ी की चमड़ी के सदृश किया है।

(गवर्गण्ड) क्यों जी ! कल रात को तो तुमने इसकी प्रशंसा में १० मुकुट आदि का अलंकार, और इस समय उसकी निन्दा में खूँटी आदि की उपमा देते हो ? अब हम किसको सच्ची मानें ? (खुशामदी) घबराके बोले कि—‘धन्य धन्य धन्य है आपकी विशाल बुद्धि को’, क्योंकि कल सन्ध्या की बात अब तक भी नहीं भूले। सुनिये महाराज ! हमको साले बैंगन से क्या लेना-देना था। हमको तो १५ आपकी प्रसन्नता में प्रसन्नता और अप्रसन्नता में अप्रसन्नता है। जो आप रात को दिन और दिन को रात, सत्य को झूठ वा झूठ को सत्य कहें, सो सभी ठीक है’। (गवर्गण्ड) हां-हां, नौकरों का यही धर्म है कि कभी स्वामी की किसी बात में प्रत्युत्तर न दें, किन्तु हांजी-हांजी ही करते जायें।

२० (खुशामदी) ठीक है, राजाओं का यही धर्म है कि किसी बात की चिन्ता कभी न करें। रात-दिन अपने सुख में मग्न रहें। नौकर-चाकरों पर सदा विश्वास करके सब काम उनके आधीन रखें। बनिये बक्काल के समान हिसाब-किताब कभी न देखें। जो कुछ सुपेद का काला और काले का सुपेद करें, सो २५ ही ठीक रखें। जिस दरख्त को लगावें, उसको कभी न काटें। जिसको ग्रहण किया, उसको कभी न छोड़ें, चाहें कितना ही अपराध करे। क्योंकि जब राजा होके भी किसी काम पर ध्यान देकर आप अपने आत्मा मन और शरीर से परिश्रम किया, तो जानो उनका कर्म फूट गया। और जब हिसाब आदि में दृष्टि की, तो ३० वह महादरिद्र है, राजा नहीं।

(गवर्गण्ड) क्योंजी ! कोई मेरे तुल्य राजा और तुम्हारे सदृश सभासद् कभी हुये होंगे, और आगे कोई होंगे वा नहीं ? (खुशामदी)



नहीं नहीं, कदापि नहीं। न हुआ न होगा और न है। (गवर्गण्ड) सत्य है। क्या ईश्वर भी हम से अधिक उत्तम होगा? (खुशामदी) कभी नहीं हो सकता। क्योंकि उसको किसने देखा है? आप तो साक्षात् परमेश्वर हैं। क्योंकि आप की कृपा से दरिद्र का घनाढ्य, अयोग्य का योग्य; और अकृपा से घनाढ्य का दरिद्र, योग्य से अयोग्य ५ तत्काल ही हो सकता है।

इतने में नियत किये प्रातःकाल को सायंकाल मानकर सोने को सब लोग गये। जब सायंकाल हुआ, तब फिर सभा लगी। इतने में सिपाहियों ने आकर साधुओं के भगड़े की बात कही। सुनकर गवर्गण्ड ने सभासहित वहां जाके साधुओं से पूछा कि तुम शूली पर १० चढ़ने के लिये क्यों सुख मानते हो? (साधु) तुम हमसे मत पूछो, चढ़ने दो, समय चला जाता है। ऐसा समय हमको बड़े भाग्य से मिला है। (गवर्गण्ड) इस समय में शूली पर चढ़ने से क्या फल होगा? (साधु) हम नहीं कहते। जो चढ़ेगा, वह फल देख लेगा। हमको चढ़ने दो। (गवर्गण्ड) नहीं-नहीं। जो फल होता हो, सो १५ कहो। सिपाहियो! इनको इधर पकड़ लाओ। [वे] पकड़ लाये।

(साधु) हमको क्यों नहीं चढ़ने देते? भगड़ा क्यों करते हो? (गवर्गण्ड) जब तक तुम इसका फल न कहोगे, तब तक हम कभी न चढ़ने देंगे। (साधु) दूसरे को कहने की तो बात नहीं है, परन्तु तुम हठ करते हो, तो सुनो—‘जो कोई मनुष्य इस समय में शूली पर चढ़- २० कर प्राण छोड़ देगा, वह चतुर्भुज होकर विमान में बैठके आनन्दरूप स्वर्ग को प्राप्त होगा। (गवर्गण्ड) अहो ऐसी बात है, तो मैं ही चढ़ता हूं, तुमको न चढ़ने दूंगा। ऐसा कहकर भट्ट आप ही शूली पर चढ़कर प्राण छोड़ दिये। साधु अपने आसन पर आये। चले ने कहा कि—‘महाराज! चलिये। यहां अब न रहना चाहिये’। गुरु ने कहा २५ कि—‘अब कुछ चिन्ता नहीं। जो पाप की जड़ गवर्गण्ड था, वह मर गया। अब धर्मराज्य होगा। क्या चिन्ता है, यहीं रहो’।

उसी समय उसका छोटा भाई बड़ा विद्वान्, पिता के सदृश धार्मिक, और जो उसके पिता के समान धार्मिक सभासद्, और प्रजा में से सत्पुरुष—जो कि उसके पिता के मरने के पश्चात् गवर्गण्ड ने निकाल ३० दिये थे—वे सब आके सुनौति नामक छोटे भाई को राज्याधिकारी



करके उसके मुँह को शूली पर से उतारके जला दिया । और खुशामदियों की मण्डली को अत्युग्र दण्ड देके कुछ कैद कर दिये, और बहुतों को नौका में बैठाकर किसी समुद्र के बीच निर्जन द्वीपान्तर में बन्दीखाने में डालकर, अत्युत्तम विद्वान् धार्मिकों की सम्मति से ५ श्रेष्ठों का पालन, दुष्टों का ताड़न, विद्या-विज्ञान और सत्य-धर्म की वृद्धि आदि उत्तम कर्म करके पुरुषार्थ से यथायोग्य राज्य की व्यवस्था चलाने लगे । और पुनः प्रकाशवती नगरी [में 'यथायोग्य करनेहारी'] नाम की व्यवस्था चलाने लगे । और पुनः नगरी का प्रकाशवती नाम प्रकाश हुआ, और उचित समय पर सब उत्तम काम होने लगे ।

- १० जब जिस देशस्थ प्राणियों का अभाग्य उदय होता है, तब गवर्गण्ड के सदृश स्वार्थी अधर्मी प्रजा का विनाश करनेहारे राजा, घनाढ्य और खुशामदियों की सभा, और उनके समतुल्य अधर्मी उपद्रवी राजविद्रोही प्रजा भी होती है । और जब जिस देशस्थ प्राणियों का सौभाग्य उदय होनेवाला होता है, तब सुनीति के समान १५ धार्मिक विद्वान् [राजा], पुत्रवत् प्रजा का पालन करनेवाली राज-सहित सभा, और धार्मिक पुरुषार्थी पिता के समान राजप्रबन्ध में प्रीतियुक्त मङ्गलकारिणी प्रजा होती है ।

जहां अभाग्योदय, वहां विपरीत-बुद्धि मनुष्य परस्पर द्रोहादि-स्वरूप धर्म से विपरीत दुःख के ही काम करते जाते हैं ।

- २० और जहां सौभाग्योदय, वहां परस्पर उपकार प्रीति विद्या सत्य धर्म आदि उत्तम कार्य अधर्म से अलग होकर करते रहते हैं, वे सदा आनन्द को प्राप्त होते हैं । जो मनुष्य विद्या कम भी जानता हो, परन्तु पूर्वोक्त दुष्ट व्यवहारों को छोड़कर धार्मिक होके खाने-पीने बोलने-सुनने बैठने-उठने लेने-देने आदि व्यवहार सत्य से युक्त २५ यथायोग्य करता है, वह कहीं कभी दुःख को प्राप्त नहीं होता । और जो सम्पूर्ण विद्या पढ़के, पूर्वोक्त उत्तम व्यवहारों को छोड़के दुष्ट कर्मों को करता है, वह कहीं कभी सुख को प्राप्त नहीं हो सकता । इसलिये सब मनुष्यों को उचित है कि आप अपने लड़के-लड़की इष्ट-मित्र अड़ौसी-पड़ौसी और स्वामी-भृत्य आदि को विद्या ३० और सुशिक्षा से युक्त करके सर्वदा आनन्द करते रहें ॥

इति श्रीमद्भयानन्दसरस्वतीनिर्मितो

व्यवहारभानुः समाप्तः ॥



---

---

# अथ गोकर्णानिधिः

---

---



पिनीयुक्तकाम



ओ३म् नमो नमः सर्वशक्तिमते जगदीश्वराय

## भूमिका

इन्द्रो विश्वस्य राजति । शन्नोऽ अस्तु द्विपदे शं चतुष्पदे ॥

य० अ० ३६ । मं० ८ ॥

तनोतु सर्वेश्वर उत्तमं बलं गवादिरक्षं विविधं वयेरितः । ५

अशेषविघ्नानि निहत्य न प्रभुः सहायकारी विदधतु गोहितम् ॥१॥

ये गोसुखं सम्यगुशन्ति धीरास्ते धर्मजं सौख्यमयावदन्ते ।

क्रूरा नराः पापरता नयन्ति प्रज्ञाविहीनाः पशुहिंसाकास्तत् ॥२॥

वे धर्मात्मा विद्वान् लोग धन्य हैं, जो ईश्वर के गुण कर्म स्वभाव, अभिप्राय, सृष्टि-क्रम, प्रत्यक्षादि प्रमाण, और आप्तों के आचार से अविरुद्ध १० चलके सब संसार को सुख पहुँचाते हैं । और शोक है उन पर, जो कि इनसे विरुद्ध स्वार्थी दयाहीन होकर जगत् में हानि करने के लिये वर्तमान हैं । पूजनीय जन वे हैं कि जो अपनी हानि होती हो, तो भी सब के हित के करने में अपना तन मन धन लगाते हैं । और तिरस्करणीय वे हैं, जो अपने ही लाभ में सन्तुष्ट रहकर सबके सुखों का नाश करते हैं । १५

ऐसा सृष्टि में कौन मनुष्य होगा, जो सुख और दुःख को स्वयं न मानता हो ? क्या ऐसा कोई भी मनुष्य है कि जिसके गले को काटे वा रक्षा करे, वह दुःख और सुख का अनुभव न करे ? जब सब को लाभ और सुख ही में प्रसन्नता है, तो बिना अपराध किसी प्राणी का प्राण-वियोग करके अपना पोषण करना यह सत्पुरुषों के सामने निन्दित कर्म क्यों न होवे ? २०

सर्वशक्तिमान् जगदीश्वर इस सृष्टि में मनुष्यों के आत्माओं में अपनी दया और न्याय को प्रकाशित करे, कि जिससे ये सब दया और न्याययुक्त होकर सर्वदा सर्वोपकारक काम करें । और स्वार्थपन से पक्षपातयुक्त होकर कृपापात्र गाय आदि पशुओं का विनाश न करें, कि जिससे दुग्ध आदि पदार्थों और खेती आदि क्रियाओं की सिद्धि से युक्त होकर सब मनुष्य आनन्द में रहें । २५

इस ग्रन्थ में जो कुछ अधिक न्यून वा अयुक्त लेख हुआ हो, उसको बुद्धिमान् लोग इस ग्रन्थ के तात्पर्य के अनकूल कर लेंगे । धार्मिक विद्वानों



की यही योग्यता है कि वक्ता के वचन और ग्रन्थकर्ता के अभिप्राय के अनुसार ही समझ लेते हैं। यह ग्रन्थ इसी अभिप्राय से रचा गया है। जिससे गो आदि पशु जहां तक सामर्थ्य हो बचाये जावें, और उनके बचाने से दूध घी और खेती के बढ़ने से सब को सुख बढ़ता रहे। परमात्मा कृपा करे कि यह ५ अभीष्ट शीघ्र सिद्ध हो।

इस ग्रन्थ में तीन प्रकरण हैं—एक समीक्षा, दूसरा नियम, और तीसरा उपनियम। इनको ध्यान दे पक्षपात छोड़ विचारके राजा तथा प्रजा यथावत् उपयोग में लावें, कि जिससे दोनों के लिये सुख बढ़ता ही रहे ॥

॥ इति भूमिका ॥

१०

## विशेष

ऋषि दयानन्द ने गवादि पशुओं की रक्षा के विषय में अपने प्रसिद्धतम ग्रन्थ सत्यार्थ-प्रकाश में भी संक्षेप से लिखा है। द्र०—समु० १०, पृष्ठ ३६५, पं० १४ से पृष्ठ ३६७, पं० २२ तक (रालाकट्ट० संस्करण)।

सत्यार्थ-प्रकाश (पृष्ठ ३६५-३६६) में गाय और बैल से प्राप्त होनेवाले १५ दूध और अन्न का हिसाब लगाकर इनके एक-एक जीवन से कितने प्राणियों को लाभ पहुंचता है, दर्शाया है। सत्यार्थ-प्रकाश और गोकर्णानिधि की एतद्विषयक संख्याओं में कुछ भेद है, वह भेद सामान्य भूत आनुमानिक गणना के कारण है। सत्यार्थ-प्रकाश पृष्ठ ३६६ पं० ८ में जो सर्वयोग '४, ७५, ६०० (चार लाख पचहत्तर हजार छः सौ)' लिखा है, उसमें योग सम्बन्धी कुछ भूल है (द्र०— २० पृष्ठ ३६६ की टि० २)।

—सम्पादक



ॐ श्री ३म् ॐ

## अथ गोकर्षणानिधिः

[ गोकृष्यादिरक्षिणीसभा ]

[ १ ] अथ समीक्षा-प्रकरणम्

इस सभा का नाम 'गोकृष्यादिरक्षिणी' इसलिये रक्खा है, जिससे ५  
गवादि पशु और कृष्यादि कर्मों की रक्षा और वृद्धि होकर सब  
प्रकार के उत्तम सुख मनुष्यादि प्राणियों को प्राप्त होते हैं, और इस  
के बिना निम्नलिखित सुख कभी नहीं प्राप्त हो सकते—

सर्वशक्तिमान् जगदीश्वर ने इस सृष्टि में जो-जो पदार्थ बनाये  
हैं, वे निष्प्रयोजन नहीं। किन्तु एक-एक वस्तु अनेक-अनेक प्रयोजन १०  
के लिये रची है। इसलिये उनसे वे ही प्रयोजन लेना न्याय, अन्यथा  
अन्याय है। देखिये, जिसलिये यह नेत्र बनाया है, इससे वही कार्य  
लेना सबको उचित होता है, न कि उससे पूर्ण प्रयोजन न लेकर  
बीच ही में वह नष्ट कर दिया जावे। क्या जिन-जिन प्रयोजनों के  
लिये परमात्मा ने जो-जो पदार्थ बनाये हैं, उन-उन से वे-वे १५  
प्रयोजन न लेकर उनको प्रथम ही विनष्ट कर देना सत्पुरुषों के  
विचार में बुरा कर्म नहीं है? पक्षपात छोड़कर देखिये, गाय आदि  
पशु और कृषि आदि कर्मों से सब संसार को असंख्य सुख होते  
हैं, वा नहीं? जैसे दो और दो चार, वैसे ही सत्यविद्या से जो-जो  
विषय जाने जाते हैं, वे अन्यथा कभी नहीं हो सकते। २०

जो एक गाय न्यून से न्यून दो सेर दूध देती हो, और दूसरी  
बीस सेर, तो प्रत्येक गाय के ग्यारह सेर दूध होने में कोई शंका नहीं  
इस हिसाब से एक मास में ८। सवा आठ मन दूध होता है। एक  
गाय कम से कम ६ महीने, और दूसरी अधिक से अधिक १८ महीने  
तक दूध देती है। तो दोनों का मध्यभाग प्रत्येक गाय के दूध देने में २५  
बारह महीने होते हैं। इस हिसाब से बारह महीनों का दूध ९९  
निम्नानवे मन होता है।

इतने दूध को आटाकर प्रति सेर में छटांक चावल और डेढ़  
छटांक चीनी डालकर खीर बना खावे, तो प्रत्येक पुरुष के लिये दो



सेर दूध की खीर पुष्कल होती है। क्योंकि यह भी एक मध्यभाग की गिनती है। अर्थात् कोई दो सेर दूध की खीर से अधिक खायागा और कोई न्यून। इस हिसाब से एक प्रसूता गाय के दूध से १६८० एक हजार नवसौ अस्सी मनुष्य एक बार तृप्त होते हैं। गाय न्यून ५ से न्यून ८ और अधिक से अधिक १८ बार व्याती है, इसका मध्य भाग तेरह बार आया। तो २५७४० पच्चीस हजार सातसौ चालीस मनुष्य एक गाय के जन्म भरके दूधमात्र से एक बार तृप्त हो सकते हैं।

- इस गाय के एक पीढ़ी में छः बछियां और सात बछड़े हुये। इन में से एक की मृत्यु रोगादि से होना सम्भव है, तो भी बारह रहे।
१०. उन छः बछियाओं के दूधमात्र से उक्त प्रकार १५४४४० एक लाख चौवन हजार चारसौ चालीस मनुष्यों का पालन हो सकता है। अब रहे छः बैल, उन में एक जोड़ी से दोनों साख में २०० दोसौ मन अन्न उत्पन्न हो सकता है। इस प्रकार तीन जोड़ी ६०० छः सौ मन अन्न उत्पन्न कर सकती हैं, और उनके कार्य का मध्यभाग आठ वर्ष है।
१५. इस हिसाब से ४८०० चार हजार आठसौ मन अन्न उत्पन्न करने की शक्ति एक जन्म में तीनों जोड़ी की है।

- ४८०० मन अन्न से प्रत्येक मनुष्य का तीन पाव अन्न भोजन में गिनें, तो २५६००० दो लाख छप्पन हजार मनुष्यों का एक बार भोजन होता है। दूध और अन्न को मिलाकर देखने से निश्चय है
२०. कि ४१०४४० चार लाख दश हजार चारसौ चालीस मनुष्यों का पालन एक बार के भोजन से होता है। अब छः गाय की पीढ़ी परपीढ़ियों का हिसाब लगाकर देखा जावे, तो असंख्य मनुष्यों का पालन हो सकता है। और इसके मांस से अनुमान है कि केवल अस्सी मांसाहारी मनुष्य एक बार तृप्त हो सकते हैं। देखो, तुच्छ
२५. लाभ के लिये लाखों प्राणियों को मार असंख्य मनुष्यों की हानि करना महापाप क्यों नहीं ?

- यद्यपि गाय के दूध से भैंस का दूध कुछ अधिक, और बैलों से भैंसा कुछ न्यून लाभ पहुंचाता है, तथापि जितना गाय के दूध और बैलों के उपयोग से मनुष्यों को सुखों का लाभ होता है, उतना भैंसियों
३०. के दूध और भैंसा से नहीं। क्योंकि जितने आरोग्यकारक और बुद्धि-वर्द्धक आदि गुण गाय के दूध में और लाभ बैलों से होते हैं, उतने

१. वैयमुद्रित में 'दूध और बैलों में' अपपाठ है।



भैंस के 'दूध और भैंसे आदि से नहीं हो सकते । इसलिये आर्यों ने गाय सर्वात्तम मानी हैं ।

और ऊंटनी का दूध गाय और भैंस के दूध से भी अधिक होता है, तो भी इनका दूध गाय के सदृश नहीं । ऊंट और ऊंटनी के गुण भार उठाकर शीघ्र पहुँचाने के लिये प्रशंसनीय हैं । ५

अब एक बकरी कम से कम एक, और अधिक से अधिक पांच सेर दूध देती है । इसका मध्यभाग प्रत्येक बकरी से तीन सेर दूध होता है । और न्यून से न्यून तीन महीने और अधिक से अधिक पांच महीने तक दध देती है । तो प्रत्येक बकरी के दूध देने में मध्यभाग चार महीने हुये । वह एक मास में २। सवा दो मन और चार मास १० में १ मन होता है ।

पूर्वोक्त प्रकारानुसार इस दूध से १८० एक सौ अस्सी मनुष्यों की तृप्ति होती है । और एक बकरी एक वर्ष में दो बार ब्याती है । इस हिसाब से एक वर्ष में एक बकरी के दूध के एक बार भोजन से ३६० तीन सौ साठ मनुष्यों की तृप्ति होती है । कोई बकरी न्यून से १५ न्यून चार वर्ष और कोई अधिक से अधिक ८ वर्ष तक ब्याती है, इसका मध्य छाग ६ छः वर्ष हुआ । तो जन्म भरके दूध से २१६० दो हजार एक सौ साठ मनुष्यों का एक बार के भोजन से पालन होता है ।

अब उसके बच्चा-बच्ची मध्यभाग से २४ चौबीस हुये । क्योंकि कोई २० न्यून से न्यून एक और कोई अधिक से अधिक तीन बच्चों से ब्याती है । उनमें से दो का अल्प मृत्यु समझो, रहे २२ बाईस । उनमें से १२ बकरियों के दूध से २५६२० पच्चीस हजार नवसौ बीस मनुष्यों का एक दिन पालन होता है । उसकी पीढ़ी परपीढ़ी के हिसाब लगाने से असंख्य मनुष्यों का पालन हो सकता है । और बकरे भी बोझ उठाने २५ आदि प्रयोजनों में आते हैं । और बकरा-बकरी और भेड़-भेड़ी के ऊन के वस्त्रों से मनुष्यों को बड़े-बड़े सुख-लाभ होते हैं । यद्यपि भेड़ी का दूध बकरी के दूध से कम होता है, तथापि बकरी के दूध से उसके दूध में बल और घृत अधिक होता है । इसी प्रकार अन्य दूध देनेवाले पशुओं के दूध से भी अनेक प्रकार के सुख-लाभ ३० होते हैं ।

१. वयमुद्रित में 'दूध और भैंसे आदि में' अपपाठ है ।



जैसे ऊंट-ऊंटनी से लाभ होते हैं, वैसे ही घोड़े-घोड़ी और हाथी आदि से अधिक कार्य सिद्ध होते हैं। इसी प्रकार सुअर, कुत्ता, मुर्गा-मुर्गी और मोर आदि पक्षियों से भी अनेक उपकार होते हैं। जो पुरुष हरिण और सिंह आदि पशु और मोर आदि पक्षियों से भी ५ उपकार लेना चाहें, तो ले सकते हैं। परन्तु सब का पालन उत्तरोत्तर समयानुकूल होवेगा। वर्तमान में परमोपकारक गो की रक्षा में मुख्य तात्पर्य है।

दो ही प्रकार से मनुष्य आदि की प्राणरक्षा, जीवन, सुख, विद्या, बल और पुरुषार्थ आदि की वृद्धि होती है—एक अन्नपान १० दूसरा आच्छादन। इनमें से प्रथम के बिना मनुष्यादि का सर्वथा प्रलय, और दूसरे के बिना अनेक प्रकार की पीड़ा होती है।

देखिये, जो पशु निःसार घास-तृण-पत्ते फल-फूल आदि खावें, और सार दूध आदि अमृतरूपी रत्न देवें, हल गाड़ी में चलके अनेक-विध अन्न आदि उत्पन्न कर सबके बुद्धि बल पराक्रम को बढ़ाके १५ नीरोगता करें, पुत्र-पुत्री और मित्र आदि के समान पुरुषों के साथ विश्वास और प्रेम करें, जहां बांधे वहां बंधे रहें, जिधर चलावें उधर चलें, जहां से हटावें वहां से हट जावें, देखने और बुलाने पर समीप चले आवें, जब कभी व्याघ्रादि पशु वा मारनेवाले को देखें अपनी रक्षा के लिये पालन करनेवाले के समीप दौड़कर आवें कि २० यह हमारी रक्षा करेगा। जिनके मरे पर चमड़ा भी कंटक आदि से रक्षा करे, जंगल में चरके अपने बच्चे और स्वामी के लिये दूध देने को नियत स्थान पर नियत समय चले आवें, अपने स्वामी की रक्षा के लिये तन-मन लगावें, जिनका सर्वस्व राजा और प्रजा आदि मनुष्यों के सुख के लिये है। इत्यादि शुभगुणयुक्त सुखकारक पशुओं के २५ गले छुरों से काटकर जो अपना पेट भर सब संसार की हानि करते हैं, क्या संसार में उनसे भी अधिक कोई विश्वासघाती, अनुपकारी, दुःख देनेवाले और पापीजन होंगे ?

इसीलिये यजुर्वेद के प्रथम ही मन्त्र में परमात्मा की आज्ञा है ५  
 कि—‘अध्व्याः यजमानस्य पशून् पाहि’। हे पुरुष ! तू इन पशुओं को ३० कभी मत मार। और यजमान अर्थात् सबके सुख देनेवाले जनों के सम्बन्धी पशुओं की रक्षा कर, जिनसे तेरी भी पूरी रक्षा होवे।



और इसीलिये ब्रह्मा से लेकर आज पर्यन्त आर्य लोग पशुओं की हिंसा में पाप और अधर्म समझते थे, और अब भी समझते हैं।

और इनकी रक्षा में अन्न भी मंहगा नहीं होता। क्योंकि दूध आदि के अधिक होने से दरिद्री को भी खान-पान में मिलने पर न्यून ही अन्न खाया जाता है। और अन्न के कम खाने से मल भी कम होता है। मल के न्यून होने से दुर्गन्ध भी न्यून होता है। दुर्गन्ध के स्वल्प होने से वायु और वृष्टिजल की शुद्धि भी विशेष होती है। उससे रोगों की न्यूनता होने से सबको सुख बढ़ता है।

इससे यह ठीक है कि गो आदि पशुओं के नाश होने से राजा और प्रजा का भी नाश हो जाता है। क्योंकि जब पशु न्यून होते हैं, तब दूध आदि पदार्थ और खेती आदि कार्यों की भी घटती होती है। देखो, इसी से जितने मूल्य से जितना दूध और घी आदि पदार्थ तथा बैल आदि पशु ७०० सातसौ वर्ष के पूर्व मिलते थे, उतना दूध घी और बैल आदि पशु इस समय दशगुणे मूल्य से भी नहीं मिल सकते। क्योंकि ७०० सातसौ वर्ष के पीछे इस देश में गवादि पशुओं को मारनेवाले मांसाहारी विदेशी मनुष्य बहुत आ बसे हैं। वे उन सर्वोपकारी पशुओं के हाड़मांस तक भी नहीं छोड़ते। तो 'नष्टे मूले नैव पत्रं न पुष्पम्' [ वृद्ध चाणक्य-नीति १०।१३ ] जब कारण का नाश करदे, तो कार्य नष्ट क्यों न हो जावे ?

हे मांसाहारियो ! तुम लोग जब कुछ काल के पश्चात् पशु न मिलेंगे, तब मनुष्यों का मांस भी छोड़ोगे वा नहीं ? हे परमेश्वर ! तू क्यों न इन पशुओं पर, जो कि बिना अपराध मारे जाते हैं, दया नहीं करता ? क्या उन पर तेरी प्रीति नहीं है ? क्या इनके लिये तेरी न्यायसभा बन्द हो गई है ? क्यों उनकी पीड़ा छुड़ाने पर ध्यान नहीं देता, और उनकी पुकार नहीं सुनता। क्यों इन मांसाहारियों के आत्माओं में दया का प्रकाश कर निष्ठुरता, कठोरता, स्वार्थपन और मूर्खता आदि दोषों को दूर नहीं करता ? जिससे ये इन बुरे कामों से बचें।

**अथ समीक्षायां हिंसक-रक्षक-संवादः**

**हिंसक—**ईश्वर ने सब पशु आदि सृष्टि मनुष्य के लिये रची ३०



है, और मनुष्य अपनी भक्ति के लिये। इसलिये मांस खाने में दोष नहीं हो सकता।

रक्षक—भाई ! सुनो। तुम्हारे शरीर को जिस ईश्वर ने बनाया है, क्या उसी ने पशु आदि के शरीर नहीं बनाये हैं ? जो तुम कहो ५ कि पशु आदि हमारे खाने को बनाये हैं, तो हम भी कह सकते हैं कि हिंसक पशुओं के लिये तुमको उसने रचा है। क्योंकि जैसे तुम्हारा चित्त उनके मांस पर चलता है, वैसे ही सिंह गृध्र आदि का चित्त भी तुम्हारे मांस खाने पर चलता है। तो उनके लिये तुम क्यों नहीं ?

१० हिंसक—देखो, ईश्वर ने पुरुषों के दांत कैसे पाने मांसाहारी पशुओं के समान बनाये हैं। इससे हम जानते हैं कि मनुष्यों को मांस खाना उचित है।

रक्षक—जिन व्याघ्रादि पशुओं के दांत के दृष्टान्त से तुम अपना पक्ष सिद्ध किया चाहते हो, क्या तुम भी उनके तुल्य ही हो ? देखो, १५ तुम्हारी मनुष्य जाति, उनको पशु जाति। तुम्हारे दो पग और उनके चार। तुम विद्या पढ़कर सत्यासत्य का विवेक कर सकते हो, वे नहीं। और यह तुम्हारा दृष्टान्त भी युक्त नहीं। क्योंकि जो दांत का दृष्टान्त लेते हो, तो बन्दर के दांतों का दृष्टान्त क्यों नहीं लेते ? देखो बन्दरों के दांत सिंह और बिल्ली आदि के समान २० हैं, और वे मांस नहीं खाते। मनुष्य और बन्दर की आकृति भी बहुतसी मिलती है। जैसे मनुष्यों के हाथ पग और नख आदि होते हैं, वैसे ही बन्दरों के भी हैं। इसलिये परमेश्वर ने मनुष्यों को [बन्दर के] दृष्टान्त से उपदेश किया है कि जैसे बन्दर मांस कभी नहीं खाते, और फलादि खाकर निर्वाह करते हैं, वैसे तुम भी किया करो। २५ जैसा बन्दरों का दृष्टान्त सांगोपांग मनुष्यों के साथ घटता है, वैसे अन्य किसी का नहीं। इसलिये मनुष्यों को अति उचित है कि मांस खाना सर्वथा छोड़ दें।

हिंसक—देखो, जो मांसाहारी पशु और मनुष्य हैं वे बलवान्, और जो मांस नहीं खाते हैं वे निर्बल होते हैं, इससे मांस खाना ३० चाहिये।

रक्षक—क्यों अल्प समझ की बातें मानकर कुछ भी विचार नहीं करते ? देखो, सिंह मांस खाता और सुअर वा अरणा भैंसा मांस



कभी नहीं खाता। परन्तु जो सिंह बहुत मनुष्यों के समुदाय में गिरे तो एक वा दो को मारता, और एक दो गोली वा तलवार के प्रहार से मर भी जाता है। और जब जंगली सुअर वा अरणा भैंसा जिस प्राणिसमुदाय में गिरता है, तब उन अनेक सवारों और मनुष्यों को मारता, और अनेक गोली बरछी तथा तलवार आदि के प्रहारों से भी शीघ्र नहीं गिरता। और सिंह उससे डरके अलग सटक जाता है, और वह सिंह से नहीं डरता। ५

और जो प्रत्यक्ष दृष्टान्त देखना चाहो, तो एक मांसाहारी का एक दूध घी और अन्नाहारी मथुरा के मल्ल चौबे से बाहुयुद्ध हो, तो अनुमान है कि चौबा मांसाहारी को पटक उसकी छाती पर चढ़ ही बैठेगा। पुनः परीक्षा होगी कि किस-किस के खाने से बल न्यून और अधिक होता है। १०

भला, तनिक विचार तो करो कि छिलकों के खाने से अधिक बल होता है, अथवा रस और जो सार है उसके खाने से? मांस छिलके के समान और दूध घी और रस सार के तुल्य है। इसको जो युक्तिपूर्वक खावे, तो मांस से अधिक गुण और बलकारी होता है। फिर मांस का खाना व्यर्थ और हानिकारक, अन्याय अधर्म और दुष्ट कर्म क्यों नहीं? १५

हिंसक—जिस देश में सिवाय मांस के अन्य कुछ नहीं मिलता वहां, वा आपत्काल में, अथवा रोगनिवृत्ति के लिये मांस खाने में दोष नहीं होता। २०

रक्षक—यह आपक कहना व्यर्थ है। क्योंकि जहां मनुष्य रहते हैं, वहां पृथिवी अवश्य होती है। जहां पृथिवी है, वहां खेती वा फल फूल आदि होते ही हैं। और जहां कुछ भी नहीं होता, वहां मनुष्य भी नहीं रह सकते। और जहां ऊसर भूमि है, वहां मिष्ट जल और फला-हारादि के न होने से मनुष्यों का रहना भी दुर्घट है। और आपत्काल में भी अन्य उपायों से निर्वाह कर सकते हैं, जैसे मांस के न खानेवाले करते हैं। और बिना मांस के रोगों का निवारण भी ओषधियों से यथावत् होता है, इसीलिये मांस खाना अच्छा नहीं। २५

हिंसक—जो कोई भी मांस न खावे, तो पशु इतने बढ़ जायें कि पृथिवी पर भी न समावें। और इसीलिये ईश्वर ने उनकी उत्पत्ति भी अधिक की है। तो मांस क्यों न खाना चाहिये? ३०



रक्षक—वाह ! वाह !! वाह !!! यह बुद्धि का विपर्यास आप को मांसाहार ही से हुआ होगा । देखो, मनुष्य का मांस कोई नहीं खाता, पुनः क्यों न बढ़ गये ? और इनकी अधिक उत्पत्ति इसलिये है कि एक मनुष्य के पालन-व्यवहार में अनेक पशुओं की अपेक्षा है ।  
५ इसलिये ईश्वर ने उनको अधिक उत्पन्न किया है ।

हिंसक—ये जितने उत्तर किये, वे सब व्यवहारसम्बन्धी हैं । परन्तु पशुओं को मारके मांस खाने में अधर्म तो नहीं होता । और जो होता है, तो तुम को होता होगा । क्योंकि तुम्हारे मत में निषेध है, इसलिये तुम मत खाओ । और हम खावें, क्योंकि हमारे मत  
१० में मांस खाना अधर्म नहीं है ।

रक्षक—हम तुम से पूछते हैं कि धर्म और अधर्म व्यवहार ही में होते हैं, वा अन्यत्र ? तुम कभी सिद्ध न कर सकोगे कि व्यवहार से भिन्न धर्माधर्म होते हैं । जिस-जिस व्यवहार से दूसरे की हानि हो वह-वह 'अधर्म', और जिस-जिस व्यवहार से उपकार हो वह-  
१५ वह 'धर्म' कहाता है । तो लाखों के सुख-लाभकारक पशुओं का नाश करना 'अधर्म' और उनकी रक्षा से लाखों को सुख पहुंचाना 'धर्म' क्यों नहीं मानते ? देखो, चोरी जारी आदि कर्म इसीलिये अधर्म हैं, कि इनसे दूसरे की हानि होती है । नहीं तो जो-जो प्रयोजन धनादि से उनके स्वामी सिद्ध करते हैं वे ही प्रयोजन उन चोरादि  
२० के भी सिद्ध होते हैं । इसलिये यह निश्चित है कि जो-जो कर्म जगत् में हानिकारक हैं, वे-वे 'अधर्म', और जो-जो परोपकारक हैं, वे-वे 'धर्म' कहते हैं ।

जब एक आदमी की हानि करने से चोरी आदि कर्म पाप में गिनते हो, तो गवादि पशुओं को मारके बहुतों की हानि करना  
२५ महापाप क्यों नहीं ? देखो, मांसाहारी मनुष्यों में दया आदि उत्तम गुण होते ही नहीं, किन्तु वे स्वार्थवश होकर दूसरे की हानि करके अपना प्रयोजन सिद्ध करने ही में सदा [लगे] रहते हैं ।

जब मांसाहारी किसी पुष्ट पशु को देखता है, तभी उसकी इच्छा होती है कि इसमें मांस अधिक है, मारकर खाऊं तो अच्छा  
३० हो । और जब मांस का न खानेवाला उसको देखता है, तो प्रसन्न होता है कि यह पशु आनन्द में है । जैसे सिंह आदि मांसाहारी पशु



किसी का उपकार तो नहीं करते, किन्तु अपने स्वार्थ के लिये दूसरे का प्राण भी ले मांस खाकर अति प्रसन्न होते हैं, वैसे ही मांसाहारी मनुष्य भी होते हैं। इसलिये मांस का खाना किसी मनुष्य को उचित नहीं।

**हिंसक**—अच्छा जो यही बात है, तो जब तक पशु काम में ५ आवें, तब तक उनका मांस न खाना चाहिये। जब बूढ़े हो जावें वा मर जावें, तब खाने में कुछ भी दोष नहीं।

**रक्षक**—जैसे दोष उपकार करनेवाले माता-पिता आदि के वृद्धावस्था में मारने और उनके मांस खाने में हैं, वैसे उन पशुओं की सेवा न कर मारके मांस खाने में हैं। और जो मरे पश्चात् उनका १० मांस खावे, तो उसका स्वभाव मांसाहारी होने से अवश्य हिंसक होके हिंसारूपी पाप से कभी न बच सकेगा। इसलिये किसी अवस्था में मांस न खाना चाहिये।

**हिंसक**—जिन पशुओं और पक्षियों, अर्थात् जंगल में रहनेवालों, से उपकार किसी का नहीं होता और हानि होती है, उनका मांस १५ खाना चाहिये वा नहीं ?

**रक्षक**—न खाना चाहिये, क्योंकि वे भी उपकार में आ सकते हैं। देखो, १०० सौ भङ्गी जितनी शुद्धि करते हैं, उनसे अधिक एक सुअर वा मुर्गा, अथवा मोर आदि पक्षी सर्प आदि की निवृत्ति करने से पवित्रता और अनेक उपकार करते हैं। 'और जैसे मनुष्यों का २० खानपान दूसरे के खाने-पीने से उनका जितना अनुपकार होता है, वैसे जंगली मांसाहारी का अन्न जंगली पशु और पक्षी हैं। और जो विद्या वा विचार से सिंह आदि वनस्थ पशु और पक्षियों से उपकार लेवें, तो अनेक प्रकार का लाभ उनसे भी हो सकता है। इस कारण मांसाहार का सर्वथा निषेध होना चाहिये। २५

भला, जिनके दूध आदि खाने-पीने में आते हैं, वे माता-पिता के समान माननीय क्यों न होने चाहियें ? ईश्वर की सृष्टि से भी विदित होता है कि मनुष्यों से पशु और पक्षी आदि अधिक रहने से कल्याण है। क्योंकि ईश्वर ने मनुष्यों के खाने-पीने के पदार्थों से भी पशु-पक्षियों के खाने-पीने के पदार्थ घास वृक्ष फूल फलादि अधिक ३० रचे हैं। और वे बिना जोते बोये सींचे पृथिवी पर स्वयं उत्पन्न

१. 'और जैसे ..... पक्षी हैं।' वाक्य कुछ त्रुटित प्रतीत होता है।



होते हैं, और वहां वृष्टि भी करता है। इसलिये समझ लीजिये कि ईश्वर का अभिप्राय उनके मारने में नहीं, किन्तु रक्षा ही करने में है।

हिंसक—जो मनुष्य पशु को मारके मांस खावे, उनको पाप होता है। और जो बिकता मांस मूल्य से ले, वा भैरव चामुण्डा ५. दुर्गा जखैया वाममार्ग, अथवा यज्ञ आदि की रीति से चढ़ा समर्पण कर खावे, तो उनको पाप नहीं होना चाहिये, क्योंकि वे विधि करके खाते हैं।

रक्षक—जो कोई मांस न खावे, न उपदेश और न अनुमति आदि देवे, तो पशु आदि कभी न मारे जावें। क्योंकि इस व्यवहार १० में बहकावट लाभ और विक्री न हो, तो प्राणियों का मारना बन्द ही हो जावे। इस में प्रमाण भी है—

अनुमन्ता विशसिता निहन्ता क्रयविक्रयी।

संस्कर्त्ता चोपहर्त्ता च खादकश्चेति घातकाः ॥

मनु० अ० ५। श्लोक ५१॥

१५ अर्थ—अनुमति=मारने की सलाह देने, मांस के काटने, पशु आदि के मारने, उनको मारने के लिये लेने और बेचने, मांस के पकाने, परसने और खानेवाले ८ आठ मनुष्य घातक=हिंसक अर्थात् ये सब पापकारी हैं ॥

और भैरव आदि के निमित्त से भी मांस खाना मारना वा २० मरवाना महापापकर्म है। इसलिये दयालु परमेश्वर ने वेदों में मांस खाने वा पशु आदि के मारने की विधि नहीं लिखी।

### [मद्यपान का निषेध]

मद्य भी मांस खाने का ही कारण है, इसलिये यहां संक्षेप से लिखते हैं—

२५ प्रमत्त—कहोजी ! मांस तो छूटा सो छूटा, परन्तु मद्य पीने में तो कोई भी दोष नहीं है ?

शान्त—मद्य पीने में भी वैसे ही दोष है, जैसे कि मांस खाने में। मनुष्य मद्य पीने से नशे के कारण नष्ट-बुद्धि होकर अकर्त्तव्य कर लेता, और कर्त्तव्य को छोड़ देता है। न्याय का अन्याय और अन्याय ३० का न्याय आदि विपरीत कर्म करता है। और मद्य की उत्पत्ति



विकृत पदार्थों से होती है, और वह मांसाहारी अवश्य हो जाता है। इसलिये इसके पीने से आत्मा में विकार उत्पन्न होते हैं।

और जो मद्य पीता है, वह विद्यादि शुभ गुणों से रहित होकर उन दोषों में फँसकर अपने धर्म अर्थ काम और मोक्ष फल को छोड़ पशुवत् आहार निद्रा भय मैथुन आदि कर्मों में प्रवृत्त होकर अपने मनुष्यजन्म को व्यर्थ कर देता है। इसलिये नशा अर्थात् मदकारक द्रव्यों का सेवन भी न करना चाहिये।

जैसा मद्य है, वैसे भांग आदि पदार्थ भी मादक हैं। इसलिये इनका भी सेवन कभी न करे। क्योंकि ये भी बुद्धि का नाश करके प्रमाद आलस्य और हिंसा आदि में मनुष्य को लगा देते हैं। इसी- १० लिये मद्यपान के समान इनका भी सर्वथा निषेध ही है।

इससे हे धार्मिक सज्जन लोगो ! आप इन पशुओं की रक्षा तन मन और धन से क्यों नहीं करते ? हाय !! बड़े शोक की बात है कि जब हिंसक लोग गाय बकरे आदि पशु, और मोर आदि पक्षियों को मारने के लिये ले जाते हैं, तब वे अनाथ तुम हमको देखके राजा १५ और प्रजा पर बड़े शोक प्रकाशित करते हैं कि—

“देखो, हमको बिना अपराध बुरे हाल से मारते हैं। और हम रक्षा करने तथा मारनेवालों को भी दूध आदि अमृत पदार्थ देने के लिये उपस्थित रहना चाहते हैं, और मारे जाना नहीं चाहते। देखो, हम लोगों का सर्वस्व परोपकार के लिये है, और हम इसीलिये २० पुकारते हैं कि हमको आप लोग बचावें। हम तुम्हारी भाषा में अपना दुःख नहीं समझा सकते, और आप लोग हमारी भाषा नहीं जानते। नहीं तो क्या हममें से किसी को कोई मारता, तो हम भी आप लोगों के सदृश अपने मारनेवालों को न्यायव्यवस्था से फांसी पर न चढ़वा देते ? हम इस समय अतीव कष्ट में हैं, क्योंकि कोई भी २५ हमको बचाने में उद्यत नहीं होता। और जो कोई होता है, तो उससे मांसाहारी द्वेष करते हैं”।

अस्तु, वे स्वार्थ के लिये द्वेष करो तो करो, क्योंकि ‘स्वार्थी दोष न पश्यति’। जो स्वार्थ साधने में तत्पर है, वह अपने दोषों पर ध्यान नहीं देता, किन्तु दूसरों को हानि हो तो हो, मुझको सुख होना ३० चाहिये। परन्तु जो उपकारी हैं, वे इनके बचाने में अत्यन्त पुरुषार्थ



करें। जैसा कि आर्य लोग सृष्टि के आरम्भ से आज तक वेदोक्त रीति से प्रशंसनीय कर्म करते आये हैं, वैसे ही सब भूगोलस्थ सज्जन मनुष्यों को करना उचित है।

- धन्य है, आर्यावर्त-देशवासी आर्य लोगों को, कि जिन्होंने ईश्वर के सृष्टिक्रम के अनुसार परोपकार ही में अपना तन मन धन लगाया और लगाते हैं। इसीलिये आर्यावर्तीय राजा महाराजा प्रधान और घनाढ्य लोग आधी पृथिवी में जंगल रखते थे, कि जिससे पशु और पक्षियों की रक्षा होकर ओषधियों के सार दूध आदि पवित्र पदार्थ उत्पन्न हों। जिनके खाने-पीने से आरोग्य बुद्धिबल पराक्रम आदि
१०. सद्गुण बढ़ें। और वृक्षों के अधिक होने से वर्षा जल और वायु में आद्रता, और शुद्धि अधिक होती है। पशु और पक्षी आदि के अधिक होने से खात भी अधिक होता है।

- परन्तु इस समय के मनुष्यों का इससे विपरीत व्यवहार है कि जंगलों को काट और कटवा डालना, पशुओं को मार और मरवा
१५. खाना, और विष्ठा आदि का खात खेतों में डाल अथवा डलवाकर रोगों की वृद्धि करके संसार का अहित करना, स्वप्रयोजन साधना, और परप्रयोजन पर ध्यान न देना, इत्यादि काम उलटे हैं।

- ‘विषादप्यमृतम् ग्राह्यम्’—सत्पुरुषों का यही सिद्धान्त है कि विष से भी अमृत लेना। इसी प्रकार गाय आदि का मांस विषवत्
२०. महारोगकारी को छोड़कर, उनसे उत्पन्न हुये दूध आदि अमृत रोगनाशक हैं, उनको लेना। अतएव इनकी रक्षा करके विषत्यागी और अमृतभोजी सब को होना चाहिये।

- सुनो बन्धुवर्गों ! तुम्हारा तन मन धन गाय आदि की रक्षारूप परोपकार में न लगे, तो किस काम का है ? देखो, परमात्मा
२५. का स्वभाव कि जिसने सब विश्व और सब पदार्थ परोपकार ही के लिये रच रखे हैं, वैसे तुम भी अपना तन मन धन परोपकार ही के लिये अर्पण करो।

- बड़े आश्चर्य की बात है कि पशुओं को पीड़ा न होने के लिये न्यायपुस्तक में व्यवस्था भी लिखी है कि जो पशु दुर्बल और रोगी
३०. हों, उनको कष्ट न दिया जावे। और जितना बोझ सुखपूर्वक उठा सकें, उतना ही उन पर धरा जावे। श्रीमती राजराजेश्वरी श्री



विक्टोरिया महाराणी का विज्ञापन भी प्रसिद्ध है कि इन अव्यक्त-  
वाणी पशुओं को जो-जो दुःख दिया जाता है, वह-वह न दिया जावे।  
जो यही बात है कि पशुओं को दुःख न दिया जावे, तो क्या भला मार  
डालने से भी अधिक कोई दुःख होता है ? क्या फांसी से अधिक दुःख  
बन्दीगृह में होता है ? जिस किसी अपराधी से पूछा जाय कि तू फांसी ५  
चढ़ने में प्रसन्न है, वा बन्दीघर के रहने में ? तो वह स्पष्ट कहेगा  
कि फांसी में नहीं, किन्तु बन्दीघर के रहने में।

और जो कोई मनुष्य भोजन करने को उपस्थित हो, उसके  
आगे से भोजन के पदार्थ उठा लिये जावें, और उसको वहाँ से दूर  
किया जावे, तो क्या वह सुख मानेगा ? ऐसे ही आजकल के समय में १०  
कोई गाय आदि पशु सरकारी जंगल में जाकर घास और पत्ता, जो  
कि उन्हीं के भोजनार्थ हैं, बिना महसूल दिये खावें, वा खाने को  
जावें, तो वेचारे उन पशुओं और उनके स्वामियों की दुर्दशा होती  
है। जंगल में आग लग जावे, तो कुछ चिन्ता नहीं, किन्तु वे पशु न  
खाने पावें। हम कहते हैं कि किसी अति क्षुधातुर राजा वा राजपुरुष १५  
के सामने आये चावल आदि वा डबलरोटी आदि छीनकर न खाने दें,  
और उनकी दुर्दशा की जावे, तो जैसा दुःख इनको विदित होगा, क्या  
वैसा ही उन पशु-पक्षियों और उनके स्वामियों को न होता होगा ?

ध्यान देकर सुनिये, कि जैसा दुःख-सुख अपने को होता है, वैसा  
ही औरों को भी समझा कीजिये। और यह भी ध्यान में रखिये २०  
कि वे पशु आदि, और उनके स्वामी तथा खेती आदि कर्म करने-  
वाले प्रजा के पशु आदि, और मनुष्यों के अधिक पुद्गलार्थ ही से  
राजा का ऐश्वर्य अधिक बढ़ता, और न्यून से नष्ट हो जाता है।  
इसीलिये राजा प्रजा से कर लेता है कि उनकी रक्षा यथावत् करे।  
न कि राजा और प्रजा के जो सुख के कारण गाय आदि पशु हैं, उनका २५  
नाश किया जावे।

इसलिये आज तक जो हुआ सो हुआ। आगे आंखें खोलकर सबके  
हानिकारक कर्मों को न कीजिये, और न करने दीजिये। हां, हम लोगों  
का यही काम है कि आप लोगों को भलाई और बुराई के कामों  
को जता दें, और आप लोगों का यही काम है कि पक्षपात छोड़ ३०  
सबकी रक्षा और बढ़ती करने में तत्पर रहें।



सर्वशक्तिमान् जगदीश्वर हम और आप पर पूर्ण कृपा करे, कि जिससे हम और आप लोग विश्व के हानिकारक कर्मों को छोड़ सर्वोपकारक कर्मों को करके सब लोग आनन्द में रहें । इन सब बातों को सुन मत डालना, किन्तु सुन रखना । इन अनाथ पशुओं के प्राणों को शीघ्र बचाना । हे महाराजाधिराजाधिराज जगदीश्वर ! जो इनको कोई न बचावे, तो आप इनकी रक्षा करने और हम से कराने में शीघ्र उद्यत हूजिये ॥

इति समीक्षा-प्रकरणम् ॥

## [२] इस सभा के नियम

- १० १. सब विश्व को विविध सुख पहुंचाना इस सभा का मुख्य उद्देश्य है । किसी की हानि करना प्रयोजन नहीं ।
२. जो-जो पदार्थ सृष्टिक्रमानुकूल जिस-जिस प्रकार से अधिक उपकार में आवे, उस-उस से आप्ताभिप्रायानुसार यथायोग्य सर्वहित सिद्ध करना, इस सभा का परम पुरुषार्थ है ।
- १५ ३. जिस-जिस कर्म से बहुत हानि और थोड़ा लाभ हो, उस-उस को सभा कर्त्तव्य नहीं समझती ।
४. जो-जो मनुष्य इस परमहितकारी कार्य में तन मन धन से प्रयत्न और सहायता करे, वह-वह इस सभा में प्रतिष्ठा के योग्य होवे ।
५. जो कि यह कार्य सर्वहितकारी है, इससिये यह सभा भूगोलस्थ २० मनुष्यजाति से सहायता की पूरी आशा रखती है ।
६. जो-जो सभा देश-देशान्तर और द्वीप-द्वीपान्तर में परोपकार ही करना अभीष्ट रखती है, वह-वह इस सभा की सहायकारिणी समझी जाती है ।
७. जो-जो जन राजनीति वा प्रजा के अभीष्ट से विरुद्ध स्वार्थी क्रोधी २५ और अविद्यादि दोषों से प्रमत्त होकर राजा और प्रजा के लिये अनिष्ट कर्म करे, वह-वह इस सभा का सम्बन्धी न समझा जावे ।



## [३] उपनियम

## नाम

१— इस सभा का नाम “गोकृष्णादिरक्षिणी” है ।

## उद्देश्य

२— इस सभा के उद्देश्य वे ही हैं, जो कि इसके नियमों में वर्णन किये गये हैं ।

३— जो लोग इस सभा में नाम लिखाना चाहें, और इसके उद्देश्यानुकूल आचरण करना चाहें, वे इस सभा में प्रविष्ट हो सकते हैं । परन्तु उनकी आयु १८ वर्ष से न्यून न हो । जो लोग इस सभा में प्रविष्ट हों, वे ‘गोरक्षक-सभासद्’ कहलावेंगे ।

१०

४— जिन का नाम इस सभा में सदाचार से एक वर्ष रहा हो, और वे अपनी आय का शतांश वा अधिक मासिक वा वार्षिक इस सभा को दें, वे ‘गोरक्षकसभासद्’ हो सकते हैं । और सम्मति देने का अधिकार केवल गोरक्षकसभासदों ही को होगा ।

(अ) ‘गोरक्षकसभासद्’ बनने के लिये ‘गोकृष्णादिरक्षिणी सभा’ में वर्ष भर नाम रहने का नियम किसी व्यक्ति के लिये अन्तरङ्गसभा शिथिल भी कर सकती है । इस सभा में वर्ष भर रहकर ‘गोरक्षक-सभासद्’ बनने का नियम ‘गोकृष्णादिरक्षिणी सभा’ के दूसरे वर्ष से काम आयेगा ।

(ब) राजा सरदार बड़े-बड़े साहूकार आदि को इस सभा के सभासद् बनने के लिये शतांश भी देना आवश्यक नहीं । वे एकवार वा मासिक वा वार्षिक अपने उत्साह वा सामर्थ्यानुसार दे सकते हैं ।

(स) अन्तरङ्गसभा किसी विशेष हेतु से चन्दा न देनेवाले पुरुष को भी ‘गोरक्षकसभासद्’ बना सकती है ।

(द) नीचे लिखी हुई विशेष दशाओं में उन सभासदों की भी, जो ‘गोरक्षक-सभासद्’ नहीं बने, सम्मति ली जा सकती है —

१. इस सभा में नाम लिखाने के लिये मन्त्री के पास इस प्रकार का पत्र भेजना चाहिये कि— ‘मैं प्रसन्नतापूर्वक इस सभा के उद्देश्यानुकूल, जो कि नियमों में वर्णन किये हैं, आचरण स्वीकार करता हूँ । मेरा नाम इस सभा में लिख लीजिये’ । परन्तु अन्तरङ्गसभा को अधिकार रहेगा कि किसी विशेष हेतु से उनका नाम इस सभा में लिखना स्वीकार न करे ।

३०



- (१) जब नियमों में न्यूनाधिक शोधन करना हो ।
- (२) जबकि विशेष अवस्था में अन्तरङ्गसभा उनकी सम्मति लेनी योग्य और आवश्यक समझे ।
- (३) जो इस सभा के उद्देश्य के विरुद्ध कर्म करेगा, वह न तो 'गोरक्षक' और न 'गोरक्षकसभासद्' गिना जावेगा ।
- (४) 'गोरक्षकसभासद्' दो प्रकार के होंगे । एक—साधारण और दूसरे—माननीय । माननीय 'गोरक्षकसभासद्' वे होंगे, जो शतांश वा १०) २० मासिक वा इससे अधिक दें । अथवा एक बार २५०) रुपया दें । वा जिनको अन्तरङ्गसभा विद्या आदि श्रेष्ठ गुणों से माननीय समझे ।
- ५—यह सभा दो प्रकार की होगी । एक—साधारण, दूसरी—अन्तरङ्ग ।
- ६—साधारणसभा तीन प्रकार की होगी । १—मासिक, २—षाण्मासिक, और ३—नैमित्तिक ।
- ७—मासिकसभा—प्रतिमास एक बार हुआ करेगी । उसमें महीनेभर का आय-व्यय और सभा के कार्यकर्त्ताओं की क्रियाओं का वर्णन किया जावे, जो कि कथन योग्य हो ।
- ८—षाण्मासिक सभा—कार्तिक और वैशाख के अन्त में हुआ करे । उस में आप्तोक्त विचार, मासिक सभा का कार्य, प्रत्येक प्रकार का आय-व्यय समझना और समझाना होवे ।
- ९—नैमित्तिक सभा—जब कभी मंत्री, प्रधान और अन्तरङ्गसभा आवश्यक कार्य जाने, उसी समय यह सभा हो । और उसमें विशेष कार्यों का प्रबन्ध होवे ।
- १०—अन्तरङ्गसभा—सभा के समस्त कार्य प्रबन्ध के लिये एक 'अन्तरङ्ग-सभा' नियत की जावे । और इसमें तीन प्रकार के सभासद् हों । एक—प्रतिनिधि, दूसरे—प्रतिष्ठित, और तीसरे—अधिकारी ।
- ११—'प्रतिनिधि-सभासद्' अपने-अपने समुदायों के प्रतिनिधि होंगे, और उन्हें उनके समुदाय नियत करेंगे । कोई समुदाय जब चाहे अपने प्रतिनिधि को बदल सकता है । 'प्रतिनिधि-सभासदों' के विशेष कार्य ये होंगे—
- (अ) अपने-अपने समुदायों की सम्मति से अपने को विज्ञ रखना ।
- (ब) अपने-अपने समुदायों को अन्तरङ्गसभा के कार्य, जो कि प्रकट करने योग्य हों, बतलाना ।
- (स) अपने-अपने समुदायों से चन्दा इकट्ठा करके कोषाध्यक्ष को देना ।



१२— 'प्रतिष्ठित सभासद्' विशेष गुणों के कारण प्रायः वार्षिक, नैमित्तिक और साधारण सभा में नियत किये जावें। 'प्रतिष्ठित सभासद्' अन्तरङ्गसभा में एक तिहाई से अधिक न हों।

१३—प्रति वैशाख की सभा में अन्तरङ्गसभा के प्रतिष्ठित और अधिकारी वार्षिक साधारण सभा में फिर से नियत किये जावें। और कोई पुराना प्रति- ५  
ष्ठित और अधिकारी पुनर्वार नियुक्त हो सकता है।

१४—जब वर्ष के पहिले किसी प्रतिष्ठित सभासद् और अधिकारी का स्थान रिक्त हो, तो अन्तरङ्गसभा आप ही उसके स्थान पर किसी और योग्य पुरुष को नियत कर सकती है।

१५—अन्तरङ्गसभा कार्य के प्रबन्ध-निमित्त उचित व्यवस्था बना सकती १०  
है। परन्तु वह नियमों और उपनियमों से विरुद्ध न हो।

१६—अन्तरङ्गसभा किसी विशेष कार्य के करने और सोचने के लिये अपने में से सभासदों और विशेष गुण रखनेवाले सभासदों को मिलाकर उप-सभा नियत कर सकती है।

१७—अन्तरंगसभा का कोई सभासद् मन्त्री को एक सप्ताह के पहिले १५  
विज्ञापन दे सकता है कि कोई विषय सभा में निवेदन किया जावे। और वह विषय प्रधान की आज्ञानुसार निवेदन किया जावे। परन्तु जिस विषय के निवेदन करने में अन्तरंगसभा के पांच सभासद् सम्मति दें, वह अवश्य निवेदन करना ही पड़ेगा।

१८—दो सप्ताह के पीछे अन्तरंगसभा अवश्य हुआ करे, और मन्त्री और २०  
प्रधान की आज्ञा से वा जब अन्तरंगसभा के पांच सभासद् मन्त्री को पत्र लिखें, तो भी हो सकती है।

१९—अधिकारी छः प्रकार के होंगे—१ प्रधान, २ उपप्रधान, ३ मन्त्री, ४ उपमन्त्री, ५ कोषाध्यक्ष, ६ पुस्तकाध्यक्ष।

मन्त्री, कोषाध्यक्ष, पुस्तकाध्यक्ष इनके अधिकारों पर आवश्यकता होने २५  
से एक से अधिक भी नियत हो सकते हैं। और जब किसी अधिकार पर एक से अधिक भी नियत हों, तो अन्तरंगसभा उन्हें कार्य बांट देवे।

२०—प्रधान—प्रधान के निम्नलिखित अधिकार और काम हों—

१—प्रधान अन्तरंगसभा आदि सब सभाओं का सभापति सम्भाले ३०  
जावे।



२-सदा सभा के सब कार्यों के यथावत् प्रबन्ध और सर्वथा उन्नति और रक्षा में तत्पर रहे। सभा के प्रत्येक कार्य को देखे कि वे नियमानुसार किये जाते हैं वा नहीं। और स्वयं नियमानुसार चले।

३-यदि कोई विषय कठिन और आवश्यक प्रतीत हो, तो उसका यथोचित प्रबन्ध तत्काल करे। और उसकी हानि में वही उत्तर देवे।

४-प्रधान अपने प्रधानत्व के कारण सब उपासकों का, जिन्हें अन्तरंगसभा संस्थापन करे, सभासद् हो सकता है।

२१-उपप्रधान- इस के ये कार्य कर्त्तव्य हैं—

१० प्रधान की अनुपस्थिति में उसका प्रतिनिधि होवे। यदि दो वा अधिक उपप्रधान हों, तो सभा की सम्मति के अनुसार उनमें से कोई एक प्रतिनिधि किया जावे। परन्तु सभा के सब कार्य में प्रधान को सहायता देनी उनका मुख्य कार्य है।

२२-मन्त्री-मन्त्री के निम्नलिखित अधिकार और कार्य हैं—

१५ १-अन्तरंगसभा की आज्ञानुसार सभा की ओर से सब के साथ पत्रव्यवहार रखना।

२-सभाओं का वृत्तान्त लिखना, और दूसरी सभा होने से पहले ही पूर्व वृत्तान्त पुस्तक में लिखना वा लिखवाना।

२० ३-मासिक अन्तरंगसभाओं में उन गोरक्षकों वा गोरक्षक-सभासदों के नाम सुनाना, जो कि पिछली मासिक सभा के पीछे सभा में प्रविष्ट वा उससे पृथक् हुये हों।

४-सामान्य प्रकार से भूत्यों के कार्य पर दृष्टि रखना। और सभा के नियम उपनियम और व्यवस्थाओं के पालन पर ध्यान रखना।

२५ ५-इस बात का भी ध्यान रखना कि प्रत्येक 'गोरक्षक-सभासद्' किसी न किसी समुदाय में हों। और इसका भी प्रत्येक समुदाय ने अपनी ओर से अन्तरंगसभा में प्रतिनिधि किया होवे।

६-पहिले विज्ञापन दिये पर मान्यपुरुषों को सत्कारपूर्वक बिठाना।

७-प्रत्येक सभा में नियत काल पर आना और बराबर ठहरना।

२३-कोषाध्यक्ष-कोषाध्यक्ष के नीचे लिखे अधिकार और कार्य हैं—

३० १-सभा के सब आय घन का लेना, उसकी रसीद देना, और उसको यथोचित रखना।

२-किसी को अन्तरङ्गसभा की आज्ञा के बिना रुपया न देना।



किन्तु मन्त्री और प्रधान को भी उस प्रमाण से देवे, जितना अन्तरङ्गसभा ने उनके लिये नियत किया हो, अधिक न देना । और उस धन के उचित व्यय के लिये वही अधिकारी, जिसके द्वारा वह व्यय हुआ हो, उत्तरदाता होवे ।

३—सब धन के व्यय का रीतिपूर्वक बहीखाता रखना । और प्रति- ५ मास अन्तरङ्गसभा में हिसाब को बहीखाते समेत परताल और स्वीकार के लिये निवेदन करना ।

२४—पुस्तकाध्यक्ष—पुस्तकाध्यक्ष के अधिकार और कार्य ये हों—

१—जो पुस्तकालय में सभा की स्थिर और विक्रय की पुस्तक हों, उन सबों की रक्षा करे । और पुस्तकालय सम्बन्धी हिसाब भी १० रक्खे, और पुस्तकों के लेने-देने का कार्य भी करे ।

### मिश्रित नियम

२५—सब 'गोरक्षक-सभासदों' की सम्मति निम्नलिखित दशाओं में ली जावे—

१—अन्तरङ्गसभा का यह निश्चय हो कि किसी साधारणसभा के १५ सिद्धान्त पर निश्चय न करना चाहिये, किन्तु 'गोरक्षक-सभासदों' की सम्मति जाननी चाहिये ।

२—सब गोरक्षक सभासदों का पांचवां वा अधिक अंश इस निमित्त मन्त्री के पास पत्र लिख भेजे ।

३—जब बहुत से व्ययसम्बन्धी वा प्रबन्धसम्बन्धी नियम अथवा २० व्यवस्थासम्बन्धी कोई मुख्य विचारादि करना हो । अथवा जब अन्तरङ्गसभा सब 'गोरक्षक-सभासदों' की सम्मति जाननी चाहे ।

२६—जब किसी सभा में थोड़े से समय के लिये कोई अधिकारी उपस्थित न हो, तो उस समय के लिये योग्यपुरुष को अन्तरंगसभा नियत कर सकती है । २५

२७—यदि किसी अधिकारी के स्थान पर वार्षिक साधारण सभा में कोई पुरुष नियत न किया जावे, तो जबतक उसके स्थान पर नियत न किया जाय, वही अधिकारी अपना काम करता रहे ।

२८—सब सभा और उपसभाओं का वृत्तान्त लिखा जाया करे । और उसको सब गोरक्षकसभासद देख सकते हैं । ३०



२९—सब सभाओं का कार्य तब आरम्भ हो, जब न्यून से न्यून एक तिहाई सभासद उपस्थित हों ।

३०—सब सभाओं और उपसभाओं के सारे काम बहुपक्षानुसार निश्चित हों ।

५ ३१—आय का दशांश समुदाय में रक्खा जावे ।

३२—सब गोरक्षक और गोरक्षक-सभासदों को इस सभा की उपयोगी वेदादिविद्या जाननी और जनानी चाहिये ।

३३—सब गोरक्षक और गोरक्षक-सभासदों को उचित है कि लाभ और आनन्द समय में सभा की उन्नति के लिये उदारता और पूर्ण प्रेमदृष्टि रखें ।

१० ३४—सब गोरक्षक और गोरक्षक-सभासदों को उचित है कि शोक और दुःख के समय में परस्पर सहायता करें । और आनन्दोत्सव में निमन्त्रण पर सहायक हों, छोटाई बड़ाई न गिनें ।

३५—कोई गोरक्षक भाई किसी हेतु से अनाथ, वा किसी की स्त्री विधवा, अथवा सन्तान अनाथ हो जावे, अर्थात् उनका जीवन न हो सकता हो, और १५ यदि 'गोकृष्यादिरक्षिणी सभा' उनको निश्चित जान ले, तो यह सभा उनकी रक्षा में यथाशक्ति यथोचित प्रबन्ध करे ।

३६—यदि गोरक्षक-सभासदों में किन्हीं का पर-पर झगड़ा हो, तो उनको उचित है कि वे आपस में समझ लें । वा गोरक्षक-सभासदों की न्यायउपसभा द्वारा उसका न्याय करालें । परन्तु अशक्यावस्था में राजनीति द्वारा भी न्याय २० करा लें ।

३७—इस गोकृष्यादिरक्षिणी सभा को व्यवहार में जितना-जितना लाभ हो, वह-वह सर्वहितकारी काम में लगाया जावे । किन्तु यह महाघन तुच्छ कार्य में व्यय न किया जावे । और जो कोई इस गोकृष्यादि की रक्षा के लिये जो घन है, उसको चोरी से अपहरण करेगा, वह गोहत्या के पाप लगने से इस लोक २५ और परलोक में महादुःखभागी अवश्य होगा ।

३८—संप्रति इस सभा के घन का व्यय गवादि पशु लेने, उनका पालन करने, जंगल और घास के ऋय करने, उनकी रक्षा के लिये भृत्य वा अधिकारी रखने, तालाब कूप बावड़ी अथवा बाड़ा के लिये व्यय किया जावे । पुनः अत्युन्नत होने पर सर्वहित कार्य में भी व्यय किया जावे ।

३० ३९—सब सज्जनों को उचित है कि इस गोरक्षक घन आदि समुदाय पर



स्वार्थदृष्टि से हानि करना कभी मन से भी न विचारें। किन्तु यथाशक्ति इस व्यवहार की उन्नति में तन मन धन से सदा प्रयत्न किया ही करें।

४०—इस सभा के सब सभासदों को यह बात अवश्य जाननी चाहिये कि जब गवादि पशु रक्षित होके बहुत बढ़ेंगे, तब कृषि आदि कर्म और दुग्ध घृत आदि की वृद्धि होकर सब मनुष्यादि को विविध सुख-लाभ अवश्य होगा। इसीके बिना सब का हित सिद्ध होना संभव नहीं।

४१—देखिये, पूर्वोक्त रीत्यनुसार एक गौ की रक्षा से लाखों मनुष्यादि को लाभ पहुंचना, और जिसके मारने से उतने ही की हानि होती है, ऐसे निकृष्ट कर्म के करने को आप्त विद्वान् कभी अच्छा न समझेगा।

४२—इस सभा के जो पशु प्रसूत होंगे, उन-उन का दूध एक मान १० तक उसके बछड़े को पिलाना, और अधिक उसी पशु को अन्न के साथ दिला देना चाहिये। और दूसरे मास में तीन स्तनों का दूध बछड़े को देना, और एक भाग लेना चाहिये। तीसरे मास के आरम्भ से आधा दुह लेना और आधा बछड़े को तब तक दिया करें कि जब तक गौ दूध देवें।

४३—सब सभासदों को उचित है कि जब-जब किसी को स्वरक्षित पशु देवें तब-तब न्यायनियमपूर्वक व्यवस्था-पत्र ले और देकर। जब वह पशु असमर्थ हो जाय, उसके काम का न रहे, और उसके पालन करने में सामर्थ्य न हो, तो अन्य किसी को न दे सके, किन्तु पुनरपि सभा के आधीन करे।

४४—इस सभा की अतरंगसभा को [न केवल] उचित है, किन्तु अत्यावश्यक है कि उक्त प्रकार से अप्राप्त पशुओं की प्राप्ति, प्राप्तों की रक्षा, रक्षितों की वृद्धि और बढ़े हुए पशुओं से नियमानुसार और सृष्टिक्रमानुकूल उपकार लेना। अपने अधिकार में सदा रखना, अन्य किसी को इसमें स्वाधीनता कभी न देवे।

४ — जो कि यह बहुत उपकारी कार्य है, इसलिये इसका करनेवाला इस लोक और परलोक में स्वर्ग अर्थात् पूर्ण सुखों को अवश्य प्राप्त होता है।

४५—कोई भी मनुष्य इस सभा के पूर्वोक्त उद्देश्यों के लिये बिना सुखों की सिद्धि नहीं कर सकता।

४७—क्या ऐसा कोई भी मनुष्य सृष्टि में होगा कि जो अपने सुख-दुःख-वत् दूसरे प्राणियों का सुख-दुःख अपने आत्मा में न समझता हो।



४८—ये नियम और उपनियम उचित समय पर वा प्रतिवर्ष में यथोचित विज्ञापन देने पर शोधे वा घटाये-बढ़ाये जा सकते हैं ॥

ओ३म् सह नाववतु सह नौ भुनक्तु सह वीर्यं करवावहै । तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद्विषावहै ॥ ओं शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

५

'धेनुः परा दया पूर्वा यस्यानन्दाद्विराजते ।

आख्यायां निर्मितस्तेन ग्रन्थो गोकर्णानधिः ॥१॥

मुनिरामाङ्गचन्द्रेऽब्दे तपस्यस्यासिते दले ।

दशम्यां गुरुवारेऽलंकृतोऽयं कामधेनुपः ॥२॥

इति गोकर्णानधिः ।



१०

१. अर्थात् यस्याख्यायां 'आनन्द'शब्दात् पूर्ण 'दया' शब्दः, परस्च 'धेनुः' = वाक् = सरस्वती शब्दः, तेनायं ग्रन्थो रचितः ।



---

---

# आर्योद्देश्यरत्नमाला

---

---



## [ विशिष्ट संस्करणों का निर्देश ]

आर्योद्देश्यरत्नमाला की टिप्पणी में उद्धृत ग्रन्थ

- १—ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका—रामलाल कपूर ट्रस्ट संस्करण
- २—सत्यार्थप्रकाश—आर्यसमाज-शताब्दी-संस्करण (रालाकट०)
- ३—संस्कारविधि—       "       "       "       "
- ४—वेदविरुद्धमत-खण्डन   दयानन्दीय लघुग्रन्थसंग्रह   "
- ५—पञ्चमहायज्ञविधिः—       "       "       "
- ६—शिक्षापत्रीध्वान्तनिवारण—   "       "       "
- ७—व्यवहारभानु—       "       "       "



❀ ओ३म् ❀

# आर्योद्देश्यरत्नमाला

१. ईश्वर<sup>१</sup>—जिसके गुण कर्म स्वभाव और स्वरूप सत्य हो हैं, जो केवल चेतन मात्र वस्तु है, तथा जो एक अद्वितीय सर्वशक्तिमान् निराकार सर्वत्र व्यापक अनादि और अनन्त आदि सत्यगुण-<sup>५</sup> वाला है, और जिसका स्वभाव अविनाशी ज्ञानी आनन्दी शुद्ध न्यायकारी दयालु और अजन्मादि है, जिसका कर्म जगत् को उत्पत्ति पालन और विनाश करना, तथा सर्व जीवों को पाप-पुण्य के फल ठीक-ठीक पहुँचाना है, उसको 'ईश्वर' कहते हैं।
२. धर्म<sup>२</sup>—जिसका स्वरूप ईश्वर की आज्ञा का यथावत् पालन १० और पक्षपातरहित न्याय सर्वहित करना है, जो कि प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सुपरीक्षित और वेदोक्त होने से सब मनुष्यों के लिये यही एक मानने योग्य है, उसको 'धर्म' कहते हैं।
३. अधर्म<sup>३</sup>—जिसका स्वरूप ईश्वर की आज्ञा को छोड़कर और पक्षपातसहित अन्यायी होके विना परीक्षा करके अपना ही १५ हित करना है, जो अविद्या हठ अभिमान क्रूरतादि दोषयुक्त होने के कारण वेद-विद्या से विरुद्ध है, और सब मनुष्यों को छोड़ने के योग्य है, वह 'अधर्म' कहाता है।
४. पुण्य—जिसका स्वरूप विद्यादि शुभगुणों का दान और

१. सत्यार्थ० स्वमन्त० संख्या १ पृ० ६२१, सत्यार्थ० समु० ७ पृ० २० २७३; ऋग्वेदा० भूमिका पृ० १६२।  
नोट—सर्वत्र सभी ग्रन्थों की पृष्ठ संख्या रामलाल कपूर ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित त्रिशिष्ट संस्करणों की समझें।
२. सत्यार्थ० स्वमन्त० सं० ३ पृ० ६२१ ; सत्यार्थ० समु० ३ पृ० ७६ ;  
ऋग्वेदा० पृ० ११६; व्यवहारभानु पृ० ५१०, ५१७। २५
३. सत्यार्थ० समु० ३ पृ० ७६ ; सत्यार्थ० स्वमन्त० सं० ३ पृ० ६२२ ;  
व्यवहारभानु पृ० ५१०, ५१७; ऋग्वेदा० भूमिका पृ० ११६।



- सत्यभाषणादि सत्याचार का करना है, उसको 'पुण्य' कहते हैं ।
५. पाप—जो पुण्य से उलटा और मिथ्याभाषणादि करना है, उसको 'पाप' कहते हैं ।
६. सत्यभाषण—जैसा कुछ अपने आत्मा में हो, और असम्भवादि दोषों से रहित करके सदा वैसा ही बोले, उसको 'सत्यभाषण' कहते हैं ।
७. मिथ्याभाषण—जो कि सत्यभाषण अर्थात् सत्य बोलने से विरुद्ध है, उसको 'मिथ्याभाषण' कहते हैं ।
८. विश्वास—जिसका मूल अर्थ और फल निश्चय करके सत्य ही हो, उसका नाम 'विश्वास' है ।
९. अविश्वास—जो विश्वास से उलटा है, जिसका तत्त्व अर्थ न हो, वह 'अविश्वास' कहाता है ।
१०. परलोक - जिससे सत्यविद्या से परमेश्वर की प्राप्ति हो, और उस प्राप्ति से इस जन्म वा पुनर्जन्म और मोक्ष में परमसुख प्राप्त होता है, उसको 'परलोक' कहते हैं ।
११. अपरलोक—जो परलोक से उलटा है, जिसमें दुःख विशेष भोगना होता है, वह 'अपरलोक' कहाता है ।
१२. जन्म—जिसमें किसी शरीर के साथ संयुक्त होके जीव कर्म करने में समर्थ होता है, उसको 'जन्म' कहते हैं ।
१३. मरण—जिस शरीर को प्राप्त होकर जीव क्रिया करता है, उस शरीर और जीव का किसी काल में जो वियोग हो जाना है, उसको 'मरण' कहते हैं ।
१४. स्वर्ग—जो विशेष सुख और सुख की सामग्री को जीव का प्राप्त होना है, वह 'स्वर्ग' कहलाता है ।
१५. नरक—जो विशेष दुःख और दुःख की सामग्री को जीव का प्राप्त होना है, उसको 'नरक' कहते हैं ।

- 
१. सत्यार्थ० स्वमन्त० सं० ४४, ४५ पृ० ६२६ ।  
 २. सत्यार्थ० स्वमन्त० सं० ४५ पृ० ६२६ ।  
 ३. सत्यार्थ० स्वमन्त० सं० ४० पृ० ६२६ ।  
 ४. सत्यार्थ० स्वमन्त० सं० ४३ पृ० ६२६ ।



१६. विद्या—जिससे ईश्वर से लेके पृथिवीपर्यन्त पदार्थों का सत्य विज्ञान होकर धन से यथायोग्य उपकार लेना होता है, इसका नाम 'विद्या' है।

१७. अविद्या—जो विद्या से विपरीत है, भ्रम अन्धकार और अज्ञानरूप है, उसको 'अविद्या' कहते हैं। ५

१८. सत्पुरुष—जो सत्यप्रिय धर्मात्मा विद्वान् सब के हितकारी और महाशय होते हैं, वे 'सत्पुरुष' कहाते हैं।

१९. सत्सङ्ग-कुसङ्ग—जिस करके झूठ से छूटके सत्य की ही प्राप्ति होती है, उसको 'सत्सङ्ग' और जिस करके पापों में जीव फंसे, उसको 'कुसङ्ग' कहते हैं। १०

२०. तीर्थ—जितने विद्याभ्यास सुविचार ईश्वरोपासना धर्मानुष्ठान सत्य का सङ्ग ब्रह्मचर्य जितेन्द्रियतादि उत्तम कर्म हैं, वे सब 'तीर्थ' कहाते हैं।

२१. स्तुति—जो ईश्वर वा किसी दूसरे पदार्थ के गुण-ज्ञान कथन श्रवण, और सत्यभाषण करना है, वह 'स्तुति' १५ कहाती है।

२२. स्तुति का फल जो गुणज्ञान आदि के करने से गुणवाले पदार्थों में प्रीति होती है, वह 'स्तुति का फल' कहाता है।

२३. निन्दा—जो मिथ्याज्ञान मिथ्याभाषण झूठ में आग्रहादि क्रिया है, जिससे कि गुण छोड़कर उसके स्थान में अपगुण २० लगाना होता है, वह 'निन्दा' कहाती है।

२४. प्रार्थना—अपने पूर्ण पुरुषार्थ के उपरान्त उत्तम कर्मों की

१. सत्यार्थ० समु० ६ पृ० ३४४; व्यवहारभानु पृ० ५०१, ५१७।

२. सत्यार्थ समु० ६ पृ० ३४४; व्यवहारभानु पृ० ५०१-५०२, ५१७।

३. व्यवहारभानु पृ० ५३१। ४. सत्यार्थ० समु० ११ पृ० ४६१; २५

सत्यार्थ० स्वमन्त सं० २४ पृ० ६२४; ऋग्वेदा० भूमिका पृ० ३४०।

५. सत्यार्थ० स्वमन्त० सं० ४८ पृ० ६२७; सत्यार्थ समु० ४ पृ० १४२।

६. सत्यार्थ० समु० ४ पृ० १४२।

७. सत्यार्थ० स्वमन्त० सं० ४६ पृ० ६२७।



सिद्धि के लिये परमेश्वर वा किसी सामर्थ्यवाले मनुष्य के सहाय लेने को 'प्रार्थना' कहते हैं।

२५. प्रार्थना का फल—अभिमान का नाश, आत्मा में आर्द्रता, गुण ग्रहण में पुरुषार्थ, और अत्यन्त प्रीति का होना 'प्रार्थना का फल' है।
२६. उपासना—जिससे ईश्वर ही के आनन्दस्वरूप में अपने आत्मा को मग्न करना है, उसको 'उपासना' कहते हैं।
२७. निर्गुणोपासना—शब्द स्पर्श रूप रस गन्ध संयोग वियोग हलका भारी अविद्या जन्म मरण और दुःख आदि गुणों से रहित परमात्मा को जानकर जो उसकी उपासना करनी है, उसको 'निर्गुणोपासना' कहते हैं।
२८. सगुणोपासना—जिसको सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् शुद्ध नित्य आनन्द सर्वव्यापक एक सनातन सर्वकर्ता सर्वाधार सर्वस्वामी सर्वनियन्ता सर्वान्तर्यामी मंगलमय सर्वानन्दप्रद सर्वपिता, सर्व जगत् का रचनेवाला, न्यायकारी दयालु आदि सत्यगुणों से युक्त जानके जो ईश्वर की उपासना करनी है, सो 'सगुणोपासना' कहाती है।
२९. मुक्ति—अर्थात् जिससे सब बुरे कामों और जन्म-मरणादि दुःखसागर से छूटकर सुखस्वरूप परमेश्वर को प्राप्त होके सुख ही में रहना है, वह 'मुक्ति' कहाती है।
३०. मुक्ति के साधन—अर्थात् जो पूर्वोक्त ईश्वर की स्तुति प्रार्थना और उपासना का करना, धर्म का आचरण और पुण्य का करना, सत्सङ्ग विश्वास तीर्थ सेवन, सत्पुरुषों का सङ्ग और परोपकार, दि सब अच्छे कामों का करना, तथा सब दुष्ट कर्मों से अलग रहना है, ये सब 'मुक्ति के साधन' कहाते हैं।

१. सत्यार्थ० स्वमन्त० सं० ५० ६२७।
२. " " " ५१ " "।
३. " " " ५१ पृ० "।
४. " " " १२ " ६२३; ऋग्वेदादि० भूमिका पृ० २१३
५. " " " १३ " ६२३; " " " २१५



३१. कर्त्ता<sup>१</sup>—जो स्वतन्त्रता से कर्मों का करनेवाला है, अर्थात् जिसके स्वाधीन सब साधन होते हैं, वह 'कर्त्ता' कहाता है।
३२. 'कारण'<sup>२</sup>—जिनको ग्रहण करनेवाला किसी कार्य वा चीज को बना सकता है अर्थात् जिसके बिना कोई चीज बन नहीं सकती, वह 'कारण' कहाता है। सो तीन प्रकार<sup>३</sup> का है। ५
३३. उपादान कारण<sup>४</sup>—जिसको ग्रहण करके ही उत्पन्न होवे वा कुछ बनाया जाय, जैसे कि मिट्टी से घड़ा बनता है, उसको 'उपादान कारण' कहते हैं।
३४. निमित्त कारण<sup>५</sup>—जो बनानेवाला है, जैसे कुम्हार घड़े को बनाता है। इस प्रकार के पदार्थों को 'निमित्त कारण' १० कहते हैं।
३५. साधारण कारण<sup>६</sup>—जैसे कि चाक दण्ड आदि और दिशा आकाश तथा प्रकाश हैं, इनको 'साधारण कारण' कहते हैं।
३६. कार्य<sup>७</sup>—जो किसी पदार्थ के संयोगविशेष से स्थूल होके काम आता है। अर्थात् जो करने योग्य है, वह उस कारण २५ का 'कार्य' कहाता है।
३७. सृष्टि<sup>८</sup>—जो कर्त्ता की रचना से कारण द्रव्य किसी संयोग-विशेष से अनेक प्रकार कार्यरूप होकर वर्त्तमान में व्यवहार करने योग्य होती है, वह 'सृष्टि' कहाती है।
३८. जाति<sup>९</sup>—जो जन्म से लेकर मरणपर्यन्त बनी रहे, जो अनेक २० व्यक्तियों में एकरूप से प्राप्त हो, जो ईश्वरकृत अर्थात् मनुष्य गाय अश्व और वृक्षादि समूह हैं, 'जाति' शब्दार्थ से लिये जाते हैं।
३९. मनुष्य<sup>१०</sup>—अर्थात् जो विचारके बिना किसी काम को न करे उसका नाम 'मनुष्य' है। २५

१. सत्यार्थ० समु० ७ पृ० २७८ ।

२. इनके लक्षण सत्यार्थ० समु० ८ पृ० ३०६-३१० में किये गये हैं।

३. देखो इसी पृष्ठ की टि० २ ।

४. सत्यार्थ० स्वमन्त० सं० ८ पृ० ६२२ सत्यार्थ० समु० ८ पृ० ३२६ ।

५. सत्यार्थ० स्वमन्त० सं० २६ पृ० ६२४ ।



४०. आर्य्य<sup>१</sup>—जो श्रेष्ठ स्वभाव धर्मात्मा परोपकारा सत्यविद्या गुणयुक्त, ओर आर्य्यवर्त्त देश में सब दिन से रहनेवाले हैं, उनको 'आर्य्य' कहते हैं ।
४१. आर्य्यवर्त्त देश<sup>२</sup>—हिमालय त्रिन्ध्याचल सिन्धु नदी और ब्रह्मपुत्र नदी इन चारों के बीच, और जहां तक उनका विस्तार है, उनके मध्य में जो देश है, उसका नाम 'आर्य्यवर्त्त' है।
४२. दस्यु<sup>३</sup>—अनार्य्य अर्थात् जो अनाड़ी, आर्यों के स्वभाव और निवास से पृथक्, डाकू चोर हिंसक जो कि दुष्ट मनुष्य है, वह 'दस्यु' कहाता है ।
४३. वर्ण<sup>४</sup>—जो गुण और कर्मों के योग से ग्रहण किया जाता है, वह 'वर्ण' शब्दार्थ से लिया जाता है ।
४४. वर्ण के भेद<sup>५</sup>—जो ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और शूद्रादि हैं, वे 'वर्ण' कहाते हैं ।
४५. आश्रम<sup>६</sup>—जिनमें अत्यन्त परिश्रम करके उत्तम गुणों का ग्रहण और श्रेष्ठ काम किये जायें, उनको 'आश्रम' कहते हैं ।
४६. आश्रम के भेद<sup>७</sup>—जो सद्बिद्यादि शुभ गुणों का ग्रहण, तथा जितेन्द्रियता से आत्मा और शरीर के बल को बढ़ाने के लिये ब्रह्मचर्य्य; जो सन्तानोत्पत्ति और विद्यादि सब व्यवहारों को सिद्ध करने के लिये गृहस्थाश्रम; जो विचार के लिये वान-प्रस्थ; और जो सर्वोपकार करने के लिये संन्यासाश्रम होता है, वे 'चार आश्रम' कहाते हैं ।
४७. यज्ञ<sup>८</sup>—जो अग्निहोत्र से लेके अश्वमेध पर्यन्त, वा जो शिल्प व्यवहार और जो पदार्थविज्ञान है, जो कि जगत् के उपकार के लिए किया जाता है, उसको 'यज्ञ' कहते हैं ।
४८. कर्म<sup>९</sup>—जो मन इन्द्रिय और शरीर में जीव चेष्टाविशेष
- 
१. सत्यार्थ० स्वमन्त० सं० २६ पृ० ६२५; सत्यार्थ० समु० पृ० ८ ३३२ ।  
 २. सत्यार्थ० स्वमन्त० सं० ३० पृ० ६२५; सत्यार्थ० समु० ८ पृ० ३३१ ।  
 ३. " समु ८ पृ० ३३२; सत्यार्थ० स्वमन्त० सं० २६ " ६२५ ।  
 ४. ऋग्वेदा० भूमिका " २७०; " " " १६ " ६२३ ।  
 ५. " " " २७१; " " " १६ " ६२३ ।  
 ६. सत्यार्थ० स्वमन्त० सं० २८ पृ० ६२४ ।



करता है, वह 'कर्म' कहाता है। वह शुभ-अशुभ और मिश्र-भेद से तीन प्रकार का है।

४९. क्रियमाण—जो वर्तमान में किया जाता है, सो 'क्रियमाण' कर्म कहाता है।

५०. सञ्चित—जो क्रियमाण का संस्कार ज्ञान में जमा होता है, ५ 'सञ्चित' संस्कार कहते हैं।

५१. प्रारब्ध जो पूर्व किये हुए कर्मों के सुख-दुःखरूप फल का भोग किया जाता है, उसको 'प्रारब्ध' कहते हैं।

५२. अनादि पदार्थ—जो ईश्वर जीव और जगत् का कारण है, ये तीन 'स्वरूप से अनादि' हैं।

१०

५३. प्रवाह से अनादि पदार्थ—जो कार्य जगत्, जीव के कर्म और जो इनका संयोग-वियोग है, ये तीन 'परस्परा से अनादि' हैं।

५४. अनादि का स्वरूप—जो कभी न उत्पन्न हुआ हो, जिसका कारण कोई भी न होवे, अर्थात् जो सदा से स्वयंसिद्ध हो, वह 'अनादि' कहाता है।

१५

५५. पुरुषार्थ—अर्थात् सर्वदा आलस्य छोड़के उत्तम व्यवहारों की सिद्धि के लिये मन शरीर वाणी और मन से जो अत्यन्त उद्योग करना है, उसको 'पुरुषार्थ' कहते हैं।

५६. पुरुषार्थ के भेद—जो अप्राप्त वस्तु की इच्छा करना, प्राप्त का अच्छे प्रकार रक्षण करना, रक्षित को बढ़ाना, और बढ़े हुए पदार्थों का सत्य विद्या की उन्नति में तथा सबके हित करने में खर्च करना है, इन चार प्रकार के कर्मों को 'पुरुषार्थ' कहते हैं।

५७. परोपकार—अर्थात् अपने सब सामर्थ्य से दूसरे प्राणियों को सुख होने के लिये जो तन मन धन से प्रयत्न करना है, वह २५ 'परोपकार' कहाता है।

१. सत्यार्थ० स्वमन्त० सं० ६ पृ० ६२२; सत्यार्थ० समु० ८ पृ० ३०६।

२. " " " ७ " " ऋग्वेदादि० भूमिका पृ० २०।

३. " समु० ७ पृ० २६२; समु० ८ पृ० ३०६।

४. व्यवहारभानु पृ० ५२१।

३०

० ५२१। ६. सत्यार्थ० स्वमन्त० सं० ४० पृ० ६२६।



५८. शिष्टाचार<sup>१</sup>—जिसमें शुभगुणों का ग्रहण और अशुभगुणों का त्याग किया जाता है, वह 'शिष्टाचार' कहाता है ।
५९. सदाचार<sup>२</sup>—जो सृष्टि से लेके आज पर्यन्त सत्पुरुषों का वेदोक्त आचार चला आया है, कि जिसमें सत्य का ही आचरण और असत्य का परित्याग किया है, उसको 'सदाचार' कहते हैं ।
६०. विद्यापुस्तक<sup>३</sup>—जो ईश्वरोक्त सनातन सत्य विद्यामय चार वेद हैं, उनको 'विद्या-पुस्तक' कहते हैं ।
६१. आचार्य<sup>४</sup>—जो श्रेष्ठ आचार को ग्रहण कराके सब विद्याओं को पढ़ा देवे, उसको 'आचार्य' कहते हैं ।
- १० ६२. गुरु<sup>५</sup>—जो वीर्यदान से लेके भोजनादि कराके पालन करता है, इससे पिता को 'गुरु' कहते हैं । और जो अपने सत्योपदेश से हृदय का अज्ञानरूपी अन्धकार मिटा देवे, उसको भी 'गुरु' अर्थात् आचार्य कहते हैं ।
- १५ ६३. अतिथि<sup>६</sup>—जिसकी आने और जाने में कोई भी निश्चित तिथि न हो; तथा जो विद्वान् होकर सर्वत्र भ्रमण करके प्रश्नोत्तरों के उपदेश से सब जीवों का उपकार करता है, उसको 'अतिथि' कहते हैं ।
६४. पञ्चायतनपूजा<sup>७</sup>—जीते माता पिता आचार्य अतिथि और परमेश्वर को जो यथायोग्य सत्कार करके प्रसन्न करना है, उसको 'पञ्चायतनपूजा' कहते हैं ।
- २० ६५. पूजा<sup>८</sup>—जो ज्ञानादिगुणवाले का यथायोग्य सत्कार करना
- 
१. सत्यार्थ० स्वमन्त० सं० ३६ पृ० ६२५ । २. सत्यार्थ० समु० १० पृ० ३६० ।  
 ३. सत्यार्थ० स्वमन्त० सं० २ पृ० ६२१ । ऋग्वेदा० भूमिका पृ० ६०२ ।  
 ४. सत्यार्थ० स्वमन्त० सं० ३१ पृ० ६२५; सत्यार्थ० समु० ११ पृ० ४७३;  
 २५ संस्कारविधि पृ० ६६ टिप्पणी । व्यवहारभानु पृ० ५०२ । वेदविरुद्ध-  
 मतखण्डन पृ० ३८८ । ५. सत्यार्थ० स्वमन्त० सं० ३३ पृ० ६२५ ।  
 वेदविरुद्ध मतखण्डन पृ० ३६० । शिक्षापत्रीध्वान्तनिवारण पृ० ४३६ ।  
 ६. ऋग्वेदा० भूमिका पृ० ३१०; पञ्चमहा० पृ० ३४१-३५४; सत्यार्थ०  
 समु० ११ पृ० ४७३ ।  
 ३० ७. सत्यार्थ० समु० ११ पृ० ४७२; सत्यार्थ स्वमन्त० सं० २१ पृ० ६२४ ।  
 ८. सत्यार्थ० समु० ११ पृ० ४७२ ।



है, उसको 'पूजा' कहते हैं ।

६६. अपूजा— जो ज्ञानादिरहित जड़ पदार्थ, और जो सत्कार के योग्य नहीं है, उसका जो सत्कार करना है, वह 'अपूजा' कहाती है ।

६७. जड़ जो वस्तु ज्ञानादिगुणों से रहित है, उसको 'जड़' ५ कहते हैं ।

६८. चेतन—जो पदार्थ ज्ञानादिगुणों से युक्त है, उसको 'चेतन' कहते हैं ।

६९. भावना' जो जैसी चीज हो, उसमें विचार से वैसा ही निश्चय करना, कि जिसका विषय भ्रमरहित हो, अर्थात् १० जैसे को वैसा ही समझ लेना, उसको 'भावना' कहते हैं ।

७०. अभावना'—जो भावना से उलटा हो, अर्थात् जो मिथ्याज्ञान से अन्य में अन्य का निश्चय मान लेना है । जैसे जड़ में चेतन और चेतन में जड़ का निश्चय कर लेना है, उसको 'अभावना' कहते हैं । १५

७१. पण्डित'—जो सत् असत् को विवेक से जाननेवाला, धर्मात्मा सत्यवादी सत्यप्रिय विद्वान्, और सबका हितकारो है, उसको 'पण्डित' कहते हैं ।

७२. मूर्ख'—जो अज्ञान हठ दुराग्रहादि दोषसहित है, उसको 'मूर्ख' कहते हैं । २०

७३. ज्येष्ठकनिष्ठ-व्यवहार जो बड़े और छोटों से यथायोग्य परस्पर मान्य करना है, उसको 'ज्येष्ठकनिष्ठ-व्यवहार' कहते हैं ।

७४. सर्वहित—जो तन मन और धन से सब के सुख बढ़ाने में उद्योग करना है, उसको 'सर्वहित' कहते हैं ।

७५. चोरीत्याग— जो स्वामी की आज्ञा-विना किसी के पदार्थ का २५ ग्रहण करना है, वह 'चोरी'; और उसका छोड़ना 'चोरी-त्याग' कहाता है ।

१. वेदविरुद्धमतखण्डन पृ० ३६६; सत्यार्थ समु० ११ पृ० ४६३ ।

२. वेदविरुद्धमतखण्डन पृ० ३६६; सत्यार्थ० समु० ११ पृ० ४६३ ।

३. सत्यार्थ० समु० ४ पृ० १५८-१५९; ० ४६५-४६७ । ३०

४. " " " " १६०; " " ४६७-४६९ ।



७६. व्यभिचार-त्याग—जो अपनी स्त्री के बिना दूसरी स्त्री के साथ गमन करना, और अपनी स्त्री को भी ऋतुकाल के बिना वीर्यदान देना, तथा अपनी स्त्री के साथ भी वीर्य का अत्यन्त नाश करना, और युवा अवस्था के बिना विवाह करना है, यह सब 'व्यभिचार' कहा जाता है । उसको छोड़ देने का नाम 'व्यभिचार-त्याग' है ।
७७. जीव का स्वरूप—'जो चेतन, अल्पज्ञ, इच्छा द्वेष प्रयत्न सुख दुःख और ज्ञान गुणवाला, तथा नित्य है, वह 'जीव' कहा जाता है ।
- १० ७८. स्वभाव—जिस वस्तु का जो स्वाभाविक गुण है, जैसेकि अग्नि में रूप और दाह । अर्थात् जब तक वह वस्तु रहे, तब तक उसका वह गुण भी नहीं छूटता । इसलिये उसको 'स्वभाव' कहते हैं ।
- १५ ७९. प्रलय—जो कार्य-जगत् का कारणरूप होना । अर्थात् जगत् का करनेवाला ईश्वर जिन-जिन कारणों से सृष्टि बनाता है, कि अनेक कार्यों को रचके, यथावत् पालन करके, पुनः कारणरूप करके रखता है, उसका नाम 'प्रलय' है ।
८०. मायावी—जो छल-कपट-स्वार्थ में ही प्रसन्नता, दम्भ अहं-कार शठतादि दोष है, इसको 'माया' कहते हैं । और जो मनुष्य इस से युक्त हो, वह 'मायावी' कहा जाता है ।
८१. आप्त—जो छलादिदोषरहित, धर्मात्मा विद्वान् सत्योपदेष्टा, सब प्रकार कृपादृष्टि से वर्तमान होकर, अविद्यान्धकार का नाश करके, अज्ञानी लोगों की आत्माओं में विद्यारूप सूर्य का प्रकाश सदा करे, उसको 'आप्त' कहते हैं ।
- २५ ८२. परीक्षा—जो प्रत्यक्षादि आठ प्रमाण, वेदविद्या, आत्मा की शुद्धि, और सृष्टिक्रम से अनुकूल विचारके सत्यासत्य को ठीक-ठीक निश्चय करना है, उसको 'परीक्षा' कहते हैं ।
८३. आठ प्रमाण—प्रत्यक्ष अनुमान उपमान शब्द ऐतिह्य अर्थ-
- 
१. सत्यार्थ० स्वमन्त सं० ४ पृ० ७९१ । सत्यार्थ० समु० ३ पृ० १४७ ।
२. वेदविरुद्धमतखण्डन ४०९ । ३. सत्यार्थ० स्वमन्त० सं० ३८ पृ० ९२६
४. सत्यार्थ० स्वमन्त० सं० ३९ पृ० ९२६ ।
५. सत्यार्थ० समु० ३ पृ० ८१ ।



पुत्ति सम्भव और अभाव ये 'आठ प्रमाण' हैं। इन्हीं से सब सत्यासत्य का यथावत् निश्चय मनुष्य कर सकता है।

८४. लक्षण—जिससे लक्ष्य जाना जाय, जो कि उसका स्वाभाविक गुण है। जैसे कि रूप से अग्नि जाना जाता है, उसको 'लक्षण' कहते हैं। ५
८५. प्रमेय—जो प्रमाणों से जाना जाता है। जैसे कि आंख का प्रमेय रूप अर्थ है। जो कि इन्द्रियों से प्रतीत होता है, उसको 'प्रमेय' कहते हैं।
८६. प्रत्यक्ष—जो प्रसिद्ध शब्दादि पदार्थों के साथ श्रोत्रादि इन्द्रिय और मन के निकट सम्बन्ध से ज्ञान होता है, उसको १० 'प्रत्यक्ष' कहते हैं।
८७. अनुमान—किसी पूर्व दृष्ट पदार्थ के एक अंग को प्रत्यक्ष देखने के पश्चात्, उसके अदृष्ट अङ्ग का जिससे यथावत् ज्ञान होता है, उसको 'अनुमान' कहते हैं।
८८. उपमान—जैसे किसी ने किसी से कहा कि गाय के तुल्य नील १५ गाय होती है, ऐसे जो उपमा से सादृश्य ज्ञान होता है, उसको 'उपमान' कहते हैं।
८९. शब्द—जो पूर्ण आप्त परमेश्वर और पूर्वोक्त आप्त मनुष्य का उपदेश है, उसी को 'शब्द प्रमाण' कहते हैं।
९०. ऐतिह्य—जो शब्द प्रमाण के अनुकूल हो, जो कि असम्भव २० और झूठ लेख न हो, उसी को 'ऐतिह्य' (=इतिहास) कहते हैं।
९१. अर्थापत्ति—जो ~~एक बात के कहने से दूसरी बात किन्ना~~ कहे समझी जाय, उसको 'अर्थापत्ति' कहते हैं।
९२. सम्भव—जो बात प्रमाण युक्ति और सृष्टिक्रम से युक्त हो २५ वह 'सम्भव' कहाता है।
९३. अभाव—जैसे किसी ने किसी से कहा कि तू जल ले आ।

१. सत्यार्थ० समु० ३ पृ० ८५, ९५।

२. इन प्रमाणों के लक्षण सत्यार्थप्रकाश समु० ३ पृ० ८१-८५।

ऋग्वेदादि० भूमिका पृ० ६०-६१ तथा व्यवहारमानु पृ० ५०६ पर ३० भी हैं।



उसने वहां देखा कि यहां जल नहीं है, परन्तु जहां जल है वहां से ले आना चाहिये। इस अभाव-निमित्त से जो ज्ञान होता है, उसे 'अभाव' कहते हैं।

- ५ ६४. शास्त्र—जो सत्य विद्याओं के प्रतिपादन से युक्त हो, और जिस करके मनुष्यों को सत्य-सत्य शिक्षा हो, उसको 'शास्त्र' कहते हैं।
६५. वेद—जो ईश्वरोक्त सत्य विद्याओं से युक्त ऋक्-संहितादि चार पुस्तक हैं, जिनसे मनुष्यों को सत्यासत्य का ज्ञान होता है, उनको 'वेद' कहते हैं।
- १० ६६. पुराण—जो प्राचीन ऐतरेय शतपथ ब्राह्मणादि ऋषि-मुनि-कृत सत्यार्थ पुस्तक हैं। उन्हीं को पुराण इतिहास कल्प गाथा और नाराशंसी कहते हैं।
६७. उपवेद—जो आयुर्वेद वैद्यकशास्त्र, जो धनुर्वेद शस्त्रास्त्रविद्या राजधर्म, जो गन्धर्ववेद गानशास्त्र, और अर्थवेद जो शिल्प-शास्त्र है, इन चारों को 'उपवेद' कहते हैं।
- १५ ६८. वेदाङ्ग—जो शिक्षा कल्प व्याकरण निरुक्त छन्द और ज्योतिष आर्ष सनातन शास्त्र हैं, उनको 'वेदाङ्ग' कहते हैं।
६९. उपाङ्ग—जो ऋषि-मुनिकृत मीमांसा वैशेषिक न्याय योग सांख्य और वेदान्त छः शास्त्र हैं, उनको 'उपाङ्ग' कहते हैं।
१००. नमस्ते—मैं तुम्हारा मान्य करता हूं।

२० वेदरामाङ्गचन्द्रोऽब्दे विक्रमार्कस्य भूपतेः।  
नभस्ये सितसप्तम्यां सौम्ये पूर्तिमगादियम् ॥

श्रीयुत महाराजा विक्रमादित्यजी के १९३४ के संवत् में श्रावण महीने के शुक्लपक्ष सप्तमी बुधवार के दिन श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती ने आर्य-भाषा में सब मनुष्यों के हितार्थ यह 'आर्योद्देश्यरत्नमाला' पुस्तक प्रकाशित किया ॥

२५



- 
१. सत्यार्थ० समु० ७ पृ० ३००। २. वेदविरुद्ध० पृ० ४००-४०१।  
सत्यार्थ० स्वमन्त० २३ पृ० ६२४। ऋग्वेदा० भूमिका पृ० ६६।  
सत्यार्थ० समु० ३ पृ० १०६। ३. सत्यार्थ० समु० ३ पृ० १०४।  
१. सत्यार्थ० समु० ३, पृ० १०४। ऋग्वेदा० भूमिका पृ० ३१४।  
३० २. सत्यार्थ० सम० ३, पृ० १०४। ऋग्वेदा० भूमिका पृ० ३१५।



---

---

# चतुर्वेद-विषय-सूची

---

---







ॐ ओ३म् ॐ

# चतुर्वेद-विषय-सूची

## अथ ऋग्वेदस्य विषय-सूची

अष्टकम् १, अध्यायः १

वर्गः <sup>१</sup>	विषयः	वर्गः	विषयः	३
१[-२] <sup>२</sup>	अग्नि-विद्या <sup>३</sup>	३ <sup>१</sup>	वायु-विद्या	
	मन्त्र १ प्रार्थना	४ <sup>१</sup>	मित्र-लक्षण[म्] <sup>३</sup>	
	॥ ६ प्रार्थना <sup>४</sup>	६	सरस्वती-लक्षण[म्]	

१. हस्तलेखे वैयमुद्रिते च 'अनुवाक' इत्यपपाठः, उत्तरत्र निर्दिष्टानामङ्कानां वर्गाङ्कत्वात् । एषाऽशुद्धिः प्रथमाष्टकस्य पञ्चमाध्यायस्य चतुर्दशवर्गपर्यन्त- १०  
मुपलभ्यते, तदनन्तरं वर्गनिर्देशः एव दृश्यते ।

२. अत्रोत्तरत्र च कोष्ठे निर्दिष्टाया वर्गसंख्यायाः तद्विषयस्य च हस्तलेखे उल्लेखो न दृश्यते । सम्भाव्यते विषयस्य समानत्वादुल्लेखो ग्रन्थकारेण न कृतः स्यात् । एषा शैली प्रथमाष्टकपर्यन्तमुपलभ्यते । उत्तरत्र प्रतिवर्गं विषयनिर्देशो दृश्यते । अतः प्रथमाष्टकेऽपि ऋग्वेदं ग्रन्थकतुर्भाष्यं च दृष्ट्वा पाठः कोष्ठे १५ प्रपूरितः ।

३. वैयमुद्रिते 'अग्निविद्या-प्रार्थनामन्त्र' इति परिवर्तितः पाठो दृश्यते । अस्माभिस्तु हस्तलेखानुसारी पाठो धृतः ।

४. अत्र ६ मन्त्रसंख्या सूक्तानुरोधेन ज्ञेया । वर्गानुरोधेन द्वितीयवर्गस्य चतुर्थो मन्त्रो द्रष्टव्यः । २०

५. हस्तलेखे वैयमुद्रिते च '२' अपसंख्योपलभ्यते ।

६. हस्तलेखे वैयमुद्रिते च '३' अपसंख्योपलभ्यते ।

७. हस्तलेखे वैयमुद्रिते च बहुत्राविभक्त्यन्तः पाठ उपलभ्यते ।



वर्गः	विषयः	वर्गः	विषयः
	[७ इन्द्र-लक्षणम्]	२६	अग्नि-विद्या
	८ इन्द्र-लक्षण[म्]	२७	अग्नि-विद्या
	[९ इन्द्र-विद्या]	[२८ ऋतु-विद्या]	
५	१० इन्द्र-विद्या]	२९	ऋतु-विद्या <sup>१</sup>
	११ इन्द्र-विद्या	३०	इन्द्र-विद्या
	[१२ इन्द्र-विद्या]	३१	इन्द्र-विद्या
	१३ इन्द्र-विद्या	३२	इन्द्र[ावरुण]-विद्या
	[१४-]२१ इन्द्र-विद्या	३३	इन्द्र[ावरुण]-विद्या
१०	२२ अग्नि-विद्या	[३४ सोम-विद्या]	
	२३ अग्नि-विद्या	३५	[सोम-]इन्द्र-विद्या
	२४ अग्नि-विद्या	३६	अग्नि-विद्या
	[२५ अग्नि-विद्या]	३७	[अग्नि-विद्या]

ऋग्वेदे प्रथमाष्टके प्रथमोऽध्यायः ॥१॥

१५

अष्टकम् १, अध्यायः २

वर्गः	विषयः	वर्गः	विषयः
१	पितृ-शिल्प-विद्या <sup>२</sup>	३	इन्द्राग्नि-विद्या <sup>३</sup>
[२	पितृ-शिल्प-विद्या]	४	अश्वि-विद्या <sup>४</sup>

१. हस्तलेखे वैयामुद्रिते च 'अग्नि-विद्या' इति पाठो दृश्यते । ऋतुभिः  
२० सहावान्तर-विषय-निर्देशोऽपि न सर्वस्य २९ तमस्य वर्गस्य अग्निविद्याविषयः ।  
दृष्टव्यमत्र ग्रन्थकर्तुर्ऋग्वेदभाष्यम् । २८-२९ वर्गयोर्ऋतुदेवतायाः प्राधान्यात्  
तस्यैव निर्देशोऽस्माभिरकारि ।

२. ऋभूशब्दस्य मेधाविनामसु पाठात् पितृत्वं शिल्पित्वं चोभयं ज्ञेयम् ।

३. हस्तलेखे वैयामुद्रिते च 'इन्द्राग्नी-विद्या' इत्यपपाठः ।

२५ ४. हस्तलेखे वैयामुद्रिते च 'सविता विद्या' इत्यपपाठः, चतुर्थवर्गस्थ-  
मन्त्राणामश्विदेवतात्वात् ।



५ [-६] सवितृ-विद्यादि[:]'	२५ [-२६] उलूखलालङ्कारेण
७ विष्णु-विद्या	गर्भाधानम्
८ होम-विद्या <sup>२</sup>	[२७-] २९ इन्द्र-स्तुति:
[९ होम-विद्या]	[३० इन्द्रादि-स्तुति:]
१० <sup>३</sup> वायु-विद्या	[३१ इन्द्रादि-स्तुति:]
११ वृष्टि-विद्या	३२ अग्नि-परमेश्वर-विद्या
१२ <sup>४</sup> जल-विद्या	३३ अग्नि-परमेश्वर-विद्या
१३ अग्नि-परमेश्वर-विद्या <sup>५</sup>	३४ अग्नि-परमेश्वर-विद्या
[१४ वरुण-परमेश्वर-विद्या]	३५ अग्नि-परमेश्वर-विद्या
१५ रात्रि-विद्या	३६ मेघ-विद्या
[१६-] १९ वरुण-विद्या	३७ मेघ-विद्या
[२०-२४ अग्नि-विद्या]	३८ मेघ-इन्द्र-परमेश्वर-विद्या

ऋग्वेदे प्रथमाष्टके द्वितीयोऽध्यायः ॥२॥

### अष्टकम् १, अध्यायः ३

वर्गः	विषयः	वर्गः	विषयः	१५
[१-३ इन्द्र-परमेश्वर-शूरवीर-विद्या]		६ सवितृ-विद्या		
[४ अश्वि-शिल्प-विद्या]		७ सवितृ-विद्या		
५ त्रिचक्रादिरथशिल्प-विद्या		८ अग्नि-विद्या		
		[९ अग्नि-विद्या]		

१. आदिपदत्वात् अग्निविद्या, देवीन्द्राण्यादिविद्या, द्यावापृथिवी-विद्या च २० संग्राह्या ।

२. 'सोमपीतये' इति मन्त्रेषु निर्देशात् ।

३. वर्गसंख्यानान्तरम् 'इत्यत्र' इत्यनावश्यकः पाठः, अन्यत्रादर्शनात् ।

४. वैयमुद्रिते 'अग्नि परमेश्वरः' इत्यपपाठः । अत्र विद्यापदं हस्तलेखे त्रुटितम् । द्रष्टव्यमिहैव ३२-३५ चतुर्णां वर्गाणाम् 'अग्नि-परमेश्वर-विद्या' २५ पाठः ।



१० अग्नि-परमेश्वर-प्रार्थना	आदित्य-पूष-विद्या]
११ अग्नि-विद्या-विषयः	२६ सूर्य-परमेश्वर-विद्या
[१२-१६ मरुद्-विद्या]	[२७ सोम-विद्या]
२० आधारार्घ्य-विद्या	[२८-३२ अग्नि-विद्या]
५ [२१ वेद-विद्वद्-राज्य-विद्या]	३३ दुहितृप्रजापत्यलंकारः
[२२-२५ मित्र-वरुण-अर्यम-	[३४-३५ अश्वि-रथ-विद्या]

ऋग्वेदे प्रथमाष्टके तृतीयोऽध्यायः ॥३॥

### अष्टकम् १, अध्यायः ४

वर्गः	विषयः	वर्गः	विषयः
१० [१-२ अश्वि-रथ-यान-विद्या]		११ रथ-विद्या	
[३ उषः-रात्रि-विद्या]		[१२-] १३ पदार्थ-विद्या*	
४ रात्रि-विद्या		[१४ इन्द्र-परमेश्वर-पदार्थ-	
[५ उषविद्या]		विद्या]	
६ उषविद्या		[१५-] १६ पदार्थ-विद्या*	
११ ७[-८] सूर्य-विद्या		[१७-१८ पदार्थ-विद्या]*	
[९ इन्द्र-वृत्र-विद्या]		१९ पर्वत-नदी [-विषयः]	
१० [इन्द्र-विद्या] आर्य-अनार्य-नाम*		२० पदार्थ-विद्या*	

१. वैयमुद्विष्टे '१६' संख्यात्र मुद्रितोपलभ्यते । हस्तलेखोऽत्रास्पष्टः । १६ तमस्य वर्गस्य मरुद्देवताकत्वान्नात्राग्निविद्याविषयः संभवति । अतोऽस्माभिः २० प्रकरणमनुरुद्ध्य '११' संख्या निर्दिष्टा ।

२. विंशतितमस्य वर्गस्य ब्रह्मणस्पति देवता । तत्र मरुतामपि निपात-देवतात्वं श्रूयते । पञ्चममन्त्रे तु 'यस्मिन्निन्द्रो ... देवा ओकांसि चक्रिरे' इति निर्देशादाधारार्घ्यत्वं स्पष्टमेव ।

३. अस्मिन् वर्गे रुद्रः प्रधानदेवता । षष्ठे मन्त्रे 'यः शुक्र इव सूर्यो हिरण्य-२३ मिव रोचते' इति निर्देशात् प्रत्यक्षं सूर्यविद्या । परमेश्वरस्तु रुद्रपदार्थत्वात् स्पष्ट एव ।

४. दशमवर्गस्य तृतीये मन्त्रे (सूक्तानुसारमष्टमे मन्त्रे) 'यं विषयः ।

५. इन्द्र-सम्बन्धि-पदार्थविद्या ।



२१ आधारेश्वर-विद्या	[ २३-२६ अग्नि-पदार्थ-विद्या ]
[ २२ इन्द्र-परमेश्वर-स्तुतिः ]	[ २७-२९ इन्द्र-पदार्थ-विद्या ]

ऋग्वेदे प्रथमाष्टके चतुर्थोऽध्यायः ॥४॥

### अष्टकम् १, अध्यायः ५

वर्गः	विषयः	वर्गः	विषयः	५
[ १-५ इन्द्र-पदार्थ-विद्या ]		१८ अग्नीश्वर-विद्या		
६ विद्युद्-विद्या		१९ अग्नि-परमेश्वर-स्तुतिः		
७ विद्युद्-विद्या		[ २०-२२ अग्नि-परमेश्वर-स्तुतिः ]		
[ ८ विद्युद्-विद्या ]		२३ अग्नि-परमेश्वर-स्तुतिः		१०
९ पदार्थ-विद्या		२४ अग्नीश्वर-विद्या		
१० [ पदार्थ-विद्या ] 'यम-शब्द- [ अर्थः ]		२५ अग्नीश्वर-स्तुतिः		
११ [ पदार्थ-विद्या ] 'अज-शब्द- [ अर्थः ]		२६ अग्नीश्वर-विद्या इत्यादिः [ २७ अग्नीश्वर-स्तुतिः ]		
१२ ईश्वरादि-विद्या		२८ अग्नीश्वर-स्तुतिः		१५
१३ अग्नि-विद्या		[ २९-३१ इन्द्र-स्वराज्य-पदार्थ-विद्या ]		
१४ अग्नि-विद्या		३०, 'बाहुर्वीर्यं बलं च		
[ १५- ] १६ अग्नि-परमेश्वर-विद्या		३१ 'वेद-विद्या [ च ]		
१७ अग्नीश्वर-विद्या				२०

ऋग्वेदे प्रथमाष्टके पञ्चमोऽध्यायः ॥५॥

१. अत्राग्निर्यमशब्देनोच्यते । द्र० — अस्यैव वर्गस्य चतुर्थो मन्त्रः ।
२. द्रष्टव्योऽस्यैव वर्गस्य तृतीयो मन्त्रः ।
३. द्रष्टव्योऽस्यैव वर्गस्य तृतीयो मन्त्रः [ सूक्तानुसारमष्टमो मन्त्रः ] ।
४. अस्यैव वर्गस्य षष्ठो मन्त्रः [ सूक्तानुसारं षोडशो मन्त्रः ] ।



## अष्टकम् १, अध्यायः ६

वर्गः	विषयः	वर्गः	विषयः
	[१-४ इन्द्र-पदार्थ-विद्या]	२०	ईश्वर-प्रार्थना
५	[-८ इन्द्र-] पदार्थ-विद्या	२१	ईश्वर-स्तुति-प्रार्थना
५	९ वायु-पृथिवी-विद्या	२२	ईश्वर-स्तुति-प्रार्थना
	[१०-१३ वायु-विद्या]	२३	ईश्वर-स्तुति-प्रार्थना
	१४ <sup>१</sup> विमान-रेल-विद्या	[२४-२७ उषर्विद्या]	
	१५ ईश्वर-स्तुति-प्रार्थना	[२८-२९ अग्नि-सोम-विद्या]	
	१६ ईश्वर-प्रार्थना	३०	अग्नीश्वर-स्तुतिः
१०	१७ ईश्वर-प्रार्थना	३१	अग्नीश्वर-स्तुतिः
	१८ ईश्वर-प्रार्थना	३२	अग्नीश्वर-स्तुति-प्रार्थना <sup>२</sup>
	१९ ईश्वर-प्रार्थना		

ऋग्वेदे प्रथमाष्टके षष्ठोऽध्यायः ॥६॥

## अष्टकम् १, अध्यायः ७

वर्गः	विषयः	वर्गः	विषयः
१५	१ अग्नीश्वर-स्तुति-प्रार्थना	६	अग्नीश्वर-प्रार्थना
	२ अग्नीश्वर-स्तुति-प्रार्थना	७	अग्नीश्वर-प्रार्थना
	३ अग्नीश्वर-स्तुति-प्रार्थना	[८-११ इन्द्र-पदार्थ-विद्या]	
	४ अग्नीश्वर-स्तुति-प्रार्थना	१२ [-१३] ईश्वर-विद्या	
२०	५ अग्नीश्वर-प्रार्थना	१४ <sup>३</sup> इन्द्रादि-पदार्थ-विद्या	

१. हस्तलेखे वैयामुद्रिते चात्र '९' संख्याऽशुद्धोपलभ्यते । पूर्वत्र '९' संख्याया निर्देशादत्राशुद्धिस्तु स्पष्टैव । अयं विषयनिर्देशः १४ चतुर्दशवर्गस्य संभवतीति कृत्वा तथा निर्देशः कृतः । अत्र विषयनिर्देशे रेलशब्देन रेल-इवाशुगतिमद् यानमभिप्रेतम् ।

२५ २. वैयामुद्रिते 'अग्नीश्वर-स्तुतिः' इत्यपपाठः । अस्मत्पाठो हस्तलेखा-नुसारी ।

३. अस्य वर्गस्याश्विनो देवते ।



१५ 'इन्द्र-विद्या	[ २३ 'अश्वि-विद्या]
१६ धर्म-विद्या	२४ प्रार्थना
[ १७ प्रार्थना ]	२५ प्रार्थना-स्तुति [ : ]
[ १८ रथ-विद्या ]	२६ रथ-विद्या
[ १९ शल्य-विद्या ]	[ २७-२९ इन्द्राग्नि-विद्या ] ५
२० प्रार्थना	[ ३०-३२ शिल्प-विद्या ]
[ २१ प्रार्थना ]	[ ३३-३७ अश्वि-विद्या ]
२२ 'अश्वि-विद्या	

ऋग्वेदे प्रथमाष्टके सप्तमोऽध्यायः ॥७॥

अष्टकम् १, अध्यायः ८

१०

वर्गः	विषयः	वर्गः	विषयः
[ १ प्रार्थना-स्तुतिः ]		१४ अग्न्यश्व-विद्या	
[ २ स्तुतिः ]		१५ अग्न्यश्व-नौ'-विद्या	
[ ३ स्तुतिः प्रार्थना ]		[ १६ इन्द्र-रथ-विद्या ]	
[ ४ रथ-विद्या ]		१७ शिल्पादि'-विद्या १५	
[ ५ अहोरात्र-विद्या ]		१८ अनेकविध-रथ-यान-विद्या	
[ ६ प्रार्थना ]		१९ शिल्प-विद्या	
७ ज्ञान-विद्या		२० रथादि-शिल्प-विद्या	
८ शिल्प-विद्या, विमान-नौ- विद्या [ च ]		२१ तार-विद्या	
९ शिल्प-विद्या		[ २२ शत्रुनाशनम् ] २०	
[ १० दम्पती ]		२३ अनश्वरथ-विद्या	
[ ११ विद्वत्स्तुतिः ]		२४ अनेकविध-शिल्प-विद्या	
१२ नौ-विद्या		[ २५ वायु-विद्या ]	
[ १३ अग्नि-विद्या ]		२६ शिल्प-विद्या	

ऋग्वेदे प्रथमाष्टके अष्टमोऽध्यायः ॥८॥

२५

- १ अस्य वर्गस्याश्विनौ देवते ।
२. वर्गस्याश्विनौ देवते । अतो वैयामुद्रिते 'वरुण-विद्या' इत्यपपाठः ।
- ३ 'नौ' वैयामुद्रिते नास्ति, हस्तलेखे वर्तते ।
४. वैयामुद्रिते 'शिल्पार्थ' विद्या' इत्यपपाठः ।



# अथ द्वितीयाष्टकः

अष्टकम् २, अध्यायः १

वर्गः	विषयः	वर्गः	विषयः
	१ शिल्प-विद्या	१४ परमेश्वर-भौतिकाग्नि-विद्या	
५	२ पृथिव्यां शिल्प-विद्या	१५ परमेश्वर-भौतिकाग्नि-विद्या	
	३ रथादि-शिल्प-विद्या	१६ इन्द्राग्नी-विद्या	
	४ शिल्प-विद्या	१७ प्रार्थना-इन्द्र-विद्या	
	५ पदार्थ-विद्या	१८ पदार्थ-विद्या	
	६ पदार्थ-विद्या	१९ पदार्थ-विद्या	
१०	७ पदार्थ-विद्या	२० इन्द्र-विद्या	
	८ गृहाश्रम-स्त्रीपुरुष-व्यवस्था	२१ इन्द्र-विद्या	
	९ स्त्रीपुरुष-व्यवस्था	२२ पदार्थेन्द्र-विद्या	
	१० दक्षिणादान-विद्या	२३ पदार्थ-स्तुति-विद्या	
	११ शिल्प-विद्या	२४ इन्द्र-वायु-विद्या	
१५	१२ परमेश्वर-भौतिकाग्नि-विद्या	२५ वायु-विद्या	
	१३ परमेश्वर-भौतिकाग्नि-विद्या	२६ मित्रादि-विद्या	

ऋग्वेदे द्वितीयाष्टके प्रथमोऽध्यायः ॥१॥

अष्टकम् २, अध्यायः २

वर्गः	विषयः	वर्गः	विषयः
२०	१ पदार्थ-विद्या	४ गणितादि-विद्या	
	२ पूष-विद्या	५ अग्निपदार्थ-विद्या	
	३ इन्द्र-वायु-मित्रावरुण-विद्या	६ अग्निपदार्थ-विद्या	

१. वैयमुद्रिते 'पूषा विद्या' अपपाठः ।

२. वैयमुद्रिते 'इन्द्र वायू मित्रावरुण विद्या' पाठः ।



- ७ अग्निपदार्थ-विद्या  
 ८ पदार्थ-विद्या  
 ९ अग्न्यादिपदार्थ-विद्या  
 १० पदार्थ-विद्या  
 ११ सरस्वत्यादिपदार्थ-विद्या  
 १२ स्तुति-प्रार्थना  
 १३ ईश्वराग्नि-विद्या स्तुति [श्च]  
 १४ अग्निपदार्थ-विद्या  
 १५ पदार्थ-विद्या  
 १६ प्रार्थना  
 १७ प्रार्थना

- १८ पदार्थ-विद्या  
 १९ पदार्थ-विद्या  
 २० पदार्थ-विद्या  
 २१ पदार्थ-विद्या  
 २२ पदार्थ-विद्या  
 २३ विष्णु-कार्यकारण-स्तुति-  
 विद्या  
 २४ पदार्थ-विद्या  
 २५ विष्णु-प्रार्थना-पदार्थ-विद्या  
 २६ प्रार्थना-पदार्थ-विद्या  
 [२७ अग्न्यादि-पदार्थ-विद्या]

ऋग्वेदे द्वितीयाष्टके द्वितीयोऽध्यायः ॥२॥

### अष्टकम् २ अध्यायः ३

वर्गः विषयः

- १ पदार्थ-विद्या  
 २ प्रार्थना-पदार्थ-विद्या  
 ३ पदार्थ-विद्या  
 ४ रथादि-पदार्थ-विद्या  
 ५ भूगोल-विद्या  
 ६ पदार्थ-विद्या  
 ७ पदार्थ-विद्या  
 ८ पदार्थ-विद्या  
 ९ भक्ष्याभक्ष्य-विधिः  
 १० क्रिया-विधिः  
 ११ पदार्थ-विद्या  
 १२ [-१३] पदार्थ-विद्या

वर्गः विषयः

- १४ एकचक्रादि-पदार्थ-विद्या  
 १५ पदार्थ-विद्या  
 १६ द्वादशार-सप्तार-पञ्चार-सने-  
 मि-चक्रादि-पदार्थ-विद्या  
 १७ पदार्थ-विद्या  
 १८ स्तुति-शिल्प-विद्या  
 १९ पदार्थ-विद्या  
 २० उत्पत्ति-पदार्थ-विद्या  
 २१ अश्वरेतादि-विद्या, रूपका-  
 लङ्कारः  
 २२ वृष्टि-[विद्या] अग्न्यादीनि-  
 ईश्वरस्य नामानि

१. वैयासमुद्रिते 'पदार्थ विधिः' अपपाठः, अस्मत्पाठो हस्तलेखानुसारी  
 द्रष्टव्यः ।  
 २. वैयासमुद्रिते 'अग्न्यादि' इति पाठः ।



२३ वृष्टि-विमानादि-विद्या	२५ पृथिवी-पदार्थ-विद्या
२४ पदार्थ-विद्या	२६ विश्व-विद्या

ऋग्वेदे द्वितीयाष्टके तृतीयोऽध्यायः ॥३॥

अष्टकम् २ अध्यायः ४

वर्गः	विषयः	वर्गः	विषयः
१	वृष्ट्यादि-विद्या	१६	इन्द्रादि-पदार्थ-विद्या
२	वाय्वादि-विद्या	१७	स्तुतिः
३	दिन-मरुद्-विद्या	१८	स्तुति-पदार्थ-विद्या
४	रथ-विमान-पदार्थ-विद्या	१९	पदार्थ-विद्या
१०	५ वायु-विद्या	२०	स्तुति-पदार्थ-विद्या
६	पदार्थ-विद्या	२१	स्तुति-पदार्थ-विद्या
७	समुद्र-विद्युदादि-विद्या	२२	अगस्त्य-लोपामुद्रा-विद्या
८	इन्द्रादि-पदार्थ-विद्या	२३	शिल्प-विद्या
९	पदार्थ-विद्या	२४	शिल्प-विद्या
१५	१० प्रश्नोत्तर-विद्या	२५	रथ-विमानादि-शिल्प-विद्या
११	प्रार्थना-पदार्थ-विद्या	२६	शिल्प-विद्या
१२	पदार्थ-विद्या	२७	शिल्प-विद्या
१३	अनेक पदार्थ-विद्या	२८	शिल्प-विद्या
१४	शिक्षा-विद्या	२९	त्रिचक्रादि-रथ-विमान-विद्या
२०	१५ प्रसव-विद्या		

ऋग्वेदे द्वितीयाष्टके चतुर्थोऽध्यायः ॥४॥

अष्टकम् २ अध्यायः ५

वर्गः	विषयः	वर्गः	विषयः
१	ज्ञान[म्]	३	विश्व-विद्या
२५	२ प्रश्नोत्तर-रक्षण-विद्या	४	शिल्प-विद्या

१. वैयासमुद्रिते 'पदार्थ रथ विमान विद्या' पाठः ।



५ व्यवहार-विद्या	१८ अग्नीश्वर-नामानि स्तुति[श्]
६ प्रार्थनादि-विद्या	च
७ ज्ञान[म्]	१९ अग्नीश्वर-नामानि स्तुति[श्]
८ स्तुति[:]	च
९ श्री-सरस्वती-यज्ञ-विद्या	२० अग्नीश्वर-स्तुति[:]
१० अग्नि-स्तुति-प्रार्थना	२१ अग्नीश्वर-स्तुति-प्रार्थना
११ स्तुति-प्रार्थना-पदार्थ-विद्या	२२ अग्नीश्वर-स्तुति-प्रार्थना
१२ स्तुति[:]	२३ अग्नीश्वर-प्रार्थना
१३ स्तुति[:]	२४ अग्नीश्वर-स्तुति-प्रार्थना
१४ व्यवहार-विद्या	२५ अग्नीश्वर-स्तुति[:]
१५ सृष्टि-विद्या	२६ अग्नीश्वर-स्तुति-प्रार्थना
१६ विष-विद्या	२७ अग्नीश्वर-स्तुति-प्रार्थना
१७ अग्नीश्वर-नामानि स्तुति[श्]	२८ स्तुति[:]
च	२९ अग्नीश्वर-स्तुति-प्रार्थना

ऋग्वेदे द्वितीयाष्टके पञ्चमोऽध्यायः ॥५॥

१५

### अष्टकम् २ अध्यायः ६

वर्गः	विषयः	वर्गः	विषयः
१ अग्नीश्वर-स्तुति[:]		१२ पदार्थ-विद्या	
२ अग्नि-स्तुति[:]		१३ वृष्ट्यादि-विद्या	
३ ददार्थ-विद्या		१४ पदार्थ-विद्या	२०
४ इन्द्र-विद्या		१५ इन्द्र-स्तुत्यादि[:]	
५ इन्द्र-पदार्थ-विद्या		१६ उत्पत्ति-विद्या	
६ गणित-विद्यादि[:]		१७ स्तुति[:]	
७ पदार्थ-विद्या-स्तुति[:]		१८ स्तुति[:]	
८ पदार्थ-विद्या-स्तुति[:]		१९ ईश्वर-स्तुति-धारण-विद्या	२५
९ उत्पत्ति-स्तुति-प्रार्थना[:]		२० इन्द्रेश्वर-स्तुति[:]	
१० ऋतु-विद्या		२१ गणितादि-विद्या	
११ पदार्थ-विद्या		२२ गणितादि-विद्या	

१. वैयासमुद्रिते हस्तलेखे च 'गणितादि प्रार्थना' इत्यपपाठः । द्र० अस्यैवाध्यायस्य २१ तमस्य वर्गस्य विषयः ।

३०



२३ स्तुति[:]	२८ पदार्थ-विद्या
२४ इन्द्र-स्तुति[:]	२९ स्तुत्यादि-विद्या
२५ इन्द्र-स्तुति[:]	३० प्रार्थना-स्तुत्यादि[:]
२६ स्तुति[:]	३१ स्तुति-प्रार्थनादि-विद्या
५. २७ इन्द्र-स्तुति-प्रार्थना	३२ स्तुति-प्रार्थनादि-विद्या

ऋग्वेदे द्वितीयाष्टके षष्ठोऽध्यायः ॥६॥

अष्टकम् २ अध्यायः ७

वर्गः	विषयः	वर्गः	विषयः
१	स्तुत्यादि-पदार्थ-विद्या	१३	युद्धादि-पदार्थ-विद्या
१० २	ज्ञानादि-विद्या	१४	विमान-यानादि-शिल्प-विद्या
३	ज्ञानादि-विद्या	१५	वरुणादि-सामर्थ्य-विचार[:]
४	स्तुत्यादि-पदार्थ-विद्या	१६	शिल्पादि-पदार्थ-विद्या
५	स्तुत्यादि-पदार्थ-विद्या	१७	सूर्य-वाय्वादि-रसायन-विद्या
६	स्तुत्यादि-पदार्थ-विद्या	१८	प्रार्थनादि <sup>१</sup> -वायु-विद्या
१५ ७	स्तुत्यादि-पदार्थ-विद्या	१९	विमा[ना]दि विद्या
८	स्तुत्यादि-पदार्थ-विद्या	२०	शिल्प-विद्या
९	प्रार्थना-स्तुत्यादि-विद्या	२१	शिल्प-विद्या
१०	प्रार्थना-स्तुत्यादि-पदार्थ- <sup>१</sup> विद्या	२२	जल-गुणज्ञान-विद्या
२० ११	प्रार्थना-स्तुत्यादि <sup>१</sup> -पदार्थ-विद्या	२३	जल-विद्युदादि-विद्या
१२	प्रार्थना-स्तुत्यादि-पदार्थ-विद्या	२४	जल-विज्ञानादि-विद्या
		२५	सूर्यपरमेश्वरेन्द्रादि-विद्या

ऋग्वेदे द्वितीयाष्टके सप्तमोऽध्यायः ॥७॥

- २५ १. वैयामित्रे 'प्रार्थनादि' इत्यपपाठः । अस्मत्पाठो हस्तलेखानुसारी ।  
 २. वैयामित्रे 'प्रार्थना' इत्येव, तत्रादिददं हस्तलेखस्य नास्ति ।



## अष्टकम् २, अध्यायः ८

वर्गः विषयः

- १ सोम-हविः पानादि-विद्या
- २ पदार्थ-विद्या
- ३ प्रार्थनादि-पदार्थ-विद्या
- ४ प्रार्थनादि-विद्या
- ५ प्रार्थनादि-विद्या
- ६ विमान-ईश्वर-प्रार्थनादि-विद्या
- ७ शिल्प-विद्या
- ८ स्तुति-पदार्थ-विद्या
- ९ प्रार्थनादि-पदार्थ-विद्या
- १० नदी-विद्या
- ११ प्रार्थनादि-विद्या
- १२ धर्मोपदेशादि-विद्या
- १३ ईश्वरप्रार्थनोपदेशादि-विद्या
- १४ ईश्वराग्न्यादि-पदार्थ-विद्या
- १५ प्रार्थनादि-पदार्थ-विद्या

नगः विषयः

- १६ प्रार्थनाद्यनेक-पदार्थ-विद्या ✓
- १७ ईश्वर-अग्नि-प्रार्थनादि-विद्या ५
- १८ ईश्वरस्तुत्याद्यग्नि-विद्या
- १९ ईश्वराग्नि-स्तुत्यादि-पदार्थ-विद्या
- २० अग्निरनेकनामा
- २१ विमानाद्यनेक-विद्या १०
- २२ अग्न्यादि-पदार्थ-विद्या
- २३ [अग्न्यादि-पदार्थ-विद्या] १
- २४ अग्निरनेकनामादि-पदार्थ-विद्या
- २५ स्तुति-प्रार्थनादि-विद्या १५
- २६ अग्निरीश्वरनामा
- २७ अग्नीश्वर-विद्या
- प्रार्थनादि-विद्या

ऋग्वेदे द्वितीयाष्टके अष्टमोऽध्यायः ॥८॥

१. वैयामुद्रिते 'ईश्वराग्न्यादि पदार्थादि विद्या' इत्यपपाठः । अस्मत्पाठो २० हस्तलेखानुसारी ।

२. हस्तलेखे वर्गसंख्या तूपलभ्यते, विषयनिर्देशो न दृश्यते । पाठोज्यं वैयामुद्रिते परिवर्तितः

३. आस्मिन्नध्याये २७ वर्गा एव सन्ति । अतो वैयामुद्रिते इतः पूर्वं विदिष्टा २८ संख्या चिन्त्या । अयं विषयः सप्तत्रिंशतिवर्गस्यैव ११ मन्त्रस्य २५ विज्ञेयः । यद्वा उभौ पाठौ सम्मेल्यैवं कल्पनीयः—'अग्नीश्वरप्रार्थनादि-विद्या' ।



# अथ तृतीयाष्टकः

अष्टकम् ३ अध्यायः १

वर्गः	विषयः	वर्गः	विषयः
	१ वाक्प्राण-विद्या	१९ अग्नि-स्तुति-प्रार्थनादि-विद्या	
५	२ प्राणाग्निप्रार्थनादि-विद्या	२० अग्निरुषआद्यनेकनामा, प्रार्थनादि-विद्या	
	३ ज्ञानादि-विद्या	२१ अग्नि-स्तुति-प्रार्थनादि-विद्या	
	४ प्रार्थनाद्याशी <sup>१</sup> -विद्या	२२ अग्नि-स्तुत्यादि-पदार्थ-विद्या	
	५ पदार्थ-विद्या	२३ अग्नि-स्तुति-प्रार्थनादि-पदार्थ-विद्या	
	६ अग्न्यादि-गणित-विद्या	२४ अग्नि-स्तुत्यादि-विद्या	
१०	७ अग्न्यादि-पदार्थ-विद्या	२५ अग्नि-स्तुत्यादि-विद्या	
	८ अग्नि-प्रार्थनादि-विद्या	२६ अग्निरनेकनामा, स्तुति-प्रार्थनादि-विद्या	
	९ अग्नि-स्तुत्यादि-पदार्थ-विद्या	२७ अग्निरनेकनामा, स्तुति-प्रार्थनादि-विद्या	
	१० अग्नि-विद्या)	२८ अग्नि-स्तुतिप्रार्थनादि-विद्या	
	११ इन्द्राग्नि-विद्या	२९ अग्निरनेकनामा, स्तुति-प्रार्थनादि-विद्या	
१५	१२ इन्द्राग्नि-विद्या	३० अग्नि-स्तुत्यादि-विद्या	
	१३ अग्नि-स्तुति-प्रार्थनादि-विद्या		
	१४ अग्नीश्वरस्तुत्यादि-विद्या		
	१५ अग्नीश्वर-स्तुत्यादि-पदार्थ-विद्या		
२०	१६ अग्नि-स्तुति-विद्या		
	१७ अग्नि-स्तुत्यादि-विद्या		
	१८ अग्नि-स्तुति-प्रार्थनादि-पदार्थ-विद्या		

१. एतद्ग्रन्थकर्त्रा स्ववेदभाष्येऽपि दीर्घेकारान्तः 'आशीः' शब्दः प्रयुक्तः ।  
 २५ अत्र विशेष विचारः, ऋ० १।३६।२ मन्त्रभाष्यस्य टिप्पण्यां द्रष्टव्यः (ऋग्भाष्य  
 भाग २, पृष्ठ ३६३, टि० १) । अतो वैयामुद्रिते '०आशीविद्या' इति शोधनं  
 चिन्त्यम् ।

२. वैयामुद्रिते 'इन्द्राग्नी' इत्यपपाठः ।



३१ अग्नि-स्तुति-प्रार्थना-यज्ञादि-  
पदार्थ-विद्या३२ अग्निरनेकनामा,  
स्तुत्यादिपदार्थ-विद्या३३ अग्नि-स्तुति-प्रार्थनादि-  
विद्या३४ अग्नि-स्तुति-प्रार्थनादि-  
पदार्थ-विद्या

ऋग्वेदे तृतीयाष्टके प्रथमोऽध्यायः ॥१॥

५

## अष्टकम् ३ अध्यायः २

वर्गः विषयः

१ इन्द्र-स्तुत्यादि-पदार्थ-विद्या

२ आकर्षणादि-विद्या

३ संयोगाकर्षणादि-विद्या

४ धारणाकर्षणादि-विद्या

५ अलंकाराद्यनेक-पदार्थ-विद्या

६ धारणादिपदार्थ-विद्या

७ संयोगादि-शिल्प-विद्या

७ सूर्याद्याकर्षणानुकर्षणादि-  
विद्या

८ पदार्थ-विद्या

१० इन्द्र-स्तुत्यादि-पदार्थ-विद्या

११ पदार्थ-विद्या

१२ पदार्थ-विद्या

वर्गः विषयः

१३ शिल्प-विद्या

१४ शिल्प-विद्या

१६ धर्मयुद्धादि-पदार्थ-विद्या १०

१७ शिक्षादि-विद्या

१८ पदार्थ-विद्या

१९ स्तुत्यादि-पदार्थ-विद्या

२० स्तुत्यादि-पदार्थ-विद्या

२१ वृष्ट्यादि-पदार्थ-विद्या १५

२२ पदार्थ-विद्या

२३ राज्य-विद्या

२४ पदार्थ-विद्या

२५ पदार्थ-विद्या

२६ पदार्थ-विद्या २०

ऋग्वेदे तृतीयाष्टके द्वितीयोऽध्यायः ॥२॥

## अष्टकम् ३ अध्यायः ३

वर्गः विषयः

१ यज्ञादि-विद्या

२ इन्द्र-विद्या

३ इन्द्र-विद्या

४ प्रार्थनादि-विद्या

वर्गः विषयः

५ इन्द्रादि-पदार्थ-विद्या

६ पदार्थ-विद्या २५

७ बलादि-विद्या

८ इन्द्र-स्तुत्यादि-विद्या



६ यानादि-पदार्थ-विद्या	२१ प्रार्थना-पदार्थ-विद्या
१० ईश्वर-स्तुति-विद्या	२२ पदार्थ-विद्या
११ इन्द्रादि-स्तुति-विद्या	२३ पदार्थ-विद्या
१२ इन्द्र-स्तुत्यादि-पदार्थ-विद्या	२४ गर्भादि-पदार्थ-विद्या
५ १३ इन्द्र-स्तुति-पदार्थ-विद्या	२५ पदार्थ-विद्या
१४ इन्द्र-स्तुति-पदार्थ-विद्या	२६ स्तुति-प्रार्थनादि-पदार्थ-विद्या
१५ इन्द्र-स्तुति-पदार्थ-विद्या	२७ पदार्थ-विद्या
१६ इन्द्र-वायु-स्तुति-प्रार्थनादि-विद्या	२८ ज्ञानादि-पदार्थ-विद्या
१० १७ इन्द्र-स्तुति-प्रार्थनादि-विद्या	२९ 'ज्ञान-विद्या
१८ भोजन-विद्या	३० ज्ञान-विद्या
१९ पदार्थ-विद्या	३१ ज्ञान-विद्या
२० पदार्थ-विद्या	

ऋग्वेदे तृतीयाष्टके तृतीयोऽध्यायः ॥३॥

१५ अष्टकम् ३, अध्यायः ४

वर्गः विषयः	वर्गः विषयः
१ पदार्थ-विद्या	८ युद्धादि-पदार्थ-विद्या
२ अग्नीश्वर-प्रार्थनादि पदार्थ-विद्या	९ बृहस्पति-स्तुति-प्रार्थनादि-पदार्थ-विद्या
२० ३ रथविमानादि-पदार्थ-विद्या	१० प्रार्थना-पदार्थ-विद्या
४ शीघ्र[गामि] रथ-पदार्थ-विद्या	११ सवित्रादि-प्रार्थनादि-पदार्थ-विद्या
५ मित्रेश्वर-स्तुति-प्रार्थनादि-विद्या	१२ २[अग्नि-स्तुति-प्रार्थनादि-पदार्थ-विद्या]
६ मित्रेश्वर-धारणादि-पदार्थ-विद्या	१३ अग्नि-स्तुति-प्रार्थनादि-पदार्थ-विद्या
२५ ७ इन्द्र-स्तुति-यज्ञादि-पदार्थ-विद्या	

१. ज्ञानविषयिका विद्येत्यर्थः ।

२. हस्तलेखे १२ द्वादश संख्यामात्रं दृश्यते, विषयस्योल्लेखो नास्ति ।

वैयमुद्रिते सम्पादकेन एकादशवर्गस्य विषय एवेहापि संयोजितः । स सवितृ-

३० देवताया अभावादयुक्तः ।



१४ अग्निरनेकनामा, स्तुत्यादि-पदार्थ-विद्या	२० पदार्थ-विद्या
१५ पदार्थ-विद्या	२१ प्रार्थनादि-पदार्थ-विद्या
१६ अग्नि-स्तुत्यादि-पदार्थ-विद्या	२२ प्रार्थनादि-पदार्थ-विद्या
१७ स्तुत्यादि-पदार्थ-विद्या	२३ प्रार्थना-युद्धादि-पदार्थ- विद्या
१८ पदार्थ-विद्या	२४ प्रार्थनादि-पदार्थ-विद्या
१९ पदार्थ-विद्या	२५ स्तुति-प्रार्थना

५

ऋग्वेदे तृतीयाष्टके चतुर्थोऽध्यायः ॥४॥

अष्टकम् ३, अध्यायः ५

वर्गः	विषयः	वर्गः	विषयः	१०
१ पदार्थ-विद्या		१४ स्तुत्यादि-पदार्थ-विद्या		
२ पदार्थ-विद्या		१५ स्तुति-प्रार्थनादि-पदार्थ- विद्या		
३ पदार्थ-विद्या		१६ स्तुत्यादि-पदार्थ-विद्या		
४ पदार्थ-विद्या		१७ स्तुत्यादि-पदार्थ-विद्या		१५
५ पदार्थ-विद्या		१८ पदार्थ-विद्या		
६ पदार्थ-विद्या, अग्निरनेकनामा		१९ पदार्थ-विद्या		
७ पदार्थ-विद्या		२० इन्द्र-स्तुत्यादि-पदार्थ-विद्या		
८ अग्निरनेकनामा आशुगुण- विद्या		२१ ईश्वर-स्तुत्यादि-पदार्थ- विद्या		२०
९ अग्नि-स्तुति-प्रार्थनादि- पदार्थ-विद्या		२२ इन्द्र-स्तुत्यादि-पदार्थ-विद्या		
१० अग्नि-स्तुत्यादि-पदार्थ- विद्या		२३ पदार्थ-विद्या		
११ पदार्थ-विद्या		२४ इन्द्र-स्तुत्यादि-पदार्थ-विद्या		
१२ स्तुत्यादि-पदार्थ विद्या		२५ ज्ञानादि-पदार्थ-विद्या		
१३ पदार्थ-विद्या		२६ धारणादि-पदार्थ-विद्या		२५

ऋग्वेदे तृतीयाष्टके पञ्चमोऽध्यायः ॥५॥



## अष्टकम् ३, अध्यायः ६

वर्गः	विषयः	वर्गः	विषयः
	१ पदार्थ-विद्या	१८ पदार्थ-विद्या	
	२ पदार्थ-विद्या	१९ पदार्थ-विद्या	
५	३ युद्धार्था प्रार्थना-विद्या	२० अलंकारादि-पदार्थ-विद्या	
	४ इन्द्र-स्तुत्यादि-पदार्थ-विद्या	२१ वृष्ट्यादि-पदार्थ-विद्या	
	५ इन्द्र-प्रार्थनादि-विद्या	२२ स्तुत्यादि-पदार्थ-विद्या	
	६ पदार्थ-विद्या	२३ पदार्थ-विद्या	
	७ युद्धादि-पदार्थ-विद्या	२४ पदार्थ-विद्या	
१०	८ इन्द्र-प्रार्थनादि-विद्या	२५ प्रार्थनादि-पदार्थ-विद्या	
	९ सख्यत्वादि-विद्या	२६ इन्द्रादि-स्तुति-प्रार्थनादि- पदार्थ-विद्या	
	१० ऋत-विचारादि-विद्या	२७ इन्द्र-प्रार्थनादि-विद्या	
	११ पदार्थ-विद्या	२८ इन्द्र-स्तुति-प्रार्थनादि- पदार्थ-विद्या	
	१२ पदार्थ-विद्या	२९ इन्द्र-स्तुति-प्रार्थनादि- पदार्थ-विद्या	
१५	१३ प्रश्नोत्तर-विद्या	३० इन्द्र-स्तुति-प्रार्थनादि- पदार्थ-विद्या	
	१४ इन्द्र-स्तुत्यादि-पदार्थ-विद्या		
	१५ ईश्वरादि-पदार्थ-व्याख्या		
	१६ ईश्वरादि-पदार्थ-विद्या		
	१७ पदार्थ-विद्या		

२०

ऋग्वेदे तृतीयाटके षष्ठोऽध्यायः ॥६॥

## अष्टकम् ३, अध्यायः ७

वर्गः	विषयः	वर्गः	विषयः
	१ पदार्थ-विद्या	७ अनश्वरथादि-शिल्प-विद्या	
	२ पदार्थ-विद्या	८ शिल्प-विद्या	
२५	३ पदार्थ-विद्या	९ ज्ञानादि-पदार्थ-विद्या	
	४ प्रार्थनादि-पदार्थ-विद्या	१० प्रार्थनादि-पदार्थ-विद्या	
	५ स्तुत्यादि-पदार्थ-विद्या	११ उपमानादि-शिल्प-विद्या	
	६ औषधादि-पदार्थ-विद्या	१२ उपमानादि-शिल्प-विद्या	



१३ शिल्प-प्रार्थना-विद्या	२० अलंकारादि-पदार्थ-विद्या
१४ ईश्वरादि-पदार्थ-विद्या	२१ शिल्पादि-पदार्थ-विद्या
१५ सखित्वादि-पदार्थ-विद्या	२२ पदार्थ-विद्या
१६ युद्धादि-प्रार्थना-पदार्थ-विद्या	२३ 'इन्द्रवायु-गुण-विद्या
१७ परमेश्वर-धारणादि-पदार्थ-विद्या	२४ शिल्पादि-पदार्थ-विद्या ५
१८ ईश्वरादि-पदार्थ-विद्या	२५ शिल्पौषध-विद्या
१९ अलंकारादि-पदार्थ-विद्या	२६ बृहस्पति-स्तुति-प्रार्थनादि-पदार्थ-विद्या
	२७ बृहस्पति-प्रार्थनादि-विद्या

ऋग्वेदे तृतीयाष्टके सप्तमोऽध्यायः ॥७॥

१०

अष्टकम् ३, अध्यायः ८

वर्गः	विषयः	वर्गः	विषयः
१	पदार्थ-विद्या	१४	सत्यासत्य-विवेचन-पदार्थ-विद्या
२	जल-गुण-विद्या	१५	स्तुति-प्रार्थनादि-पदार्थ-विद्या १५
३	उषःकाल-विद्या	१६	अग्नि-स्तुत्यादि-पदार्थ-विद्या
४	सवितृ-प्रार्थनादि-विद्या	१७	अग्नि-स्तुत्यादि-पदार्थ-विद्या २०
५	सवितृ-स्तुति-प्रार्थनादि-विद्या	१८	अग्नि-स्तुत्यादि-पदार्थ-विद्या
६	पदार्थ-विद्या	१९	अग्नि-प्रार्थनादि-पदार्थ-विद्या
७	स्तुति-प्रार्थनादि-पदार्थ-विद्या	२०	अग्नि-स्तुति-विधि-विद्या २५
८	पदार्थ-विद्या	२१	अग्नि-स्तुति-पदार्थ-विद्या
९	प्रार्थनादि-पदार्थ-विद्या		
१०	पदार्थ-विद्या		
११	जलादि-पदार्थ-विद्या		
१२	पदार्थ-विद्या		
१३	अग्नि-स्तुत्यादि-पदार्थ-विद्या		

१. वैयाकरणे 'इन्द्रवायु गुणविद्या' इत्यपपाठः ।



- २२ अग्नि-स्तुति-प्रार्थना-यज्ञादि-  
पदार्थ-विद्या  
२३ अग्नि-स्तुत्यादि-पदार्थ-  
विद्या

- २४ पदार्थ-विद्या  
२५ पदार्थ-विद्या  
२६ अग्निरनेकनामा, स्तुति-  
प्रार्थना [-विद्या]

५

ऋग्वेदे तृतीयाष्टके अष्टमोऽध्यायः ॥८॥

## अथ चतुर्थाष्टकः

अष्टकम् ४, अध्यायः १

वर्गः	विषयः	वर्गः	विषयः
१०	१ अग्नि-स्तुत्यादि-पदार्थ- विद्या	१३	पदार्थ-विद्या
	२ अग्नि-स्तुत्यादि-पदार्थ- विद्या	१४	पदार्थ-विद्या
	३ अग्नि-स्तुति-प्रार्थनादि- पदार्थ-विद्या	१५	पदार्थ-विद्या
१५	४ अग्नि-स्तुत्यादि-पदार्थ- विद्या	१६	स्तुति-प्रार्थना-विद्या
	५ अग्नि-स्तुति-प्रार्थनादि- पदार्थ-विद्या	१७	अग्निरनेकनामा
	६ अग्न्यादि-पदार्थ-विद्या	१८	अग्नि-स्तुति-विद्या
२०	७ अग्न्यादि-पदार्थ-विद्या	१९	स्तुति-विद्या
	८ पदार्थ-विद्या	२०	अग्निरनेकनामा
	९ पदार्थ-विद्या	२१	स्तुति-गणितादि-विद्या
	१० प्रार्थनादि-विद्या	२२	पदार्थ-विद्या
	११ पदार्थ-विद्या	२३	मारुदादित्य-गणित-पदार्थ- विद्या
२५	१२ अग्न्यादि-पदार्थ-विद्या	२४	आकर्षणादि-पदार्थ-विद्या
		२५	पदार्थ-विद्या
		२६	विद्या-लक्षण-विद्या
		२७	पदार्थ-विद्या
		२८	पदार्थ-विद्या

१. वैयामुद्रिते 'पदार्थ' पदं नास्ति, हस्तलेखे दृश्यते ।



२९ पदार्थ-विद्या

३० पदार्थ-विद्या

३१ पदार्थ-विद्या

३२ इन्द्र-युद्धादि-विद्या

३३ पदार्थ-विद्या

ऋग्वेदे चतुर्थाष्टके प्रथमोऽध्यायः ॥१॥

अष्टकम् ४, अध्यायः २

५

वर्गः विषयः

१ पदार्थ-विद्या

२ पदार्थ-विद्या

३ पदार्थ-विद्या

४ क्षत्रादि-विद्या

५ इन्द्र-स्तुत्यादि-विद्या

६ इन्द्र-प्रार्थनादि-पदार्थ-विद्या

७ पदार्थ-विद्या

८ इन्द्र-सोम-विद्या

९ इन्द्र-स्तुति-विद्या

१० इन्द्रादि-पदार्थ-विद्या

११ पदार्थ-विद्या

१२ पदार्थ-विद्या

१३ पदार्थ-विद्या

१४ पदार्थ-विद्या

वर्गः विषयः

१५ प्रार्थनादि-पदार्थ-विद्या

१६ पदार्थ-विद्या

१७ प्रार्थनादि-पदार्थ-विद्या

१८ धर्माधर्म-विद्या

१०

१९ उत्पत्त्यादि-पदार्थ-विद्या

२० पदार्थ-विद्या

२१ पदार्थ-विद्या

२२ पदार्थ-विद्या

२३ पदार्थ-विद्या

२५

२४ धर्मादि-विद्या

२५ अग्न्यादि-पदार्थ-विद्या

२६ यज्ञादि-विद्या

२७ पदार्थ-विद्या

२८ पदार्थ-विद्या

२०

ऋग्वेदे चतुर्थाष्टके द्वितीयोऽध्यायः ॥२॥

अष्टकम् ४, अध्यायः ३

वर्गः विषयः

१ स्तुत्यादि-पदार्थ-विद्या

२ पदार्थ-विद्या

वर्गः विषयः

३ पदार्थ-विद्या

४ प्रार्थनादि-विद्या

२५



५ पदार्थ-विद्या	१९ पदार्थ-विद्या
६ स्तुति-पदार्थ-विद्या	२० पदार्थ-विद्या
७ स्तुति-प्रार्थनादि-पदार्थ-विद्या	२१ शिल्प-विद्या
५ ८ पदार्थ-विद्या	२२ प्रार्थना-बल-पराक्रमादि-विद्या
९ प्रार्थना-यज्ञादि-पदार्थ-विद्या	२३ शिल्प-विद्या
१० पदार्थ-विद्या	२४ नौकादि-विद्या
११ पदार्थ-विद्या	२५ अग्नि-स्तुत्यादि-पदार्थ-विद्या
१० १२ वृष्ट्यादि-पदार्थ-विद्या	२६ शिल्पादि-विद्या
१३ यन्त्रादि-पदार्थ-विद्या	२७ शिल्पादि-विद्या
१४ विद्युदादि-पदार्थ-विद्या	२८ ऋतादि-पदार्थ-विद्या
१५ वेगादि-पदार्थ-विद्या	२९ पदार्थ-विद्या
१६ पदार्थ-विद्या	३० ऋतादि-विद्या
१५ १७ प्रार्थनाद्यनेक-विद्या	३१ यन्त्रादि-विद्या
१८ प्रार्थनाद्यनेक-विद्या	

ऋग्वेदे चतुर्थाष्टके तृतीयोऽध्यायः ॥३॥

अष्टकम् ४, अध्यायः ४

वर्गः	विषयः	वर्गः	विषयः
२०	१ धर्म-वृष्ट्यादि-पदार्थ-विद्या		७ पदार्थ-विद्या
	२ पदार्थ-विद्या		८ पदार्थ-विद्या
	३ प्रार्थना-ऋतादि-पदार्थ-विद्या		१० सोमपान-विद्या
२५	४ पदार्थ-विद्या		११ पदार्थ-विद्या
	५ प्रार्थना-धर्म-विद्या		१२ शिल्पादि-विद्या
	६ विधि-विद्या		१३ पदार्थ-विद्या
	७ पदार्थ-विद्या		१४ शिल्पादि-विद्या
			१५ शिल्प-प्रार्थनादि-विद्या
			१६ शिल्पादि-प्रार्थना-विद्या



१७ लोकभ्रमणादि-विद्या	२७ ईश्वर-प्रार्थना-पञ्चन्यादि-विद्या
१८ शिल्प-रसायनादि-विद्या	२८ वृष्ट्यादि-पदार्थ-विद्या
१९ शिल्प-विद्या	२९ वृष्ट्यादि-पदार्थ-विद्या
२० गर्भ-गर्भाधान-विद्या	३० सृष्ट्यादि-पदार्थ-विद्या ५
२१ शिल्प-विद्या	३१ वरुण-लक्षणादि-विद्या
२२ शिल्पादि-विद्या	३२ इन्द्राग्नी, युद्धादि-विद्या
२३ लोक-शिल्पादि-विद्या	३३ पदार्थ-विद्या
२४ योगमरणादि <sup>१</sup> -विद्या	३४ यज्ञादि-पदार्थ-विद्या
२५ सवितृ-प्रार्थनादि-विद्या	३५ अग्नि-स्तुति-प्रार्थनादि-पदार्थ-विद्या १०
२६ सवितृ-प्रार्थना-उत्पत्ति-विद्या	३६ अग्नि-स्तुत्यादि-पदार्थ-विद्या

ऋग्वेदे चतुर्थाष्टके चतुर्थोऽध्यायः ॥४॥

### अष्टकम् ४, अध्यायः ५

वर्गः	विषयः	वर्गः	विषयः	१५
१	अग्नि-स्तुति-प्रार्थनादि-पदार्थ-विद्या	६	अग्नि-स्तुत्यादि-पदार्थ-विद्या	
२	अग्नि-स्तुति-प्रार्थनादि-पदार्थ-विद्या	७	अग्नि-स्तुति-प्रार्थनादि-पदार्थ-विद्या	
३	अग्नि-स्तुत्यादि-पदार्थ-विद्या	८	अग्नि-स्तुत्याकर्षणादि-पदार्थ-विद्या	२०
४	अग्नि-वायु-स्तुत्यादि-पदार्थ-विद्या	९	अग्नि-स्तुति-प्रार्थनादि-पदार्थ-विद्या	
५	अग्नि-स्तुत्यादि-पदार्थ-विद्या	१०	पृथिवी-धारणाकर्षण-अग्नि-प्रार्थनादि-विद्या	२५

१. द्वितीयतृतीययोर्मन्त्रयोर्थाक्रमम् 'अनुप्रयाणाम्' 'प्रयाणम्' शब्दयो-  
निर्देशात् मरणविद्या । यद्वा 'योगमरण-विद्या' पाठः स्यात् ।



- |   |   |
|---|---|
| <p>११ ईश्वराग्नि-स्तुति-प्रार्थनादि-<br/>ज्ञानादि-विद्या</p> <p>१२ अग्नीश्वर-स्तुति-प्रार्थनादि-<br/>पदार्थ-विद्या</p> <p>५ १३ स्तुत्यादि-पदार्थ-<br/>विद्या</p> <p>१४ अग्नि-प्रार्थनादि-पदार्थ-<br/>विद्या</p> <p>१५ अग्नीश्वर-प्रार्थनादि-पदार्थ-<br/>विद्या</p> <p>१० १६ अग्नीश्वर-स्तुति-प्रार्थनादि-<br/>पदार्थ-विद्या</p> <p>१७ अग्निरनेकनामा, स्तुत्यादि-<br/>पदार्थ-विद्या</p> <p>१५ १८ अग्निरनेकनामा, स्तुति-<br/>प्रार्थनादि-पदार्थ-विद्या</p> <p>१९ अग्नीश्वर-स्तुति-प्रार्थनादि-<br/>पदार्थ-विद्या</p> <p>२० अग्निरनेकनामा, स्तुति-<br/>प्रार्थनादि-पदार्थ-विद्या</p> | <p>२१ अग्नीश्वर-स्तुति-प्रार्थनादि-<br/>पदार्थ-विद्या</p> <p>२२ अग्नीश्वर-स्तुत्यादि-पदार्थ-<br/>विद्या</p> <p>२३ अग्नि-स्तुति-प्रार्थना-<br/>युद्धादि-विद्या</p> <p>२४ अग्नि-स्तुत्यादि-पदार्थ-<br/>विद्या</p> <p>२५ अग्निरनेकनामा, स्तुत्यादि-<br/>पदार्थ-विद्या</p> <p>२६ अग्नीश्वर-स्तुति-प्रार्थनादि-<br/>विद्या</p> <p>२७ अग्नीश्वर-स्तुति-प्रार्थनादि-<br/>पदार्थ-विद्या</p> <p>२८ अग्नि-स्तुत्यादि-पदार्थ-<br/>विद्या</p> <p>२९ अग्नि-स्तुत्यादि-पदार्थ-<br/>विद्या</p> <p>३० अग्नि-स्तुत्यादि-पदार्थ-<br/>विद्या</p> |
|---|---|

ऋग्वेदे चतुर्थाष्टके पञ्चमोऽध्यायः ॥५॥

अष्टकम् ४, अध्यायः ६

वर्गः विषयः

- ३५ १ इन्द्र-स्तुत्यादि-पदार्थ-  
विद्या
- २ इन्द्र-स्तुत्यादि-पदार्थ-  
विद्या

वर्गः विषयः

- ३ इन्द्र-स्तुत्यादि-पदार्थ-  
विद्या
- ४ इन्द्र-स्तुति-सख्यादि-विद्या
- ५ इन्द्र-स्तुत्यादि-पदार्थ-विद्या



६ ईश्वर-प्रतिमान-निषेधादि- पदार्थ-विद्या	१६ इन्द्र-स्तुति-प्रार्थनादि- पदार्थ-विद्या	
७ इन्द्र-स्तुत्यादि-पदार्थ-विद्या	१७ इन्द्र-स्तुत्यादि-पदार्थ- विद्या	
८ युद्धाद्यर्थमिन्द्र-प्रार्थना, वृष्ट्यादि-पदार्थ-विद्या	१८ इन्द्र-स्तुत्यादि-पदार्थ- विद्या	५
९ इन्द्र-स्तुति-प्रार्थना; शिल्पादि- विद्या	१९ इन्द्र-स्तुत्यादि-पदार्थ-विद्या	
१० इन्द्र-स्तुत्यादि-पदार्थ-विद्या	२० इन्द्र-स्तुति-प्रार्थनादि- पदार्थ-विद्या	
११ इन्द्र-स्तुति-व्यवस्थादि- पदार्थ-विद्या	२१ इन्द्र-स्तुत्यादि-पदार्थ- विद्या	१०
१२ इन्द्रोऽनेकनामा; स्तुत्यादि- पदार्थ-विद्या	२२ इन्द्र-स्तुत्यादि-पदार्थ-विद्या	
१३ इन्द्र-स्तुत्यादि-पदार्थ-विद्या	२३ इन्द्र-स्तुत्यादि-पदार्थ-विद्या	
१४ इन्द्र-स्तुत्यादि-पदार्थ-विद्या	२४ इन्द्राग्नि-स्तुत्यादि-पदार्थ- विद्या	१५
१५ 'जगत्कर्त्री' इश्वरादि-पदार्थ- विद्या	२५ इन्द्र-प्रार्थना; धर्मादि-विद्या	

ऋग्वेदे चतुर्थाष्टके षष्ठोऽध्यायः ॥६॥

अष्टकम् ४, अध्यायः ७

वर्गः	विषयः	वर्गः	विषयः
१ इन्द्र-स्तुति-वृष्ट्यादि-विद्या		३ इन्द्र-स्तुत्यादि-पदार्थ-विद्या	२०
२ इन्द्र-लक्षणादि-पदार्थ-विद्या		४ इन्द्र-स्तुत्यादि-पदार्थ-विद्या	

१. वैयामुद्रिते '०प्रतिमाननिषेधादि०' इत्यपपाठः । हस्तलेखे 'प्रतिमान'-  
शब्दो दृश्यते ।

२. वैयामुद्रिते 'जगत्कर्त्री' इश्वर०' इत्यपपाठः । हस्तलेखे शुद्ध एव पाठो  
दृश्यते ।

३. वैयामुद्रिते 'इन्द्राग्नीस्तुत्यादि०' इत्यपपाठः । २५



- ५ 'इन्द्र-स्तुत्यादि-शूरयुद्धादि-  
पदार्थ-विद्या  
६ इन्द्रेश्वर-स्तुत्यादि-  
पदार्थ-विद्या  
५ ७ इन्द्र-स्तुत्यादि-पदार्थ-विद्या  
८ अद्वितीयेश्वर-स्तुति-  
प्रार्थनादि-विद्या  
९ इन्द्र-स्तुत्यादि-पदार्थ-विद्या  
१० इन्द्र-स्तुत्यादि-पदार्थ-विद्या  
१० ११ इन्द्र-स्तुत्यादि-पदार्थ-विद्या  
१२ इन्द्र-प्रार्थनादि-पदार्थ-विद्या  
१३ इन्द्र-स्तुति-प्रार्थना-युद्धादि-  
पदार्थ-विद्या  
१४ पदार्थ-विद्या  
१५ १५ इन्द्र-प्रार्थना-सोमपानादि-  
विद्या  
१६ इन्द्र-स्तुत्यादि-पदार्थ-विद्या  
१७ इन्द्र-स्तुत्यादि-पदार्थ-विद्या  
१८ इन्द्र-स्तुत्यादि-पदार्थ-विद्या  
२० १९ इन्द्र-प्रार्थनादि-पदार्थ-विद्या
- २० सूर्यादि-प्रकाशकेश्वर-विद्या  
२१ इन्द्र-स्तुत्यादि-पदार्थ-  
विद्या  
२२ इन्द्र-स्तुत्यादि-पदार्थ-विद्या  
२३ इन्द्र-स्तुत्यादि-पदार्थ-विद्या  
२४ इन्द्र-स्तुत्यादि-पदार्थ-विद्या  
२५ इन्द्र-स्तुत्यादि-पदार्थ-विद्या  
२६ इन्द्र-स्तुति-प्रार्थना-युद्धादि-  
विद्या  
२७ इन्द्र-स्तुत्यादि-पदार्थ-विद्या  
२८ इन्द्र-स्तुति-प्रार्थनादि-  
पदार्थ-विद्या  
२९ इन्द्र-प्रार्थना-युद्धादि-विद्या  
३० धारण-सोमादि-विद्या  
३१ इन्द्र-स्तुत्यादि-पदार्थ-विद्या  
३२ इन्द्रेश्वर-प्रार्थनादि-पदार्थ-  
विद्या  
३३ व्यापक-पदार्थ-विद्या  
३४ नाना-पदार्थ-विद्या  
३५ युद्धादि-विद्या

ऋग्वेदे चतुर्थाष्टके सप्तमोऽध्यायः ॥७॥

अष्टकम् ४, अध्यायः ८

वर्गः	विषयः	वर्गः	विषयः
	१ पदार्थ-विद्या		४ उत्पत्त्यादि-पदार्थ-विद्या
२५	२ अग्नि-यज्ञादि-पदार्थ-विद्या		५ अग्निरेकना [मा] १; स्तुत्यादि- पदार्थ-विद्या
	३ पदार्थ-विद्या		

१. वैयमुद्रिते 'इन्द्रस्तुत्यादीश्वरयुद्धादिविद्या' इत्यपपाठः । उपरि निर्दिष्टः  
पाठो हस्तलेखानुसारी द्रष्टव्यः ।

२. हस्तलेखे 'मा' शब्दो प्रमादान्नष्टः, वैयमुद्रिते विधा कोष्ठकेन प्रवर्धितः ।



६ स्तुत्यादि-पदार्थ-विद्या	२२ इन्द्र-पूष-प्रार्थनादि- पदार्थ-विद्या	
७ जगदुत्पत्ति-धारणादि- पदार्थ-विद्या	२३ इन्द्र-पूष-प्रार्थनादि- पदार्थ-विद्या	
८ रसायनादि-पदार्थ-विद्या	२४ पूष-स्तुत्यादि-पदार्थ- विद्या	५
९ पदार्थ-विद्या	२५ इन्द्राग्नी; पितृ-सन्तान- प्रार्थनादि-पदार्थ-विद्या	
१० प्रार्थनादि-पदार्थ-विद्या	२६ इन्द्राग्नी; स्तुति-प्रार्थनादि- पदार्थ-विद्या	१०
११ प्रार्थनादि-पदार्थ-विद्या	२७ इन्द्राग्नी; स्तुत्यादि-पदार्थ- विद्या	
१२ स्तुत्यादि-पदार्थ-विद्या	२८ इन्द्राग्नी; स्तुति-सोमपानादि- पदार्थ-विद्या	
१३ प्रार्थनादि-पदार्थ-विद्या	२९ इन्द्राग्नी; स्तुति-सख्य- यज्ञादि-पदार्थ-विद्या	१५
१४ प्रार्थनादि-पदार्थ-विद्या	३० सरस्वती-स्तुति-प्रार्थनादि- पदार्थ-विद्या	
१५ इन्द्र-प्रार्थनादि-पदार्थ- विद्या	३१ सरस्वती-स्तुत्यादि-पदार्थ- विद्या	२०
१६ इन्द्र-विश्वेदेवाः; प्रार्थनादि- विद्या	३२ सरस्वती-स्तुति-पदार्थ- विद्या	
१७ प्रार्थनादि-पदार्थ-विद्या		
१८ पूष-प्रार्थनादि-पदार्थ- विद्या		
१९ पूष-प्रार्थनादि-पदार्थ- विद्या		
२० पूष-प्रार्थनादि-पदार्थ-विद्या		
२१ पूष-प्रार्थनादि-पदार्थ- विद्या		

ऋग्वेदे चतुर्थष्टके अष्टमोऽध्यायः ॥८॥



## अथ पञ्चमाष्टकः

## अष्टकम् ५, अध्यायः १

वर्गः	विषयः	वर्गः	विषयः
१	अश्वि-प्रार्थनादि-	१२	इन्द्रावरुण-प्रार्थनादि-
५	पदार्थ-विद्या		पदार्थ-विद्या
२	अश्विन्यादि-स्तुति-पदार्थ-	१३	इन्द्रविष्णु-प्रार्थनादि-
	विद्या		पदार्थ-विद्या
३	अश्वि-स्तुति-यज्ञादि-	१४	द्यावापृथिवी-स्तुति-प्रार्थनादि-
	पदार्थ-विद्या		पदार्थ-विद्या
१०	४ अश्वि-प्रार्थनादि-पदार्थ-	१५	सवितृ-प्रार्थनादि-पदार्थ-
	विद्या		विद्या
५	५ उषा-स्तुत्यादि-पदार्थ-	१६	इन्द्र-सोमादि-पदार्थ-
	विद्या		विद्या
६	उषा-प्रार्थनादि-	१७	बृहस्पति-प्रार्थना-युद्धादि-
१५	पदार्थ-विद्या		पदार्थ-विद्या
७	मरुतादि-पदार्थ-विद्या	१८	सोम-रुद्र-प्रार्थनादि-
८	मरुतादि-पदार्थ-विद्या		पदार्थ-विद्या
९	मित्रावरुणादि-पदार्थ-विद्या	१९	सोम-रुद्र-प्रार्थनादि-
१०	मित्रावरुणादि-पदार्थ-		पदार्थ-विद्या
२०	विद्या	२०	पूष-प्रार्थनादि-युद्धादि-
११	इन्द्रावरुणादि-पदार्थ-		पदार्थ-विद्या
	विद्या	२१	प्रार्थनादि-पदार्थ-विद्या

१. गैयमुद्रिते 'अश्विनी-प्रार्थनादि०' इत्यपपाठः ।

२. गैयमुद्रिते 'अश्विन्यादि-स्तुति०' इत्यपपाठः ।

२५ ३. गैयमुद्रिते 'अश्विनी स्तुति०' इत्यपपाठः ।

४. गैयमुद्रिते 'अश्विनी-प्रार्थनादि०' इत्यपपाठः ।

५. 'उषा' इत्याकारान्त उषसः पर्यायः । द्र०—ग्रन्थकारीयोगादिकोष-

व्याख्या ४।२३५, पृष्ठ १६६ रालाकट्स० ।

६. गैयमुद्रिते 'इन्द्रविष्णू' इत्यपपाठः ।



२२ युद्धेश्वर-प्रार्थनाद्यनेक-  
पदार्थ-विद्या

२३ अग्न्यादि-पदार्थ-  
विद्या

२४ अग्न्यादि-पदार्थ-  
विद्या

२५ अग्नि-प्रार्थना-युद्धादि-  
पदार्थ-विद्या

२६ अग्नि-प्रार्थनादि-  
पदार्थ-विद्या

२७ अग्नि-प्रार्थनादि-  
पदार्थ-विद्या

५

ऋग्वेदे पञ्चमाष्टके प्रथमोऽध्यायः ॥१॥

अष्टकम् ५, अध्यायः २

वर्गः विषयः

१ अग्नि-स्तुति-पदार्थादि-  
पदार्थ-विद्या

२ अग्नि-स्तुत्यादि-पदार्थ-विद्या

३ अग्नि-स्तुत्यादि-पदार्थ-  
विद्या

४ अग्नि-प्रार्थनादि-पदार्थ-  
विद्या

५ अग्नीश्वर-स्तुति-प्रार्थनादि-  
पदार्थ-विद्या

६ अग्नि-प्रार्थनादि-पदार्थ-  
विद्या

७ वैश्वानर-स्तुत्यादि-पदार्थ-  
विद्या

८ वैश्वानर-स्तुति-प्रार्थनादि-  
पदार्थ-विद्या

९ वैश्वानर-स्तुत्यादि-पदार्थ-  
विद्या

१० अग्नि-स्तुति-प्रार्थनादि-  
पदार्थ-विद्या

वर्गः विषयः

११ अग्नि-स्तुति-प्रार्थनादि-  
पदार्थ-विद्या

१२ अग्निरेकनामा; स्तुति-  
प्रार्थनादि-पदार्थ-विद्या

१३ अग्निरेकनामा; स्तुत्यादि-  
पदार्थ-विद्या

१४ अग्नि-स्तुत्यादि-पदार्थ-  
विद्या

१५ अग्निरेकनामा; प्रार्थनादि-  
पदार्थ-विद्या

१६ अग्नि-प्रार्थनादि-पदार्थ-  
विद्या

१७ अग्नि-स्तुति-प्रार्थनादि-  
पदार्थ-विद्या

१८ अग्नीश्वर-स्तुति-प्रार्थनादि-  
पदार्थ-विद्या

१९ अग्नीश्वर-स्तुति-प्रार्थनादि-  
पदार्थ-विद्या

१०

१५

२०

२५



- २० अग्नीश्वर-प्रार्थनादि-  
पदार्थ-विद्या  
२१ अग्नीश्वर-प्रार्थनादि-  
पदार्थ-विद्या  
५ २२ अग्नि-स्तुति-प्रार्थनादि-  
पदार्थ-विद्या  
२३ अग्नि-स्तुति-प्रार्थना-  
रसायनादि-पदार्थ-विद्या  
२४ अग्नि-प्रार्थनादि-पदार्थ-  
१० विद्या

- २५ इन्द्र-स्तुत्यादि-पदार्थ-  
विद्या  
२६ गणितादि-पदार्थ-विद्या  
२७ इन्द्र-प्रार्थनादि-पदार्थ-  
विद्या  
२८ इन्द्र-स्तुत्यादि-पदार्थ-  
विद्या  
२९ गणितादि-पदार्थ-विद्या  
३० इन्द्र-स्तुति-प्रार्थनादि-  
पदार्थ-विद्या

ऋग्वेदे पञ्चमाष्टके द्वितीयोऽध्यायः ॥२॥

अष्टकम् ५, अध्यायः ३

- वर्गः विषयः  
१ इन्द्र-प्रार्थनादि-पदार्थ-  
१५ विद्या  
२ इन्द्र-प्रार्थनादि-पदार्थ-विद्या  
३ इन्द्र-स्तुति-प्रार्थनादि-पदार्थ-  
विद्या  
४ इन्द्र-स्तुति-प्रार्थनादि-पदार्थ-  
२० विद्या  
५ इन्द्र-स्तुत्यादि-पदार्थ-  
विद्या  
६ इन्द्र-प्रार्थनादि-पदार्थ-  
विद्या  
२५ ७ इन्द्र-स्तुति-प्रार्थनादि-  
विद्या  
८ इन्द्र-स्तुति-प्रार्थनादि-  
पदार्थ-विद्या  
९ इन्द्र-स्तुति-प्रार्थनादि-  
३० पदार्थ-विद्या

- वर्गः विषयः  
१० इन्द्र-स्तुति-प्रार्थनादि-  
पदार्थ-विद्या  
११ इन्द्र-स्तुति-प्रार्थनादि-  
पदार्थ-विद्या  
१२ इन्द्र-स्तुत्यादि-पदार्थ-  
विद्या  
१३ इन्द्र-स्तुति-प्रार्थनादि-  
पदार्थ-विद्या  
१४ इन्द्र-स्तुति-प्रार्थनादि-  
पदार्थ-विद्या  
१५ इन्द्र-स्तुत्यादि-पदार्थ-  
विद्या  
१६ इन्द्र-स्तुत्यादि-पदार्थ-  
विद्या  
१७ इन्द्रादि-पदार्थ-विद्या  
१८ इन्द्रादि-पदार्थ-विद्या  
१९ इन्द्र-प्रार्थनादि-पदार्थ-विद्या



२० इन्द्र-स्तुत्यादि-पदार्थ-  
विद्या

२१ इन्द्र-स्तुत्यादि-पदार्थ-  
विद्या

२२ पदार्थ-विद्या

२३ उपमानाऽऽर्यादि-पदार्थ-  
विद्या

२४ विश्वेदेवादिपदार्थ-विद्या

२५ पदार्थ-विद्या

२६ धारणादि-पदार्थ-विद्या

२७ प्रार्थनादि-पदार्थ-विद्या

२८ प्रार्थनादि-पदार्थ-विद्या

२९ शमित्यादि-प्रार्थनादि-  
पदार्थ-विद्या ५

३० प्रार्थनादि-विद्या

ऋग्वेदे पञ्चमाष्टके तृतीयोऽध्यायः ॥३॥

अष्टकम् ५, अध्यायः ४

१०

वर्गः विषयः

वर्गः विषयः

१ स्तुत्यादि-पदार्थ-विद्या

२ प्रार्थनादि-पदार्थ-विद्या

३ इन्द्र-स्तुति-प्रार्थनादि-  
पदार्थ-विद्या

४ इन्द्र-प्रार्थनादि-पदार्थ-विद्या

५ स्तुति-प्रार्थनादि-पदार्थ-विद्या

६ स्तुति-प्रार्थनादि-पदार्थ-विद्या

७ स्तुति-प्रार्थनादि-पदार्थ-विद्या

८ स्तुति-प्रार्थनादि-पदार्थ-विद्या

९ स्तुत्यादि-पदार्थ-विद्या

१० स्तुति-प्रार्थनादि-पदार्थ-विद्या

११ स्तुत्यादि-पदार्थ-विद्या

१२ स्तुत्यादि-पदार्थ-विद्या

१३ स्तुति-प्रार्थनादि-पदार्थ-विद्या

१४ स्तुति-प्रार्थनादि-पदार्थ-विद्या

१५ स्तुति-प्रार्थनादि-पदार्थ-विद्या

१६ ईश्वर-स्तुति-प्रार्थनादि-  
पदार्थ-विद्या

१७ प्रार्थनादि-पदार्थ-विद्या

१८ स्तुति-प्रार्थनादि-पदार्थ-विद्या

१९ स्तुति-प्रार्थनादि-पदार्थ-विद्या :

२० स्तुति-प्रार्थनादि-पदार्थ-विद्या १५

२१ वास्तोष्पति-स्तुति-प्रार्थनादि-  
पदार्थ-विद्या

२२ स्तुति-प्रार्थनादि-पदार्थ-  
विद्या

२३ पदार्थ-विद्या २०

२४ पदार्थ-विद्या

२५ प्रार्थनादि-पदार्थ-विद्या

२६ स्तुति-प्रार्थनादि-पदार्थ-विद्या

२७ स्तुति-प्रार्थनादि-पदार्थ-  
विद्या २५

२८ स्तुति-प्रार्थनादि-पदार्थ-  
विद्या

२९ प्रार्थनादि-पदार्थ-विद्या

३० स्तुति-प्रार्थनादि-पदार्थ-विद्या

ऋग्वेदे पञ्चमाष्टके चतुर्थोऽध्यायः ॥४॥

३०



## अष्टकम् ५, अध्यायः ५

वर्गः	विषयः	वर्गः	विषयः
	१ ऋतादि-पदार्थ-विद्या	१६ प्रार्थनादि-पदार्थ-विद्या	
	२ प्रार्थनादि-पदार्थ-विद्या	१७ प्रार्थनादि-पदार्थ-विद्या	
५	३ स्तुति-प्रार्थनादि-पदार्थ-विद्या	१८ प्रार्थनादि-पदार्थ-विद्या	
	४ स्तुति-प्रार्थनादि-पदार्थ-विद्या	१९ प्रार्थनादि-पदार्थ-विद्या	
	५ सूर्य-स्तुति-प्रार्थनादि- पदार्थ-विद्या	२० प्रार्थनादि-पदार्थ-विद्या	
	६ स्तुति-प्रार्थनादि-पदार्थ- विद्या	२१ स्तुत्यादि-पदार्थ-विद्या	
१०	७ स्तुति-प्रार्थनादि-पदार्थ- विद्या	२२ उषा-स्तुति-प्रार्थनादि- पदार्थ-विद्या	
	८ धारणादि-पदार्थ-विद्या	२३ उषा-प्रार्थनादि-पदार्थ- विद्या	
	९ स्तुत्यादि-पदार्थ-विद्या	२४ उषा-प्रार्थनादि-पदार्थ- विद्या	
१५	१० पदार्थ-विद्या	२५ उषा-प्रार्थनादि-पदार्थ- विद्या	
	११ पदार्थ-विद्या	२६ उषा-प्रार्थनादि-पदार्थ- विद्या	
	१२ नासत्यादि-पदार्थ-विद्या	२७ उषा-प्रार्थनादि-पदार्थ- विद्या	
	१३ प्रार्थनादि-पदार्थ-विद्या		
	१४ प्रार्थनादि-पदार्थ-विद्या		
२०	१५ प्रार्थनादि-पदार्थ-विद्या		

ऋग्वेदे पञ्चमाष्टके पञ्चमोऽध्यायः ॥५॥

## अष्टकम् ५, अध्यायः ६

वर्गः	विषयः	वर्गः	विषयः
२५	१ उषादि-पदार्थ-विद्या	२ इन्द्रावरुण-युद्धाद्यर्थ-स्तुति- प्रार्थनादि-पदार्थ-विद्या	

१. अत्र ६१२ पृष्ठस्था पञ्चमी टिप्पणी द्रष्टव्या ।

२. गैयमुत्रिते 'पदार्थ' पदं प्रमादान्नाष्टम्, हस्तलेखे विद्यते ।



३ इन्द्रावरुण-प्रार्थनादि-पदार्थ- विद्या	१४ इन्द्रवायू, प्रार्थनादि-पदार्थ- विद्या
४ इन्द्रावरुण-स्तुत्यादि-पदार्थ- विद्या	१५ इन्द्राग्नी, स्तुत्यादि-पदार्थ- विद्या
५ इन्द्र[१]वरुण-मित्र-प्रर्यमा- स्तुति-प्रार्थनादि-पदार्थ- विद्या	१६ इन्द्राग्नी, प्रार्थनादि-पदार्थ- ५ विद्या
६ इन्द्रावरुण-प्रार्थनादि-पदार्थ- विद्या	१७ इन्द्राग्नी, स्तुत्यादि-पदार्थ- विद्या
७ इन्द्रावरुण-प्रार्थनादि-पदार्थ- विद्या	१८ इन्द्राग्नी, प्रार्थनादि-पदार्थ- विद्या १०
८ वरुण-प्रार्थनादि-पदार्थ- विद्या	१९ सरस्वती-प्रार्थनादि-पदार्थ- विद्या
९ वरुण-स्तुति-प्रार्थनादि- पदार्थ-विद्या	२० सरस्वत्यादि-प्रार्थनादि- पदार्थ-विद्या
१० वरुण-प्रार्थनादि-पदार्थ- विद्या	२१ यज्ञादि-पदार्थ-विद्या १५
११ वरुण-स्तुति-प्रार्थना क्षेत्रपालनार्थम्	२२ बृहस्पत्यादि-प्रार्थना-पदार्थ- विद्या
१२ इन्द्रवायू, प्रार्थनादि-पदार्थ- विद्या	२३ इन्द्र-बृहस्पत्यादि-पदार्थ- विद्या
१३ इन्द्रवायू, प्रार्थनादि-पदार्थ- विद्या	२४ इन्द्र-विष्णु-स्तुति-प्रार्थनादि- २० पदार्थ-विद्या
	२५ विष्णु-स्तुत्यादि-पदार्थ- विद्या

ऋग्वेदे पञ्चमाष्टके षष्ठोऽध्यायः ॥६॥

अष्टकम् ५, अध्यायः ७

२५

वर्गः विषयः

१ आत्मेश्वर-प्रार्थनादि-पदार्थ-  
विद्या

२ पर्जन्यादि-पदार्थ-विद्या

वर्गः विषयः

३ पदार्थ-विद्या

४ पदार्थ-विद्या



- ५ 'इन्द्रासोमादि-स्तुति-पदार्थ'-  
विद्या  
६ 'इन्द्रासोमादि-पदार्थ'-विद्या  
७ 'इन्द्र[१]सोमादि-पदार्थ'-  
५ विद्या  
८ इन्द्रादि-पदार्थ'-विद्या  
९ 'इन्द्रः पराशर इत्यादि-  
स्तुति-प्रार्थनादि-पदार्थ'-  
विद्या  
१० १० पदार्थ'-विद्या  
११ इन्द्र-स्तुत्यादि-पदार्थ'-विद्या  
१२ इन्द्र-स्तुत्यादि-पदार्थ'-विद्या  
१३ पदार्थ'-विद्या  
१४ पदार्थ'-विद्या  
१५ १५ इन्द्रादि-पदार्थ'-विद्या  
१६ पदार्थ'-विद्या  
१७ इन्द्र-स्तुत्यादि-पदार्थ'-  
विद्या
- १८ इन्द्र-सोमौषधादि-विद्या  
१९ इन्द्र-स्तुत्यादि-पदार्थ'-  
विद्या  
२० पदार्थ'-विद्या  
२१ सोमाद्यौषध-गुण-विद्या  
२२ सोमादि-पदार्थ'-विद्या  
२३ पदार्थ'-विद्या  
२४ मेधातिथ्यादि-पदार्थ'-  
विद्या  
२५ इन्द्र-स्तुत्यादि-पदार्थ'-विद्या  
२६ इन्द्र-स्तुत्यादि-पदार्थ'-विद्या  
२७ इन्द्र-स्तुत्यादि-पदार्थ'-विद्या  
२८ इन्द्रादि-पदार्थ'-विद्या  
२९ पदार्थ'-विद्या  
३० इन्द्र-स्तुत्यादि-पदार्थ'-विद्या  
३१ इन्द्र-स्तुत्यादि-पदार्थ'-विद्या  
३२ इन्द्र-स्तुत्यादि-पदार्थ'-विद्या  
३३ पदार्थ'-विद्या

ऋग्वेदे पञ्चमाष्टके सप्तमोऽध्यायः ॥७॥

२०

अष्टकम् ५, अध्यायः ८

वर्गः विषयः

- १ पदार्थ'-विद्या  
२ पदार्थ'-विद्या  
३ पदार्थ'-विद्या  
२५ ४ शिल्पादि-पदार्थ'-विद्या

वर्गः विषयः

- ५ शिल्पादि-पदार्थ'-विद्या  
६ पदार्थ'-विद्या  
७ पदार्थ'-विद्या  
८ पदार्थ'-विद्या

१. नैयमुद्रिते 'इन्द्र सोमादि' इत्यपपाठः । हस्तलेखे 'इन्द्रासोमादि'  
इत्येवोपलभ्यते ।

२. नैयमुद्रिते हस्तलेखे च 'इन्द्र सोमादि' इत्यपपाठः ।

३. हस्तलेखे 'इन्द्रः पराशरेत्यादि' इति पाठः, नैयमुद्रिते 'इन्द्रपराशरेत्यादि'

३० पाठः ।



६ वृष्ट्यादि-पदार्थ-विद्या	२४ प्रश्नोत्तरादि-शिल्प-पदार्थ-विद्या	
१० पदार्थ-विद्या	२५ पदार्थ-विद्या	
११ पदार्थ-विद्या	२६ पदार्थ-विद्या	
१२ पदार्थ-विद्या	२७ शिल्पादि-पदार्थ-विद्या	५
१३ इन्द्रादि-पदार्थ-विद्या	२८ प्रार्थनादि-पदार्थ-विद्या	
१४ इन्द्रादि-पदार्थ-विद्या	२९ पदार्थ-विद्या	
१५ इन्द्रादि-पदार्थ-विद्या	३० 'अश्व्यादि-पदार्थ-विद्या	
१६ इन्द्र-स्तुत्यादि-पदादि-पदार्थ-विद्या	३१ 'अश्व्यादि-पदार्थ-विद्या	
१७ शिल्पादि-पदार्थ-विद्या	३२ पदार्थ-विद्या	१०
१८ पदार्थ-विद्या	३३ उत्पत्त्यादि-पदार्थ-विद्या	
१९ प्रश्नोत्तरादि-पदार्थ-विद्या	३४ 'विमानादि-शिल्प-विद्या	
२० पदार्थ-विद्या	३५ अग्नि-स्तुत्यादि-पदार्थ-विद्या	२५
२१ पदार्थ-विद्या	३६ अग्नि-स्तुति-प्रार्थनादि-पदार्थ-विद्या	
२२ पदार्थ-विद्या		
२३ रथादि-शिल्प-विद्या		

ऋग्वेदे पञ्चमाष्टके अष्टमोऽध्यायः ॥८॥

## अथ षष्ठाष्टकः

अष्टकम् ६, अध्यायः १

२०

वर्गः विषयः

- १ इन्द्र-स्तुत्यादि-पदार्थ-विद्या  
२ पदार्थ-विद्या

वर्गः विषयः

- ३ सोमपानादि-पदार्थ-विद्या  
४ सोमपानादि-पदार्थ-विद्या

१. वैयाकरणे 'अश्विन्यादि०' इत्यपपाठः ।

२. हस्तलेखे 'मिमादि०' इत्यपपाठः ।

३०



- ५ इन्द्रस्तुत्यादि-पदार्थ-विद्या  
 ६ सूर्येण सह सर्वलोक-धारणा-  
 कर्षण-विद्या  
 ७ इन्द्र-स्तुति-प्रार्थनादि-पदार्थ-  
 विद्या  
 ८ इन्द्र-स्तुत्यादि-पदार्थ-विद्या  
 ९ इन्द्र-प्रार्थनादि-पदार्थ-विद्या  
 १० इन्द्र-प्रार्थनादि-पदार्थ-विद्या  
 ११ इन्द्र-प्रार्थनादि-पदार्थ-विद्या  
 १० १२ इन्द्र-प्रार्थनादि-पदार्थ-विद्या  
 १३ इन्द्र-स्तुति-वृषादि-पदार्थ-  
 विद्या  
 १४ इन्द्र-स्तुति-प्रार्थनादि-पदार्थ-  
 विद्या  
 १५ १५ इन्द्र-स्तुत्यादि-पदार्थ-विद्या  
 १६ इन्द्र-स्तुत्यादि-पदार्थ-विद्या  
 १७ इन्द्रेश्वर-स्तुति-धारणादि-  
 पदार्थ-विद्या  
 १८ इन्द्रेश्वर-स्तुत्यादि-पदार्थ-  
 विद्या  
 २० १९ इन्द्र-स्तुत्यादि-पदार्थ-  
 विद्या  
 २० इन्द्रादि-पदार्थ-विद्या  
 २१ इन्द्रेश्वर-स्तुति-प्रार्थनादि-  
 पदार्थ-विद्या  
 २५ २२ इन्द्र-स्तुत्यादि-पदार्थ-विद्या  
 २३ इन्द्र-स्तुति-प्रार्थनादि-पदार्थ-  
 विद्या  
 २४ इन्द्रेश्वर-स्तुत्यादि-पदार्थ-  
 विद्या  
 ३०

- २५ आदित्यादि-प्रार्थना-  
 पदार्थ-विद्या  
 २६ आदित्यादि-स्तुति-प्रार्थना-  
 पदार्थ-विद्या  
 २७ आदित्यादि-प्रार्थना-पदार्थ-  
 विद्या  
 २८ आदित्यादि-स्तुति-प्रार्थना-  
 पदार्थ-विद्या  
 २९ वेदप्रमाण-अग्नि-प्रार्थनादि-  
 पदार्थ-विद्या  
 ३० अग्नि-स्तुत्यादि-पदार्थ-  
 विद्या  
 ३१ अग्नि-स्तुति-प्रार्थनादि-  
 पदार्थ-विद्या  
 ३२ अग्नि-स्तुति-प्रार्थनादि-  
 पदार्थ-विद्या  
 ३३ अग्नि-स्तुत्यादि-पदार्थ-  
 विद्या  
 ३४ अग्नि-स्तुत्यादि-पदार्थ-  
 विद्या  
 ३५ अग्नि-स्तुति-प्रार्थनादि-  
 पदार्थ-विद्या  
 ३६ मरुदादि-पदार्थ-विद्या  
 ३७ मरुदादि-पदार्थ-विद्या  
 ३८ मरुदादि-पदार्थ-विद्या  
 ३९ मरुत्प्रार्थनादि-पदार्थ-  
 विद्या  
 ४० मरुत्प्रार्थनादि-पदार्थ-  
 विद्या

ऋग्वेदे षष्ठाष्टके प्रथमोऽध्यायः ॥ १॥



## अष्टकम् ६, अध्यायः २

वर्गः	विषयः	वर्गः	विषयः
१	इन्द्र-प्रार्थनादि-पदार्थ-विद्या	१८	इन्द्रादि-पदार्थ-विद्या
२	इन्द्र-स्तुत्यादि-पदार्थ-विद्या	१९	पदार्थ-विद्या
३	'इन्द्र-स्तुति--प्रार्थनादि-पदार्थ-विद्या	२०	पदार्थ-विद्या ५
४	इन्द्रादि-पदार्थ-विद्या	२१	मित्रावरुणादि-पदार्थ-विद्या
५	पदार्थ-विद्या	२२	पदार्थ-विद्या
६	पदार्थ-विद्या	२३	पदार्थ-विद्या
७	पदार्थ-विद्या	२४	पदार्थ-विद्या १०
८	पदार्थ-विद्या	२५	पदार्थ-विद्या
९	पदार्थ-विद्या	२६	पदार्थ-विद्या
१०	पदार्थ-विद्या	२७	पदार्थ-विद्या
११	पदार्थ-विद्या	२८	पदार्थ-विद्या
१२	अग्निरनेकनामादि-पदार्थ-विद्या	२९	पदार्थ-विद्या १५
१३	अग्निरनेकनामादि-पदार्थ-विद्या	३०	वाय्यादि-पदार्थ-विद्या
१४	अग्नि-स्तुति-प्रार्थनादि-पदार्थ-विद्या	३१	पदार्थ-विद्या
१५	इन्द्र-स्तुत्यादि-पदार्थ-विद्या	३२	प्रार्थनादि-पदार्थ-विद्या
१६	इन्द्र-स्तुत्यादि-पदार्थ-विद्या	३३	पदार्थ-विद्या
१७	इन्द्र-स्तुत्यादि-पदार्थ-विद्या	३४	पदार्थ-विद्या २०
		३५	त्रयस्त्रिंशद्देवादि-विधायक [ -मन्त्राः ]
		३६	विष्ण्वादि-पदार्थ-विद्या
		३७	प्रार्थनादि-पदार्थ-विद्या
		३८	पदार्थ-विद्या २५
		३९	पदार्थ-विद्या
		४०	पदार्थ-विद्या

ऋग्वेदे षष्ठाष्टके द्वितीयोऽध्यायः ॥२॥

१. वैयामुद्रिते 'इन्द्र स्तुत्यादि प्रार्थना०' इत्यपपाठः ।



## अष्टकम् ६, अध्यायः ३

वर्गः	विषयः	वर्गः	विषयः
	१ पदार्थ-विद्या	२५ प्रार्थनादि-पदार्थ-विद्या	
	२ इन्द्र-प्रार्थनादि-पदार्थ-विद्या	२६ ईश्वर-स्तुति-पदार्थ-विद्या	
५	विद्या	२७ पदार्थ-विद्या	
	३ पदार्थ-विद्या	२८ वरुण-स्तुति-प्रार्थनादि-पदार्थ-विद्या	
	४ इन्द्रादि-पदार्थ-विद्या	२९ अग्नि-स्तुत्यादि-पदार्थ-विद्या	
	५ पदार्थ-विद्या	३० अग्नि-स्तुत्यादि-पदार्थ-विद्या	
	६ पदार्थ-विद्या	३१ अग्नि-स्तुति-प्रार्थनादि-पदार्थ-विद्या	
१०	७ इन्द्रादि-पदार्थ-विद्या	३२ अग्नि-स्तुत्यादि-पदार्थ-विद्या	
	८ इन्द्रादि-पदार्थ-विद्या	३३ अग्नि-स्तुत्यादि-पदार्थ-विद्या	
	९ इन्द्र-स्तुत्यादि-पदार्थ-विद्या	३४ अग्नि-स्तुत्यादि-पदार्थ-विद्या	
	१० पदार्थ-विद्या	३५ अग्न्यादि-पदार्थ-विद्या	
	११ पदार्थ-विद्या	३६ अग्नि-स्तुति-प्रार्थना-यज्ञादि-विद्या	
१५	१२ पदार्थ-विद्या	३७ अग्निरनेकनामा, स्तुत्यादि-पदार्थ-विद्या	
	१३ पदार्थ-विद्या	३८ अग्नि-स्तुत्यादि-पदार्थ-विद्या	
	१४ पदार्थ-विद्या	३९ अग्नि-स्तुति-प्रार्थनादि-पदार्थ-विद्या	
	१५ पदार्थ-विद्या	४० अग्नीश्वर-स्तुति-प्रार्थनादि-पदार्थ-विद्या	
	१६ सोमादि-पदार्थ-विद्या		
२०	१७ पदार्थ-विद्या		
	१८ इन्द्रेश्वर-स्तुति-प्रार्थनादि-पदार्थ-विद्या		
	१९ इन्द्र-स्तुत्यादि-पदार्थ-विद्या		
२५	२० पदार्थ-विद्या		
	२१ पदार्थ-विद्या		
	२२ पदार्थ-विद्या		
	२३ अग्नि-स्तुत्यादि-पदार्थ-विद्या		
३०	२४ पदार्थ-विद्या		



४१ अग्नीश्वर-अनेकनामादि- पदार्थ-विद्या	४५ पदार्थ-विद्या	
४२ पदार्थ-विद्या	४६ पदार्थ-विद्या	
४३ इन्द्रादि-पदार्थ-विद्या	४७ पदार्थ-विद्या	
४४ स्तुत्यादि-पदार्थ-विद्या	४८ पदार्थ-विद्या	
	४९ प्रार्थनादि-पदार्थ-विद्या	५

ऋग्वेदे षष्ठाष्टके तृतीयोऽध्यायः ॥३॥

अष्टकम् ६, अध्यायः ४

वर्गः	विषयः	वर्गः	विषयः	
१	इन्द्रादि-पदार्थ-विद्या	१९	पदार्थ-विद्या	
२	इन्द्र-स्तुत्यादि-पदार्थ- विद्या	२०	इन्द्र-स्तुति-प्रार्थनादि- पदार्थ-विद्या	१०
३	इन्द्रादि-पदार्थ-विद्या	२१	स्तुत्यादि-पदार्थ-विद्या	
४	इन्द्र-स्तुति-प्रार्थनादि-पदार्थ- विद्या	२२	पदार्थ-विद्या	
५	पदार्थ-विद्या	२३	पदार्थ-विद्या	
६	पदार्थ-विद्या	२४	पदार्थ-विद्या	१५
७	पदार्थ-विद्या	२५	इन्द्रादि-पदार्थ-स्तुति- विद्या	
८	प्रार्थनादि-पदार्थ-विद्या	२६	पदार्थ-विद्या	
९	पदार्थ-विद्या	२७	पदार्थ-विद्या	
१०	पदार्थ-विद्या	२८	पदार्थ-विद्या	२०
११	पदार्थ-विद्या	२९	पदार्थ-विद्या	
१२	पदार्थ-विद्या	३०	यज्ञादि-पदार्थ-विद्या	
१३	सोम-स्तुति-प्रार्थनादि-पदार्थ- विद्या	३१	पदार्थ-विद्या	
१४	इन्द्रादि-पदार्थ-विद्या	३२	पदार्थ-विद्या	
१५	इन्द्रादि-पदार्थ-विद्या	३३	अग्नि-प्रार्थनादि-पदार्थ- विद्या	२५
१६	पदार्थ-विद्या	३४	अग्नि-प्रार्थनादि-पदार्थ- विद्या	
१७	पदार्थ-विद्या	३५	पदार्थ-विद्या	
१८	प्रार्थनादि-पदार्थ-विद्या			



३६ अग्न्यादि-पदार्थ-विद्या	४५ इन्द्र-स्तुत्यादि-पदार्थ-विद्या
३७ पदार्थ-विद्या	४६ इन्द्रादि-पदार्थ-विद्या
३८ इन्द्रादि-पदार्थ-विद्या	४७ इन्द्रादि-पदार्थ-विद्या
३९ इन्द्र-प्रार्थनादि-पदार्थ-विद्या	४८ इन्द्रादि-पदार्थ-विद्या
५ ४० पदार्थ-विद्या	४९ इन्द्रादि-पदार्थ-विद्या
४१ इन्द्र-स्तुत्यादि-पदार्थ-विद्या	५० पदार्थ-विद्या
४२ पदार्थ-विद्या	५१ पदार्थ-विद्या
४३ स्तुति-प्रार्थनादि-पदार्थ-विद्या	५२ आदित्यादि-पदार्थ-विद्या
४४ इन्द्र-स्तुति-प्रार्थनादि-पदार्थ-विद्या	५३ आदित्यादि-पदार्थ-विद्या
१० ५४ पदार्थ-विद्या	५४ पदार्थ-विद्या

ऋग्वेदे षष्ठाष्टके चतुर्थोऽध्यायः ॥४॥

अष्टकम् ६, अध्यायः ५

वर्गः	विषयः	वर्गः	विषयः
१ इन्द्रादि-पदार्थ-विद्या		१६ पदार्थ-विद्या	
१५ २ इन्द्रादि-पदार्थ-विद्या		१७ पदार्थ-विद्या	
३ सख्यादि-पदार्थ-विद्या		१८ शिल्पादि-पदार्थ-विद्या	
४ पदार्थ-विद्या		१९ शिल्पादि-पदार्थ-विद्या	
५ वीरादि-विद्या		२० शिल्पादि-पदार्थ-विद्या	
६ इन्द्रादि-पदार्थ-विद्या		२१ अग्न्यादि-पदार्थ-विद्या	
२० ७ इन्द्रादि-पदार्थ-विद्या		२२ अग्नि-स्तुत्यादि-पदार्थ-विद्या	
८ राजसेनेन्द्रादि-पदार्थ-विद्या		२३ अग्नि-स्तुत्यादि-पदार्थ-विद्या	
९ इन्द्रादि-पदार्थ-विद्या		२४ अग्नि-स्तुत्यादि-पदार्थ-विद्या	
१० पदार्थ-विद्या		२५ अग्नि-स्तुत्यादि-पदार्थ-विद्या	
११ अग्नि-प्रार्थनादि-पदार्थ-विद्या		२६ अग्नि-स्तुत्यादि-पदार्थ-विद्या	
१५ १२ अग्नि-स्तुत्यादि-पदार्थ-विद्या		२७ इन्द्र-स्तुत्यादि-पदार्थ-विद्या	
१३ अग्न्यादि-पदार्थ-विद्या		२८ इन्द्रादि-पदार्थ-विद्या	
१४ यज्ञादि-पदार्थ-विद्या		२९ इन्द्रादि-पदार्थ-विद्या	
३० १५ पदार्थ-विद्या		३० इन्द्रादि-पदार्थ-विद्या	
		३१ इन्द्रेश्वरस्तुत्यादि-पदार्थ-विद्या	



३२ इन्द्र-स्तुत्यादि-पदार्थ-  
विद्या

३३ सोमादि-पदार्थ-विद्या

३४ सोम-प्रार्थनादि-पदार्थ-  
विद्या३५ इन्द्र-स्तुति-प्रार्थनादि-पदार्थ-  
विद्या

३६ इन्द्र-स्तुत्यादि-पदार्थ-विद्या

३७ इन्द्र-स्तुत्यादि-पदार्थ-विद्या

३८ 'इन्द्र-स्तुत्यादि-पदार्थ-विद्या ५

ऋग्वेदे षष्ठाष्टके पञ्चमोऽध्यायः ॥५॥

अष्टकम् ६, अध्यायः ६

वर्गः विषयः

१ इन्द्र-स्तुत्यादि-पदार्थ-विद्या

२ इन्द्र-स्तुत्यादि-पदार्थ-विद्या

३ वरुणादि-पदार्थ-विद्या

४ इन्द्रादि-पदार्थ-विद्या

५ अग्नि-स्तुत्यादि-पदार्थ-विद्या

६ अग्नि-स्तुत्यादि-पदार्थ-  
विद्या

७ अश्वादि-पदार्थ-विद्या

८ अश्वादि-पदार्थ-विद्या

९ ऋत-सवितृ-अश्वादि-पदार्थ-  
विद्या

१० अश्वादि-पदार्थ-विद्या

११ इन्द्रादि-पदार्थ-विद्या

१२ इन्द्रादि-पदार्थ-विद्या

१३ इन्द्रेश्वर-स्तुत्यादि-पदार्थ-  
विद्या१४ इन्द्रेश्वर-स्तुति-निषेकादि-  
विद्या

१५ इन्द्रादि-पदार्थ-विद्या

१६ इन्द्रादि-पदार्थ-विद्या

वर्गः विषयः

१७ इन्द्रादि-पदार्थ-विद्या

१८ इन्द्रादि-पदार्थ-विद्या १०

१९ इन्द्र-स्तुत्यादि-पदार्थ-विद्या

२० इन्द्रादि-पदार्थ-विद्या

२१ इन्द्रादि-पदार्थ-विद्या

२२ इन्द्र-स्तुति-पदार्थ-विद्या

२३ इन्द्र-स्तुत्यादि-पदार्थ-विद्या १५

२४ इन्द्रादि-पदार्थ-विद्या

२५ इन्द्र-स्तुत्यादि-पदार्थ-विद्या

२६ इन्द्रादि-पदार्थ-विद्या

२७ इन्द्रादि-पदार्थ-विद्या

२८ मरुतादि-पदार्थ-विद्या २०

२९ मरुतादि-पदार्थ-विद्या

३० इन्द्र-स्तुत्यादि-पदार्थ-विद्या

३१ धर्मोपदेशादि-विद्या

३२ इन्द्रादि-पदार्थ-विद्या

३३ पदार्थ-विद्या २५

३४ पदार्थ-विद्या

३५ इन्द्रेश्वर-स्तुत्यादि-पदार्थ-  
विद्या

१. अयं पाठो हस्तलेखे विद्यते । युक्तश्चायम्, अस्मिन्नध्यायेऽष्टात्रिंशद्  
वर्गाणां सत्त्वात् । वैयमुद्रिते प्रमादान्नष्टः ।



३६ इन्द्रादि-पदार्थ-विद्या  
३७ इन्द्र-स्तुत्यादि-पदार्थ-विद्या

३८ इन्द्रेश्वर-स्तुत्यादि-पदार्थ-विद्या

ऋग्वेदे षष्ठाष्टके षष्ठोऽध्यायः ॥६॥

अष्टकम् ६, अध्यायः ७

वर्गः विषयः

- १ इन्द्रेश्वर-स्तुत्यादि-पदार्थ-विद्या
- २ इन्द्रेश्वर-स्तुत्यादि-पदार्थ-विद्या
- १० ३ इन्द्रेश्वर-स्तुति-पदार्थ-विद्या
- ४ इन्द्रेश्वर-प्रार्थनादि पदार्थ-विद्या
- ५ इन्द्रादि-पदार्थ-विद्या
- ६ पदार्थ-विद्या
- १५ ७ पदार्थ-विद्या
- ८ पदार्थ-विद्या
- ९ अग्न्यादि-पदार्थ-विद्या
- १० अग्न्यादि-पदार्थ-विद्या
- ११ अग्न्यादि-पदार्थ-विद्या
- २० १२ अग्नि-स्तुत्यादि-पदार्थ-विद्या
- १३ अग्न्यादि-पदार्थ-विद्या
- १४ अग्न्यादि-पदार्थ-विद्या
- १५ अग्न्यादि-पदार्थ-विद्या
- १६ सोमादि-पदार्थ-विद्या
- २५ १७ सोमादि-पदार्थ-विद्या
- १८ सोम-गुणादि-विद्या
- १९ पदार्थ-विद्या
- २० पवमान-सोमादि-पदार्थ-विद्या

वर्गः विषयः

- २१ पवमान-सोमादि-पदार्थ-विद्या
- २२ पवमान-सोमादि-पदार्थ-विद्या
- २३ पवमान-सोमादि-पदार्थ-विद्या
- २४ पवमानादि-पदार्थ-विद्या
- २५ पवमानादि-पदार्थ-विद्या
- २६ सोम-पवमानादि-पदार्थ-विद्या
- २७ वाण्यादि-पदार्थ-विद्या
- २८ पदार्थ-विद्या
- २९ पदार्थ-विद्या
- ३० सोमादि-पदार्थ-विद्या
- ३१ सोमादि-पदार्थ-विद्या
- ३२ सोमादि-पदार्थ-विद्या
- ३३ पवमानादि-पदार्थ-विद्या
- ३४ सोमादि-पदार्थ-विद्या
- ३५ बुध्यादि-पदार्थ-विद्या
- ३६ पवमान-सोमादि-पदार्थ-विद्या
- ३७ सोम-पवमानादि-पदार्थ-विद्या
- ३८ सोमादि-पदार्थ-विद्या
- ३९ सोमादि-पदार्थ-विद्या



## अष्टकम् ६, अध्यायः ८

वर्गः	विषयः	वर्गः	विषयः
१	सोम-पवमानादि-पदार्थ-विद्या	१६	सोम-गुणादि-पदार्थ-विद्या
२	पवमानादि-पदार्थ-विद्या	१७	सोम-गुणादि-पदार्थ-विद्या
३	पदार्थ-विद्या	१८	सोमपानादि-पदार्थ-विद्या ५
४	सोमादि-पदार्थ-विद्या	१९	सोम-गुणादि-पदार्थ-विद्या
५	पदार्थ-विद्या	२०	सोम-गुणादि-पदार्थ-विद्या
६	पदार्थ-विद्या	२१	सोमपान-गुणादि-पदार्थ-विद्या
७	सोमादि-पदार्थ-विद्या	२२	सोम-गुणादि-पदार्थ-विद्या १०
८	पवमान-सोम-गुणादि-पदार्थ-विद्या	२३	सोम-गुणादि-पदार्थ-विद्या
९	सोम-गुणादि-पदार्थ-विद्या	२४	सोम-गुणादि-पदार्थ-विद्या
१०	सोम-गुणादि-पदार्थ-विद्या	२५	सोम-गुणादि-पदार्थ-विद्या
११	सोम-गुणादि-पदार्थ-विद्या	२६	सोम-गुणादि-पदार्थ-विद्या
१२	सोम-गुण-सन्तानादि-पदार्थ-विद्या	२७	सोम-गुणादि-पदार्थ-विद्या १५
१३	सोम-गुणादि-पदार्थ-विद्या	२८	सोम-गुणादि-पदार्थ-विद्या
१४	सोम-गुणादि-पदार्थ-विद्या	२९	सोम-गुणादि-पदार्थ-विद्या
१५	सोमपान-गुणादि-पदार्थ-विद्या	३०	सोम-गुणादि-पदार्थ-विद्या
		३१	सोम-गुणादि-पदार्थ-विद्या
		३२	सोम-गुणादि-पदार्थ-विद्या २०
		३३	सोम-गुणादि-पदार्थ-विद्या

ऋग्वेदे षष्ठाष्टके अष्टमोऽध्यायः ॥८॥



## अथ सप्तमाष्टकः

## अष्टकम् ७, अध्यायः १

वर्गः	विषयः	वर्गः	विषयः
	१ सोम-गुणादि-पदार्थ-विद्या	१९ सोमाद्यौषध-गुणादि-पदार्थ-विद्या	
५	२ सोम-गुणादि-पदार्थ-विद्या	२० सोमाद्यौषध-गुणादि-पदार्थ-विद्या	
	३ सोम-गुणादि-पदार्थ-विद्या	२१ सोमाद्यौषध-गुणादि-पदार्थ-विद्या	
	४ सोम-गुणादि-पदार्थ-विद्या	२२ सोमाद्यौषध-गुणादि-पदार्थ-विद्या	
	५ सोम-गुणादि-पदार्थ-विद्या	२३ सोमाद्यौषध-गुणादि-पदार्थ-विद्या	
	६ पवमान-सोम-गुणादि-पदार्थ-विद्या	२४ सोमाद्यौषध-गुणादि-पदार्थ-विद्या	
१०	७ सोमपान'-गुणादि-पदार्थ-विद्या	२५ सोमाद्यौषध-गुणादि-पदार्थ-विद्या	
	८ सोम-गुणादि-पदार्थ-विद्या	२६ सोमाद्यौषध-गुणादि-पदार्थ-विद्या	
	९ सोमाद्यौषधादि-विद्या	२७ सोमाद्यौषध-गुणादि-पदार्थ-विद्या	
१५	१० सोमाद्यौषध-विद्या	२८ सोमाद्यौषध-गुणादि-पदार्थ-विद्या	
	११ सोमाद्यौषध-गुणादि-पदार्थ-विद्या	२९ सोमाद्यौषध-गुणादि-पदार्थ-विद्या	
	१२ सोम-गुणादि-पदार्थ-विद्या	३० सोमाद्यौषध-गुणादि-पदार्थ-विद्या	
	१३ सोम-गुणादि-पदार्थ-विद्या	३१ सोमाद्यौषध-गुणादि-पदार्थ-विद्या	
२०	१४ सोम-गुणादि-पदार्थ-विद्या		
	१५ सोमाद्यौषध-गुणादि-पदार्थ-विद्या		
	१६ सोमाद्यौषध-गुणादि-पदार्थ-विद्या		
२५	१७ सोमाद्यौषध-गुणादि-पदार्थ-विद्या		
	१८ सोमाद्यौषध-गुणादि-पदार्थ-विद्या		

१. कदाचिदत्र 'सोम-पवमान' पाठा स्यात् ।



३२ सोमाद्यौषध-गुणादि-पदार्थ- विद्या	३७ सोमाद्यौषध-गुणादि-पदार्थ- विद्या
३३ सोमाद्यौषध-गुणादि-पदार्थ- विद्या	३८ सोमाद्यौषध-गुणादि-पदार्थ- विद्या
३४ सोमाद्यौषध-गुणादि-पदार्थ- विद्या	३९ सोमाद्यौषध-गुणादि-पदार्थ- ५ विद्या
३५ सोमाद्यौषध-गुणादि-पदार्थ- विद्या	४० सोमाद्यौषध-गुणादि-पदार्थ- विद्या
३६ सोमाद्यौषध-गुणादि-पदार्थ- विद्या	४१ सोमाद्यौषध-गुणादि-पदार्थ- विद्या १०

ऋग्वेदे सप्तमाष्टके प्रथमोऽध्यायः ॥ १॥

### अष्टकम् ७, अध्यायः २

वर्गः	विषयः	वर्गः	विषयः
१	सोमाद्यौषध-गुणादि-पदार्थ- विद्या	९	सोमाद्यौषध-गुणादि [ पदार्थ- विद्या ] १५
२	सोमाद्यौषध-गुणादि-पदार्थ- विद्या	१०	सोमाद्यौषध-गुणादि-पदार्थ- विद्या
३	सोमाद्यौषध-गुणादि-पदार्थ- विद्या	११	अग्नि-स्तुति-प्रार्थनादि- पदार्थ-विद्या
४	सोमाद्यौषध-गुणादि-पदार्थ- विद्या	१२	सोमाद्यौषध-गुणादि-पदार्थ- २० विद्या
५	सोमाद्यौषध-गुणादि-पदार्थ- विद्या	१३	सोमाद्यौषध-गुणादि-पदार्थ- विद्या
६	सोमाद्यौषध-गुणादि-पदार्थ- विद्या	१४	सोमाद्यौषध-गुणादि-पदार्थ- विद्या २५
७	सोमाद्यौषध-गुणादि-पदार्थ- विद्या	१५	सोमाद्यौषध [ गुण ] दि- पदार्थ-विद्या
८	सोमाद्यौषध-गुणादि-पदार्थ- विद्या	१६	सोमाद्यौषध-गुणादि-पदार्थ- विद्या



- १७ प्रार्थनादि-पदार्थ-विद्या  
 १८ प्रार्थनादि-पदार्थ-विद्या  
 १९ सोमाद्यौषध-गुणादि-पदार्थ-  
 विद्या  
 ५ २० सोमाद्यौषध-गुणादि-पदार्थ-  
 विद्या  
 २१ सोमाद्यौषध-गुणादि-पदार्थ-  
 विद्या  
 २२ सोम-स्तुति-प्रार्थनादि-पदार्थ-  
 १० विद्या  
 २३ पदार्थ-विद्या

- २४ सोमाद्यौषध-गुणादि-पदार्थ-  
 विद्या  
 २५ पदार्थ-विद्या  
 २६ पदार्थ-विद्या  
 २७ सोमादि-पदार्थ-विद्या  
 २८ पदार्थ-विद्या  
 २९ पदार्थ-विद्या  
 ३० पदार्थ-विद्या  
 ३१ पदार्थ-विद्या  
 ३२ पदार्थ-विद्या  
 ३३ पदार्थ-विद्या

ऋग्वेदे सप्तमाष्टके द्वितीयोऽध्यायः ॥२॥

### अष्टकम् ७, अध्यायः ३

वर्गः विषयः

- १५ १ ईश्वरादि-पदार्थ-विद्या  
 २ पदार्थ-विद्या  
 ३ सोमादि-पदार्थ-विद्या  
 ४ सोमादि-पदार्थ-विद्या  
 ५ सोमादि-पदार्थ-विद्या  
 २० ६ सोमादि-पदार्थ-विद्या  
 ७ सोमादि-पदार्थ-विद्या  
 ८ ईश्वरादि-पदार्थ-विद्या  
 ९ सोमादि-पदार्थ-विद्या  
 १० सोमादि-पदार्थ-विद्या  
 २५ ११ सोमादि-पदार्थ-विद्या  
 १२ ईश्वरादि-पदार्थ-विद्या  
 १३ ईश्वरादि-पदार्थ-विद्या

वर्गः विषयः

- १४ ईश्वरादि-पदार्थ-विद्या  
 १५ पदार्थ-विद्या  
 १६ सोमादि-पदार्थ-विद्या  
 १७ ईश्वर-स्तुत्यादि-पदार्थ-विद्या  
 १८ पदार्थ-विद्या  
 १९ सोमादि-पदार्थ-विद्या  
 २० सोमादि-पदार्थ-विद्या  
 २१ सोमादि-पदार्थ-विद्या  
 २२ सोमादि-पदार्थ-विद्या  
 २३ सोमादि-पदार्थ-विद्या  
 २४ सोमादि-पदार्थ-विद्या  
 २५ पदार्थ-विद्या  
 २६ प्रार्थनादि-पदार्थ-विद्या

ऋग्वेदे सप्तमाष्टके तृतीयोऽध्यायः ॥३॥



## अष्टकम् ७, अध्यायः ४

वर्गः विषयः

वर्गः विषयः

- १ प्रार्थना, सोमादि-पदार्थ-विद्या
- २ पदार्थ-विद्या
- ३ पदार्थ-विद्या
- ४ पदार्थ-विद्या
- ५ सोम-स्तुत्यादि-पदार्थ-विद्या
- ६ सोमेश्वरादि-पदार्थ-विद्या
- ७ ब्रह्मेश्वरादि-पदार्थ-विद्या
- ८ सोमेश्वर-स्तुत्यादि-पदार्थ-विद्या
- ९ सोमेश्वरादि-पदार्थ-विद्या
- १० सोमादि-पदार्थ-विद्या
- ११ प्रार्थनादि-पदार्थ-विद्या
- १२ प्रार्थनादि-पदार्थ-विद्या
- १३ सोमादि-पदार्थ-विद्या
- १४ सोमादि-पदार्थ-विद्या
- १५ सोमेश्वर-स्तुति-प्रार्थनादि-पदार्थ-विद्या

- १६ सोमेश्वर-स्तुत्यादि-पदार्थ-विद्या
- १७ सोमादि-पदार्थ-विद्या ५
- १८ सोमेश्वरादि-पदार्थ-विद्या
- १९ सोमेश्वर-स्तुत्यादि-पदार्थ-विद्या
- २० सोमेश्वर-प्रार्थनादि-पदार्थ-विद्या १०
- २१ सोमादि-पदार्थ-विद्या
- २२ सोमेश्वर-स्तुत्यादि-पदार्थ-विद्या
- २३ सोमादि-पदार्थ-विद्या
- २४ सोमादि-पदार्थ-विद्या १५
- २५ पदार्थ-विद्या
- २६ सोमादि-पदार्थ-विद्या
- २७ सोमादि-पदार्थ-विद्या
- २८ सोमादि-पदार्थ-विद्या

ऋग्वेदे सप्तमाष्टके चतुर्थोऽध्यायः ॥४॥

२०

## अष्टकम् ७, अध्यायः ५

वर्गः विषयः

वर्गः विषयः

- १ सोमादि-पदार्थ-विद्या
- २ सोमादि-पदार्थ-विद्या
- ३ सोमादि-पदार्थ-विद्या
- ४ पदार्थ-विद्या
- ५ पदार्थ-विद्या
- ६ सोमादि-पदार्थ-विद्या
- ७ सोमादि-पदार्थ-विद्या

- ८ सोमादि-पदार्थ-विद्या
- ९ सोमादि-पदार्थ-विद्या
- १० सोमादि-पदार्थ-विद्या २५
- ११ सोमादि-पदार्थ-विद्या
- १२ सोमादि-पदार्थ-विद्या
- १३ सोमादि-पदार्थ-विद्या
- १४ सोम-गुणादि-पदार्थ-विद्या



- |                                       |   |
|---------------------------------------|---|
| १५ सोम-गुणादि-पदार्थ-विद्या           | २५ सोमाद्यौषध-गुणादि-पदार्थ-विद्या            |
| १६ सोम-गुणादि-पदार्थ-विद्या           |   |
| १७ सोमाद्यौषध-गुणादि-पदार्थ-विद्या    | २६ सोमाद्यौषध-गुणादि-पदार्थ-विद्या            |
| ५ १८ सोम-गुणादि-पदार्थ-विद्या         | २७ सोमाद्यौषध-ईश्वर-प्रार्थनादि-पदार्थ-विद्या |
| १९ सोम-गुणादि-पदार्थ-विद्या           | २८ सोमाद्यौषध-ईश्वर-प्रार्थनादि-पदार्थ-विद्या |
| २० सोम-गुणादि-पदार्थ-विद्या           |   |
| २१ सोमाद्यौषध-गुणादि-पदार्थ-विद्या    | २९ अग्न्यादि-पदार्थ-विद्या                    |
| १० २२ सोमाद्यौषध-गुणादि-पदार्थ-विद्या | ३० अग्नि-स्तुत्यादि-पदार्थ-विद्या             |
| २३ सोमाद्यौषध-गुणादि-पदार्थ-विद्या    | ३१ अग्न्यादि-पदार्थ-विद्या                    |
| २४ सोमाद्यौषध-गुणादि-पदार्थ-विद्या    | ३२ अग्न्यादि-पदार्थ-विद्या                    |
| १५ २५ सोमाद्यौषध-गुणादि-पदार्थ-विद्या | ३३ अग्न्यादि-पदार्थ-विद्या                    |

ऋग्वेदे सप्तमाष्टके पञ्चमोऽध्यायः ॥५॥

अष्टकम् ७, अध्यायः ६

- |   |                                      |
|---|--------------------------------------|
| वर्गः विषयः                                     | वर्गः विषयः                          |
| १ अग्न्यादि-पदार्थ-विद्या                       | १२ अग्नीश्वरादि-स्तुति-पदार्थ-विद्या |
| २० २ अग्नीश्वर-स्तुति-प्रार्थनादि-पदार्थ-विद्या | १३ पदार्थ-विद्या                     |
| ३ अग्न्यादि-पदार्थ-विद्या                       | १४ जीवेश्वरादि-संगम-पदार्थ-विद्या    |
| ४ अग्न्यादि-पदार्थ-विद्या                       | १५ जीवेश्वरादि-संगम-पदार्थ-विद्या    |
| ५ जलादि-पदार्थ-विद्या                           | १६ यमेश्वरादि-पदार्थ-विद्या          |
| २५ ६ जलादि-पदार्थ-विद्या                        | १७ पित्रादि-पदार्थ-विद्या            |
| ७ प्रश्नोत्तरादि-पदार्थ-विद्या                  | १८ पित्रादि-पदार्थ-विद्या            |
| ८ प्रश्नोत्तरादि-पदार्थ-विद्या                  | १९ पित्रादि-पदार्थ-विद्या            |
| ९ अग्न्यादि-पदार्थ-विद्या                       |                                      |
| १० अग्न्यादि-पदार्थ-विद्या                      |                                      |
| ३० ११ अग्न्यादि-पदार्थ-विद्या                   |                                      |



२० अग्निश्वर-स्तुत्यादि-पदार्थ- विद्या	२४ पूषा-सरस्वती-जलेश्वरादि- पदार्थ-विद्या
२१ अग्नीश्वर-स्तुत्यादि-पदार्थ- विद्या	२५ जलेश्वरादि-पदार्थ-विद्या
२२ अग्नि-स्तुत्यादि-पदार्थ- विद्या	२६ मृत्युधान्त्रेश्वरादि-पदार्थ- विद्या
२३ पूषेश्वर-स्तुत्यादि-पदार्थ- विद्या	२७ त्वष्ट्रीश्वरादि-पदार्थ- विद्या
	२८ पदार्थ-विद्या

ऋग्वेदे सप्तमाष्टके षष्ठोऽध्यायः ॥६॥

अष्टकम् ७, अध्यायः ७

१०

वर्गः	विषयः	वर्गः	विषयः
१ अग्नीषोमादि-पदार्थ-विद्या		१३ पूषादि-पदार्थ-विद्या	
२ अग्न्यादि-पदार्थ-विद्या		१४ पूषादि-पदार्थ-विद्या	
३ अग्न्यादि-पदार्थ-विद्या		१५ पदार्थ-विद्या	
४ अग्न्यादि-पदार्थ-विद्या		१६ पदार्थ-विद्या	१५
५ अग्न्यादि-पदार्थ-विद्या		१७ पदार्थ-विद्या	
६ इन्द्रादि-पदार्थ-विद्या		१८ पदार्थ-विद्या	
७ इन्द्रादि-पदार्थ-विद्या		१९ पदार्थ-विद्या	
८ इन्द्रादि-पदार्थ-विद्या		२० इन्द्रादि-पदार्थ-विद्या	
९ इन्द्रादि-पदार्थ-विद्या		२१ इन्द्रादि-पदार्थ-विद्या	२०
१० इन्द्र-प्रार्थनादि-पदार्थ- विद्या		२२ इन्द्रादि-पदार्थ-विद्या	
११ सोमादि-पदार्थ-विद्या		२३ इन्द्रादि-पदार्थ-विद्या	
१२ सोमेश्वर-स्तुति-प्रार्थना- पदार्थ-विद्या		२४ पदार्थ-विद्या	
		२५ पदार्थ-विद्या	
		२६ पदार्थ-विद्या	२१

१. वैयामुद्रिते एकाविंशतितमस्य पाठो नष्टः । अतएवाग्रे वर्गसंख्यायाम-  
शुद्धिरपि संजाता ।

२. वैयामुद्रिते 'मृत्युधान्त्रेश्वराति' इत्यपपाठः ।

३. वैयामुद्रिते 'त्वष्ट्रीश्वरादि०' इत्यपपाठः ।



२७ पदार्थ-विद्या

२८ पदार्थ-विद्या

२९ पदार्थ-विद्या

३० पदार्थ-विद्या

ऋग्वेदे सप्तमाष्टके सप्तमोऽध्यायः ॥७॥

अष्टकम् ७, अध्यायः ८

५ वर्गः विषयः

१ इन्द्रादि-पदार्थ-विद्या

२ उत्पत्त्यादि-पदार्थ-विद्या

३ पदार्थ-विद्या

४ उत्पत्त्यादि-पदार्थ-विद्या

१० ५ पदार्थ-विद्या

६ पदार्थ-विद्या

७ अग्न्यादि-पदार्थ-विद्या

८ अग्न्यादि-पदार्थ-विद्या

९ पदार्थ-विद्या

१५ १० पदार्थ-विद्या

११ सवित्रीश्वर-प्रार्थना-पदार्थ-विद्या

१२ सूर्येश्वर-प्रार्थना-पदार्थ-विद्या

२० १३ पदार्थ-विद्या

१४ इन्द्रादि-पदार्थ-विद्या

१५ अश्व्यादि-पदार्थ-विद्या

१६ पदार्थ-विद्या

वर्गः विषयः

१७ शिल्पादि-पदार्थ-विद्या

१८ विधवा-विधान-विद्या

१९ युवावस्था-शिल्पादि-पदार्थ-विद्या

२० विवाहादि-पदार्थ-विद्या

२१ त्रिचक्रादि-शिल्प-विद्या

२२ इन्द्रादि-पदार्थ-विद्या

२३ बृहस्पतीन्द्रेश्वर-प्रार्थनादि-पदार्थ-विद्या

२४ इन्द्रादि-पदार्थ-विद्या

२५ बृहस्पतीन्द्रेश्वरादि-पदार्थ-विद्या

२६ इन्द्रादि-पदार्थ-विद्या

२७ इन्द्र-बृहस्पतीश्वरादि-पदार्थ-विद्या

२८ अग्न्यादि-पदार्थ-विद्या

२९ अग्न्यादि-पदार्थ-विद्या

ऋग्वेदे सप्तमाष्टके अष्टमोऽध्यायः ॥८॥

१५ १. वैयामुद्रिते 'सवित्रेश्वर०' इत्यपपाठः ।

२. वैयामुद्रिते 'अश्व्यादिपदार्थ-विद्या' इति पाठः । हस्तलेखे 'अश्व्यादि' लिखित्वा रेखायाऽपमृष्टम् ।

३. वैयामुद्रिते 'अश्विन्यादि०' इत्यपपाठः ।

४. हस्तलेखे '०न्द्रेश्वरप्रार्थनादि' इति लिखित्वा 'प्रा' अपमृष्टम् ।



# अथ अष्टमाष्टकः

अष्टकम् ८, अध्यायः १

वर्गः	विषयः	वर्गः	विषयः
१	अग्न्यादि-पदार्थ-विद्या	१४	ईश्वरो[प]देशादि-पदार्थ-विद्या ५
२	अग्न्यादि-पदार्थ-विद्या	१५	इन्द्रेश्वर-स्तुत्यादिपदार्थ-विद्या
३	इन्द्रादि-पदार्थ-विद्या	१६	इन्द्रेश्वरादि-पदार्थ-विद्या
४	प्रार्थनादि-पदार्थ-विद्या	१७	इन्द्रेश्वरादि-पदार्थ-विद्या
५	ईश्वरः पत्याद्यनेक नामादि, पदार्थ-विद्या	१८	ईश्वरादि-पदार्थ-विद्या १०
६	ईश्वरः 'पत्याद्यनेक[ना]मादि-[पदार्थ]विद्या	१९	ईश्वर-स्तुत्यादि-पदार्थ-विद्या
७	ईश्वरः पत्याद्यनेक-नामादि-विद्या	२०	योग-विद्या
८	ईश्वरोपदेशादि-पदार्थ-विद्या	२१	योग-विद्या
९	ईश्वरादि-पदार्थ-विद्या	२२	मरण-विद्या
१०	अग्नीश्वर-स्तुत्यादि-पदार्थ-विद्या	२३	पुनरुत्पत्ति-प्रार्थनादि-पदार्थ-विद्या १५
११	अग्नीश्वर-स्तुति-प्रार्थनादि-पदार्थ-विद्या	२४	पुनरुत्पत्त्यादि-पदार्थ-विद्या
१२	अग्नीश्वर-स्तुत्यादि-पदार्थ-विद्या	२५	ईश्वरप्रार्थना-मरणादि-विद्या
१३	अग्नीश्वर-पृथिवी-स्तुति-प्रार्थना-पदार्थ-विद्या	२६	पदार्थ-विद्या २०
		२७	पदार्थ-विद्या
		२८	पदार्थ-विद्या
		२९	पदार्थ-विद्या
		३०	पदार्थ-विद्या

ऋग्वेदे अष्टमाष्टके प्रथमोऽध्यायः ॥१॥

२५

१. वैयामुद्रिते 'पत्याद्यनेक नामानि पदार्थ-विद्या' इत्यपपाठः ।

२. वैयामुद्रिते 'नामानि पदार्थविद्या' इत्यपपाठः ।



## अष्टकम् ८, अध्यायः २

वर्गः	विषयः	वर्गः	विषयः
	१ मोक्ष-विद्या	१२ देवादि-सृष्टि-प्रार्थनादि-पदार्थ-विद्या	
	२ अग्न्यादि-पदार्थ-विद्या	१३ वृषानेकार्थोत्पत्त्यादि-पदार्थ-विद्या	
५	३ पदार्थ-विद्या	१४ समुद्रादि-गुण-प्रार्थनादि-पदार्थ-विद्या	
	४ प्रश्नोत्तर-प्रार्थनादि-पदार्थ-विद्या	१५ बुद्ध्यादि-पदार्थ-विद्या	
	५ प्रार्थनौर्ध्वदैहिकादि-पदार्थ-विद्या	१६ सत्यादि-पदार्थ-विद्या	
१०	६ पुनर्जन्मादि-पदार्थ-विद्या	१७ उत्पत्त्यादि-पदार्थ-विद्या	
	७ प्रार्थनादि-पदार्थ-विद्या	१८ बृहस्पत्यादि-पदार्थ-विद्या	
	८ प्रार्थनादि-व्याधि-जन्म-पदार्थ-विद्या	१९ यज्ञ-घृतादि-पदार्थ-विद्या	
	९ अग्न्यादि-पदार्थ-विद्या	२० अग्नीश्वरादि-पदार्थ-विद्या	
१५	१० पृथिवी-भ्रमणादि-पदार्थ-विद्या	२१ यज्ञादि-पदार्थ-विद्या	
	११ ब्रह्म-सृष्ट्यादि-पदार्थ-विद्या	२२ स्वर्गाग्न्यादि-पदार्थ-विद्या	
		२३ सखित्वादि-पदार्थ-विद्या	
		२४ सखित्वादि-पदार्थ-विद्या	

ऋग्वेदे अष्टमाष्टके द्वितीयोऽध्यायः ॥२॥

## अष्टकम् ८, अध्यायः ३

वर्गः	विषयः	वर्गः	विषयः
१०	१ देव-सृष्ट्यादि-पदार्थ-विद्या	८ पदार्थ-विद्या	
	२ जल-गुणादि-पदार्थ-विद्या	९ पदार्थ-विद्या	
	३ इन्द्रोत्पत्ति-पदार्थादि-विद्या	१० मरुतादि-पदार्थ-विद्या	
	४ इन्द्रोत्पत्ति-धारणादि-पदार्थ-विद्या	११ मरुतादि-पदार्थ-विद्या	
२५	५ पदार्थ-विद्या	१२ पदार्थ-विद्या	
	६ प्रजोत्पत्त्यादि-विद्या	१३ मरुतादि-पदार्थ-विद्या	
	७ सरस्वत्यादि-पदार्थ-विद्या	१४ पदार्थ-विद्या	
		१५ अग्नीश्वरादि-पदार्थ-विद्या	



१६ विश्वकर्मेश्वरादि-पदार्थ- विद्या	२२ ब्रह्माण्ड-स्थालंकारादि- पदार्थ-विद्या	
१७ विश्वकर्मेश्वरादि-पदार्थ- विद्या	२३ आत्म-रथ-चक्रालंकारादि- पदार्थ-विद्या	
१८ मन्वीश्वरादि-पदार्थ-विद्या	२४ विवाह-विधवादि-पदार्थ- विद्या	५
१९ मन्वीश्वर-स्तुत्यादि-पदार्थ- विद्या	२५ विवाहादि-विद्या	
२० सत्येश्वर-धारणादि- विद्या	२६ विवाहादि-विद्या	
२१ ब्रह्माण्ड-स्थालंकारादि- पदार्थ-विद्या	२७ स्त्री-पुरुष-विवाह-नियम- विद्या	१०
	२८ विवाह-नियम-विद्या	

ऋग्वेदे अष्टमाष्टके तृतीयोऽध्यायः ॥३॥

### अष्टकम् ८, अध्यायः ४

वर्गः	विषयः	वर्गः	विषयः	
१ वृषाकपीश्वरादि-पदार्थ-विद्या		१३ सूर्येश्वर-प्रश्नोत्तरादि- पदार्थ-विद्या		१५
२ स्त्रीपुरुष-परमेश्वरादि-विद्या		१४ इन्द्रादि-पदार्थ-विद्या		
३ विश्वेश्वरेन्द्रादि-पदार्थ-विद्या		१५ इन्द्रेश्वरादि-पदार्थ-विद्या		
४ विश्वेश्वरेन्द्रादि-पदार्थ-विद्या		१६ इन्द्रेश्वरादि-पदार्थ-विद्या		
५ यज्ञशिल्पादि-पदार्थ-विद्या		१७ पुरुषेश्वर-जगदुत्पत्त्यादि- पदार्थ-विद्या		२०
६ जातवेदः-शब्दादि-पदार्थ- विद्या		१८ पुरुषेश्वर-शरीरालंकारादि- पदार्थ-विद्या		
७ दुष्टदण्डादि-पदार्थ-विद्या		१९ अग्नीश्वर-स्तुत्यादि-पदार्थ- विद्या		
८ दुष्टदमन-युद्धादि-पदार्थ- विद्या		२० अग्नीश्वर-स्तुत्यादि-पदार्थ- विद्या		२५
९ अग्न्यादि-पदार्थ-विद्या		२१ अग्नीश्वर-स्तुत्यादि-पदार्थ- विद्या		
१० अग्नीश्वरादि-पदार्थ-विद्या				
११ अग्नीश्वर-सृष्ट्यादि-पदार्थ- विद्या				
१२ ईश्वरादि-पदार्थ-विद्या				



२२ अग्नीश्वर-स्तुति-प्रार्थनादि- पदार्थ-विद्या	२६ पृथिव्याकाशादि-पदार्थ- विद्या
२३ अग्नीश्वर-स्तुत्यादि-पदार्थ- विद्या	२७ 'अश्व्यादि-पदार्थ-विद्या
५ २४ रुद्रनामाद्यग्नीश्वर-स्तुत्यादि- पदार्थ-विद्या	२८ इन्द्र-प्रार्थनादि-पदार्थ- विद्या
२५ अदितीश्वरादि-पदार्थ-विद्या	२९ पदार्थ-विद्या
	३० पदार्थ-विद्या
	३१ पदार्थ-विद्या
ऋग्वेदे अष्टमाष्टके चतुर्थोऽध्यायः ॥४॥	

## अष्टकम् ८, अध्यायः ५

१० वर्गः	विषयः	वर्गः	विषयः
१	पदार्थ-विद्या	१५	युद्धादि-पदार्थ-विद्या
२	पदार्थ-विद्या	१६	अदितीश्वरादि-पदार्थ-विद्या
३	पदार्थ-विद्या	१७	अग्नीश्वरादि-पदार्थ-विद्या
४	पदार्थ-विद्या	१८	पदार्थ-विद्या
१५	५ अश्वादि-पदार्थ-विद्या	१९	पदार्थ-विद्या
६	अश्वादि-पदार्थ-विद्या	२०	इन्द्रादि-पदार्थ-विद्या
७	सूर्यादि-पदार्थ-विद्या	२१	इन्द्रादि-पदार्थ-विद्या
८	ओषध्यादि-पदार्थ-विद्या	२२	इन्द्रादि-पदार्थ-विद्या
९	ओषध्यादि-पदार्थ-विद्या	२३	युद्धजयार्थेन्द्रेश्वर-प्रार्थनादि- पदार्थ-विद्या
१०	१० ओषध्यादि-पदार्थ-विद्या	२४	इन्द्रादि-पदार्थ-विद्या
११	ओषध्यादि-पदार्थ-विद्या	२५	इन्द्र-सोमेश्वरादि-पदार्थ- विद्या
१२	बृहस्पत्यादि-पदार्थ-विद्या	२६	इन्द्रादि-पदार्थ-विद्या
१३	अग्निस्तुति-वृष्ट्यादि-पदार्थ- विद्या	२७	पदार्थ-विद्या
२५	१४ पदार्थ-विद्या		

ऋग्वेदे अष्टमाष्टके पञ्चमोऽध्यायः ॥५॥

१. वैयाकरणे 'अश्विन्यादि०' इत्यपपाठः ।

२. वैयाकरणे 'पदार्थ-देवता' इत्यपपाठः ।



## अष्टकम् ८, अध्यायः ६

वर्गः	विषयः	वर्गः	विषयः
१	पदार्थ-विद्या	१४	इन्द्र-सोमपानादि-पदार्थ-विद्या
२	पदार्थ-विद्या	१५	इन्द्रादि-पदार्थ-विद्या ५
३	यज्ञदक्षिणादि-पदार्थ-विद्या	१६	सुपर्णेश्वरादि-पदार्थ-विद्या
४	ऋषिब्रह्मेश्वरादि-पदार्थ-विद्या	१७	पदार्थ-विद्या
५	युद्धादि-पदार्थ-विद्या	१८	अग्निप्रार्थनादि-पदार्थ-विद्या
६	पदार्थ-विद्या	१९	अग्न्यादि-पदार्थ-विद्या
७	ज्ञानादि-पदार्थ-विद्या	२०	इन्द्र-सोमपानादि-पदार्थ-विद्या १०
८	अग्नीश्वर-स्तुत्यादि-पदार्थ-विद्या	२१	इन्द्र-सोमपानादि-पदार्थ-विद्या
९	पदार्थ-विद्या	२२	पदार्थ-विद्या
१०	इन्द्रेश्वरादि-पदार्थ-विद्या	२३	भोजनविधि-सत्यासत्यादि-पदार्थ-विद्या १५
११	इन्द्रेश्वर-वृत्र-मेघादि-पदार्थ-विद्या	२४	अग्न्यादि-पदार्थ-विद्या
१२	इन्द्रादि-पदार्थ-विद्या	२५	अग्न्यादि-पदार्थ-विद्या
१३	'इन्द्र-सोमपान-पात्रादि-पदार्थ-विद्या	२६	मन[अ]दि-पदार्थ-विद्या
		२७	आत्म-स्तुत्यादि-पदार्थ-विद्या २०

ऋग्वेदे अष्टमाष्टके षष्ठोऽध्यायः ॥६॥

## अष्टकम् ८, अध्यायः ७

वर्गः	विषयः	वर्गः	विषयः
१	ब्रह्मविद्यादि-पदार्थ-विद्या	४	हिरण्यगर्भेश्वर-स्तुत्यादि-पदार्थ-विद्या २५
२	ब्रह्मविद्यादि-पदार्थ-विद्या	५	अग्निरनेकनामा, स्तुत्यादि-पदार्थ-विद्या
३	हिरण्यगर्भेश्वर-स्तुत्यादि-पदार्थ-विद्या		

१. वैयामुद्रिते 'इन्द्रसोमहविःपान०' इत्यपपाठः ।



- ६ अग्नि-स्तुति-प्रार्थनादि-  
पदार्थ-विद्या  
७ वेनेश्वरादि-पदार्थ-विद्या  
८ वेनेश्वरादि-पदार्थ-विद्या  
५ ९ अग्नीश्वर-स्तुति-प्रार्थनादि-  
पदार्थ-विद्या  
१० ईश्वरादि-पदार्थ-विद्या  
११ ईश्वरोपदेशादि-पदार्थ-  
विद्या  
१० १२ ईश्वरोपदेशादि-पदार्थ-  
विद्या  
१३ अर्यमादि-पदार्थ-विद्या  
१४ रात्र्यादि-पदार्थ-विद्या  
१५ अग्नीश्वर [१] दि-युद्ध-  
विजयादि- [पदार्थ] विद्या  
१६ अग्न्यादिनामेश्व [२] -स्तुति-  
प्रार्थना-पदार्थ-विद्या  
१७ 'तम आसीत्' सृष्टेः प्राक्तन-  
विद्या  
१८ ईश्वरस्तुत्यादि-पदार्थ-विद्या  
१९ इन्द्रेश्वरादि-पदार्थ-विद्या  
२० ईश्वरयज्ञादि-विद्या  
२१ इन्द्रेश्वरादि-पदार्थ-विद्या  
२२ इन्द्रेश्वरादि-विद्या  
२३ ईश्वरयोगाभ्यासादि-विद्या  
२४ केशीश्वरादि-पदार्थ-विद्या  
२५ जोवन-विद्या  
२६ इन्द्रेश्वर-स्तुत्यादि-पदार्थ-  
विद्या  
२७ सवित्रीश्वर-स्तुत्यादि-पदार्थ-  
विद्या  
२८ अग्नीश्वर-स्तुत्यादि-पदार्थ-  
विद्या  
२९ अग्नीश्वरस्तुति-प्रार्थनादि-  
पदार्थ-विद्या  
३० अग्नीश्वर-स्तुत्यादि-पदार्थ-  
विद्या

२० ऋग्वेदे अष्टमाष्टके सप्तमोऽध्यायः ॥७॥

### अष्टकम् ८, अध्यायः ८

- | वर्गः | विषयः                                    | वर्गः | विषयः                                     |
|-------|--|-------|---|
| १     | अश्वदि-पदार्थ-विद्या                     | ७     | 'सवित्रीश्वरादि-पदार्थ-<br>विद्या         |
| २     | इन्द्रादि-पदार्थ-विद्या                  | ८     | अग्नीश्वर-स्तुत्यादि-पदार्थ-<br>विद्या    |
| २५ ३  | औषध-स्त्रीपुरुषादि-विद्या                | ९     | श्रद्धालक्षणादि-पदार्थ-विद्या             |
| ४     | पदार्थ-विद्या                            | १०    | इन्द्रेश्वर-प्रार्थनादि-पदार्थ-<br>विद्या |
| ५     | इन्द्रादि-पदार्थ-विद्या                  |       |   |
| ६     | इन्द्रेश्वर-स्तुत्यादि-पदार्थ-<br>विद्या |       |   |

३० १. वैयाकरणे 'सवित्रीश्वरादि' अपपाठः ।



११ इन्द्रेश्वर-स्तुति-प्रार्थनादि- पदार्थ-विद्या	२९ इन्द्रेश्वरस्तुत्यादि-पदार्थ- विद्या
१२ तपः-पदार्थ-विद्या	३० उषरादि-पदार्थ-विद्या
१३ शिरिम्बिठादि-पदार्थ-विद्या	३१ घ्रुवादि-पदार्थ-विद्या
१४ अग्न्यादि-पदार्थ-विद्या	३२ अभीवर्त्यादि-पदार्थ-विद्या ५
१५ इन्द्र-विश्वेदेवादि-पदार्थ- विद्या	३३ ग्रावाणादि-सवित्रीश्वर- प्रार्थना-पदार्थ-विद्या
१६ सूर्येश्वर-प्रार्थनादि-पदार्थ- विद्या	३४ अग्न्यादि-पदार्थ-विद्या
१७ सूर्येश्वरादि-पदार्थ-विद्या	३५ प्राणवृत्ति-विद्या
१८ इन्द्रादि-पदार्थ-विद्या	३६ प्राण-विद्या १०
१९ ईश्वर-प्रार्थनादि-पदार्थ- विद्या	३७ इन्द्रादि-पदार्थ-विद्या
२० गर्भरक्षण-दुष्टजन-रोग- नाशनादि-विद्या	३८ इन्द्रादि-पदार्थ-विद्या
२१ ईश्वरानुग्रहादि-विद्या	३९ ईश्वरादि-विद्या
२२ जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्यादि-विद्या	४० बृहस्पतीश्वराशीर्वादि- विद्या १५
२३ प्रार्थनादि-पदार्थ-विद्या	४१ ईश्वराशीर्विद्या
२४ ऋषभशब्दार्थादि-पदार्थ- विद्या	४२ गर्भाधानादि-विद्या
२५ इन्द्रेश्वरस्तुत्यादि-पदार्थ-विद्या	४३ ईश्वराशीर्विद्या
२६ रुद्रेश्वरप्रार्थनावाय्वादि-विद्या	४४ वाय्वादि-पदार्थ-विद्या
[२७ गवादि-पदार्थ-विद्या]	४५ ईश्वरप्रार्थनादि-पदार्थ-विद्या २०
२८ सूर्येश्वरस्तुत्यादि-विद्या	४६ अग्न्यादि-पदार्थ-विद्या
	४७ पृथिवीभ्रमणादि-विद्या
	४८ सृष्ट्यादि-विद्या
	४९ अग्न्यादि-समानादि-विद्या

ऋग्वेदे अष्टमाष्टके अष्टमोऽध्यायः ॥८॥

२५

इति ऋग्वेदस्य विषय-सूची समाप्ता॥

१. इतोऽग्रे वैयामुद्रिते '२३ प्रार्थनादि पदार्थविद्या' पाठो दृश्यते । स चापपाठः, हस्तलेखेऽदर्शनात् । अस्यैव परिवर्धनादुत्तरत्र वर्गसंख्याभेदः समजनि । न च तासु संख्यासु स स विषयो दृश्यते ।

२. वैयामुद्रिते 'पदार्थ-विषयः' इत्यपपाठः । हस्तलेखे 'पदार्थ-विद्या' ३० इत्येव पाठः ।



# अथ सामवेदस्य विषय-सूची

## पूर्वार्चिकः

प्रथमः प्रपाठकः (१)

दशतिः विषयः	दशतिः विषयः
१-२ अग्निस्तुत्यादि-पदार्थ- विद्या	६ अग्निरनेकनामा, स्तुत्यादि-पदार्थ-विद्या
३-५ अग्निस्तुतिप्रार्थनादि- पदार्थ-विद्या	१० सोमान्यादिस्तुति-पदार्थ- विद्या
६-८ अग्निस्तुत्यादि-पदार्थविद्या	

१० सामवेदे प्रथमः प्रपाठकः ॥१॥

—:०:—

## द्वितीयः प्रपाठकः (२)

दशतिः विषयः	दशतिः विषयः
१ अग्न्यादि-पदार्थविद्या	३-४ इन्द्रादि-पदार्थविद्या
१५ २ अग्निस्तुत्यादि-पदार्थ-विद्या	५ इन्द्रपण्डितादि-विद्या

१. संहिताक्रमे (वैयमुद्रिते) प्रतिप्रपाठकं (षष्ठवर्जम्) १-५ दशतीनां प्रथमोऽर्धः, १-५ दशतीनां द्वितीयोऽर्धः इत्यवान्तरभेदोऽपि दृश्यते । इह प्रतिप्रपाठकं द्वयोरर्धयोर्दशतीनामेकीकृत्य १-१० संख्या दशतीनां प्रदर्शिता । अतः संहितानुसारं प्रतिप्रपाठकं १-५ दशतीनां प्रथमोऽर्धः, ६-१० (=१-५) दशतीनां च द्वितीयोऽर्धो विज्ञेयः । उत्तरार्चिके तु इहापि प्रतिप्रपाठकम् 'अर्ध'भेदः प्रदर्श्यते । षष्ठे प्रपाठके तु त्रयोऽर्धाः । तत्रास्मदीया टिप्पणी द्रष्टव्या ।

२. हस्तलेखे प्रतिदशति विषयनिर्देश उपलभ्यते । वैयमुद्रिते संस्करणे ययोर्यासां च दशतीनां समानो विषयस्तयोस्तासां वा संख्या मुद्रणसौकर्याय सहैव मुद्रिता । अस्माभिरपि तथैव मुद्रणं विहितम् ।



६ सोमेन्द्रादि-पदार्थ विद्या	९ अग्न्यादि-पदार्थ- विद्या
७ इन्द्रादि-पदार्थ विद्या	१० वरुणेन्द्रादि-पदार्थ- विद्या
८ इन्द्रस्तुतिप्रार्थनादि-पदार्थ- विद्या	

सामवेदे द्वितीयः प्रपाठकः ॥२॥

५

—:०:—

### तृतीयः प्रपाठकः (३)

दशतिः विषयः

दशतिः विषयः

१ सोमेन्द्रादि-पदार्थविद्या	९ इन्द्रस्तुतिप्रार्थनादि-पदार्थ- विद्या	१०
२ सूर्येन्द्रादि-पदार्थविद्या	१० सोमेन्द्रादि-पदार्थविद्या	
३-८ इन्द्रादि-पदार्थविद्या		

सामवेदे तृतीयः प्रपाठकः ॥३॥

—:०:—

### चतुर्थः प्रपाठकः (४)

दशतिः विषयः

दशतिः विषयः

१५

१ इन्द्रस्तुतिप्रार्थनादि-पदार्थ- विद्या	५-७ इन्द्रादि-पदार्थविद्या	
२ सोमेन्द्रस्तुत्यादि-पदार्थ- विद्या	८ 'एकस्यैवेश्वस्योपासना- विद्या	
३ ब्रह्मेन्द्रादि-पदार्थविद्या	९ इन्द्रस्तुत्यादि-पदार्थ- विद्या	२०
४ इन्द्रस्तुत्यादि-पदार्थविद्या	१० इन्द्रेश्वरादि-पदार्थविद्या	

सामवेदे चतुर्थः प्रपाठकः ॥४॥

—:०:—

१० हस्तलेखे वयमुद्विष्टे च 'एक एवेश्वरोपासनाविद्या' इति पाठः ।



## पञ्चमः प्रपाठकः (५)

दशतिः विषयः

- १ इन्द्रादि-पदार्थविद्या
- २ इन्द्रेश्वरादि-पदार्थविद्या
- ३ सोमेन्द्रादि-पदार्थविद्या
- ४ अग्न्यादि-पदार्थविद्या
- ५ सोमेन्द्रादि-पदार्थविद्या

दशतिः विषयः

- ६ ब्रह्मेन्द्रादि-पदार्थविद्या
- ७ अग्नीन्द्रादि-पदार्थविद्या
- ८ सोमेन्द्राग्न्यादि-पदार्थविद्या
- ९ सोमेन्द्रेश्वरादि-पदार्थविद्या
- १० सोमादि-पदार्थविद्या

सामवेदे पञ्चमः प्रपाठकः ॥५॥

—:०:—

## षष्ठः प्रपाठकः (६)

१०

दशतिः विषयः

- १-२ सोमेन्द्रादि-पदार्थविद्या
- ३ सोमादि-पदार्थविद्या
- ४-५ सोमेन्द्रेश्वरादि-पदार्थविद्या
- १५ ६ सोमेन्द्रपूषेश्वरादि-पदार्थ-विद्या
- ७ सोमेन्द्रेश्वरस्तुत्यादि-पदार्थ-विद्या
- ८-९ सोमेन्द्रादि-पदार्थविद्या

दशतिः विषयः

- १ [ १० इन्द्रवरुणादि-पदार्थविद्या
- ११ इन्द्रपवमानसोमादि-पदार्थ-विद्या
- १२ प्रजापतिसोमादि-स्तुति-पदार्थविद्या
- १३ अग्निऋत्वादि-पदार्थविद्या
- १४ अग्निसूर्येश्वरस्तुत्यादि-पदार्थविद्या ]

२०

सामवेदे षष्ठः प्रपाठकः ॥६॥

इति पूर्वार्चिकः समाप्तः ॥

१. विशेषः—अस्मिन् प्रपाठके संहितायां त्रयोऽर्धविभागा दृश्यन्ते ।  
 १-५ दशतीनां प्रथमोऽर्धः, १-४ (= ६-९) दशतीनां द्वितीयोऽर्धः, १-५ (= १०-१४) दशतीनां तृतीयोऽर्धः । विषयसूच्या हस्तलेखे तृतीयार्धस्य पञ्चानां (१०-१४) दशतीनां विषय-निर्देशो नोलभ्यते । स चास्माभिः प्रपूरितः ।  
 २. १०-१४ दशतीनां विषया कोष्ठे [ ] अस्माभिर्निर्दिष्टाः । द्रष्टव्या प्रथमा टिप्पणी ।



# उत्तरार्चिकः

प्रथमः प्रपाठकः (१)

प्रथमोऽर्धः

त्रिकः	विषयः	त्रिकः	विषयः
१-३	सोमादि-पदार्थविद्या	११	ईशानाजेश्वरेन्द्रादि-पदार्थ- ५ विद्या
४	अग्न्यादि-पदार्थ विद्या	१२	ईश्वरादि-पदार्थ विद्या
५	मित्रावरुणसोमादि-पदार्थ- विद्या	१३	इन्द्रादि-पदार्थ-विद्या
६	सोमेन्द्रादि-पदार्थविद्या	१४-१५	सोमेन्द्रेश्वरादि-पदार्थ- विद्या १०
७	इन्द्राग्न्यादि-पदार्थविद्या	१६-१७	सोमेन्द्रादि-पदार्थविद्या
८	इन्द्रवरुणादि-पदार्थविद्या	१८	सोमादि-पदार्थविद्या
९	सोमादि-पदार्थविद्या	१९	सूर्यादि-पदार्थविद्या
१०	सोमेश्वरादि-पदार्थ- विद्या	२०-२१	अग्नीश्वरादि-पदार्थ- विद्या १५
		२२-२३	इन्द्रादि-पदार्थ विद्या

१. हस्तलेखे सर्वत्र प्रथमस्यैवार्धप्रपाठकस्य तदन्तर्गतानां त्रिकानां विषय-  
निर्देशानन्तरम् उल्लेखो दृश्यते । वैयमुद्रितेऽपि तथैव मुद्रितमुलभ्यते । तथा  
सति स उत्तराणां त्रिकानां सम्बन्धी निर्देश इति शङ्कोत्पद्यते । मा कथञ्चि- २०  
द्विचिकित्सोत्पद्येतेत्यभिप्रेत्यास्माभिः प्रत्यर्धभेदमारम्भ एव निर्देशो विहितः ।

२. तिस्र ऋचः परिमाणमस्य इति संज्ञार्थे 'संख्यायाः संज्ञासङ्घसूत्रा-  
व्ययनेषु' (अ० ५।१।५७) इत्यनेन द्वय् प्रत्ययो भवति । यद्यप्युत्तरार्धे क्वचि-  
त्रिकविभागे क्वचिद् एका ऋक्, क्वचिद् द्वे ऋचे, क्वचिच्च तिसृष्योऽधिका २५  
अप्युच उपलभ्यते । तथापि भूमान्यायेन (द्र०—मीमांसा १।४।२३) ब्राह्मण-  
ग्रामन्यायेन (लौकिकोऽयं न्यायः) वा त्रिकां बहुत्वाद् द्विकचतुष्कादयोऽपि  
त्रिकशब्देनैव व्यवह्रियन्ते । वैदिकास्तु त्रिकस्य 'तृच'शब्देन व्यवहारं  
कुर्वन्ति ।



## द्वितीयोऽर्धः

त्रिकः	विषयः	त्रिकः	विषयः
१	इन्द्रेश्वरादि-पदार्थविद्या	१४	सूर्यादि-पदार्थविद्या
२	इन्द्रसोमेश्वरादि-पदार्थविद्या	१५	अश्व्यादि-पदार्थविद्या
३	इन्द्रसख्यादि-पदार्थविद्या	१६	सोमस्तुत्यादि-पदार्थविद्या
४	इन्द्रस्तुतिप्रार्थनादि-पदार्थ- विद्या	१७	सूर्येश्वरस्तुत्यादि-पदार्थ- विद्या
५-६	इन्द्रादि-पदार्थविद्या	१८	[पवमानसोमादि-] पदार्थ- विद्या
७	सोमपानगुणादि-पदार्थविद्या	१९-२०	सोमादि-पदार्थविद्या
१०	८-१२ इन्द्रादि-पदार्थविद्या	२१	सोमेन्द्रादि-पदार्थविद्या
१३	अग्निरनेकनामादि-पदार्थ- विद्या	२२	[सोमादि-] पदार्थविद्या

सामवेदे उत्तरार्चिके प्रथमः प्रपाठकः ॥१॥

१५

## द्वितीयः प्रपाठकः (२)

## प्रथमोऽर्धः

त्रिकः	विषयः	त्रिकः	विषयः
१	सोमेश्वरस्तुत्यादि-पदार्थ- विद्या	६	अग्नीश्वरस्तुत्यादि-पदार्थ- विद्या
२०	२ युद्धाद्यर्थसोमस्तुत्यादि-पदार्थ- विद्या	७	मित्रावरुणादि-पदार्थविद्या
३	वृषसोमेश्वरादि-पदार्थविद्या	८	इन्द्रादि-पदार्थविद्या
४	वृषेश्वरादि-पदार्थविद्या	९	इन्द्राग्न्यादि-पदार्थविद्या
५	सोमेश्वरादि-प्रार्थनादि-पदार्थ- विद्या	१०-११	वृषेश्वरादि-पदार्थ- विद्या
२५		१२-१५	इन्द्रादि-पदार्थविद्या

१. वयमुद्विक्ते 'अश्वादि०' इत्यपपाठः ।

२. सूर्यस्यात्रोपमानत्वेन निर्देशः, मुख्यस्तु सोम एव ।



१६ पूषासोमेश्वरादि-पदार्थविद्या	१८ इन्द्रादि-पदार्थविद्या
१७ सोमेन्द्रेश्वरादि-पदार्थविद्या	१९ इन्द्रेश्वरादि-पदार्थविद्या

## द्वितीयोऽर्धः

त्रिकः	विषयः	त्रिकः	विषयः	
१-२	सोमादि-पदार्थविद्या	१०	सोमेन्द्रादि-पदार्थविद्या	
३	सुपर्णादि-पदार्थविद्या	११-१३	इन्द्रादि-पदार्थविद्या	
४	सोमादि-पदार्थविद्या	१४	सोमादि-पदार्थविद्या	
५	अग्निप्रार्थनादि-पदार्थविद्या	१५	सोमेन्द्रादि-पदार्थविद्या	
६	मित्रावरुणादि-पदार्थविद्या	१६	'ईश्वरादि-पदार्थविद्या	१०
७	इन्द्रादि-पदार्थविद्या	१७	अग्न्यादि-पदार्थविद्या	
८	इन्द्राग्न्यादि-पदार्थविद्या	१८	'पदार्थ-विद्या	
९	सोमगुणादि-पदार्थविद्या	१९	इन्द्रादि-पदार्थविद्या	

सामवेदे उत्तरार्चिके द्वितीयः प्रपाठकः ॥२॥

१५

## तृतीयः प्रपाठकः (३)

## प्रथमोऽर्धः

त्रिकः	विषयः	त्रिकः	विषयः	
१	'ईश्वरस्तुत्यादि-पदार्थ-विद्या	५	सोमादि-पदार्थविद्या	
२	'ईश्वरादि-पदार्थविद्या	६	अग्नीश्वरादि-पदार्थविद्या	२०
३	सोमेश्वरादि-पदार्थविद्या	७	मित्रावरुणादि-पदार्थविद्या	
४	सोमेन्द्रादि-पदार्थविद्या	८	इन्द्रादि-पदार्थविद्या	

१. 'ब्रह्मणस्पतीश्वरादि-पदार्थविद्या' इति विशिष्टेन पाठेन भाव्यं स्पष्टार्थम् ।

२. 'सोमादि-पदार्थविद्या' इति पाठेनेह भाव्यम् ।

२५

३. 'पवमानेश्वरस्तुत्यादि-पदार्थविद्या' इति पाठोऽत्र द्रष्टव्यः ।

४. 'पवमानेश्वरादि-पदार्थविद्या' इति पाठोऽत्रोहनीयः ।



६ इन्द्राग्निवृष्ट्यादि-पदार्थ- विद्या	१७ मोक्षादि-पदार्थविद्या
१० धर्मादि-पदार्थविद्या	१८ सोमादि-पदार्थविद्या
११-१२ सोमादि-पदार्थविद्या	१९ सोमब्रह्मेश्वरादि-पदार्थ- विद्या
५ १३ सोमेन्द्रादि-पदार्थविद्या	२० अग्न्यादि-पदार्थविद्या
१४ इन्द्रादि-पदार्थविद्या	२१ इन्द्रेश्वरादि-पदार्थविद्या
१५ सूर्येन्द्रादि-पदार्थविद्या	२२ इन्द्रसोमादि-पदार्थ- विद्या
१६ ईश्वरमोक्षादि-पदार्थविद्या	

१०

## द्वितीयोऽर्थः

त्रिकः	विषयः	त्रिकः	विषयः
१	सोमेश्वरस्तुत्यादि-पदार्थ- विद्या	११	सोमेन्द्रादि-पदार्थविद्या
२	ईश्वरादि-पदार्थविद्या	१२-१३	सोमादि-पदार्थविद्या
१५ ३	सोमेन्द्रादि-पदार्थविद्या	१४	इन्द्रादि-पदार्थविद्या
४-५	सोमेश्वरादि-पदार्थविद्या	१५	सोमेन्द्रादि-पदार्थविद्या
६	सोमादि-पदार्थविद्या	१६	सोमगुणादि-पदार्थविद्या
७	अग्नीश्वरादि-पदार्थविद्या	१७	ईश्वरादि-पदार्थविद्या
८	मित्रावरुणादि-पदार्थविद्या	१८	प्राणादि-पदार्थविद्या
२० ९	सोमेन्द्रादि-पदार्थविद्या	१९	ईश्वरादि-पदार्थविद्या
१०	इन्द्राग्न्यादि-पदार्थविद्या	२०	सोमेन्द्रादि-पदार्थविद्या

१. 'कवीश्वरमोक्षादि-पदार्थविद्या' इति पाठोऽत्र ज्ञेयः ।  
 २. 'सोमेश्वरादि-पदार्थविद्या' इति पाठोऽत्र कल्पनीयः ।  
 ३. वैयामुद्रिते '१७-१८' इत्यपपाठः, १८ अष्टादशे तृके 'प्राणाः' शब्दस्य  
 २५ श्रवणात् तस्य 'प्राणादि-पदार्थविद्या' विषयेन भाव्यम् ।  
 ४. वैयामुद्रिते '१९' इत्यपपाठः । अत्र '१८' संख्यया भाव्यम् । द्रष्टव्या  
 द्वितीया टिप्पणी ।  
 ५. वैयामुद्रिते '२०' इत्यपपाठः । '१९' संख्ययाऽत्र भाव्यम्, 'सोमे-  
 श्वरादि-पदार्थविद्या' इति च पाठेन भवितव्यम् ।  
 ३० ६. वैयामुद्रिते '२१' इत्यपपाठः, '२०' संख्ययाऽत्र भाव्यम् ।



[ २१ अग्न्यादि-पदार्थविद्या ]	}	२३ इन्द्रेश्वरस्तुत्यादि-पदार्थ- विद्या
२२ इन्द्रेश्वरादि-पदार्थविद्या		

सामवेदे उत्तरार्चिके तृतीयः प्रपाठकः ॥ ३॥

### चतुर्थः प्रपाठकः (४)

#### प्रथमोऽर्धः

त्रिकः	विषयः	त्रिकः	विषयः	
१	सोमेश्वरादि-पदार्थविद्या	१४	रेवतीन्द्रादि-पदार्थविद्या	
२	ईश्वरस्तुत्यादि-पदार्थविद्या	१५	सोमादि-पदार्थविद्या	
३	सोमेन्द्रादि-पदार्थविद्या	१६	[ सोमादि-पदार्थविद्या ]	१०
४-५	सोमेश्वरस्तुत्यादि-पदार्थ- विद्या	१७	इन्द्रादि-पदार्थविद्या	
६	अग्नीश्वरस्तुत्यादि-पदार्थ- विद्या	१८	सोमेश्वरस्तुत्यादि-पदार्थ- विद्या	
७	अग्न्यादि-पदार्थविद्या	१९	सोमादि-पदार्थविद्या	
८	मित्रावरुणादि-पदार्थविद्या	२०	सोमसख्यादि-पदार्थविद्या	१५
९	इन्द्रादि-पदार्थविद्या	२१	सोमादि-पदार्थविद्या	
१०	इन्द्राग्न्यादि-पदार्थविद्या	२२	अग्नीश्वरप्रार्थनादि-पदार्थ- विद्या	
११	सोमेन्द्रादि-पदार्थविद्या	२३	इन्द्रादि-पदार्थविद्या	
१२	सोमादि-पदार्थविद्या	२४	[ इन्द्रमरुदादि- ] पदार्थ- विद्या	२०
१३	इन्द्रवाय्वादि-पदार्थविद्या			

१. अत्र 'सोमेश्वरस्तुत्यादि-पदार्थविद्या' पाठो ज्ञेयः ।

२. अत्र 'जमदग्नीश्वरस्तुत्यादि-पदार्थविद्या' पाठेन 'सोमेश्वरस्तुत्यादि-  
पदार्थविद्या' पाठेन वा भाव्यम् ।

२५

३. हस्तलेखे विषयनिर्देशो नोपलभ्यते । वैयामुद्रिते त्वयं पाठो दृश्यते ।  
स च युक्त एव । पूर्वोक्त समानत्वमनुल्लेखकारणं संभाव्यते ।

४. वैयामुद्रितेषु १-५ संस्करणेषु २४ चतुर्विंशतित्रिकस्य 'प्राचोप' इति



## द्वितीयोऽर्धः

त्रिकः	विषयः	त्रिकः	विषयः
१	अग्नीश्वरस्तुत्यादि-पदार्थ-विद्या	६	इन्द्राग्न्यादि-पदार्थविद्या
२	'अग्नीश्वरस्तुति-प्रार्थनादि-पदार्थविद्या	७	सोमादि-पदार्थविद्या
३	अग्नीश्वरस्तुत्यादि-पदार्थ-विद्या	८	इन्द्रादि-पदार्थविद्या
४	मित्रावरुणादि-पदार्थ विद्या	९	[सख्यादि-] पदार्थविद्या
५	इन्द्रादि-पदार्थविद्या	१०-११	सोमादि-पदार्थविद्या
		१२	अग्निस्तुत्यादि-पदार्थ विद्या
		१३	इन्द्रेश्वरस्तुत्यादि-पदार्थविद्या
		१४	इन्द्रादि-पदार्थविद्या

सामवेदे उत्तरार्चिके चतुर्थः प्रपाठकः ॥४॥

## पञ्चमः प्रपाठकः (५)

## प्रथमोऽर्धः

त्रिकः	विषयः	त्रिकः	विषयः
१	सोमेश्वरादि-पदार्थविद्या	१०	इन्द्रादि-पदार्थविद्या
२	सोमेन्द्रादि-पदार्थविद्या	११	सोमादि-पदार्थविद्या
३	सोमादि-पदार्थ विद्या	१२	सोमेन्द्रेश्वरादि-पदार्थविद्या
४-५	सोमेश्वरादि-पदार्थविद्या	१३	इन्द्रादि-पदार्थ विद्या
६-७	सोमादि-पदार्थ विद्या	१४	सोमेन्द्रादि-पदार्थविद्या
८	[सोमादि-] पदार्थ विद्या	१५-१६	सोमादि-पदार्थविद्या
९	अग्न्यादि-पदार्थविद्या	१७	सोमेश्वरादि-पदार्थविद्या

प्रतीकमात्रं २३ त्रयोविंशतित्रिक एवान्ते पठ्यते । षष्ठे संस्करणेऽस्माभिः प्रतीकत्वेन निर्दिष्टानां त्रयाणां मन्त्राणां पृथक् चतुर्विंशत्यात्मकस्तुक उपकल्पितः । २५ अयं ग्रन्थकारोऽप्यत्रार्धके चतुर्विंशतित्रिकानेव मेने इत्यनेन निर्देशेन स्पष्टम् ।

१. अस्मिन् त्रिके द्वादशर्चः । तत्र दशम्यां बह्विपदं पठ्यते । उत्तरयोरपि तेनैव संबन्धः । पूर्वासां त्वष्टानामुचाम् इन्दुः-सोमो देवता ।



१८ अग्नीश्वरस्तुत्यादि-पदार्थ-  
विद्या

१९-२० इन्द्रेश्वरादि-पदार्थ-  
विद्या

### द्वितीयोऽधः

त्रिकः विषयः

- १ सोमेश्वरस्तुत्यादि-पदार्थ-  
विद्या  
२-४ 'ईश्वरस्तुत्यादि-पदार्थविद्या'  
५-७ 'सोमेश्वरस्तुत्यादि-पदार्थ-  
विद्या'  
८ 'पावमान्यादि-पदार्थविद्या'  
९ 'अग्नीश्वरस्तुति-प्रार्थनादि-  
पदार्थविद्या'  
१० 'इन्द्रादि-पदार्थविद्या'

त्रिकः विषयः

- ११ 'पवमानादि-पदार्थविद्या'  
१२ 'सोमादि-पदार्थविद्या'  
१३ 'सोमेश्वरस्तुति-प्रार्थनादि-  
पदार्थविद्या'  
१४ 'सूर्येन्द्रादि-पदार्थविद्या'  
१५ 'इन्द्रस्तुतिप्रार्थनादि-पदार्थ-  
विद्या'  
१६ 'सोमेश्वरस्तुतिप्रार्थनादि-  
पदार्थविद्या'

१. 'पवमानेश्वरस्तुत्यादि-पदार्थविद्या' इत्येवं पाठेन भाव्यम्।

१५

२. वैयामुद्रिते '५-६' इत्यपपाठः । एवं चोत्तरत्रैकसंख्याया अशुद्धि-  
द्रष्टव्या ।

३. वैयामुद्रिते '७ पवमानादि०' इत्यपपाठः । हस्तलेखे 'पावमान्यादि०'  
इति शुद्धः पाठ उपलभ्यते ।

४. वैयामुद्रिते '८' संख्याऽशुद्धा वर्तते । नह्यष्टमेऽग्निः श्रूयते । तत्र २०  
पावमानीः' इत्येवोपलभ्यते ।

५. वैयामुद्रिते पूर्णवत् '९' संख्याऽशुद्धा मुद्रयते । इन्द्रस्य निर्देशो दशमे  
त्रिके दृश्यते ।

६. वैयामुद्रिते पूर्ववत् '१०' संख्याऽशुद्धा पठ्यते । पवमानस्यैकादशे  
त्रिके निर्देशात् ।

२५

७. वैयामुद्रिते पूर्णवत् '११' संख्याऽशुद्धा दृश्यते, सोमस्य द्वादशे त्रिके  
श्रवणात् ।

८. वैयामुद्रिते पूर्ववत् '१२-१३' संख्याऽशुद्धोपलभ्यते ।



१७ सोमादि-पदार्थविद्या	२१ अग्नीन्द्रादि-पदार्थ- विद्या
१८ सोमेन्द्रादि-पदार्थविद्या	
१९ सोमादि-पदार्थविद्या	२२-२३ इन्द्रेश्वरस्तुत्यादि- पदार्थविद्या
२० सोमप्रार्थनादि-पदार्थविद्या	

५

सामवेदे उत्तराचिके पञ्चमः प्रपाठकः ॥५॥

षष्ठः प्रपाठकः (६)

प्रथमोऽर्धः

त्रिकः	विषयः	त्रिकः	विषयः
१० १ 'अग्नीश्वरस्तुत्यादि-पदार्थ- विद्या		५-७ इन्द्रादि-पदार्थविद्या	
२ मित्रादि-पदार्थविद्या		७ सोमादि-पदार्थविद्या	
३ इन्द्रेश्वरस्तुत्यादि-पदार्थ- विद्या		८-९ इन्द्रसोमादि-विद्या	
१५ ४ सोमादि-पदार्थविद्या		१० इन्द्रेश्वराग्नि-विद्या	
		११ 'पृथिव्यादि-पदार्थ- विद्या	

१. वैयमुद्रिते प्रथमस्य द्वितीयस्य च त्रिकस्य 'अग्नीश्वरस्तुत्यादि-पदार्थ-विद्या' इति पाठ उपलभ्यते । स च हस्तलेखे त्रिकसंख्यासम्मुखे विषयनिर्देश-कालेऽनवधानाद् प्रथमत्रिकविषयस्य द्वितीयत्रिकसंख्यायाः सम्मुखे लेखनात् प्रथम-  
२० संख्याया अग्रे स्थानस्य रिक्तत्वात् वैयमुद्रिते सम्पादकेन पूरितः । तेनाग्रे २ संख्यात आरम्भ ९ संख्यापर्यन्तं त्रिकविषयाणामस्थाने पाठो दृश्यते । अस्माभिः संहितामनुसृत्य नवसंख्यापर्यन्तं त्रिकसंख्याया इह संशोधनमकारि ।

२. मन्त्रे 'गौः' पठ्यते । तस्य पृथिवीनामत्वादिह 'पृथिव्यादि'निर्देशो ग्रन्थकृता कृतः । मन्त्रे 'अयं गौः' इति पुंल्लिङ्गस्य श्रवणात् कथमिह  
२५ पृथिव्या निर्देशः सम्भवतीति मा शङ्क । ग्रन्थकृता ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकाया-  
मस्य मन्त्रस्य व्याख्याने लिङ्गभेददोषस्यापाकरणाय 'अयं गौः पृथिवीगोलः  
(=पृथिवीलोकः)' इति गोल (-लोक) पदनिर्देशः कृतः । द्र०—रालाकद्र  
सं० पृष्ठ १५१ । एतत्पृष्ठस्थे १-२ टिप्पण्यावपि द्रष्टव्ये ।



## द्वितीयोऽर्धः

त्रिकः	विषयः	त्रिकः	विषयः
१	अग्नीश्वरादि-पदार्थविद्या	१२	इन्द्रेश्वरस्तुत्यादि-पदार्थ- विद्या
२	सोमाग्नि-पदार्थविद्या	१३-१४	अग्नीश्वरस्तुत्यादि- पदार्थविद्या ५
३	ईश्वरादि-पदार्थविद्या	१५	सूर्यादि-पदार्थविद्या
४	इन्द्र-पदार्थविद्या	१६	इन्द्रेश्वरप्रार्थनादि-पदार्थ- विद्या
५	ब्रह्मेश्वर-पदार्थविद्या	१७	ईश्वरादि-पदार्थविद्या १०
६	ऋतादि-पदार्थविद्या	१८	मित्रावरुणादि-पदार्थ- विद्या
७	ब्रह्माग्नि-पदार्थविद्या	१९	ईश्वरादि-पदार्थविद्या
८	ईश्वरप्रार्थनादि-पदार्थविद्या	२०	सोमेन्द्रादि-पदार्थविद्या
९	इन्द्रशुद्धेश्वरादि-पदार्थविद्या		
१०	अग्नीश्वरस्तुत्यादि-पदार्थविद्या		
११	वरुणेश्वरस्तुत्यादि-युद्धादि- पदार्थविद्या		

१५

## तृतीयोऽर्धः

त्रिकः	विषयः	त्रिकः	विषयः
१-२	[पवमानेश्वर] प्रार्थनादि- पदार्थविद्या	६-७	इन्द्रेश्वरप्रार्थनादि- पदार्थविद्या
३	सोमेश्वरप्रार्थनादि-पदार्थ- विद्या	८	ईश्वरादि-पदार्थविद्या २०
४	सूर्यादि-पदार्थविद्या	९	सरस्वत्यादि-पदार्थविद्या
५	सूर्येश्वरस्तुत्यादि-पदार्थ- विद्या	१०	सवित्रीश्वरप्रार्थनादि- पदार्थविद्या
		११	ऋतादि-पदार्थविद्या

१. वैयाकरणे 'इन्द्रशुद्धेश्वरादि' इत्यपपाठः । हस्तलेखे '०शुद्धेश्वरादि' २५ इत्येव पाठः । प्रथममन्त्रेऽपि 'शुद्धम्' इति पदं दृश्यते ।

२. वैयाकरणे 'सामवेदे द्वितीयाचिके द्वितीयोऽर्धः प्रपाठकः' इति पाठः ।



१२ 'अश्वेश्वरादि-पदार्थविद्या	१६ पदार्थविद्या
१३ इन्द्रादि-पदार्थविद्या	१७ परमेश्वरादि-पदार्थ- विद्या
१४ अग्न्यादि-पदार्थविद्या	१८ गणितादि-पदार्थविद्या
१५ होत्रीश्वरादि-पदार्थविद्या	

५

सामवेदे उत्तराचिके षष्ठः प्रपाठकः ॥६॥

### सप्तमः प्रपाठकः (७)

#### प्रथमोऽर्धः

त्रिकः	विषयः	त्रिकः	विषयः
१० १ इन्द्रेश्वरादि-पदार्थविद्या		८ सोमादि-पदार्थविद्या	
२ विश्वेन्द्र-पदार्थविद्या		९ ईश्वरादि-पदार्थविद्या	
३ इन्द्रेश्वरादि-पदार्थविद्या		१० ईश्वरादिप्रार्थना-पदार्थविद्या	
४ अग्निप्रार्थनादि-पदार्थविद्या		११ अग्नीश्वर-पदार्थविद्या	
५ इन्द्रेश्वरादि-पदार्थविद्या		१२ अग्नीश्वरप्रार्थना-पदार्थविद्या	
१५ ६ अग्निब्रह्मादि-पदार्थविद्या		१३ ईश्वराग्नि-पदार्थविद्या	
७ 'मोक्षार्थप्रार्थनादि-पदार्थ- विद्या		१४ अग्नीश्वरादि-पदार्थविद्या	
		१५-१६ अग्नि-पदार्थविद्या	

#### द्वितीयोऽर्धः

त्रिकः	विषयः	त्रिकः	विषयः
१ अग्नि-पदार्थविद्या		४ 'अग्नि-ईश्वर-पदार्थविद्या	
२-३ अग्न्यादि-पदार्थविद्या		५-७ अग्न्यादि-पदार्थविद्या	

१. मन्त्रे 'ब्रध्नम्' पदं श्रूयते । स च निषण्ठी (१।१४) अश्वनाम्नि पठ्यते ।  
एतद्विषये ग्रन्थकृता ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकायां (पृष्ठ १८५, पं० १०-१३,  
२५ रालाकट्टसं०); ऋग्वेदभाष्ये (१।६।१) च यदुक्तं तदिहान्वेष्टव्यम् ।

२. 'सोमनाम्नः परमेश्वरात्' इति शेषः ।

३. इह पूर्वोत्तरत्रिकवत् 'अग्नीश्वर' इत्येवं पाठो युक्तः स्यात् ।

४. हस्तलेखेऽत्र 'अ० ई० प० वि०' इत्येवं पाठो दृश्यते ।



८ यज्ञादि-पदार्थविद्या	११ राजाग्नि-पदार्थविद्या .
९ [अग्न्यादि-] पदार्थविद्या	१२-१३ अग्न्यादि-पदार्थविद्या
१० भद्राग्निप्रार्थनादि-पदार्थविद्या	१४ वायु-विद्या

## तृतीयोऽर्धः

५

त्रिकः विषयः

- १' इन्द्रादि-पदार्थविद्या
- २ इन्द्राग्नि-पदार्थविद्या
- ३-४ इन्द्रादि-पदार्थविद्या
- ५ अग्न्यादि-पदार्थविद्या
- ६ वरुणादि-पदार्थविद्या
- ७ वृषादि-पदार्थविद्या
- ८ इन्द्रादि-पदार्थविद्या
- ९-१३ विश्वकर्मादि-पदार्थ-  
विद्या

त्रिकः विषयः

- १४ घर्मादि-पदार्थ-  
विद्या
- १५ पदार्थविद्या
- १६ गो-विद्या
- १७ निर्भय-विद्या
- १८-१९ ईश्वरप्रार्थना-विद्या
- २० ईश्वरादि-पदार्थविद्या
- २१ योगविद्यादि-पदार्थ-  
विद्या

१०

१५

सामवेदे उत्तराचिके सप्तमः प्रपाठकः ॥७॥

## अष्टमः प्रपाठकः (८)

## प्रथमोऽर्धः

त्रिकः विषयः

- १ अग्न्यादि-पदार्थविद्या
- २ इन्द्रादि-पदार्थविद्या

त्रिकः विषयः

- ३ अग्न्यादि-पदार्थविद्या
- ४ विष्ण्वीश्वर-पदार्थविद्या

२०

१. गैयमुद्रिते '१-४' संख्या दृश्यते । हस्तलेखे द्वितीयस्य तृतीयचतुर्थयोश्च यथास्माभिर्मुद्रितं तथा युक्तः पाठ उपलभ्यते । गैयमुद्रिते सम्पादकेन द्वितीय-त्रिकस्य विषयभेदेऽपि कथमेकीकृत्य पाठः कल्पित इति न ज्ञायते ।

२३

२. गैयमुद्रिते 'वृष्णादि' इत्यपपाठः ।

३. हस्तलेखे '१२-१३ विश्व० प० वि०' इत्येवं पाठः ।



५ वायु-विद्या	१० इन्द्रादि-पदार्थ-विद्या
६ इन्द्रादि-पदार्थ-विद्या	११ इन्द्रेश्वरस्तुत्यादि-पदार्थ-विद्या
७ अग्न्यश्वरादि-पदार्थ-विद्या	१२ अग्न्यादि-पदार्थ-विद्या
८ इन्द्रेश्वर-पदार्थ-विद्या	१३-१४ इन्द्रादि-पदार्थ-विद्या
५ ९ यज्ञवर्द्धनार्थ-पदार्थ-विद्या	

## द्वितीयोऽर्धः

त्रिकः	विषयः	त्रिकः	विषयः
१० १ सोमादि-पदार्थ-विद्या		११ अग्न्यादि-पदार्थ-विद्या	
२ सोमेन्द्रादि पदार्थ-विद्या		१२ सोमादि-पदार्थ-विद्या	
३ अग्नीश्वर-पदार्थ-विद्या		१३ इन्द्रादि-पदार्थ-विद्या	
४ पदार्थेन्द्रादि-पदार्थ-विद्या		१४ इन्द्राग्न्यादि-पदार्थ-विद्या	
५ विष्ण्वीश्वर-पदार्थ-विद्या		१५ इन्द्रादि-पदार्थ-विद्या	
६-७ इन्द्रादि-पदार्थ-विद्या		१६ सोमादि-पदार्थ-विद्या	
१५ ८ सोमेन्द्रादि-पदार्थ-विद्या		१७ इन्द्राग्न्यादि-पदार्थ-विद्या	
९ इन्द्रप्रार्थनादि-पदार्थ-विद्या		१८-१९ अग्न्यादि-पदार्थ-विद्या	
१० इन्द्रादि-पदार्थ-विद्या			

## तृतीयोऽर्धः

त्रिकः	विषयः	त्रिकः	विषयः
२० १ अग्नीश्वरादि-पदार्थ-विद्या		३ इन्द्रादि-पदार्थ-विद्या	
२ सोमेन्द्रादि-पदार्थ-विद्या		४ सोमेन्द्रादि-पदार्थ-विद्या	
		५ इन्द्रादि-पदार्थ-विद्या	

१. वैयाकरणे '१३' संख्यैवोपलभ्यते । हस्तलेखे चतुर्दशत्रिकस्याप्ययमेव  
 २५ विषयो निदर्श्यते । अतोऽत्र '१४' संख्याऽस्माभिर्न विता ।

२. द्वितीये मन्त्रे पठितेन 'वसु' शब्देन पदार्थरूपोऽर्थो गृहीतः । 'पुरुष' शब्देन चेन्द्रो गृहीतः ।



६ 'अलंकारादि-पदार्थविद्या	१४ 'ईश्वरादि-पदार्थविद्या
७-९ 'उषरादि-पदार्थविद्या	१५ अग्न्यादि-पदार्थविद्या
१० अग्न्यादि-पदार्थविद्या	१६ 'उषरादि-पदार्थविद्या
११ 'उषरादि-पदार्थविद्या	१७ 'ईश्वरजगत्सृष्ट्यादि- पदार्थ-विद्या
१२ 'अश्व्यादि-पदार्थविद्या	१८ 'सूर्यादि-पदार्थविद्या
१३ अग्न्यादि-पदार्थविद्या	

५

सामवेदे उत्तरार्चिके अष्टमः प्रपाठकः ॥८॥

### नवमः प्रपाठकः (९)

#### प्रथमोऽर्धः

त्रिकः	विषयः	त्रिकः	विषयः	०	१०
१ सोमादि-पदार्थविद्या		५-६ अग्न्यादि-पदार्थविद्या			
२ इन्द्रादि-पदार्थविद्या		७ ईश्वरादि-पदार्थविद्या			
३ पदार्थविद्या		८ इन्द्रादि-पदार्थविद्या			
४ ईश्वरादि-पदार्थविद्या		९ 'सोमादि-पदार्थविद्या			

१. अत्र त्रिके 'अश्वेव चित्रा' इत्याद्यलङ्कारनिर्देशः । वस्तुतोऽस्मिन् त्रिके १५ उषसो वर्णनमपलभ्यते ।

२. ग्रन्थकृता 'उषः'शब्दो रेफान्तोऽत्र स्वीकृतः । वेदभाष्येऽपि बहुत्र रेफान्तं 'उषर्'शब्दं स उषसः पर्यायत्वेन स्वीकरोति । वेदेऽपि 'उषवुधः' (ऋ० १।१४।९) इत्यादिषु रेफान्त 'उषर' शब्दः श्रूयते ।

३. हस्तलेखे मुद्रिते च 'अश्विन्यादि' इत्यपपाठः । २०

४. 'उषरादि-पदार्थविद्या' इति युक्तो विषयः स्यात् । मन्त्रेषूपसो वर्णनात् ।

५. 'प्रासावीद् देवः सविता जगत् पृथक्' इति वचनमनुरुद्धयोक्तम् ।

६. 'सोमादि-पदार्थविद्या' इति युक्तः पाठोऽत्र ज्ञेयः । मन्येऽत्रोत्तरप्रपाठक-स्य प्रथमार्धनवमत्रिकेन सह विषयनिर्देशे व्यत्यासः समजनि । तत्र 'सोमादि'-स्थाने 'सूर्यादि'पाठेन भाव्यम् ।

७. अत्र 'सूर्यादि-पदार्थविद्या' इति पाठेन भवितव्यम् । द्रष्टव्याऽत्र पूर्वा टिप्पणी । २५



- १० इन्द्रेश्वरादि-पदार्थविद्या  
 ११ इन्द्रादि-पदार्थविद्या  
 १२ इन्द्रेश्वरादि-पदार्थविद्या

- १३-१६ इन्द्रादि-पदार्थविद्या  
 १७ सोमेन्द्रादि-पदार्थविद्या  
 १८ अग्न्यादि-पदार्थविद्या

### द्वितीयोऽर्धः

- ५ त्रिकः विषयः  
 १ अग्नीश्वर-पदार्थविद्या  
 २ अग्न्यादि-पदार्थविद्या  
 ३ ईश्वरौषधि-पदार्थविद्या  
 ४ अग्नीन्द्रादि-पदार्थविद्या  
 १० ५ सोमादि-पदार्थविद्या  
 ६ अग्नि-पदार्थविद्या

- त्रिकः विषयः  
 ७ सख्यादि-पदार्थविद्या  
 ८ ज्योतिरग्नि-पदार्थविद्या  
 ९ ईश्वरेन्द्र-पदार्थविद्या  
 १० जलादि-पदार्थविद्या  
 ११-१२ प्राणादि-पदार्थविद्या  
 १३ ईश्वरादि-पदार्थविद्या

### तृतीयोऽर्धः

- त्रिकः विषयः  
 १ शूरेन्द्रयुद्धादि-पदार्थविद्या  
 १५ २ युद्धेन्द्रेश्वर-पदार्थविद्या  
 ३ युद्धेन्द्रादि-पदार्थविद्या  
 ४ युद्धेन्द्रेश्वर-पदार्थविद्या  
 ५ युद्धेन्द्रादि-पदार्थविद्या

- त्रिकः विषयः  
 ६ युद्धेन्द्रेश्वर-पदार्थविद्या  
 ७ युद्धेन्द्रादि-पदार्थविद्या  
 ८ युद्धेन्द्रेश्वरप्रार्थनादि-  
 पदार्थविद्या  
 ९ ईश्वरप्रार्थनादि-पदार्थविद्या

सामवेदे उत्तरार्चिके नवमः प्रपाठकः ॥१॥

२०

उत्तरार्चिकं समाप्तम् ॥

इति सामवेदस्य विषय-सूची समाप्ता ॥



# अथ अथर्ववेदस्य विषय-सूची

## अथ 'प्रथमं काण्डम्

प्रपाठकः	अनुवाकः	[सूक्तानि]	विषयः	
१	१	[१-६]	ईश्वरप्रार्थना-जलादि-पदार्थ-विद्या	
१	२	[७-११]	अग्नीश्वर-गर्भाद्यन्य-पदार्थ-विद्या	५
१	३	[१२-१६]	वृष्ट्यपराध-ताडनादीश्वर-प्रार्थना- द्यनेक-विद्या	
२	४	[१७-२१]	गर्भाधान-युद्धेश्वरेन्द्राद्यनेक-पदार्थ- विद्या	
२	५	[२२-२८]	पुंसवनौषधि-दुष्टताडन-युद्धादि- पदार्थ-विद्या	१०
२	६	[२९-३५]	राज्यवृद्धयर्थेश्वर-प्रार्थनाद्यनेक- पदार्थ-विद्या	

## प्रथमम् काण्डं समाप्तम् ॥१॥

१. अथर्ववेदे द्वौ विभागौ — काण्डात्मक एकः, प्रपाठात्मकोऽपरः। काण्डात्मके १५ विभागे काण्डम् अनुवाकः सूक्तमिति विभागक्रमः । साम्प्रतिकास्तु अनुवाकविभागमुज्झित्य प्रतिकाण्डं सूक्तसंख्या आहत्य गणयन्ति । प्रपाठात्मके क्रमे प्रपाठकम् सूक्तं च । इह ग्रन्थकर्त्रा न प्रतिसूक्तं विषयो निर्दिष्टः, अपि तु प्रत्यनुवाकम् इति विशेषः । उभयोरपि काण्डप्रपाठकविभागयोरिह निर्देशः कृतः । इह प्रपाठकानुवाकयोर्यो निर्देशः स सामान्यरूपः । क्वचिद् व्यत्यासोऽपि दृश्यते, २० यथा पञ्चमकाण्डे न दशमः प्रपाठकः प्रथमेऽनुवाके समाप्नोति, किं तहि? द्वितीया-नुवाकस्य द्वितीये सूक्ते । प्रपाठक-काण्डसूक्तयोस्तुलनात्मकं विवरणमन्ते प्रदर्शितं, तत्र द्रष्टव्यम् ।



## अथ द्वितीयं काण्डम्

प्रपाठकः	अनुवाकः	[सूक्तानि]	विषयः
	३	१ [१-५]	ईश्वर-भेषज-विषनिवारणाद्यनेक-पदार्थ-विद्या
५	३	२ [६-१०]	अग्नीश्वर-शत्रुदमन-कृष्णाद्यनेक-पदार्थ-विद्या
	३	३ [११-१७]	अग्नीश्वर-प्रार्थना-जीवन-इन्द्रिया-र्थादि-पदार्थ-विद्या
१०	४	४ [१८-२६]	शत्रुनिवारणार्थेश्वरप्रार्थनाद्यनेक-विद्या
	४	५ [२७-३१]	शत्रुजयार्थाग्नीश्वरप्रार्थनाद्यनेक-विद्या
	४	६ [३२-३६]	सूर्येश्वर-शारीर-नारीपति-पश्वादि-पदार्थ-विद्या

१५

द्वितीयं काण्डं समाप्तम् ॥२॥

## अथ तृतीयं काण्डम्

प्रपाठकः	अनुवाकः	[सूक्तानि]	विषयः
	५	१ [१-५]	शत्रुनिवारणार्थ-अग्नीन्द्रेश्वर-प्रार्थनादि-राजविद्यादि-पदार्थ-विद्या
२०	५	२ [६-१०]	युद्धादि-पदार्थ-विद्या; ईश्वरप्रार्थनादि-पदार्थ-विद्या
	५	३ [११-१५]	'राज्यक्षमादिरोगनिवारणार्थञ्च; अनेकपदार्थप्राप्त्यर्थेश्वरप्रार्थनादि-पदार्थ-विद्या

२५

१. वैयामुद्रिते 'राज्यक्षमादि-रोगनिवारणार्थञ्च' पाठो 'पदार्थविद्या' इत्यस्मात् परं नीतः । हस्तलेखे आदावेव दृश्यते । राज्यक्षमनिवारणमस्यानु-वाकस्यादौ ११ सूक्ते दृश्यते ।



- ६ ४ [१६-२०] अग्नीश्वर-प्रार्थनाद्यनेकवस्तुप्राप्त्यर्थ-  
पदार्थ-विद्या  
६ ५ [२१-२५] अग्नीश्वर-प्रार्थनाद्यनेकपदार्थ-विद्या  
६ ६ [२६-३१] ईश्वरप्रार्थना-प्राणाद्यनेकपदार्थ-विद्या

तृतीयं काण्डं समाप्तम् ॥३॥

५

### अथ चतुर्थं काण्डम्

प्रपाठकः अनुवाकः [सूक्तानि] विषयः

- ७ १ [१-५] जगद्धारणेश्वरस्तुति-विश्वोत्पत्ति-  
पदार्थ-विद्या  
७ २ [६-१०] 'वरणाप्रकरणौषधि-विष'-भाषणे- १०  
श्वरादि-पदार्थ-विद्या  
७ ३ [११-१५] 'अनङ्वान् दाधार'इत्यादि-ईश्वरादि-  
पदार्थ-विद्या  
७ ४ [१६-२०] ईश्वर-वरुणौषध-दुष्ट-स्वप्न-कृत्यादि-  
पदार्थ-विद्या १५  
८ ५ [२१-२५] इन्द्र-युद्ध-राजेन्द्रोत्तम-सखीश्वरादि-  
पदार्थ-विद्या  
८ ६ [२६-३०] ईश्वरप्रार्थनादि-मस्तु-सर्वकल्याणार्थ-  
श्वरादि-पदार्थ-विद्या  
८ ७ [३१-३५] एकेश्वरप्रार्थना-शत्रुविजयार्थ-मृत्यु- २०  
निवारणार्थादि-पदार्थ-विद्या  
८ ८ [३६-४०] ईश्वर-पिशाचौषधि-वीर्यप्रापणादि-  
पदार्थ-विद्या

चतुर्थं काण्डं समाप्तम् ॥४॥

१. वैयामुद्रिते 'वर्णः' इति पाठः, हस्तलेखे 'वर्णी' इति पाठः । 'वरणा- २५  
वत्यामधि' (४।७।१) इति श्रवणात् 'वरणा' इति शुद्धः पाठः ।

२. विषविषयकं भाषणम्, 'वाचं विषस्य दूषणीं तामितो निरवादिवम्'  
(४।६।२) इति श्रवणात् । मन्त्रपाठानुसारं 'विषभाषण-वरणाप्रकरणौषधि-  
ईश्वरादि-पदार्थ-विद्या' इत्यानुपूर्व्या पाठेन भाव्यम् ।



## अथ पञ्चमं काण्डम्

प्रपाठकः अनुवाकः [सूक्तानि] विषयः

	१०	१	[१-५]	अग्नीन्द्रेश्वरप्रार्थना- <sup>१</sup> कुष्ठाद्यनेकविध- रोग-नाशार्थादि-पदार्थ-विद्या
५	११	२	[६-१०]	ब्रह्मेश्वरप्रार्थनाद्यनेकविध-पदार्थ- विद्या
	११	३	[११-१५]	वरुणेश्वरप्रार्थना-गणिताद्यनेकविध- पदार्थ-विद्या
	१२	४	[१६-२१]	वृषेश्वरादि-पदार्थ-विद्या
१०	१२	५	[२२-२६]	अग्न्यादि-पदार्थ-विद्या- [गर्भ-] रक्षणादि [कं] च
	१२	६	[२७-३१]	अग्न्यादि-यज्ञादि-प्राणादि-पदार्थ- विद्या

पञ्चमं काण्डं समाप्तम् ॥५॥

१५

## अथ षष्ठं काण्डम्

प्रपाठकः अनुवाकः [सूक्तानि] विषयः

१३	१	[१-१०]	सवित्रादि <sup>०</sup> , प्रार्थनादि <sup>०</sup> , पर्जन्यो ब्रह्मणस्पतिरित्यादि <sup>०</sup> , यज्ञादि- पदार्थविद्या
----	---	--------	--

१० १. गैयमुद्रिते 'कुष्ठाद्यदि' इत्यपपाठः ।

२. इतो विषयनिर्देशस्यान्यः क्रमः प्रस्तूयते । प्रतिविषयमन्ते आदि पदं पठित्वा ०विन्दुनिर्देशः क्रियते । तेनान्ते पठितं 'पदार्थविद्या' पदं सर्वत्रासंज्ञ-  
नीयम् । यथेह 'सवित्रादि-पदार्थविद्या, प्रार्थनादि-पदार्थविद्या, पर्जन्यो ब्रह्मण-  
स्पतिरित्यादि-पदार्थविद्या, यज्ञादि-पदार्थविद्या' इत्येवं पूर्णः पाठ ऊहनीयः ।

२५ गैयमुद्रितस्य सम्पादकेन ०निर्देशस्याभिप्रायमविज्ञाय ०विन्दुस्थाने-संकेतः  
प्रदत्तः ।

३. 'पर्जन्यो ब्रह्मणस्पतिः' इति प्रतीकपाठः । इमे पदे चतुर्थसूक्तस्य प्रथमे  
मन्त्रे श्रूयते ।



- १३ २ [१०-२०] पुंसवनादि०, रात्रिदिवसादि०, मृत्युपरमेश्वरादि०, बन्ध्वीश्वरादि०, गर्भपृथिव्यादि०, अग्न्यादि-पदार्थ-विद्या
- १३ ३ [२१-३१] लोकविद्यादि०, जन्मादि०, नद्योष- ५  
घादि०, पापत्यागोपदेशादि०, अग्न्यादि०, वैरत्यागोपदेशादि०, ईश्वर-प्रार्थनादि-पदार्थ-विद्या
- १३ ४ [३२-४१] विघ्ननाशार्थेश्वरप्रार्थनादि०, अग्न्यादि०, अग्नीश्वरादि०, राज- १०  
न्यादि०, इन्द्रयशोभयामित्रादि-पदार्थविद्या
- १३ ५ [४२-५१] ईश्वर-गुरु-सखि-रोगनाशकौषघे-  
श्वरप्रार्थनायुः-स्वस्ति-हविर्वायु-विश्वादि-पदार्थ-विद्या १५
- १४ ६ [५२-६१] ईश्वराग्नि-सोमेन्द्र-ब्रन्धु-संवत्स-  
रादि०, 'नमो देवजना विद्वांस  
इत्यादि०, 'इन्द्रो यश इत्यादि०, 'रुद्रघातेश्वरादि-पदार्थ-विद्या
- १४ ७ [६२-७२] 'विश्वानरेश्वर-नम इत्यादि; २०  
अग्निसंज्ञान'-समानादि०, 'शत्रु-  
नाशेन्द्रेश्वरस्तुति-'मूढत्वादि-  
पदार्थ-विद्या

१. द्र०-५६ सूक्ते १-२ मन्त्रयोः 'नमो देवजनेभ्यः' पाठः ।

२. द्र०-५८तमं सूक्तम् ।

२५

३. रुद्रविषयकं ६१तमं सूक्तम्, 'घाता दाधार' इति ६०तमे सूक्ते  
तृतीये मन्त्रे श्रूयते ।

४. वैश्वानरः' ६२तमे सूक्ते, 'नमः' ६३तमे सूक्ते द्वितीये मन्त्रे ।

५. द्र०-६४तमं सूक्तम् ।

६. द्र०-६६, ६५ संख्याके सूक्ते । ७. द्र०-सूक्त ६७, मन्त्र २ । ३०



- १४ ८ [७३-८२] वरुणेश्वरादि०, तन्वादि०, पञ्च-  
जनेत्यादि०, अग्निक्षत्रियादि०,  
'वर्द्धतादित्यादि०-सहस्रपोषोऽस्त्व-  
त्यादि०, जातकर्म-नामकरण-यज्ञो-  
पवीतादि-संस्कारादि-पदार्थविद्या
- १४ ९ [८३-९२] खगोलादि०, होमादि०, पापदूरी-  
करणार्थ-प्रार्थनादि०, 'वृत्रमेघादि०,  
चन्द्रेश्वरनक्षत्रादि०, राष्ट्ररक्षादि-  
पदार्थ-विद्या
- १० १४ १० [९३-१०२] यमो-मृत्युरीश्वरादि०, मोत-  
इत्यादि०, नैरोग्यार्थ-प्रार्थनादि०,  
वज्रबाहुरीश्वरादि-पदार्थ-विद्या
- १५ ११ [१०३-११३] \*सदानबृहस्पतिरित्यादि०, समुद्रादि०,  
सूर्यादि-पदार्थ-विद्या, \*मेघादि-  
पदार्थविद्या, \*अग्न्यादि-पदार्थ-विद्या
- १५ १२ [११४-१२४] देवविद्वद्विद्या०, विद्याप्रशंसादि०,  
अनृणपापनिवारणार्थ-प्रार्थनादि०,  
वैश्वानरेश्वर-सुकृतलोकादि-  
पदार्थ-विद्या, \*देवाः पितर इत्यादि
- २० १५ १३ [१२५-१४२] वनस्पति-सुपर्ण-रोगनाशार्थादि०,  
विशल्यौषधिविद्या०, अग्निपदार्थ-  
विद्या०, अनुशोकादि-पदार्थविद्या०,  
मेखलाबंधयज्ञोपवीतादि-पदार्थ-  
विद्या; सीमन्तोन्नयनादि-पदार्थ-विद्या

षष्ठं काण्डं समाप्तम् ॥६॥

२५

१. द्र०—सूक्त ७८, मन्त्र २ । २. द्र०—सूक्त ७९, मन्त्र ३ ।  
३. वैयमुद्रिते 'वृत्रमेघादि' अपपाठः । ४. द्र०—सूक्त १०३, मन्त्र १ ।  
५. वैयमुद्रिते 'मेघादि' इत्यपपाठः ।  
६. इत आरभ्य हस्तलेखे 'प०' इत्येव बहुत्र संकेतः क्रियते ।  
७. द्र०—सूक्त १२३, मन्त्र ३ ।

३०



## अथ सप्तमं काण्डम्

प्रपाठकः	अनुवाकः	[सूक्तानि]	विषयः
१६	१	[१-१३]	मनोवाग्विद्येत्यादि०, यज्ञेश्वर- आदित्यादि-पदार्थविद्या
१६	२	[१४-२२]	सवित्रीश्वरादि०, बृहस्पतिरित्यादि०, ५ प्रजापतिरित्यादि०, जगदुत्पत्तिरि- त्यादि-पदार्थविद्या
१६	३	[२३-३७]	सत्यधर्मेश्वरादि०, विष्णुना जगदु- त्पत्ति०, अग्निविष्णुद्वेषेत्यागादि- पदार्थविद्या १०
१६	४	[३८-५१]	दिव्य-सुपर्णेश्वर-सोम-रुद्र-भेषज- प्रजोत्पत्ति-रायस्पोष-दान-रक्षणादि- पदार्थविद्या
१६	५	[५२-५६]	सम्यग्विज्ञान-करणार्थोपदेश-स्वर्गादि- ईश्वरौषधादि-पदार्थविद्या १५
१७	६	[६०-७३]	वैरत्यागोपदेश-तपोधर्मनिष्ठान- प्रार्थनादि०, रोग-निवारण-सरस्वती- यज्ञ-मृत्यु-सत्यानृतादि-पदार्थविद्या
१७	७	[७४-८१]	व्रतादि० 'जाया-पुरुष-सन्तान-प्रार्थना, धन-प्राप्त्यर्थ-स्वर्ग-प्राप्त्यादि०, २० 'नवोनवो जायमानादि-पदार्थविद्या
१७	८	[८२-९०]	ईश्वरप्रार्थनादि०, घृत-वरुण-इन्द्रादि०, रक्षार्थ०, जलतेजोऽसि-पदार्थविद्या
१७	९	[९१-१०२]	इन्द्र-स्त्री-पुरुष-व्यवहार-यज्ञादीश्वर- प्रार्थनाद्यनेकविध-पदार्थविद्या २५
१७	१०	[१०३-११८]	प्रश्नोत्तरादि०, ईश्वराग्न्यादि०, सोम- ब्रह्मचर्यादि०, इन्द्राग्नीश्वर-प्रार्थनाऽ-

१. वैयामुद्रिते 'गाथा' इत्यपपाठः ।

२. द्र०-सूक्त ८१, मन्त्र २ ।



लक्ष्मीनाशनार्थलक्ष्मीप्राप्त्यर्थादि-  
पदार्थ-विद्या

सप्तमं काण्डं समाप्तम् ॥७॥

अथ अष्टमं काण्डम्

५	प्रपाठकः अनुवाकः [सूक्तानि]	विषयः
१८	१ [१-२]	जीवनार्थ-प्रार्थना, यमेश्वराग्न्यादि०, ब्रह्म-विद्याद्यनेक-विध-पदार्थविद्या
१८	२ [३-४]	दुष्ट-विनाशार्थाग्नीश्वरेन्द्र-सोम- प्रार्थना
१०	१६ ३ [५-६]	वीरयुद्धादि-दुष्टजयार्थ-इन्द्रेश्वर- प्रार्थना-वर्मादि-ऋतुदानगर्भाधानादि- पदार्थविद्या, गर्भ-रक्षणादि०
	१६ ४ [७-८]	वैद्यकशास्त्रोपदेशौषधिपरिगणनद्वारा गर्भाधान-संरक्षण-धातुरक्षण-बुद्धि- वृद्ध्यादि-पदार्थ-विद्या, इन्द्रजाल- वद्युद्धजयादि-पदार्थविद्या
१५	१६ ५ [९-१०]	प्रश्नोत्तरेश्वराग्न्यादि०, प्रश्नोत्तर- विराडेश्वराद्यनेक-विध०, विष- निवारणादि-पदार्थविद्या

अष्टमं काण्डं समाप्तम् ॥८॥

अथ नवमं काण्डम्

प्रपाठकः	अनुवाकः	[सूक्तानि]	विषयः
२०	१	[१-२]	स्वर्गादि०, जगदुत्पत्त्यानन्दादि०, विद्युत्-अश्वि-मध्वादि०, स्तनयि- त्वन्वादि०, प्रजापतीश्वराज्येन्द्रादि- पदार्थविद्या
२५	२	[३-४]	उपमिति-प्रतिमिति-हविर्धानि-पत्नी- गृहादि-इष्वश्व-ब्रह्म-कवि-गुरु-लघु-



महिम-होमादि०, अपां प्रतिमा प्रभू-  
रीश्वरादि०, बृहस्पति-भग-मित्र-  
स्त्री-शारीरक<sup>१</sup>-विद्यादि०, 'मन-  
शुद्ध्यायुरिन्द्रादि-पदार्थविद्या

२१ ३ [५-६] यजमान०, अजोनां काग्नि-ज्योतिष्मान्- ५  
दक्षिणादि-पदार्थविद्या, 'अतिथ्यादि  
विद्या

२१ ४ [७-८] ईश्वर०, ब्रह्माण्डाद्यलङ्कारादि०,  
रोगादि-निवारणादि-पदार्थविद्या

२१ ५ [९-१०] ईश्वराद्याश्चर्यादि०, अध्यात्मविद्या १०  
व्यापकेश्वरादि-विद्या, जीवेश्वर-  
मैत्र्यादि-विद्या, ईश्वरेण धारितादि-  
पदार्थ-विद्या

नवमं काण्डं समाप्तम् ॥९॥

अथ दशमं काण्डम्

१५

प्रपाठकः अनुवाकः [सूक्तानि] विषयः

२२ १ [१-२] कृत्या-निवारणादि-पदार्थविद्या,  
गोवत्सादि०, यज्ञादि०, इन्द्राग्नि-  
प्रार्थनादि०, दुरित्-त्यागादि०,  
सप्ताकाशादि०, जलादि०, 'प्रश्नो- २०  
त्तरादि०, ब्रह्मविद्यादि-प्रश्नंसा

२२ २ [३-४] मण्यादि-विद्या 'मात्रादि-वनस्पती-

१. वैयमुद्रिते 'शारीरिक' इत्यपपाठः ।

२. वैयमुद्रिते 'मनः शुद्ध्याद्वायुरिन्द्रादि' इत्यपपाठः ।

३. हस्तलेखे इतोऽग्रे । 'अत्याद०' इति पाठ उपलभ्यते । स चापपाठः । २५  
अतिथिविषकत्वादस्य सूक्तस्यास्माभिः पाठः शोधितः । वैयमुद्रिते तु त्यक्त एवा-  
यं पाठः ।

४. सूक्त २ । ५. सूक्त ३, मन्त्र ८ ।



श्वरादि-कीर्ति-भूतिप्राप्त्यर्थेश्वर-  
प्रार्थनादि०, विष-निवारणादि-  
पदार्थ-विद्या

२३ ३ [५-६] ईश्वरेन्द्रौ-नौ-बलादि०, द्वेषत्यागादि०,  
दुष्टवधादि०, विष्णुक्रम-पृथिव्यादि-  
विभाग-करणादि०, प्राणयाचनादि०,  
शिल्पादि०, आज्यमण्यादि०, राज-  
वरुणमणिधारणादि-पदार्थविद्या

१० २३ ४ [७-८] तपः[त]-प्रश्नादि०, ईश्वरे सर्व-  
स्थितमित्यादि०, महाविद्यादि०,  
ब्रह्मविद्यादि०, महाव्याख्यानादि-  
पदार्थविद्या

२३ ५ [९-१०] सन्तानोत्पत्ति-यज्ञादि०, पुत्रेष्ट्यादि०,  
१५ वशा द्यौः वशा पृथिवी वशा विष्णुः  
प्रजापतिरित्यादि-पदार्थविद्या

दशमं काण्डं समाप्तम् ॥१०॥

अथ एकादशं काण्डम्

प्रपाठकः अनुवाकः [सूक्तानि] विषयः

२४ १ [१-२] पुत्रेष्टिविधानादि०, अग्नीश्वर-प्रार्थना,  
२० ज्योतिरमृतं हिरण्यमित्यादि०,  
विमानादि-शिल्पविद्या, रुद्रेश्वर-  
स्तुति-प्रार्थनादि-पदार्थविद्या

१. सूक्त ८ ।

२. हस्तलेखे 'प्राणायञ्चनादि' इति पाठः । वैयमुद्रिते 'पाणायञ्चनादि'  
२५ इति पाठः, उभावप्यपपाठी । द्र०-सूक्त ५, मन्त्र ४७ ।

३. सूक्त १०, मन्त्र ३० ।



२४	२	[३-४]	मासान्नाद्यलंकार, ब्रह्माण्डालंकारौ- दनेश्वरादि०, ब्रह्मौदन-प्राशन-प्राणे- श्वरस्तुतिप्रार्थना, प्राणेश्वराद्यनेक- नामा, प्राणेश्वरे सर्वं प्रतिष्ठितमिति पदार्थविद्या ५
२५	३	[५-६]	ब्रह्मचार्याचार्येश्वरादि० <sup>१</sup> , ब्रह्मचार्या- श्रमादि०, <sup>२</sup> ब्रह्मचार्येण कन्या युवानं विन्दते पतिमित्यादि०, <sup>३</sup> ब्राह्मण-ब्रह्म ज्येष्ठमित्यादि-पदार्थविद्या, अग्नी- श्वर-प्रार्थना-स्तुत्यादि० १०
२५	४	[७-८]	<sup>४</sup> उच्छिष्टे नामरूपं चोच्छिष्टे लोक आहितः इत्यादि०, <sup>५</sup> उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिवि श्रितः इत्यादि०, <sup>६</sup> मन्युर्जायां ब्रह्म ज्येष्ठादि-प्रश्नोत्त- रादि०, <sup>७</sup> सत्यश्रद्धादि-पदार्थ-विद्या १५
२५	५	[९-१०]	बाहु-इषु-उत्तिष्ठ युद्धादि०, <sup>८</sup> अदिते

१. वैयमुद्रिते 'प्राणेश्वरस्तुतिप्रार्थना' इति पाठस्त्रुटितः ।

२. द्र०—सूक्त ४, मन्त्र १ ।

३. इत उत्तरं हस्तलेखे 'अग्नीश्वरप्रार्थनास्तुत्यादि' पाठ उपलभ्यते ।  
स चास्थान इति कृत्वाऽग्रे यथास्थानं नीतः । वैयमुद्रिते त्वयमपपाठतां २०  
नीतः ।

४. सूक्त ५, मन्त्र १८ ।

५. अस्य विषयस्य नास्मिन्ननुवाके निर्देशः ।

६. सूक्त ७, मन्त्र १ ।

७. सूक्त ७, मन्त्र २२-२७ ।

८. सूक्त ८, मन्त्र १ ।

२५

९. सूक्त ८, मन्त्र २०, २२ । वैयमुद्रिते 'सत्यशब्दादि' इत्यपपाठः ।

१०. सूक्त ९, मन्त्र ७ ।



अबुं दे तवेश्वरादि०, 'आदित्यो  
ब्रह्मणस्पतिरित्यादि-विजयार्थेश्वर-  
प्रार्थनाहुति०, 'त्रिसंघेत्यादि-युद्धादि-  
पदार्थविद्या

५

एकादशं काण्डं समाप्तम् ॥११॥

अथ द्वादशं काण्डम्

प्रपाठकः	अनुवाकः	[सूक्तानि]	विषयः
१०	२६	१ [१]	सत्यादिभिः पृथिवीधारणादि०, पृथिवी- लक्षणादि०, प्रार्थनादि०, प्रार्थनामेधा- प्राप्त्यर्था०, विश्वकर्मेश्वरादि- पदार्थविद्या
१५	२६	२ [२]	यक्षमादि-रोगनिवारणादि०, अग्न्यादि- पदार्थविद्या-मृत्युनिवारण-आयुः- प्राप्त्यादि०, विधवा-विधानादि०, अग्नीश्वरप्रार्थनादि-पदार्थविद्या
	२७	३ [३]	पुरुषार्थादि०, शिल्पाद्यनेक-पदार्थ- विद्या; सोमाद्यनेकौषधादि-पदार्थ- विद्या
	२७	४ [४]	वशा-शब्दार्थादि-पदार्थविद्या
२०	२७	५ [५]	धर्मोपदेशादि-पदार्थविद्या ब्रह्म- विद्यादि०, अग्न्यादि०, दुष्टताडनादि- पदार्थ-विद्या

द्वादशं काण्डं समाप्तम् ॥१२॥

१. सूक्त ६, मन्त्र २५ । अत्र हस्तलेखे वैयामुद्रिते च 'आदित्यो  
२५ बृहस्पतिः' इत्यपपाठः ।

२. सूक्त १०, मन्त्र २ ।



## अथ त्रयोदशं काण्डम्

प्रपाठकः अनुवाकः [सूक्तानि]

विषयः

२८ १ [१]

इन्द्र-युद्धादि०, अश्वेश्वरधारणादि०,  
अग्नीश्वर-प्रार्थनादि०, परमर्गि-  
विदुः कवयः, 'सत्ये अन्यः समाहितो-  
ऽप्स्वश्न्यः समिध्यते । 'ब्रह्माद्वावग्नी  
ईजाते इत्यादि-पदार्थ-विद्या

२८ २ [२]

सूर्येश्वरादि०, 'पश्यन् जन्मानि सूर्ये-  
श्वरादि०, 'संबाहुभ्यां भरतीत्यादि०,  
'महांस्ते महतो महिमेत्यादि-पदार्थ-  
विद्या

२८ ३ [३]

'य ईश्वर आकाशाद्युत्पत्तिरित्यादि०,  
'भूतभवद्भविष्यत्पत्तिरित्यादि०,  
'प्रक्षिणीहि ब्रह्मज्यस्य प्रति मुञ्च  
पाशानित्यादि०, 'तस्य देवस्य  
क्रुद्धस्य-पदार्थविद्या

२८ ४ [४]

सवित्राद्यनेकनामेश्वर इत्यादि०,  
'भूतमित्यादि०, 'धर्मोपदेशोत्प-  
त्त्यादि०, ईश्वरस्य महाविद्या,

१. द्र० समानमग्निमिन्धते तं विदुः कवयः परे । सूक्त १, मन्त्र ४० । २०

२. सूक्त १, मन्त्र ५० ।

३. सूक्त १, मन्त्र ४६-५१ :

४. सूक्त २, मन्त्र २२ ।

५. सूक्त २, मन्त्र २६ ।

६. सूक्त २, मन्त्र २६ ।

७. सूक्त ३, मन्त्र १ ।

८. सूक्त ३, मन्त्र ७ । वीर्यमुद्रिते 'भविष्योत्पत्तिरित्यादि' इत्यपपाठः ।

९. सूक्त ३, मन्त्र १-२५ । हस्तनेत्रे वीर्यमुद्रिते च 'प्रक्षिणीहि' स्थाने २५

'प्रतिमुञ्च' इत्यपपाठः । 'ब्रह्मज्यस्य' स्थाने 'ब्रह्मज्ञस्य' इत्यपपाठः ।

१०. सूक्त ३, मन्त्र १-२५ ।

११. सूक्त ४(३), मन्त्र २३ ।

१२. धर्मोपदेशः—सूक्त ४(३); उत्पत्तिः—सूक्त ४(४) ।



‘त्वोपास्महे वयमित्यादि-पदार्थविद्या

त्रयोदशं काण्डं समाप्तम् ॥१३॥

अथ चतुर्दशं काण्डम्

प्रपाठकः अनुवाकः [सूक्तानि] विषयः

५ २६ १ [१]

‘सत्येनोत्तमिता भूमिरित्यादि०, अनेक  
रसायनादि-शिल्पादि०, गार्हपत्यादि०,  
स्त्रीपुरुषोपदेशादि०, प्रसवादि-  
पदार्थ-विद्या, स्त्रीपुरुषयोः परस्पर-  
नियम-विवाहादि, ईश्वरप्रार्थना-  
स्त्रीपुरुषयोर्धर्मो प्रवृत्त्यर्थाऽधर्मान्नि-  
वृत्त्यर्थादि-पदार्थविद्या

१०

२६ २ [२]

जायापति-परस्पर सुनियमोपदेश-  
विद्यादि०, प्रजावृद्ध्यर्थप्रार्थनादि०,  
स्त्रीलक्षणादि०, अग्निपरिक्रमणादि०,  
विवाहविद्यादि०, पूर्वपूर्वाभावे चतुर्थ-  
पतिपर्यन्तविधि-विद्यादि०, ईश्वर-  
प्रार्थनादि-पदार्थविद्या

१५

चतुर्दशं काण्डं समाप्तम् ॥१४॥

अथ पञ्चदशं काण्डम्

२० प्रपाठकः अनुवाकः [सूक्तानि] विषयः

३० १ [१-७]

जगदुत्पत्त्यादि०, ‘तदेकमभवत्  
‘तत्सत्यमभवदित्यादि-धर्मोपदेशादि०,  
‘अलंकारादि०, ‘प्राच्यादिदिशादि-

१. सूक्त ४(५-६) मन्त्र ४७-५५ ।

२५

२. सूक्त १, मन्त्र १ । वैयासमुद्रिते ‘सत्येनोत्त०’ इत्युपपाठः ।

३. सूक्त १, मन्त्र ३ ।

४. सूक्त १, मन्त्र ३ ।

५. सूक्त १, मन्त्र ७-८ ।

६. सूक्त २, मन्त्र १ ।



लक्षण-<sup>१</sup>अलंकारादि०, <sup>२</sup>ऋत्वादि०,  
देशादि-लक्षणादि०, <sup>३</sup>अन्तर्देशादि०,  
<sup>४</sup>भूमि-पशु-नक्षत्रादि०, इतिहास-  
पुराण-नाराशंसीरित्यादि०, <sup>५</sup>श्रद्धादि-  
लक्षणादि-पदार्थविद्या १

३० २ [८-१८] <sup>६</sup>सभा-राज-प्रजादिरक्षणकरणादि०,  
<sup>७</sup>इयं वा उ पृथिवी बृहस्पतिरग्निरसा-  
वादित्यः क्षत्रमित्यादि०, <sup>८</sup>अग्नि-  
होत्रातिथिलक्षण०, <sup>९</sup>त्रात्यलक्षण०,  
<sup>१०</sup>गृहस्थातिथिव्यवहादि०, भोजनादि- १०  
विधानादि०, <sup>११</sup>मनोऽज्ञादादि०, <sup>१२</sup>तस्य  
त्रात्यस्य <sup>१३</sup>सप्त प्राणाः सप्तापानाः  
सप्त व्यानाः, एकैकस्य क्रमेण  
व्याख्यादि-पदार्थविद्या

पञ्चदशं काण्डं समाप्तम् ॥१५॥ १५

### अथ षोडशं काण्डम्

प्रपाठकः अनुवाकः [सूक्तानि] विषयः  
३१ १ [१-४] <sup>१</sup>अतिसृष्टो अपां वृषभ  
इत्यादि०, <sup>२</sup>कल्याणेच्छाकरणादि०,

१. सूक्त ३ । २. सूक्त ४ । ३. सूक्त ५ । २०

४. सूक्त ६ । ५. सूक्त ७ । ६. सूक्त ८, ९ ।

७. सूक्त १० । मन्त्र ६-११ । ८. सूक्त ११ ।

९. सूक्त १२ । १०. सूक्त १३ ।

११. सूक्त १४ । हस्तलेखे वैयामुद्रिते च 'मन्युमन्त्रादादि' इत्यपपाठः ।

१२. सूक्त १५-१८ । २५

१३. हस्तलेखे 'सप्त प्राणाः' पदे 'सप्त व्याना' इत्यतः परं दृश्यते । मन्त्र-  
पाठानुसारं शोधनं कृतम् ।

१४. सूक्त १ । १५. सूक्त २ ।



३१

२

[५-६]

‘मूर्धाहं रयीणां मूर्धा समानानां भूया-  
समित्यादि०, २ प्रार्थना-पदार्थविद्या  
‘विद्य ते स्वप्न जनित्रं ग्राह्या पुत्रो  
ऽसि यमस्य करण इत्यादिदुष्टस्वप्न-  
निवारणादि०, ३ प्रार्थना०, ४ सर्वेभ्यः  
पाशेभ्यो मा मोचीत्यादि-पदार्थ-  
विद्या

षोडशं काण्डं समाप्तम् ॥१६॥

अथ सप्तदशं काण्डम्

१० प्रपाठकः अनुवाकः [सूक्तानि]

विषयः

३२

१

[१]

‘विषासहि सहमानमित्यादि०,  
प्रार्थनादीश्वरविद्या, २ सुधायां  
मा घेहीतीश्वरप्रार्थनादि०, विष्ण्वी-  
श्व[२]स्तुतिः, ३ त्वमिन्द्रस्त्वं महेन्द्र-  
स्त्वं लोकस्त्वं प्रजापतिरित्यादि०,  
४ विराजे नमः स्वराजे नमः इत्यादी-  
श्वरस्तुतिः

१५

सप्तदशं काण्डं समाप्तम् ॥१७॥

अथ अष्टादशं काण्डम्

२० प्रपाठकः अनुवाकः [सूक्तानि]

विषयः

३३

१

[१]

१ ‘ओ चित्संखायमित्यादिसखित्वविद्या०,  
२ ‘प्रश्नादि-पदार्थविद्या, ३ ‘अग्नी-

१. सूक्त ३ । २. आदिपदेन सूक्त ४ । ३. सूक्त ५-६ ।

४. सूक्त ७ । ५. सूक्त ८ । ६. सूक्त १, मन्त्र १ ।

७. सूक्त १, मन्त्र ६ । ८. सूक्त १, मन्त्र १८ ।

९. सूक्त १, मन्त्र २३ । १०. सूक्त १, मन्त्र १ ।

११. सूक्त १, मन्त्र ६ । १२. सूक्त १, मन्त्र २७ ।



३३ २ [२]

श्वर-स्तुत्यादि०, 'सरस्वतीलक्ष-  
णादिविद्या, 'पितृलक्षणादि०,  
'यमादि०, 'श्रद्धादि-पदार्थविद्या  
'यमाय.....हविरित्यादि०, 'छन्द  
इत्यादि०, 'भद्र-सोम-ऋतादि- ५  
'शीतादि०, 'मृत्युर्यमस्यासीद् दूत  
इत्यादि०, 'यमो परो वरो विवस्वा-  
नित्यादि०, 'मरणानन्तरगतिः,  
'पितृस्वधादि०, 'आयुर्विश्वायु-  
स्त्वेत्यादि-पदार्थविद्या १०

३४ ३ [३]

'विधवापत्कालनिर्णयादि०, 'अन्त्ये-  
ष्टिविधानादि०, 'सुकर्माणि इत्यादि०,  
'चितायां होमविधानादि०, 'सुर-  
भीणि हवनानि कार्याणि, 'परजन्म

१. सूक्त १, मन्त्र ४१ ।

२. सूक्त १, मन्त्र ४४ ।

१५

३. सूक्त १, मन्त्र ४७ ।

४. सूक्त १, मन्त्र ५१-६१ । हन्तलेखे वयमुद्रिते च 'श्रद्धादि'

इत्यपपाठः ।

५. सूक्त २, मन्त्र १ ।

६. सूक्त २, मन्त्र ६ ।

७. सूक्त २, मन्त्र १३-१४ ।

८. सूक्त २, मन्त्र १५ ।

२०

९. सूक्त २, मन्त्र २२ ।

१०. सूक्त २, मन्त्र २७ ।

११. सूक्त २, मन्त्र ३२ ।

१२. सूक्त २, मन्त्र ३३तः आरभ्य ।

१३. सूक्त २, मन्त्र ५२ । अत्र 'स्वधा पितृष्वित्यादि' पाठेन नाशम् ।

१४. सूक्त २, मन्त्र ५५ ।

१५. सूक्त ३, मन्त्र १-१२ ।

१६. सूक्त ३, मन्त्र १२ ।

२५

१७. सूक्त ३, मन्त्र २२ ।

१८. सूक्त ३, मन्त्र २५-३५ ।

१९. सूक्त ३, मन्त्र ४२ (सुरभीणि कृत्वा) ।

२०. सूक्त ३, मन्त्र ४६ ।



			लोकादि०, 'मृत्यु-निवारणादि०, 'पुनर्जन्मादि- <sup>१</sup> दाहविधान०, <sup>२</sup> चितायां शतघारेत्यादिविधान-विद्या
५	३४	४	[४] <sup>३</sup> आरोहत जनित्रीमित्यादि०, <sup>४</sup> पुनर्जन्मादिविधानमित्यादि०, <sup>५</sup> ईश्वरप्रार्थना०, मृतसुखार्थादि०, <sup>६</sup> गमनागमनादि-मृतस्थेत्यादि०, <sup>७</sup> अपूपादिसंस्कृतहविविधानादि०, <sup>८</sup> चितायामनेकविध-होमविधानादि०, <sup>९</sup> सरस्वतीविधानादि-पदार्थविद्या
१०			

अष्टादशं काण्डं समाप्तम् ॥१८॥

### अथ एकोनविंशं काण्डम्

	प्रपाठकः अनुवाकः [सूक्तानि]	विषयः
१५	३५ १ [१-६]	<sup>१</sup> सं संस्रवन्तु नद्य इत्यादि०, <sup>२</sup> अबीश्वरप्रार्थनादि०, <sup>३</sup> ईश्वराद- भययाचनादि०, <sup>४</sup> सहस्रबाहुः पुरुष

	१. सूक्त ३, मन्त्र ६२ ।	२. सूक्त ३, मन्त्र ६४ ।
	३. सूक्त ३, मन्त्र ६८-७१ ।	
२०	४. सूक्त ३, मन्त्र ७२ । हस्तलेखे वैयामुद्रिते च 'सहस्रघारेत्यादि' अपपाठः ।	
	५. सूक्त ४, मन्त्र १ ।	६. सूक्त ४, मन्त्र २-७ ।
	७. सूक्त ४, मन्त्र ८-१२ ।	८. सूक्त १२, मन्त्र १३-१५ ।
	९. सूक्त ४, मन्त्र १६-२७ ।	१०. सूक्त ४, मन्त्र २८-३६ ।
	११. सूक्त ४, मन्त्र ४५-८६ ।	१२. सूक्त १ ।
२५	१३. सूक्त २ । वैयामुद्रिते 'अग्नीश्वर' इत्यपपाठः ।	
	१४. सूक्त ३, मन्त्र ४ ।	१५. सूक्त ६ ।



इत्यादि०, 'खगोलविद्यादि०,  
'योगक्षेमविचारादि०, 'शान्ता  
द्यौरित्यादि०, पापक्षमाकरणादि०,  
सर्वशान्त्यर्था प्रार्थनेश्वरादि-पदार्थ-  
विद्या

३५ २ [१०-२०] 'शं न इन्द्राग्नी इत्यादि०, 'ऋतज्ञा  
इत्यादि०, धर्मादि०, 'धनुर्वेदादि०,  
विजयार्थेश्वरस्तुतिप्रार्थनादि०,  
'अभयं नः करत्यन्तरिक्षमित्यादि०,  
'स मा रक्षत्वित्यादि०, 'सर्वदिक्षु १०  
रक्षार्थेश्वरप्रार्थनादि०, 'मृत्योस्सका-  
शाद्रक्षार्था प्रार्थनास्तुती ईश्वरस्ये-  
त्यादि-पदार्थविद्या

३५ ३ [२१-२६] 'गायत्रीत्यादि०, 'स्वाहादि०, 'ब्रह्म-  
णस्पतिरित्यादि०, 'य एनदित्यादि- १५  
पदार्थविद्या

३५ ४ [२७-३३] 'गोभिष्ट्वा पात्वृषभः इत्यादि०,

१. सूक्त ७ ।

२. सूक्त ८ ।

३. सूक्त ९ ।

४. सूक्त १० ।

५. सूक्त ११, मन्त्र ५ ।

६. सूक्त १३ ।

२०

७. सूक्त १५, मन्त्र ५ ।

८. सूक्त १७ ।

९. सूक्त १८-१९ ।

१०. सूक्त २० ।

११. सूक्त २१ ।

१२. सूक्त २२-२३ ।

१३. सूक्त २४ ।

१४. सूक्त २६, मन्त्र १ । हस्तलेखे 'य एनमित्यादि' पाठः, वैयमुद्रिते २५  
'यरमित्यादि' पाठः । उभावप्यपपाठौ मन्त्रपाठानुरोधात् ।

१५. सूक्त २७, मन्त्र १ । हस्तलेखे वैयमुद्रिते च 'पातु तु वृषभः'  
इत्यपपाठः ।



ये देवा इत्यादि०, 'शत्रूणामित्यादि०,  
 'जहि मे द्विषत इत्यादि०, 'पुष्टि-  
 कामाय वेधसादि०, 'पुष्ट्या वन-  
 स्पतिरित्यादि०, 'ओषध इत्यादि०,  
 'शूद्राय चार्य्यायेति०, 'ओजो  
 देवानामित्यादि-पदार्थविद्या

३५ ५ [३४-४५] 'जङ्गिडोऽसि जङ्गिडेत्यादि०,  
 'जहि रक्षांसि०, 'परि मा दिव  
 इत्यादि०, 'यक्षमादि-निवारणादि०,  
 'जीवला नाम ते मातेति, 'ततः  
 कुष्ठोऽजायतेत्यादि०, 'मा नो मेघां  
 मां नो दीक्षां मा नो हिंसिष्टं यत्  
 तपः इत्यादि-पदार्थ-विद्या

१. सूक्त २७, मन्त्र ११ । २. सूक्त २८, मन्त्र २ ।
- १५ ३. सूक्त २८, मन्त्र ६ ।
४. सूक्त ३१, मन्त्र १ । हस्तलेखे वैयामुद्रिते च 'पुष्टिकामेव'  
 इत्यपपाठः ।
५. द्र०-सूक्त ३१, मन्त्र ६ । मन्त्रानुरोधात् 'पुष्ट्या वनस्पति'  
 इत्यपपाठः ।
६. द्र०-सूक्त ३२, मन्त्र १ । अत्र पाठभ्रंशः प्रतिभाति ।
७. सूक्त ३२, मन्त्र ८ । ८. सूक्त ३३, मन्त्र ४ ।
९. सूक्त ३४, मन्त्र १ । हस्तलेखे वैयामुद्रिते च 'अङ्गिरा असि' इत्य-  
 पपाठो मन्त्रानुरोधात् ।
१०. सूक्त ३४, मन्त्र ६ । ११. सूक्त ३५, मन्त्र ४ ।
- १५ १२. सूक्त ३६ ।
१३. सूक्त ३६, मन्त्र ३ । 'जीवला...हिंसिष्ट मे' इति पाठो वैयामुद्रिते  
 प्रमादादपपाठः । हस्तलेखे विद्यते ।
१४. सूक्त ३६, मन्त्र ६-८ । हस्तलेखे 'तत्र कुष्ठोऽजायतेत्यादि०'  
 अपपाठः ।
- ३० १५. सूक्त ४०, मन्त्र ३ । अत्र 'मे तप' इति हस्तलेखेऽपपाठः ।



३५ ६ [४६-५४] 'प्रजापतिष्ट्वा बध्नादित्यादि०,  
 'भद्रे पारमशीमहि इत्यादि०,  
 'धृताचीत्यादि०, 'रात्रिः शिव-  
 मित्यादि०, 'ये ते रात्र्यनङ्वाह  
 इत्यादि०, 'कामस्तदग्रे समवर्त्ति- ५  
 त्यादि-कामविद्यादि०, 'पूर्णः कुम्भो-  
 ऽधि काल आहित इत्यादीश्वरः  
 कालः, 'कालो ब्रह्मेत्यादि-पदार्थ-  
 विद्या

३५ ७ [५५-७२] 'रात्रिरात्रिमप्रयातमित्यादि०, १०  
 'अग्निस्तुत्यादि०, 'अहरहर्बलिमा-  
 हरन्त इत्यादि०, 'स्वप्नादि०, 'सं-  
 वत्सरेत्यादि०, 'यज्ञमित्यादि०,  
 'उत शूद्र उत आर्ये इत्यादि०,  
 'उत्तिष्ठ ब्रह्मणस्पते आयुं वद्धये- १५

१. सूक्त ४६, मन्त्र १ । हस्तलेखे वैयामुद्रिते च 'बध्नातीत्यादि' इत्य-  
 पपाठः । २. सूक्त ४७, मन्त्र २ ।

३. सूक्त ४८, मन्त्र ६ ।

४. सूक्त ४९, मन्त्र ५ । अत्र कदाचित् 'शिवां रात्रिम्' युक्तः पाठः  
 स्यात् । ५. सूक्त ५०, मन्त्र २ । ६. सूक्त ५२, मन्त्र १ । २०

७. सूक्त ५३, मन्त्र ३ ।

८. द्र०-सूक्त ५४, मन्त्र १ । अत्र 'कालाद् ब्रह्मेत्यादि' पाठो युक्तो  
 ज्ञेयः ।

९. सूक्त ५५, मन्त्र १ । 'रात्रिमप्रयात्वित्यादि' इत्यपपाठः ।

१०. अस्मिन्नेव (५५) सूक्तेऽग्निस्तुतिः । ११. सूक्त ५५, मन्त्र ७ । २५

१२. सूक्त ६२, ६३ । स्वप्नादि...मित्यादि' पाठो वैयामुद्रिते प्रमा-  
 दात्त मुद्रितः । १३. सूक्त ५८, मन्त्र १ । १४. सूक्त ५८, मन्त्र ५ ।

१५. सूक्त ६२, मन्त्र १ । १६. सूक्त ६३, मन्त्र १ ।



त्यादिप्रार्थना०, 'सर्वमायुर्जीव्या-  
स[मित्यादि-]पदार्थ-विद्या

एकोनविंशं काण्डं समाप्तम् ॥१६॥

अथ विंशं काण्डम्

१. प्रपाठकः अनुवाकः [सूक्तानि]

विषयः

३६ १ [१-१३]

'इन्द्र त्वा वृषभं वयमित्यादि०,  
'सोमपानगुण-विद्यादि०, यज्ञादि०,  
'इन्द्रं त्वा सत्पतिमित्यादि०,  
'पितेव न इत्यादि०, 'सृष्टिरीश्वर-  
कृतेत्यादि०, 'इन्द्रेश्वरेत्यादि०, 'एको  
देवेनेत्यादि-पदार्थ-विद्या

१०

३६ २ [१४-१७] 'सखायमिन्द्रमूतये इत्यादि०, 'अन-  
वद्यरूपेत्यादि०, उपमानविद्यादि०,  
'ज्योतिरार्यमित्यादि०, 'बृहस्पतिः  
पातु सदा न इत्यादि-पदार्थ-विद्या

१५

३६ ३ [१८-३३] 'इन्द्र त्वायन्तः सखाय इत्यादि०,  
इन्द्रेश्वरेत्यादिस्तुत्यादि-पदार्थ-  
विद्या । 'अभि त्वा वृषभा सुते-

१. सूक्त ६६, मन्त्र १-४; सूक्त ७०, मन्त्र १ ।

२०

२. सूक्त १, मन्त्र १ । ३. सूक्त २-५ ।

४. द्र०-सूक्त ६, मन्त्र १ । अत्र 'इन्द्रं त्वा वृषभम्' पाठो वर्तते ।  
'सम्पते' सम्बुद्धौ चतुर्थमन्त्रे श्रूयते ।

५. सूक्त ८, मन्त्र २ ।

६. सूक्त ९-११ ।

७. सूक्त १२, मन्त्र ५ ।

८. सूक्त १४, मन्त्र ३ ।

९. सूक्त १६, मन्त्र ३ ।

१०. सूक्त १७, मन्त्र ४ ।

२५

११. द्र०-सूक्त १७, मन्त्र ११ । मन्त्रे 'बृहस्पतिर्नः परिपत्यु' इति  
पाठः ।

१२. सूक्त १८, मन्त्र १ ।

१३. सूक्त २२, मन्त्र १ ।



त्यादि०, 'योगेयोगे तवस्तरं वाजे-  
वाजे हवामहे, सखाय इन्द्रमूतये  
इत्यादि०, 'इन्द्राय शूषं हरिवन्त-  
मर्चतेत्यादि०, 'हरये सूर्यायेत्यादि-  
पदार्थविद्या

५

३६ ४ [३४-३७] 'यो जात एव प्रथमो मनस्वान्देवो  
देवानित्यादि-पदार्थविद्या, 'यो  
विश्वस्य प्रतिमानं बभूव यो  
अच्युतच्युत्स जनास इन्द्र इत्यादि०,  
सोमेन्द्रविद्या-पदार्थविद्या १०

३६ ५ [३८-६६] 'इन्द्र सोमपानादि-पदार्थविद्या,  
'इन्द्रेश्वरादि-पदार्थविद्या, 'सूर्ये-  
श्वरस्तुत्यादि-पदार्थविद्या, 'इन्द्र-  
सूर्येश्वरप्रार्थनादि-पदार्थ-विद्या,  
'इन्द्रेश्वरधारणादि-विद्या०, 'त्व- १५  
मिन्द्राभिभूरसि त्वं सूर्यमरोचयः,  
विश्वकर्मा विश्वदेवो मह्यं असी-  
त्यादि०, 'इन्द्रेश्वरसख्यादि-पदार्थ-  
विद्या

३६ ६ [६७-७१] 'वनोति हि सुन्वन्क्षयमित्यादि०, २०  
इन्द्र-सोमपान-पात्रादि-पदार्थविद्या,  
'तस्मा इन्द्राय गायतेत्यादि-

१. सूक्त २६, मन्त्र १।

२. सूक्त ३०, मन्त्र २।

३. सूक्त ३२, मन्त्र १।

४. सूक्त ३४, मन्त्र १।

५. सूक्त ३४, मन्त्र ६।

६. सूक्त ३८।

२५

७. सूक्त ३९।

८. सूक्त ४१, मन्त्र ३।

९. सूक्त ४७।

१०. सूक्त ६२, मन्त्र ६। हस्तलेखे वैयमुद्रिते च 'त्वमिन्द्रादि.....  
मरोचयः.....मह्यं अस्ति' इत्यपपाठः। ११. सूक्त ६५।

१२. सूक्त ६७, मन्त्र १।

१३. सूक्त ६८, मन्त्र, सं० १०। ३०



पदार्थविद्या, <sup>१</sup>इन्द्रेश्वर-स्तुति-  
प्रार्थना युद्धादि-जयार्थम्, <sup>२</sup>महां  
इन्द्रः परश्च नु महित्वमस्तु वज्रिणे  
इत्यादि-पदार्थविद्या

१ ३६ ७ [७२-६०] <sup>१</sup>विश्वेषु हि त्वा सवनेषु तुञ्जते,  
इन्द्रादि-पदार्थविद्या, <sup>२</sup>इन्द्रेश्वर-  
स्तुत्यादि-पदार्थविद्या, <sup>३</sup>जलादि-  
पदार्थविद्या, <sup>४</sup>अध्वर्यवोऽरुणं दुग्ध-  
मंशुं जुहोतनेत्यादि०, सोमेन्द्रादि-  
१० पदार्थविद्या, <sup>५</sup>यस्तस्तम्भ सहसा  
वि ज्मो अन्तान्बृहस्पतिस्त्रि-  
षधस्थो रवेणेत्यादि-पदार्थविद्या,  
बृहस्पतीश्वरप्रार्थनादि०, इन्द्रेश्वर-  
प्रार्थना, सख्यादि-पदार्थविद्या

१५ ३६ ८ [६१-६६] <sup>६</sup>इमां धियमित्यादि०, <sup>७</sup>ते सत्येने-  
त्यादि०, <sup>८</sup>सत्यामाशिषं कृणुते-  
त्यादि०, <sup>९</sup>अर्चत प्रार्चतेत्यादि०,  
२० <sup>१०</sup>सुदेवो असि वरुणेत्यादि०,  
<sup>११</sup>इन्द्रं जातमुपासते इत्यादि०,  
<sup>१२</sup>मघ[व]न्नित्यादि०, <sup>१३</sup>इन्द्राय  
शूषमर्चतेत्यादि-पदार्थविद्या, <sup>१४</sup>शत-  
शारदायेत्यादि-[पदार्थविद्या]

१. द्र०-सूक्त ६९, ७० । २. सूक्त ७१, मन्त्र १ ।

३. सूक्त ७२, मन्त्र १ । ४. सूक्त ७३-७६ ।

२५ ५. द्र०-सूक्त ७७, मन्त्र ७ । ६. सूक्त ८७, मन्त्र १ ।

७. सूक्त ८८, मन्त्र १ । ८. सूक्त ९१, मन्त्र १ ।

९. सूक्त ९१, मन्त्र ८ । १०. सूक्त ९१, मन्त्र ११ ।

११. सूक्त ९२, मन्त्र ५ । १२. सूक्त ९२, मन्त्र ६ ।

१३. सूक्त ९३, मन्त्र ४ ।

३० १४. सूक्त ९४, मन्त्र ६ । नैयमुद्रिते 'मघवन्नित्याति' इत्यपपाठः ।

१५. सूक्त ९५, मन्त्र २ । १६. सूक्त ९६, मन्त्र ७ ।



३६ ६ [६७-१२६] 'भूषतीत्यादि०, 'त्वं दाता प्रथम  
इत्यादि०, 'यो राजेत्यादि०, 'स्वादोरि-  
त्यादि०, 'प्रतिमानादि०, 'इमा ब्रह्म  
बृहदित्यादि०, 'अथर्वावोचस्त्वां तन्व-  
मिन्द्रमेवेत्यादि०, 'वितन्वते [प्रति] ५  
भद्राय भद्रमित्यादि०, 'विश्वस्मादिन्द्र  
उत्तर इत्यादि०, 'वृषाकपायीत्यादि०,  
'य एष स्वप्ननशन इत्यादि-पदार्थविद्या

अथ कुन्ताप-सूक्तानि — 'भद्रेण वचसा वयमित्यादि०, 'गोभयाद्  
गोगतिरिवेत्यादि०, 'आदला बुकमेककम्, अलाबुकं निखातकम् ॥१॥ १०  
इत्यादि०, 'उदभिर्यथालाबुनीत्यादि०, 'इदं राधो विभु प्रभिवेत्यादि ।  
इति कुन्ताप-सूक्तानि समाप्तानि । परिशिष्टानि प्रक्षिप्तानीति  
विज्ञेयम् ।

'यद्या वाणीत्यादि०, 'ऋतस्येत्यादि०, 'मधुमनित्यादि-पदार्थविद्या ॥

त्रिशं काण्डं समाप्तम् ॥२०॥

१५

इत्यथर्ववेदस्य विषय-सूची समाप्ता ॥

\*ओं नमः परमेश्वराय\*

- |  |                            |    |
|--|----------------------------|----|
| १. सूक्त ६७, मन्त्र २ ।  | २. सूक्त १०४, मन्त्र ४ ।   |    |
| ३. सूक्त १०५, मन्त्र ४ ।   | ४. सूक्त १०७, मन्त्र ६ ।   |    |
| ५. सूक्त १०७, मन्त्र १० ।  | ६. सूक्त १०७, मन्त्र ११ ।  | २० |
| ७. सूक्त १०७, मन्त्र १२ ।  | ८. सूक्त १०७, मन्त्र १५ ।  |    |
| ९. सूक्त १२६, मन्त्र १ ।   | १०. सूक्त १२६, मन्त्र १३ । |    |
| ११. सूक्त १२६, मन्त्र २१ । हस्तलेखे वैयामुद्रिते च 'य इह स्वप्ननाशन' |                            |    |

इत्यपपाठः ।

- |   |                           |    |
|---|---------------------------|----|
| १२. सूक्त १२७, मन्त्र १४ ।  | १३. सन्दिग्धोऽयं पाठः ।   | २५ |
| १४. सूक्त १३२, मन्त्र १, २ ।  | १५. सन्दिग्धोऽयं पाठः ।   |    |
| १६. सूक्त १३५, मन्त्र ६ ।   | १७. सूक्त १४२, मन्त्र ४ । |    |
| १८. सूक्त १४३, मन्त्र ३ ।   |                           |    |
| १९. सूक्त १४३, मन्त्र ८ । हस्तलेखे वैयामुद्रिते च 'मधुमान्' इत्यपपाठः । |                           |    |



# अथ यजुर्वेदस्य विषय-सूची

## अध्यायः १

मन्त्रः	विषयः	मन्त्रः	विषयः
१	ईश्वरप्रार्थनादि	१२	'विष्णववादि-पदार्थ'-विद्या
५	२ वस्वाद्यनेकनामेश्वरस्य पदार्थ-विद्या	१३	हव्यशोधनाग्न्यादि० <sup>३</sup>
४	धर्मोपदेशप्रार्थनादि-पदार्थ- विद्या	१६	ईश्वरप्रार्थना-धर्मोपदेशादि- विद्या
७	दुष्टनिवारणार्थेश्वर प्रार्थनादि- पदार्थ-विद्या	२०	प्राणाद्यनेक[ना]मेश्वरादि- पदार्थ-विद्या
१०	८ ईश्वरस्योत्तमत्वादि-पदार्थ- विद्या	२५	ओषधीशत्रुवधादि०
		२६	द्वेषत्यागादि०
		३१	तेजोऽसीत्यनेकनामेश्वरादि०

## अध्यायः २

मन्त्रः	विषयः	मन्त्रः	विषयः
१५	४ पदार्थ-विद्यादि०	१०	सत्या नः सन्त्वाशिष आदि०
	६ यज्ञरक्षादि-विष्णु-प्रार्थना	१४	यज्ञप्रतिष्ठादि०
१०	इन्द्रियरक्षणार्थ-इन्द्र-प्रार्थना	१६	वृष्ट्यादि-पदार्थविद्या

१. हस्तलेखे 'विष्णवग्न्यादि' इति पाठः । मन्त्रेऽग्निरनिर्देशादपां च निर्देशा-  
च्छोधितोऽयं पाठः । वैयमुद्रिते 'देवीरापोऽग्न्यादि' इत्यपपाठः ।

२. यत्र यत्र ० विन्दुनिर्देशस्तत्र तत्र 'पदार्थविद्या' पदस्य शेषत्वं ज्ञेयम् ।

३. विशेषः—द्वितीयाध्यायादारभ्याग्रन्थान्तं हस्तलेखे मन्त्रसंख्या न  
निदिश्यते । सर्वोऽपि पाठः संयुक्त एव पठ्यते । मन्त्र-संख्या-निर्देशः पृथग्विषय-  
निर्देशश्च वैयमुद्रिते सम्पादकेन प्रक्तः । अस्माभिरपि सारल्याय स एव क्रम  
आदृतः । वैयमुद्रिते यत्र संख्यानिर्देशोऽशुद्धिरासीत्, सा परिमृष्टा ।



१७ परिधि-रेखागणितादि-विद्या	२७ गृहपत्यादि-विद्या
२० अग्नीश्वरप्रार्थनादि-पदार्थ-विद्या	३१ पित्रादि-पदार्थ-विद्या
२१ वेदोऽसीत्यादीश्वरादि-पदार्थ-विद्या	३४ स्वघा स्थ तर्पय मे पितृ-नित्यादि०

### अध्यायः ३

मन्त्रः	विषयः	मन्त्रः	विषयः
१ अग्न्यतिथ्यादि-पदार्थ-विद्या		२५-३४ अग्नीश्वरस्तुति-प्रार्थनादि-पदार्थ-विद्या	
६ पृथिवीभ्रमणादि-पदार्थ-विद्या		३५-४६ सवित्रीश्वरादि-पदार्थ-विद्या	१०
७-१६ अग्नीश्वर-अग्निहोत्र-यज्ञाद्यनेक-विद्या		५० दानाऽऽदानादि-विद्या	
१७-२३ अग्नीश्वरप्रार्थनादि-पदार्थ-विद्या		६० त्र्यम्बकमित्यादीश्वर-प्रार्थनादि-पदार्थ-विद्या	
२४ पितेव 'सूनवे इत्यादीश्वरा-द्यनेक-पदार्थ-विद्या			

### अध्यायः ४

मन्त्रः	विषयः	मन्त्रः	विषयः
२-६ 'अबीश्वरादि-प्रार्थना-पदार्थ-विद्या		६ शिल्पादि-पदार्थविद्या, मा मा हिंसीरित्यादीश्वरस्य प्रार्थना	१५
७ सरस्वत्यादि-पदार्थ-विद्या		१० यज्ञेश्वरादि-पदार्थविद्या	

१. हस्तलेखे वैयासमुद्रिते च 'सूनवेत्यादी०' इत्यपपाठः ।

२. हस्तलेखे वैयासमुद्रिते च 'सवितृश्वरादि' इत्यपपाठः । २०

३. हस्तलेखे वैयासमुद्रिते च 'आपेश्वरादि' इत्यपपाठः । प्रतीक-निर्देशे 'इमा आप ईश्वरादि' इत्येनं पाठेन भाव्यम् ।



१४ राजप्रजादि-पदार्थविद्या,  
वरुणादि-पदार्थ-  
विद्या

२८ अग्नीश्वरादि-प्रार्थना-पदार्थ-  
विद्या  
३५ मित्रवरुणेश्वरादि-पदार्थविद्या

### अध्यायः ५

५ मन्त्रः विषयः  
१-५ अग्नीश्वरस्तुत्यादि-पदार्थ-  
विद्या  
६ ब्रह्मचर्यादि-व्रत-सिद्धयर्थे-  
श्वर प्रार्थनादि-पदार्थ-  
१० विद्या  
१४ योगादि-विद्या  
१५-२१ विष्णुश्वर-स्तुत्यादि-  
पदार्थविद्या

मन्त्रः विषयः  
२२-२६ राक्षसदुष्टविनाशादि-  
पदार्थविद्या  
२९ आयुर्वृद्ध्यादि-विद्या  
३१-३५ ईश्वरस्यानेकनाम-  
स्तुत्यादि-पदार्थ-विद्या  
३६ अग्नीश्वरस्तुत्यादि०  
४० व्रतदीक्षादि०  
४२-४३ अग्नीश्वर-प्रार्थना,  
वनस्पत्यादि-विद्या

### अध्यायः ६

१५ मन्त्रः विषयः  
१ दुष्टताडनादि०  
३ विष्णुसूर्यादि-पदार्थ-विद्या  
४-५ [विष्णु-] परमेश्वरादि-  
पदार्थ-विद्या

मन्त्रः विषयः  
७ त्वष्टादि०  
९ अग्नीश्वर-स्तुत्यादि०  
११ यज्ञादि-पदार्थ-विद्या  
१७ जलादि-पदार्थ-विद्या

२० १. 'वरुणादि' पाठे ३०तमस्य मन्त्रस्य विषयः स्यात् । 'सवित्रादि'पाठे कल्प्यमाने २५तमस्य, 'मित्रादि'पाठे २७तमस्य ।

२. हस्तलेखे गैयमुद्रिते च 'त्वष्टादि' इत्यपपाठः ।



२० प्रार्थनादि०	२७ देवीरित्यादि-पदार्थविद्या
२१ ईश्वरोपदेशादि०, ईश्वरा- शीर्वादादि-पदार्थ- विद्या	२८ समुद्रादि-विद्या
२२ 'ओषध्यादि-पदार्थविद्या	३० निर्वैरघर्मोपदेश 'उत्तमे- नेत्यादि-विद्या
२५ 'हृद इत्यादि-पदार्थविद्या	३१ मनो मे तर्पयत इत्यादि- ५ पदार्थ-विद्या
२६ द्वेषादि-विद्या, वीरेश्वर- घिषणादि-विद्या	३३ यत्ते [सौम दिवि] ज्योति- रित्यादीस्व[रा] दि०

## अध्यायः ७

मन्त्रः	विषयः	मन्त्रः	विषयः	
१ वाचस्पतय इत्यादि०		२५ ध्रुवं ध्रुवेण इत्यादियोग- विद्यादि-पदार्थ-विद्या		१०
३ [तत्सत्य] मुपरि-धर्मादि- पदार्थ-विद्या		२७ प्राणाय मे इत्यादि-पदार्थ- विद्या		
६ ममेत्यादि-सोमादि-पदार्थ- विद्या		२९ कोऽसीति प्रश्नोत्तरादि- १५ विद्या		
१०-११ एष ते योनिः कार्यकारण- विद्या		३० मासनामेश्वरादि-पदार्थ- विद्या		
१३ प्रजनय[न्] पदार्थ-विद्या		३१ 'कार्यकारणादि-विद्या		
२० पाहि यज्ञं पदार्थ-विद्या		३२ 'येषामिन्द्रो युवा सखेश्वरादि- २० पदार्थ-विद्या		
२१ सोमादि-पदार्थ-विद्या				
२२-२४ यज्ञस्य इत्यादि-पदार्थ- विद्या				

१. इत आरभ्याग्रिमाध्याये २९तमस्य मन्त्रस्य विषयपर्यन्तः पाठः केन-  
चिन्मूढेन लेखकेनात्यन्तमशुद्धो लिखितः । तस्य यथासम्भवमत्र शोधनं कृत्वा  
निर्देशः कृतः ।

२. हस्तलेखे गैयमुद्रिते च 'दृदेत्यादि' इत्यपपाठः । २५

३. प्रतीकनिर्देशोऽप्यस्ति ।

४. अयं पाठो गैयमुद्रिते त्रुटितः, हस्तलेखे वर्तते ।



३६ मरुत्वन्तं वृषभं वावृधानम- कवारि दिव्यं <sup>१७</sup> शासमिन्द्र- मित्यादि०	४३ अग्नीश्वर-प्रार्थनादि-पदार्थ- विद्या ४८ कामेश्वर-विद्या
--	--

### अध्यायः ८

५ मन्त्रः विषयः	मन्त्रः विषयः
१-१२ ईश्वर-प्रार्थनादि-पदार्थ- विद्या, ईश्वर-विद्या	३९ ओजिष्ठोऽहं मनुष्येषु भूया- समित्यादीन्द्रेश्वर-प्रार्थनादि- विद्या
१३ देवकृतस्यैनसोऽवयजनमसी- त्यादि-ईश्वरस्य स्तुति- प्रार्थनादि-पदार्थ-विद्या	४१ उपयामगृहीतोऽसि सूर्येश्वर- प्राण-ग्रहणादि-प्रार्थना-विद्या
१० २३-धर्माद्युपदेशादि-पदार्थ-विद्या २४-२५ यज्ञानेकविध-पदार्थ-विद्या २६-३० निषेकगर्भाधानादि० ३३ इन्द्रेश्वरस्तुत्यादि-पदार्थविद्या	४५-४६ विश्वकर्मेश्वरादि-पदार्थ- विद्या ४९ बृहच्छुक्र इतीश्वरादि-विद्या
१५ ३६ ईश्वरविषया महाब्रह्म-विद्या ३७ इन्द्रश्च सम्राट् वरुणश्च राजा तौ त इत्यादीश्वर-विद्या ३८ वर्चाद्यग्नीश्वर-प्रार्थना	५१ इह र[तिरि]त्यादीश्वरो- पदेशादि० ५२-५३ प्रार्थना ५५ इन्द्रश्चेत्याद्यनेक-पदार्थ- विद्या

### अध्यायः ९

२० मन्त्रः विषयः	मन्त्रः विषयः
१-६ देव सवित इत्यादि-धर्मे- श्वरादि-विद्या ७-२० वेगादि-विद्या	२१-२७ आयुर्यज्ञेन कल्पतामि- त्यादि-ईश्वरप्रार्थनोपदेशादि० २८ अग्निस्तुत्यादि-पदार्थविद्या

१. आदि पदेन वाज-सव-वाजि (=दधिक्रावा)-अप्यादयः संग्राह्याः ।  
२५ २. आदिपदेन पूष-मित्र-वसु-रुद्र-आदित्यानां स्तुतिरत्र संग्राह्या ।



३५-३६ अग्निनेत्रेभ्य इत्यादि०'  
[३७ दुष्टरात्तरणम्]

३८ राजधर्म-विद्या  
३९-४० राजाभिषेकः]

### अध्यायः १०

मन्त्रः विषयः

- [१ अपो देवा इत्यभिषेक-  
विद्या]  
२-५ वृष्णऽ ऊर्मिरसि राष्ट्रदा  
राष्ट्रं मे देहि इत्यादि-  
प्रार्थना  
६-७ वाचो बन्धुरीश्वरादि-  
पदार्थ-विद्या  
८-१८ क्षत्रस्योल्बमसि इत्यादि-  
राजप्रजादि-विद्या  
१९-२१ विष्णोर्विक्रमणमसि  
विष्णोर्विक्रान्तमसि इत्यादि  
धारणादि-पदार्थ-विद्या  
२२-२३ तिष्ठा रथमित्यादि-  
शिल्प-विद्या  
२४-२५ हृक्षः शुचिषद् इत्यादि-  
व्यापकेश्वर-पदार्थ-विद्या

मन्त्रः विषयः

- २६-२७ क्षत्रस्य योनिरसीत्यादि- ५  
पदार्थ-विद्या  
२८-२९ ब्रह्मास्त्वं ब्रह्मासि  
सवितासि सत्यप्रसवो  
वरुणोऽसि सत्यौजा  
इन्द्रोऽसि विशौजा रुद्रोऽसि १०  
सुशेव इत्यादि-ईश्वरस्यानेक-  
नामानि  
३०-३४ सवित्रा प्रसवित्रा  
सरस्वत्या वाचा त्वष्ट्रा रूपैः  
पूष्णा पशुभिरिन्द्रेणास्मे १५  
बृहस्पतिना ब्रह्मणा वरुणे-  
नौजसाऽग्निना तेजसा सोमेन  
राज्ञा विष्णुना दशम्या देव-  
तया प्रसूतः प्रसर्पामीत्यादि-  
पदार्थविद्या २०

### अध्यायः ११

मन्त्रः विषयः

- १-३ युञ्जान इत्यादि-पदार्थ-  
विद्या

मन्त्रः विषयः

- ४-५ युञ्जते मनऽ उत युञ्जते  
धियो इत्यादि-योग-विद्या

१. विन्दुनिर्देशेन 'पदार्थ-विद्या' इति शेषः ।

२५

२. गेयमुद्रिते 'क्षत्रस्य.....पदार्थविद्या' पाठो नष्टः, हस्तलेखे वर्तते ।



- ६-६ यः पार्थिवानि विममे स  
एतशो रजा<sup>७</sup>सि देवः सविता  
महित्वना इत्यादि-परमाण्वा-  
दिभिर् ईश्वरस्य सृष्टिः  
५ १०-१३ अभिरसि नार्यसि त्वया  
वयमग्निमित्यादि०, ईश्वर-  
पृथिव्याद्यलंकारादि-पदार्थ-  
विद्या  
१४ योगेयोगे तत्रस्तरं वाजेवाजे  
१० हवामहे इत्यादि-सर्वकर्मस्वी-  
श्वरप्रार्थना सर्वैः कार्येत्यादि०  
[१६-३५] 'अग्नीश्वरादि०  
३६-४४ वसिष्ठः सहस्रम्भरः  
शुचिजिह्वो ऽअग्निरि-  
१५ त्यादि०'  
४५-५२ शिवो भव प्रजाभ्यो  
मानुषीभ्यस्त्वमङ्गिर इत्याद्य-

- ग्नीश्वर-प्रार्थनादि-पदाथ -  
विद्या  
५३-५७ मित्रः स५ सृज्य पृथिवीं  
भूमिं च ज्योतिषा सहेत्यादि-  
पदार्थ-विद्या  
५८-५९ ईश्वरपृथिव्यादि-धारण-  
विद्या  
६०-६५ रोगनिवारणार्थ<sup>१</sup>-धूपादि-  
विद्या  
६६-७५ आकूतिमग्निं प्रयुज<sup>२</sup>  
स्वाहेत्यादि०'  
[७६-८० अग्नि-सेनापत्यादिद्वारा  
स्तेनादीनां नाशः  
८२ ब्रह्माक्षत्रयोर्बलवीर्यवृद्धिः,  
शत्रूणां नाशः  
८३ अन्नादि-प्राप्त्यर्थमीश्वर-  
प्रार्थना]

### अध्यायः १२

- मन्त्रः विषयः  
२० १-३ दृशानो रुक्मेत्यादि०,  
[द्यौ-सवितृ-विद्या]  
४ सुपर्णोऽसि गरुमांस्त्रिवृत्ते  
शिरो इत्यादीश्वरस्य शरीरा-  
लंकार-विद्या

- मन्त्रः विषयः  
[५-७ विष्णवग्नि-पदार्थविद्या]  
८-१५ अग्नेऽअङ्गिरः इत्यादि-  
पदार्थ-विद्या<sup>३</sup>  
१६-३३ अन्तरग्ने इत्याद्यग्नी-  
श्वर-प्रार्थनादि-पदार्थ-विद्या

- २५ १. 'अग्नीश्वरादि०' इति पूर्वेण सम्बद्धः पाठो गैयमुद्रिते उत्तरेण 'वसिष्ठः'  
इत्यादिना संयोजितः । अग्नेर्गर्जनं १६-३५ पर्यन्तं मन्त्रेषु श्रूयते ।

२. 'पदार्थ-विद्या' इति शेषः ।

३. गैयमुद्रिते 'रोगनिवारणादि' इत्यपपाठः ।

४. अग्नि (= राजा) -वरुण-भान्वादीनां पदार्थानां विद्या ।



३४-३६ प्र प्रायमग्निर्भरतस्य  
 शृण्वे इत्यादि-पदार्थ-विद्या  
 ३७-४४ गर्भो ऽअस्योषधीनामि-  
 त्याद्यग्नीश्वर-स्तुत्यादि-  
 पदार्थ-विद्या  
 ४५-५४ येऽत्र स्थ पुराणा ये च  
 नूतना इत्यादि पदार्थ-विद्या  
 ५५-५८ ताऽ अस्य सूददोहसः  
 सोममित्यादि०<sup>१</sup>  
 ५९-६० अग्ने त्वं पुरीष्यो रयि-  
 मान् पुष्टिमां२ ऽअसीत्यादी-  
 श्वरस्तुतिप्रार्थनादि-पदार्थ-  
 विद्या  
 ६१-६६ प्रजापतिर्विश्वकर्मा वि  
 मुञ्चत्वित्यादि०<sup>१</sup>  
 ६७-७० सीरा युञ्जन्ति कवय  
 इत्यादि-पदार्थ-विद्या  
 ७१-७४ लाङ्गलमित्यादि-पदार्थ-  
 विद्या  
 ७५-७९ याऽ ओषधीरित्यादि-  
 रोगनाशार्थ-पदार्थ-विद्या  
 ८०-८६ यत्रौषधीः समगमत  
 राजानः समिताविव ।

विप्रः स उच्यते भिषग्र-  
 क्षोहामीवचातन इत्यादि-  
 भिषगादि-पदार्थ-विद्या  
 ९७-१०१ नाशयित्री बलासस्या-  
 शंस ऽ उपचितामसीत्यादि- ५  
 रोगनाशार्थ-ओषध्यादि-  
 पदार्थ-विद्या  
 १०२-१०५ मा मा हिंसीज्ज-  
 निता यः पृथिव्या यो वा  
 दिवः सत्यधर्मा व्यानडि- १०  
 त्यादीश्वर-प्रार्थनादि-  
 पदार्थ-विद्या  
 १०६-११३ दधासि द्वाशुषे-  
 कवे इत्यादीश्वर-स्तुत्यादि-  
 पदार्थ-विद्या १५  
 ११४-११६ भवा नः सप्रथस्तमः  
 सखा वृधे इत्यादि-सख्यादि-  
 पदार्थ-विद्या  
 ११७ अग्निः प्रियेषु धामसु  
 कामो भूतस्य भव्यस्य २०  
 सम्राडेको विराजतीति  
 ईश्वरस्तुत्यादि-पदार्थ-  
 विद्या

## अध्यायः १३

मन्त्रः विषयः  
 [१-२ पदार्थ-विद्या]  
 ३-४ ब्रह्माहिरण्यगर्भेश्वर-

मन्त्रः विषयः २५  
 स्तुतिप्रार्थनादि-पदार्थ-  
 विद्या

१. 'पदार्थ-विद्या' इति शेषः ।



६-८ सर्पादि-पदार्थविद्या	श्वा[स] इत्यादि-शिल्प-विद्या
६-१२ अग्न्यादि० <sup>१</sup>	४०-४१ अग्निज्योतिषा ज्योति-
१३-१५ ऊर्ध्वो भव अग्न्यादि०	षमानित्यादि-अग्नीश्वरादि०
१६-१७ ध्रुवादि० <sup>२</sup>	४२-५० 'अग्ने मा हिंसीः परमे
५ १८ भूरसीत्यादीश्वरादि० <sup>३</sup>	व्योमन्नित्यादि०
२४ विराड्[ज्यो]तिरधारय-	५१-५२ अजो ह्यग्नेरजनिष्ट
दित्यादि०	शोकादित्यादि०
[२५ मधुमाधव-पदार्थ-विद्या]	५३ अपां त्वा...सदने सादयामी-
२६ सहस्वारातीरित्यादि०	त्यादि०
१० [२७-२९ मधुमत्व-प्रार्थना]	५४-५६ अयं 'पुरो भुवस्तस्ये-
३०-३१ वृष्ट्यादि०	त्यादि०
३२-३५ महीत्यादीश्वरादि०	५७-५८ इदमुत्तरात् स्वस्तस्ये-
३६-३९ अग्ने युक्त्वा हि ये तवा-	त्यादीन्द्राद्यनन्तादि०

## अध्यायः १४

१५ मन्त्रः	विषयः	मन्त्रः	विषयः
१-४ ध्रुवक्षितिरित्यादि०		७ सजूरित्यादि०	
५ विष्टम्भनादि०		८ प्राणं मे पाहीत्यादि०	
६ आप ओषधयः कल्पन्ताम्		९-११ विशालं छन्द इत्यादि	
इत्यादि०		पदार्थविद्या	

- २० १. यत्र यत्राप्रे ०विन्दुनिर्देशस्तत्र सर्वत्र 'पदार्थविद्या' इति शेषो ज्ञेयः ।  
 २. आदिपदेन प्राणादि-दूर्वा-अग्नि-बृहस्पतीनां ग्रहणं ज्ञेयम् ।  
 ३. इतः पूर्वं हस्तलेखे 'येनाग्निनेत्यादि०' इति पाठ उपलभ्यते । नहीह निर्दिष्टः प्रतीकमन्त्रोऽस्मिन् अध्याये क्वचिदुपलभ्यते ।  
 ४. हस्तलेखे 'पुरोभुवस्तस्याग्नेरित्यादि' इत्यपपाठः ।
- २५ ५. गैयमुद्रिते '१० विराट् छन्द' इति परिवर्तितोऽपपाठः । अस्मत्पाठो हस्तलेखानुसारी वर्तते ।



१२ विश्वकर्मा त्वेत्यादि०  
 १३-१४ राज्ञ्यसि प्राची दिगि-  
 त्यादि०  
 १५-१६ नभश्च नभस्यश्च  
 वार्षिकावृतृ इत्यादि ऋतु-  
 विद्यादि०  
 [१७ आयुर्म इत्यादि-प्रार्थनादि०]

१८-१९ माच्छन्दः प्रमाच्छन्दः  
 प्रतिमाच्छन्द इत्यादि०  
 २०-२३ अग्निर्देवतेत्यादि०  
 २४-२५ घातुराधिपत्यमित्यादि०  
 २६ त्रयस्त्रिंशस्तोम इत्यादि० ५  
 २७-३१ ऋतुव्याख्याने<sup>१</sup> सर्व-  
 सृष्टिप्रकरणेत्यादि<sup>२</sup>०

### अध्यायः १५

मन्त्रः विषयः

मन्त्रः विषयः

१-३ अग्ने जातान् प्रणुदा न  
 इत्यादि०  
 ४-५ एवच्छन्दो वरिवच्छन्द  
 इत्यादि०  
 ६-९ रश्मिना सत्याय सत्यं  
 जिन्वेत्यादि-<sup>१</sup>धर्मोपदेशादि०  
 १० राज्ञ्यसि प्राची दिग्वसवस्ते  
 देवा इत्यादि०  
 ११-२७ अन्तरिक्ष इत्यादि०  
 २८-३७<sup>२</sup> त्वामग्नेऽ अङ्गिरसो

गुहा हितमित्याद्यग्नीश्वर- १०  
 स्तुत्यादि-पदार्थ-विद्या  
 ३८-४८ भद्रो नोऽअग्निराहुतो  
 भद्रा रातिः सुभग भद्रोऽ-  
 अध्वरः । भद्रा ऽ उत  
 प्रशस्तय इत्यादीश्वर- १५  
 प्रार्थनादि०  
 ४९ येन ऋषयस्तपसा सत्रमाय-  
 न्नित्यादि-धर्मोपदेशादि-  
 विद्या

१. गैयमुद्रिते 'ऋतु-व्याख्यादि' इत्यपपाठः ।

२०

२. हस्तलेख इतोऽग्रे उत्तराध्यायस्य २८तममन्त्रादारभ्य ५१-५३ मन्त्रान्तो  
 विषय इहान्तोऽस्थाने निर्दिष्ट उपलभ्यते ।

३. गैयमुद्रिते 'धर्मोपदेशादि०' इति पाठः प्रमादाल्लटः, हस्तलेखे वर्तते ।

४. '२८-३७ त्वामग्ने' इत्यारभ्य 'गृहस्थाश्रमोपदेशादि-पदार्थविद्या'  
 इत्यन्तः पाठो हस्तलेखे पूर्वाध्यायान्तोऽस्थाने दृश्यते ।

२५



५०-५३ तं पत्नीभिरनु गच्छेम देवाः पुत्रैर्भर्तृभिरुत वा हिरण्यैरित्यादि-गृहस्था- श्रमोपदेशादि-पदार्थ- विद्या	५४-५६ उद् बुध्यस्वाग्ने इत्यादि- यज्ञादि-पदार्थ-विद्या ५७ शिशिरान्त-षडुतु-विद्या ६५ सहस्रस्य प्रमासी [त्या] द्यग्नी- श्वर-स्तुत्यादि०
---	---

## अध्यायः १६

मन्त्रः विषयः १-१२ नमस्ते रुद्र मन्यवे इत्यादि- रुद्रेश्वरस्तुत्यादि-विद्या १० १३-१६ अवतत्य धनुष्ट्वञ् सहस्राक्ष शतेषुधे इत्यादि- धनुर्वेदादि-विद्या १७-२३ नमो हिरण्यबाहवे इत्या- दीश्वरस्तुतिप्रार्थनादि-विद्या	मन्त्रः विषयः २४-४८ नमः सभाभ्यः सभा- पतिभ्यश्च वो नम इत्यादि- सभासभा [प] ति- [आदि-] विद्या ४९-५६ या ते रुद्र शिवा तनूरित्यादीश्वरस्तुत्यादि- विद्या
---	--

१५

## अध्यायः १७

मन्त्रः विषयः १ अश्मन्नूर्जमित्यादि-पदार्थ- विद्या २-१४ गणितादि-विद्या २० १५-१६ प्राणदाऽपानदेत्यादी- श्वरस्तुति-प्रार्थनादि-पदार्थ- विद्या १७-२५ यऽ इमा विश्वा भुवनानी- त्यादीश्वरस्तुत्यादि-विद्या	मन्त्रः विषयः २६-३२ विश्वकर्मा विमना आद्विहाया घाता विधाते- त्यादि विश्वकर्मेश्वर-विद्या [ ३३-४८ युद्ध-युद्धोपकरण- विद्या ४९-५८ अग्न्यादि-पदार्थ-विद्या ] ५९ विमानऽ एष दिवो मध्यऽ- आस्त इत्यादि-विमान-विद्या
---	--

२५ १. त्रैयमुद्रिते 'अपानदाव्यानदे०' इति पाठः, हस्तलेखे 'व्यानदा' पदं नास्ति ।



[ ६०-८१ अग्नि-इन्द्र-नक्तोषासा- सवित्रादि-पदार्थ- विद्या ]	८२ ऋतश्चेत्यादीश्वर-धर्मो- पदेशादि-विद्या [ ८३-९९ अनेका विद्याः ]
--	---

## अध्यायः १८

मन्त्रः	विषयः	मन्त्रः	विषयः	
१ वाजश्च मे इतीश्वरार्थं सर्व- वस्तूनां समर्पणमित्यादि- पदार्थ-विद्या		३४ वाजान्नादि-गुण-विद्या		
२९ आयुर्गन्नेन कल्पतामित्यादी- श्वरप्रार्थना		३७ यन्त्रेणाग्नेरित्यादि-यन्त्र- रचना-साम्राज्याभिषेकादि- विद्या		
		४८ रुचन्नो धेहीत्यादि-प्रार्थनादि- पदार्थ-विद्या	१०	

## अध्यायः १९

मन्त्रः	विषयः	मन्त्रः	विषयः	
१ स्वाद्वीन्त्वेति सोमगुण-लक्षण- सम्पादनादि-पदार्थ-विद्या		३९ पुनन्तु मा देवजना इत्यादी- श्वरप्रार्थनादि० <sup>२</sup>		१५
९ तेजोऽसि तेजो मयि धेहीत्यादि- स्तुति-प्रार्थनादि-पदार्थ- विद्या		४८ आत्मसनि[मि]त्याद्यग्नी- श्वर-प्रार्थनादि०		
३३ यस्ते रसः सम्भृत ऽओषधीषु सोमस्य शुष्मः सुरया सुतस्येत्यादि-सोम- संपादनादि-पदार्थ-विद्या		४९ उदीरतेत्यादि-पितृ-विद्या		
		७४ ऋतेन सत्यमिन्द्रियमित्यादि- सोमपानादि-विद्या		२०
		७६ रेतो मूत्रं विजहाति योनिं		

१. नैयमुद्रिते 'साम्राज्याभिषेकादि'पाठो नष्टः, हस्तलेखे दृश्यते ।  
साम्राज्येनाभिषिञ्चामि' इति मन्त्रे श्रूयते ।

२. इतोऽग्रे प्रतीकमन्त्रसंख्या प्रघावविषयकमन्त्रसंख्या वा निर्देक्ष्यते ।



प्रविशदिन्द्रियम् इत्यादि- गर्भाधानादि-विद्या	८५ इन्द्रः सुत्रामा हृदयेन सत्य- मित्यादि-शरीरोत्पत्त्यादि- वैद्यक-शास्त्रोपदेशादि- शारीरक-विद्या
७७ अश्वद्वामनृतेऽदधाच्छ्रद्धा ७ सत्ये प्रजापतिरित्यादि०	६३ इन्द्रस्य रूपं शतमानमायु- रित्यादि-पदार्थ-विद्या
५ ८० सीसेन तन्त्रं मनसा मनीषिण इत्यादि-शिल्प-विद्या	

### अध्यायः २०

मन्त्रः	विषयः	मन्त्रः	विषयः
१० १ क्षत्रस्य योनिरसि क्षत्रस्य नाभिरसीत्यादि-सम्प्राड्-विद्यो- पदेशादि-विद्या		१६ सुमित्रिया न [ऽआप ऽ] ओष[ध]यः इत्यादि [भैषज्य-] पदार्थ-विद्या	
३ अन्नाद्यायाभि षिञ्चामी- त्यादि-राज्याभिषेकादि-विद्या		२३ वैश्वानरज्योतिर्भूयासमि- त्यादि०	
४ कोसि कतमोसि कस्मै त्वा काय त्वा । सुश्लोक सुमङ्गल सत्यराजन् <sup>१</sup> ।		२४ व्रतं च श्रद्धां चोपैमीत्यादि०	
१५ ५ शिरो मे श्रीरित्यादि-प्रार्थना, राजा मे प्राणो ऽ अमृत- सम्प्राडित्यादि-प्रार्थना		३६ त्रिभिर्देवै [स्त्रिंशता वज्र- बाहु]र्जघान वृत्रमित्यादि- मेघ-विद्या	
२० १२ [प्रथमा द्वितीयैर्द्वितीयास्तृती- यैस्] तृतीयाः सत्येन सत्यं यज्ञेनेत्यादि घर्मोपदेशः		(?) *इन्द्रेत्यादि-पदार्थ-विद्या	
		५० त्रातारमिन्द्रमवितारमिन्द्र- मित्यादि-स्तुति-प्रार्थना०	
		५५ सरस्वतीत्यादि०	
		८५ चेतन्ती सुमतीनामित्यादि०	

१. गैयमुद्रिते 'शारीरिक' इति अष्टः पाठः ।

२. उत्तरेण सम्बन्धादिहापि 'प्रार्थना' विषयो ज्ञेयः ।

१५ ३. हस्तलेखे 'वैश्वानरो भूयासम्' इत्यपपाठः ।

४. प्रतीकनिर्देशोऽपसन्धिनिर्देशात् ज्ञायते यदत्र ३६-५० चतुर्दशमन्त्रेषु  
कतमस्य प्रतीकनिर्देशः । एषु इन्द्रः इन्द्रस्य पदानि श्रूयन्ते ।



### अध्यायः २१

मन्त्रः	विषयः	मन्त्रः	विषयः
१ इमं मे वरुण श्रुधी हव- मित्यादि <sup>१</sup> ०		३९ राजानं व्याघ्रमित्यादि०	
६ अदितिः सुप्रणीति- मित्यादि०		४० भेषजं पय इत्यादि०	
११ वाजेवाजे इत्यादि०		४४ पुरा द्वेषोभ्य इत्यादि०	५
२२ यज्ञं वरुण इत्यादि०		४६ प्रिया धामानि यत्रेत्यादि०	
२३ वसन्तेन ऽ ऋतुनेत्य [१] दि० <sup>२</sup>		५८ देवो ऽ अग्निः स्विष्टकृदिती- श्वरादि-पदार्थ-विद्या	
३० पथा मधुमता..... होतर्यजेत्यादि०		५९ अग्निमद्य होतारमवृणीतायं यजमान इत्यादि०	१०
३४ दुहे धेनुः <sup>३</sup> सरस्वतीत्यादि०		६१ त्वामद्य ऽ ऋष ऽ आर्षेय इत्यादि०	
३८ भिषग् यशः सुरया [इत्यादि०]			

### अध्यायः २२

मन्त्रः	विषयः	मन्त्रः	विषयः
१ तेजोऽसि-शुक्रममृतमायुष्पा ऽ आयुर्मे पाहीत्यादीश्वरस्तुति- प्रार्थनादि०		२० काय स्वाहा कस्मै स्वाहे- १५ त्यादि०	
६ अग्नये स्वाहेत्यादि०		२२ आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्च- सीत्यादि०	
९ तत्सवितुरित्यादीश्वर-स्तुति- प्रार्थनोपासनादि-विद्या		२३ प्राणाय स्वाहेत्यादि०	
१९ विभूर्मात्रा प्रभूः पित्राश्वो- सीत्यादि०, ययुर्नामासि शिशुर्नामासीत्यादि०		३३ आयुर्यज्ञेन कल्पता <sup>७</sup> २० स्वाहेत्यादीश्वरप्रार्थनादि- विद्या	

१. स्तुति प्रार्थना-पदार्थविद्या ।

२. ऋतुविद्या ।

३. हस्तलेखे 'धेनु' इत्यपपाठः । 'सरस्वतीमित्यादि' इति वैयामुद्रिते-

अपपाठः ।

२५



## अध्यायः २३

मन्त्रः	विषयः	मन्त्रः	विषयः
१	हिरण्यगर्भः समवर्तताग्र इत्यादि०		त्यादि० जारनिषेधादि०
४	यस्ते रात्रौ संवत्सरे महिमा सम्बभूवेत्यादि०	३६	देवानां पत्न्यो दिश इत्यादि०
५	वसवस्त्वाञ्जन्त्वित्यादि- अञ्जनादि-विद्या	४०	ऋतवस्त ऽ ऋतुथा पर्व शमितार इत्यादि०
६	कः स्वदेकाकी चरतीत्यादि- प्रश्नोत्तरविद्या	४४	शमित्यादि०
१०	१७ अग्निः पशुरासीत्तेनाय- जन्तेत्यादि०, वायुः पशुरासी- त्तेनायजन्तेत्यादि०, सूर्यः पशुरासीत्तेनायजन्तेत्यादि०	४७	किं॥स्वित् [सूर्य]समं ज्योतिरित्यादि०
१५	२२ यकासकौ शकुन्तिका [इत्यादि] विङ् वै शकुन्तिका विङ् वै गभो राष्ट्रं पसः राष्ट्रप्रजादि- विद्या	४९	येषु विष्णुस्त्रिषु पदेष्वेष्ट इत्यादि कार्य-कारण-विद्या
२४-३१	माता च ते पिता च त इत्यादि०, राष्ट्रं मुष्टिरि-	५१	केष्वन्तः पुरुष ऽ आ विवे- शेत्यादि-प्रश्नविद्या
		५२	पञ्चस्वन्तः पुरुष ऽ आविवे- शेत्याद्युत्तरविद्या
		५३	का स्वदासीत् पूर्वचित्ति- रित्यादि-प्रश्नोत्तरादि-पदार्थ- विद्या
		५८	अशीतिर्होमा इत्यादि-पदार्थ- विद्या

२० १. विङ् वै० इत्यादिपाठोऽस्य मन्त्रस्य व्याख्याने शतपथे (१३।२।१।६)  
वर्तते ।

२. 'राष्ट्रं मुष्टिः' पाठोऽप्यस्य मन्त्रस्य व्याख्याने शतपथे (१३।२।१।७)  
द्रष्टव्यः ।

३. वयमुद्विष्टे 'विवेशेत्यादीश्वराद्युत्तरविद्या' इत्यपपाठः । आत्मत्पाठो हस्त-  
२५ लेखानुसारी वर्तते ।

४. वयमुद्विष्टेऽयं पाठो नष्टः, हस्तलेखे दृश्यते ।



## अध्यायः २४

मन्त्रः	विषयः	मन्त्रः	विषयः
१	अश्वस्तूपर इत्यादि०		पदार्थविद्या
५	शिल्पा वैश्वदेव्य इत्यादि-		६-४० यज्ञसामग्रो-विद्या

## अध्यायः २५

५

मन्त्रः	विषयः	मन्त्रः	विषयः
१	शादं दन्तिरवकां 'दन्तमूलै- रित्यादि-पदार्थविद्या		सनादि-विद्या
११	यः प्राणतो निमिषतो महि- त्वैक इत्यादीश्वरविद्या	१९	स्वस्ति न ऽइन्द्रो वृद्धश्रवा इत्यादीश्वर-प्रार्थनादि- विद्या १०
१४	आ नो भद्रा इत्यादि०	२६	एष छाग इत्यादि०
१५	देवानां भद्रा सुमतिर्ऋजूयता- मित्यादीश्वर-प्रार्थना	२७	देवयानमित्यादि०
१६	तान् पूर्वया निविदा हूमहे वयमित्यादीश्वर-स्तुत्युपा-	३५	भिक्षामुपासते इत्यादि०
		४३	प्रिय ऽ आत्मा [इत्यादि-] पदार्थविद्या १५

## अध्यायः २६

मन्त्रः	विषयः	मन्त्रः	विषयः
१	अग्निश्च पृथिवी चेत्यादि०	१०	महाँ २५ इन्द्रो वज्रहस्त इत्यादि-दुष्टनाशार्थ-प्रार्थनादि- विद्या २०
२	यथेमां वाचं कल्याणी- मित्यादि-वेदपठनार्थमधिकारः सर्वेषां मनुष्याणाम्	१४	ऋतवस्ते यज्ञं वि तन्वन्तु मासा रक्षन्तु ते हविरित्यादि- स्तुतिप्रार्थनादि०
६	अग्निर्ऋषिः पवमानः पाञ्चजन्यः पुरोहित इत्यादि०		

१. वैयमुद्रिते हस्तलेखे च 'दन्तमूलादि' इत्यपपाठः ।

२. नैयमुद्रिते 'पुरोहितम्' इत्यपपाठः ।

२५



## अध्यायः २७

मन्त्रः	विषयः	मन्त्रः	विषयः
१ समास्त्वाग्न इत्यादि०		आसीदित्यादि०	
८ 'वर्धयैनं [महते] सौभाग्याये-		३२ वायो ये ते सहस्रिणो रथा-	
१५ त्यादि-पदार्थ-विद्या		सस्तेभिरा गहीत्यादि०	
२६ यो देवेष्वधि देव ऽ एक ऽ		४५ उषसस्ते कल्पन्तामित्यादि०	

## अध्यायः २८

मन्त्रः	विषयः	मन्त्रः	विषयः
१ होता यक्षत्समिधेन्द्रमित्यादि०		२-४६ होतर्यजेत्यादि०	

१०

## अध्यायः २९

मन्त्रः	विषयः	मन्त्रः	विषयः
१ समिद्धोऽग्रञ्जन्नित्यादि०		९ त्वष्टेदं विश्वं भुवनं जजाने-	
३ ईड्यश्चासि वन्द्यश्च		त्यादीश्वरादि-विद्या	
वाजिन्नाशुश्चासि मेध्यश्च		३९ धन्वना गा धन्वनाजि जये-	
१५ 'सप्त इत्याद्यग्नीश्वर-		मेत्यादि०	
स्तुत्यादि०		४७ ब्राह्मणासः पितर' इत्यादि-	
६ सुहिरण्ये सुशिल्पे ऽ ऋतस्य		पदार्थविद्या	
योनाविह सादयामीत्यादि०		५८ आग्नेयः कृष्णग्रीव इत्यादि०	

१. वैयामुद्रिते सम्पादकेन मूलपाठं परिवर्त्य '२ बोधयैनं.....सौभाग्याये-  
२० त्यादि' पाठो मुद्रितः । हस्तलेखस्य पाठोऽष्टमे मन्त्रे तेन कथं नोपलब्ध इति न  
विदुः ।

२. वैयामुद्रिते 'सप्तेत्यग्नीश्वर०' इत्यपपाठः ।

३. इत उत्तरं हस्तलेखे 'इतर' पदमधिकं दृश्यते । मन्त्रे नास्ति ।



## अध्यायः ३०

मन्त्रः	विषयः	मन्त्रः	विषयः
१ देव सवित इत्यादि-पदार्थ- विद्या		'राजन्यमित्याद्यामुवोत्पादये- तीश्वरप्रार्थना	
[२-४ ईश्वर-प्रार्थनादि-विद्या]		६ धर्माय 'सभाचरमित्यादि०	१
५ ब्रह्मणे ब्राह्मणं क्षत्राय		११ 'आध्यक्षायानुक्षत्तार- मित्यादि०	

## अध्यायः ३१

मन्त्रः	विषयः
१-२२ सहस्रशीर्षेत्यादीश्वर-स्तुति-जगदुत्पत्त्यादि-पदार्थ-विद्या	१०

## अध्यायः ३२

मन्त्रः	विषयः	मन्त्रः	विषयः
१ तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद् वायुरित्यादि-परमेश्वरस्या- नेकनामानि		३ न तस्य प्रतिमाऽस्तीत्यादी- श्वरे प्रतिमानिषेधः, ब्रह्म- विद्या-विधानादि-पदार्थविद्या	१५

१. हस्तलेखे 'राजन्यमित्याद्यामुवोत्पादयती०' इत्यपपाठः । वैयमुद्रिते मूलपाठं परिवर्त्य 'राजन्यमित्यादि-विद्या' इत्येवं पाठो मुद्रितः ।

२. वैयमुद्रिते 'सभाचरन्ति०' इत्यपपाठः ।

३. वैयमुद्रिते 'धर्माध्यक्षाय' इत्यपपाठः ।



## अध्यायः ३३

मन्त्रः विषयः

१ अस्याजरास इत्यादि-पदार्थ-  
विद्या

५ २ अग्न्यादि-पदार्थ-विद्या

२० सुवाति सविता धिय'  
इत्यादि०३६ बष्मह्वरऽ असि सूर्य  
बडादित्य मह्वरऽ असीत्यादि-

मन्त्रः विषयः

सूर्येश्वर-स्तुत्यादि-विद्या

४३ आ कृष्णेनेत्यादि०

५२ विश्वेऽ अद्येत्याद्यग्नि-  
पदार्थ-विद्या८३ सत्यः सो ऽ अस्य महिमे-  
त्यादि०

१०

## अध्यायः ३४

मन्त्रः विषयः

१ यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैव-  
मित्यादि०

८ आयूँषि तारिष[ इत्यादि ]०

१५ १३ अग्ने तवेत्यादि०

१८ इच्छन्ति त्वा [सोम्यासः]  
सखाय इत्यादि०२१ सादन्यं विदध्यः सभेय-  
मित्यादि०२५ हिरण्यपाणिरित्यादि-प्रार्थने-  
श्वरस्येत्यादि०

३१ आ कृष्णेनेत्यादि०

मन्त्रः विषयः

३४-३८ प्रातरग्निमित्यादि .....  
हवामहे०, भग एव भगवाँ२९ अस्तु देवास्तेन वयं  
भगवन्तः स्यामेत्यादि०४३-४४ त्रीणि पदा०, विष्णोर्य-  
त्परमं पदमित्यादि०४६ पूर्वेषां पन्थामनुदृश्य धीरा  
इत्यादि०५७ यस्मिन् [इन्द्रो वरुणो मित्रो  
ऽ अर्यमा] देवा ऽ ओकाँसि  
चक्रिरे इत्यादि०

१. संहितायां 'भगः' इति पाठः ।



## अध्यायः ३५

मन्त्रः विषयः

- १ अपेतो यन्त्वित्यादि०  
 ५ सविता ते शरीराणि मातुरु-  
 पस्थ ऽ आ [व] पतु [इत्याद्य]  
 नेक-जन्मविद्या

मन्त्रः विषयः

- १३ अनङ्वाहमग्निरित्यादि०  
 १६ यमराज्यमित्याद्यन्त्येष्टि-  
 विद्या

५.

## अध्यायः ३६

मन्त्रः विषयः

- १ ऋचं वाचं प्र पद्ये मन इत्यादि०  
 ६ शन्न इत्यादि०  
 १४ आपो हि ष्ठा मयोभुव

मन्त्रः विषयः

- इत्यादि०  
 १८ मित्रस्य चक्षुषेत्यादि०  
 २४ तच्चक्षुरित्यादि०

१०

## अध्यायः ३७

मन्त्रः विषयः

- १ देवस्य त्वा सवितुः [इत्यादि]०  
 २ युञ्जते मन ऽ उतेत्यादि-योग-  
 विद्या  
 ८ मखस्य शिरोऽसि इत्यादीश्वर-  
 यज्ञ-विद्या

मन्त्रः विषयः

- ११ अचिरसि इत्यादि०  
 १३ मधु मधु मधु इत्यादि०  
 १७ भुवनेष्वन्तः इत्यादि०  
 १८ विश्वासां भुवां पते इत्यादि०  
 २० पिता नोऽसीत्यादि०

१५

## अध्यायः ३८

मन्त्रः विषयः

- १ देवस्य त्वा सवितुः  
 [इत्यादि]०

मन्त्रः विषयः

- २ इड ऽ एहीत्यादि०  
 ६ गायत्रं छन्दोऽसीत्यादि०

२०

१. संहितायाम् 'अनङ्वाहमन्वारभामहे' पाठो वर्तते ।



७ समुद्राय त्वा वाताय स्वाहे- त्यादि	नृम्णानि [धारय] ब्रह्म धारय क्षत्रं धारयेत्यादि०
१४ इषे पित्व[स्व] इत्यादि, बर्मासि सुधमामेन्यस्मे	२१ वर्धस्वेत्यादि-पदार्थ-विद्या २५ एधोऽसीत्यादि-पदार्थ-विद्या

५

## अध्यायः ३६

मन्त्रः विषयः

मन्त्रः विषयः

१ प्राणाय स्वाहा'साधिपतिकेभ्य  
इत्याद्यन्त्येष्टि-विद्या६ सविता प्रथमेऽहन् इत्यादि०  
१० लोमभ्यः स्वाहा इत्यादि०

## अध्यायः ४०

१० मन्त्रः

विषयः

१-१७ ईशावास्यम् इत्यादि-ब्रह्मविद्या

इति यजुर्वेदस्य विषय-सूची समाप्ता ॥

समाप्ता चतुर्वेद-विषय-सूची

१. संहितायां 'स्वाहा प्राणेभ्यः' इति पाठः ।



---

---

# परिशिष्ट

---

---







# प्रथम परिशिष्ट

## परिवर्धन-परिवर्तन-संशोधन

सम्पादकीय में—

पृष्ठ ५, पं० ६ के अन्त में टिप्पणी २ इस प्रकार देवें—  
 '२. पं० लेखराम जी ने ऋषि दयानन्द के आत्मचरित की दो हस्त-  
 लिखित प्रतियों का उल्लेख किया है। यह आत्मचरित कर्नल अल्काट  
 के आग्रह पर ऋषि दयानन्द ने लिखकर भेजा था। यह तीन  
 भागों (= किस्तों) में भेजा गया था। परोपकारिणी सभा अजमेर  
 के संग्रह में सुरक्षित इस आत्मचरित की एक हस्तलिखित प्रति पं०  
 भवानीलाल भारतीय को प्राप्त हो गई है। वह प्रथम द्वितीय भाग  
 की है। इसे हमने १० दिसम्बर ७४ को स्वयं देखा है। दोनों भाग  
 पतले फुलस्केप कागज पर दोनों ओर लिखे गये हैं, और दोनों के  
 अन्त में ऋषि दयानन्द के हस्ताक्षर विद्यमान हैं। श्री भारतीय जी  
 इसको सम्पादित करके शीघ्र ही परोपकारिणी सभा द्वारा प्रकाशित  
 करा रहे हैं। इसके प्रकाशित हो जाने पर सम्भव है—प्रस्तुत संस्करण  
 के कुछ पाठ संशोधनार्ह हो जावें।'

पृष्ठ १६, पं० ३-४—'संवत् १९३२ (पुस्तक पर १९३१  
 गुजराती संवत् छपा है) में' के स्थान पर संशोधन करें—'संवत्  
 १९३१ (पुस्तक के मुखपृष्ठ पर शकाब्द १७९६ छपा है) में'

विशेष—'पञ्चमहायज्ञविधि' के प्रथम बम्बई संस्करण के  
 लेखन वा मुद्रण के सम्बन्ध में इस संग्रह में ३-४ स्थान पर लिखा  
 गया है। वहां अनवधानता से कुछ भूलें हुई हैं। वास्तविकता इस  
 प्रकार है—

पुस्तक का लेखन 'आश्विन शुक्ला १, रविवार, संवत् १९३१'  
 को पूर्ण हुआ था। (द्र०—इसी संग्रह में पृष्ठ ३६४ पर अन्तिम  
 श्लोक)। जीवन-चरित्रों के अनुसार संवत् १९३१ के आश्विन मास में  
 ऋषि दयानन्द जबलपुर में थे। उसके पश्चात् शुक्लपक्ष के अन्तिम



दिनों में वे नासिक (=पंचवटी) पहुंचे थे । अतः 'पञ्चमहायज्ञविधि' के प्रथम संस्करण के अन्त में पुस्तक-समाप्ति का काल उत्तर भारतीय पञ्चाङ्ग के अनुसार ही है, यह निश्चित है । गुजराती पञ्चाङ्ग के अनुसार संवत् १९३० जानना चाहिये । इस संस्करण का मुद्रण बम्बई में हुआ था । वहां शकाब्द का अधिक प्रचार होने से मुख-पृष्ठ पर १७९६ शकाब्द (+१३५=१९३१ वि० सं०) छपा है । यह संस्करण उत्तर भारतीय पञ्चाङ्ग के अनुसार संवत् १९३१ के फाल्गुन मास के कृष्ण पक्ष में छप गया था । यह ऋषि दयानन्द के फाल्गुन वदी २ सोमवार के पत्र से स्पष्ट है । पत्र का एतद्विषयक अंश इस प्रकार है—

'सन्ध्याभाष्य की पुस्तक छपके तैयार होने को चहे है । दो चार दिन में तैयार हो जायेगा ।' पत्रव्यवहार पृष्ठ २५ द्वि० सं० ।

पृष्ठ १७, पं० ७—'केवल ३-४ मास' के स्थान में—'केवल २-३ मास' शोधन करें ।

पृष्ठ २२, पं० १७—'सन् १९३५ में मैंने इसकी प्रतिलिपि की । यहां आरम्भ में जोड़ें—'१४ दिसम्बर सन् १९३५ ... ।'

### ऐतिहासिक विवरण में—

पृष्ठ ५५, पं० २—'हुआ था' के आगे बढ़ावें—'संवत् १९३१ के आश्विन में ऋषि दयानन्द जबलपुर में आसीन थे । सम्भवतः आश्विन शुक्ल पक्ष के उत्तरार्ध में वे वहां से नासिक गये थे ।'

पृष्ठ ८७, पं० २९—'सन् १९६५ के नवम्बर दिसम्बर महीने में की थी' के स्थान में इस प्रकार पढ़ें—'सन् १९३५ के दिसम्बर मास की १४ ता० को की थी' ।

पृष्ठ ८८, पं० १४—'शतायुपरिमितकालः' पर टिप्पणी देवें—'इन्द्रस्य रूपं शतमानमायुः' यजुः १९।८३॥

### लघुग्रन्थ-संग्रह में—

पृष्ठ ११ पं० ३०—'यह ग्राम अहमदाबाद मोरवी रेलवे के



मोली स्टेशन से' के स्थान में शोधन करें—'यह ग्राम महसाना राज-कोट रेलवे के मोलीरोड़ (MOLI ROAD) स्टेशन से'।

पृष्ठ २१, पं० ३१—'देखो—तृतीयावृत्ति पृष्ठ ३२६।' के स्थान में संशोधन करें—'देखो- रामलाल कपूर ट्रस्ट आर्यसमाज-शताब्दी-संस्करण, पृष्ठ ५२८, पं० २५।'।

तृतीयावृत्ति में भी ३५२ पृष्ठ पर है, ३२६ पर नहीं।

पृष्ठ २७, पं० २ 'पातञ्जल और' के स्थान में—'पातञ्जल [योगशास्त्र] और' पाठ बनावें।

पृष्ठ २७, पं० १४—'वरुणा' के स्थान में शोधें—'वरणा'। 'वरणा' और 'असी' नामक नदियों के मध्य में होने से काशी का दूसरा नाम 'वाराणसी' है।

पृष्ठ ३६, पं० ३१—'छपा मिलता है।' के आगे बढ़ावें—“राम-लाल कपूर ट्रस्ट के द्वारा प्रकाशित 'शास्त्रार्थ-संग्रह' में इसका शुद्ध सटिप्पण संस्करण प्रकाशित किया गया है। इसी संग्रह में काशी-शास्त्रार्थ के उभयवादी-सम्मत मध्यस्थ पं० सत्यव्रत सामश्रमी द्वारा संकलित एवं प्रकाशित 'काशी-शास्त्रार्थ' भी अन्त में छपा है।”

पृष्ठ ४१, पं० २६—'संख्या ६ पर' के स्थान में "संख्या ६ और 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' के प्रारम्भिक श्लोक संख्या ३ पर भी है।" इस प्रकार परिवर्धन करें।

पृष्ठ ५०, पं० ४—'उपदेश है' पर टिप्पणी दें—'इसी प्रकार का उल्लेख ग्रन्थकार ने ऋग्वेद १।१।१ के भाष्य में भी किया है। द्र०—ऋग्वेद नमूने का अंक (यही संग्रह) पृष्ठ १४० पं० १०-१५ (संस्कृत में), पृष्ठ १४२, पं० ११-१६ (भाषार्थ में); तथा ऋग्वेद-भाष्य भाग १, पृष्ठ ४४३, पं० १७-२० (संस्कृत में); तथा पृष्ठ ४४५, पं० २० से पृष्ठ ४४६, पं० २ तक (भाषार्थ में)।

पृष्ठ ५५, पं० २२—'सप्तविधि' के स्थान में—'सप्तविध' इस प्रकार शोधन करें।

पृष्ठ १३८, पं० २८, २९ - 'आन्ति-निवारण में मैत्र्युपनिषद् के नाम से उद्धृत समस्त पाठ।' के आगे बढ़ावें—'(द्र०—आगे पृष्ठ २१६, पं० ११; पृष्ठ २१७, पं० २१; पृष्ठ २२६, पं० १८ आदि)'



पृष्ठ १३६, पं० २७—‘यह इतिहाससिद्ध है’ के आगे बढ़ावें—  
‘द्र०—हमारा ‘संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास’, भाग १, पृष्ठ  
२७७, तृ० सं०।।”

पृष्ठ १४०, पं० ११—‘प्रत्युपदिशति’ पर टिप्पणी १ देवें—  
‘१. द्र०—पृष्ठ ५०, पं० ४ पर पूर्व परिवर्धित टिप्पणी’ ।

पृष्ठ १४१, पं० १, २—‘अस्माद् धातोर्नङ् प्रत्ययान्ताद्’ के स्थान  
में शोधन करें—‘अस्माद् धातोर्नङ्प्रत्ययाद्’ ।

पृष्ठ १४१, पं० ३—‘द्वया’ को शुद्ध करें—‘यद्वा’ ।

पृष्ठ १४२, पं० १४ ‘उपदेश किया है’ पर टिप्पणी १ देवें—  
‘१. द्र०—पृष्ठ ५०, पं० ४ पर पूर्व परिवर्धित टिप्पणी’ ।

पृष्ठ १४६, पं० २६—‘अमोच्छेदन (शताब्दी सं० पृष्ठ ८६८)’  
के स्थान में—‘भ्रान्ति-निवारण (शताब्दी-संस्करण अजमेर, सन्  
१९२५, भाग २, पृष्ठ ८६८; तथा यही संग्रह पृष्ठ २२२, पं० ८)’  
ऐसा संशोधन करें ।

विशेष—प्रस्तुत संग्रह की टिप्पणी में जहां-कहीं भी ‘शताब्दी-  
संस्करण’ का निर्देश है, वहां सर्वत्र अजमेरीय सन् १९२५ का  
संस्करण समझें ।

पृष्ठ १६६, पं० ११—‘सूत्रस्योपरि’ के स्थान में—‘सूत्रस्योपरि’  
पाठ शोधें ।

पृष्ठ १६६, पं० १३—‘वैदिकशब्दनिर्देशे ॥’ के स्थान में—  
‘वैदिकशब्दनिर्देशे……’ ऐसा पाठ करें । नमूने के अङ्क में ‘निर्देशे’  
पर्यन्त ही पाठ छपा था । आगे पाठ के अधूरेपन का बोध कराने के  
लिये .. चिह्न जानें ।

पृष्ठ १६८, पं० १३—‘षच्छाखान्तर०’ के स्थान में—‘षच्छाखा-  
[शाखा]न्तर०’ इस प्रकार पाठ शोधें । शाखा-शाखान्तर का निर्देश  
‘ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका’ पृष्ठ ३१५, पं० ६ (द्र०—रालाकट्टसंस्करण)  
भी मिलता है ।

पृष्ठ १७४, पं० २१—‘यास्कमुनिकृतनिघण्टोः’ इस पर टिप्पणी २  
देवें—“२. निरुक्त का आधारभूत निघण्टुग्रन्थ यास्कमुनि-रचित ही है ।



के लिये पं० भगवद्दत्त जी कृत 'वैदिक वाङ्मय का इतिहास' का 'वेदों के व्याख्याकार' नामक भाग देखना चाहिये । कतिपय आधुनिक विद्वान् इस निघण्टु को यास्ककृत नहीं मानते । उनके मत का खण्डन भी वहीं द्रष्टव्य है ।"

पृष्ठ १८०, पं० ३०—'२४ पर छपा है' के आगे बढ़ावें 'यह विज्ञापन इस संग्रह में भी पूर्व पृष्ठ १६७-१७६ तक छपा है ।'

पृष्ठ १९६, पं० २६—'शताब्दी-संस्करण में नहीं दिये गये ।' के आगे बढ़ावें—'यह संस्करण अजमेर से जन्म-शताब्दी सन् १९२५ में छपा था । आगे भी 'शताब्दी-संस्करण' निर्देश से इसी का ग्रहण समझें ।'

पृष्ठ २१३, पं० २०, २१—'क्या परमेश्वर के व्यापक होने से [उसका] पृथिवीस्थान नहीं हो सकता ?' पर टिप्पणी २ देवें—  
"२. ईश्वर के सर्वत्र व्यापक होने से उसका द्युस्थानी अन्तरिक्ष-स्थानी और पृथिवीस्थानी के ग्रहण से ग्रहण होता है । महाभाष्यकार पतञ्जलि ने 'मुखनासिकावचनोऽनुनासिकः' (अ० १।१।८) के भाष्य में 'प्रासादभूमिवासी न्याय' की व्याख्या करते हुए लिखा है—  
'कुछ प्रासादवासी होते हैं, कुछ भूमिवासी, और कुछ उभयवासी । जो प्रासादवासी हैं, वे प्रासादवासियों के ग्रहण से गृहीत होते हैं । जो भूमिवासी हैं, वे भूमिवासियों के ग्रहण से । जो उभय- (=प्रासाद-भूमि) वासी हैं, वे प्रासादवासी और भूमिवासी दोनों के ग्रहण से गृहीत होते हैं ।' इसी न्याय से सूर्य द्युस्थानी, इन्द्र अन्तरिक्ष-स्थानी, और अग्नि पृथिवीस्थानी तो अपने-अपने स्थानी के ग्रहण से गृहीत होते हैं, परन्तु परमात्मा व्यापक होने से तीनों स्थानों में है । अतः वह द्युस्थानी अन्तरिक्षस्थानी और पृथिवीस्थानी तीनों के ग्रहण से गृहीत होगा ।"

पृष्ठ २१४, पं० २९—'ऋषि दयानन्द' इससे पूर्व बढ़ावें—  
'महेशचन्द्र का संकेत स्वामी जी के ऋग्वेद-भाष्य के प्रस्तुत नमूने के अङ्क की ओर है ।'

पृष्ठ २३३, पं० १५—'इस 'हित' शब्द' के स्थान में—'इस '[पुरो]हित' शब्द' इस प्रकार पाठ शुद्ध करें ।



पृष्ठ २३६, पं० २६—‘पूर्व भी’ के स्थान में—‘पूर्व (पृष्ठ २०३, टि० ६) भी’ इस प्रकार पाठ बनावें ।

पृष्ठ २४०, पं० १—‘खण्डबण्ड’ पर टिप्पणी देवें—‘खण्डबण्ड अर्थात् अण्डबण्ड । ‘खण्डबण्ड’ शब्द का प्रयोग ग्रन्थकार ने सत्यार्थप्रकाश में बहुत्र किया है ।’

पृष्ठ २४४, पं० ३०—‘अन्त में’ के स्थान पर पढ़ें—‘अन्त में (पृष्ठ २६८ पर) ।’

पृष्ठ २५२, पं० ३२—‘बुद्धि...तदुच्यते॥’ पर पता देवें—‘बुद्धि...तदुच्यते ॥ (शार्ङ्गधर संहिता अ० ४ । श्लोक २१) ॥’

पृष्ठ २६०, पं० ४—‘पाणिनि आदि आप्तों की प्रतिज्ञा से’ पर टिप्पणी १ देवें—‘१. द्र०—ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, वेदसंज्ञाविचार-प्रकरण, पृष्ठ ६६ रालाकट्टसं० ।’

पृष्ठ २६४, पं० २८—‘विज्ञापनपत्र क्यों लगवाता’ पर टिप्पणी २ देवें—‘२. यहां जिस विज्ञापन की ओर ग्रन्थकार ने संकेत किया है, वह विज्ञापन ‘ऋ० द० के पत्र और विज्ञापन’ में पृष्ठ १७०-१७३ पर छपा है । (द्र०—द्वि० सं०) ।’

पृष्ठ २७२, पं० २१—‘दूसरा भाग’ पर टिप्पणी ४ देवें—‘४. दूसरा भाग अर्थात् द्वितीय निवेदन ।’

पृष्ठ २७७, पं० २५—‘आम्नान्...कोविदारानाचष्टे’ पर टिप्पणी देवें—‘द्र०—महाभाष्य १।२।४५ ।’

पृष्ठ २८०, पं० १६-२०—‘तत्रापरा—‘अथर्ववेदः’ पर टिप्पणी १ देवें—‘१. मुण्डकोपनिषद् १।५॥’

पृष्ठ २८०, पं० २४—‘छान्दोग्य ताण्ड्य’ पर टिप्पणी २ देवें—‘२. छान्दोग्य अर्थात् ताण्ड्य । ऋषि दयानन्द ने सामवेद के ब्राह्मण का नाम अपने ग्रन्थों में ‘साम’ लिखा है । यहां सामवेद के ब्राह्मण नाम के क्रम में ‘छान्दोग्य ताण्ड्य’ का निर्देश किया है । आगे पृष्ठ ३७२, पं० ४ में ‘सामब्राह्मणान्तर्गत छान्दोग्य उपनिषद्’ ऐसा लिखा है । इन उल्लेखों से स्पष्ट है कि ग्रन्थकार ने जहां ‘साम ब्राह्मण’ का उल्लेख किया है, वहां सर्वत्र उसका तात्पर्य छान्दोग्य अर्थात् ताण्ड्य ब्राह्मण से है । पं० सत्यव्रत सामश्रमी के मत में ताण्ड्य=छान्दोग्य ब्राह्मण में ४० प्रपाठक थे । जिनका व्यौरा इस प्रकार है—पञ्चविंश



(=ताण्ड्य) २५ प्रपा०, षड्विंश ५ प्रपा०, मन्त्रब्राह्मण २ प्रपा०, छान्दोग्य उपनिषद् ८ प्रपा०=४० प्रपाठक । आचार्य शंकर ने वेदान्तभाष्य ३।३।२६ में मन्त्रब्राह्मण और छान्दोग्य उपनिषद् के वचन ताण्ड्य (=तण्डिनाम्) के नाम से उद्धृत किये हैं ।

पृष्ठ २८६, पं० ६—‘विजानी.....ये च दस्यवः’ पर टिप्पणी १ देवें—‘१. ऋ० १।५।१।८॥’

पृष्ठ २८६, पं० ७—‘उत शूद्र उतायें’ पर टिप्पणी २ देवें—“२. अ० १६।६२।१॥ इसी पृष्ठ की ५वीं पंक्ति ‘जो ऋग्वेद की कथा भी...’ से विदित होता है कि अनुभ्रमोच्छेदनकार ने ‘उत शूद्र उतायें’ को भी ऋग्वेद का वचन समझा है । ऐसी ही भूल ‘सत्यार्थप्रकाश’ अष्टम समुल्लास में भी हुई है । द्र० -पृष्ठ २३२, पं० १६ रालाकट्सं० ।”

पृष्ठ २८६, पं० २४—‘ईरान का राजा शल्य’ इस पर टिप्पणी ३ देवें—‘३. महाभारत शल्यपर्व के कर्णशल्य संवाद के अनुसार शल्य बाहीकदेश (=सिन्धु से सतलज पर्यन्त) के किसी भूभाग का राजा था ।’

पृष्ठ २९०, पं० २३—‘वर्ण वाहुः पूर्वसूत्रे’ पर टिप्पणी १ देवें—‘१. महाभाष्य, अ० १ पा० १ आह्निक २ ।’

पृष्ठ २९०, पं० २४, २५—‘स्वार्थी दोषन्न पश्यति’ पर टिप्पणी २ देवें—“२. यही पाठ सत्यार्थप्रकाश, समु० ११, पृष्ठ ४४६, पं० ५ पर भी उद्धृत है । तुलना करो—‘अर्थी दोषं न पश्यति ।’ चाणक्य-नीति ६।८॥”

पृष्ठ २९७, पं० २१—‘ग्रहणं क्रियते’ पर टिप्पणी २ देवें—“२. ग्रन्थकार ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के ग्रन्थप्रामाण्याप्रामाण्य विषय के अन्त (पृष्ठ ३५१ रालाकट्सं०) में ‘शन्नो देवी०’ मन्त्र का व्याख्यान करते हुए ‘अप्’ शब्द के ईश्वरार्थ में ‘यत्र लोकांश्च’ मन्त्र को उद्धृत किया है, और उसका संस्कृत में भी व्याख्यान किया है । उसे यहां भी देखना चाहिये । यहां आगे जो भाषार्थ दिया है, वह लगभग ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के अर्थ से मिलता है ।”

पृष्ठ २९८, पं० १४—‘यह कौनसा देव और कहां है’ पर



टिप्पणी देवें—“इस मन्त्र का संस्कृत और आर्यभाषा में अथ ग्रन्थकार ने स्वीय ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के ग्रन्थप्रामाण्याप्रामाण्य विषय के अन्त (पृष्ठ ३५१, रालाकट्रसं०) में किया है। यहां भी ‘सब लोकों का धारण करनेवाला कौन पदार्थ है?’ इस प्रकार प्रश्नात्मक ही किया है। इसी प्रकार वेदोत्पत्तिविषय (पृष्ठ १२, रालाकट्रसं०); तथा सत्यार्थप्रकाश समु० ७ (पृष्ठ २६४, रालाकट्रसं०) में ‘यस्मादृचो अपातक्षन्’ मन्त्रान्तर्गत ‘क्तमः स्वदेव सः’ मन्त्रांश का अर्थ ‘सो (वह) कौनसा देव है’ इस प्रकार प्रश्नात्मक ही किया है। इन अर्थों से ज्ञात होता है कि ग्रन्थकार इन मन्त्रों में ‘क्तमः स्वद् देव सः’ पाठ मानते हैं। अथर्ववेद में ‘क्तमः स्वदेव (=स्वित् + एव) सः’ पाठ है।”

पृष्ठ ३१३, पं० १७-१८—‘प्रपा० ७। अनु० ६’ पर टिप्पणी १ देव - ‘१. तैत्तिरीय उपनिषद् तैत्तिरीय आरण्यक के अन्तर्गत है। यहां उपनिषद् का निर्देश करके भी पता तैत्तिरीय आरण्यक का ही दिया है। उपनिषद् पाठ के अनुसार पता इस प्रकार समझें—वल्ली १, अनु० ५, मं० ३।’

पृष्ठ ३२३, पं० २२—[ईश्वराज्ञापालनार्थं वा] ‘इत्येवमत्र कोष्ठके यः पाठो वर्धितः, सः २३ पङ्क्तेरन्ते—‘अग्निहोत्रम्’ इत्यतोऽग्रे नेयः। संवत् १६३१ वैक्रमाब्दे मुद्रिते पुस्तके तत्रैव दृश्यते।

पृष्ठ ३३२, पं० २२, २३—[‘विद्याभ्यास कर दुष्टों को’] इसके स्थान में—[‘ब्रह्मचर्य के सेवन से विद्याभ्यास कर पक्षपातरहित होकर दुष्टों को’] ऐसा पाठ बनावें।

पृष्ठ ३३३, पं० १०, ३०—‘य० १६।५’ के स्थान में—‘य० १६।५१’ ऐसा शोधें।

पृष्ठ ३३३, पं० ११—‘सप्तसु’ इत्यत्र टिप्पणी देया—‘यमराज-व्यतिरिक्तेषु सप्तस्वित्यर्थः।’

पृष्ठ ३३३, पं० २६, २७—‘सातों पितरों में’ इस पर टिप्पणी देवें—‘यमराज को छोड़कर शेष सातों पितरों में, ऐसा अभिप्राय जानें। यमराज के लिये पृथक् स्वतन्त्र प्रमाण दिया है।’



पृष्ठ ३३४, पं० ८—‘यदन्तं’ पर दिया गया टिप्पणी का अङ्क २ वहाँ से हटाकर ‘पक्वमक्षारलवणं’ पर लगायें ।

पृष्ठ ३३४, पं० १३—‘चौथे समुल्लास’ के आगे बढ़ावें—‘(पृष्ठ १४७-१४६ रालाकद्रसंस्क०)’ ।

पृष्ठ ३३४, पं० १७—‘अक्षारलवणाशिनौ’ पाठ को शुद्ध करें—‘अक्षारालवणाशिनौ’ ।

पृष्ठ ३३६, पं० २५—‘ओं स्विष्टकृते स्वाहा’ पर टिप्पणी दें—‘यद्यपि मनुस्मृति ३।८६ में केवल ‘स्विष्टकृते’ पद ही है, तथापि ‘स्विष्टकृत्’ अग्नि का विशेषण होने से विशेष्य का आक्षेप होकर ‘अग्नये स्विष्टकृते स्वाहा’ ऐसा मन्त्र होना चाहिये । यह मनु के व्याख्याकारों का मत है ।’

पृष्ठ ३३७, पं० ६—‘सा चितिरनुमतिर्वा’ के स्थान में—‘सा चिति[शक्ति]रनुमतिर्वा’ इस प्रकार शोधें । द्र०—इसी संग्रह में आगे पृष्ठ ३५०, पं० १० । ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका (पृष्ठ ३०६ रालाक-द्रसं०) के अनुसार ‘साऽनुमतिर्वा’ शुद्ध पाठ होना चाहिये ।

पृष्ठ ३३७, पं० ८—‘सहोत्पादितयोः पुष्टिकरणाय’ के स्थान में—‘सहोत्पादितयोः[द्यावापृथिव्योः]पुष्टिकरणाय’ ऐसा पाठ होना चाहिये । आगे पृष्ठ ३५०, पं० ६ में मन्त्रविभक्त्यनुसार चतुर्थ्यन्त मानकर अर्थ दर्शाया गया है । ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका (पृष्ठ ३०६) में पञ्चमी का रूप मानकर अर्थ लिखा है ।

पृष्ठ ३३८, पं० २६—‘ये दिये हैं’ के आगे बढ़ावें—‘संवत् १६३१ की ‘पञ्चमहायज्ञविधि’ में भी कोष्ठ-परिवर्धित पद संस्कृत में कोष्ठान्तर्गत ही दिये हैं । द्रष्टव्य—यही संग्रह पृष्ठ ३५०-३५२ ।’

पृष्ठ ३३६, पं० ३०-३१—‘पृष्ठ २८३ तृतीय संस्करण’ के स्थान में—‘पृष्ठ ३०३, रालाकद्रसंस्क०’ पाठ बनावें । और इसके आगे बढ़ावें—‘पितृभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः’ का अर्थ संवत् १६३१ की ‘पञ्चमहायज्ञविधि’ के तर्पण प्रकरण में किया है (द्र०—आगे पृष्ठ ३४७, पं० १६-२१) । इसी संस्करण में आगे बलिवैश्वदेव प्रकरण (पृष्ठ ३५२, पं० १०) में ‘अस्यार्थ उक्तः पितृतर्पणे’ लिखा है । इस



समता से संवत् १९३१ को 'पञ्चमहायज्ञविधि' की ओर भी संकेत माना जा सकता है ।

पृष्ठ ३४१, पं० १४—'क्वाऽस्सी०' के स्थान में—'क्वाऽवात्सी०' पाठ शोधें ।

पृष्ठ ३४४, पं० २—'(३२)' इयं संख्याऽपनेया । फाल्गुनमासस्य कृष्णपक्षस्य पुस्तकस्य मुद्रणात् संवत् १९३१ उभय-पञ्चांगानुसारो समानो ज्ञेयः । (द्र०—अस्यैव परिशिष्टस्यादौ 'पृष्ठ १६, पं० ३-४' विषयकं मंशोधनम्) । अत अस्योपरि प्रदत्ता प्रथमा टिप्पण्यपनेया ।

पृष्ठ ३४४, पं० १६, २०—'अवलुम्पतु .. क्षमताम्' इत्यत्र टिप्पणी ४ देया—“४. 'ईश्वरो न्यायकारित्वान्न कस्यापि पापानि क्षमते' इति ग्रन्थकारस्य मतम् । अतोऽत्रास्यायमभिप्रायो ज्ञेयः—परमात्मा तादृशीं कृपां मयि करोतु, ययाऽहं पापकर्मणा निर्वर्तितो भवेयम् । एतस्मिन् विषये आर्याभिविनयस्य १६ मन्त्रस्य व्याख्यानं (पृष्ठ १०८, पं० १६-२१), तत्रस्था चतुर्थी टिप्पणी च द्रष्टव्या ।”

पृष्ठ ३४६, पं० २६—'रालाकट्टसं० ।' इतोऽग्रे परिवर्धनीयम्—'१९३४वैक्रमाब्दे मुद्रिते पञ्चमहायज्ञविधावपि सोमसदादीनां पितृणां परिगणनं (पूर्वत्र पृष्ठ ३३०); पितृपितामहादीनां (पूर्वत्र पृष्ठ ३३२) चोपलभ्यते ।'

पृष्ठ ३५०, पं० ६—'विद्यापठनानन्तरं' इतः पूर्वं पाठो वर्धनीयः—'[पौर्णमासस्येष्टचर्थोऽयमारम्भः] । द्रष्टव्यमस्मिन्नेव पृष्ठे ७ सप्तमी पंक्तिः, पूर्वत्र च ३३७तमे पृष्ठे पञ्चमी पङ्क्तिः ।

पृष्ठ ३५५, पं० १३—'पुरुषा बहवो राजन्' अत्र टिप्पणी १ देया—“१. अयमेव पाठो ग्रन्थकृता सत्यार्थप्रकाशे चतुर्थे समुल्लासे (पृष्ठ १४१, रालाकट्टसं०)ऽप्युद्धृतः । महाभारते तु 'सुलभाः पुरुषा राजन्' इत्येवं पाठ उपलभ्यते।”

पृष्ठ ३७४, पं० २६—'कुछ भेद है ।' के आगे बढ़ावें—'अतः यहां "आगे" के स्थान में "पूर्व" पाठ होना चाहिये ।

पृष्ठ ३७४, पं० २७—'समुल्लास में' के स्थान पर पाठ बनायें—'समुल्लास (पृष्ठ ३०८-३०९, रालाकट्टसं०) में' ।



पृष्ठ ३७४, पं० ३०—‘समुल्लास का’ के स्थान में पाठ बनावें—  
‘समुल्लास (पृष्ठ २८२-२८५, रालाकट्टसं०) का’ ।

पृष्ठ ३८१, पं० ३—‘अपने सामर्थ्य से’ तथा पं० ८ ‘(स्वभूत्या) स्वसामर्थ्य’ इन पाठों पर टिप्पणी—‘ग्रन्थकार ने अपने ग्रन्थों में इस प्रकार के अनेक वचन यत्र-तत्र लिखे हैं । अनेक व्यक्ति इन शब्दों को देखकर भ्रम में पड़ते हैं कि स्वामी दयानन्द नवीन वेदान्तियों के सदृश जगत् को उत्पत्ति का उपादान कारण ईश्वर को ही मानते हैं । परन्तु यह कथन जीव ईश्वर प्रकृति तीनों पदार्थों को अनादि कहने से ही मिथ्या हो जाता है । फिर भी उक्त शब्दों का ग्रन्थकार-सम्मत क्या अभिप्राय है, इसे हम स्पष्ट करते हैं । सामर्थ्य दो प्रकार का होता है—स्वगत और स्वसंबद्ध । राजा में ये दोनों सामर्थ्य स्पष्ट हैं । प्रज्ञा-वल और शरीरवल उसका स्वगत सामर्थ्य है, और सेनाबल उसका स्वशासित स्वसम्बद्ध सामर्थ्य है । इसी प्रकार प्रकृति ईश्वराधीन होने से उसका अपना सामर्थ्य जानना चाहिये ।’

पृष्ठ ३८३, पं० ६—‘त्रिवृत्करण.....लिखा है’ पर टिप्पणी १ देवें—‘१. त्रिवृत् त्रिवृदेकैका भवति तन्मे विजानीहि । छां० उ० ६।४।७ तथा आगे का प्रकरण ।’

पृष्ठ ३९७, पं० १०—‘अश्वसिंहसूर्यवानरमनुष्यादीनामपि ग्रहणात्’—इत्यत्र टिप्पणी १ देया—‘१. दशपाद्युणादिवृत्तौ (१।४७, पृष्ठ २६) हरिशब्दार्था इत्थं निर्दिष्टाः—विष्णुः, वानरः, इन्द्रः, सिंहः, ददुर्ः, अश्वः, हरित्वर्णः, यमः, अग्निः, चन्द्रः, सूर्यः, शुक्रः, केशवः ।’

पृष्ठ ४०१, पं० ११—‘ब्राह्मणवेदानामवग्रहणान्तान्यस्येति’ अयं पाठ एवं शोधनीयः—‘ब्राह्मणानामेव ग्रहणान्तान्यस्येति ।’ अत्र टिप्पणी १ देया—“१. उपर्युक्तेषु वाक्येषु इतिहासपुराणादिशब्दैस्तत्तद्विषयकाणि ब्राह्मणान्येव गृह्यते । तथा चाहुः शङ्कराचार्याः—‘किं निश्चितमिव ततो जातम् इत्यच्युते—यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वान्निर्गसश्चतुर्विधं मन्त्रजातम् । इतिहासः—इत्युर्वशीपुष्करवसोः संवादादिः—उर्वशी-हाप्सरा इत्यादि ब्राह्मणमेव । पुराणमसद् वेदमग्र आसीदित्यादि... ।’ बृ० उ० भाष्य २।४।१०॥ सायणाचार्येणापि तैत्तिरीयारण्यक-व्याख्याने (८।१२) उक्तम्—‘ब्राह्मणं चाष्टधा भिन्नम् । तद्भेदास्तु वाजसनेयिभिराम्नायन्ते—इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः



सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानानि (बृ० उ० २।४।१०)' इति । अग्र एतेषामुदाहरणानि ब्राह्मणवचनान्येव प्रस्तुतानि ।"

पृष्ठ ४०३, पं० ६—[तै० आ० प्रपा० ७ अनु० ११]' इत्यस्य स्थाने तैत्तिरीय उपनिषद् एव—[शिक्षा० ११]' स्थानसंकेतः प्रदेयः । यतो ह्यत्रोपनिषद् एव निर्देशोऽस्ति, नारण्यकस्य ।

पृष्ठ ४२४, पं० १२—“वेति 'वाजि' शब्दार्थः” इत्यस्य स्थाने शोधनीयम्—“वेति 'वावाजि' शब्दार्थः ।”

पृष्ठ ४३७, पं० १०—‘महाभारते’ अत्र टिप्पणी देया—‘महा० मौसलपर्व अ० ४, श्लोक १८-२८ ।’

पृष्ठ ४५८, पं० ५—‘कथनश्रवणोपाधावेव’ अत्र टिप्पणी २ देया—‘२. इह तु ज्ञेयोपाधिरुक्ता इति शेषः । अत्र पृष्ठ ४६६, पं० ६, ७ द्रष्टव्या ।

पृष्ठ ४६६, पं० ७—‘कथनश्रवणे’ इत्यत्र टिप्पणी देया—‘इह ४५८ पृष्ठस्थाः ३-५ पङ्क्तयोऽपि द्रष्टव्याः’ ।

पृष्ठ ५२६, पं० २३—‘सत्यमेव जयति’ इस प्रकार टिप्पणी १ देवे—‘१. मुण्डक उपनिषद् में ‘जयते’ पाठ है । ग्रन्थकार ने सत्यार्थ-प्रकाश स्वमन्तव्यामन्तव्य प्रकाश(पृष्ठ ६२० रालाकट्टसं०) में ‘जयते’ पाठ ही उद्धृत किया है ।

पृष्ठ ५५८, पं० १८—‘विषादप्यमृतं ग्राह्यम्’ पर टिप्पणी १ देवे—‘१. मनुस्मृति अ० २, श्लोक २३६ ।’



## द्वितीय परिशिष्ट

पारिभाषिक वा परिभाषित विशिष्ट शब्द एवं न्याय तथा कहावतें

अग्निहोत्र ३२०।१६; ३२३।	असत्पुरुष ५२१।१३
२१-२३	आकाङ्क्षा २३५।१०
अघमर्षण ३००।१५, १६; ३०१।	आगमकाल ५०४।१
३०; ३०३।१६	आचमन २६७।७, २५
अतिथि ३४१।८-१०; ५७८।१४	आचार्य ३८८।८; ५०२।११;
अतिथियज्ञ ३४१।६	५७८।८
अद्वैत ४२६।५; ४५३।६	आठ प्रमाण ५०६।१२; ५८०।२८
अधर्म ५१०।१६; ५१७।२६;	आप्त ५१०।१; ५८०।२१
५२६।१८; ५५४।१३, २०;	आर्तिकार ४२४।७
५७१।१४	आर्य ५७६।१
अधर्मी ५१७।१	आयवित्त ५७६।४
अनाथ ५२३।१३	आश्रम ५७६।१४
अनादिकी स्वरूप ५७७।१३	आश्रमभेद ५७६।१६
अनादि पदार्थ ५७७।६	आसत्ति २३५।१०
अनुमान ५०६।१६; ५८१।१२	इन्द्रियस्पर्श २६८।२१
अन्याय ५१७।२६	ईश्वर ५७१।३
अपरलोक ५७२।१६	ईश्वर-नमस्कार ३१६।१४
अपरा[विद्या] २८०।१, ५, ८	उपमान ५०६।१७; ५८१।१५
अपूजा ५७६।२	उपवेद ५८२।१२
अभाव ५०६।२३; ५८१।२७	उपस्थान ३०८।७
अभावना १२	उपाङ्ग ५८२।१७
अर्थापत्ति ५०६।२०; ५८१।२३	उपादानकारण ५७५।६
अविद्या ५०१।२८; ५०२।१;	उपासना ५७४।६
५१७।२१; ५७३।४	ऐतिह्य ५०६।१६; ५८१।२०
अविश्वास ५७२।११	कर्ता ५७५।१



कर्म ५७६।२५  
कल्प ५८६।६, १८  
कारण ५७५।३  
कार्य ५७५।२४  
कुम्भीपाक ४८७।२६  
कुसंग ५७३।८  
क्रियमाण ५७७।३  
गायत्री मन्त्र २६६।२७; २६७।  
३; ३०३।२२; ३१२।१४  
गुरु २६०।६; ५७८।१०  
गुरुमन्त्र ३१२।११  
गृहस्थाश्रम ५७६।१८  
गोलोक ४१५।४, ५; ४५३।८  
गोसाईं ४२४।८  
चक्राद्यङ्कन ४८२।६  
चेतन ५७६।७  
चोरी ५७६।२५-२६  
चोरी-त्याग ५७६।२५  
जड़ ५७६।५  
जड़बुद्धि ५११।१६  
जन्म ५७२।१८  
जाति ५७५।२०  
जीव का स्वरूप ५८०।७  
ज्येष्ठ-कनिष्ठ-व्यवहार ५७६।२१  
तप ३५३।२७  
तप्तमुद्रा ४८२।७  
तर्पण ३२६।२, ३; ३३३।६;  
३४६।२; ३४८।१२  
तात्पर्य २३५।१०  
तिलक ३६८।१

तीव्रबुद्धि ५११।१७  
तीर्थ ४४२।११; ५७३।११  
त्रिवृत्करण ३८३।६  
दण्डवत् ४२५।१  
दस्यु ५७६।७  
दानाध्यक्ष ५३४।३०  
दानाभक्ष ५३४।२६  
देव ४०३।५  
देवता ४०३।५  
देवपूजा ४०२।७  
देवयज्ञ २६५।४; ३२०।१६  
देवल ४०५।२  
देवलक ४०५।३  
देवालय ४०२।६; ४०३।१  
धर्म ५१०।१४; ५१७।२८;  
५२६।१८; ५५४।१४, २१;  
५७१।१०  
धर्मात्मा ५१७।२  
नमस्ते ५८२।६  
नरक ५७२।२५  
नास्तिक ४२१।१, २, १२  
निदिध्यासन ५०४।२२  
निन्दा ५७३।१६  
निमित्त कारण ५७५।६  
निर्गुण ४१०।४  
निर्गुणोपासना ३०४।११; ५७४।  
८  
नृत्यज्ञ २६५।५  
न्याय ५१७।२५  
पञ्चायतन-पूजा ५७८।८



पञ्चीकरण ३८३।८  
 पण्डित ४६५।२०; ४६६।३, १४,  
 २२, ३१; ४६७।७; ५७६।  
 १६; ५८०।२५  
 परम्परा से अनादि ५७७।१२  
 परलोक ५७२।१३  
 परा[विद्या] २८०।२, ६, ६  
 परोपकार ५२२।६; ५७७।२४  
 पाप ५७२।२  
 पाषण्डी ४८०।८; ४८२।६;  
 ४८३।५, ६, ६  
 पितर ३३३।८  
 पितृयज्ञ २६५।४; ३२६।१  
 पितृयज्ञ के भेद ३२६।२  
 पुण्य ५७१।१६  
 पुराण ४००।१४; ५८२।६  
 पुरुषार्थ ५२१।१८; ५७७।१६  
 पुरुषार्थ के भेद ५२१।१८; ५७७।  
 १६ -  
 पुष्टिप्रवाहमार्ग ४२३।४  
 पूजा ४२४।६, २०; ५७८।२१  
 पूजारि ४२४।६, २१  
 पोष ५२०।१६  
 प्रकरण २३५।१०  
 प्रजा ५३५।१८  
 प्रतिमा ४००।१  
 प्रतिष्ठा ३६४।६  
 प्रत्यक्ष ५०६।१४; ५८१।६  
 प्रमेय ५८१।५  
 प्रलय ५८०।१४

प्रवचनकाल ५०४।६  
 प्रवाह से अनादि ५७७।११  
 प्राणायाम २६६।२१; २६६।२७;  
 ३००।२  
 प्रारब्ध ५७७।७  
 प्रार्थना ५७३।२२  
 प्रार्थना का फल ५७४।३  
 बलिवैश्वदेव यज्ञ ३३४।७  
 ब्रह्मचर्य ५७६।१६  
 ब्रह्मचारी ५०२।७  
 ब्रह्मयज्ञ २६५।४, १३  
 भारतीय भाषाविज्ञान १८८।२१;  
 १८६।२०  
 भावना ३६६।८; ५७६।६  
 भाषाविज्ञान १८४, १८; १८८।  
 २१  
 भूतयज्ञ २६५।४  
 मनन ५०४।१६  
 मनसोपरिक्रमा ३०४।२१  
 मनुष्य ५७५।२४  
 मनुष्यपन ५२४।४  
 मरण ५७२।२०  
 महाप्रभु ४३१।२, ५  
 महाब्राह्मण ३८६।२८; ४३२।६  
 महावाक्य ३६८।७, ८  
 महाव्याहृति ३१३।१६; ३१५।७  
 माया ४०६।७; ५८०।१७-१८  
 मायावी ४०६।७; ५८०।१८  
 मार्जन २६५।२६; २६६।४  
 मिथ्याभाषण ५७२।७

१. अर्थात् बलिवैश्वदेव यज्ञ ।



मुक्ति ५७४।१८	शुद्धाद्वैत ४२५।८
मुक्ति के साधन ५७४।२१	शूरवीर ५०१।६
मूढबुद्धि ४६६।११	श्रवण ५०४।१२
मूर्ख ४६७।१५; ४६६।३;	श्राद्ध ३२६।२, ४; ३३३।७;
५७६।१६	३४८।१२
यज्ञ ५७६।२२	सगुण ४१०।२, ३
योग्यता २३५।१०	सगुणोपासना ३०४।१०; ५७४।
राजा ५३५।२	१२
लक्षण ५८१।३	संज्ञा २३५।१०
वर्ण ५७६।१०	सञ्चित ५७७।५
वर्णभेद ५७६।१२	सत्कर्तव्यपुरुष ३२६।१०
वानप्रस्थ ५७६।१६	सत्पुरुष ५२१।१२; ५७३।६
वावाजी ४२४।१२, २८	सत्यभाषण ५७२।४
विकल्प ५८६।६, १८	सत्यासत्य-परीक्षा ५०८।१५
विद्या ३५३।२६; ५०१।२६;	सत्सङ्ग ५७३।८
५१७।२०; ५७३।१	सदाचार ५७८।३
विद्या-पुस्तक ५७८।६	सन्ध्या-शब्दार्थ २६५।१५
विद्याप्राप्ति के उपाय ५०३।२८	संन्यासाश्रम : ७६।२०
विश्वास ५७२।६	सम्प्रदाय ४१२।१४
विशिष्टाद्वैत ५५२।११, १२	सम्प्रदाह ४१२।१४; ४६१।५, ७
वेद ५८२।६	समर्पण ३१६।३
वेदाङ्ग ५८२।१५	सम्भव ५०६।२२; ५८१।२५
वैरागी ४२४।१६	सर्वहित ५७६।२३
वैष्णव ३६२।६; ४८२।१२	साक्षात्कार ५०४।२४
व्यभिचार ५८०।१-५	साधारण कारण ५७५।१२
व्यभिचार-त्याग ५८०।१	सानुज्य (मुक्ति) ४११।१
व्यवहारकाल ५०४।७	सामीप्य (मुक्ति) ४११।१
शब्द ५०६।१६; ५८१।१८	सायुज्य (मुक्ति) ४११।१
शास्त्र ५८२।४	सालोक्य (मुक्ति) ४११।१
शिक्षा ५०१।२२	सृष्टि ५७५।२७
शिखाबन्धन २६६।२७	स्तुति ५७३।१४
शिष्टाचार ५७८।१	स्तुति का फल ५७३।१७



स्थालीपुलाक न्याय २६१।५;	स्वर्ग ५७२।२२
४८६।२३	स्वाध्याय-काल ५०४।३
स्थालीपुलाक न्याय ४६८।३;	स्वाहा ३१०।६-२०
४८२।१२	हिन्दु ४२५।१
स्वभाव ५८०।१०	

## न्याय

'आम्नान् पृष्ठः कोविदारानाचष्टे [न्याय] २७७।१५	प्राप्तौ सत्यां निषेधः ४८१।६
'क्वास्ताः क्व पतिताः [न्याय] २५४।२२	'सजातीय-प्रवाह-न्याय २५१।२१
'जाट खाट और [तेली] कोल्हू [न्याय] २५४।५	*स्थालीपुलाक न्याय २६१।५; ४८६।२३
	*स्थालीपुलाक न्याय ४६८।३; ४८२।२

## कहावत

'अन्धेनैव नीयमाना यथाऽन्धाः २५०।१८।१८; २७३।८	'आयने (-दर्पण) के समान २०२। १४
---	-----------------------------------

१. अर्थात् पूछना कुछ, और उत्तर कुछ देना ।

२. ऊँचे स्थान से नीचे गिरना ।

३. तेली और जाट की झड़प में तेली कहता है—'जाट रे जाट ! तेरे सिर पर खाट' । जाट बोला—'तेली रे तेली ! तेरे सिर पर कोल्हू ।' तेली ने कहा—तुक तो नहीं बनी । जाट बोला—तुक नहीं बनी, तो भी कोल्हू के बोझ से तो दबेगा ही ।

४. अर्थात् अपने सजातीयों की ओर झुकना । महाभाष्य १।१।४६ इसे आन्तर्य-नियम कहा है ।

५. अर्थात् बटलोई या पत्तीली में पकते हुए चावलों से एक दाना निकाल कर देखना ।

६. अर्थात् अन्धे के पीछे चलना ।

७. अर्थात् दर्पण के सामने जो वस्तु आती है, उसमें उसका प्रतिबिम्ब वैसा ही दिखाई देता है ।



उलटि चोर कोटपाल को दण्डे  
२३६।२४

कस्तूरिये के समान भटकना  
२०७।३

कूपमण्डूक के समान १६७।८

चोर कोटपाल को दण्डे २३६।

२३; २५०।१७

जो कोदों देके पढ़ते हैं, वे पदार्थों  
को यथावत कभी नहीं जान  
सकते २५६।१६

भूठे गाल बजाने २५३।१६-२०

नौका में धूर उड़ाना १६८।१२

पाठशालाओं के लड़कों से प्रश्नो-  
त्तर लेख वा उनकी परीक्षा  
२१३।७

बालकों का खेल २२३।१७

मन के ही गुलगुले ( खाना )  
२००।१०

मुखमस्तीति वक्तव्यं दशहस्ता  
हरीतकी २६१।१६; २८८।२३

लड़कों का खिलौना २०५।२६

विद्या की आंख से ( देखना )

२०८।७; २२६।११

विद्यादम्भः क्षणस्थायी २४०।१०

व्याघ्र की खाल(उघड़ना) १६७।१३

सहवासी विजानीयात् चरित्रं

सहवासिनाम् २८३।२

सोवें भोपड़े में और स्वप्न देखे

राजमहलों का १६८।२१

स्वभावो नान्यथा भवेत् २८६।१०

स्वार्थी दोषं न पश्यति २६१।२४;

४०२।२; ५५७।२८

हलदी की गांठ १६७।१०

हाथी के खाने के दांत भीतर और

दिखाने के बहार होते हैं

२४५।२२

१. द्र०—उलटि चोर कोतवाल को दण्डे ।

२. अर्थात् बहुत साधारण कार्य ।

३. अर्थात् बिना सोचे-समझे बोलना ।

४. अर्थात् ज्ञानपूर्वक विचारना ।

५. विद्या का घमण्ड चिरस्थायी नहीं होता ।

६. साथी-साथी का सब भेद जानता है ।

७. अर्थात् स्वभाव कभी नहीं बदला करता ।

८. अर्थात् स्वार्थी को अपनी बुराई नहीं दिखाई पड़ती ।

९. द्र०—हलदी की गांठ पाके ऊंदरो (=चूहा) पंसारी बण बैठयो  
( मारवाड़ी कहावत ) ।



## तृतीय परिशिष्ट

आर्याभिविनय-ऋग्भाष्य (अङ्क) तथा पञ्चमहायज्ञविधि में  
व्याख्यात मन्त्रों की सूची

मन्त्र	पृष्ठ	मन्त्र	पृष्ठ
अग्निः पूर्वोभिर्ऋषिभिः ५१, १५०		उद्गातेव शकुने साम ८४	
अग्निना रयिमश्नवत् ५, १५३		उद्वयं तमसस्परि ३०८	
अग्निमीळे पुरोहितम् ४६, १३७		उप त्वाग्ने दिवे दिवे १६१	
अग्निर्होता कविऋतुः ५१, १५६		उपहूताऽ इह गावऽ उपहूताः १२६	
अग्निश्च मा मन्युश्च ३४५		उपेतु मां देवसखः ३६१	
अग्ने यं यज्ञमध्वरम् १५५		उशिगसि कविरङ्घारिः १०६	
अग्ने व्रतपते व्रतम् १२७		ऊर्जं वहन्तीरमृतम् ३२६	
अतो देवा अवन्तु नः ५५		ऊर्ध्वा दिग्बृहस्पतिः ३०५	
अदितिद्यौरदितिरन्तरिक्षम् ६०		ऊर्ध्वो नः पाह्यंहसः ५६	
अश्वपूर्णा रथमध्याम् ३५६		ऋचं वाचं प्रपद्ये ६५	
अहरहर्बलिमित्ते हरन्तः ३३५		ऋजुनीती नो वरुणः ६१	
अहानिं शं भवन्तु नः ११०		ऋतं च सत्यं चाभीद्धात् ३००	
आदित्यवर्णे तपसोऽधिजातः ३६०		ऋषिर्हि पूर्वजा अस्येक ६७	
आपः सृजन्तु सिग्धानि ३६२		कद्दर्मेन प्रजा भूता मयि ३६२	
आयुर्यज्ञेन कल्पतां प्राणः १०२		कांसोस्मितां हिरण्यं ३५६	
आर्द्रां पुष्करिणीं पुष्ठीम् ३६३		किंस्विदासीदधिष्ठानम् ११७	
आर्द्रां यः करिणीं यष्ठीम् ३६३		किंस्विद्वनं कऽ उ स वृक्षः ११६	
आवदंस्त्वं शकुने ८५		क्षुत्पिपासामलाज्येष्ठा ३६१	
इदं मे ब्रह्मा च क्षत्रं च १३२		गणानां त्वा गणपतिम् १२७	
इन्द्रो विश्वस्य राजति १०६		गन्धद्वारां दुराघर्षिम् ३६१	
इषे पिन्वस्वोर्जे पिन्वस्व ११६		गयस्फानो अमीवहा ७२	
उदीची दिक्सोमोऽधिपतिः ३०५		चतुःस्रक्तिर्नाभिर्ऋतस्य १२३	
उदु त्वं जातवेदसम् ३०८		चन्द्रां प्रभासां यशसा ३६०	



चित्रं देवानामुदगाद् ३०६  
 जातवेदसे सुनवाम सोमम् ६६  
 तच्चक्षुर्देवहितं १२०, ३१०  
 तदेजति तन्नैजति १०१  
 तदेवाग्निस्तदादित्यः ६४  
 तन्न इन्द्रो वरुणो मित्रः ६६  
 तदद्यस्यैवं विद्वान् ब्रात्यः ३४१  
 तद्विष्णोः परमं पदम् ६३  
 तनूपा ऽ अग्नेऽसि तन्वम् ११७  
 तमीळत प्रथमं यज्ञसाधम् ७३  
 तमीशानं जगतस्तस्थुषः ५५, १३०  
 तमूतयो रणयन् ७४  
 तां म—हिरण्यं प्रभूतं ३६३  
 तां म—हिरण्यं विन्देय ३५८  
 तेजोऽसि तेजो मयि ६८  
 त्वं नः सोम विश्वतः ६२  
 त्वं सोमासि सत्पतिः ६२  
 त्वं हि विश्वतोमुख ७३  
 त्वमसि प्रशस्यः ६६  
 त्वमस्य पारे रजसः ५६  
 दक्षिणा दिगिन्द्रोऽधिपतिः ३०४  
 दृते दृश्ह मा मित्रस्य ६३  
 देवकृतस्येनसोऽवयजनम् १०८  
 देवो न यः पृथिवीम् ७८  
 देवौ देवानामसि ८०  
 द्यौः शान्तिरन्तरिक्षम् ११२  
 ध्रुवा दिग्विष्णुरधिपतिः ३०५  
 न तं विदाथ य ऽ इमा १२५  
 नमः शम्भवाय च ११२, ३१६  
 न यस्पं देवा देवता ६६

न यस्य द्यावापृथिवी अनु ५८  
 नेह भद्रं रक्षस्विने ६७  
 पराणुदस्व मघवन् ६५  
 परीत्य भूतानि परीत्य ६६  
 पावका नः सरस्वती ५४  
 पहि नो अग्ने रक्षसः ५६  
 पुनन्तु मा देवजनाः ३२६, ३४६  
 पुरुतमं पुरुणामीशानम् ५४  
 प्र तद्वोचेदमृतं नु विद्वान् १११  
 प्रतीची दिग्वरुणोऽधिपतिः ३०५  
 प्राची दिगग्निरधिपतिः ३०४  
 प्रातःप्रातर्गृहपतिर्नः ३१७  
 ब्रह्म जज्ञानं प्रथमं ११४  
 भग एव भगवाँर ऽ अस्तु १२६  
 भग प्रणेतर्भग सत्यराधः १००  
 भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम ११३  
 भूर्भुवः स्वः सुप्रजाः प्रजाभिः ११६  
 मनसः काममाकूतिम् ३६२  
 मयीदमिन्द्रऽ इन्द्रियम् १३०  
 मा नस्तोके तनये मा नः ८३  
 मा नो महान्तमुत मा नः ८२  
 मा नो वधीरिन्द्रं मा परादाः ८१  
 मृळा नो रुद्रोत नः ७७  
 मेधां मे वरुणो ददातु १३२  
 यः शुचिः प्रयतो भूत्वा ३६४  
 य आत्मदा बलदा यस्य १२८  
 य इमा विश्वा भुवनानि ११५  
 यज्जाग्रतो दूरमुदैति १२४  
 यतो यतः समीहसे ६६  
 यदङ्ग दाशुषे त्वमग्ने ५२, १५६  
 यन्मे छिद्रं चक्षुषः १२१



यस्मान्न जातः परोऽन्यः १०३	सदसस्पतिमद्भुतम् १३१
या ते धामानि परमाणि १२१	स नः पितेव सूनवे १०४, १६३
यां मेधां देवगणाः पितरः १३१	स नो बन्धूर्जनिता ६५
यो नः पिता जनिता १२४	स पर्यगाच्छुक्रमकायम् ६१
यो विश्वस्य जगतः ७७	स पूर्वया निविदा ७५
राजन्तमध्वराणाम् १६२	समुद्रादणवादधि संवत्सरः ३००
वयं जयेम त्वया युजा ७६	समुद्रोऽसि विश्वव्यचाः १०७
वसुर्वसुपतिर्हि कम् ६८	स वज्रभृद् दस्युहा ७०
वायवा याहि दर्शतेमे ५२, १६४	सह नाववतु सह नौ ८७
वि जानीह्यार्यान् ये च ५७	सा मा सत्योक्तिः परिपातु ७६
विभूरसि प्रवाहणः १०५	सायं सायं गृहपतिर्नः ३१७
विश्वकर्मा विमनाऽ आद् १२२	सुमित्रिया न ऽ आपः ११४
विश्वतश्चक्षुस्त विश्वतः ११८	सूर्यश्च मा मन्युश्च ३४४
विष्णोः कर्माणि पश्यत ६४	सूर्याचन्द्रमसौ ३०१
वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम् ६७	सेमं नः काममापृण ७१
वैश्वानरस्य सुमती स्याम ६८	सोम गीर्भिष्ट्वा वयम् ७२
शं नो देवीरभिष्टय आपः २६७	सोम रारन्धि नो हृदि ७२
शं नो भगः शमु नः ६५	स्थिरा वः सन्त्वायुधा ६३
शं नो मित्रेः शं वरुणः ४७	हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे १०६
शं नो वातः पवताम् ११०	हिरण्यवर्णा हरिणीम् ३५८



# चतुर्थ परिशिष्ट

संग्रह में उद्धृत व्यक्ति देश नगर आदि विशिष्ट  
नामों की सूची

आगस्त्यमुनि की समाधि १८।२०	अहुर २८८।१८
अङ्गरेज २६०।२७	आगरा ३४।५
अजमेर ३५।४	आनन्द बाग (काशी) २४४।१, ४
अनय (गोप) ४५०।१७	आबूराज पर्वत १६।१८
अनुक्रमणिकाकार २१४।२३;	आर० ग्रिफिथ १७६।२३; १६४।
२१५।१३	१४; २०५।२०; २०७।५
अनुत्तमाचार्य ३४।२०	आर्यसमाज लाहौर १८२।२२
अनुभूतिस्वरूप १८०।२८	आर्यसमाज-स्थापना ३६।२८
अमरलाल ३३।२३	आर्यवर्त १८७।२१; २८१ ७, १०;
अमरीका २७३।१७; २८७।३	२८३।२१; २८४।३२;
अमृतसर १८२।१६	२८५।१३, १४; २८७।४;
अम्बरीष शुक ४६७।४	२८८।१२ बहुत्र
अर्जुन ४७५।११	इन्द्र(=देवलोक का राजा) १७३।
अवेदा भवानी १६।१०	२८; १७४।१५; ४७६।१
अलखनन्दा २२।५	ईरान २८८।१६, २८; २८९।२,
अलखनन्दा स्रोत २२।११	३, ६, १३, २४
अलवर ३३।१४	उवट १४६।२१; १४६।१६;
अशोलजी का मन्दिर २७।१२	१७७।१६; १८४।६
असुर २८८।१८	ऊखीमठ २०।१७
अहमदाबाद १२।८; १४।१३;	[ऊखीमठ के] महन्त २०।२५
१६।१३, १६, १७; ३७।१	ऋषीकेश १६।२३, २६
अहल्या ३७३, २६	एक-वीर=कवीर ३४।२३

१. द्र०—माधव अनुत्तमाचार्य शब्द ।

२. द्र०—ग्रिफिथ शब्द ।



एच० पी० मेडम ब्लेवेस्टकी  
२४४।३

एच० टी० कोलब्रुक १७८।८

एफीका २८७।३

एम० हाग साहब २०२।५; २०७।  
४, ७

एस० एच० कर्नल आलकाट  
२४४।३

एस० वी० आर० १८७।२०  
ओरियण्टल कालिज लाहौर  
१८०।६; १८१।१६

औदीच्य ब्राह्मण ४।१४, १५  
कणाद २७३।१३; २७७।१७,  
२७; २८४।२५

कपोत (गुरु) ४७४।१

करणवास २८४।११

करोली ३४।२२

कलकत्ता ३६।२१

कल्पसूत्रकार ४०१।२२

कवीर=एक-वीर ३४।२३

कवीरपन्थी ३४।२२

कश्यप २६०।१५

काकाराम (शास्त्री) २७।१६

काठियावाड़ ४।१३

कात्यायन २५६।७, १७; २६०।  
२, ४, ६; २७६।५

कानपुर २७।७, ६; ३६।३, २२

कारी (Corey) १८४।१६

काशी १०।७; २७।१३; ३६।  
१७, १८, २४; १६६।६;  
२४३।११, १३; २४५।५,  
६, १०; २६६।५; २७०।  
१६; २८१।१७; २८४।८

काशीपुर २५।२१

काशीराज २७८।११

कुम्भकर्ण ४७८।८

कुम्भ मेला १६।२१

कृष्ण ४१०।६; ४१५।१२;  
४१८।१०; ४३७।१०;  
४४६।१३; ४५०।१३;  
४५१।७; ४५४।८; ४७३।  
६; ४७४।७; ४७५।६, १०;  
४७६।५

कृष्णशास्त्री १६।८

केदारघाट १८।६, १६; २५।२८

कैयट १८०।२७

कैलास ७।१२; ४७३।४

कोठ कांगड़ा १२।८, २८

कोलब्रुक जोन्स १८४।१६

कोलाहल स्वामी ३६।१

गङ्गा २७।१४

गङ्गागिरि १८।६

गङ्गातट २५।२७

गङ्गातीर २७।५

१. द्र०—'श्री कृष्ण' शब्द ।

२. स्वामी दयानन्द के लिये ।



गङ्गमुक्तेश्वर २५।२६  
 गणपति ४४६।१  
 गवर्नमेण्ट कालिज लाहीर १८१।  
 २२  
 गाणपत्य सम्प्रदाय ४३२।७  
 गार्गी ४४०।१  
 गुजरातप्रान्त ४।१३  
 गुप्तकाशी १८।२५  
 गुरुप्रसाद १८०।६; १८१।१६;  
 १६४।१५; २००।२४;  
 २४०।४  
 गोकुलनाथ ४२६।६  
 गोकुल्यादिरक्षिणीसभा ५४७।५  
 'गौतम (आचार्य, ऋषि, मुनि)  
 १५१।५; १७३।२६; २७३।  
 १३; २७७।१७, २७;  
 ३७५।७; ३७८।१६  
 गोपालदास ५११।२२  
 गोवर्धन (पर्वत) ४७६।१  
 'गौतम २१४।६; २८४।२५  
 गौरीकुण्ड १८।२६  
 'ग्रिफिथ १७६।१८; १७७।२६;  
 १७८।२; १८२।२०;  
 १६७।१; २१७।१५;  
 २४०।३  
 ग्वालियर ३६।७, १०, २३

चण्डालगढ़ (चुनारगढ़) २७।२०;  
 २८।१  
 चण्डी पहाड़ (हरद्वार) १६।२२  
 चर्मकार २८१।३०  
 चाणोद १५।१५  
 चाणोद कन्याली १५।१; १६।५  
 चार्ल्स कोलमैन १७८।६  
 चिदाश्रम १५।२, ८  
 चिलका घाटी २४।२६  
 चीरलीला ४७६।६  
 चेतन मठ १४।१४  
 छाया शुक्र ४६७।३  
 छिनोर शहर १६।८  
 जबलपुर ३६।२२  
 जमदग्नि २६०।१५, १६; २७६।  
 १६, २६  
 जयपुर ३४।२४; ३५।४  
 जाबालि ४८२।८  
 जी० डबल्यू लाइटर १८२।१३  
 जीवनदास १६०।१०  
 जैमिनि २३६।१८; २७६।१८;  
 २७७।२; ३७८।२  
 ज्वालानन्द पुरी १६।११  
 'टानी १७६।१८; १७६।१६;  
 १८२।२०; २१७।२५  
 टिहरी १७।१, २३

१. द्रष्टव्य — 'गौतम' शब्द ।

२. शुद्ध नाम 'गौतम' होना चाहिये ।

३. द्र०—'आर० ग्रिफिथ' शब्द ।

४. द्र०—'सी० एच० टानी' शब्द ।



तुङ्गनाथ की चोटी १६१२१

त्रियुगी नारायण १८१२७

दन्तवक्र ४७६११

'दयानन्द सरस्वती (स्वामी)

१६११; २८१११; ४२१६;

८६१५; १६२१११; १६६१

६, १८; २७८१२३; २७६१

४; ४८४१७

दीक्षित १५१२

दुर्गाकुण्ड (चुनारस्थ) २७११६

दुर्योधन २८३१२३

दूधेश्वर महादेव १६११३

देवकी ४७११२

द्रोणसागर २५१२१

द्वारिका १५११६; १६१५;

४३७११०; ४४५१५

द्वीप-द्वीपान्तर २८३१२६

धर्म (व्यक्ति) ४८३११

धर्मपति ५३५१२३

धर्मराज ४८३१३

धातुपाठकार २३७१२१; २३८१

२६, २६; ३०

धृतराष्ट्र ३५५११२, १६

नर्वदा तट २६१७; ३३११०

नर्वदा स्रोत ३२१५; ३३१११

नागेश १८०१२७

नारद ४७२१५; ४७३११

नारायण ४७३१२; ४७६१३

निरुक्तकार १४०११७; १४११३०;

१४४११६; २०४१३;

२१०१२१; २१३११४;

२१८१२२; २२२१३;

२२३११४; २३५१६, ८, १६;

२३६१६, १२, १४, १५;

३१०१६

नीलकण्ठ महादेव १२१२५

नृसिंह ४१०१६; ४७८११३

पतञ्जलि २७५१२६, २८;

२७६१२३

परमानन्द परमहंस १५१४

परीक्षित ४७६१४

पाखण्डमर्दन ३५११३

पाणिनि २६०१२, ४, ७; २७५१

१०, ३०; २७६११; २७६१

२३

पाण्डु राजा २८८१३३

पादरी गैरेट १७६११

पारस २८८१६, १२, १५;

२८६११

पारसी भाषा २८७१३३

पार्वती २८१८, १०; ४४६११

पिङ्गलाचार्य २७६१२४

पुरानी पारसी २८६११३, २०

पूना ३७१२; १८२११८

प्रकाशवती ५३५१२३; ५४२१८

प्रयाग १४११०; २७१६; ३६१२२

प्रह्लाद ४७८११३

प्रेसिडेन्सी कालेज कलकत्ता

१७६१५

फरिङ्गस्तान २७८११०

१. ब्र०—'स्वामी दयानन्द सरस्वती' शब्द।



फर्रुखाबाद २७।६; ३५।२६;

३५।३६; ३६।३, २३

'बख्तावरसिंह २५३।३

बड़ोदे (बड़ोदा) १४।१३

बद्रीनारायण २१।२१; २४।१३

बनारस १७६।२६

बनारस कालेज १७६।२६

बनारसीबाई १४।२४

बम्बई ३५।१६; ३७।१

बर्नफ १८४।१८

बाणासुर ४७३।६; ४७६।५

बाप्प १८४।१८

बालशास्त्री २५।१११, आगे

२६१ तक बहुत्र

बुलन्द शहर २८४।११

बैनफी १८७।१२, २५

बोल्लेनसन १८७।२३

ब्रह्मा १६८, १०; १७०।१३;

१७१।२; २३६।१७;

२७७।२; ४१०।६, १०;

४४८।१६; ४७१।२;

४७६।५; ४७६।३

ब्रह्मानन्द १४।१४

ब्राह्मण (वर्ण) ४७१।४, १०

भगवान् दास १७६।१८; १८१।

२२; ५१८।११

भगीरथ ४८३।१

भवानन्द सरस्वती २७।१५

भवानी गिरि १६।१६

भस्मासुर ४७३।३, ६; ४७६।७

भाट २८७।८, २०

भीमगुफा १८।२६

भीमसेन शर्मा २६१।२०

भीष्म ५००।१६

भीष्म जी का पिता २३४।२२

मंग्रम ( ?, माना ) ग्राम २४।१२

मजोकठा देश ४।१४

मथुरा ३३।१२, १३; ३४।३;

३५।११

मधुच्छन्दा: १३७।४; १६४।१६

मनु ४३।११; १३६।५; २०८।

२; २३१।२०; २४५।१८;

२८७।६; २६५।२२;

२६६।६; ३१२।१६;

३५२।२५; ३७०।१६;

३८८।६; ३६०।६

३६१।६; ४००।७

४०२।१४; ४०३।१;

४१२।१३; ४१६।१३;

४२१।४; ४२६।११;

४२७।१; ४७५।५; ४८३।

६; ५२३।७

मन्त्री-आर्यसमाज (लाहौर)

१८२।११; १६०।११

महादेव ( शिव ) ६।२६; ७।८;

८।१; २८।७, १०

महाभारत काल १८२।६

महाभारत-महासंग्राम १८३।२१

१. द्र०—'मुंशी जी' और 'मुंशीबख्तावर सिंह' शब्द ।



महभारत युद्ध १७७३०; १८२१	मोर्वी राज्य ४११४
४; २८८८; २८९१२४	यमराज (कठ उ०) २६२१२०
महीधर १४६१११; १४६११६;	याज्ञवल्क्य २१४११०; ४०२११;
१७७५, १६; १८४१६;	४४०११
१८५१२	यास्क (आचार्य वा मुनि)
महेशचन्द्र (न्यायरत्न) १६४१७;	१४१३०; १४४११६;
१६६१४ आगे पृष्ठ २४०	१५७११३; १६०१६;
पर्यन्त	१७४१२१; २७६१२२
मांस (? , माना) ग्राम २२१७	युधिष्ठिर ५००११६
माइथोलोजी आफ दी हिन्दूज	यूनिवर्सिटी कालेज सैनेट १८२१६५
१७८१६	यूरोप २८७१२
माद्री २८८११३	योगानन्द स्वामी १६१६
माधव १४६१११	रङ्गाचार्य ३५१७
माधव अनुत्तमाचार्य ३४११०	राजकोट ३७११
माधवप्रसाद ३६१४	राजा जी २४४१७; २४४से२६४
मिर्जापुर २७१११	तक सर्वत्र
मुंशी जी २५३१४	राजाराम ( शास्त्री ) २७११६
मुंशी बस्तावरसिंह २५३१३	राजा शिवप्रसाद २४४१२; २४५१
मुरादाबाद २५१२५	११; २४६१२४; तथा आगे
मुम्बई १८२११८	बहुत्र
मुरादाबाद १८२११८	राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द
मैक्समूलर १७७११८, १७६१२;	२४३१४ आदि बहुत्र
१८४११६; १८८१४	राजेन्द्र लाल मित्र १८४१२१

१. यह लोक-प्रसिद्ध नाम है। वास्तव में भरत-कुलस्थ लोगों का युद्ध होने से इसका नाम 'भारत-युद्ध' है।

२. द्र०—'मंग्रम' शब्द। ३. द्र०—'अनुत्तमाचार्य' शब्द।

४. द्र०—'मुंशी बस्तावरसिंह' शब्द।

५. द्र०—'मुंशी जी' और 'बस्तावरसिंह' शब्द।

६. द्र०—'बम्बई' शब्द।

७. द्र०—राजा शिवप्रसाद तथा राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द शब्द।



राथ १८७।१७, २४  
 राधा ३६०।२४; ४५०।५  
 राम ४१०।६  
 रामगढ़ ३५।२६  
 रामगिरि (व्यक्ति) २४।२७  
 रामदास ५११।२०  
 रामनगर (काशी) ३६।१०  
 रामनगर का राजा ३६।१०  
 रामानुज ४४८।११  
 रामपुर (= रायपुर) २४।१६, २६  
 रामसिंह महाराज ३४।२७; ३५।८  
 रामाश्रम आचार्य १८।२७  
 रावण (लङ्कापति) ४७३।६;  
 ४७८।८  
 रावण (पण्डित) १४६।११;  
 १४६।१६; १७७।१६;  
 १८४।१०  
 रावलजी २१।२२; २४।१४  
 रुक्मिणी ४५०।६  
 रुद्रप्रयाग १८।२०  
 रूस २७३।१७  
 लक्ष्मणभट्ट ४२६।३, ७  
 लक्ष्मीनारायण ४४५।६; ४५३।  
 १५  
 लखनऊ ३६।२२  
 लाजरस कम्पनी छापाखाना  
 १६६।६  
 लाजरस कम्पनी यन्त्रालय १६७।  
 १३, १७  
 लालबुभुक्कड़ ५२४।१६

लाहौर १८२।१६; १६०।१०  
 लेंगलाएस १८७।३  
 वरणा (नदी) २७।१४  
 वल्लभ ४१२।७ से ४५५ तक  
 बहुत्र  
 वल्लभ सम्प्रदाय ४३२।७  
 वसुधारा (तीर्थ) २४।११  
 वादरायण ३७८।६  
 वामदेव ३७०।१६  
 वाराणसी १६७।१३  
 वाल्मीकि (मुनि) २८३।१; २८७।  
 ६; ४८४।६  
 विक्रमादित्य ३४३।६  
 विजयनगराधिपति २४४।१  
 विट्ठल ४२६।६; ४३०।११  
 विट्ठलेश ४४५।१  
 विदुर ३५५।१२  
 विन्ध्याचल (नगर) २७।११  
 विरजानन्द सरस्वती स्वामी ८६।  
 ५; १३३।१०  
 विरजानन्द स्वामी ३३।१४  
 विलसन १४७।७; १५२।१४;  
 १५३।१६; १५४।१८;  
 १५५।२०; १५६।५; १५७।  
 २१; १६०।१६; १६१।१६;  
 २४; १७७।१८; १८४।१६;  
 १८६।२०; २०५।२३  
 विलायत २७३।१८  
 'विशुद्धानन्द (स्वामी) २५४।२१  
 विष्णु ४४६।१; ४७६।८



विष्णुस्वामी ४१३।७  
 विष्णुस्वामी सम्प्रदाय ४२६।४  
 वृत्रासुर १७४।१५  
 वृन्दावन ३५।७; ४३७।११  
 वेदान्त सूत्रकार २३६।६  
 वेदार्थयत्नकृत् १६०।१६  
 , कर्तृ १५३।१६, २७  
 वेबर १८४।१६  
 वैष्णव समुदाय ४३२।८  
 वोपदेव ४८०।६  
 व्यास १६८।११; १७०।१३;  
 १७१।२; २८७।६; ३७५।  
 ७; ३७८।१५; ३८३।६;  
 ४०१।१४; ४६५।६; ४६७।  
 ४; ४७२।५; ४७३।१  
 व्यासाश्रम १६।६  
 शङ्कर ४७३. ६; १०  
 शल्य २८६।२४  
 शाक्त सम्प्रदाय ४३२।७  
 शास्त्रार्थ ( = काशी शास्त्रार्थ )  
 ३६।११, १४  
 शाहजहाँपुर १८२।१६  
 शिव ४०१।१५; ४४६।१;  
 ४७३।३, ५, ६; ४७६।७  
 शिवपुरी १८।२२  
 'शिवप्रसाद २८१।२५  
 शिवरात्रि ६।३  
 शिवानन्द गिरि १६।११  
 शिवालय ६।१०

शिशुपाल ४७६।१  
 शुक्र ४६७।१  
 शुद्धचैतन्य ब्रह्मचारी १२।२  
 शृङ्गेरी रामपुर २७।६  
 शृङ्गेरी मठ १५।१६  
 शेखचिल्ली ४६७।२३, ४६८।८,  
 २०  
 शैव सम्प्रदाय ४३२।७  
 'श्रीकृष्ण ३६७।२३; ४४८।१३  
 श्रीधर ४८१।२, ३, ५, ६, ११;  
 ४८२।१  
 श्रीनगर १८।६  
 श्लेगल १८४।१८  
 सच्चिदानन्द परमहंस १४।२५  
 सम्भल २५।२६  
 सहजानन्द ४३५से४६२ तक बहुत्र  
 सहजानन्द सम्प्रदाय ४६२।१२  
 सामवेदी ब्राह्मण ४।१५  
 सायण ( आचार्य ) १४६।६, ११,  
 १६; १४७।६, ६; १४६।  
 १४, १६, २२; १५१।११;  
 १५२।१२; १५३।१३, १६;  
 १५४।१५; १५५।१८;  
 १५६।५, १८; १५७।५, २१;  
 १५८।२६; १६०।१६, २६;  
 १६१।१६; १७७।१६; १७६।  
 १६; १८०।१, १८४।६;  
 १८५।२; १८६।१३, २०  
 सायणमाधव १४६।१२

१. द्र०—'राजा जी, राजा शिवप्रसाद, राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द'

शब्द ।

२. द्र०—'कृष्ण' शब्द ।



सायले (सायला) ११२४  
 सिद्धपत (तीर्थ) २३१२७  
 सिद्धपुर १२११६, २५; १३४  
 'सी० एच० टानी १७६१५; १६४  
 १४; २०५१२०; २०७  
 ४, ५  
 सुनीति ५४१३१  
 सुभद्रा ४७५१११  
 सूर्य (=विवस्वान्) ३७०११६  
 सौर सम्प्रदाय ४३२१८  
 स्टीवन्सन १८७१४  
 स्वामी जी (स्वामी० दया०) १६६ से  
 २६४ तक सर्वत्र  
 'स्वामी दयानन्द सरस्वती ३१५;  
 १८२११६; १८३१५, ६;  
 १८४१२२, १८५११६; १८८,  
 ६, १५; १८६११४; १६०१

१; १६५१५; २४८१२४, २५;  
 २५६१८; २८१११५, २६  
 स्वामी नारायण ४३५१५  
 स्वामी विशुद्धानन्द २४६१२४;  
 २५१, ६। आगे २६१ तक  
 बहुत्र  
 शबर स्वामी २७६१२४; २७७  
 ८, १०, १३  
 'हरद्वार १६१२१; ३५११२, २०  
 हरिश्चन्द्र ३४१२५  
 हलायुधभट्ट (पिङ्गल भाष्यकार)  
 १८१११२  
 हिस्ट्री आफ इन्शण्ट संस्कृत लिट-  
 रेचर १७६१२  
 हृषीकेश (भट्टाचार्य) १७६११८;  
 १८१११५

१. द्र० — 'टानी' शब्द ।

२. द्र० — 'दयानन्द सरस्वती' शब्द ।

३. कुछ स्थानों पर लोकप्रसिद्ध 'हरिद्वार' भी पाठ है ।



# पञ्चम परिशिष्ट

टिप्पणी में उद्धृत व्यक्ति देश नगर आदि विशिष्ट  
नामों की सूची

अजमेर ४२।२६; ७५।२१; २१६।२८; ३४०।१६	*कर्नल अल्काट ८२।२८; ८३। २१, २८
अयोध्या १६७।२३	काठियावाड़ ६।२६; १५।२६
*अल्काट ८२।२८	कात्यायन २१४।२८; २५६।३०
अहमदाबाद मोरवी रेलवे ११।३०	*कारूष (पाठान्तर)
आगरा ३४।२८	कृष्ण ४७७।१६, २०, २१
*आचार्य शंकर २०३।२४	केशवदेव निर्मल १८४।२७
आनन्द बाग (काशी) २४४।२५	कोठ काङ्गड़ा १४।२२
ऋक्सर्वानुक्रमणीकार २१४।२८	गणेशप्रसाद ४।२४
*ऋषि दयानन्द ४।३०; ८२।२६; १४६।२५; १४६।२६;	गार्ग्य नारायण ३३४।२६
२०१।२२; २०४।१६, २१;	गुजरात देश ४।२०
२०८।२७; २१४।२६;	गुरुचरणलाल १६७।२३
२३५।२०, २३, २४; ३७६। २४	गोपालराव हरिदेशमुख ४२।२६
*कारूष ४७६।२३	ग्रिफिथ ४५।३०
	चित्रशाला प्रेस (पूना) ४७७।१६
	चुनारगढ़ २७।२७

१. द्र०—'कर्नल अल्काट' शब्द । २. द्र०—'शंकराचार्य' शब्द ।

३. द्र०—'स्वामी दयानन्द सरस्वती' शब्द ।

४. द्र०—'कारूष' शब्द ।

५. द्र०—'अल्काट' शब्द ।

६. द्र०—'कृष्ण' शब्द ।



जे० ग्रिफिथ १८२।२६  
 जैमिनि मुनि २७१।१५  
 ज्वालाप्रसाद ४।२४  
 दन्तवक्र ४७७।२४  
 दाक्षायण १३६।२६  
 दाक्षि १३६।२६  
 दुर्ग (निरुक्त वृत्तिकार) २०४।१८  
 'देवेन्द्रनाथ २४४।२७  
 'देवेन्द्र बाबू २४५।२६, २६  
 धातुपाठकार २३६।३०  
 धाङ्गधरा ४।२०  
 नर्मदा तट ३३।२६  
 निरुक्तकार (यास्क) २०४।२५;  
 २१०।२६  
 पञ्जाब विश्वविद्यालय लाहौर  
 १८४।३०  
 पाणिनि २३६।३०  
 पूना ४७७ १६, २१, २२  
 फतहगढ़ ४।२२  
 फर्हखाबाद १८४।२७  
 बस्तावरसिंह २३५।२६  
 बम्बई ३३५।२७, ३७१।२६  
 बालशास्त्री २७२।२८  
 भारत युद्ध ४६७।१६; ४८५।२८  
 भीमसेन २३५।२८; २७२।२५  
 भीष्म ४७७।२१; ४८५।२६;  
 ४८८।२६  
 मजोकठा नदी ४।२१  
 मथुरा ३४।२८  
 मनु २०३।१७  
 महाराष्ट्र १४६।२६

महेशचन्द्र न्यायरत्न १६३।२५;  
 २१४।३१; २१५।२५  
 माना (ग्राम) २२।३१; २४।२६  
 मामराज १८४।२६  
 मैक्समूलर ४५।३०  
 मैत्रायण १३६।२५  
 मौत्रि १३८।३१  
 मोर्वी नगर ४।२१  
 मोली स्टेशन ११।३०  
 यास्क २०३।२६, २०४।१६, १८  
 युधिष्ठिर ४६७।१६; ४८५।२८  
 राजा शिवप्रसाद (सितारे हिन्द)  
 २४४।२८; २७२।२६  
 रानपुर ११।३०  
 रामगिरि का स्थान २५।२८  
 रामनगर २४।३०  
 रामपुर २४।३०  
 रावण (पण्डित) १८४।२६  
 लक्ष्मणस्वरूप १८४।२६  
 लाजरस प्रेस काशी २०१।३३  
 लालचन्द लायब्रेरी लाहौर १८४।  
 ३१  
 लाला भक्त १४।२३  
 लेखराम ३।२३  
 लेफ्टिनेण्ट गवर्नर (पंजाब) १८२।२५  
 विश्वेश्वरानन्द शोध संस्थान  
 २६८।२६  
 वृकासुर ४७३।२८  
 बेल्वेल्कर २०३।३१  
 वैदिक यन्त्रालय ३४३।१६; ४३५।  
 २३

१. द्र०—'देवेन्द्र बाबू' शब्द । २. द्र०—'देवेन्द्रनाथ' शब्द ।



'शङ्कराचार्य २११।२६  
 शाहजहांपुर १६७।२८  
 शुक्र ४६७।१७, २४  
 शुक्रदेव ४८५।२७  
 शकुनि (असुर) ४७३।२६  
 शिशुपाल ४७७।२३; ४८८।  
 २०  
 शिशुपालवध ४८८।२६  
 श्रीधर ४६७।१६  
 सरयूबाग (अयोध्या) १६७।२३  
 सरस्वती नदी १२।२६

सातवलेकर १३८।२६; २१५।२७  
 सायला १४।२३  
 सिद्धपुर १४।२२  
 सिद्धपुर रेलवे स्टेशन १२।१६  
 सिद्धेश्वर वर्मा २०३।३०  
 सेवकलाल कृष्णदास ३३५।२७  
 'स्वामी दयानन्द सरस्वती ४२।  
 १७; २७२।२७  
 स्वामी विशुद्धानन्द २७२।२८  
 हयग्रीव शुक्र ४६७।२३  
 होशियारपुर २६८।२६

## षष्ठ परिशिष्ट

संग्रह में उद्धृत ग्रन्थ-नामों की सूची

अङ्ग (वेदाङ्ग) १७०।१६  
 अणुभाष्य ४३।१८  
 अथर्ववेद २६३।२; ३०५।१७;  
 ३१७।६; ३३५।१०;  
 ३४१।१७; ३७३।१२, १३;  
 ५१५।२३  
 अनुभ्रमोच्छेदन २७२।२; २७३।१  
 अथर्ववेद १७०।२१; २६३।१३  
 अष्टाध्यायी १६६।३; २७६।२३  
 आधुनिक पुराण ग्रन्थ १७२।१०

आयुर्वेद १७०।१६; २६३।१३  
 आर्यहरिमीडेटोटक १५।४  
 आर्याभिविनय ४१।१६; ८६।६  
 आश्वलायन श्रौतसूत्र २२१।१८  
 'इतिहास तिमिर भास्कर २८६।  
 ४, ११, १८ आगे भी बहुत  
 ईशावास्य उपनिषद् २५४।२५;  
 २५५।५; २६१।१३; २६६।५  
 ऋग्वेद ४५।१; १७४।१८;  
 १७५।६; १८६।५; १८८।

१. द्र०—'आचार्य शङ्कर' शब्द । २. द्र०—'ऋषि दयानन्द' शब्द ।

३. राजा शिवप्रसाद कृत ।



२३; २३४।१६; २६२।२४;	उपवेद १६८।१२; ४८४।६
२८१।६; २८८।१६, २६,	उपाङ्ग २१२।११
२७; २८६।५; २९०।१०;	ऐतरेय उपनिषद् १७०।२२;
३०१।३, २२; ३६७।१६,	२१५।४; २२७।१६
१७; ३८१।७, १४; ४०१।६	ऐतरेय (ब्राह्मण) ४५।४; ६४।६;
ऋग्वेद का अनुवाद (मैक्समूलर)	१०२।१४; १३६।२;
१७७।१८	१४७।२; १५०।१४;
ऋग्वेद का अनुवाद (बैनफी)	१६८।१२; १७०।१७;
१८७।१२	१७२।१५; १७७।२५;
ऋग्वेद का अनुवाद (राथ)	२०२।२, ३; २०६।१०;
१८७।१७	२०६।१३, १६, २१; २२६।
ऋग्वेद का अनुवाद (लेंगलाएस)	१३; २७७।३; २८०।२३;
१८७।३	३१३।७; ३६७।१६
ऋग्वेद का अनुवाद (विलसन)	[ऐतरेय ब्रा०] टीका (हाग कृत)
१७७।१८; १८६।२०	२८२।५; २०७।१
ऋग्वेद का अनुवाद (स्टीवन्सन)	ओरियण्ट एण्ड आक्सिडेंट १८७।
१८७।४	२३
ऋग्वेद की भूमिका (मैक्समूलर)	कठ (उपनिषद्) १५७।८; १७०।
१८६।५	२१; ३१०।५
ऋग्वेद-वचन ३३३।१६	कठवल्ली ३७७।३
'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' २०८।	कल्प १७०।१५; ३८८।२३
११; २४७।८; २५६।६;	कवीरोपनिषद् ३४।२४
२५७।१; २५६।१३;	कारिका १६६।४
२७०।१०; २७३।३	कृष्णभागवत ४६५।४
उपनिषद् (पुराण-शास्त्रम्)	कृष्ण यजुर्वेद २२२।६
४१०।१०	केन (उपनिषद्) १७०।२१;
उपनिषद् २७।२; १६८।१२;	२२६।५
१७०।१६, २३; २५२।१२;	केसराणि संगीत (?) २६।३
२५५।४; २६३।७, १२;	कौत्सायनी स्तुति २१७।२१
२६६।२२; ३७६।२७;	कौमुदी (सिद्धान्तकौमुदी) ३३।१८
४०६।२७	गानशास्त्र १७०।२०

१. द्र०—'वेद-भूमिका, वेदभाष्य-भूमिका' शब्द ।



गान्धर्ववेद १७०।२०; २६३।१३	दी वेदाङ्ग १७८।८
गाली सहस्रनाम २८१।३१	दूषणमालिका २८१।३०
गोतम न्याय(शास्त्र) २७७।२३	देवीभागवत ४६५।४, ५, ७
गोपथ (ब्राह्मण) १६८।१२;	धनुर्वेद १७०।२०; २६३।१३
१७०।१७; २८०।१७	धर्मशास्त्र ५।१; ४४८।८
गौडपादीय कारिका ३७६।२	धातुपाठ २३७।११;
चतुश्श्लोकी (भागवतस्य) ४६८।७	२३६।१
चाणक्यनीति ५५२।१८	नाडी चक्र २६।५
छन्दः (शास्त्र) १७०।१६	नारायण कवच ४४७।५
छान्दोग्य (उपनिषद्) १७०।२२;	निघण्टु ८।५; १५३।१६; १७०।
३७२।४; ३७४।१४; ३७५।	१६; १७४।२१; १८३।
२१; ३८३।६; ४४५।८	१६; १८८।२०; २०५।६;
छान्दोग्य (ब्राह्मण) २८०।२४	२२६।१५; २३६।३;
जन्मचरित्र ३।५	२७६।२२, २७
ज्योतिष १०।७; १७०।१६	निरुक्त ८।५; ४५।५, ६; १३६।
तन्त्र ४०२।१	२४; १४१।६; १४२।२;
तन्त्रादि पुस्तक १७।२७	१४७।२; १५०।२१, २४;
तर्कसंग्रह २५२।१४	१५१।६, १६; १५७।१४;
ताण्ड्य (ब्राह्मण) २८०।२४	१६०।११; १७०।१६;
तैत्तिरीय आरण्यक ८६।७; २२२।	१७२।१७, २३; १७३।२३,
६; २२४।१४; २६६।२६;	२५, २६; १७४।१५;
३१७।१४; ५१४।६	१७५।४; १७७।२४;
तैत्तिरीय उपनिषद् १४६।३;	१८३।१६; २०१।१६;
१४६।८; १६५।११; १७०।	२०२।१३; २०४।६;
२२; २१२।२२; ३१३।१७;	२१०।१७, २२; २११।३;
३७६।८; ३८०।७; ४०३।६	२१६।७, ११; २२०।२०;
दयानन्द-पराभूति २८१।३०	२३३।१३, १५; २३४।२१;
दयानन्द भाष्य (वेदभाष्य)	२३६।११; २६१।८; २७६।
२७३।६	२३, २७; ३४५।११;
दशमस्कन्ध (भागवत पु०) ४४७।	४०३।५
६; ४४८।५	निरुक्तोक्ति ६७।१५



'निवेदन २५३।१; २८८।३  
 निवेदन (पहिला) २७३।३  
 निवेदन (दूसरा) २७३ से  
 २८१ तक सर्वत्र  
 निवेदनपत्र २४७।१; २५०।१४  
 नीतिशतक ५१२।१२  
 न्याय (शास्त्र-दर्शन) १५१।५;  
 १७०।१८; ३७३।१;  
 ३७५।८; ३७८।१६  
 पञ्चमस्कन्ध (भागवत पु०)  
 ४४८।६  
 पत्रम् (=भागवत-खण्डनरूपम्)  
 ४८४।६  
 परिभाषा १६६।१३  
 पातञ्जल (योगदर्शन) २७।२  
 'पाणिनि का व्याकरण १८३।१६;  
 १८८।२०  
 पाणिनि सूत्र २७६।७  
 पाणिनीय व्याकरण १७७।२५;  
 १८१।२, २०  
 'पिङ्गलसूत्र २७६।२४, २८  
 पुराण १७३।१६; २३४।१८  
 पूना-व्याख्यान ३।१४  
 'पूर्वमीमांसा ८।५; १६८।१२;  
 १७०।१८; १६८।२३;

२५०।१२; २५२।१३;  
 २७६।१८; २८१।७; ४०३।  
 ६; ४४७।७  
 'पैङ्गलसूत्र १८१।१२  
 प्रश्न (उपनिषद्) १७०।२२  
 बृहदारण्यक (उपनिषद्) १७०।  
 २२; २६१।१५; ३७१।१;  
 ३७४।२२; ३७७।३  
 बृहन्नारद (पुराण) ४८३।१  
 ब्रह्मवैवर्त ४००।१३; ४०१।१३  
 ब्राह्मण (ग्रन्थ) २१२।१२  
 भगवद्गीता ४४७।४; ४८४।४  
 भगवद्गीता (अनुवाद) १७६।१  
 भागवत (पुराण) ३३।१८; ३४।  
 २४; ४४७।३; ४६५।३, ८;  
 ४७२।१; ४७८।१०; ४८०।  
 ४, ७, १०; ४८५-४८५बहुत्र  
 भागवत-खण्डन ४८५।३  
 भारत (महाभारत) ४४७।४  
 भाष्य (महाभाष्य) १४१।१६;  
 १६६।४  
 भाष्यवचन (महाभाष्यवचन)  
 १६६।१०  
 भाष्यसूत्रम् (वार्तिक) १६६।१२  
 'भूमिका १७६।८; २०६।१;

१. राजा शिवप्रसादकृत दो 'निवेदन' नामक पुस्तिकायें ।

२. द्र०—'पाणिनीय व्याकरण, पाणिनि-सूत्र' शब्द ।

३. द्र०—'पैङ्गल सूत्र' शब्द ।

४. द्र०—'मीमांसा' शब्द ।

५. द्र०—'पिङ्गलसूत्र' शब्द ।

६. अर्थात् ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका ।



२२५।२४, २६; २४८।२५;  
 २५०।१४; २५१।१; २५२।  
 ६; २६३।३, १८; २७३।६;  
 २७७।२३  
 भ्रमोच्छेदन २७३।२२, २३;  
 २७८।१४, १८, २६  
 'भ्रमोच्छेदन २५७।१३  
 मनुस्मृति १४०।५; ३१२।१८;  
 ३१७।१७, २०; ३२०।३;  
 ३३३।२०; ३३४।१२;  
 ३४०।२५; ३४१।४; ३४८।  
 २६; ३४९।३; ३५७।२६;  
 ४०३।८; ४४७।७; ४८२।  
 ५; ४८४।६; ५२३।१०;  
 ५४६।१४  
 महाभारत ३५५।१२; ४३७।  
 १०; ४६७।२; ४७७।१, ४,  
 ५; ४८४।६; ४९९।१८;  
 ५००।६  
 महाभाष्य २४९।१६; २५४।१२;  
 २७९।२३; ४६९।२; ५०३।  
 ३०; ५०६।४  
 माण्डूक्य (उपनिषद्) १७०।२२;  
 ३३७।१३; ३७६।२  
 मानव धर्मशास्त्र ३८८।२४  
 मार्कण्डेय पुराण ४६६।५  
 मिताक्षरा टीका ४४७।६  
 'मीमांसा (दर्शन) २६३।१३;  
 ४४८।८  
 मुण्डक (उपनिषद्) १७०।२२;  
 ३७३।२३; ५२६।२५

मूलवेद १६८।१३  
 मैत्रेयी (उपनिषद्) १७०।२३  
 मैत्र्युपनिषद् १३८।१६, २१;  
 २१६।११; २१७।२१;  
 २२९।१८

यजुः २९७।६

यजुःसंहिता ४००।६

यजुर्वेद (संहिता) ५।४, १६;  
 ४५।१, ७; १३७।१६;  
 २२६।१७; २६२।२६;  
 ३०८।१०, २६; ३०९।२३;  
 ३११।३; ३१३।६, २७;  
 ३१६।१८; ३२२।२८;  
 ३२६।१४; ३२८।१५;  
 ३३५।१३; ३७२।१; ३७९।  
 २८; ४०७।११; ५१७।७;  
 ५२६।२२; ५४५।४

यजुर्वेद वचन ३३३।१६

याज्ञवल्क्य स्मृति ४०२।१; ४४७।  
 ६; ४४८।६

योग १७०।१८

योगबीज २६।३

योगशास्त्र ४४८।६

रसभावना ४३१।६

राजविद्या १७०।२०

रामायण ४८४।१०

रुद्राध्याय ५।५

वार्तिक (व्याकरण) १४१।१५;

२३७।२

वासुदेव माहात्म्य ४४७।५

१. 'संग्रह' में इसकी टिप्पणी देखें। २. द्र०—'पूर्वमीमांसा' शब्द।



विज्ञापन १६७।५; १७२।११;	२४; १७०।१८; २३७।१५;
२४०।३; २८१।३२	३७६।२७
विदुरप्रज्ञागर ४६६।१६; ५००।६	वेदान्त परिभाषा १५।४
विद्वन्मुखमण्डन ४३०।११; ४३१।६	वेरान्तसार १५।४
विष्णुपुराण ४८२।११	वेदान्तसूत्र २३६।४
विष्णुसहस्रनाम ४४७।४	वेदार्थयत्न १४७।८; १५१।१३;
वेद २७।२; ३७६।२७; ४०६।	१५२।१४; १५३।१६;
२७; ४७१।७; ४८०।२;	१५४।१८; १५५।२१;
४८२।५; ४८३।११;	१५६।६; १५८।३०;
४८४।६	१६०।१६; १६१।२
वेदभाष्य (दयानन्दीय) ४४।६;	'वेदों की भूमिका १७१।२४
४५।११; १६७।७, ८;	वैद्यक (शास्त्र) १०।८; १७०।१६
१६८।८; १७०।७; १७१।	वैशेषिक (दर्शन-शास्त्र) १७०।१८
४, ६; १७६।२०; १८२।३,	व्यवहारमानु ४६३।१७
१६; १८४।२२; १८५।११;	व्याकरण १०।७; १४७।२;
१८८।१७, २७; १८९।	१५१।६; १७०।१५; २११।
२३; १९३।३; १९४।१४;	३; २३३।१५, २५; २३४।
१९७।२०; २०२।१३;	३; ४८१।७
२१७।२६; २२४।७; २३२।	व्याकरण न्याय १४७।१४
२६; २३७।५; २५८।८	व्याससूत्र (वेदान्तदर्शन) ३७७।
'वेदभाष्य के विज्ञापन १८०।१६	२२; ३८२।१६
वेदभाष्यपरत्व प्रश्न १८६।४	शङ्कासमाधान-पत्रम् २४०।१३
'वेदभाष्य-भूमिका १७२।६;	शतपथ ४५।४; ६४।६, ६; ६६।
१९६।५; १८; २०६।१४;	७; १०२।१५; १०४।१६;
२४८।८	१०६।११; १११।५; ११३।
वेदाङ्ग २१२।११; ४८४।६	८; १३८।३-६; १४५।१-५;
वेदादि शास्त्र ३७४।२२	१४७।२; १५०।१७; १५१।
वेदान्त (दर्शन-शास्त्र) १४१।	१६; १६८।१२; १७०।१७;

१. द्रष्टव्य 'विज्ञापन पत्र', पृष्ठ १६७-१७६ मुद्रित ।

२. अर्थात् ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका । द्र०—'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' शब्द ।

३. अर्थात् ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका । ४. द्र०—'भागवत पुराण' शब्द ।



१७२।१६; १७३।२१, २६;	शुक्ल यजुर्वेद ४।१६; १४६।१;
१७५।२; १७७।२४; २०१।	१४६।७; २२२।८
१६; २०२।१२; २०६।८;	शेखर (लघुशब्देन्दुशेखर) ३३।१८
२११।२४; २१२।२७;	'श्रीमद्भागवत (पुराण) ४६।३
२१४।५; २१६।२१. २५;	श्रुति (उपनिषद् वचन) ४८०।२;
२२७।१, ४; २२८।५, ६;	४८४।२
२२९।११; २५८।५; २७६।	श्रौत सूत्र (आश्वलायन) २१८।
२५; २८०।२४; ३११।२०;	२४; २२१।११
३१३।६; ३२६।२०, २१;	श्रौतसूत्र (सामान्य) ४४८।८
३२८।१८, २१; ३६८।१६;	षड्विंश ब्राह्मण ३१७।१२
३७२।२; ३७३।२२;	सत्यार्थप्रकाश ६२।२७; ४८५।५
५०२।१७	सन्ध्योपासनादि-पञ्चमहायज्ञ-
शतपथ श्रुति १०५।१६	विधि २६५।२
शब्दरूपावली ५।१७	सांख्य (शास्त्र) २७।२; १७०।
शाखान्तर १६८।१३; १७१।१	१८
शान्तिपर्व ४६७।२	साम (ब्राह्मण) १६८।१२;
शारीरकसूत्र २५२।१३; ३७७।	१७०।१७; ३७२।४
२२; ३८३।६; ४४८।११	सामवेद २६३।१; ३७२।३
शास्त्र (दर्शन) १७०।१६	सायणादिभाष्य ४५।१२
शिक्षा(वेदाङ्ग) १७०।१५; १७१।१	सिद्धान्तरहस्य ४१७।१
शिक्षापत्री ४३७।१, २	सिद्धान्ताद्वैतमार्तण्ड ४३०।८, ९
शिल्पशास्त्र १७०।२१	स्मृति ४८०।२
शिवपुराण ५।१६	हठदीपिका २६।२
शिवसन्ध्या २६।२	हनुमन्मन्त्र ४४६।५
शुद्धाद्वैतमार्तण्ड ४२५।७; ४२८।	हरिवंश ४८४।६
६; ४३०।६	



# सप्तम परिशिष्ट

## टिप्पणी में उद्धृत ग्रन्थ-नामों की सूची

अथर्ववेद ४२।२४; ८१।१५; २२५।३०; २६३।२५	ईश उपनिषद् (माध्यन्दिन) २५५।२८
अद्वैतमतखण्डन ३६७।२४	उत्तरमीमांसा २७०।२८
अष्टाध्यायी १६।३०; २३७।३१; ४५०।३२; ४६६।२८; ४८१।३२	उपनिषद् ४२।२४
आर्याभिविनय ४२।३२; ४४ ११; ४५।२७; ७५।२१, २४; ८३।२४; ६२।३०	ऋग्वेद ४५।२५; १७६।२७; १८६।२६; २०२।२७, २८; २२०।३१; २२२।२७, ३२; २२३।२६; २२६ २६, ३१; २६२।२६; ३०३।३१; ३१६।१६
आर्याभिविनय दो भाग ४३।१६	ऋग्वेदभाष्य (रावणीय) १८४। २६
आर्योद्देश्यरत्नमाला ४६५।२६; ४६७।३०; ५०१।३०; ५०२।२७, २८; ५०८।३०; ५०९।३१; ५१०।२६, २८; ५२१।२७, २८; ५२२।२६; ५२४।३०	ऋग्वेदभाष्य (दयानन्दीय) ४६। १८; ५५।२६; १६३।२२, २४
आश्वलायन गृह्य २६१।२६	ऋग्वेदभाष्यभूमिका (सायण) १४६।३१
आश्वलायन गृह्यसूत्रवृत्ति ३३४। २६	ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका ४२।१५; ४४।२४; ८८।२२, २६; ६२।२६; ६३।२२; १४६। २५; १६४।२६; १६५।३०; १६६।३१; १६७।२२; १८१।२५-३०; १८२।२८; १६३।२२, २३; १६८।२६; २१५।२६; २१६।२६;
आश्वलायन श्रौत २१८।३१	
इण्टिमोलोजी आफ यास्क २०३। ३०	
ईश उपनिषद् (सामान्य) १७०। ३०; २६६।२५	
ईश उपनिषद् (काण्व) २५५।३८	



२२२।२८; ३१८।२०, २२,	गोपथ ब्राह्मण १११ २५; २६७।
२८; ३२८।३०; ३२६।	२६
२८; ३३७।२७; ३३६।	चाणक्यनीति २३६।३१
३०; ४०३।२७; ५७१-	जन्मचरित ३।१८
५८२ प्रायः सर्वत्र	जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण ६४।
ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों का इति-	२४; ३७३।२७
हास २६७।२३	छान्दोग्य उपनिषद् २२६।३१;
ऋषि दयानन्द के पत्र और	३७५।३०; ३७७।२८;
विज्ञापन १७०।३; १८१।	३८०।३०; ४४४।३२
२६; १८३।३१; २३५।	तैत्तिरीय आरण्यक २२४।३०,
३०; २४३।२७; २६८।२२;	३२; २२५।२७, २८;
२७०।२५	२६१।२६; ३४४।२६; ३४५।
ऐतरेय (ब्राह्मण) ६४।२५; १०२।	२८
२६; १३६।२८; १५०।२८;	तैत्तिरीय उपनिषद् ४५।२६
२०३।३१; २०५।३२;	त्रिकालसंध्या २६८।२८
२०६।३१; ३१४।३०	व्योसोफिस्ट (पत्रिका) १४।२७;
ऐतरेय ब्राह्मण अंग्रेजी अनुवाद	१६।२८; १८।३१; २१।
(हाग) २०७।२८	२८; ३३।२७
कठ उपनिषद् १५७।३१; २६२।	दिनचर्या (स्वामी द० सरस्वती
२८; ३७७।२७; ४०४।२६	की) ४।२२
काण्व ईशोपनिषद् २६६।३१	देवताधिकरण (मीमांसा) ४०३।
काण्व बृहदारण्यक ३७१।२१	२८
काण्व शाखा ३७४।२५	देवीभागवत ४६६।१६
काशी-शास्त्रार्थ ३६।३०	निघण्टु ८१।१६; १५३।२६
कृष्ण भागवत ४६६।३६	निरुक्त ४५।२८, २६; ६७।२६,
केन उपनिषद् ४७८।२८; ४८३।	२७; १०४।२५; १४७।३०;
३२; ४८४।३०	१७८।१६; २०३।२२, २८;
कौषीतकि गृह्यसूत्र ३३४।१७	२०४।१७, २२-३१; २१०।
कौषीतकि ब्राह्मण ४८२।३१	२५; २११।२७; २१३।३१;
गीता ४६६।२७-२६; ४७१।१४;	२१४।२७; २१५।२६;
४८०।२८; ४८४।३१	२१७।३१; २१८।२५-३०;
गुजराती पंचाङ्ग ३४४।२२	२१६।३०; २२०।२६;



२२१।३१;	२२४।२७;	बृहदारण्यक उपनिषद् ३७१।२३,
२३०।३१;	२३१।२६;	२५, ३०
२३२।३०;	२३४।२६-३१;	बृहदारण्यक उपनिषद् (काण्व)
२३५।३२;	३४५।२७;	२४६।३०; ३७१।२१
४०३।२६		बृहदारण्यक उपनिषद् (माध्य-
निरुक्त-भूमिका (बेल्वेल्कर)		न्दिन) २४६।३०; ३७१।२१
२०३।३१		बौधायन धर्मसूत्र ३२०।२७
निरुक्तशास्त्र २३६।२५		ब्राह्मण (ग्रन्थ) ४२।२४
न्याय (दर्शन) १५१।३१		भागवत ४६५।२४; ४६६।२६
पञ्चमहायज्ञविधि ३२६।३०;		भागवत-खण्डन ४८५।२४
३४६।२८		भागवतटीका ४६७।१६; ४८१।
पदपाठ (रावणीय) १८४।२७		२६; ४८२।३०
'पत्र-विज्ञापन २६६।२६		भागवत-माहात्म्य ४६६।२६;
'पत्रव्यवहार ३।१६; ५।२८;		४७६।२०; ४८०।२६
३३।२६; ३४।३०, ३१;		'भाष्य (पातञ्जल) २३७।३१
३७।१६; ४२।२८; ८२।		'भूमिका ६३।२५; १६३।२५
२६; ८३।२२, २६; २४४।		भ्रमोच्छेदन १४६।२६
२३		मनुस्मृति १३६।२८; २०४।३१;
'पूना-व्याख्यान ३।२०; ४।१६;		२०५।३०; २०६।५६, ६०;
३३।२७		२३०।३६-३१; ३१४।२८;
पूर्वमीमांसा २७०।२८; २७१।		३३५।२६; ३५६।२६;
१५		४१२।११; ४७४।२१;
प्रतिज्ञा-परिशिष्ट २५६।३०		४७५।२४; ४८३।३२;
प्रश्न उपनिषद् ३७३।२६		५२१।३०; ५२२।३०
प्रातिशाख्य (कात्यायन) २६०।		महाभारत ४६६।१८; ४७७।१६,
२८		२१, २२; ४८५।२६;

१. द्र०—'ऋ० द० के पत्र और विज्ञापन' शब्द ।

२. द्रष्टव्य 'पूना-प्रवचन' और 'उपदेश-मञ्जरी' शब्द ।

३. द्र०—'कृष्ण भागवत' शब्द । ४. द्र०—'महाभाष्य' शब्द ।

५. अर्थात् 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' शब्द ।



४८८।२२; ५००।२६;	२०२।२८; २०६।२५;
५०१।२६	२०६।२६; २२२।२८;
महाभाष्य १६६।३२; २४६।३१;	२२४।२६; २२५।२१;
२५४।३१; ३६०।२६;	२६१।२८; २६२।२६, ३०;
४६६।२६	३३३।३०।३१; ३७४।२५
माध्यन्दिन ईशोपनिषद् २६६।३१	यजुर्वेदभाष्य (दयानन्दीय)
माध्यन्दिन बृहदारण्यक ३७१।२१	१६३।२२; २०१।२७
मार्कण्डेय पुराण ४६६।२२, २३	वाचस्पत्यकोष ३३४।२२
मीमांसा (पूर्व) ४०३।२६	वायुपुराण ४७८।२८
मुण्डक उपनिषद् २४८।३१;	वेदभाष्य (दयानन्दीय) ४५।२०;
२४६।२८; २५०।३०;	५२।१६; ५३।२५; ५६।
२६२।२७; २६६।३०;	२६; १६७।२१; १८२।
३७३।२६; ४०४।३०;	२७; २१४।२८
४३६।२८	वेदभाष्य का नमूना १८२।२६
मैत्रायणी आरण्यक १३८।३०;	वेदभाष्य (नमूने का अंक) २०१।
२१५।२७	३२; २०३।१६; २१५।
मैत्रायणी संहिता १३८।३०;	२४; २२६।३०; २२७।३०;
२१५।२७	२३२।३०
मैत्रायण्युपनिषद् १३८।२८;	वेदसंज्ञा-मीमांसा २५६।२६
२१५।२०-२८; २१६।२७;	वेदान्त (दर्शन) १३६।३०; ३८२।
२१७।२६, ३०; २२८।२८;	२६
२२६।३०, ३१; २३०।३०	वेदान्त-भाष्य २०३।२५
मैत्रेयी (उपनिषद्) १७०।३२;	वेदान्ति-ध्वान्त-निवारण [ ३६७।
२६६।२७	२७
मैत्र्युपनिषद् १३८।२६; २१५।	वेदविरुद्ध-मत-खण्डन ५७८।२६,
२१	२७; ५७६।२८, २६;
यजुर्भाष्य १६१।२६	५८०।३०; ५८२।२६
यजुर्वेद ३६।२६; ४५।२५;	वैदिक-नित्यकर्म-विधि २६८।३०
८१।१२; १२०।२८; १२६।	व्यवहारभानु ५७१-५८२ प्रायः
२३; १६१।३०; १७०।३०;	सर्वत्र

१. द्र०—'भाष्य (पातञ्जल)' शब्द । २. द्र०—'ईश उपनिषद्' (माध्य-  
न्दिन) शब्द । ३. द्र०—'यजुर्वेद-भाष्य' शब्द ।



शतपथ ४५।२६, २७; ६४।२४,  
 २५; ६६।२७; १०२।२५;  
 १०४।२८, २९; १०५।२३;  
 १०६।२६, २७; ११३।२५;  
 १३८।२२-२७; १३९।२८;  
 १४५।२६-२८; १५०।२८,  
 २९; १६०।३०, ३१; २०२।  
 २६-३१; २०६।३१; २११।  
 ३१; २१२।३१; २१४।२६;  
 २१६।३०; २२६।२६, ३१;  
 २२७।२४, २६, २८; २२८।  
 २८-३१; २३२।३१; २४६।  
 ३१; २६१।३०; २६७।२७;  
 ३१४।२६; ३७१।२३, २४,  
 २८, ३०; ३७२।२८; ३७३।  
 २७; ४४०।३०; ४८२।३१  
 शाङ्कर भाष्य (वेदान्त) १३६।  
 ३०; ३८२।२६  
 शाङ्खायन श्रौत सूत्र ३२०।२६  
 शान्ति पर्व ४६६।१८; ४६७।१५  
 शाबर भाष्य ४०३।३०  
 शिक्षापत्री-ध्वान्तनिवारण ५७८।  
 २७  
 शुक्ल यजुर्वेद १४६।२५  
 श्रीयुत स्वामी दयानन्द सरस्वती  
 जी की कुछ दिनचर्या ४।२२  
 श्रौतसूत्र (कात्यायन) २६०।२८  
 श्वेताश्वतर (उपनिषद्) १७०।  
 ३२

षड्विंश (ब्राह्मण) ३१६।२४, २६  
 संस्कारविधि ४१।२५; ४२।२६;  
 ८८।३०; ८९।२४; ३००।  
 २७; ३३८।२६; ५०२।२६;  
 ५०६।२६; ५७८।२५  
 संस्कृत-वाक्य-प्रबोध २३५।२५  
 सत्यार्थप्रकाश ६।३०; २१।३०;  
 ४३।२६; ४४।२३; ८८।८,  
 १४; ६२।२६; ३३४।१३;  
 ३४१।२६; ३४५।३०;  
 ३५०।२७; ३५८।२१;  
 ३७४।२७, ३०; ३७५।२७,  
 २६; ३७६।३०; ३७७।२६;  
 ४६५।२५; ४६७।२६;  
 ४६९।२६; ५००।३०;  
 ५०१।३०; ५०२।२८;  
 ५०३।३२; ५०६।२८, २९;  
 ५०८।२६; ५०९।३०;  
 ५११।३१; ५१४।२७;  
 ५१६।२६, २८; ५१७।३०;  
 ५७१-५८२ सर्वत्र  
 सन्ध्यात्रयम् २६८।२८  
 सामवेद ४२।२३; २६३।२५  
 सायण भाष्य (शतपथ) ३७१।२६  
 सीरदेवीय परिभाषावृत्ति १४७।  
 ३०  
 सुभाषित-संग्रह २४०।१६  
 स्कन्द पुराण ४६६।२३  
 स्वरचित जीवनचरित्र ३।२३



# अष्टम परिशिष्ट

## संग्रह में उद्धृत प्रमाणों की सूची

अकारं चाप्युकारं च ३१२।१७  
 अक्रोधनाः शौचपराः ३४८।२२  
 अक्रोधनान् सुप्रसादान् ३४८।२४  
 अग्नि गत्यर्थः १४०।१७; ३४५।  
 २०

अग्निः कस्मादग्रणीर्भवति १३६।  
 ७; १४७।१२; २१०।११  
 अग्निः पवित्रमुच्यते १३६।२२;  
 २०४।१३; २३०।२६;  
 २३१।१६

अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिः २२१।२४  
 अग्निः पूर्वेभि उच्येते १५०।१८  
 अग्निः पृथ्वीस्थानस्तं प्रथमं २१३।  
 १२; २१८।१८; २२०।१६  
 अग्निः सर्वा देवता इति १३६।  
 १४

अग्निं यमं मातरिष्वानमाहुः  
 २२३।१६

अग्नये स्वाहा ३३६।२१; ३४६।  
 २२

अग्निमीळेऽग्निं याचामि १४१।  
 ३०

अग्निमीडे पुरोहितम् २०१।१५;  
 २१८।२०; २१६।४; २३३।८

अग्निरग्रणीर्भवति ४५।८  
 अग्निरिवाग्निं पिहितः २२८।१

अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः ३२१।  
 २२, २४

अग्निर्वर्चो ज्योतिर्वर्चः ३२१।२३  
 अग्निर्देवता २०६।६; २०६।६

अग्निर्वा अश्वः १४५।२  
 अग्निर्वै देवानां व्रतपतिः १३८।६  
 अग्निर्वै देवानामवमो विष्णुः  
 २०५।२८; २०६।२०

अग्निर्वै योनिर्यज्ञस्य १४५।४  
 अग्निर्वै सर्वा देवताः १३६।२;  
 २०२।३, २५; २०४।२;  
 २०५।२८; २०६।१; २०६।  
 १६, २३

अग्निर्होता कवि० १३७।२२;  
 २०२।१७; २२२।२३;  
 २२६।५

अग्निश्च मा मन्युश्च ३४५।१६  
 अग्निष्वात्ताः पितरस्तृप्यन्ताम्  
 ३४६।२२

अग्नीषोमाभ्यां स्वाहा ३३६।२२;  
 ३४६।२६

अग्ने नय० ३७४।४  
 अग्ने महां असि भारत २२६।२४;  
 २२८।११

अग्रं यज्ञेषु प्रणीयते २११।१३  
 अग्रं स केवलं भुङ्क्ते ३५७।१८



अङ्गिरसो अङ्गानां हि रसः

१६०।१२

अचेतनेऽपि चेतनवदुपचारः ३६०।

१४; ३६१।१२

अज एकपाद् १४६।२२

अज्ञो भवति वै बालः ३४६।१

अञ्चु गतिपूजनयोः १४०।१६;

१४३।१; ३४५।२०

अणोरणीयान् महतो महीयान्

३८१।२२; ४०७।६

अतः परं नान्यदणीयमस्ति २२४।

२४

अत्ता चराचरग्रहणात् १४१।२४;

२३७।१५

अथ किलक्षणं ब्राह्मणम् २७७।८

अथ यदेवानुब्रवीत् ३२८।१६

अथाकारचिन्तनं देवतानाम्

२१८।४

अथार्षेयं प्रवृणीते ३२६।१६

अथैतयोस्तु भार्याभ्याम् ४५४।४

अदत्तानामुपादानम् ४७५।१

अदृष्टो द्रष्टाऽश्रुतः श्रोता २१६।

२५

अद्भिर्गात्राणि शुद्धयन्ति २६५।

२०

अद्भ्यो नमः ३३८।७

अद्रिरिति मेघनामसु १७४।२०

अधर्मेण तु यः प्राह २४५।१६

अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः ४०२।८

अनाहूतः प्रविशति ४६६।४

अनुमत्यै नमः ३५०।८

अनुमत्यै स्वाहा ३३६।२४

अनुमन्ता विशसिता ५४६।१२

अनेनात्मना जीवेनानुप्रविश्य

३८०।५

अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः २४८।

२६; २५०।१८; २३७।८

अन्धेर नगरी गवर्गण्ड राजा ५३५।

१६

अन्यकृतमिति न शङ्कनीयम्

४८१।६

अन्यथा सर्वदोषाणां ४१७।६

अपरे ब्रह्म शाश्वतम् २३१।२८

अपाणिपादो जवनः ४०८।१२

अप्रणोद्योऽतिथिः ३५६।३

अयं वा अग्निः प्रजाश्च १३८।४;

२०२।२१

अयमात्मा ब्रह्म ३७३।१२;

४२७।७

अर्थकामेष्वसक्तानाम् ३८६।६

अर्थगत्यर्थः शब्दप्रयोगः १६६।११

अर्थवशाद् विभक्तेर्विपरिणामः

१६६।१२

अविज्ञाततत्त्वेष्वर्थे १५१।४

अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः २४६।

२

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नम् ४७१।४;

४८४।३

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम् ४०७।

३

अश्रुतश्च समुन्नद्धः ४६७।१६

अहो ह वा एष भूत्वा १४५।३



अस्मदो द्वयोश्च ४८१।६  
 अस्मत्पत्न्यै नमः ३४८।५  
 असुर्या नाम ते लोकाः ५१७।५  
 अहं ब्रह्मास्मि ३६८।१०  
 अहन्नहि पर्वते शिश्रियाणं १७४।  
 १७

अहमन्तमहमन्तमहमन्तम् २१२।  
 २१

अहरहर्बलिमित्ते ३३५।८  
 अहिंसन् सर्वभूतानि ४४५।७  
 आचार्यादिभ्यः सम्बन्धिभ्यः  
 ३४८।६

आचार्येणैव दत्तं यत् ४४१।६  
 आज्यपाः पितरस्तृप्यन्ताम् ३४६।  
 ६

आत्मज्ञानं समारम्भः ४६५।१४  
 आत्मा वा अग्निः १३८।३;  
 • २०२।१७; २२७।४; २२८।  
 २३

आत्मेत्येवोपासीत, अत्र ह्येते  
 ३६८।१८

आत्मैव देवताः सर्वाः १३६।५;  
 २०८।२; २०६।३; २३१।  
 १५; २३२।६; ४०३।७

आदरार्थं बहुवचनम् ६७।२;  
 ६८।६

आदाने चेत्येके २३७।१६; २३८।  
 २६

आदावन्ते च यन्नास्ति ३७६।१  
 आदिकर्मणि क्तः कर्तरि च २३४।४  
 आदित्यो वै प्राणः ३७३।२२

आदित्यो वै ब्रह्मा ६४।७  
 आदित्यो ह वै प्राणः ३७३।२२  
 आप्लु व्याप्तौ २६७।१०  
 आपो ज्योती रसोऽमृतं ३२२।११  
 आपो वै ब्रह्मा ४५।४; ६४।६  
 आप्तकामो यदुपतिः ४७५।७  
 आम्रान् पृष्टः कोविदारानाच्छे  
 २७७।१५

आलस्यं मदमोहौ च ४६६।२२  
 आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य ३१०।  
 ४

आसनावसथौ शय्याम् ३५६।२१  
 इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखं ३७५।८  
 इण् गतौ १४०।१७; २०३।१०  
 इति संक्षेपतो घर्माः ४५७।१०  
 इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि ५२६।  
 २२

इन्द्रं मित्रं वरुणम् ४५।२; १३७।  
 १२; १४२।१०; १४६।२३;  
 २०२।१६; २२१।३०;  
 २२३।१३

इन्द्रशत्रुरिन्द्रोऽस्य १७४।२२  
 इन्द्रागच्छेति गौरावस्कन्दिन् १७३।  
 २१

इन्द्रो विश्वस्य राजति ५४५।३  
 इममेवाग्निः २२४।४  
 ईशावास्यः २६२।२५

उत नः सुभगां अरिः १८६।३  
 उत ब्रुवन्तु नो निदः १८६।१  
 उत शूद्र उतार्ये २८६।७



उत्तरे ज्योतिषी एतेन नामधेयेन  
२०२।६; २२४।१

उत्तिष्ठत जाग्रत तज्जानथ ४०४।

६

उद्यन्तमस्तं यन्तम् ३१७।१३  
उपनीय तु यश्शिष्यम् ३८८।७;  
४२६।६

उपलभेतैनमिति २३०।२२

उपासते ये गृहस्थाः ३५५।२२

ऊर्जं वहन्तीरमृतम् ३२६।२२

ऋतवो वै देवाः १५०।१७

ऋते ज्ञानान् मुक्तिः ४८०।१

एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति २२३।  
२४

एकतिङ् वाक्यम् २४६।१६

एकरात्रं तु निवसन् ३५४।२०

एकस्य सतोऽपि वा पृथगेव २१६।

१७

एकादशीनां सर्वासाम् ४४४।५

एकादशीमुखानां च ५५५।६

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः ४१०।६

एतद्ध वै देवाः व्रतम् १३८।१०

एतमेके वदन्त्यग्निम् १४०।३;

२०४।२; २३१।१६, २७

एते वै सप्त दोषाः स्युः ४६६।२४

एतेषु यानि वाक्यानि ४४८।१

एवं तेनानुक्तत्वात् २५६।१५

एवं यः सर्वभूतेषु २३२।८

एवं यस्सर्वभूतानि ब्राह्मणः ३५२।

१५

एवं वा अरे २६१।१७; २४६।६

एष एवेन्द्रो यस्तपति १७३।२७

एष वै देवाननु विद्वान् १३८।१२

एष हि खल्वात्मेशानः शम्भुः १३८।  
१७

ऐं ह्रीं क्लीं चामुण्डायै नमः  
४१४।५

ऐकात्म्यमेव विज्ञेयम् ४४०।१२

ओं खं ब्रह्मा २६२।२५; ३७४।५

कः प्रजापतिः १०६।१०

कण्ठः २६८।२४

कथितो वंशविस्तारः ४६६।५

करतलकरपृष्ठे २६८।२५

कर्तव्यं करणीयं वा ४५५।११

कर्तव्या द्वारिकामुख्यास्तीर्थं  
४४४।१४

कविः क्रान्तदर्शनो भवति १५७।  
१३

कविर्मनीषी २२६।१८

कार्यास्तमनुसृत्यैव ४४४।१२

कुङ् शब्दे १५७।१५

कु शब्दे १५७।१५

कुत्सिते ४०५।३

कुलधर्मः सनातनः ५१२।२४

कुह्वै स्वाहा ३३६।२३; ३५०।६

कृत्वैतद्वलिकर्मैवम् ३५२।२३

कृत्यल्युटो बहुलम् १४१।१५;  
२३७।२

कृत्यल्युटो बहुलम् १४१।१५

कृष्णदीक्षा गुरोः प्राप्तेः ४४०।३

कृष्णभक्तेः स्वधर्माद्वा ४३६।५

क्षिप्रं विजानाति चिरं ४६६।४



क्लेशकर्मविपाकाशयै० ४०६।१०

क्वास्ताः क्व निपतिताः २५४।

२२

खं ब्रह्म पुनातु सर्वत्र २६६।८

गङ्गात्वेन निरूप्यं स्यात् ४१८।६

गणपतिर्वै ब्रह्म ४५।३

गन्धनावक्षेपण० २००।१६

गुणिनां गुणवत्तायाः ४५१।३

गुरुं वा बालवृद्धौ वा ४२६।१२

गृहस्थाश्रमोऽज्येष्ठः ४७४।१

गौणमुख्ययोर्मुख्ये कार्य० १४७।

१४

ग्राम्याश्च[ये] २५८।१०

चक्षुःचक्षुः २६८।२२

चतुर्भिः प्रकारैर्विद्योपयुक्ता भवति

५०३।२८

चन्द्रमा मनसो जातः १४५।२५

चन्द्रमा वै ब्रह्म ६४।८

जनः पुनातु नाभ्याम् २६६।७

जन्माद्यस्य यतः ४८०।१२

जन्माद्यस्य यतोऽन्वयात् ४६५।

१०; ४६८।८

जार आ भगम् जार इव १७३।२५

ज्ञानं परमं गुह्यं मे ४६८।४

ज्ञानवार्ताश्रुतिर्नार्या मुखात् ४३६।

१२

ज्ञेयोऽर्जुनेन युक्तः ४४६।६

ज्योतिः सूर्यः सूर्यो ज्योतिः ३२०।

१८

ज्योतिरेषोऽमृतः हिरण्यम् ३१३।

६

ज्योतिर्भाग आदित्यः १७२।२३

ज्योतिर्वै हिरण्यम् ३१३।५

छन्दो ब्राह्मणानि च २७६।८

डुधात्र धारणपोषणयोः १४०।२४

णम प्रह्वत्वे शब्दे च ३३८।१८

णीत्र प्रापणे १४०।१६; ३४५।

२०

तच्चोदकेषु मन्त्राख्या २७६।२०

तज्जलान् इति शान्त उपासीत

४२६।१४; ४२७।६

ततः पुष्करतः सृष्टः ४७६।७

ततो देवा एतं वज्रं ददृशुः १४४।

२८; १४८।१६

तत्त्वमसि ३७२।३

तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् ३८०।

३

तं यज्ञं बर्हिषि प्रोक्षन् ३२८।१३

तत्राचारव्यवहृतिर्निष्कृतानां च

४४६।१६

तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः साम-

वेदः २६१।११; २८०।१६

तत्र पिता दुहितुर्गर्भं १७२।१७

तत्र लौकिकास्तावद् गौरश्वः

२७५।१५

तथा कार्यं समर्प्यैव ४१८।७

तथाग्निरपि यज्ञस्यापेक्षितम्

१४६।१४

तथा श्रीभगवद्गीता ४४६।१०

तदक्षरे परमे व्योमन् २२४।१८

तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः ३७८।

२१



तदन्तरस्य सर्वस्य तदु ४०६।१२  
 तदाहुः, यद् ब्रह्मविद्यया सर्वम्  
 ३६८।२३  
 तदेवाग्निस्तदादित्यः ४५।१;  
 १३७।१७; २०२।१६; २२२।  
 ८; २२४।१३; २२५।३  
 तदेवावर्तत् तदु सत्यम् २२४।२६  
 तद् यदेनं मुखादजनयत् २१२।१६  
 तदचस्यैवं विद्वान् ३४१।१३  
 तद्वायुः ३१३।६  
 तद्विपर्ययाद्वा विपरीतम् २७४।१२  
 तद्वै तत् पश्यन्नृषिर्वामदेवः ३६८।  
 २८  
 तनोतु सर्वेश्वरमुत्तमं बलम्  
 ५४५।५  
 तपः पुनातु पादयोः २६६।७  
 तम आसीत् तमसा गूढमग्रे ३०१।  
 २१; ३०३।५  
 तमिन्द्रो जघान स हतः १७४।  
 २८  
 तमीशानम् ० २६२।२४  
 तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति ३७५।  
 १०  
 तस्येदम् ३६२।६  
 तस्यैव सर्वथा भक्तिः ४५०।११  
 तस्मादयमात्मन् प्राणो ० २२८।  
 २६  
 तस्मादादौ सर्वकार्ये ४१८।३  
 तस्माद् ब्राह्मणोऽहोरात्रस्य ३१७।  
 १०  
 तस्माद् यज्ञात् अजायत  
 २५८।४

तस्माद्वा एतस्मादात्मनः १४६।  
 २; ४०८।३  
 तासां माहाभाग्यादेकैकस्यापि  
 २१६।२०  
 तिस्र एव देवता इति १७५।३;  
 २१७।२८; २१८।६  
 तिस्र एव देवता इत्युक्तं पुरस्तात्  
 २१८।१२; २२०।३  
 तुथो वै ब्रह्म १०५।१८  
 तुलामानं प्रतीमानम् ४००।५  
 तृणानि भूमिरुदकम् ३५४।१२  
 तेषूभयेषु मर्त्येषु १३८।१३  
 त्रिपुण्ड्ररुद्राक्षधृतिर्येषाम् ४४०।  
 १०  
 त्र्यायुषं जमदग्नेः ० २६।३  
 त्वं नः पिता अविद्यायाः परम्  
 ३४६।६  
 त्वं ब्रह्मा त्वं चैव विष्णुः २१७।  
 २२  
 त्वमस्य पारे रजसो व्योमनः  
 ३८१।५  
 दधन्वे वा यदीमनुवोचद् २६२।  
 २६  
 दशमः पञ्चमः स्कन्धः ४४७।११  
 दशमेऽहनि किञ्चित्पुराणम् ४०१।  
 ६  
 दिवाचरेभ्यो भूतेभ्यो नमः ३३८।  
 १४  
 दिवु क्रीडाविजिगीषा ० १४१।१२  
 दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः ४०७।१  
 दुःखजन्मप्रवृत्तिदोष ० ३७८।१८  
 दृष्ट्वा शिवालयदीनि ४३८।७



देवताप्रतिमां हित्वा ४५६।३  
 दैवो विस्तरशः प्रोक्तः ४६६।६  
 द्यां मूर्धानं यस्य विप्रा वदन्ति  
 ४७८।१

द्यौर्मो पिता जनिता नाभिः १७२।  
 १८

द्वयं वा इदं न तृतीयम् ३२६।१५  
 द्वादशाहवदुभयविधम् ३७८।६  
 द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया ३८०।  
 २७

धन्वन्तरये स्वाहा ३३६।२३;  
 ३५०।४

धर्मशास्त्रान्तर्गता ४४६।१२  
 न उत्तमश्लोकगुणानुवादात् ४७१।  
 ६

नक्तचारिभ्यो भूतेभ्यो नमः  
 ३३५।१५; ३५२।८  
 न कनोपयति न स्नेहयति २११।  
 १४ \*

न ग्राह्यमिति वाक्यम् ४१८।५  
 न तस्य किञ्चिदप्राप्यम् ५००।  
 १५

न तस्य प्रतिमाऽस्ति ४४०।८  
 न तिष्ठति तु यः पूर्वाम् ३१७।  
 १७

न नानार्थं न भिन्नार्थम् ४६६।१  
 न द्वितीयो न तृतीयः २२५।२५  
 नमश्शिवाय ४१४।२  
 नमो नम इति यज्ञः ११३।७  
 नमो नारायणाय ४१४।२  
 नमो ब्रह्मणे नमस्ते १६५।१०

नमो भगवते वासुदेवाय ४१४।२  
 नमो वः पितरो रसाय ३३३।१५  
 न यस्य द्यावापृथिवी ३८१।१२  
 न विद्यया विना सौख्यम् ५०६।१८  
 न वेति विभाषा १६६।११  
 न वेत्ति यो यस्य गुणप्रकर्षम्  
 २३६।२१

नश्यन्ति हव्यकव्यानि ३५२।१४  
 न सन्दृशे तिष्ठति रूपम् २२५।६  
 नष्टे मूले नैव पत्रं न पुष्पम्  
 ५५१।१७

नहि ज्ञानेन सदृशम् ४८०।१  
 नहि सत्यात् परो धर्मः ५२६।२६  
 नाततायिवधे दोषः ४३०।१  
 नाप्राप्यमभिवाञ्छन्ति ४६६।१६  
 नाभिः २६८।२३  
 नासत्यमतिसत्य वा ४६६।३  
 नास्तिको वेदनिन्दकः ३६१।६;  
 ४७२।१

नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे ४६६।८  
 निगमकल्पतरोर्गलितं फलम् ३५।  
 २३; ४७०।१

निजंमुरलिकेति ४३१।२  
 निजवृत्त्युद्यमप्राप्तः ४५४।१०  
 निजात्मानं ब्रह्मरूपम् ४५१।१२  
 नित्यं भागवतं शृणु ४६७।५  
 नित्यो नित्यानां चेतनः ३८२।६  
 निवेदिभिः समर्प्यैव ४१८।१  
 निशामय तदुत्पत्तिं च ४६६।१०  
 निषेकादीनि कर्माणि ३६०।४  
 निषेवते प्रशस्तानि ४६५।२१



निहितमस्माभिरेतद् २१५।६  
 नेतरोऽनुपपत्तेः ३८२।२०  
 नेत्थं य आचरिष्यन्ति ४५६।८  
 नेमं विरञ्चिर्न भवो न ४७०।५  
 नेह नानास्ति किञ्चन ४२६।१३  
 नैकग्रामीणमतिथिम् ३५४।१  
 नैव स्वयन्तदस्नीयात् ३५६।६  
 न्यासो रक्ष्यो न कस्यापि ४५७।४  
 पठितव्यं तदपि मर्तव्यम् ५०६।१३  
 परमज्योतिरूपसम्पद्य ३७७।१४  
 परिभूरसि १५५।२०  
 परीत्य भूतानि २६२।२४  
 पाषण्डिनो विकर्मस्थान् ४१२।  
 ११; ४८३।७  
 पितामहेभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा  
 ३४७।२२  
 पितामह्यै स्वधा नमः ३४८।२  
 पितृभ्यः स्वधायिभ्यः ३३३।१४;  
 ३३८।१७; ३४७।१८;  
 ३५२।६  
 पुनन्तु मा देवजनाः ३२६।१२;  
 ३३५।११; ३४६।१३  
 पुराणविद्यावेदो दशमेऽहनि ४०१।  
 ८  
 पुरातनैर्भृग्वङ्गिरःप्रभृतिः १५१।  
 ११  
 पुरुष एवेदं सर्वम् २२५।२५  
 पुरुषा बहवो राजन् ३५५।१३  
 पुरोहितः पुर एनं दधाति १४।  
 २८; २३३।१३  
 पुरोहितो व्याख्यातो यज्ञश्च  
 २३५।१७

पूर्णत्वात् पुरि शयनाद्वा ६७।१४  
 पूर्वा सन्ध्यां जपंस्तिष्ठेत् ३१७।  
 १५  
 पृथु विस्तारे ३५०।१४  
 प्रजापतये स्वाहा ३३६।२४;  
 ३५०।११  
 प्रजापतिः सविता १७२।१६  
 प्रजापतिर्वै कः १०६।११  
 प्रजापतिर्वै स्वां दुहितरम् १७२।  
 १३  
 प्रजापतिर्ह वा इदमग्रं २११।२३  
 प्रज्ञानं ब्रह्म ३६७।२०  
 प्रज्ञानमानन्दं ब्रह्म ३६७।१७  
 प्रणम्य राधाकृष्णस्य ४४१।७  
 प्रथने वावशब्दे ४५८।४; ४६६।६  
 प्रपितामहेभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा  
 ३४७।२६  
 प्रपितामह्यै स्वधा नमः ३४८।३  
 प्रवृत्तवाक् चित्रकथः ४६६।२४  
 प्रशासितारं सर्वेषाम् १४०।१;  
 २०४।२४; २३१।२६  
 प्राणः प्राणः २६८।२२  
 प्राणभृच्च ३८२।२६  
 प्राणा ऋषयः १५०।१६  
 प्राणापानौ वा इन्द्राग्नी १११।५  
 प्राणा वा ऋषयो दैव्यासः १५०।  
 १४  
 प्राणोऽग्निः परमात्मा १३८।१६  
 प्राणो वा अङ्गिराः १६०।११  
 प्राणो वै ब्रह्म ४५।३  
 प्राणो ह्यग्निः परमात्मेति २२६।  
 १८



प्रातःप्रातर्गृहपतिर्नः ३१७।७  
 प्रातिपदिकनिर्देशश्च १६६।७  
 प्राप्तौ सत्यां निषेधः ४८१।६  
 प्राप्य पुण्यकृताँल्लोकान् ४६६।३  
 बहिषदः पितरस्तृप्यन्ताम् ३४६।

२६

बापं आजां नमस्कृत्यं ५१८।२०  
 बाधनालक्षणं दुःखम् ३७८।२०  
 बाहुभ्यां यशो बलम् २६८।२४  
 बृहस्पतिर्वै ब्रह्मा ४५।३  
 बोध्यते तेन सर्वं हि ४२८।३  
 ब्रह्मा अग्निः २०२।१७  
 ब्रह्मा खल्विदं वाव सर्वम् २१७।३  
 ब्रह्मचर्यस्य च गुणम् ५००।१३  
 ब्रह्मचर्येण कन्या युवानम् ५१५।

२२

ब्रह्मपतये नमः ३३८।११; ३५१।

२०

ब्रह्म वा इदमग्र आसीत् । तदा-  
 त्मानम् ३६८।२५  
 ब्रह्म वै बृहत् ६४।६  
 ब्रह्मसम्बन्धकरणात् ४१७।५  
 ब्रह्मा ह्यग्निः ४५।४; ६४-५;  
 १०४।१६; १३८।३; २२६।  
 २३; २२८।६  
 ब्रह्मा ह्यग्निस्तस्मादाह ब्राह्मणं  
 २२८।१३  
 ब्राह्मणानीतिहासः पुराणानि  
 ४०१।६  
 ब्रह्मादयो देवास्तृप्यन्ताम् ३४६।५  
 ब्रह्मादिदेवगणास्तृप्यन्ताम् ३४६।

८

ब्रह्मादिदेवपत्न्यस्तृप्यन्ताम् ३४६।

६

ब्रह्मादिदेवसुतास्तृप्यन्ताम् ३४६।

७

भक्तिरेव मोक्षदात्री ४८०।२  
 भगवन्मन्दिरं सर्वैः ४४२।११  
 भद्रं भगेन व्याख्यातम् १६०।६  
 भद्रकाल्यै नमः ३३८।१०;  
 ३५१।१७

भवान् कल्पविकल्पेषु ४७६।२  
 भावं जैमिनिर्विकल्पामननात्  
 ३७८।१

भिक्षां वाप्युदपात्रं वा ३५२।७  
 भिक्षुभिर्विप्रवसिते ४६६।१  
 भुक्तवत्स्वथ विप्रेषु ३५७।११  
 भुवः पुनातु पादयोः २६६।५  
 भुवरित्यपानः ३१३।१६  
 भुवर्वायवेऽपानाय ३२२।४  
 भूः पुनातु शिरसि २६६।५  
 भूः, भुवः, स्वः, महः २६६।२८  
 भूताद्युपद्रवे क्वापि ४४५।१४  
 भूरग्नये प्राणाय स्वाहा ३२२।२  
 भूरिति वै प्राणः ३१३।१६  
 भूर्भुवः स्वरग्निवाय्वा० ३२२।८  
 भेदव्यपदेशाच्च ३८२।२२  
 मञ्चाः क्रोशन्ति ३७२।२५  
 मतं विशिष्टाद्वैतं मे ४५२।६  
 मन्तव्यानि प्रधानानि ४४८।३  
 मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम् २५६।  
 १६  
 मन्त्रमयी देवता ४०३।५



मरीच्यादय ऋषयस्तृप्यन्ताम्  
 ३४६।१३  
 मरीच्याद्यृषिगणास्तृप्यन्ताम् ३४६।  
 १६  
 मरीच्याद्यृषिपत्न्यस्तृप्यन्ताम् ३४६।  
 १४  
 मरीच्यादद्यृषिसुतास्तृप्यन्ताम्  
 ३४६।१५  
 मातृदेवो भव पितृदेवः ४०३।८  
 मातृमान् पितृमान् आचार्यवान्  
 ५०२।१७  
 मात्रे स्वधा नमः ३४८।१  
 मया प्रतिष्ठापितानां ४५३।१२  
 मरुद्भ्यो नमः ३३८।६; ३५१।  
 ६  
 महः पुनातु हृदये २६६।६  
 महद् यक्षम् २६३।१  
 महान्तमेवात्मानम् ४५।५  
 माहाभार्याद् देवतायाः २१४।२०  
 मुकुन्दनन्दाख्याश्च नैष्ठिकाः  
 ४३८।२  
 मुक्तोपसृत्य व्यपदेशात् ३८२।२४  
 मुखमस्तीति वक्तव्यं दशहस्ता  
 २६१।१६; २८८।२३  
 मुखादग्निरजायत ४५।७  
 मूलं नास्ति कुतः शाखा २६३।७  
 यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या  
 २१४।३  
 य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरः  
 ३७१।३  
 य एष तपति अग्निरिव २३०।१  
 युक्ताय सम्पदा दैव्या ४६१।१

यज देवपूजासंगतिकरण० १४१।  
 १  
 यजमानो वै दाश्वान् १६०।१३  
 यज्ञः कस्मात् प्रख्यातं यजति०  
 १४६।६  
 यज्ञस्यान्ते २०७।१२  
 यज्ञो वै ब्रह्मा १०२।१४  
 यज्ञो वै विष्णुः १०२।१४; २५८।  
 १८; ४२४।४; ४८२।१२  
 यत्काम ऋषिर्यस्यां २१४।१३;  
 २१५।८  
 यत्पुण्यफलमवाप्नोति ३५३।१  
 यत्प्राणेन न प्राणिति ४८४।१  
 यत्र देवतोच्यते तत्र तल्लिङ्गो  
 मन्त्रः ४०३।५  
 यत्र लोकांश्च कोशांश्च २६६।१८  
 यत्रोपास्यत्वेन सर्वा २०३।२;  
 २०७।२७  
 यथा नदीनदाः सर्वे ४७४।३  
 यथा मतिस्तथोक्तिः ५२१।६  
 यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ३७७।५  
 यद् देवापिः २३४।१८  
 यद् वाग्विसर्गो जनताव० ४७२।३  
 यद्वाचाऽनभ्युदितं येन ४७८।५;  
 ४८३।१३  
 यद्विक्तं यज्ञशीलानाम् ४०४।११  
 यद्वेव चित्ते गार्हपत्ये २२७।६  
 यन्मनसा न मनुते येन ४७७।७;  
 ४८३।१५  
 यमादिभ्यो नमः, यमादीन् ३४७।  
 १७  
 यया तदक्षरमधि गम्यते २६३।१६



यशो वै हिरण्यम् ३१३।७  
 यष्टिकां भोजय ३७२।२२  
 यस्तु संतप्तप्रशङ्खादि ४८३।३  
 यस्य ज्ञानमयं तपः २६६।१२  
 यादृशी भावना यस्य सिद्धिः २७८।  
 ६; ३६८।६  
 यान्यस्माकं सुचरितानि ५१४।५  
 या वास्या अग्रथास्तनवः २१७।११  
 ये गोमुखं सम्यगुशन्ति विप्राः  
 ५४५।७  
 ये नः पूर्वे पितरः ३३३।१०  
 येन जीवान् व्यवससर्ज भूम्याम्  
 २२४।२२  
 येनावृतं खं च दिवं महीम्  
 २२४।२०  
 ये समानाः समनसः ३३।१२  
 योऽन्यां देवतामुपास्ते ३११।२०;  
 ४०४।४  
 योऽयमन्येत्ते मूले ४२१।१  
 योऽसावादित्ये पुरुषः ३७३।१६  
 रयिरिति धननाम १५३।१६  
 रयिरेव चन्द्रमाः ३७३।२३  
 रात्रिरादित्यस्योदयेऽन्तः १७३।  
 २३  
 राष्ट्री अयः नियुत्वान् इनः २०५।  
 ६, १०  
 रेतः सोमः १७३।२२  
 लालबुभ्रुकण्डं ब्रूमिया ५२५।२  
 वक्रभावे तु पूजेव ४६०।७  
 वनस्पतिभ्यो नमः ३३८।८;  
 ३५१।११

वन्दे महापुरुषचरणारविन्दम्  
 ४७७।६  
 वर्णं बाहुः पूर्वसूत्रे २६०।२३  
 वर्तिष्यन्ते य इत्थं हि ४५६।३  
 वसिः संप्रसारणी ४६६।२  
 वसून् वदन्ति वै पितृन् ३३३।१८;  
 ३४८।१४  
 वाक् वाक् २६८।२२  
 वामे यस्य स्थिता राधा ४३७।४;  
 ४५६।६  
 वायुर्वै ब्रह्म ६४।८  
 वायोरग्निः ४५।८  
 वास्तुपतये नमः ३३८।१२; ३५१।  
 २२  
 विजानीह्यार्यान् ये च दस्यवः  
 २८६।६  
 विद्यातपःसमृद्धेषु ३५२।२२  
 विद्यादम्भः क्षणस्थायी २४०।१०  
 विद्वाँसो हि देवाः ६६।७;  
 ३२६।२१  
 विनाशकाले विपरीतबुद्धिः ५३६।  
 ३  
 विप्राद् द्विषड्गुणयुक्ताद् ४७१।३  
 विभूतिधारणं त्यक्त्वा ४८२।६  
 विभूतेर्विस्तरो मया ४६६।८  
 विशेषणभेदव्यपदेशाभ्याम् ३८२।  
 २८  
 विश्वमा उग्रकर्मणे पुरोहितः  
 २३४।१६  
 विश्वेभ्यो देवेभ्यो नमः ३३८।१३;  
 ३५१।२५



विश्वेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा ३३६।

२२; ३५०।१

विषादप्यमृतं ग्राह्यम् ५५८।१८

विष्णुः शिवो गणपतिः ४४५।१२

विष्णुः सर्वा देवताः २०६।२३

विस्तरेणात्मनो योगम् ४६६।७

वृत्रो ह वा इदम् सर्वम् १७४।

२७

वृषो अग्निरिति १४५।१

वेदाश्च व्याससूत्राणि ४४६।८

वेदाहमेतम्पुरुषम्महान्तम् ४०७।

६

वैश्वदेवस्य सिद्धस्य ३३४।१०;

३४६।६

व्यत्ययो बहुलम् १६६।३

शन्तनुः शं तनोऽस्त्विति २३४।

२४

शन्नो देवी ३०३।२२; ३३६।३;

३५१।१५

शब्दोऽनित्यः, उत्पत्तिधर्मकत्वात्

२७४।१३

शरीरकाणां भगवद्गीतायाः

४४०।११

शासद् बह्निर्दुहितुर्नप्यङ्गात्

१७२।२०

शिक्षापत्र्याः प्रतिदिनम् ४६०।३

शिरः २६८।२४

शिष्याभिप्रायं बहुवचनम् ४८१।४

शुक उक्तवानिदं भागवतम्

४६६।७

शुक्रं हि ब्रह्मा ६४।८

शुद्धमपापविद्धम् ३७६।२८

शुद्धाद्वैतपदे ज्ञेयः ४२८।७

शुनां च पतितानां च ३४०।२३;

३५२।१२

शूद्रस्य तु जुगुप्सितम् ४१६।१३

शेषे ब्राह्मणशब्दः २७६।२१

शैली वा धातुजा मूर्तिः ४४१।

१२

श्रवणायापि बहुभिर्यो १५७।६

श्राद्धदेवान् द्विजोत्तमान् ३४८।

२६

श्रावणस्याऽमले पक्षे ४१७।३

श्रियं नमः ३३८।६; ३५१।१४

श्रीकृष्णः शरणं मम ४१३।४

श्रीकृष्णः शरणम्मम । सहस्रपरि-

वत्सर...४१४।७

श्रीमद्भागवतस्यैव ४४७।१

श्रुतं प्रज्ञानुगं यस्य ४६७।१

श्रोत्रं श्रोत्रम् २६८।२३

श्रोत्रेण शृणोति चक्षुषा ३७४।२३

संवत्सरोऽग्निः २०२।२३

संवत्सरो वा अग्निर्वैश्वानरः

१३८।५

संवत्सरोषितो भिक्षुः ४६६।२

स उ प्राणस्य प्राणः २२६।४

स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः

४३६।८

सगोत्रेभ्यः स्वधा नमः ३४८।७

सच्छास्त्राणां समुद्धृत्य ४५८।६

सजूर्देवेन सवित्रा सजूरान्येन्द्र०

३२१।२६

सजूर्देवेन सवित्रा सजूरुषेन्द्र०

३२१।१६



स त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः २१४।६  
 सतीर्थ्यस्सब्रह्मचारी च ४४५।८  
 सत्प्रभवं [भवति] १५८।२४  
 सत्यं कस्मात् सत्प्रभवम् १५७।

१६

सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म ३७६।६;  
 ४०६।१३

सत्यं परं धीमहि ४८१।४  
 सत्यं पुनातु पुनश्चिरसि २६६।८  
 सत्यमेव जयति नानृतम् ५२६।

२३

सत्ये रतानां सततम् ५००।१७  
 सत्सु तायते १५८।२३  
 स न मन्येतायमेवाग्निः २२१।१  
 सन्तुष्टो भार्यया भर्ता ५२३।८  
 सन्मूलाः सोम्येमाः प्रजाः ३७५।  
 २०

स पर्यगाच्छुक्रमकायम् १४६।२२;  
 २२६।१७; ३६३।७; ४०६।  
 १०; ४३५।११

समानशीलव्यसनेषु मैत्री ५३७।११  
 समित्पाणिः श्रोत्रियम् ३८८।५  
 सम्प्राप्ताय त्वतिथये ३५४।६  
 स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदम्  
 ३७२।७

स राधया युतो ज्ञेयः ४४६।७  
 स्वरादित्याय व्यानाय ३२२।६  
 सर्वं खल्विदं ब्रह्म २२६।२५;  
 २२८।१२; ३७४।८; ४२६।  
 ५, १३

सर्वं परवशं दुःखम् ४१२।५

सर्वं ब्रह्मात्मकं विश्वम् ४२८।१  
 सर्वं वै पूर्णं स्वाहा ३२२।१३  
 सर्वमात्मनि संपश्येत् २३१।१४;  
 २३२।४

सर्वमात्मन्यवस्थितम् २०६।८  
 सर्ववैष्णवराजश्रीः ४४४।१०  
 सर्वस्यौषधमस्ति शास्त्रकथितम्  
 ५१२।११

सर्वात्मभूतये नमः ३३८।१६;  
 ३५२।६

सर्वे निमेषा जज्ञिरे २२५।४  
 सर्वेन्द्रियाणि ज्ञेयानि ४५६।१२  
 सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति २६२।१६  
 सवितुः प्रसवे ३१३।२७  
 स वै सत्यमेव वदेत् ३२६।१८  
 स श्रीकृष्णः परं ब्रह्म ४४६।५  
 सहचरणस्थानतदार्यः ३७३।३  
 सहजा देशकालोत्थाः ४१७।७  
 सह द्वादापृथिवीभ्यां स्वाहा  
 ३३६।२५; ३५०।१३

सहवासी विजानीयाच्चरित्रं २८३।

२

सहस्रशीर्षा पुरुषः २२६।१;  
 २५८।६

साकारं सर्वशक्त्येकम् ४२८।५  
 साध्यसाधर्म्यात्तद्धर्मभावी २७४।  
 १०

सानुगाय यमाय नमः ३३८।३;  
 ३५०।२४

सानुगाय वरुणाय नमः ३३८।४;  
 ३५१।१



सानुगाय सोमाय नमः ३३८।५;  
३५१।४

सानुगायेन्द्राय नमः ३३८।२;  
३५०।२१

सामृतैः पाणिभिर्घर्नन्ति ५०६।२  
सायंसायं गृहपतिर्नः ३१७।५  
सुकालिनः पितरस्तृप्यन्ताम् ३४७।

१२

सुखार्थी वा त्यजेद्विद्याम् ४६६।  
२६

सुप्तिङुपग्रहलिङ्गनराणाम् १६६।  
५

सुवासिनीं कुमारीञ्च ३५७।५  
सूर्यरश्मिश्चन्द्रमा गन्धर्वः १७३।  
२४

सूर्यश्च मा मन्युश्च ३४४।६  
सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः ३२१।१६  
सूर्यो वर्चो ज्योतिर्वर्चः ३२१।१७  
सोमपाः पितरस्तृप्यन्ताम् ३४७।  
३

सोमसदः पितरस्तृप्यन्ताम् ३४६।  
१६

सोमाय स्वाहा ३३६।२१; ३४६।  
२४

स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ १६६।६  
स्वः पुनातु कण्ठे २६६।६

स्वभावो नान्यथा भवेत् २८६।१०  
स्वयमेनमभ्युदेत्य ब्रूयाद् ३४१।१४

स्वरिति व्यानः ३१३।१७  
स्ववर्णाश्रमधर्मो यः ४३८।१२

स्वहितेच्छुभिरेतानि ४४६।१४  
स्वार्थी दोषं न पश्यति २६१।२४;

४०२।२; ५५७।२८  
स्वाहाकृतयः स्वाहेत्येतत् ३१०।

१०

स्विष्टकृते स्वाहा ३३६।२५;  
३५०।१७

हरेर्विधाय नैवेद्यम् ४४२।४  
हविर्भुजः पितरस्तृप्यन्ताम् ३४७।

६

हु दानादनयोः आदाने० १४१।  
२१; १४४।६; २३७।१२

हृदयम् २६८।२३  
हृदये जीववज्जीवे ४४६।३



# नवम परिशिष्ट

टिप्पणी में उद्धृत प्रमाणों की सूची

अग्निः कस्मादग्रणीर्भवति २०३।२१  
अग्निः पृथिवीं दहति सर्वमेकः  
१०४।२४

अग्निशब्दोऽप्यग्रणीत्वादि० १३६।

२६; २०३।२४

अचेतनेष्वपि चेतनवदुपचारः

३६०।२८

अतः क्षमस्वाच्युत मे ४७६।२३

अत्रिणम्—अत्ति भक्षयत्यन्या०

५६।२६

अथ परा यया तद० २६३।३१

अभिन्नार्थं न चाधिकम् ४६६।१८

अमृतं हिरण्यम् ३१४।२६

अम्बरीष शुक्रप्रोक्तं नित्यम्

४६७।१६

अर्घर्चादित्वादुभयलिङ्गः ३०६।३०

अलब्धं चैव लिप्सेत ५२१।२६

आत्मैव देवताः सर्वाः २०३।१७

आपो वै ब्रह्मा ६४।२६

आर्याभिविनय के दो अध्याय

४२।२६

इन्द्रं मित्रम् २०४।२५

उप त्वाग्ने दिवे दिवे ३१६।८

ऋतवो वै देवाः १५०।२८

एकदा गृहमाणीय ४७५।२६

एतेनाग्निहोत्रौ व्याख्यातौ ३२०।२६

एवं वा अरेऽस्य २४७।३१

कर्मकाण्डस्यैतरेयशतपथ० १६४।

२७

कर्मसम्पत्तिर्मन्त्रो वेदे ४०३।२६

कृष्णयोगानुभावं तम् ४७६।१८

को हि प्रजापतिः १०६।२६

क्षोणीभाहीन्दुभिरभियुते ४।२६

गोक्षीरं गोघृतं चैव ३३४।२१

जृष वयोहानौ १७४।३२

ज्योतिर्वै हिरण्यम् ३१४।२६

ततः सप्तदशो जातः ४७३।२६

ततो जलाशयात् सर्वाः ४७४।२७

तत्त्वा यामि ब्रह्मणा ८१।६

तद् यदब्रवीद् (ब्रह्मा) अभिर्वा

२६७।२८

तन्माता कोटरा नाम ४७६।३०

तत्रारभत गोविन्दः ४७४।२४

तल्लिप्सुः स यतिभूर्त्वा ४७५।२७

तस्मादेताः सदा पूज्याः ५२२।३०

तस्माद् यज्ञात् १४६।२८

ताविहाथ पुनर्जातौ ४७६।२३

तिस्र एव देवताः १७८।२०

(तेषाम्) तान् पदार्थान् (पाहि)

५३।२७



त्रिः सप्तभिः पिता पूतः ४७८।२६  
दशदोषविवर्जितां कथाम् ४६६।

२८

देवो दानाद्वा दीपनाद्वा २३६।२६  
न तस्य प्रतिमा अस्ति ३६।२६  
नवभिर्नवभिश्चैव ४६६।२५  
नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय १२०।

२८

नामान्यनन्तस्य यशोन्वितानि

४७२।१३

निरुक्तमर्थनिर्वचनम् २०४।१८  
नेमं विरञ्ची न भवः ४७०।२१  
नैनान् यमूः परिमुष्णाति रेतः  
८१।१५

पुनश्च विप्रशापेन ४७८।३०  
पुर एनं दधति २३४।२६  
पुरुषः पुरिषादः पुरिशयः ६७।२६  
पुष्णन् कुटुम्बं कृपणः ४७४।२०  
पृथु विस्तारे ३५०।३०  
प्रथु विस्तारे ३५०।२६  
प्राणा ऋषयः १५०।२८  
बुद्धिं लुम्पति यद् द्रव्यम् २५२।  
३२

ब्रह्मवादिनो वदन्ति कस्माद्  
३१६।२५

ब्रह्म वै तुथः १०५।२३  
ब्रह्म वै बृहस्पतिः ४५।२६  
ब्रह्म वै यज्ञः १०२।२६  
भक्त्या विमुच्येन्नरः ४८०।२६  
मार्कण्डेयः दशाष्टदोषरहितः ४६६।

२३

मुष स्तेये ८१।४

मुष्णतां पतये नमः ८१।२

मोहयित्वा तु गिरीशम् ४७३।३०

य आत्मदा बलदा ५२।२०

यज्ञो वै नमः १२३।२५

यत् सायं च प्रातश्च सन्ध्याम्  
३१६।२४

यथाक्षप्रभृतीन्योषधिपर्यन्तानि

२१८।२७

यथा पिता स्वतन्तति १८१।२६

यशो वै हिरण्यम् ३१४।२६

योऽन्यां देवतामुपास्ते १०४।२७

रमणीयानि पृथिव्यादीनि ४६।२१

रा दाने ५६।२४

वसिः प्रसारिणी ४६६।२६

वेदानां यथार्थं भाष्यं वयम् १८१।

२५

शय्यासनस्थोऽथ पथि ३१६।२८

श्रुतदेवां तु करूषो वृद्धिर्मा ४७६।

२४

सत्यव्रता रहितमानमला ८१।

१६

स नो बन्धुर्जनिता १२६।२३

सर्वे गत्यर्थाः ज्ञानार्थाः २०३।२७

साऽपि तं चक्रमे वीक्ष्य ४७५।२८

सायं प्रातः सदा सन्ध्याम् ३२०।

२५

सेदं सर्वमाप्नोद् यदिदम् २६७।

२७

हैडिम्बिका राजमाषा माषाः ३३४।

२४



## श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट का सुन्दर प्रामाणिक प्रकाशन

१. यजुर्वेदभाष्य-विवरण (द्वितीय भाग) मूल्य २०-०० ।
२. ऋग्वेदभाष्य—ऋ० द० कृत सुन्दर शुद्ध सटिप्पण संस्करण ।  
सं० यु० मी० । प्रथम भाग ३०-००, द्वितीय भाग २५-००, तृतीय भाग ३०-०० ।
३. सत्यार्थप्रकाश (आर्यसमाज शताब्दी संस्करण) मूल्य १५-०० ।  
” ” शताब्दी सस्ता संस्करण—मूल्य १०-०० ।
४. सत्यार्थप्रकाश—सामान्य संस्करण अजिल्द ५-००, सजिल्द ६-५० ।
५. संस्कारविधि—दयानन्द सरस्वती । आ० सं० शताब्दी संस्करण  
सजिल्द १०-०० । सस्ता सं० मूल्य ३-००, सजिल्द ४-०० ।
६. संस्कारसमुच्चय—संस्कारविधि के मन्त्रों की व्याख्या । श्री पं०  
पदनमोहन विद्यासागर । मूल्य १५-०० ।
७. वैदिक नित्यकर्म-विधि—पांचों महायज्ञ तथा बृहद् हवन के मन्त्रों  
के पदार्थ तथा भावार्थ व्याख्या सहित । यु० मी० । मूल्य २-०० ।
८. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका—दयानन्द सरस्वती । मूल्य १५-०० ।  
भूमिका पर किये गये आक्षेपों के उत्तर भूमिका परिशिष्ट । मूल्य १-५० ।
९. दयानन्दीय लघुग्रन्थ-संग्रह—आ.स. शताब्दी सं० । मू० २०-०० ।
१०. अष्टाध्यायी-भाष्य—श्री पं० ब्रह्मदत्तजी जिज्ञासु कृत । प्रथम भाग  
१५-००, द्वितीय भाग १६-००, तृतीय भाग २०-०० ।
११. महाभाष्य—हिन्दीव्याख्या—भाग २, २५-००, भाग ३, २५-०० ।
१२. ऋषि दयानन्द और आर्यसमाज की संस्कृत साहित्य को  
देन—लेखक डा० भवानीलाल भारतीय एम० ए० । मूल्य १०-०० ।
१३. वैदिक-स्वर-मीमांसा—युधिष्ठिर मीमांसक । मूल्य ५-०० ।
१४. वाल्मीकि-रामायण—हिन्दी अनुवाद सहित । बालकाण्ड ३-५०,  
अयोध्याकाण्ड ५-५०; अरण्य-किष्किन्धाकाण्ड ६-५०; सुन्दरकाण्ड ४-००  
युद्ध काण्ड १०-५० । पूरा सेट ३०-०० ।
१५. पूना-प्रवचन (उपदेश-मञ्जरी)—ऋषि दयानन्द के पूना के  
१५ व्याख्यानों का संग्रह । शुद्ध सुन्दर प्रकाशन । मूल्य ३-०० ।
१६. वैदिक-ईश्वरोपासना मूल्य ०-४० ।



१७१. अष्टोत्तरशतनाममालिका—सत्याथप्रकाश के प्रथम समुल्लास की व्याख्या । मूल्य ५-०० ।

१८. संस्कृत पठन-पाठन की अनुभूत सरलतम विधि—लेखक श्री पं० ब्रह्मदत्तजी जिज्ञासु । प्रथम भाग ५-००, द्वितीय भाग ६-५० ।

१९. अष्टाध्यायी (मूल)—शुद्ध संस्करण । मूल्य १-५० ।

२०. धातुपाठ—धात्वादिसूचीसहित, सुन्दर शुद्ध संस्करण मूल्य २-०० ।

२१. संस्कृतवाक्यप्रबोध (मूल) ऋषि दयानन्दकृत मूल्य ०-६० ।

२२. " " आक्षेपों के उत्तर सहित मूल्य १-२५ ।

२३. वर्णोच्चारण शिक्षा—ऋषि दयानन्द कृत हिन्दी व्याख्या । ०-५० ।

२४. विदुर-नीति—पदार्थ और विस्तृत व्याख्या सहित । मूल्य ५-५० ।

२५. भागवत-खण्डनम्—ऋषि दयानन्द कृत । मूल्य ०-५० ।

२६. नाडीतत्त्वदर्शनम्—श्री पं० सत्यदेवजी वासिष्ठ । मूल्य १०-०० ।

२७. वेद और निरुक्त—ले० श्री पं० ब्रह्मदत्तजी जिज्ञासु । मूल्य ०-७५ ।

२८. निरुक्तकार और वेद में इतिहास— " मूल्य ०-७५ ।

२९. देवापि और शन्तनु के आख्यान का वास्तविक स्वरूप—लेखक श्री पं० ब्रह्मदत्तजी जिज्ञासु । मूल्य ०-७५ ।

३०. त्वाष्ट्री सरण्य की वैदिक कथा का वास्तविक स्वरूप—लेखक—श्री पं० घर्मदेव निरुक्ताचार्य । मूल्य ०-७५ ।

३१. वेद में आर्य-दास युद्ध सम्बन्धी पाश्चात्य मत का खण्डन—लेखक श्री वैद्य रामगोपालजी शास्त्री । मूल्य ०-७५ ।

३२. शब्दरूपावली—विना रटे सरलता से शब्दरूपों का ज्ञान कराने-वाली अद्भुत पुस्तक । यु० मी० मूल्य ०-७५ ।

३३. प्यारा ऋषि—ऋषि के जीवन की प्रमुख घटनाएँ । मूल्य ०-७५ ।

३४. सन्ध्योपासन-विधि—भाषार्थ सहित । मूल्य ०-२५ ।

३५. सन्ध्योपासन-विधि—दैनिक अग्निहोत्र सहित । मूल्य ०-३० ।

३६. आर्योद्देश्यरत्नमाला—ऋषि दयानन्दकृत मूल्य ०-२५ ।

३७. हवनमन्त्र— मूल्य ०-२५ ।

पुस्तक-प्राप्ति स्थान—

रामलाल कपूर ट्रस्ट, बहालगढ़, जिला-सोनीपत (हरयाणा)

२. रामलाल कपूर एण्ड संस पेपर मर्चेन्ट्स,

गुरुबाजार, अमृतसर ।]

५१ सुतार चाल, बम्बई ।]

[नई सड़क, देहली ।

[बिरहाना रोड़, कानपुर ।















